राहुल वाङ्मय



राहुल वाङ्मय





राधाकृष्ण

ISBN 81-7119-185-1

राहुल-वाङ्मय
खण्ड : एक—जीवन-यात्रा—जिल्द : 1

प्रथम संस्करण : 1994

पहली आवृत्ति : 1998

मूल्य
1500 रुपये
(जीवन-यात्रा : खण्ड एक—4 जिल्दें)

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

साज-सज्जा : प्रशान्त

लेज़र कम्पोज़िंग
कम्प्यूटेक सिस्टम
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

मुद्रक
हिन्दुस्तान ऑफसेट प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

RĀHUL VĀNGMAYA
Part-1 : Jeevan yātrā : 4 Volumes
Rs. 1500.00

राहुल-वाङ्मय

एक महत्वपूर्ण प्रकाशन योजना

मूर्धन्य और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, अप्रतिम विभूति महापंडित राहुल सांकृत्यायन के हिंदी एवं संस्कृत लेखन का विषयवार ग्यारह खंडों–लगभग पचास जिल्दों–में क्रमशः प्रकाशन

खण्ड एक–चार जिल्द : **मेरी जीवन-यात्रा (आत्मकथा)**–भाग 1 से 5 (सन 1893 से 9 अप्रैल 1956 तक) राहुलजी द्वारा स्वयं लिखित जीवन-यात्रा और 10 अप्रैल '56 से 15 अप्रैल 1963 तक श्रीमती कमला सांकृत्यायन द्वारा प्रस्तुत तथ्यपरक संस्मरणात्मक जीवन-गाथा।

खण्ड दो–चार जिल्द : **जीवनी और संस्मरण**–सरदार पृथ्वीसिंह, वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली, घुमक्कड़ स्वामी, सिंहल घुमक्कड़ जयवर्द्धन, कप्तान लाल, जिनका मैं कृतज्ञ, कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ-चे-तुंग की महत्वपूर्ण जीवनियाँ तथा नये भारत के नये नेता, मेरे असहयोग के साथी, अतीत से वर्तमान, बचपन की स्मृतियाँ, सिंहल के वीर और विभिन्न व्यक्तियों पर अप्रकाशित-असंकलित लेख : संस्मरण।

खण्ड तीन–पाँच जिल्द : **धर्म, संस्कृति एवं दर्शन**–महामानव बुद्ध, बुद्धचर्या, धम्मपद, पाँच बौद्ध दार्शनिक, बौद्ध संस्कृति, तिब्बत में बौद्ध धर्म, मज्झिमनिकाय, विनयपिटक, दीघनिकाय, खुद्दकनिकाय, दर्शन-दिग्दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, इस्लाम धर्म की रूपरेखा, और विविध प्रकाशित-अप्रकाशित लेख-इतिहास पुराण, शैव धर्म का इतिहास, पंजाब : संस्कृति का संगम, भारतीय संस्कृति के दो रक्षा द्वीप, संन्यासी अखाड़ों की जनतन्त्रता आदि।

खण्ड चार–चार जिल्द : **यात्रा वृत्तांत, देश-विदेश दर्शन**–घुमक्कड़शास्त्र, यात्रा के पन्ने, किन्नर देश में, कुमाऊँ, गढ़वाल, जेतवन-श्रावस्ती, हिमाचल प्रदेश, जौनसार-देहरादून, लद्दाख-यात्रा, दार्जिलिंग परिचय, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी यूरोप यात्रा, सोवियत भूमि, सोवियत-मध्य एशिया, एशिया के दुर्गम खंडों में, चीन में क्या देखा, चीन में कम्यून, और विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेख–उत्तरी एवं पश्चिमी भारत के बौद्ध स्थल (मैं ल्हासा कैसे पहुँचा), ल्हासा में, त्रेनम की ओर, लौटते समय नेपाल में आदि लेख, नेपाल, लंका, जापान, ईरान आदि।

खण्ड पाँच–पाँच जिल्द : **ज्ञानकोश, शोध ग्रंथ**–शासन शब्दकोश, राष्ट्रभाषा कोश, विज्ञान शब्दावली-प्रत्यक्ष शरीर आदि, तिब्बती-हिंदी कोश भाग-1 एवं भाग-2, तिब्बती संस्कृत कोश, सरहपाद दोहाकोश (हिंदी छायानुवाद सहित)

खण्ड छह–चार जिल्द : **विज्ञान, समाज एवं राजनीति**–विश्व की रूपरेखा, मानव समाज, भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक (अनुवाद), आज की समस्याएँ, क्या करें, तुम्हारी क्षय, राहुल जी का

अपराध, दिमागी गुलामी, मानव की कहानी (जया, जेता को पत्र), संविधान का मसौदा (अनुवाद), बाईसवीं सदी, साम्यवाद ही क्यों, कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं, सोवियत न्याय, आज की राजनीति, भागो नहीं (दुनिया को) बदलो, रामराज्य और मार्क्सवाद।

खण्ड सात–चार जिल्द : **इतिहास एवं पुरातत्व**–अकबर, मध्य एशिया का इतिहास भाग-1, मध्य एशिया का इतिहास भाग-2, ऋग्वेदिक आर्य, पुरातत्व निबंधावली के लेख, आजमगढ़ की पुराकथा, तथा अन्य लेख–वैशाली का प्रजातंत्र, हमारा पुराना भूगोल, भारत में मानव-विकास, प्रागैतिहासिक युग में किन्नर, और गंगा पुरातत्वांक की भूमिका।

खण्ड आठ–सात जिल्द : **कथा साहित्य, नाटक एवं साहित्यालोचन**–जीने के लिए, सिंह सेनापति, जय यौधेय, राजस्थानी रनिवास, मधुर स्वप्न, सतमी के बच्चे, वोल्गा से गंगा, बहुरंगी मधुपुरी, कनैला की कथा, विस्मृत यात्री, दिवोदास (सप्त सिंधु), तीन नाटक (जपनियाँ के राछछ, देश रक्षक, जरमनवा की हार निश्चय), पाँच नाटक (ई हमार लड़ाई, दुनमुन नेता, नईकी दुनिया, जोंक, मेहरारून की दुरदसा), शैतान की आँख, विस्मृति के गर्भ में, जादू का मुल्क, सोने की ढाल, शादी, दाखुंदा, जो दास थे, अनाथ, अदीना, सूदखोर की मौत, पालि काव्य-धारा, पालि साहित्य का इतिहास, बौद्ध सिद्ध साहित्य, हिंदी काव्य-धारा (अपभ्रंश), दक्खिनी हिंदी काव्य-धारा, तुलसी रामायण, हिंदी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएँ, हिंदी भाषा की प्राचीनता, नये युग में हिंदी, एशिया में हिंदी, अवधी की बेटी हिंदी ?, राष्ट्रभाषा की जननी कौरवी, हिंदी परिभाषाओं का निर्माण, अंग्रेजी के हिमायती, अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम क्यों हो ? आदि-आदि लेख तथा आदि हिंदी की कहानियाँ और गीतें, हिंदी-साहित्य का वृहद इतिहास भाग-16 से लेख एवं भूमिका।

खण्ड नौ–चार जिल्द : **संस्कृत, प्राकृत-अनुवाद एवं टीका**–संस्कृत पाठमाला (पाँच भाग), संस्कृत काव्य-धारा, अभिधर्म कोश : वसुबंधु-टीका : शांतरक्षित, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, प्रमाणवार्तिक-स्ववृति, हेतुविंदु (धर्मकीर्त्ति), सम्बन्ध परीक्षा (धर्मकीर्ति), निदान सूत्र, महापरिनिर्वाण सूत्र, सूत्रकृतांग।

खण्ड दस–पाँच जिल्द : **संस्कृत तालपोथियाँ : सम्पादित**–वादन्याय (धर्मकीर्ति), प्रमाणवार्तिक (धर्मकीर्ति), अध्यर्द्ध शतक (मातृचेट), विग्रह व्यावर्तनी (नागार्जुन), प्रमाणवार्तिकभाष्य, प्रमाण-वार्तिकवृतिः प्रमाणवार्तिक स्ववृति : टीका, विनयसूत्र (गुणप्रभ)।

खण्ड ग्यारह : **प्रकीर्णक**–तिब्बती शिक्षा : भाषा-पाठावली, व्याकरण : 'सेलेक्टेड एसेज' के लेख, पत्र एवं डायरी तथा परिशिष्ट : राहुल जी का संक्षिप्त जीवन-क्रम, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रकाशित पुस्तकों की सूची–पुस्तक का नाम, प्रथम प्रकाशन का वर्ष, पृष्ठ संख्या, प्रकाशक, राहुल जी द्वारा संग्रहीत अमूल्य ग्रंथलिपियों, तालपत्रीय पोथियों की सूची–ग्रंथ का नाम, भाषा, मूल/टीका, लेखक, पांडुलिपि : मूल/फोटो/नकल, संग्रहालय का नाम, अन्य संग्रहित सामग्री–चित्र, मूर्तियाँ, आदि–विवरण एवं संग्रहालय के नाम सहित, तथा अनुक्रमणिका।

सभी खण्डों, सभी जिल्दों का आकार 10"X7-1/2"–डबल क्राउन : 20X30 आठ पेजी होगा।

प्रबुद्ध पाठकों और हिंदी-सेवियों से निवेदन है कि इस महत्वपूर्ण प्रकाशन-योजना के लिए अपने सुझाव और यदि उनके पास अथवा उनकी जानकारी में राहुलजी से सम्बन्धित कोई और सामग्री या सूचना हो तो उसे भेजने की कृपा करें।

–प्रकाशक



प्रकाशकीय

मूर्धन्य और अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, अप्रतिम विभूति महापंडित राहुल सांकृत्यायन के जीवन और लेखन–उनके विराट व्यक्तित्व एवं बहुआयामी कृतित्व को जानने-पहचानने का बुनियादी साधन है उनकी आत्मकथा–उनकी लिखी 'मेरी जीवन-यात्रा'।

राहुल सांकृत्यायन साधु थे, बौद्ध भिक्षु थे, यायावर थे, इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता थे, नाटककार और कथाकार थे और थे जुझारू स्वतंत्रता-सेनानी, किसान-नेता, जन-जन के प्रिय नेता। उनके अनन्य मित्र भदंत आनंद कौसल्यायन के शब्दों में, "उन्होंने जब जो कुछ सोचा, जब जो कुछ माना, वही लिखा, निर्भय होकर लिखा। चिंतन के स्तर पर राहुल जी कभी भी न किसी सांप्रदायिक विचार-सरणी से बँधे रहे और न संगठन-सरणी से। वह 'साधु न चले जमात' जाति के साधु पुरुष थे।"

इस साधु पुरुष, विलक्षण लेखक के वाङ्मय के इस पहले खण्ड की पहली जिल्द में है 'मेरी जीवन-यात्रा' का पहला भाग : 9 अप्रैल 1893 से अप्रैल 1927 तक के जीवन का लेखा-जोखा। और है उनकी वैचारिक यात्रा के साथ ही भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक विकास-यात्रा को समझने का प्रयास।

राहुलजी के प्रारंभिक जीवन के चित्र नहीं मिलते। 'राहुल संग्रहालय' में उपलब्ध चित्रों में से कुछ चुने हुए चित्र विभिन्न खण्डों की विभिन्न जिल्दों में दिये गये हैं।

प्रकाशन में जहाँ जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

विषयानुक्रम

नव प्रकाश : 1915-22 ई.

राजनीति-प्रवेश : 1921-27 ई.

परिशिष्ट

केदार से राहुल

नामवर सिंह

मेरी जीवनयात्रा का सबसे बड़ा आकर्षण है कनैला के केदारनाथ पाँड़े का महापण्डित राहुल सांकृत्यायन में रूपान्तरण। जीवन की यह यात्रा अन्य यात्राओं से कितनी लम्बी है ! कितनी दुर्गम ! कितनी साहसिक ! कितनी रोमांचक ! और कितनी सार्थक !

लेकिन यह यात्रा कोरी 'यात्रा' नहीं है और न ही 'यायावरी' या 'घुमक्कड़ी' ! राहुल जी बहुत बड़े घुमक्कड़ थे, इसमें कोई संदेह नहीं। किन्तु कभी-कभी लगता है कि उन्होंने अपने चारों ओर कवच की तरह घुमक्कड़ी का एक मिथक गढ़ लिया था। केदारनाथ पाँड़े घुमक्कड़ी के कारण महापण्डित राहुल सांकृत्यायन नहीं बने ! घुमक्कड़ होने से पहले केदारनाथ पाँड़े घर के भगोड़े थे।

सिद्धार्थ की तरह केदारनाथ भी एक दिन घर से भाग निकले। कारण निश्चय ही और था, लेकिन वह नहीं जिसका उन्होंने अत्यधिक प्रचार किया है : 'बचपन में "मैंने नवाजिन्दा बाजिन्दा की कहानी (खुदराई का नतीजा) पढ़ी। उसमें बाजिन्दा के मुँह से निकले 'सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ'—इस शेर ने मेरे मन और भविष्य के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला, यद्यपि वह लेखक के अभिप्राय के बिल्कुल विरुद्ध था।" यह घटना 1903 की है। उस समय केदारनाथ की उम्र दस वर्ष की थी।

लेकिन **मेरी जीवनयात्रा** (1) में इसके ठीक बाद अगले ही पृष्ठ पर एक और घटना का उल्लेख है, जो स्वयं लेखक के शब्दों में इस प्रकार है :

"1904 की गर्मी चल रही थी।··· बहसा-बहसी के बाद कई घंटा रात चढ़े तिलक चढ़ा। ब्याह भी हो गया। उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, **समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहला काम किया।** 1908 ई. में जब मैं 15 साल का था, तभी से मैं इसे शंका की नजर से देखने लगा था, 1909 के बाद से तो मैं **गृहत्याग** का बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस 'तमाशे' का थोड़ा-बहुत हाथ जरूर था।··· 1909 के बाद घर शायद ही कभी जाता था, 1913 के बाद को तो वह भी खत्म-सा हो गया, और 1917 की प्रतिज्ञा के बाद तो आजमगढ़ जिले की भूमि पर पैर तक नहीं रखा (1943 से पहले)।"

इस वृत्तान्त से स्पष्ट है कि गृहत्याग का भाव केदार में ब्याह के कारण पैदा हुआ। "समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहला काम किया।" 1904 के बाद से 1917 तक के घटनाक्रम का जो विवरण सिलसिलेवार दिया गया है, उसके समानान्तर इस अवधि की 'यात्राओं' को रखकर देखें तो यही नतीजा निकलता है। कलकत्ता तक 'पहली उड़ान' 1907 और 'दूसरी उड़ान' 1909 में। 'वैराग्य का भूत' 1910 में और 'भूत' के प्रभाव में अयोध्या, हरिद्वार, गंगोत्री-जमुनोत्री, केदारनाथ-बदरीनाथ की यात्रा। 1911 में संस्कृत की पढ़ाई के लिए काशी-प्रस्थान और काशी-प्रवास काल में जानलेवा मंत्र-साधना। 1912-13 में परसा मठ में वैष्णव साधु होकर रामउदारदास नाम-ग्रहण। 1913 में दक्षिणा पथ की यात्रा—मुख्यतः तिरुमिशी के उत्तरार्धी

मठ में आवास—नया नाम दामोदराचारी। 1914 से आर्यसमाज की ओर आकर्षण और एक आर्यसमाजी प्रचारक के रूप में आगरा, लाहौर आदि की यात्रा—1920 तक। कहने की आवश्यकता नहीं कि घुमक्कड़ी का यह चक्कर ब्याह के बाद ही शुरू हुआ और इसका एक ही अर्थ था—घर से दूर रहना।

इसी की चरम परिणति है 1916 की वह भीष्म प्रतिज्ञा : "अब से पचास वर्ष की उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखूँगा।"

मेरी जीवनयात्रा (1) में इस प्रसंग का विवरण अत्यंत मार्मिक है।

1916, अहरौरा रोड स्टेशन।

"जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया था कि पिताजी प्लेटफार्म पर पहुँच गए। वह हाँप रहे थे। उन्होंने 9-10 मील की यात्रा विना साँस लिये दौड़ते या तेजी से चलते तै की थी।··· वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफार्म पर लोग जमा हो गए। वह चिल्ला रहे थे—क्यों मुझे मार रहे हो ? मुझे भी अपने साथ ले चलो, आदि। उनकी बातों में पिछले साल की अर्ध-विक्षिप्तता का भी हल्का-सा असर था। मैंने एक बार हिम्मत बाँधकर कहा—आखिर, कब तक आप मुझे बाँधकर रखेंगे।

मैंने महेशपुरा की यात्रा स्थगित की, और दो टिकट लेकर बनारस की ओर रवाना हुआ। ट्रेन में और उससे भी ज्यादा बनारस स्टेशन पर मैंने ठंडे दिल से उन्हें समझाना शुरू किया—मैं आपके भावों को, आपकी बेकरारी को समझता हूँ; किन्तु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्य की लालसा रखता है, जिसकी जो अस्फुट झाँकी मुझे मिल रही है, उसके कारण जबर्दस्त से जबर्दस्त खतरे, मृत्यु के साक्षात् दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैला के अयोग्य हूँ, मैं आपके काम का नहीं रहा। यदि ऐसा करना था, तो मुझे गाय-भैंस की चरवाही में लगा दिये होते, मेरी दुनिया कनैला की सीमा से परिसीमित हो जाती। अब जोर देने का भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवन से हाथ धोना होगा।

इसका उनके दिल पर असर हुआ। अंतिम उत्तर जिस तरह उनके मुख से यकायक निकला, उसकी आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—अब मैं तुम्हारे रास्ते में बाधक नहीं होऊँगा, किन्तु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवन को विता दूँगा।

अपने वचन के पूर्वार्द्ध को उन्होंने ठीक से पालन किया। यही उनका अंतिम दर्शन था।

मैंने प्रतिज्ञा की—अब से पचास वर्ष की उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखूँगा।"

सवाल यह है कि पूरे आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखने की प्रतिज्ञा क्यों ? सिर्फ कनैला या पन्दहा ही क्यों नहीं ? राहुल जी को डर किस बात का था ? फिर पचास वर्ष की उम्र की पाबंदी क्यों ? आजीवन क्यों नहीं ? प्रतिज्ञा निश्चय ही भीषण है, लेकिन इसके पीछे हिसाब-किताब भी अच्छा-खासा है ! और कहना न होगा कि इस हिसाब-किताब का कुछ अर्थ है !

जो हो, पिता को पीड़ा पहुँचाने का अनुताप राहुल जी के मन में बना रहा। एक तरह से उन्होंने अपने असमय विवाह के लिए पिता को दण्ड दिया था गृहत्याग के रूप में। इसका प्रायश्चित्त राहुल जी ने अपनी अद्वितीय कृति 'बुद्धचर्या' (1930) के समर्पण द्वारा किया। यह समर्पण एक प्रकार से पिता का तर्पण भी है। समर्पण के शब्द ध्यातव्य हैं :

> 'मेरे गृहत्याग से जिनके अ-वार्धक्य जीवन के अंतिम वर्ष दुःखमय बन गए;
> उन्हीं सांकृत्य-सगोत्र, मलाँव-पांडेय, स्वर्गीय पिता
> श्री गोवर्धन की स्मृति में।'

वैसे, बुद्ध के समान राहुल भी अपने गाँव वापस लौटे थे—पचास वर्ष की उम्र खत्म होने पर 1943 ई. में। यह वह समय है जब केदारनाथ पाँड़े महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हो चुके थे। एकदम सम्यक् सम्बुद्ध !

मेरी जीवनयात्रा (2) में इस पुनरागमन का वर्णन विस्तृत है, किन्तु प्रसंगवश केवल ग्रामवासिनी उस प्रथम

पत्नी से सम्बद्ध अंश ही यहाँ प्रस्तुत है :

"भोजन समाप्त हुआ। हम उटना ही चाहते थे कि कपड़ों में ढँकी एक मूर्ति ने मेरे पैरों पर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलने को उठ खड़ा हुआ। खैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता, न मुझे वतलाया गया। मेरे नाम से शैशव में घरवालों ने जो ब्याह किया था, उसे तो घर के साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था।"

1943 में राहुल जी "कपड़ों से ढँकी" जिस रोती हुई "मूर्ति" से एकदम अनजान वनकर चलने के लिए उठ खड़े हुए थे, उसी के अंतिम दर्शन करने 1957 में फिर कनैला पहुँचे। इस मार्मिक प्रसंग का पूरा विवरण इस प्रकार है :

"कनैला छोड़ने से पहिले अपनी प्रथम परिणीता को देखने का निश्चय कर चुका था। अव वह चारपाई पकड़े थीं। देखकर करुणा उभर आना स्वाभाविक था। आखिर मैं ही कारण था जो इस महिला का आधी शताब्दी का जीवन नीरस और दुर्भर हो गया। मैं प्रायश्चित्त करके भी उसको क्या लाभ पहुँचा सकता था ? एक बार देखा। वह अपने आँसुओं को नहीं रोक सकी। फिर मैं घर से बाहर चला आया।"

यह प्रसंग 'मेरी जीवनयात्रा' के किसी भाग में नहीं है, क्योंकि 1956 के वाद की 'जीवनयात्रा' तो महापण्डित ने लिखी ही नहीं। यह मर्मस्पर्शी प्रसंग जिस पुस्तक में वर्णित है उसका नाम है 'कनैला की कथा' और यही वह पुस्तक है जिसे अपनी 'प्रथम परिणीता' को समर्पित करके राहुल ने प्रायश्चित्त का प्रयास किया है। समर्पण के शब्द हैं :

'उस प्रथम परिणीता को जिसका सारा जीवन मेरी महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार हुआ।'

अब तक जिस ब्याह को ब्याह न माना और जिस स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया, उसी को अव 'प्रथम परिणीता' का सम्मान दिया और साथ ही अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की भर्त्सना भी की।

पचास की उम्र में जहाँ करुणा का नामोनिशान न था, चौंसठ की उम्र में करुणा स्वाभाविक हो उठी। रूपान्तरण की प्रक्रिया का एक चरण यह भी है।

तात्पर्य यह कि बाल-विवाह केदारनाथ पाँड़े के जीवन की एक निर्णायक घटना है और गृहत्याग उसकी प्रथम प्रतिक्रिया, जिसे राहुल जी ने सामाजिक विद्रोह के प्रथम अंकुर की संज्ञा दी है। संन्यास इस विद्रोह का ही एक रूप है जिसके तहत केदारनाथ पाँड़े साधु रामउदारदास हुए। यदि वे इतने ही से संतुष्ट होकर रह जाते तो हजारों वैष्णव साधुओं के बीच एक और साधु वनकर खो जाते। किन्तु ज्ञान की प्यास ने उन्हें चैन न लेने दिया और 'किं करोमि क्व गच्छामि' की चिन्ता साधु रामउदारदास को आर्यसमाज के पास ले गई। उल्लेखनीय है कि 'मेरी जीवनयात्रा' में राहुल जी ने एक को 'वैराग्य का भूत' कहा है तो दूसरे को 'नव प्रकाश' ! 'मेरी जीवनयात्रा' (1) में इस समय की मनःस्थिति पर प्रकाश डालते हुए राहुल जी ने लिखा है : "आचारियों के अति संकीर्ण तथा वैरागियों के अपेक्षाकृत उदार, तो भी संकीर्ण वायुमंडल से निकलकर आर्यसमाज में आने पर मुझे मानसिक विचार-स्वातंत्र्य का मूल्य मालूम होने लगा। मुसाफिर विद्यालय में 'करोड़ों वर्षों' से स्थापित आचार-धर्म-सम्बन्धी परम्परा पर भी हम खुली तौर से नुक्ताचीनी कर सकते थे। 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतर' के महामंत्र को सुनकर मेरा रोआँ-रोआँ आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञ था।" यह बात 1916 की है। उन दिनों 'स्वदेश' और 'स्वधर्म' को रामउदार वावा अभिन्न समझते थे और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए इतनी बेकरारी थी कि सशस्त्र चेष्टा के लिए प्राण देनेवाले स्वेच्छा-सेवकों की जरूरत पड़ती तो वे उनमें पहिले नाम लिखाते।

आर्यसमाज का प्रभाव कब तक बना रहा, निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, किन्तु इतना निश्चित है कि 1921 में रामउदारदास असहयोग-आन्दोलन में कूद पड़े और इस प्रकार धर्म के साथ देश की राजनीति में प्रवेश कर गए। इस क्रम में 1922 में छै महीने बक्सर जेल में और फिर 1923 से 1925 तक लगभग दो साल हजारीबाग जेल में कैद भुगतनी पड़ी। हजारीबाग जेल के दिनों की वैचारिक स्थिति के बारे में 'मेरी जीवन यात्रा' (1) सूचित करती है कि "आर्यसमाज के विचारों की कट्टरता कम होने लगी, और बौद्ध धर्म की

ओर झुकाव बढ़ा। वेद की निर्भ्रान्तता पर सन्देह होने लगा, किन्तु ईश्वर पर विश्वास अब भी था।"

यदि विचार-यात्रा जीवन-यात्रा का ही अंग है तो सबसे बड़ा मोड़ केदारनाथ के विचारों में 1927 में आया जब वे श्रीलंका के विद्यालंकार विहार विद्यापीठ पहुँचे और रामउदारदास से त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन हुए। **मेरी जीवनयात्रा** (2) में इस वैचारिक परिवर्तन का वर्णन करते हुए राहुल जी ने लिखा है :

"ढाई हजार वर्ष पहिले के समाज और समय में बुद्ध के युक्तिपूर्ण सरल और चुभनेवाले वाक्यों का मैं तन्मयता के साथ आस्वाद लेने लगा। त्रिपिटक में आए मोजिज़ें और चमत्कार अपनी असम्भवता के लिए मेरी घृणा के पात्र नहीं, बल्कि मनोरंजन की सामग्री थे। मैं समझता था, पच्चीस सौ वर्षों का प्रभाव उन ग्रंथों पर न हो, यह हो नहीं सकता। असम्भव बातों में कितनी बातें बुद्ध ने वस्तुतः कहीं, इसका निर्णय आज नहीं किया जा सकता, फिर राख में छिपे अंगारों या पत्थरों से ढँके रत्न की तरह बीच-बीच में आते बुद्ध के चमत्कारिक वाक्य मेरे मन को बलात् अपनी ओर खींच लेते थे। जब मैंने कालामों को दिये बुद्ध के उपदेश–किसी ग्रंथ, परम्परा, बुजुर्ग का ख्याल कर उसे मत मानो, हमेशा खुद निश्चय करके उस पर आरूढ़ हो–को सुना तो हठात् दिल ने कहा–यहाँ है एक आदमी जिसका सत्य पर अटल विश्वास है, जो मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि के महत्त्व को समझता है। जब मैंने मज्झिम निकाय में पढ़ा–बेड़े की भाँति मैंने तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, वह पार उतरने के लिए है, शिर पर ढोए-ढोए फिरने के लिए नहीं; तो मालूम हुआ, जिस चीज को मैं इतने दिनों से ढूँढ़ता फिर रहा था, वह मिल गई।"

बुद्ध के सत्य की झलक मिल तो गई, लेकिन अभी तक ईश्वर से मुक्ति नहीं मिल पाई थी। यह अटक बाकी थी। इस कारण तीव्र अन्तर्द्वंद्व था। एक शाम टहलते समय सहसा यह दुविधा भी मिट गई। राहुल जी के शब्दों में, "ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया, और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा, कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज है, बुद्ध यथार्थवक्ता है। तब कई हफ्तों तक हृदय में एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई।–मालूम होता था, चिरकाल से चला आता एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है। किन्तु मैंने हमेशा बुद्धि को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया था, और कुछ ही समय बाद उन काल्पनिक भ्रान्तियों और भीतियों का खयाल आने से अपने भोलेपन पर हँसी आने लगी।··· अब मुझे डार्विन के विकासवाद की सच्चाई मालूम होने लगी, अब मार्क्सवाद की सच्चाई हृदय और मस्तिष्क में पेंवस्त जान पड़ने लगी।"

इस प्रकार बुद्ध के विचारों के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि और मार्क्सवाद की सच्चाई से सन्नद्ध एक नये मनुष्य का जन्म हुआ, जिसे आज हम राहुल सांकृत्यायन के नाम से जानते हैं।

स्वयं राहुल जी ने अपनी 'जीवन यात्रा' के इस चरण को 'पर्येषण' की संज्ञा दी है, जिसका अर्थ है तर्क द्वारा गवेषणा या खोज। यहीं से तिब्बत की उन शोधयात्राओं का सिलसिला शुरू होता है जिनमें राहुल जी को धर्मकीर्ति, असंग, वसुबंधु आदि बौद्ध दार्शनिकों के अप्राप्त अमूल्य ग्रंथों के उद्धार का श्रेय मिला। यही वह काल है जब महायात्री राहुल ने जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत भूमि और ईरान की यात्रा की। इसलिए 'मेरी जीवनयात्रा' (2) के इस खंड को 'पर्येषण' के साथ 'पर्यटन' कहना सर्वथा उचित ही है।

'पर्येषण, पर्यटन' का यह दौर 1927 से 1938 तक, लगभग बारह वर्षों तक चलता है। इसी दौर में बकौल राहुल "एक तरह 1927 ई. में ही मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ होता है।··· यहीं से लंका के सम्बन्ध में धारावाहिक रूप से मैंने कुछ लेख 'सरस्वती' के लिए लिखे।" इसके ठीक बाद 1944 तक लगातार सात वर्ष 'जीवनयात्रा' का वह दौर चलता है जिसे राहुल जी ने 'किसानों-मजदूरों के लिए' कहा है। एक 'प्रतिबद्ध बौद्धिक' के रूपान्तरण का यह चरम शिखर है।

'मेरी जीवनयात्रा' की प्रथम दो जिल्दों का लेखन-कार्य महापण्डित ने इसी शिखर पर पहुँचकर किया है, जो असंदिग्ध रूप से 'जीवन-यात्रा' की पाँचों जिल्दों में अन्यतम हैं। एक तरह से यह कालखंड राहुल जी की सर्जनात्मक प्रतिभा का विस्फोट है, क्योंकि इसी दौरान उन्होंने 'वोल्गा से गंगा', 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' जैसी अमर कथाकृतियों की रचना की; 'दर्शन-दिग्दर्शन' जैसा दार्शनिक विश्वकोश तैयार किया; और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' का वृत्ति, भाष्य और टीका के साथ सम्पादन कर अनुसंधान का प्रतिमान स्थापित

किया। इस प्रकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के रूप में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के त्रिरत्न का ऐसा समंजस विग्रह प्रकट हुआ जो वीसवीं शताब्दी के भारत की एक ऐतिहासिक घटना है !

2

परन्तु राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवनयात्रा' किसी महामानव की सफलता की गाथा नहीं है। इसी पुस्तक के प्रथम भाग में एक जगह राहुल जी ने व्यक्ति-पूजा के विरुद्ध उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "व्यक्ति-पूजा को तोड़ने के लिए मेरा दिल बाज वक्त वैसे ही चुलवुला उठता है, जैसे हाथ में पत्थर लिये छोटे लड़के को मिट्टी के बरतनों को देखकर खन-खन चर-चर करके टूटते बरतन अच्छे मालूम होते हैं। समाज के ढोंग मुझे क्रोधान्ध बना देते हैं। मेरा विश्वास है—या तो ढोंग ही रहेंगे या समाज का अस्तित्व ही। इसलिए समाज के ढोंगों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व को भी चूर-चूर करने में मुझे प्रसन्नता होती। इसके लिए कितने ही लोग मेरे साथ अन्याय भी करते, किन्तु भविष्य के कद्रदानों के सामने यह नगण्य-से होते।"

फिर भी इस विषय में राहुल जी को 'अपनी कलम रोकनी' पड़ी, क्योंकि "उन्हें मित्रों और स्नेहियों के आग्रह का भी पालन करना" था। इस संदर्भ में उन्होंने सामान्य संकेतों की भाषा में सिर्फ इतना ही कहा है कि "यदि लोगों की दृष्टि में गिरने का मुझे डर न होता, यदि स्त्रियों के सामने वोलने-चालने में—विशेषकर प्रेमालाप की दिशा में ले जानेवाले वार्तालाप में—संकोच न होता, तो सिर्फ आदर्श के लिए द्विपाद रहने की अनिवार्यता, या सिर्फ ज्ञान से मैं बच न सकता; क्योंकि काम-वेग खास-खास अवस्था में ज्ञान-विवेक को तिनके के तौर पर बहा ले जाता है। जीवन की दो-चार घटनाएँ हैं, जिनसे मैं इसलिए वच गया, कि काम की सांकेतिक भाषा के प्रयोग से अपरिचित और समझने में सन्देहयुक्त था। इस जीवनी में जीवन के इस अंश पर भी मैं और लिखता…"

इस आत्मस्वीकृति के बावजूद 'मेरी जीवन-यात्रा' में संयोग से ऐसे कुछ प्रसंग आ गए हैं। इन्हीं प्रसंगों में से एक है छोटी मामी का प्रसंग। यह चौदह वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव हैं। इस 'स्वच्छ', 'सुंदर', 'कोमल' और 'मधुर' मामी के बारे में राहुल जी ने लिखा है कि "सचमुच यदि उस लड़के (केदार) से पूछा जाता, कि तुम को सिर्फ एक आदमी दुनिया में मिलेगा, चुन लो और हमेशा के लिए निर्जन वन में चले जाओ; तो वह अपनी छोटी मामी को चुनता।" कहने की आवश्यकता नहीं कि "छोटी मामी से उसे असाधारण प्रेम था।" अब इस 'असाधारण प्रेम' का जो भी अर्थ हो।

दूसरा प्रसंग है श्रीलंका का। 1928 का वर्ष। राहुल भद्र उस समय पैंतीस वर्ष के थे। पूरा विवरण स्वयं लेखक के ही शब्दों में :

"विद्यालंकार विहार के बाहर सड़क की दूसरी तरफ एक गृहस्थ का घर था, उसमें एक तरुण कन्या रहती थी। एकाध वार हमारी आँखें चार हुईं।… मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ था; क्योंकि वह गोरी और कुछ सुन्दर-सी थी। इसमें भी कोई शक नहीं, कुमारी होने से उसके साथ ब्याह करने में कोई बाधा नहीं हो सकती थी, किन्तु ब्याह का नाम आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते, मेरे पर कटकर गिरते-से दिखाई पड़ते। और कन्या-संसर्ग का यह छोड़ दूसरा परिणाम क्या होता ? मैंने दृढ़ता से काम लिया, लेकिन साथ ही दृढ़ता में मेरा स्वाभाविक संकोच और उस लड़की की लज्जाशीलता मुख्यतः सहायक हुई, नहीं तो, उसकी तरफ से मामला आगे बढ़ने पर मेरे लिए बचना मुश्किल होता।"

पूरे विवरण से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि ब्याह का डर ही सबसे बड़ी रोक थी। इसे राहुल जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है : "जब तक उड़ान की चाह है, जब तक अपने आदर्श के सहायक साधनों को आदमी जमा नहीं कर सका है, तब तक उसका दोपाया रहना सबसे जरूरी चीज है।" इस कथन से तो यही नतीजा निकलता है कि जब उड़ने की चाह से जी भर जाय और अपने आदर्श के सहायक साधन जमा हो जायँ तो आदमी को चौपाया हो जाना चाहिए। यह निष्कर्ष उतना चौंकानेवाला नहीं, जितना दिलचस्प है महापण्डित

का उस पर अमल !

घर से डर भी और घर की चाह भी : 'मेरी जीवनयात्रा' गोया इन्हीं दोनों छोरों को एक साथ बाहों में बाँध लेने की करुण कोशिश है।

क्या राहुल जी ने अपने मित्रों और स्नेहियों के आग्रह के बावजूद अपनी छवि पर दो-चार खरोंचें नहीं लगाईं ? कहना न होगा कि यदि खरोंच आई भी होगी तो 'छवि' पर ही, 'व्यक्तित्व' तो बहुत बड़ी चीज है ! व्यक्तित्व तो अंदर से चटखता है और उसके कारण भी बहुत आन्तरिक होते हैं ! उन आन्तरिक कारणों का पता लगाने के लिए 'मेरी जीवनयात्रा' को दूसरे ढंग से पढ़ना होगा, जो सम्प्रति सम्भव नहीं है।

कुल मिलाकर राहुल जी की 'मेरी जीवनयात्रा' अन्ततः एक आख्यायिका ही है। तिथियाँ और घटनाएँ वास्तविक होकर भी एक धारावाहिक आख्यान में नियोजित होने की प्रक्रिया में एक अन्य कल्प-सृष्टि का रूप ग्रहण कर लेती हैं। फलतः केदारनाथ पाँड़े का महापण्डित राहुल सांकृत्यायन में रूपान्तरण एक सरल रेखा के समान दिखाई पड़ता है, जबकि उसके जटिल होने की सम्भावना अधिक है !

'मेरी जीवनयात्रा' का आख्यान स्वयं महायात्री राहुल की तरह इतनी तीव्र गति से चलता है कि किसी स्थान पर एक निश्चित अवधि से अधिक टिकना ही नहीं चाहता। राहुल बुद्ध के समान ही 'चरत भिक्खवे' जैसे भिक्षु-धर्म का ही पालन करते दिखाई पड़ते हैं और 'मेरी जीवनयात्रा' उन चरणों का अनुसरण करने के लिए जैसे बाध्य है। इस संचरण में यदि कुछ चीजें छूट गईं तो आश्चर्य नहीं। उदाहरण के लिए प्रकृति ! यहाँ न कोई फूल खिलता है, न कोई चिड़िया बोलती है और न कहीं सूर्य की किरणें बादलों पर अपनी रंगीन कूँचियाँ फेरती हैं। राहुल जी की दिलचस्पी अगर किसी चीज में है तो सिर्फ मनुष्यों में ! प्रत्येक मनुष्य को इतनी बारीकी से देखते हैं कि 'मेरी जीवनयात्रा' हजारों व्यक्तियों के रेखांकन का एक जीता-जागता अलबम बन गई है। ग़ालिब ने तो सत्तर साल की उम्र में सत्तर हजार व्यक्तियों को अपनी नजर से गुजरने का दावा किया था, राहुल ने तो इससे ज्यादा लोगों के साथ रहकर जिन्दगी गुजारी होगी।

वैसे, आदमियों के अलावा पशुओं से भी राहुल जी का लगाव था जिसका सबसे मार्मिक उदाहरण है 'सेङ् टुक्' नामक तिब्बती कुतिया की मौत। उस नन्हीं-सी जान के मरने पर राहुल जी ने लिखा है : "मैंने इतनी मात्रा में और अचानक पीड़ा कभी नहीं अनुभव की थी।··· कितनी ही बार मेरी आँखों से आँसू निकल आए। माता और पिता के मरने पर, तथा मेरे लिए प्राण देनेवाले नाना-नानी के मरने पर भी जो आँखें नहीं पसीजीं, उनमें आज छल-छल आँसू उमड़ आ रहे थे।" यह घटना 1926 की है।

स्पष्ट है कि बुद्ध के अनुयायी त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के अन्तस्तल में प्रचुर करुणा थी। जरूरी नहीं कि वह समय-समय पर आँसू बनकर छलके ही। तुलसीदास के जनक भी 'परम विरागी' कहे जाते थे; किन्तु एक विशेष क्षण में 'मिटी महा मरजाद ग्यान की।' और फिर "लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपण कर सोना।" किन्तु लगता है कि 'मेरी जीवनयात्रा' में महापंडित ने मरजाद का ध्यान कुछ ज्यादा ही रखा है और कृपणता में तनिक भी ढील नहीं दी है ! कहीं-कहीं हृदय जरा खुल पड़ा होता तो कुछ हानि न होती। बल्कि कुछ और हृद्य ही होती।

'मेरी जीवनयात्रा' 'जीवनी' के रूप में भले ही न लिखी गई हो, जैसा कि 'प्राक्कथन' में लेखक ने ऐलान किया है, एकदम 'यात्रा' भी तो नहीं है; है तो आखिर 'जीवन-यात्रा' ही–राहुल जी का दिया हुआ एक नया पदबंध ! बहु अर्थगर्भ !

32, शिवालिक अपार्टमेंट्स,
अलकनंदा, नई दिल्ली-110019

राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा'

हिन्दी में आत्मकथा-साहित्य के क्षेत्र में राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा' एक अविस्मरणीय कृति है। इसमें लेखक ने अपने जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों का विवरण बहुत ही कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। आत्मकथा या आत्मचरित जीवनी-साहित्य का विकासशील अंग है। यही एक ऐसा माध्यम है जिसमें लेखक अपने विषय में एवं अपने व्यक्तिगत अनुभवों के सम्बन्ध में कहता है। राहुल जी की 'जीवन-कथा' एक पर्यटक की कथा होने के कारण मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद, रोमांचकारी तथा उत्साह भरी जीवन-यात्रा है।

राहुल जी ने अपनी जीवन-यात्रा (पाँच भागों) में, जन्म से लेकर तिरसठवाँ वर्ष पूरा करने तक का वर्णन किया है। उन्होंने आत्मचरित के लिए 'जीवन-यात्रा' शब्द का प्रयोग किया है। इस विषय में उनका कथन है–"मैंने अपनी जीवनी न लिखकर 'जीवन-यात्रा' लिखी है, यह क्यों ? अपनी लेखनी द्वारा मैंने उस जगत की भिन्न-भिन्न गतियों और विचित्रताओं को अंकित करने की कोशिश की है, जिसका अनुमान हमारी तीसरी पीढ़ी मुश्किल से करेगी।" (मेरी जीवन-यात्रा-1 की भूमिका)

पंडित जी आगे कहते हैं–"जिस तरह मैंने दूसरे विषयों पर लिखने से पहिले कलम उठाने की कला को बाकायदा नहीं सीखा, उसी तरह जीवनी लिखने की कला में भी मैं अशिक्षित हूँ। बाकायदा शिक्षा का महत्व कम नहीं है, लेकिन मेरा दुर्भाग्य, जो मुझे उसका अवसर नहीं मिला।" (वही, भूमिका) इन पंक्तियों से जाहिर होता है कि राहुल जी कितने विनम्र थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा बाकायदा नहीं हुई, इससे उनको अफसोस होता है; किन्तु पूरी जीवन-कथा को पढ़ने से हम समझ सकते हैं, विश्वविद्यालय के डिग्रीधारी न होने पर भी वे कितने बड़े विद्वान थे, कितने बड़े रचनाकार थे। उनमें अहंकार, घमण्ड एवं दिखावा नाम की कोई चीज नहीं थी। राहुल जी की उपरिलिखित स्वोक्ति से स्पष्ट है कि 'मेरी जीवन-यात्रा' आत्मवृत्त मात्र नहीं है, वह उससे कुछ बढ़कर है। वे यायावर थे, और बीसवीं सदी के उन विरले यायावरों में थे जिन्होंने देश-विदेश का पर्यटन कर वहाँ के विषय में प्रामाणिक एवं विस्तृत जानकारी प्रदान की है। उनका यह आत्मचरित एक यायावर का आत्मचरित है और इसीलिए 'मेरी जीवन-यात्रा' जीवनी मात्र नहीं है, जीवन के साथ-साथ एक विराट अनुभव-यात्रा भी है। जीवनीकार केवल अपनी कथा प्रस्तुत करने तक ही सीमित नहीं हैं, वे बाहरी विश्व की विचित्रताओं, विभिन्नताओं को भी अंकित करते चलते हैं।

'मेरी जीवन-यात्रा' एक यायावर साहित्यकार की आत्मकथा है। यह उनके मधुर-कटु जीवन-अनुभवों की रोचक कथा तो है ही, उनके सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों के सहृदयतापूर्ण चित्र भी इसमें हैं। आत्मकथा का प्रमुख पात्र तो लेखक स्वयं होता है, पर साथ ही वह उन आदमियों के नाम भी अंकित करता जाता है जो उसके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं। जीवन-यात्रा में घनिष्ठ सम्पर्क में आये व्यक्ति जीवन को मधुर बना देते हैं। उनकी मधुर स्मृतियों को आत्मकथा का लेखक स्वयं अंकित करता है। इस विषय में राहुलजी का आत्मकथन है– "आदमी जीवन-यात्रा में कितने ही सहृदय नर-नारियों से मिलता है, उनसे कितनी ही सहायता और सहानुभूति पाता है··· मैं नहीं समझता, क्यों आदमी की प्रवृत्ति को इतना स्वार्थपूर्ण चित्रित किया जाता है। मैं यह जानता हूँ कि स्वार्थ के पीछे अंधे हो गये आदमी भी मिलते हैं, लेकिन यदि आदमी स्वार्थमय होता, तो किसी की जीवन-यात्रा

में जरा भी माधुर्य न रह जाता। मैं तो जव अपनी जीवन-यात्रा को याद करता हूँ तो हजारों स्नेहपूर्ण चेहरे आँखों के सामने घूमने लगते हैं।" (मेरी जीवन-यात्रा–2)

राहुल जी ने 'मेरी जीवन-यात्रा' में सैकड़ों ऐसे व्यक्तियों के चरित्र का उल्लेख किया है जिनकी स्मृतियों को वे आजीवन सँजोये रहे। ऐसे व्यक्तियों में साहित्यकार, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, पुरातत्ववेत्ता, इतिहासकार, सन्त-साधु-संन्यासी, बौद्ध विद्वान, आर्यसमाज-प्रचारक, समाज-सुधारक, यायावर–सभी क्षेत्रों एवं देश-विदेश के विख्यात व्यक्ति तो हैं ही, जनसाधारण की मधुर स्मृतियों को भी उन्होंने चित्रित किया है। उनकी कहानी कृति 'सतमी के बच्चे' के सभी प्रमुख पात्रों का सम्वन्ध राहुल जी के जीवन के वाल्यकाल अथवा किशोरकाल से है। यदि राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा' भाग-1 को पढ़ने के बाद कोई इन कहानियों को पढ़ने बैठे, तो उसे ये कहानियाँ कहानी न लगेंगी, क्योंकि ये सभी पात्र प्रायः उसी भाषा में जीवनी में भी वर्णित हैं। सतमी कौन थी, इसका सही परिचय उनकी जीवन-यात्रा भाग-1 से मिलता है।

राहुल जी ने 'मेरी जीवन-यात्रा' में अपने जीवन का इतिहास स्मृतियों के रूप में ही प्रस्तुत किया है। साथ ही उसके लिए समय-समय पर लिखे गये नोटों एवं डायरियों का भी उपयोग किया है। 'मेरी जीवन-यात्रा' के पहले दो भाग प्रमुखतः स्मृति पर आधारित हैं। इस विषय में लेखक का कथन है–"इन दो महीनों में मैंने 1893 से 1934 ईसवी तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा।" (भाग-1, प्राक्क्थन)। डायरी और पत्रों का आत्मकथा में स्थान होता है। डायरी के प्रयोग के साथ जहाँ राहुल जी अपनी ओर से व्याख्या करते हैं, वे अंश आत्मकथा के अधिक समीप हैं। 'मेरी जीवन-यात्रा' में सर्वत्र रोचकता है, यह रोचकता लेखक के व्यक्तित्व में है, उनकी यथार्थ और ईमानदारी से की गई अभिव्यक्ति में है, कल्पित बातों में नहीं। यही ईमानदारी आत्मकथा की सत्यता की कसौटी है।

मेरी जीवन-यात्रा-1 : आत्मकथा का लेखक आत्म-निरीक्षण एवं आत्म-परीक्षण के साथ अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह रखता है, साथ ही वह वाहरी विश्व के साथ अपने सम्वन्धों को प्रकट करता है। प्रस्तुत प्रथम भाग को लेखक ने अपने बुजुर्गों के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए समर्पित किया है। समर्पण-वाक्य में वे लिखते हैं–

"उन दौड़नेवालों की स्मृति में, जो मुझे आगे वढ़ने का अवसर दे आप पीछे रह गये।"

'मेरी जीवन-यात्रा' (प्रथम भाग) के प्राक्कथन में राहुल जी लिखते हैं–"मेरी जीवन-यात्रा मैंने क्यों लिखी ? मैं बराबर इसे महसूस करता रहा कि ऐसे ही रास्ते से गुजरे हुए दूसरे मुसाफिर यदि अपनी जीवन-यात्रा को लिख गये होते, तो मेरा वहुत लाभ हुआ होता–ज्ञान के ख्याल से ही नहीं–समय के परिमाण में भी। मैं मानता हूँ कि दो जीवन-यात्राएँ बिलकुल एक-सी नहीं हो सकतीं, तो भी इसमें संदेह नहीं कि सभी जीवनों को उसी आन्तरिक और वाह्य विश्व की तरंगों में तैरना पड़ता है।"

राहुल जी के मित्र उनके साहसमय यायावरीय जीवन की कथा को लिख डालने के लिए उन्हें पहले से ही प्रेरित कर रहे थे। इसे लिख डालने का अवसर उनको हजारीबाग जेल में मिला, जव 14 मार्च 1940 में सरकार ने उन्हें हजारीबाग जेल में बंद कर दिया और 29 महीने तक नजरबन्द रहना पड़ा। राहुल जी समय का मूल्य जानते थे। इस बन्दी जीवन के दीर्घ काल का सदुपयोग करने के लिए पुरानी स्मृतियों को कागज पर उतार डालने का उन्होंने निश्चय किया। 16 अप्रैल से उन्होंने लिखना आरम्भ किया और 14 जून तक लिखते गये। इन दो महीनों में उन्होंने जन्म (1893) से लेकर 1934 तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा। इस प्रसंग में वे कहते हैं–"मुमकिन है, मैं आगे बढ़ते-बढ़ते 1940 तक चला आता, लेकिन 1926 से आगे बढ़ते ही मेरी कलम रुकने लगी–जब साल-साल की डायरी मौजूद है तो सिर्फ स्मृति के सहारे लिखने को मैंने टीक नहीं समझा–मुमकिन है, डायरियों को मिलाने पर बहुत बदलना पड़ता।" (प्राक्कथन)

इस प्रकार हजारीबाग जेल में रहकर उन्होंने एकाग्रचित्तता से अपनी आत्मकथा के इस प्रथम भाग को लिख डाला। 'मेरी जीवन-यात्रा' के प्रथम भाग के कालखण्ड के विस्तृत वर्ण्य-विषय को लेखक ने चार उपखण्डों में विभाजित किया है, और पुस्तक के अन्त में महत्वपूर्ण परिशिष्ट भी दिया है। जीवनी के विभाजित खंडों के अनुसार–प्रथम उपखण्ड : बाल्य (1893-1909), द्वितीय उपखण्ड : तारुण्य (1910-14 ई०), तृतीय उपखण्ड :

नव प्रकाश : (1915-21 ई०), चतुर्थ उपखण्ड : राजनीति-प्रवेश (1921-27 ई०) है। परिशिष्ट में 1922 की डायरी से कुछ पद्य-गद्य की पक्तियाँ, सांकृत्यायन-वंशवृक्ष का वर्णन है, जिसमें (क) वैदिक काल, (ख) बौद्ध काल, (ग) मध्य काल, (घ) आधुनिक काल के अनुसार ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। विभाजित प्रथम उपखण्ड के बाल्यजीवन के अन्तर्गत अपने आरम्भिक जीवन, पारिवारिक सदस्यों एवं प्रारम्भिक शिक्षा के उल्लेख के अनन्तर लेखक बाल्यकाल में ही यायावरी जीवन के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त करते हैं। विभाजित द्वितीय उपखण्ड में उन्होंने अपने तारुण्य के समय का विस्तृत और रोचक वर्णन करते हुए अपनी यायावरी वृत्ति को आगे बढ़ाया है। इस उपखण्ड में लेखक के दक्षिण भारत के पर्यटन का वर्णन है। वे कभी साधु-संन्यासियों की शरण लेते हैं और कभी किसी मठ या आश्रम में निवास करते हैं। आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर उन्हें जो नवप्रकाश प्राप्त होता है, उसका वर्णन विभाजित तृतीय उपखण्ड में लेखक ने किया है। चतुर्थ विभाजित उपखण्ड के अनुसार राहुल जी गाँधी जी के द्वारा चलायें हुए असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने राजनीति में प्रवेश करते हैं। यहाँ से अब उनका तूफ़ानी जीवन आरम्भ होता है। राजनीति में रहते हुए भी वे समाजसेवी के रूप में बाढ़-पीड़ितों की सहायता करते हैं और उन्हें बक्सर जेल में छह मास के लिए बन्द कर दिया जाता है। फिर जिला कांग्रेस के मंत्री बनते हैं। पर उनकी यायावरी वृत्ति उन्हें प्रथम नेपाल-भ्रमण में भेज देती है। लौटने पर उनको सरकार की ओर से वारंट मिलता है और वे हजारीबाग जेल में भेज दिये जाते हैं। जेल से 2 वर्ष बाद मुक्त होकर जब बाहरी दुनिया में आते हैं, तब उन्हें राजनीति में शिथिलता दिखलाई पड़ती है और 1926 में हिमालय की सैर करने निकल पड़ते हैं। उसके बाद जिला कांग्रेस की कौंसिल में काम करने लगते हैं। तूफ़ानी जीवन उनको आगे और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

अपनी जीवन-यात्रा के प्रथम भाग से ही राहुल जी ने सर्वत्र अपनी ईमानदारी से अपने गुण-दोषों का उद्‌घाटन किया है। प्रथम विवाह के सम्बन्ध में उन्होंने अपने स्पष्ट विचार अंकित किये हैं। इस प्रसंग में एक ओर उनके निर्भीक, क्रांतिकारी व्यक्तित्व का संकेत मिलता है, तो दूसरी ओर प्रथम पत्नी के परित्याग का यथार्थ एवं सत्य वर्णन भी।

आर्यसमाज एवं भाई मौलवी महेशप्रसाद के सम्पर्क ने राहुल जी को तारुण्य में नवप्रकाश प्रदान किया। इस विषय में वे लिखते हैं—"यहाँ आगरा में भाई साहव के सम्पर्क में आने पर मालूम हुआ, जैसे आदमी अँधेरी कोठरी से निकलकर सूर्य की रोशनी में रख दिया जावे।" (प्रथम भाग)

इसी प्रकार हिमालय की अपनी प्रथम यात्रा के विषय में राहुल जी लिखते हैं—"हिमालय की इस यात्रा का वर्णन मानस-पटल पर अंकित सिर्फ उन प्रतिबिम्बों के आधार पर कर रहा हूँ जो आज से तीस वर्ष पहिले पड़े थे।" (प्रथम भाग) प्रस्तुत भाग में उन्होंने अपने पिता श्री गोबर्धन पाण्डे का भी बहुत अच्छा चरित्र-चित्रण किया है। घनिष्ठ मित्रों के चरित्रांकन में उन्होंने उदारता से काम लिया है।

भारत की राजनीति के ऐतिहासिक वातावरण का जायजा लेने के लिए भी यह प्रथम भाग पठनीय है। 1918-19 के चम्पारन-आन्दोलन, रोलट एक्ट तथा मार्शल लॉ के वर्णन द्वारा भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना का वे उल्लेख करते हैं।

जीवन-यात्रा के इस प्रथम भाग के अनुसार राहुल जी मुख्यतः भारत में ही रहे। बस, विदेश के नाम पर उन्होंने नेपाल की यात्रा की और वहाँ के कई प्रभावशाली लोगों से मिले। इसी भाग में उन्होंने सतमी और उसके बच्चों की मार्मिक कथा सुनाई है। उनकी प्रथम उड़ान के सम्बन्ध में बहुत ही दिलचस्प बयान मिलता है। उस समय पहली बार किशोर आँखों से देखे हुए विशाल कलकत्ता नगर का रोचक वर्णन उन्होंने किया है।

कलकत्ता की दूसरी उड़ान में उन्होंने प्रसाद जी के प्रसिद्ध खानदान 'सुंघनी साहु' की दुकान में काम किया था। काम क्या था, किस तरह उसे करते थे, इसका विशद वर्णन उन्होंने किया है। इसके माध्यम से हमें जयशंकर प्रसाद के खानदान का इतिहास भी प्राप्त हो जाता है। इसी भाग में राहुल जी पर वैराग्य का भूत सवार हो जाता है। आर्यसमाज ने राहुल जी के जीवन की दिशा ही बदल दी थी।

मेरी जीवन-यात्रा-2 : इसमें राहुल जी ने अपने गतिशील जीवन के 1929 से 1944 तक के कालखण्ड का चित्रण किया है। इस द्वितीय भाग को लिखने के सम्बन्ध में राहुल जी कहते हैं—"मैं आशा नहीं करता था कि

दूसरे भाग के लिखने के लिए समीप भविष्य में अपनी कलम को उठा सकूँगा। रूस की तीसरी यात्रा के लिए मैं तैयार बैठा हूँ, सिर्फ ईरान सरकार की आज्ञा आने की देर है। लड़ाई से पहिले ऐसी आज्ञा या 'वीसा' लेना सिर्फ एक घंटे की बात थी, लेकिन आज दरख्वास्त दियें पाँचवाँ महीना बीत रहा है, पर अभी पता नहीं, वह कब मिलेगा। मैंने इस प्रतीक्षा के समय को अगला भाग लिखने में लगाना पसन्द किया है।" (प्रथम भाग का प्राक्कथन) इसी प्रसंग में वे आगे कहते हैं–"मेरी जीवन-यात्रा–इसे 1940 में लिखना शुरू किया था, लेकिन डायरियों के न होने से आगे दिक्कत पड़ने लगी, और उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। इस वक्त फिर समय मिला। 29 अगस्त (1944) क्या, आज (29 सितम्बर) भी ईरानी वीसे का कहीं पता नहीं है, इसलिए (प्रयाग में) सत्यनारायण जी ने फिर कलम पकड़ी और मैंने बोलना शुरू किया। जीवन-यात्रा का आज (28 सितम्बर 1944) तक का भाग भी अब आपके सामने है।" ('मेरी जीवन-यात्रा' भाग-2, 1944 का प्रसंग)

प्रस्तुत द्वितीय भाग में जो 19 वर्ष के कालखण्ड का विवरण दिया गया है, उसमें पर्यटक राहुल जी का जीवन मुखरित है। इसके अन्तर्गत उनकी लंका-यात्रा (1927), नेपाल में अज्ञातवास (1927-28), तिब्बत में सवा वर्ष की प्रथम यात्रा (1929-30), लंका में दूसरी बार (1930), लंका में तीसरी बार (1931-32), यूरोप-यात्रा (1932-33), द्वितीय लद्दाख-यात्रा (1933), द्वितीय तिब्बत-यात्रा (1934), जापान-यात्रा (1935), कोरिया-मंचूरिया की यात्रा (1935), सोवियत भूमि की प्रथम झाँकी (1935), ईरान-यात्रा (1935), तिब्बत में तीसरी बार (1936), ईरान की दूसरी यात्रा (1937), सोवियत भूमि की दूसरी यात्रा (1937), अफगानिस्तान की यात्रा (1938), तिब्बत में चौथी बार (1938) और सोवियत भूमि की तीसरी यात्रा के लिए प्रस्थान (1944) तक का यात्रा-वर्णन है।

यात्राओं के अतिरिक्त प्रस्तुत भाग में यायावर लेखक के भारत में सत्याग्रह में भाग लेना, बड़ौदा के ऐतिहासिक सम्मेलन में भाग लेना, पटना और प्रयाग में रहकर काम करना, उनके गुरुतुल्य मित्र जायसवाल जी की मृत्यु की मार्मिक घटना का वर्णन भी हम पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त राहुल जी के प्रभावशाली राजनीतिक स्वरूप की विकास-यात्रा से भी पाठकों का परिचय हो जाता है। 12 वर्ष अपनी यात्राओं तथा अध्ययन-चिन्तन-मनन में व्यतीत करने के बाद वे भारतीय राजनीति को पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं। इसके लिए वे परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं। किसान संघर्ष (1939), प्रसिद्ध अमवारी सत्याग्रह (जहाँ उनका सिर फूटा), जेल में नजरबन्द, जेल में ही पहली भूख हड़ताल, हाथ में हथकड़ी पहनना, जेल की सजा पाना, इसी बीच जेल से निकलकर छितौली किसान-सत्याग्रह में भाग लेना, फिर दूसरी बार हजारीबाग जेल में 19 दिन की भूख हड़ताल, जेल से छूटकर बम्बई आकर एक नये जीवन में प्रवेश, कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर बनना, किसान-सम्मेलन के सभापति के रूप में काम करना, फिर 29 महीने के लिए जेल की सजा पाना, पहले हजारीबाग जेल में तत्पश्चात देवली डिटेन्शन कैम्प में नजरबंद, कैदियों की स्थिति सुधारने हेतु जेल में भूख हड़ताल, फिर हजारीबाग जेल में जाना, उसके बाद बन्दीजीवन से मुक्त होना आदि–उनके राजनीतिक जीवन से सम्बद्ध सम्पूर्ण एवं क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत भाग में उपलब्ध होता है।

बन्दी जीवन से मुक्त होकर राहुल जी किसी एक स्थान में चुपचाप बैठे नहीं रहते। वे सारे भारत के राजनीतिक माहौल को देखते, अनुभव करते विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हैं। चौंतीस साल बाद (1944 में) अपने जन्मग्राम पन्दहा, कनैला (आजमगढ़) भी जाते हैं। यहाँ से वे उत्तराखंड की यात्रा पर जाते हैं। फिर कलम हाथ में लेकर कई एक ग्रन्थों की रचना करते हैं। उनका स्वदेश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करना भी साथ-साथ चलता है। जब रूस के परिवार से सम्पर्क होता है तो वहाँ जाने के लिए उत्सुक हो जाते हैं, परन्तु पासपोर्ट और वीसा का चक्कर तुरन्त निकलने नहीं देता। प्रतीक्षा की घड़ियों में वे देश का भ्रमण-निरीक्षण करते हैं। आन्ध्र प्रदेश किसान सम्मेलन में किसानों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के ऐतिहासिक स्थानों, मंदिरों, गाँवों को देखने जाते हैं, वहाँ के निवासियों-जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में गवेषणा करते हैं। उसके बाद राहुल जी दक्षिण के केरल तथा कर्नाटक प्रदेश में जाते हैं। वहाँ के मलाबारी गाँव में जाकर नम्बूतरी ब्राह्मण तथा अन्य जातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का अध्ययन करते हैं। इन सारे स्थानों-गाँवों का भ्रमण करके जब बम्बई लौटते हैं, तब वीसा अब तक न मिलने से क्षुब्ध हो जाते हैं। फिर प्रयाग लौटकर अपनी महत्वपूर्ण कृतियों–जय यौधेय, भागो

नहीं : दुनिया को बदलो, मेरी जीवन-यात्रा-2 आदि को लिखकर समाप्त कर देते हैं। उसके बाद सितम्बर 1944 में सोवियत भूमि की तीसरी यात्रा के लिए प्रस्थान करते हैं।

इस विषय-विवरणी से ही हमें प्रतीत होता है कि 1937 से 1944 के बीच राहुल जी के तूफानी जीवन की यात्रा कितनी वेगपूर्ण, साहसिक तथा उपयोगी रही है। इसी कालखण्ड में हम राहुल जी के जीवन में वैचारिक परिवर्तन होते देखते हैं। आर्यसमाज के बाद वे बौद्धधर्म की ओर झुकते हैं, फिर साम्यवाद के कट्टर समर्थक तथा बाद में कम्युनिस्ट पार्टी के एक कर्मठ सदस्य के रूप में हमारे सामने आते हैं। यहाँ हमें उनके क्रान्तिकारी रूप के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत भाग में वे मार्क्सवाद के विषय में अपनी सोच का परिचय देते हुए लिखते हैं—"अहसयोग के समय भी मैं जिस स्वराज्य की कल्पना करता था, वह काले सेठों और बाबुओं का राज नहीं था, वह राज था किसानों और मजदूरों का। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मुझे बतला दिया कि क्रान्ति करनेवाले हाथ हैं वही मजदूर-किसान।" (मेरी जीवन-यात्रा-2)

कम्युनिस्ट पार्टी-प्रवेश के सम्बन्ध में राहुल जी बतलाते हैं—"...रूस में मजदूरों-किसानों की क्रान्ति इसीलिए सफल हुई कि यहाँ बोल्शेविक पार्टी—कम्युनिस्ट पार्टी—मजदूरों-किसानों के संघर्ष का संचालन कर रही थी। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तान में भी साम्यवादी हैं, लेकिन अभी तक मुझे उनके सम्पर्क में आने का मौका नहीं मिला था। इस बात का निर्णय 21 साल पहिले ही हो गया था कि कौन-सा पथ मेरा होगा।" (वही, भाग-2)

कालान्तर में बिहार में वे किसानों की समस्याओं को लेकर सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। फलस्वरूप उन्हें लाठियाँ खानी पड़ीं और जेल की यातनाएँ सहनी पड़ीं। 1939 में बिहार प्रांतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में राहुल जी भी थे।

धार्मिक मत-परिवर्तन करते हुए जब राहुल जी का बौद्ध धर्म की ओर झुकाव होने लगता है, तब वह आत्म-विश्लेषण करते हुए सोचने लगते हैं कि वे बुद्ध की ओर क्यों आकृष्ट हो रहे हैं। इस प्रसंग में वे कहते हैं—"(लंका में) मैं अकेला घूमना चाहता था और अक्सर अकेला रहता। उस वक्त मेरा अन्तर्द्वन्द्व इतना तीव्र होता कि बाज वक्त मुझे डर लगता, कहीं आगे-पीछे से आनेवाली ट्रेन को देखना न भूल जाऊँ। ... ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज है, बुद्ध यथार्थ वक्ता। तब कई हफ्तों तक हृदय में एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई। मालूम होता था—चिरकाल से चला आ रहा एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है।" (मेरी जीवन-यात्रा-2)

प्रस्तुत जीवनी खण्ड में राहुल जी ने यत्र-तत्र अपनी साहित्य-यात्रा का भी उल्लेख किया है। 1939 से 1944 तक उन्होंने कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इनमें वोल्गा से गंगा, सिंह सेनापति, जय यौधेय, नये भारत के नये नेता, मेरी जीवन-यात्रा (भाग 1 एवं 2), दर्शन-दिग्दर्शन, मानव-समाज, वैज्ञानिक भौतिकवाद, बौद्धदर्शन आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। 'वोल्गा से गंगा' और 'सिंह सेनापति' पुस्तक के प्रकाशित हो जाने पर भारत के धर्मान्ध-कट्टर प्रतिक्रियावादी लोगों ने खूब बावेला मचाया था। इन सब कटु आलोचकों के सम्बन्ध में राहुल जी ने बहुत कड़े शब्दों में लिखा है। यहाँ पर लेखक की प्रखरता एवं उग्रता दर्शनीय है। इस प्रकार राहुल जी ने सर्वत्र ईमानदारी से अपने जीवन-विषयक तथ्यों को व्यक्त किया है।

1940-43 के समय जब राहुल जी हजारीबाग और देवली डिटेंशन कैम्प में थे, अपने साथ के राजबन्दियों में राजनीतिक चेतना के अभाव के विषय में लिखते हैं—"अधिकांश शिक्षित लोगों का पाठ-पूजा और धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में समय लगाना यह बतलाता था कि हमारे साथी राजनीति को कितनी हल्की दृष्टि से देखते थे। वे शायद समझते थे कि स्वराज्य तो आ ही जायेगा, फिर इस लोक की चिन्ता समाप्त हो जायेगी, इसलिए हम परलोक के लिए भी कुछ सम्बल तैयार क्यों न कर लें।" (मेरी जीवन-यात्रा-2)

राहुल जी की जीवन-यात्रा में भारत के स्वाधीनता-संग्राम, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका, किसानों की अवस्था आदि का जो ऐतिहासिक एवं यथार्थ चित्रण हुआ है, उससे नई पीढ़ी के जिज्ञासु पाठकों को अपने देश तथा विदेश के बारे में बहुत सारी जानकारी प्राप्त हो सकती है।

मेरी जीवन-यात्रा-3 : जीवन-यात्रा का यह कालखण्ड 'रूस में पच्चीस मास' के नाम से 1952 में बीकानेर

से प्रकाशित हुआ था। बाद में इसे राहुल जी की जीवन-यात्रा के तृतीय भाग के रूप में प्रकाशित किया गया। यद्यपि इस भाग का कालखण्ड 25 मास ही है, किन्तु विषय-वस्तु एवं प्रस्तुति में व्यापकता तथा विस्तार होने के कारण इसको 'जीवन-यात्रा' का नाम देना ही उचित प्रतीत हुआ। इसमें मुख्य रूप से लेखक के सोवियत देश में निवास का विवरण है।

राहुल जी 1944 के अक्तूबर महीने में रूस के लिए भारत से प्रस्थान करते हैं। पहले वे काबुल होते हुए ईरान में प्रवेश करते हैं। साथियों ने उनको मदद दी और खुद की कमाई, रायल्टी के पैसे, भी उनके पास थी। किन्तु ईरान में उनको 7 महीने तक अटकना पड़ा, क्योंकि उन्हें सोवियत वीसा शीघ्र नहीं मिला। स्वभाव के अनुसार राहुल जी इस दीर्घ कालखण्ड को ईरानी इतिहास, सभ्यता, साहित्य तथा संस्कृति के अध्ययन में लगा देते हैं। फ़ारसी के भी ज्ञाता होने के कारण ईरानी इतिहास के लिए स्रोत-सामग्री का मूल रूप में संग्रह करने में उनको कोई कठिनाई नहीं होती।

तेहरान में रहकर वे सोचते हैं—"दस-पाँच दिन तेहरान में रहना होगा, जिसके लिए 25 पौंड पर्याप्त होंगे, फिर तो वीसा लेकर सोवियत-भूमि में चल देना है, जहाँ लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में संस्कृत की प्रोफेसरी प्रतीक्षा कर रही है। किन्तु इस प्रतीक्षा का लाभ हिन्दी के पाठकों को मिल रहा है।" लेखक ने ईरान के सम्बन्ध में जिस बारीकी से लिखा है, इतना और कौन लिख सकता था। तेहरान-निवास के दौरान वे एक-दो ईरानी परिवारों के साथ रहे। उनके रीति-रिवाज, खान-पान, व्यवहार, स्त्रियों के आचरण आदि का उन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण किया। यद्यपि परदेश में इतने लम्बे समय तक बिना पैसे के खाली हाथ रहने में उनको काफी कठिनाई होती है, पर ईरानी परिवार के सौहार्द्र और मित्रता के कारण उनको यह कठिनाई मामूली लगती है। तेहरान में लेखक 1944 के जाड़ों में पहुँचे थे और नवम्बर 1944 से 2 जून 1945 तक वहीं रहते हैं। राहुल जी के शब्दों में—"सोवियत वीसा तभी मिला, जब यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया, और जर्मनी ने हथियार डाल दिये, लेकिन इस सात महीने की प्रतीक्षा को बिल्कुल बेकार भी नहीं कहा जा सकता।" प्रतीक्षा की इन घड़ियों में उनको तेहरान के भूगोल, राजवंश के इतिहास आदि को जानने का अवसर मिलता है। साथ ही यहाँ के सामाजिक अनुष्ठान—शादी-ब्याह को भी वे नजदीक से जिज्ञासु दृष्टि से देखते हैं। कई विचित्र किन्तु अच्छे व्यक्तियों के सम्पर्क में भी आते हैं। विशेषकर ईरानी स्त्रियों को नजदीक से देखते हैं, उनके स्वभाव तथा घरेलू एवं सामाजिक रूप को देखते हैं। इसी बीच लेखक बीमार भी पड़ते हैं, किन्तु ईरानी परिवार की सेवा से वे स्वस्थ हो जाते हैं। यहाँ लोगों के सौहार्द्र का वे आत्मीय वर्णन प्रस्तुत करते हैं। पुस्तक में उन्होंने ईरानी ब्याह और गीतों का भी रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है।

वीसा मिल जाने के बाद राहुल जी सोवियत भूमि में प्रवेश करते हैं और लेनिनग्राद पहुँच जाते हैं। परिवार से मिलते हैं और लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्रोफेसरी का काम आरम्भ करते हैं। उसके बाद का विवरण सोवियत समाज, सभ्यता, व्यवहार, राजनीति आदि मुख्य विषयों पर प्रकाश डालता है। लेखक के इस वर्णन से तत्कालीन सोवियत जनजीवन के विभिन्न पक्ष सामने आते हैं। यात्रा में लेनिनग्राद से गुजरते हुए उन्होंने वहाँ के असंख्य नागरिकों के त्याग, बलिदान, शूर-वीरता और साहस की भरपूर प्रशंसा की है। द्वितीय महायुद्ध में हिटलर की सेना ने इस प्रदेश के कुछ अंश को ध्वस्त कर दिया था। सोवियत लालसेना और अन्य स्त्री-पुरुषों ने अपनी जान की बाजी लगाकर अपने देश की रक्षा की।

द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से गुजरने के बाद सोवियत समाज कई अभावों को सहते हुए संघर्ष कर रहा था। कुछ लोग अन्य पश्चिमी देशों की तुलना में रूस को बहुत पिछड़ा कहकर उसका मजाक उड़ाते थे। इस सम्बन्ध में राहुल जी लिखते हैं—"मुझे तो सोवियत (देश) सादगी का प्रतीक लगा।"

मास्को और लेनिनग्राद में रहते राहुल जी इन स्थानों का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। उनका ध्यान इस बात की ओर अधिक जाता है कि क्रान्ति से पहले के अनेक विशाल राजप्रासाद, सुन्दर उद्यान, कला-केन्द्र आदि जो केवल रईसों और राजपरिवार के सदस्यों के उपयोग के लिए थे, वही अब जनसाधारण के लिए खुल गये थे।

लेनिनग्राद में लेखक पूरे दो साल रहते हैं। इस कालखण्ड में उन्होंने वहाँ के प्राचीन और आधुनिक इतिहास का अध्ययन किया। लेनिन के नेतृत्व में हुए सोवियत की काया-पलट पर उनका विशेष ध्यान जाता है। इस

परिवर्तन में उस देश की खूबियों और खामियों का जो स्वरूप था, उसका यथार्थ वर्णन राहुल जी करते हैं। मजदूरों का मान उस समय वहाँ बहुत बढ़ गया था। लेखक ने अनुभव किया कि "पुराने रईस परिवारों के लोग अब भी काम से जी चुराते हैं। उनके लिए सोवियत सरकार ने एक प्रलोभन दिया—सस्ते राशन द्वारा आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई। जो भी किसी क्षेत्र में श्रमिक था, उसी को राशन से सस्ती वस्तुएँ दी जाने लगीं। परिणामस्वरूप अभिजात वर्ग में पली स्त्रियाँ भी काम करने को राजी होने लगीं।"

इस प्रकार राहुल जी सोचने लगते हैं कि "सोवियत संघ में कोई बेकार नहीं है, लेकिन कुछ कामचोर भी हैं जो महज निठल्ले बैठकर खाने के लिए भीख माँगने में भी शर्म नहीं करते।" ऐसे एक-दो ही भिखारी उन्हें दिखाई दिये। मास्को में लेनिन की समाधि और उनके पार्थिव शरीर को देखकर तथा उनके दर्शन के लिए आते उन असंख्य नर-नारियों की श्रद्धा भरी आँखों में झाँकते हुए वे लिखते हैं—"लेनिन का व्यक्तित्व शोषित वर्ग के उत्थान और मानवता की प्रगति के लिए कितना महत्व रखता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।"

सोवियत देश में जाकर लेखक स्वयं भी नून-तेल-लकड़ी की अनिवार्यता का अनुभव करते हैं। खाद्य पदार्थ भारत की तुलना में बहुत महँगे थे। प्रोफेसरी करते हुए सोवियत शिक्षा-प्रणाली का भी वे अध्ययन करते हैं। अपने परिवार में रहकर सोवियत परिवारों का अध्ययन करने का उन्हें अवसर मिला। लोगों की कमजोर मनोवृत्तियों पर भी लेखक का ध्यान गया है। व्यक्ति के नाम या परिवेश को बदलकर वे कुछ आलोचनाएँ करने में भी पीछे नहीं हटते। राहुल जी के साम्यवादी भारतीय मित्र चाहते थे कि उनकी इस पुस्तक में सोवियत लोगों की तारीफ ही तारीफ हो; पर राहुल जी अपनी यथार्थ दृष्टि से जो कुछ भी देखते थे, उनको यथार्थ रूप से ही चित्रित करना पसन्द करते थे। भले ही अपने निकट के लोग क्यों न हों।

उनके अपने आन्तरिक जीवन में रूस में रहते जो उतार-चढ़ाव आये, मानव-मानव के आपसी व्यवहार में उन्हें जो कड़वे अनुभव हुए, उनका भी यथार्थ चित्रण लेखक ने प्रस्तुत किया है। पारिवारिक पृष्ठभूमि में वे आत्मिक शांति एवं प्रसन्नता की कामना लेकर रूस गयें थे, किन्तु वहाँ वह नहीं मिल रही थी। साथ ही वे स्वतंत्र रहकर अपना लेखन-कार्य करना चाहते थे, जिसकी सम्भावना वहाँ नहीं थी। पराधीन भारत को स्वाधीन बनाने में उन्होंने भी अपना योगदान किया था, आज वह भारत—अपना देश—स्वाधीन हो गया है। स्वाधीन देश की मिट्टी की सोंधी गंध को सूँघने तथा यथार्थ की ठोस जमीन पर पाँव रखने के लिए उतावले राहुल जी मन में बहुत सारे सुखद स्वप्न लेकर स्वदेश लौटते हैं।

मेरी जीवन-यात्रा–4 : इस भाग में भी राहुल जी के जीवन-वृत्त के साथ उनके समसामयिक जीवन और जगत की भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि तथा घटनाएँ अंकित हैं। तब तक वे स्वाधीन भारत की ठोस भूमि में रहकर देश के लिए ही काम करने का निश्चय कर चुके थे। स्वाधीन भारत के नागरिकों में जो उत्साह देखा गया, वह उत्साह राहुल जी में भी दिखाई देता है। इस देश की मिट्टी की सोंधी गंध उन्हें कितनी आकर्षक लगती है, यहाँ के ग्रामीण निवासी उन्हें कितने अच्छे लगते हैं, इस सबका वे सूक्ष्म वर्णन करते जाते हैं। विदेश में (लेनिनग्राद में) दो वर्ष रहकर उनको यथार्थ अनुभव हुआ कि उनकी कर्मभूमि तो भारत ही है। इसीलिए वे स्वदेश लौट आये और एक भारतीय के लिए अपने देश की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थिति पर दृष्टि रखना, उसमें घुलमिल जाना स्वाभाविक है। ऐसा करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार भी है। बहुत-से लोगों ने चाहा कि राहुल जी सदा के लिए रूस में ही बस जायें, आज भी उनके जीवनीकार यही लिखते हैं कि उन्हें विदेश में ही रहना चाहिए था। किंतु राहुल जी विशुद्ध भारतीय हैं, उन्हें भारतीय संस्कृति से प्रेम जीवन-भर रहा, जो कुछ किया—भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए किया। विदेश में रहकर जब वह देश के लिए कुछ नहीं कर पा रहे हैं—ऐसा अनुभव करने लगते हैं—तब उन्हें देश में लौटने की व्याकुलता होती है, तभी तो वे आयें। आज के महाविद्वान् आचार्य लोग जब राहुल जी की प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हैं, तब शायद वह इस तथ्य को भूल जाते हैं कि राहुल जी 'फिर रूस कभी न लौटने का निश्चय करके' आये थे। उनके इस निर्णय की साक्षी उनकी रूस की डायरी है, जो शीघ्र ही प्रकाश में आयेगी। कुछ तथाकथित विचारक राहुल जी को रूस से ही जुड़े देखना चाहते रहे हैं, किंतु वे अपने विचारों पर ही चलनेवाले मनुष्य थे, किसी के डिक्टेशन पर नहीं।

'मेरी जीवन-यात्रा' के चौथे और पाँचवें भाग को वस्तुतः एक साथ ही प्रकाशित करवाने की दृष्टि से राहुल

जी ने लिखा था, किंतु पुस्तक के विशाल आकार को देखते हुए इसे दो भागों में विभाजित करना अनिवार्य हो गया। प्रस्तुत भाग-4 में रूस से लौटने के बाद मसूरी के प्रथम निवास तक का विवरण लेखक ने दिया है।

भारत स्वाधीन तो हो गया, किंतु उसके सद्यः परिणामस्वरूप यहाँ जिस तरह से रक्त की नदियाँ बहीं, मार-काट का भीषण जघन्य कांड हुआ, उसका प्रत्यक्ष आँखों देखा वर्णन पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में मिलता है। सबसे पहले लेखक देश का चक्कर लगाते हैं, उसको यथार्थ दृष्टि से देखना चाहते हैं। बम्बई में अपने मित्र धर्मानंद महास्थविर के निधन पर वे अपना दुःख प्रकट करते हैं। वे विदेश से लौटते हैं, तो लोग उनको सुनना चाहते हैं। इसलिए रोज ही व्याख्यान देना होता है। बम्बई की एक सभा में उनके प्रिय विषय 'बुद्ध और मार्क्स' पर उन्हें बोलना पड़ता है। इसी संदर्भ में अपने विचारों में परिवर्तन पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं, "आर्यसमाज के स्वतंत्र विचारों के बाद मैं बुद्ध के पास पहुँचा, और उनके अनीश्वरवाद, विचार-स्वातंत्र्यवाद, आर्थिक समतावाद से बहुत प्रभावित हुआ। उसके बाद मार्क्स के विचारों को अपनाना मुझे बिल्कुल स्वाभाविक-सा मालूम हुआ।" वे आगे कहते हैं–"बुद्ध और मार्क्स ईश्वर को नहीं मानते थे, इसलिए वह भगवान् के संदेशवाहक नहीं हो सकते थे। पर उन्होंने दुनिया को महान् संदेश दिया, इससे कौन इन्कार कर सकता है।" इस प्रकार स्वच्छन्द विचारों को धारण करना लेखक की अपनी विशेषता है।

दिसम्बर 1947 में ही बम्बई में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन सम्पन्न हुआ, जिसमें राहुल जी सम्मेलन के सभापति चुने जाते हैं। हिंदी के पक्ष को लेकर उनकी पार्टी के लोग असंतुष्ट हो जाते हैं। परंतु वे अपने विचार को बदलना नहीं चाहते। पार्टी से वे अलग हो जाते हैं। कुछ महाविद्वान राहुल जी के जीवन के इस प्रसंग के सम्बन्ध में कहते हैं, कि उन्होंने मुस्लिमों का भारतीयकरण करना चाहा था, इसलिए पार्टी के मुस्लिम सदस्य नाराज हो गये, अतः उनको पार्टी से निकाल दिया गया। किंतु हाथ कंगन को आरसी क्या, 'राहुल संग्रहालय' में पार्टी के तत्कालीन सेक्रेटरी का तद्‌विषयक जो पत्र है, उससे साफ मालूम होता है कि हिंदी भाषा को लेकर ही उनसे मतभेद हुआ था।

सन् 1948 के आरम्भ में राहुल जी साहित्यिक यात्रा पर निकलते हैं। इसके साथ ही हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से 'शब्दकोश-निर्माण' के कार्य को भी अपने हाथ में लेते हैं। परिभाषा-निर्माण के काम में वह अपने सहयोगियों के साथ व्यस्त हो जाते हैं। प्रयाग की गर्मी उनको सहन नहीं होती, इसलिए अपने प्रिय हिमालय-अंचल कन्नौर में चार मास व्यतीत करते हैं। इसी यात्रा की देन 'किन्नर देश में' पुस्तक है। लेखन-कार्य के साथ-साथ उनकी यात्राएँ भी जारी रहती हैं। 'गाँधी जी को वीरगति' प्राप्त होने की घटना से उनको बहुत दुःख होता है। गाँधी जी के अवसान के बाद भारत की राजनीतिक पृष्ठभूमि में जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनका भी वे सूक्ष्म अवलोकन करते हैं। भारतीय संविधान की अनुवाद-समिति के सदस्य के नाते राहुल जी को बार-बार दिल्ली जाना पड़ता है। किंतु उनका स्वतंत्र लेखन भी साथ-साथ चलता है। 'बौद्ध-संस्कृति' पुस्तक-लेखन के बीच वे शांतिनिकेतन जाते हैं और बंगाल की संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं, विद्वानों से मिलते हैं।

मधुमेह ने अब उनको विवश कर दिया कि वे एक स्थान पर रहें और स्वास्थ्य की ओर ध्यान दें। इसीलिए अब उन्होंने नीड़ की खोज की। घुमक्कड़ी-धर्म का 'स्वास्थ्य के कारण' अब पालन नहीं कर सकते थे। यद्यपि कुछ तथाकथित महाचार्य यही चाहते रहे हैं कि राहुल जी को नीड़ की आवश्यकता नहीं थी। उनको जीवन-भर घुमक्कड़ बना रहना चाहिए था; भले ही उनका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जाये। उनको हिंदी-संसार की सेवा के लिए निरंतर काम करना चाहिए, यानी राहुल जी अपने ढंग से जीवन जीने के अधिकारी नहीं हैं।

प्रस्तुत भाग में लेखक ने स्वयं ही अपने जीवन में आये उतार-चढ़ावों का ईमानदारी के साथ यथार्थ चित्रण किया है। अपनी आत्मकथा में वे स्वयं को दूर रखकर एक दर्शक बन जाते हैं और अपने सम्पर्क में आये व्यक्तियों, हितैषियों, मित्रों आदि का चरित्र-चित्रण भी करते जाते हैं। विद्वानों के गुण-ग्राहक वे जीवन-भर रहे। लोगों के प्रति सम्मान की भावना उनमें है, दिखावा और अहंकार उनकी प्रवृत्ति में नहीं है। किसी पर कड़वी टिप्पणी करनी हो तो वे वहाँ पात्र का नाम-परिवर्तन कर देते हैं।

मेरी जीवन-यात्रा-5 : राहुल जी की आत्मकथा के पाँचवें भाग में 1951 से लेकर 1956 के 9 अप्रैल तक का विवरण आया है। 9 अप्रैल 1956 के दिन लेखक ने अपने जीवन के 63 वर्ष पूरे किये थे। ये कुछ वर्ष

लेखक के साहित्यिक कर्मठ जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्ष रहे। इस कालखण्ड में अपनी यात्राओं को जारी रखते हुए भी उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। मसूरी-निवास के दिनों में वे निश्चिंत होकर साहित्यिक कृतियों की रचना करते रहे। इन कृतियों में प्रमुख हैं–यात्रा के पन्ने, एसिया के दुर्गम भूखंडों में, विस्मृत यात्री, घुमक्कड़ स्वामी, ऋग्वेदिक आर्य, दिवोदास, बहुरंगी मधुपुरी आदि। यात्राओं तथा देश-परिचयमाला से सम्बन्धित पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं, जिनमें हिमालय परिचय, गढ़वाल, जौनसार बावर, नेपाल, हिमाचल प्रदेश आदि प्रमुख हैं। संस्कृत-काव्यधारा पुस्तक भी इसी कालखण्ड की देन है। विश्व के महान् राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ भी उन्होंने इसी समय लिखीं। कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और माओ-चे-तुंग इसी काल विशेष की देन हैं। पुरातात्विक यात्राएँ भी उन्होंने कीं, जिनके फलस्वरूप कनैला की कथा, आजमगढ़ की पुरातात्विक यात्रा जैसी पुस्तकों की रचना की। यह तो थोड़े ही नाम हैं, और भी कई रचनाएँ, प्रबंध, निबंध इत्यादि उन्होंने लिखे। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'मध्य एसिया का इतिहास' की रचना भी इसी कालखण्ड में हुई। दोहाकोश, दक्खिनी हिंदी-काव्यधारा, जिनका मैं कृतज्ञ, बचपन की स्मृतियाँ, मेरे असहयोग के साथी आदि पुस्तकें भी 1951 से 1956 के बीच लिखी गयीं। इनके अलावा राहुल जी ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के लिए 'हिंदी का लोक-साहित्य' का सम्पादन भी किया।

अपनी पुस्तकों के सिलसिले में राहुल जी 'फील्ड वर्क' के लिए भी यात्राएँ करते थे। उनके समय में विज्ञान की आधुनिक सुविधाएँ नहीं थीं। यदि रही भी हों तो उन्होंने इनकी परवाह नहीं की। मार्क्सवाद के सिद्धांतों के सम्बन्ध में उन्होंने बगल में टेलिफोन रखे एअरकंडीशंड रूम में बैठकर नहीं लिखा। जीवनियाँ उन्होंने कई लिखीं, पर अन्य लेखकों की पुस्तकों का इस्तेमाल करके–खुद की ओर से कुछ विचार व्यक्त न करते हुए–लेखन नहीं किया। वे भारी परिश्रम करते थे और रात-दिन, भूख-प्यास की चिंता किये बिना लेखन में संलग्न रहते थे। इतना सब-कुछ करते हुए भी उन्होंने 'मैं बहुत बड़ा विद्वान हूँ' ऐसा कोई दिखावा नहीं किया, न किसी को अपने ऊपर विशेषज्ञ बनने का अधिकार सौंप गये।

राहुल जी का मसूरी निवास-काल में सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में भी स्वागत हुआ। वहाँ के गढ़वाली मजदूर संघ के वे कई सालों तक मंत्री रहे, गढ़वाली मजदूरों की दशा को सुधारने की ओर भी प्रयत्न किये। मसूरी में विभिन्न स्थानों से लोग आकर उनसे मिलते थे, जिनमें विद्वान, राजनीतिज्ञ, कलाकार, चित्रकार, लोक, गायक, छात्र-नेता, घुमक्कड़ युवक आदि हुआ करते थे। इन सबके साथ राहुल जी मित्रवत् व्यवहार करते थे। इस कालखण्ड में वे प्रायः भारत के भीतर ही घूमते रहे, विदेश के नाम पर केवल नेपाल की यात्रा पर अवश्य गये, वह भी अपनी पुस्तक के लिए सामग्री एकत्र करने। स्वास्थ्य के कारण ही वे पहले की तरह घुमक्कड़ी नहीं कर सकते थे। फिर ग्रंथ-प्रणयन के लिए उनको एक स्थान पर रहना भी अनिवार्य महसूस होता था।

लेखकों को अपनी पुस्तकों को प्रकाशित कराने की सुविधा आज मिल जाती है; परंतु राहुल जैसे प्रतिष्ठित लेखक को भी अपनी कृतियों को प्रकाशित कराने के लिए प्रकाशकों के दरवाजे खटखटाने पड़ते थे। सरहपाद की 'दोहाकोश' नामक पुस्तक तैयार करने के बाद रचनाकार को इसे प्रकाशित करवाने के लिए भटकना पड़ा था। राहुल जी ने किसी की फरमाइश पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा, न ही अपनी पुस्तकें छपवाने के लिए किसी प्रकाशक की चापलूसी की। देर-सबेर उनके ग्रंथ छप ही जाते थे।

उनके जमाने में किसी समारोह में अपनी पुस्तक के विमोचन कराने की कोई परम्परा नहीं थी, न ही अपनी पुस्तक को पुरस्कृत करवाने की ललक थी। राहुल जी को उनकी कृतियों के लिए केवल दो पुरस्कार मिले। प्रथम बार पुस्तक के पुरस्कृत होने के सप्ताह-भर बाद एक राज्य सरकार ने उसे 'बैन' कर दिया। दूसरी पुस्तक पर पुरस्कार के सम्बन्ध में कहा गया कि राहुल जी कम्युनिस्ट हैं, उनको यह पुरस्कार नहीं मिलना चाहिए। इस तरह की लेन-देनवाली माथा-पच्ची से राहुल जी बहुत घबराते थे। राहुल जी मानते थे कि पुस्तक का पुरस्कृत होना रचनाकार की विद्वता की कसौटी नहीं है। पाठक ही रचना के वास्तविक पारखी होते हैं।

प्रस्तुत भाग को पढ़ने से पाठकगण राहुल जी के निजी जीवन, पारिवारिक जीवन, साहित्यिक जीवन तथा उनके यात्री-रूप से परिचित हो जाते हैं। इसके द्वारा लेखक का हिमालय के प्रति अनन्य प्रेम भी प्रदर्शित होता है। जहाँ-जहाँ भी हिमालय तथा हिमालय के प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक सौंदर्य का वे वर्णन करते हैं, वहाँ उनका

कविहृदय तथा प्रकृतिप्रेमी रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। किसी भी स्थान को देखकर उनकी दृष्टि इतिहास की
गहराई तक जाती है। ऐसे समय राहुल जी की इतिहास-दृष्टि के महत्त्व को पाठक समझ सकते हैं।

प्रस्तुत भाग में पाठकों को राहुल जी का भाषाशास्त्री का रूप भी परिलक्षित होगा। वे कहीं पर कौरवी
का विवेचन करते हैं, तो कहीं नेपाली-मारवाड़ी भाषा की समानता पर प्रकाश डालते हैं। कहीं कुमाऊँनी और
गढ़वाली भाषा के विकास पर अपना दृष्टिकोण बतलाते हैं, तो कहीं हिंदी की लोक-भाषाओं का विश्लेषण करते हैं।

राहुल जी एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से मानव-मन का विश्लेषण भी करते हैं। इस प्रसंग में वे लिखते
हैं–"पहाड़ी लोग पंजाबियों से क्यों न नाराज हों, जब वे देखते हैं कि सारे अर्थागम के साधनों को वह अपने
हथियाये हुए हैं। सड़कों की बड़ी-बड़ी ठेकेदारियाँ पंजाबी करते हैं, बड़े-बड़े अफसर पंजाबी हैं, दुकानें और व्यवसाय
भी उन्हीं के हाथ में है, मोटरें भी वही चलाते हैं। फिर तो पहाड़ी केवल कुलीगिरी के लिए बनाये गये हैं।''
(मेरी जीवन-यात्रा-5)

कभी-कभी किन्हीं विद्वान मित्रों के व्यवहार से भी उनको खट्टा-मीठा अनुभव करना पड़ा। ऐसे ही एक
मित्र ने लिखकर प्रचारित किया कि "सरकार राहुल जी और डॉ. रघुवीर को लाखों रुपये देकर परिभाषाएँ बनवा
रही है।'' राहुल जी लिखते हैं–"इस सफेद झूठ का भी कोई अंत है ? ऐसा आदमी कैसे क्रांति का भक्त भी
हो सकता है ? मुझे एक प्रतिभाशाली आदमी के इस पतन पर बहुत अफसोस हुआ। परिभाषा के काम को अगर
सरकार मन से करवाती तो मैं उसमें सहयोग देने के लिए तैयार था। संविधान की परिभाषाओं के निर्माण में
मैंने वैसा किया भी। पर जब देखा कि शिक्षा-मंत्रालय इसमें रोड़ा अटकाना चाहता है, तो मैं उससे अलग हो
गया। डॉ. रघुवीर और हमारी परिभाषा-निर्माण सम्बन्धी नीति में जमीन-आसमान का अंतर है।''

कहीं-कहीं राहुल जी तत्कालीन राजनेताओं के प्रति कटु हो जाते दिखायी पड़ते हैं। 'आराम हराम है' के
संदर्भ में वे अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं–"निहित स्वार्थवालों और उनके पक्षपातियों के नारे खोखले
होते हैं। उनका काम जनता के ध्यान को बँटाना है। दो पैसे-भर अक्लवाला आदमी भी जान सकता है कि भारत
में शिक्षित हो या अशिक्षित, गाँव के हों या शहर के, सभी 'काम चाहिए-काम चाहिए' चिल्ला रहे हैं। भोर से
उठते और आधी रात तक उनकी यही रटन रहती है।...'' "सरकार के कर्णधारों के ढोंग और वंचना क्या एक-दो
हैं कि उसे गिनाया जाये ?'' वन-महोत्सव की आधुनिक परम्परा पर भी उन्होंने कटाक्ष किया है।

अपने पालतू अलसेशियन 'भूतनाथ' का चित्रण करना भी वे नहीं भूलते !

अपनी षष्ठिपूर्ति का उल्लेख वे बड़ी विनम्रता के साथ करते हैं। प्रस्तुत भाग में लेखक अपने विभिन्न
ग्रंथों के उद्देश्य एवं आवश्यकता के सम्बन्ध में सूचनाएँ भी देते हैं। पहाड़ी जनजातियों की संस्कृति पर भी उनकी
दृष्टि जाती है। हम यह कह सकते हैं कि उनके जीवन का यह कालखण्ड निरर्थक नहीं गया। उन्होंने हिंदी के
सामान्य पाठकों की जिज्ञासा को ध्यान में रखकर ही अपनी जीवन-यात्रा लिखी है, विद्वानों को संतुष्ट करने के
लिए नहीं।

जीवन-यात्रा–6 : यह भाग राहुल जी के जीवन के अंतिम सात वर्षों–10 अप्रैल 1956 से मृत्यु तक–का
विवरण उनकी डायरी और पत्रों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास है। यह उनके जीवन और बहुआयामी
व्यक्तित्व के चंद सालों के काल-प्रवाह का चित्रण है, जिसमें तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों की झलकियाँ
भी आ गयीं है।

पंडित जी के बनते-सँवरते जीवन और उनके क्षत होते शरीर तथा मन को बहुत निकट से–अभिन्न रहते
हुए–देखने का जो अवसर मुझे मिला, जो मैंने देखा-समझा, उसे तटस्थ रहते हुए मैं सबके सामने रख रही हूँ।

इस कालखण्ड का विवरण लिखकर–उनकी अपूर्ण जीवन-यात्रा को पूरा कर मैंने अपने उस दायित्व को
ही निभाया है, जो पंडित जी मुझे सौंप गये थे। इसे प्रस्तुत करने में पंडित जी की स्मृति मेरा सम्बल और उनके
वाक्य मेरे प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। जाने-अनजाने कुछ अन्य लोगों ने भी मुझे समय-समय पर इसके लिए प्रेरित किया,
उन सबके प्रति मैं आभारी हूँ।

राहुल-निवास
21, कचहरी रोड, दार्जिलिंग

–कमला सांकृत्यायन



महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

जन्मकुटी–पन्दहा : राहुलजी द्वारा 1957 में लिया गया चित्र

बौद्ध भिक्षु राहुलजी : बीच में चीवर पहने हुए (कोरिया : 1935)

मेरी जीवन-यात्रा
1

'बेड़े की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये-उठाये फिरने के लिए।'

समर्पण

उन दौड़नेवालों की स्मृति में
जो मुझे आगे बढ़ने का अवसर दे, आप पीछे रह गये ।

बाल्य : 1893-1909 ई.

1
माता-पिता

मेरी माँ कुलवन्ती अपने माँ-बाप की एकमात्र सन्तान थीं, और वह भी नाना के 10, 12 वर्ष की पल्टन की नौकरी से नाम कटाकर चले आने के बाद की। ब्याह हो जाने पर भी माँ अक्सर अपने मायके पन्दहा ही रहती थीं, और वहीं मेरा जन्म (रविवार, 9 अप्रेल, 1893 ई.)[1] हुआ।

नाना रामशरण पाठक[2] के पास तीन-साढ़े तीन एकड़ बलुआ खेत था, जो आठ या दस जगहों में बिखरा हुआ था। वे दो बैलों के अतिरिक्त एक भैंस जरूर रखा करते थे। नाना जब पन्दहा से भागकर हैदराबाद पल्टन में गये थे, उस वक्त उनका काम भैंसों की चरवाही करना, दूध पीना और कसरत करना था। नाना की सबसे पहिली मूर्ति जो मुझे याद आती है, वह उनकी 55 के करीब की थी। उनके सभी बाल सफेद, कद लम्बा छै फुट, सीना चौड़ा, बाजू मोटे, नाक लम्बी और नुकीली, रंग गेहुँआ था। वे काम बहुत कम किया करते थे। सवेरे घास काट लाते, चारा काट देते और फिर किसी कुल्हाड़, खलियान, या बगीचे में अँगोछे से घुटने और कमर को बाँधे अपने शिकार और सफर की गप्पें उड़ाया करते थे। खाना-पकाने आदि के अतिरिक्त ढोरों के सानी-पानी का काम भी नानी को ही करना पड़ता था।

नानी मझोले डील की साधारण स्वस्थ स्त्री थीं। उनके बाल बहुत से सफेद थे, किन्तु दाँत आखिर तक नहीं टूटे। होश सँभालते ही माँ को 'माँ' कहते सुन मैं भी उन्हें बराबर माँ कहता। नानी की नाना पर धाक थी, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु दोनों में कभी झगड़ा होते मैंने नहीं देखा। उनकी बात को नाना बहुत मानते थे, और घर के कारबार में नानी का एकछत्र राज्य था। वह गप-शप में बहुत कम रहा करतीं। घर के छोटे-बड़े काम के सिवा, गाने-बजाने या मेला-तमाशा देखने में उनकी रुचि न थी। दो घंटे रात ही वह जग उठतीं, और अपने दो-तीन पेटेंट भजनों को बिना सुर-तान के भक्तिभावना से गातीं। इन भजनों में एक था 'गुरु मोके दे गइलें ग्यान-गुदरिया।' मैं बराबर नानी के पास सोया करता था। दूध छोड़ने के बाद ही से माँ से मैं अलग कर लिया गया था, और वस्तुतः नानी में मेरा जितना स्नेह था, उतना माँ में नहीं। माँ के उपकारों को, आखिर, मैंने देखा ही क्या था ? पव फटते ही नानी घर मे काम-काज में जो लगतीं, तो रात के दस-ग्यारह बजे उन्हें सोने की फुरसत होती। गप-शप न करने का मतलब यह नहीं था, कि नानी रूखी थीं। उनका दिल अत्यन्त कोमल था। पशु और

---

1. वैसाख कृष्ण अष्टमी रविवार संवत् 1950 विक्रमी।
2. नाना के बारे में पढ़ें, परिशिष्ट-4

पक्षी तक उनके वात्सल्य से वंचित न थे। नाना को पैतृक तीन घर का आँगन मिला था, जिसे उन्होंने बढ़ाकर पौने तीन आँगन के नौ घरों में परिणत कर दिया था। सबसे बाहर का आँगन या 'द्वार' बहुत बड़ा था। यहाँ बीच में नाना का लाया एक पत्थर का कोल्हू गड़ा था। उत्तर तरफ उनके बड़े भाई का घर था। पूर्व में नाना के खुदवाए पक्के कुएँ के अतिरिक्त एक घर भी था। दक्षिण तरफ के दो घरों में से एक बैठक का काम देता था, और ईंट की दीवारों का बना था। नानी को सगे-सम्बन्धियों की मेहमानदारी ही में उत्साह न था, बल्कि अक्सर राह चलते पथिक और भिखमंगे भी उनके आतिथ्य के अधिकारी होते थे।

जीवन के आरम्भिक पाँच वर्षों में नानी ने मेरा पोषण ही नहीं, निर्माण भी किया।

पिता गोबर्धन पांडे[1] को दस-बारह वर्ष की आयु में जाकर मुझे जानने का मौका मिला। साल में सप्ताह-डेढ़ सप्ताह के लिए पन्दहा से कनैला जाने पर, मैं उन्हें दूर से देख-भर लेता था। उनका रंग काले तक पहुँच गया गहरा साँवला था, कद छः फुट से कम नहीं था। शरीर दुबला-पतला किन्तु स्वस्थ। वे बहुत कम बीमार पड़ते थे। दुबला-पतला होने का कारण भी अधिकतर खाने की अव्यवस्था और पूजा-पाठ का कड़ा नियम था। विना स्नान-पूजा के वे जल तक नहीं पीते थे। फिर पीछे कचहरी के मुकदमों के समय तो कितनी ही बार चार-पाँच बजे शाम को उन्हें नाश्ता करने की नौबत आती। नाक वह जरूर दबाया करते थे, किन्तु सन्ध्या उन्हें आती थी, इसमें सन्देह है। सन्ध्या को हमारे गाँवों में संस्कृत के पंडितों की चीज समझा जाता था, और हमारे पिता संस्कृत के पंडित न थे। उनके पाठ में हनुमानबाहुक और रामायण शामिल थे। नहाने के बाद बेलपत्र के साथ जल शंकर की पिंडी–कनैला में इसकी जगह किसी पहाड़ी नदी से निकाल लाये चार-छै चिकने पत्थर एक पुराने पीपल की जड़ में रखे हुए थे–पर चढ़ाते। फिर गुड़-घी और देवदार की लकड़ी की बनी धूप की अगियारी देकर वे अपना पाठ शुरू करते। पूजा के कड़े नियमों के कारण गाँववाले उन्हें 'पुजारी' कहते थे। आगे चलकर उन्होंने हजामत गंगातट पर बनवाने का भी नियम कर लिया था, जिसके कारण कभी-कभी तीन-तीन चार-चार मास तक उनके बाल बढ़े रहते। वे बड़े प्रतिभाशाली थे। उन्हें सिर्फ़ एक महीने किसी भूले-भटके मुंशी से क-ख सीखने का मौका मिला था, किन्तु न जाने कैसे उन्होंने रामायण ही नहीं, भिन्न, गुणा-भाग, सूद और पैमाइश के हिसाब को भी सीख डाला था। पक्के आस्तिक होते हुए भी 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' की अवहेलना करने में भी वे समर्थ थे। ब्राह्मणों के नियम के विरुद्ध वे अपने हरवाहे निस्सन्तान चिनगी चमार को मरने पर गंगातीर जलाने के लिए ले गये। पुरानी प्रथा के विरुद्ध नये कुएँ को बनवाने के लिए विचित्र लम्बाई-चौड़ाई की ईंटें उन्होंने खास तौर से तैयार करवाईं, और प्रचलित प्रथा के विरुद्ध कुएँ को नीचे चौड़ा, ऊपर संकीर्ण करते हुए बनवाया। साधु-सन्तों में श्रद्धा रखते हुए भी गँजेड़ियों-भँगेड़ियों में वे वीतश्रद्ध थे।

माँ शरीर के आकार-प्राकार में अपने पिता से सादृश्य रखती थीं। वैसा ही लम्बा कद, वैसा ही हृष्ट-पुष्ट शरीर, रंग गोरा, दो बार के प्रसूत ज्वर की बीमारियों–जिनमें आखिरी के कारण ही उनकी मृत्यु हुई–को छोड़कर उनका शरीर स्वस्थ रहता था। उनके स्वभाव के बारे में जानकारी प्राप्त करने का मुझे साक्षात अवसर नहीं था। अपनी माँ की तरह वह झगड़े-झंझट से दूर रहती थीं, यह तो इसी से सिद्ध है कि सारे गाँव में सबसे अधिक रूखी और कड़े मिजाज की सास रखने पर भी उनके साथ झगड़ा होते नहीं देखा गया। गीत और भजन उन्हें याद थे या नहीं यह तो नहीं कह सकता, किन्तु इतना अवश्य मालूम है, कि जिस साल वह गोधन और उसके बाद के दिनों में पन्दहा रहतीं, तो गोबर की 'पिंडियाँ' हमारे ही घर में लगतीं, और माँ की सखी-सहेलियाँ वहीं 'पिंडिया-अगोरने' आतीं। दीवाली के दूसरे दिन गोधन मनाया जाता। मुझे उस दिन अफसोस रहता;–माँ के रहते का तो स्मरण नहीं, सिर्फ नानी के रहने पर हमारा घर गोधन में शामिल नहीं होता था, जिसके कारण गोधन में चढ़नेवाली चीनी की कुल्हिया, और मिठाइयों से मैं वंचित रह जाता था। हाँ, एकाध बार माँ के रहते समय 'पिंडियाँ-अगोरने' की मधुर स्मृति मुझे अब भी है। 'अगोरने' वाली सभी तरुण स्त्रियाँ होतीं। उनके साथ उनके छोटे बच्चे भी रहते। कोदो का पुआल जमीन पर बिछा रहता, जिस पर कोई लम्बा-चौड़ा बिछौना होता। सिरहाने

1. देखें, परिशिष्ट-5।

सिंदूर से टीकी छोटी-छोटी गोबर की पिंडियाँ दीवार पर चिपकी रहतीं। एक छोटा-सा तेल का दिया जलता। आधी-आधी रात तक माँ और उनकी सखियाँ गीत गातीं। हम लड़कों को उनके गीतों से कोई खास प्रेम न था, हाँ गुड़ के मीठे 'ठकुये' (मीठी पूड़ियाँ) हमें बहुत प्रिय थे, जिन्हें खाते-खाते हम सो जाते। उन गीतों में से किन्हीं का आरम्भ माँ की ओर से होता था, इसका भी मुझे पता नहीं। हाँ, सबेरे के वक्त एक या अनेक पद्यमय कहानियों–जिन्हें पिंडियाँ-अगोरनेवाली स्त्रियों को धर्म के भय से सुनना पड़ता है–के सुनाने का काम मैंने माँ को करते देखा। मेरी चचेरी मौसी जब पानी-बर्तन के कामों में बहुत व्यस्त रहतीं, तो वह अपनी मुँदरी रख जातीं। माँ औरों के साथ उसे भी कहानी सुनातीं–उपस्थित सखियाँ कान से उसे सुनतीं, और मौसी की अनुपस्थिति में उनकी मुँदरी सारी कहानी सुन लेती; जिसे मौसी अँगुली में पहनकर सुनने की भागिनी बन जातीं। इन कहानियों में 'चेरिया' 'चेरिया' (क्रीतदासी) का शब्द बहुत आता था, जो बतलाता था कि वह दासत्वप्रथा के युग की कोई पुरानी कहानियाँ रही होंगी।

मेरे नाना-नानी दीर्घजीवी, स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य व्यक्ति थे। मेरे पिता-माता स्वस्थ और पैतृक रोगशून्य होते भी दीर्घजीवी व्यक्ति न थे। माँ की मृत्यु 28-29 की आयु में और पिता की 45-46 में हुई। मेरी दादी ('आजी') दीर्घजीविनी रहीं, क़िन्तु दादा 40 साल से पहिले मर गये। मेरे पिता का वंश कई पीढ़ियों से मजबूत, लम्बे कद्दावर जवानों को पैदा करने के लिए मशहूर रहा। नाना के वंश के बारे में कोई वैसी बात तो नहीं सुनी, किन्तु जहाँ तक नाना, उनके पिता और भाइयों का सम्बन्ध है, वे भी मजबूत और लम्बे-चौड़े लोग थे।

2
प्रथम स्मृति (1896-97 ई.)

सबसे पुरानी स्मृति मुझे सन् 4 (1304 फसली या 1897 ई.) के अकाल से पहिले ले जाती है। पन्दहा में इस अकाल का क्या असर पड़ा, यह मुझे याद नहीं। कनैला (पिता के गाँव) के लोगों पर क्या-क्या बीती, इसका भी साक्षात् स्मरण तो नहीं है, हाँ, अकाल के पहिले जीता भर के टोले में 50, 60 व्यक्तियों के 6, 7 घर थे। उन सजीव घरों को मैंने देखा था, उनके छोटे-छोटे लड़कों को घर के सूअर के बच्चों के पीछे दौड़ने की भी याद ताजी है। सन् 4 के भीषण अकाल में ये सभी लोग घर छोड़कर आसाम और दूसरी जगहों में भाग गये। वर्षों तक इन झोंपड़ों की दीवारें खड़ी थीं। उनके नीम, महुआ और ताड़ के वृक्षों पर उनके जमींदारों ने कब्जा कर लिया।–जीता के पुत्र टिभोलू वर्षों बाद गाँव लौट आये। टोले के उजाड़ होने के थोड़े ही दिनों बाद उन्हीं खँडहरों के पास से खोदकर मेरे लिए मेरे चचेरे चचा बिरजू खड़िया (सड़े कंकड़ी) खोदकर लाते थे।

उसी अकाल या उसके बाद के साल की बात है, हमारे अँधेरे घर के एक कोने में काँसे की दो नई थालियाँ पड़ी थीं। मैंने उसे छू दिया। माँ या बुआ गुस्सा हुईं और मेरा हाथ धुलवाया। मालूम हुआ, अकाल में अपनी थालियों को किसी चमार ने कुछ सेर अनाज के लिए गिरवी रखा था।

उन्हीं पुरानी स्मृतियों में है–एक दिन मैं माँ के साथ ननिहाल से कनैला आ रहा था। चलते वक्त आसमान ठीक था, किन्तु रास्ते में पानी बरसने लगा। मैं किसी की गोद में था। मेरे हाथ में गुड़ में गुँधे सत्तू की पिंडी थी। पानी से पिंडी भीग गयी थी, किन्तु उस पिंडी को बड़े यत्न से मैंने हाथ में दबा रखा था। हमारे परिवार जैसी स्थिति की बहुएँ एक या दो बार ही पालकी पर पीहर–नैहर जाती-आती हैं, बाद में वह लाल चादर ओढ़े घूँघट किये पैदल ही आती-जाती हैं। मेरी माँ वैसी ही लाल चादर ओढ़े 10 मील का रास्ता तय कर रही थीं। वर्षा शायद सारे रास्ते भर नहीं रही।

अकाल के वक्त पन्दहा या कनैला के लोग भूख से कैसे मर रहे थे ? पशुओं का चारे बिना क्या हाल था ? सारी पृथिवी और वनस्पति कैसी झुलसी हुई थी ? इन बातों का मुझे बिल्कुल स्मरण नहीं, यद्यपि उस वक्त

मैं चार वर्ष से ऊपर हो रहा था, किन्तु अकाल के बाद (1898 ई.) वाली बरसात का आरम्भ मुझे अच्छी तरह याद है। मैं उसी समय कनैला से पन्दहा लाया गया था। जहाँ कनैला की बस्ती के आसपास वृक्ष-वनस्पतिशून्य विस्तृत ऊसर था, वहाँ पन्दहा चारों ओर वृक्षों और बाँस की झाड़ियों से ढँका था। किन्तु उस दिन तो मालूम होता था, उस असाधारण हरियाली ने अपनी छाया में अन्धकार को छिपा रखा है।

अकाल का प्रभाव हमारे नाना और पिता दोनों के घरों पर नहीं पड़ा। पिता के पास दस-बारह एकड़ खेत थे, और नाना से भी उनकी अवस्था अच्छी थी। दोनों ही घरों में आमदनी से खर्च बढ़ा हुआ नहीं था। बल्कि यदि मैं गलती नहीं करता, तो इसी अकाल के समय अनाज के मँहगे भाव से लाभ उठाकर पिता ने पहिली पूँजी जमा की, जो बढ़ते-बढ़ते चार-पाँच हजार तक पहुँच गयी।

3

अक्षरारम्भ (1898 ई.)

होश सँभालने से पहिले चाहे माँ के साथ अक्सर कनैला रहने का मौका मिलता रहा हो, किन्तु, बाद में तो नाना के यहाँ ही मेरा स्थायी वास रहा। ननिहाल के मेरे जैसे नाती शोख हो जाते हैं, लेकिन मेरी शोखी की भी किसी को शिकायत नहीं हुई। पन्दहा के मैं अच्छे लड़कों में समझा जाता था। नानी का स्नेह तो खैर अद्वितीय था ही, नाना का प्यार भी कम न था, किन्तु साथ ही नाना–पल्टनिहा सिपाही–कड़े अनुशासन को पसन्द करते थे। सिवाय एक बार–सो भी बहुत कुछ दिखलाऊ–कभी उन्होंने एक थप्पड़ भी मुझे नहीं मारा; किन्तु, नाना की डपट मेरे लिए पचास लाठी के चोट से कम की न थी। नाना खेल-कूद के भी खिलाफ थे। दरख्त पर चढ़ना उन्हीं के कारण जिन्दगी-भर मुझे नहीं आया। उनकी चलती तो मुझे तैरना भी नहीं आता, किन्तु ननिहाल की पोखरी में एक बार डूबने से बचकर कनैला में मैंने उसे सीख लिया। नाना ने अपनी जान-भर मेरे लिए जिन्दगी को जेलखाना बना दिया था।

लड़कपन के साथियों में दो ही का मुझे स्मरण है, जो दोनों ही मेरे समवयस्क थे–एक नाना के छोटे भाई के लड़के नरसिंह, और दूसरा गरीब सतमी का[1] लड़का मद्धू। कद में लम्बा होते भी लड़कपन में मैं बहुत दुबला-पतला और अपेक्षाकृत कमजोर भी था। कमजोरी का कारण तो शायद नाना की अत्यधिक सावधानी थी, जिसके मारे मुझे शारीरिक परिश्रमवाले किसी खेल का मौका नहीं मिलता था। बरसात का आदि या अन्त था, गड्ढों में पानी भरा हुआ था। स्मरण नहीं कौन लड़का खेलते समय मेरे धक्के या अपनी असावधानी से एक छोटे गड़हे में गिर गया। पास के किसी आदमी ने दौड़कर उसे निकाला।

मैं बेकसूर था, किन्तु नाना ने समझा, मैंने जान-बूझकर शरारत की। उसी वक्त नानी से सलाह ठहरी–बच्चे को पाठशाला में बैठा दिया जाये। पन्दहा से रानी की सराय का मदरसा एक ही मील है, इसलिए नानी को दूरी की शिकायत नहीं हो सकती थी। अकेले के लिए नाना ने मद्धू को साथी देने की बात कही। दोपहर को भूख लगने की बात कहने पर उन्होंने अध्यापक मुंशी महावीर सिंह से (?) अपने चौके में खाना खिला देने की बात तै कर ली। उमर थोड़ी है, क्या पढ़ैगा–कहने पर, नाना का जवाब था–बैठना तो सीखेगा। नानी को भी पाठशाला भेजने की बात माँननी पड़ी।

शुभ मुहूर्त देखकर (शायद 1898 ई. नवम्बर को) एक दिन रामदीन मामा[2] के साथ मुझे रानी की सराय भेज दिया गया। नाना की धारणा थी कि हिन्दी से उर्दू की कदर अधिक है। उनके एक फुफेरे भाई मुंसिफ होकर जवानी ही में मर गये थे। मेरे लिए भी नाना की नजर में वैसी ही कोई सरकारी नौकरी थी। उर्दू पढ़ाकर आजमगढ़

1. देखो, 'सतमी के बच्चे।'
2. नाना के बड़े भाई शिवनन्दन पाठक के कनिष्ठ पुत्र। देखो, परिशिष्ट 4।

के मिशन-स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाने का उनका इरादा था। खैर, वह अपने इरादे में कैसे असफल रहे, यह आगे की

था–गेंदे के फूल खिले हुए थे। वहीं धूप में टाट पर मैं बैठा रहता था। मद्धू भी मेरे पास बैठा होता। नहीं याद, हम कैसे अपना दिन काटते थे। नाना की बात दुरुस्त थी, मैं वहाँ बैठना ही सीख रहा था।

शायद बहुत दिनों तक मैं रानी की सराय नहीं जा सका। बा. महावीर (या भगवान) सिंह अपने घर के किसी मारपीट में शामिल हुए। उनको सजा हो गयी। मदरसा बन्द हो गया।

उसके बाद मैं कहाँ रहा, क्या करता रहा,–इस पर स्मृति प्रकाश नहीं डालती। हाँ,1899 ई. के अन्त में फिर रानी की सराय के मदरसे में दाखिल होने से पहिले एक बार कनैला से बडौरा गया था। गाँव के7, 8 लड़के वहाँ पढ़ने जाते थे, मैं शायद सबसे छोटा था। मेरी आयु से कुछ ही बड़े चचा बिरजू का मुझसे बहुत प्रेम था। बडौरा में उर्दू नहीं, मुझे हिन्दी का क-ख शुरू कराया गया। बिरजू खड़िया की स्याही बनाकर मुझे सिखलाते। गाँव के जयकरण अहीर की एक टूँडी गाय से गाँव के सारे बच्चे बहुत डरते थे। वह दौड़कर हमला करती थी। सबेरे दिन चढ़े हमारा झुंड बडौरा जा रहा था। उत्तर तरफ के ऊसर की गायों में टूँडी गाय भी है–इसे हममें से कइयों को पता न था। टूँडी दौड़ी, हम लोग जिधर-तिधर भाग निकले। मेरे भय और आश्चर्य का ठिकाना न था, जब कि मैंने टूँडी से चार कदम पर ही, भागने की जगह बिरजू को अपनी नयी पीली धोती की लुंडी लिये बैठ जाते देखा। टूँडी बिरजू की ओर ध्यान न दे हम लोगों की ओर लपकी, लेकिन हम लोग उसकी पहुँच से बाहर हो चुके थे। बिरजू मुस्कुराते हुए हमसे आ मिले। पूछने पर कहा–बैठे हुए आदमी को गाय-बैल नहीं मारते। प्रत्यक्ष के बारे में सन्देह की गुंजाइश कहाँ ? तो भी इसका तजरबा करने के लिए मुझे तो किसी टूँडी के सामने जाने की कभी हिम्मत न हुई।

बडौरा में शायद एकाध ही मास मैं पढ़ पाया। कौन अध्यापक थे, उनकी सूरत तक का मुझे स्मरण नहीं। इतना याद है, कि वर्ण-परिचय की जो पुस्तक हमारे साथियों के हाथ में थी, वह खड्गविलास-प्रेस की छपी, खड़ी सरस्वती की तसवीरवाली थी। बडौरा और वर्णमाला के दिनों की सबसे तीक्ष्ण स्मृति बिरजू की है। बिरजू हमारे पिता के चचेरे चचा के पुत्र थे–यह कहने में तो दूर का सम्बन्ध मालूम होगा, किन्तु वस्तुतः यह बात न थी। मेरे पितामह जानकी पांडे के उनके तीन चचेरे भाई–जिनमें बिरजू के पिता महादेव सबसे छोटे और जानकी पांडे के बहुत प्रेमपात्र थे–सगे भाई-से थे। सारा परिवार एक साथ रहता था। सम्मिलित परिवार के दिनों ही में मेरा और बिरजू का जन्म हुआ था। यदि पितामह जीते होते या पितामही का स्वभाव अत्यन्त कर्कश न होता, तो अब भी हमारा परिवार साथ रहता।–परिवारों की अलगा-बिलगी अत्यन्त बचपन से ही मुझे अप्रिय मालूम होती थी। खैर, टूँडी के संग्राम का वीर बिरजू, मेरे लिए दुद्धी (=खड़िया) खोद लाकर अक्षर सिखानेवाला बिरजू मेरी श्रद्धा और प्रेम दोनों का भाजन था। सन्1900 ई. (?) में कैनला में जोर का हैजा आया। मैं भी उस वक्त वहीं था। हमारे घर-भर के स्त्री-पुरुष बीमार पड़े। हमें कपूर का पानी पीने को मिलता था। भगवती की मिन्नत पर मिन्नत मानी जा रही थी। मालूम नहीं घर-भर में कोई बीमारी से अछूता भी रहा या नहीं। हमारे घर में कोई नहीं मरा; किन्तु बिरजू का परिचित चेहरा उसके बाद फिर न देख पाने का मुझे बहुत अफसोस रहा।

हैजे से उठने के बाद पुराने चावल का भात और इमली की चटनी का पथ्य मुझे बहुत मधुर मालूम होता था।

1899 ई. के अन्त के जाड़ों में मैं फिर पन्दहा में था, और अब मद्धू नहीं, नये सहपाठी दलसिंगार के साथ रानी की सराय की पाठशाला में भरती हुआ। नये अध्यापक बा. द्वारिकाप्रसाद सिंह नाटे और गठीले बदन के तरुण थे। वह हमारी कापियों पर अपना हस्ताक्षर अँगरेजी में किया करते थे। अँगरेजी एकाध किताब पढ़े हुए थे यह तो मुझे नहीं मालूम, किन्तु वह नार्मल पास थे। गोरखपुर–शहर–में रहने का उन पर काफी असर था। वह बातचीत

और पोशाक में काफी नागरिक मालूम होते थे। उनके कपड़े कोट, कमीज और धोती हमेशा साफ उजले रहा करते थे। कसरत करते थे या नहीं, यह तो स्मरण नहीं; किन्तु शाम को पाखाने के लिए लोटा लिये वह दूर तक टहलने जाते थे। उस वक्त 'छड़ी बिना विद्या नहीं आती' यह सर्वमान्य शिक्षा-सिद्धान्त था, किन्तु मुझे जहाँ तक स्मरण है, द्वारिकासिंह बहुत ज्यादा मारते-पीटते नहीं थे; तो भी हम विद्यार्थियों पर उनका काफी रोब था। पान खाते और सीटी बजाते हुए चलने का उन्हें बड़ा शौक था। उन्होंने किसी से एक विलायती कुत्ती को लेकर पाला। न जाने कैसे उसकी कमर टूट गयी, और महीनों हमारे अध्यापक मेहतर लगा सूअर के तेल से उसकी मालिश कराते रहे।

उस वक्त रानी की सराय बहुत छोटी-सी बस्ती थी। अभी रेल नहीं पहुँची थी, और न मारवाड़ियों तथा दूसरे व्यापारियों की दूकानें आ पाई थीं। आजमगढ़ से जौनपुर और बनारस की ओर जानेवाली पक्की सड़क तथा घोड़ेगाड़ी (=सिकड़म्) पर चलनेवाली डाक के रास्ते पर होने के कारण यह स्थान कुछ महत्व तो जरूर रखता था, और शायद कुछ दिन पहिले चीनी के कारखाने भी यहाँ चल रहे थे; किन्तु मेरे आरम्भिक दिनों में वहाँ हलवाइयों की पाँच-सात दूकानें थीं, जिनमें दो को छोड़कर बाक़ी जगह गट्टा और गुड़ के लड्डुआ ही मिलते थे। पाँच-सात दूकानों में लवंग-हल्दी-रंग के साथ कपड़े भी बिका करते थे। उस वक्त तक अभी सिलाई की कल वहाँ नहीं पहुँच पाई थी। नाना मेरा कुरता अपने खानदानी दर्जी बसई के बूढ़े सलीम से सिलवाया करते थे, किन्तु एक दिन देखा, मुझे वे कपड़ा नपवाने के लिए सराय में ले जा रहे हैं। वहाँ एक दुबले-पतले सफेदपोश मियाँ रहते थे, जो हड्डी की खरीद के मुंशी थे। घर में सख्त परदा था। दरवाजे पर बोरिये का पल्ला लटक रहा था। गरीबी के कारण बीबी सिलाई का भी काम कर लिया करती थीं। हाँ, यह सराय मेंहनगर के राजा की रानी ने बनवाया था, जिसके ही कारण बस्ती का नाम रानी की सराय पड़ा था। हमारा मदरसा उन्हीं रानी के बनवाये पोखरे रानी सागर के कोने पर बना हुआ था। मेंहनगर के राजा गौतम राजपूत पहिले हिन्दू थे, पीछे वे मुसल्मान हो गये, और उसी समय या उसके बाद वे मेंहनगर छोड़ आजमगढ़ में चले आये।

सराय का बड़ा दरवाजा और कितनी ही कोठरियाँ उस समय भी मौजूद थीं, यद्यपि बेमरम्मती का असर उन पर दिखलाई पड़ रहा था। फाटक की अगल-बगल के कोठेवाली कोठरियों में कबूतरों ने डेरा डाला था, जहाँ और लड़कों के साथ मैं भी कभी-कभी कबूतर पकड़ने गया था। सराय में एक पगली भटियारिन रहती थी, जो हमको देखकर बड़बड़ाया करती। डाक की घोड़ागाड़ी के अतिरिक्त रानी की सराय की सड़क पर भाड़े की ऊँटगाड़ियाँ भी चला करती थीं। बाजार में पुराने किस्म के कुछ इक्के भी थे।–यह सब रेल आने से पहिले की बात है।

दलसिंगार रिश्ते में मेरे नाना लगते थे, किन्तु समवयस्कों में सिर्फ भाई का ही रिश्ता चल सकता है। हम दोनों में बहुत प्रेम था, शायद इसका कारण दोनों का झगड़ाऊ स्वभाव का न होना रहा होगा। सबेरे बासी खाना खाकर घंटा दिन चढ़ने से पहिले ही हम मदरसा पहुँच जाते थे। दोपहर के खाने के लिए भुना दाना या गुड़-मिला सत्तू हमारे अँगोछे में बँधा रहता, जिसे रानी की सराय के बन्दरों की भारी पल्टन से बचाना आसान काम न था; रानी सागर की मेड़ पर अक्सर वे पड़ रहते, और हमारा रास्ता भी उधर से ही था। रानी सागर के एक तरफ ईंट का पक्का घाट था, जो अब बहुत जगह टूट-फूट रहा था, पास ही में महावीरजी का मन्दिर था। बन्दरों को महावीरजी की सेना सुनते-सुनते हम समझते थे, कि इसी मन्दिर के कारण बन्दर यहाँ रहा करते हैं। लाल मुँहवाले बन्दर बड़े शरारती होते हैं, खासकर लड़कों के साथ। एक दिन हम दोनों तालाब के दक्खिनवाले किनारे से जा रहे थे–शायद उत्तरवाले किनारे पर महावीर की सेना से जान बचाने के लिए। किसी नटखट लड़के ने भिंडे के रीढ़ पर–हमारी आँखों से ओझल–बैठे बन्दरों पर ढेला चलाया। हमने उस लड़के को देखा भी नहीं, और बात की बात में दर्जनों बन्दर खाँव-खाँव करते हमारे ऊपर चढ़ दौड़े। दलसिंगार किसी तरफ भागे। मैं भागता धूप लेती एक बुढ़िया के पीछे जा छिपा। बुढ़िया न होती तो बन्दरों ने मेरी गत बना दी होती।

हिन्दीवाले लड़कों को वर्णमाला धरती पर मिट्टी में लिखकर सीखना होता था, किन्तु हम उर्दूवाले लड़कों को शुरू ही से सफेद पट्टी पर गेहूँ या चावल के शीरे की स्याही से लिखना पड़ता। पहाड़ा सबके साथ ही जोर-जोर

से चिल्लाकर दुहराना पड़ता। दोपहर को खाने के लिए छुट्टी होती—जाड़ों में एक ही घंटे के लिए, किन्तु गर्मियों में वह तीन घंटे या ज्यादा की होती, और हम खाना खाने घर चले आया करते। जाड़ों में रानी सागर के घाट या महावीरजी के मन्दिर के पास हम अपना सत्तू-भूजा खाने जाते। बन्दरों का खतरा था, किन्तु इस वक्त हम भी एक-डेढ़ दर्जन लड़के एक साथ रहते।

1899 ई. के अन्त में मैं गया ही था, इसलिए उस साल 'जुज बे' (प्रारम्भिक श्रेणी) पास करने की बात ही क्या होती; हाँ, अगले साल मैं और दलसिंगार दोनों 'बे' पास हुए। उस वक्त प्राइमरी स्कूलों की वार्षिक परीक्षाएँ दिसम्बर के महीने में हुआ करतीं, और नये सन् के साथ हमें नयी किताबें मिला करतीं।

4

दो साथी (1901-2 ई.)

आयु में दलसिंगार मुझसे जरा-सा बड़े थे, किन्तु कद में मैं उनसे बड़ा था। नाना के लाड़-प्यार तथा खेल-कूद से वंचित रखने ने मुझे जहाँ निर्बल बना दिया था, वहाँ दलसिंगार उस आठ-नौ वर्ष की उम्र में भी शिर पर टोकरी ढोने तथा दूसरे छोटे-मोटे कामों के कारण मुझसे अधिक मजबूत थे। सबेरे जो पहिले नाश्ता कर चुकता वह दूसरे के घर लिवाने पहुँचता। दलसिंगार के घर यदि मुझे जाना पड़ता, तो हम दोनों पास से गुजरती निजामाबादवाली कच्ची सड़क से जाते। दलसिंगार को जब मेरे घर आना पड़ता, तो हम पगडंडी का सीधा रास्ता पकड़ते। सबेरे के वक्त तो कोई बात न थी, किन्तु शाम को घर लौटते अक्सर देर हो जाती। पाठशाला से छुट्टी में उतनी देर न होती, किन्तु रास्ते में हम लोग गिल्ली-डंडा या दूसरे खेल खेलने लगते, जिसमें देर हो जाती। लौटते थे अक्सर हम सड़क के रास्ते, क्योंकि वह दलसिंगार के लिए सीधा था, दूसरे पगडंडीवाला रास्ता जंगल के भूतहे पोखरे के पास से गुजरता था। इस निर्जन तालाब पर दिन-दोपहर को भूत नाचा करते और अकेले-दुकेले सयाने भी उधर से गुजरने की हिम्मत न करते थे। सबेरे के वक्त उधर गायों और चरवाहों के रहने के कारण हमें भी हिम्मत रहती, किन्तु शाम को किस बिरते पर उधर से गुजरते ? जब मैं नानी के साथ उधर से जाता तो, पास पहुँचने पर वह बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ 'जै ठैयाँ-भुइयाँ के बाबा साहेब ! जहाँ रहै बाल-गोपाल को नीके बनाये राखा' कहकर प्रार्थना करतीं। हम भी 'बाबा साहेब' को मना लिया करते, लेकिन दिल को पूरा भरोसा न होता। वैसे सड़क के रास्ते पर भी 'ठूँठे' पीपर के 'बाबा साहेब' थे, किन्तु एक तो सड़क थी, दूसरे 'बाबा' अकेले थे और हम दो। हम लोगों ने यह भी सोच रखा था, कि यदि 'बाबा' प्रकट हुए तो झट मामा कह बैठेंगे, फिर 'बाबा' भांजे पर हाथ छोड़ने का साहस थोड़े ही करेंगे ?

सावन में गाँव में कई जगह वृक्षों पर झूले पड़ते थे, जिन पर रात को गाँव की बहुएँ तथा दूसरी तरुण कन्याएँ झूला झूलतीं, कजरी गातीं। हम लड़कों के झूले दिन-भर चलते रहते। उस वक्त मेरे साथी और साथिनें सुनी-वुनी कजरी के एकाध पद गाते। 'रुन-झुन खोला हो केवड़िया, हम बिदेसवा जइबै न'। यह पद मुझे बहुत प्रिय था, किन्तु इसके पिछले भाग का ही मुझे अर्थ मालूम था।

बरसात में कबड्डी और जाड़े में दूसरे खेल गाँव के लड़के भी खेला करते, लेकिन नाना के डर के मारे मैं अपना खेल पहिले ही खतम कर आता। खाते-पीते घर का लड़का प्रकट करने के लिए एक दिन नाना ने मेरे हाथों-पैरों में चाँदी के मोटे-मोटे कड़े और कानों में सोने की बालियाँ डलवा दीं—जेवर के पीछे लड़कों की मौत की बहुत-सी कहानियाँ उन्हें भी मालूम थीं, किन्तु रवाज को कौन तोड़ता ? एक दिन—शायद उस दिन नाना गाँव पर नहीं थे—हम दोनों ने गाँव की कबड्डी में भाग लिया। संयोग से हम दोनों दो पक्ष में बँट गये। कबड्डी पढ़ाते वक्त दलसिंगार ने मुझे पकड़ना चाहा। उसी समय दलसिंगार के सामने के एक दाँत से मेरे हाथ का कड़ा इतने जोर से लगा, कि दाँत का एक नोक टूटकर गिर गया। खैरियत यह हुई, कि उनका ओठ खुला रहने से बच

गया। दलसिंगार को जरा भी गुस्सा नहीं आया। मैं सहम गया। दलसिंगार का वह टूटा दाँत स्थायी चिह्न-सा बन गया था।

पन्दहा की ओर से जानेवाले लड़कों की संख्या कुछ बढ़ी भी, यद्यपि पन्दहा खास से मैं और दलसिंगार दो ही जाते थे। गाँव के दक्षिण तरफ पोखरियों और गड़हियों का एक संघ था, जो बसई और दूसरे गाँवों तक फैला हुआ था। पन्दहा की चार गड़हियाँ इस संघ की सदस्या थीं, जिनमें महामाई की पोखरी गाँववालों के नहाने का भी काम देती थी। बसई इसी पोखरी-संघ के पश्चिम तट पर बसा हुआ मुसल्मानों का गाँव था। वहाँ के कब्रिस्तान की कितनी ही पक्की कब्रें, बतला रही थीं, कि किसी वक्त वहाँ के सैयद-परिवारों के दिन अच्छे थे, मेरा उस समय बसई से किसी इतिहास-गवेषक का-सा सम्बन्ध न था। बसई में सैयदों के चार और कोइरी का लड़का हीरा हमारे मदरसे के साथी थे, हीरा तो मेरे दर्जे में पढ़ता था, सैयद और कोइरी के अतिरिक्त बसई में मुसल्मान दरजी, धुनिया और जुलाहों के और बहुत से घर थे। आसपास के कई गाँवों में बसई का ताजिया मशहूर था। ताजिया देखने के अलावा भी हम कितनी ही बार वहाँ पहुँच जाते, बसई के पुराने खँडहरों पर उगे शरीफे के फल खाते। हमारे साथी सैयद-जादों में दो मुझसे अधिक उम्र के थे, और दो बराबर के, उनमें दो अनवरहुसेन के लड़के और दो चचे-भतीजे उनके पड़ोसी के घर के थे। इन सैयदों की जमीन प्रायः सभी बिक-बिका चुकी थी, आश्चर्य होता था, कि इतने पर भी वे साफ कुरता-पाजामा पहनते कहाँ से थे ? अनवर मियाँ तो घर पर ही रहते थे, किन्तु उनके पड़ोसी के घर का एक आदमी सिंहापुर पिलाङ–हाँ पिलाङ (पिनाङ) ही लोग उच्चारण करते थे–में कोई नौकरी करता था। सैयदों के खड़े घरों से खँडहरों की संख्या अधिक थी, और उनकी ईंटों की जुड़ाई, दरवाजों तथा खिड़कियों से रहनेवालों के अच्छे दिनों का पता लगता था। दूसरी जाति के मुसल्मान तो सदा से बसई के बाशिन्दे हो सकते थे, किन्तु सैयद बाहर से आये थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं–ये सैयद शिया थे। मुसल्मानी जमाने में, विशेषकर जौनपुर की शर्की बादशाहत के समय उनके पूर्वज बसई में आकर बस गये हों तो कोई तअज्जुब नहीं। उनके घरों में कड़ा परदा था, किन्तु हम छोटे-छोटे बच्चे बिना रोक-टोक अपने साथियों के साथ उनके घर के भीतर चले जाते थे।

मेरे नाना की आसपास के कुछ शिया सैयदों से घनिष्टता थी। अनवर मियाँ के बारे में तो नहीं कहता; किन्तु दूसरे ज़ब हमारे घर आते तो वे अपने ही हाथ से पानी निकालकर पीते थे। हिन्दू के हाथ की–चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो–छुई कोई चीज वे खाते-पीते न थे। गाँववाले इस कट्टरता की बड़ी प्रशंसा करते थे। मिर्ज़ा सलीम वकील के कारिन्दे एक बार मेरे लिए मखमल की फूलदार टोपी लाये थे। बचपन का संस्कार बहुत स्थायी होता है, शायद यह उस समय के कुछ शिया व्यक्तियों का सम्पर्क ही था, जिसने मेरे दिल में शिया-समाज के लिए एक खास स्थायी स्नेह और सम्मान का भाव पैदा कर दिया।

नाना के यहाँ के लाड़-प्यार ने खाने के बारे में भी मेरी विशेष रुचि पैदा कर दी। दाल से मुझे नफरत थी, क्योंकि बचपन ही से दूध-दही, खाँड-शीरा या मछली-तरकारी से रोटी खाने का मैं आदी था। शायद होश सँभालने से पहिले मैंने अपनी इस रुचि को लोगों से मनवा लिया था, इसलिए दाल खिलाने का कोई आग्रह न करता था। पन्दहा में धान के खेत न थे, हाँ 'साठी' धान होता था, किन्तु मुझे भात से बहुत चिढ़ थी। मेरे जन्म से पहिले ही नाना-नानी वैष्णव-दीक्षा, और तुलसी की कंठी ले चुके थे, साथ ही गया-ठाकुरद्वारा भी हो आये थे। अब मछली-मांस से उन्हें कोई वास्ता न था; किन्तु मेरे लिए मछली-मांस का इन्तजाम करने में उन्हें कोई संकोच न था। मेरा दुबला-पतला शरीर नाना को और भी इसके लिए मजबूर करता था। गाँव में मांस तो छठे-छमासे ही मिलता जबकि गाँव के कुछ शौकीन लोग बकरा खरीद बाँटी डालते; किन्तु मछली का मौका अक्सर मिलता था। सिंही, गरई जैसी मछलियाँ जब जीती मिलतीं, तो दो-दो, चार-चार से लेकर बैल की सानीवाली नाद में पाल ली जातीं। नाद में पानी और मिट्टी के सिवा और कोई चीज डालते मैंने नहीं देखा। मैं तो समझता था, मछलियाँ मिट्टी खाती हैं और पानी पीती हैं–बस उनको और कुछ नहीं चाहिए। बहुत छुटपन में कैसे बनतीं, यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु होश सँभालने

पर मैं ही आँगन या गोसार में मछली पकाता। नानी मसाला पीसकर दे देतीं, और पकाने का तरीका बतलातीं। आम का मौसिम होने पर उसे मछली में जरूर डाला जाता–आकाश के आम और पाताल की मछली के समागम को एक पुण्य की चीज समझा जाता था। जितने दिन ज़खीरा तैयार रहता, मैं दूध-तरकारी की बात भूल जाता। आमतौर से सबेरे दही-रोटी, दोपहर को दूध-रोटी, शाम को दूध या तरकारी के साथ रोटी खाने को मिलती। दही के साथ खाँड या चीनी से अन्तिम बार का निकाला शीरा ('ठोपारी') जरूरी था। 'ठोपारी' शीरा मुझे बहुत पसन्द था। गुड़ को दोबारा ताव पर चढ़ाने के कारण उसमें एक प्रकार का सोंधापन होता, और साथ ही निथरकर कुछ चीनी का अंश भी उसमें मौजूद रहता। नाना ने किसी कारखानेवाले को सौ-दो सौ रुपये कर्ज दे रखे थे, और शीरा उसी के सूद में आया करता था।

पहिनने की मेरी आवश्यकताएँ बहुत मुख्तसर थीं। मामूली दो पतली धोतियाँ, एक अँगोछा–जो पहिले-पहिल लाल–('किरौंजी') मिट्टी में रँगे मिलते थे। और दिनों में सूती कुरता, किन्तु जाड़ों में ऊनी या अध-ऊनी कपड़े का बटनदार अँगरखा होता। टोपी भुला देने में मैं बहुत उस्ताद था। कितनी ही बार तो गरदन पर कुरतों से उसे टाँक दिया जाता था। नंगे शिर मदरसा जाना कायदे के खिलाफ था, नहीं तो टोपी गुम होने से जितने अधिक मैं और घरवाले परेशान थे, उससे नंगा शिर रहना ही पसन्द आता। एक बार नाना ने किसी रेशमी कपड़े की दुपलिया टोपी मेरे लिए सिलवाई। दो-चार दिन मैं उसे ठीक नहीं रख सका। शाम को मदरसे से घर चलते वक्त देखा–टोपी नदारद। नाना डाँटेंगे, इस डर के मारे पन्दहा जाने का नाम कौन ले। इधर-उधर करते अँधेरा हो आया। मदरसे के पास नाना का परिचित एक बढ़ई था, जो बैलगाड़ी के पहिये और दूसरा सामान बनाकर बेंचा करता था। कोई बहाना करके मैंने रात को वहीं रहना चाहा। जाड़े का दिन, और मेरे पास बदन के कपड़े के सिवा कोई कपड़ा न था। बढ़ई भी गरीब था। उसने एक बोरा दिया। शिर बाहर रख मैं उसी में घुसकर लेट रहा। दो घंटा जाते-जाते ढूँढ़ने में परेशान नाना वहाँ पहुँचे। पूछने पर बढ़ई ने कहा–वही तो सो रहा है। बोरे में पड़े मुझे देखकर नाना का गुस्सा न जाने कहाँ रफू-चक्कर हो गया। उनके दिल की क्या अवस्था थी, इसे तो मैं नहीं कह सकता; किन्तु जरा-सा ठहरकर बड़े मीठे स्वर में उन्होंने कहा–टोपी भूल गई, तो डरने की क्या बात, चलो, तेरी नानी तेरे खाने के इन्तजार में रो रही है।

हम घर पहुँचे, शायद उसी वक्त कुरते में टोपी के टाँक देने की तजवीज पास हुई और कुछ दिन तक उस पर अमल भी किया गया।

गाँव के और लड़कों की भाँति मेरे लिए भी जूता अनावश्यक समझा जाता था। पहिले-पहिल यागेश के ब्याह (1904 या 5 ई.) में मेरे लिए जूता खरीदा गया था। जूता मेरे पैर के लिए बहुत छोटा था, किन्तु मोची ने लकड़ी के टुकड़े ठोंक-ठाँककर उसे बड़ा किया। उसके पास और कोई जूता न था, इसलिए नाना उसी को लेने पर मजबूर थे। बारात के बीच ही में एक जूता कहीं गुम हो गया या कुत्ता ले गया, और दूसरे को फेंककर मुझे मुफ्त में कई दिनों तक कटे पैरों की हिफाजत करनी पड़ी। बरसात के दिनों में बद्धीदार खड़ाऊँ गाँवों के लिए जरूरी चीज थी। वह कीचड़ ही से नहीं, बल्कि पशुओं के गोबर और पेशाब से मिश्रित सड़े कीचड़ में अधिक रहने पर पैर की अँगुलियों में हो जानेवाले घाव से भी बचाती थी।

बरसात में भी मदरसा तो जाना ही पड़ता था। किताब शायद स्कूल में छोड़ आते थे, क्योंकि मेरे पास कपड़े का छाता कभी नहीं रहा। बाँस के छत्ते काफी मजबूत और सस्ते मिलते थे, लेकिन बहुत कम ही मैं उन्हें इस्तेमाल करता था। कितनी ही बार रानी की सराय से भींगते ही मुझे घर आना पड़ता, किन्तु लड़कपन में पानी-बूँदी में भींगना कोई तकलीफ़ की चीज न थी। हाँ, बिजली की गड़गड़ाहट और चमक से दिल जरूर दहल जाता था। ऐसे समय घर पर रहने पर तो नानी 'हे भगवान्, तुम्हारी शरण' कहतीं, किन्तु रास्ते में शायद मैं तो सहम ही कर रह जाता। टौंस नदी पन्दहा से दो मील उत्तर तरफ है, किन्तु बाढ़ आने पर उसका पानी गाँव के सिवाने तक चला आता था। उस वक्त गाँव के नर-नारी घर-आयी 'गंगा' समझकर नहाने जाते। मेरी धारणा थी, शायद गंगा का पानी बाढ़ में यहाँ चला आता है, मैं यह सोचने की तकलीफ गवारा करने को तैयार न था, कि यह पानी तो अब यहाँ से नीचे जाकर गंगा में मिलेगा।

सन् 1901 ई. के जाड़ों में मैं आठ वर्ष का हो रहा था। मौलवी इस्माईल की 'अलिफ़' में पढ़ाई जानेवाली किताब 'पाना-जाना-खाना' (आरंभ) से लेकर अन्त तक मुझे याद थी। दरअसल पढ़ाए जानेवाले विषय तो मेरे लिए तीन-चार महीने के काम थे, बाकी तो दिन-कट्टी कराई जाती थी। कितना समय का अपव्यय था, लेकिन उस वक्त इसका खयाल थोड़े ही आता था। इसे तो हम सनातन नियम समझते थे। उसी साल जाड़ों में पन्दहा में पैमाइश के अमीन आये। हमारे ही दरवाजे पर उन्होंने डेरा डाला। मुझे कहानी सुनने का बड़ा शौक था। नानी की कहानियाँ तो न जाने कब की खतम हो चुकी थीं। एक बार सुनी कहानी को दूसरी बार मैं पसन्द न करता था। सतमी और उसकी लड़की सुखिया ने भी अपनी कहानियों के कोश को खाली कर डाला था। ज़ब कोई नया व्यक्ति—खासकर स्त्री—रात को हमारे घर ठहरने आती, तो मुझे सबसे ज्यादा खुशी होती; मैं उससे जरूर एकाध कहानी सुनता। मुश्किल यह थी, जहाँ और लड़के कहानी सुनते-सुनते सो जाते, वहाँ मेरे लिए वह नींद हराम कर देती। अमीन लोगों की—हाँ—, वह एक से अधिक थे—पैमाइश से न मुझे वास्ता था, और न नानी की भाँति मुझे इसकी फिक्र थी, कि पैमाइश के कागजों में कुछ अपने अनुकूल बातें दर्ज करा ली जावें। नाना ने अपने नाम के साथ मेरा नाम कागज पर लिखवा लिया था, जिसके लिए उनके पट्टीदारों ने उज्र किया और डिप्टी बन्दोबस्त—जो मेरे ही नामराशि कोई पंडित केदारनाथ थे—ने मेरी पीठ ठोंकते हुए नाना से कहा—नाम दर्ज कराकर क्या करोगे, खूब पढ़ाओ बच्चे को। मुझे खयाल आता था, क्या मैं भी डिप्टी होकर इन्हीं की तरह कुर्सी पर बैठ मुकदमे का फैसला कर सकूँगा। हाँ, तो अमीन लोगों से मेरा रब्त-जब्त बहुत बढ़ गया, क्योंकि वे मुझे कहानियाँ सुनाया करते थे, जो ज्यादातर किताबों की हुआ करतीं। इन्हीं कहानियों में काठ के उड़न्तू घोड़े की भी एक कहानी थी।

दिसम्बर में सालाना इम्तिहान हो जाने पर एक या दो सप्ताह की छुट्टी होती, और मैं कनैला चला जाता। पन्दहा में जितना ही मैं पिंजड़े में बन्द रहता, कनैला में मैं उतना ही आजाद। सबेरे से पहर-भर रात तक मैं खेल में मशगूल रहता, घर सिर्फ खाने के लिए आता, और कभी-कभी किसी 'आजी' (आर्या—पितामही) के यहाँ ही वह हो जाता। साल में एक बार आने के कारण अपने नजदीक के आठ घरों के लिए मैं बहुत प्यारा लड़का था। शायद झगड़े-झंटे का स्वभाव न होना भी उसमें सहायक था। यही वक्त था जब कि कनैला के धान कटते थे—कनैला में धान और रब्बी के खेत बराबर-बराबर थे। लम्बा-चौड़ा ऊसर 'हापड़' (दिहाती हाकी) खेलने का सुन्दर क्षेत्र था और अज्ञातकाल से सैकड़ों पीढ़ियाँ जैसे वहाँ इन दिनों हापड़ खेलतीं, वैसे ही अब भी लोग खेला करते। लड़के तो खेलते ही थे, किन्तु खिचड़ी (मकर संक्रान्ति) के आसपास तो जवान और प्रौढ़ भी हापड़ खेलते थे। मैं हापड़, गिल्ली-डंडा सबमें शामिल रहता, किन्तु जिस वर्ग के मत्थे मैं पड़ता, उसे घाटे ही में रहना पड़ता। पन्दहा का साल-भर का अंकुश दौड़-धूप के अयोग्य किये रहता, फिर यहाँ कौन-सा पौरुष दिखलाता। बिरजू अब नहीं थे, किन्तु दूसरे चचा कृष्णा—जिन्हें मैं 'किन्ना' कहकर पुकारता था—खेल के साथी थे। हम दोनों की आयु बराबर थी। उनकी तीर-कमान देख मैं भी तीर-कमान बनाता, गोंद के साथ काँटे को तीर पर चिपकाता, और दोनों चलते चिड़ियों का 'शिकार' करते। किसी चिड़िया का शिकार किन्ना ने भी कभी किया—यह मुझे याद नहीं, शायद वे तीर-कमान शिकार के लिए थे भी नहीं; किन्तु मेरा तो एक निशाना भी कभी नहीं लगता था। गाँव के पोखरे या पोखरी—जिनकी संख्या काफी थी—में हम दोनों कभी-कभी मछली मारने जाते। वहाँ भी, जहाँ किन्ना जिधर हाथ डालते उधर से ही गरई या टेंगरा, अमोय या सिंही निकाल लेते, वहाँ मेरे हाथ में सिधरी (पोठिया) या झिंगा भी नहीं आता। हाँ, सिंही या टेंगनों से हाथ कटाने का मौका मुझे कितनी ही बार मिला। मछली कोई मारे, किन्तु जब पत्ती की आग में उसे भूना जाता, तो हम दोनों मिलकर खाते।

कनैला में मांस मिलने का अक्सर मौका मिलता। वहाँ मुसल्मान चूड़ीवालों के कितने ही घर थे; वे रेह, सज्जी और मसाले से खुद चूड़ी बनाया करते थे, और अभी दिहात में काँच की फैन्सी चूड़ियाँ न चली थीं, इसलिए उनकी बहुत माँग थी। सभी मजदूर-पेशा जातियों की भाँति हमारे चूड़ीहार 'खाये-खर्चे' को ही स्वारथ समझते थे। हर महीने ही उनके यहाँ एकाध बकरा काटा जाता, और मैं भी उसी में से लाता। वह लोग हमारे घर से कर्ज लेते थे, इसलिए भी मुझ पर विशेष खयाल रखते थे। घर में अधिकतर भक्त लोग थे, इसलिए बाहर की गोसार

में मुझे ही पकाना पड़ता।

उर्दूवालों को पट्टी पर स्याही से लिखना पड़ता, किन्तु हिन्दीवाले अपनी पट्टी को कजली पोतकर सुखाते, फिर शीशे से रगड़कर चमचम करके उस पर खड़िया की सफेद स्याही से लिखते। कनैला से मैं कितने ही मोटे चुल्ले या बर्तनी बनवाकर लाता, और अपने हिन्दीवाले साथियों की सौगात के तौर पर पेश करता। चूड़ीहार, जिनमें अधिकांश नाते में मेरे चचा या दादा ही लगते थे (इस नाते को गाँवों में बड़ी कड़ाई के साथ माना जाता था) मेरी फर्माइश को अस्वीकार नहीं करते थे।

किन्ना और दूसरे साथियों के साथ मैं कभी-कभी कौड़ी खेलने भी जाता, किन्तु उसमें भी मेरे लिए सदा हार ही रहती।

कनैला की यह आजादी पन्दहा के जीवन के सामने मेरे लिए बहुत आकर्षक थी। मैं साल-भर इम्तिहान की छुट्टियों की बाट जोहता रहता। पन्दहा में गर्मियों में नाना पुरानी बखरी के अँधेरे घर में—जहाँ मक्खी और गर्मी कम थी—सो जाते, उस वक्त नानी से कोई बहाना कर मैं बाहर निकल जाता। बाग में धूप और लू की जरा भी परवाह न करते कितने ही खिलाड़ी डटे होते। अधिकतर चिब्भी-डाँडी, चीका या ओल्हापाती का खेल होता। ओल्हापाती मेरे वश से बाहर की बात थी, क्योंकि मैं दरख्त पर चढ़ना न जानता था। हाँ, चिब्भी-डाँडी या चीका में मैं शामिल हो जाता। दो-दो की पार्टी होने पर तो कोई बात नहीं, किन्तु जब पाँच-पाँच, छै-छै चिब्भियाँ पाँती से खड़ी की जातीं, तो अपनी जोड़ी तक निशाने को परिमित रखना मेरे वश की बात न थी, और फिर दूसरे जोड़े की चिब्भी में लग जाने पर, सभी जीते दाव जल जाते थे। मुझे यह भी खयाल रखना पड़ता था, कि नाना के उठने से पहिले घर पहुँच जाना है। नाना को गरम लू की बहुत चिन्ता थी, और नानी को लू से भी अधिक भय था, दोपहर को छोटे-बड़े बवंडर की शकल में घूमनेवाले भूतों और चुड़ैलों का। उनको यही सन्तोष था, कि उस वक्त बाग में और भी बहुत से लड़के खेलते रहते हैं।

दर्जा 1 में (1902 ई.) पहुँचते-पहुँचते बाबू द्वारिकाप्रसाद सिंह बदल गये, और उनके स्थान पर बाबू पत्तरसिंह रानी की सराय में अध्यापक होकर आये। नये अध्यापक की उम्र 50 के आसपास थी। उनके दो भाग में बाँटकर सँवारे हुए शिर के (पटे के) कितने ही बाल सफेद हो चुके थे, मूँछें सीधी ऊपर की ओर सँवारी होतीं। उनके एक पैर में फीलपाँव था, और शायद इसीलिए धोती का एक फाँड़ जहाँ पैर के पंजों तक पहुँचता, वहाँ दूसरा घुटनों ही पर रुक जाता। जहाँ बाबू द्वारिकासिंह को पूजा-पाठ करते हमने नहीं देखा था—'राजपूत' (!) पत्र वह जरूर मँगाया करते थे—, वहाँ बाबू पत्तरसिंह खूब पूजा करते थे। आते ही उन्होंने चहारदीवारी के किनारे फाटक के पास तुलसी का चौरा बाँध दिया। गेंदा, बेला और दूसरे फूलों के लगाने की ओर भी उनका काफी ध्यान था। तुलसीचौरा के पास ही चौलाई और करैली की क्यारियाँ बनी थीं। लेकिन हमारे लिए जो खास बात जानने की थी, वह था उनका गुस्सा, निर्दयतापूर्वक लड़कों को पीटना; और इसीलिए उनकी पूजा-पाठ हमारी नजरों में कोई वकअत न रखती थी। मैं सबसे तेज होने के कारण स्कूल में सबसे कम मार खाने की सम्भावना रखनेवाला लड़का था, किन्तु बाबू पत्तरसिंह के आये दो सप्ताह भी न हुए थे, कि एक दिन तड़के जब मैं अपना सबक सुना रहा था, उस समय न जाने क्या गलती हुई, कि उन्होंने चारपाई के नीचे से खड़ाऊँ उठाकर मारा, वह मेरे पैर में घुटने से नीचे हड्डी में आकर लगा और खून बह निकला। जब तेज लड़के की यह बात थी, तो मन्द और साधारण लड़कों की बात ही क्या ? लड़के डर के मारे उनसे काँपते थे। हम धीरे-धीरे उनकी मुद्राओं से परिचित हो गये थे। वे अक्सर कुर्सी की जगह चारपाई पर बैठकर पढ़ाते थे, और पढ़ाते-पढ़ाते सो जाते थे। सोने के बाद उनके पटे के जुल्फ अस्तव्यस्त हो जाते, और हम जानते थे कि इसी वक्त उनके गुस्से का पारा सबसे ऊपर चढ़ा होता है। उसकी दवा भी हमें मालूम हो गयी थी। देखते ही बिना एक दूसरे की प्रतीक्षा किये खुद-बखुद (क्योंकि जब उनका हाथ छूटता तो वहाँ कसूर-बेकसूर का सवाल नहीं होता) दो लड़के दौड़ जाते, एक नारियल में नया पानी बदलता और दूसरा बोरसी के अंगार से चिलम तैयार करके लाता। बाबू पत्तरसिंह मुस्कुराते हुए पटे के बालों

को एक हाथ से पीछे की ओर सँवारते दूसरे हाथ में नारियल का हुक्का थामते।

कहावतें उन्हें सैकड़ों याद थीं, और बिलकुल मौके की। हाथ से जहाँ छड़ी बरसती, वहाँ उनके मुँह से कहावतों की झड़ लग जाती। हमारे दर्जे के एक लड़के दूधनाथराय पढ़ने-लिखने में बहुत कमजोर थे और इसीलिए मदरसा आने में उनको बहुत उज्र था। बेचारों को पिटने की आदत थी, और उसके लिए उनके शरीर पर काफी मांस भी था। एक दिन कई दिन की गैरहाजिरी के बाद पकड़कर मदरसा पहुँचा घरवाले लौट गये। दूधनाथ के कान में सोने की बड़ी-बड़ी नयी बालियाँ पड़ी थीं। बाबू पत्तरसिंह एक ओर बाँस की हरी छड़ियों को उनके बदन पर तोड़ते जाते थे, दूसरी ओर कहते जाते थे–'एक तो रहा बानर नोना, दूसरे पड़ा कान में सोना।' मैं तो समझता था, अभी तुरन्त दूधनाथ के लिए ही उन्होंने यह कहावत गढ़ी। उनकी कितनी ही कहावतें हँसानेवाली थीं, किन्तु मार खाते वक्त कही जानेवाली कहानियों पर हँसने को किसकी शामत आती ? हँसते देखा नहीं कि बोल उठे– 'हँसते हो, यहाँ आओ तो··· क्या यहाँ रंडी नाच रही है, अच्छा हँसो।' और फिर छड़ी बरसने लगती।

जब प्रसन्नचित्त होते, तो चारपाई पर लेट जाते। लड़के उनका बदन दबाते–ब्राह्मण लड़कों से पैर नहीं छुवाया जाता था। और फिर कहानियाँ शुरू होतीं। जब वह चँदवक के पास जिले के दक्षिण छोर पर किसी स्कूल में पढ़ाते थे, तो हर रविवार को गंगास्नान करने जाते। एक दिन की बात कह रहे थे–"स्नान करके लौट रहा था, अँधेरा हो चला था, मैं पैर बढ़ाए पक्की सड़क से जा रहा था। नजर जो जरा फिरी तो देखा सड़क से नीचे-नीचे कोई चुपचाप चल रहा है। मील-भर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैंने पूछा, तो जवाब मिला, "आँओं, इँधर सें न चँलों।' नाक से निकलती आवाज सुनकर मेरा तो मत्था ठनका। मैं सड़क से नीचे क्यों उतरने लगा ? जानते हो, पक्की सड़क सरकार बहाद्रुर की सड़क है। सरकार का अकबाल है, उस पर आकर किसी भूत-प्रेत को घात करने की हिम्मत नहीं हो सकती। वह बराबर नीचे बुलाता रहा, किन्तु मैं सड़क के बीच से चलता रहा। मील-आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया–'अँच्छा, जाँ, बँच के निंकल गँया।' "

बाबू पत्तरसिंह की बात याद कर मेरे दिल में होता था, काश ! हमारी पन्दहावाली सड़क कच्ची न हो पक्की होती, फिर तो 'ठूँठे पीपल के बाबा' को अँगूठा दिखलाना आसान होता।

आषाढ़ (जून या जुलाई 1902 ई.) का महीना था। अभी वर्षा शुरू न हुई थी। आज मदरसा में दिन-भर टाट की सफाई, गोबर से शाला की लिपाई तथा हाते में गेंदे की पौदों के रोपने का काम हो रहा था। दलसिंगार भी काम कर रहे थे। दोपहर को दलसिंगार काम छोड़ बैठे, कह रहे थे–बदन में दर्द है। दोपहर बाद उन्हें एक-दो कै हुई। आज समय से पहिले ही छुट्टी हो गयी, क्योंकि पढ़ाई बन्द करके सभी लड़के सफाई में लगाये गये थे। मैंने देखा दलसिंगार की आँखें लाल थीं। उनका शरीर गरम था, कह रहे थे–बदन फट रहा है। हम दोनों घर की ओर रवाना हुए। किसी तरह रानी सागर के भिंडे को पार हुए। अब दलसिंगार को एक कदम भी चलना मुश्किल था। लाचार मैंने उन्हें अपनी पीठ पर चढ़ाया, और घोड़ैयाँ ले चला। मैं भी शरीर से कमजोर था, और ऊपर से मेहनत करने और बोझ ढोने की आदत न थी; एक बार दस-पन्द्रह कदम से ज्यादा चलना मेरे वश की बात न थी। बैठ जाने पर दलसिंगार पैर-दर्द से रोते। मैं पैर दबाता, और रोता। रात के डर के मारे फिर हिम्मत करके उठाता, और फिर वही पुनरावृत्ति। शाम तक न जाने कितने सौ बार की उठक-बैठक में हम पन्दहा पहुँचे।

सबेरे नानी कह रही थीं–'हम लोग तो आग में हैं ही, बच्चे को कनैला भेज देना चाहिए। हैजा जोर पकड़ रहा है।'

नाना ने भी स्वीकृति दे दी। और आदमी के साथ मुझे कनैला भेज दिया गया।

5
रानी की सराय की पढ़ाई (1)

कनैला के हैजे में हमारे घर का कोई नहीं मरा था, यह कह आये हैं। बीमारी के वक्त शायद 'आजी' ने शतचंडी (सौ बार चंडी) का पाठ माना था। आजकल वही पाठ चल रहा था। पाठ बाँचनेवाले थे हमारे फूफा पंडित महादेव पांडे और उनके मौसेरे भाई महावीर तिवारी। महावीर तिवारी एक-एक अक्षर टटोल-टटोलकर पढ़ रहे थे, किन्तु फूफा फरफर पढ़ते जाते थे। उनके पास नसदानी रखी हुई थी, बीच-बीच में वे नस लेते जा रहे थे। शाम को नस से भरी रूमाल साफ की जाती थी। सबेरे पाठ समाप्त कर गरम दूध में भिगोया घर के खुशबूदार धान का चूरा नाश्ते के लिए तैयार रहता। शायद उसके बाद फिर पाठ चलता। पाठ संस्कृत में होता,–चंडी पाठ का भाषा में अर्थ नहीं किया जाता। दोपहर को भोजन, फिर विश्राम। शाम को 3-4 बजे फूफा साहेब घर में बुलाये जाते। फर्श पर एक ओर वह बैठते, और सामने बैठतीं मेरी माँ, शायद चाची भी (उन्हें मैं काकी कहा करता), मेरी कोई बुआ, कुटुम्ब की भी शायद दो-तीन चाची-बुआ। दामाद के स्वागत में ऐसी गोष्ठी रचने की प्रथा है, इससे उसका मनोरंजन होता है। वार्त्तालाप का विषय घरबार का हालचाल और कुछ हँसी-मजाक। फूफा से मैं बहुत जल्द हिल-मिल गया और एकाध बार उनकी इस गोष्ठी में मैं भी शामिल हुआ। सावन का पानी बरस चुका था, और कनैला के ताल-तलैयों, तथा डबरों (पल्वलों) में पानी भरकर बह गया था। शाम को फूफा साहेब दूर पूरब तरफ चले जाते, और वहीं शौच-स्नान करके लौटते।

फूफा महादेव पंडित के बारे में मैंने कितनी ही बातें सुनी थीं। वह बहुत भारी पंडित हैं–इतने भारी, जितने कि आसपास दस-बीस कोस में कोई नहीं। बहुत विद्या पढ़ जाने के कारण ही वह एक बार साल-भर पागल रहे। उस वक्त तो मुझे विश्वास होता था, जैसे बहुत खाने से भोजन का अजीर्ण होता है, उसी तरह बहुत पढ़ जाने से विद्या का अजीर्ण होता है, किन्तु यह संस्कृत पढ़नेवालों को ही। शतचंडी पाठ समाप्त होने में शायद एक मास लगा। उसके बाद जब फूफा अपने गाँव बछवल जाने लगे, तो मुझे भी लेते गये। शायद घरवालों से उन्होंने संस्कृत पढ़ाने की स्वीकृति भी ले ली थी। कनैला से बछवल 3 मील से अधिक दूर नहीं है। मैं फूफा के साथ उनकी घोड़ी पर चढ़ा। रास्ते में मँगई नदी में काफी पानी था। मुझे कन्धे पर चढ़ाकर पार किया गया।

बछवल मैं पहिले-पहिल गया था। बुआ को मैंने अभी तक देखा न था, वह कई वर्षों से कनैला आयी ही न थीं। वहाँ चार-पाँच स्त्रियाँ थीं, जिनमें दो कपड़े-जेवर में विशेषता रखती थीं। मैं यह तो समझ गया कि इन्हीं दोनों में एक मेरी बुआ हैं, किन्तु अपनी बुआ को जेठानी सुन यागेश की माँ को ही मैंने अपनी बुआ समझा। बछवल में मेरी आयु के काफी लड़के-लड़कियाँ थीं, जिनमें समान आयु के होने के कारण यागेश से ज्यादा घनिष्ठता हो गयी, और पीछे के सालों में तो मेरी अपनी बुआ के लड़के नहीं, बल्कि उनके चचेरे भाई यागेश मेरे घनिष्ठ मित्र और साथी बने।

5, 7 दिनों में मेरा और लोगों का भी कौतूहल शान्त हो गया। फूफा महादेव पंडित संस्कृत व्याकरण के प्रौढ़ विद्वान् थे। उन्होंने महाभाष्यान्त व्याकरण पढ़ा था, और पढ़े ग्रंथ बहुत कंठस्थ थे। उनके पास काफी खेत और अन्न-धन था, अतएव उनके लिए अपनी विद्या का और कोई उपयोग आवश्यक न था। वे वहीं अपने द्वार पर विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाया करते। ज्यादातर विद्यार्थी सारस्वत, चंद्रिका, मुहूर्तचिन्तामणि के होते थे, किन्तु कितने ही सिद्धान्तकौमुदी भी पढ़ते थे। फूफाजी आसपास के गाँवों से विद्यार्थियों को 'मुठिया' अन्न मिलने का प्रबन्ध भी करा देते थे, किन्तु जहाँ आधी चौथाई सिद्धान्तकौमुदी समाप्त हुई, कि विद्यार्थी बनारस दौड़ जाते। बनारस का नजदीक रहना महादेव पंडित की पाठशाला की उन्नति में भारी बाधा थी।

सप्ताह बीतते-बीतते फूफा ने मुझे भी सारस्वत पढ़ाना शुरू कर दिया "नत्त्वा सरस्वतीं देवीं" और आगे का पन्ना भी मैंने कंठस्थ कर डाला। स्मरणशक्ति मेरी बहुत तीव्र थी, फूफा चाहते थे कि मैं संस्कृत पढ़ूँ। मैं सोचता हूँ–काश ! मैं फूफा के यहाँ पढ़ने को छोड़ दिया जाता। संस्कृत खूब पढ़ता। ग्रंथ सारे कंठस्थ होते, क्योंकि अभी

यह धारणा मुझे नहीं हुई थी, कि रटना बुरी चीज है। तो क्या सिर्फ संस्कृत पढ़ने के कारण मैं विचार स्वातन्त्र्य से वंचित न हो जाता ? नहीं कह सकता। बनारस तो जाता ही, शायद वहाँ किसी चौरस्ते पर पड़ जाता। बछवल में खेल-कूद की आजादी थी। फूफा के घर से पूरब एक कुआँ था, जिसका पानी दो पुर नाधने पर भी नहीं कम होता था। मेरे बाल-साथी बड़ी गम्भीरतापूर्वक मुझे समझाते थे–'इस कूएँ का जब खाँखर काटा गया, तो इतना पानी भीतर से चला कि खोदनेवाले आदमियों को जब तक रस्से से खींचकर बाहर निकाला जाय, तब तक पानी बढ़कर कूएँ के मुँह पर पहुँच गया।' मैं साँस रोककर बोल उठा–'कूएँ के मुँह तक !' साथियों ने बतलाया–'फिर पूजा की गई। सोते के मुँह को रजाई और चक्की के पाट से बन्द किया गया, जब जाकर पानी रुका।' मैं समझता था, यदि यह सब इन्तिजाम न किया गया होता, तो पानी मुँह से निकल खेतों को डुबाता, और फिर बाढ़ बनकर सारे गाँव का सत्यानाश कर देता।

महीना बीतते-बीतते पन्दहा का सन्देश कनैला होकर बछवल पहुँचा–नानी का आदमी इन्तजार कर रहा है, पन्दहा जाना है। नये मित्रों के बिछुड़ने का अफसोस जरूर हो रहा था, किन्तु पन्दहा में भी नानी की शीतल गोद और मधुर स्नेह प्रतीक्षा कर रहा था, वहाँ भी दलसिंगार जैसा बालसंघाती मौजूद था।

पन्दहा पहुँचने पर मालूम हुआ, पिछले हैजे में गाँव के दस-बारह आदमी मरे। दलसिंगार बच गये। देवी एक स्त्री के शिर पर आकर बोली–"मैं तो रास्ते-रास्ते जा रही थी, यही दोनों लड़के मुझे यहाँ लाये। खैर ! इन्हें छोड़ दूँगी, किन्तु गाँव से बिना कुछ लिये नहीं जाऊँगी।" शायद उसी बीमारी में दलसिंगार के चचा ने भगवती के मन्दिर की स्थापना की मिन्नत मानी।

दलसिंगार से मैं मिल आया। वह अभी भी कमजोर था। दो-चार दिनों बाद मुझे मदरसा जाना पड़ा, लेकिन इस जाने में वह उत्साह न था, क्योंकि दलसिंगार की माँ ने यह कहकर उससे पढ़ना छुड़वा दिया–'मेरे दो जेठ इसी घर में से एक खाट पर उठकर गये। उनकी पढ़ी पोथियों का ढेर अब भी उस घर में रखा है। जाने दो बच्चा, हमारे घर पढ़ना नहीं सहता, तुम जीते रहो यही बहुत है।'

दलसिंगार को जबर्दस्ती रोका गया था। मैं उसकी क्या सहायता कर सकता ? बीच-बीच में हम मिल लिया करते, लेकिन अब वह साथ पढ़ने-खेलने और चलने का आनन्द नहीं था।

मदरसे के मेरे एक सहपाठी शोभितलाल थे। और उर्दू पढ़नेवाला दूसरा लड़का हमारे दर्जे में न था। दलसिंगार के स्कूल छोड़ने के बाद राजदेव पाठक और गाँव के पटवारी के पुत्र बसन्तलाल कुछ समय तक स्कूल के साथी मिले, किन्तु दोनों ही पढ़ने में कमजोर थे, ऊपर से बाबू पत्तरसिंह की छड़ी का खयाल आते ही सबकी रूह काँपने लगती। एक बार राजदेव ने अपने साथ मुझे भी हफ्ता-भर गैरहाजिर रखा। पहिले दिन खेलने में देर करके राजदेव ने–जो आयु में मुझसे काफी बड़े थे–कहा, अब जाने से मुंशीजी मारेंगे। बात ठीक थी, हम नहीं गये। दूसरे दिन तो अब दुहरी मार निश्चित थी। इस प्रकार हम लोग रोज घर से रानी की सराय पढ़ने जाते, और शाम को ठीक समय पर घर लौट आते। नाना कई दिनों के बाद रिश्तेदारी से लौट रहे थे। उन्होंने सोचा, बच्चे को साथ ही लेते चलें। मदरसे में मुंशीजी से पूछा, तो मालूम हुआ, वह तो हफ्ते-भर से आता ही नहीं। घर आकर नानी से पूछा, तो जवाब मिला–वह तो रोज नियम से पढ़ने जाता है। नाना पता लगाने निकले; उधर साथ खेलनेवाले लड़कों से मुझे भनक मिल गयी। मैं नानी की गोद में जाकर छिप गया। नाना बाँस की हरी पतली छड़ी लिये पहुँचे। उनके चिल्लाने ही से मेरी घिग्घी बँध गयी, ऊपर से उन्होंने चार-पाँच छड़ी दीवार पर पटकीं भी। दूसरे दिन बाबू पत्तरसिंह के दरबार में पहुँचाया गया। नाना के लौट आने पर उनकी पाँच-सात छड़ियाँ ठीक शरीर पर बरसीं।

बाद में गाँव के पटवारी के लड़के बसन्तलाल शायद साथी मिले। मंत्र उनका भी वही था। पहिले दिन देर की और फिर घर से पढ़ने के लिए जाकर, रानी सागर से थोड़ी दूर पर एक उजड़े नील के गोदाम के हौज में हम छिपे रहते। पता लगा, मार पड़ी। लेकिन अब ऐसे साथियों की सलाह से मैं चौकन्ना रहने लगा।

अकेले स्कूल जाने के दिनों की एक घटना है। कुत्ते से मैं बहुत डरा करता था। हमारे सड़क के रास्ते पर कुछ दूर हटकर एक चमारटोली थी। वहाँ एक जबर्दस्त कुत्ता था, जिससे मैं बहुत भय खाता था। और दिन तो

किसी और यात्री के साथ निकल जाता, एक दिन संयोग से मैं अकेला एक ओर से आया। और दूसरी ओर से वही कुत्ता। सड़क के मुड़ाव और ऊख के खेतों के कारण हमने एक दूसरे को नहीं देखा। मुझे देखकर कुत्ता भूँका–इसका मुझे स्मरण नहीं। मैं तो अपने को साक्षात् यमराज के मुँह में समझ रहा था, इसीलिए जी पर खेलकर कुत्ते पर हमला कर बैठा। वस्तुतः हमला करने के लिए भी मेरे पास न डंडा था न ढेला। मैं उसके ऊपर चढ़ बैठा। शायद कुत्ते का मुँह मेरे हाथ में था। खैर, एक-दो पटखनी मैंने खुद खाई और उसे भी दी। मालूम होता है, कुत्ता मुझसे भी अधिक भयभीत हो गया था, और हाथ ढीला होते ही वह निकल भागा। कुत्ते को पछाड़ने का मुझे अभिमान कहाँ होता, मेरा तो कलेजा अब भी धकधक कर रहा था। खैरियत हुई, कुत्ते ने कहीं काटा नहीं।

आज तक रानी की सराय का स्कूल लोअर-प्राइमरी चला आया था। बाबू पत्तरसिंह के समय लड़के बढ़े, जिसका सारा श्रेय लोग उन्हीं को देते थे। वस्तुतः इस समय गाँवों में शिक्षा बढ़ने लगी थी। रानी की सराय में बालगोविन्द पंडित एक सज्जन रहते थे। उनका मकान ठीक सड़क पर पड़ता था। पहिले से लाग-डाँट होने के कारण, उन्होंने एक अपना अलग स्कूल खोल दिया, या स्कूल खोलने के कारण बाबू पत्तरसिंह से उनकी लाग-डाँट बढ़ी। बालमुकुन्द पंडित के स्कूल में 25, 30 लड़के पढ़ते थे, इससे मालूम होता है, शिक्षा की ओर बढ़ती रुचि ही विद्यार्थियों के बढ़ने में कारण हुई। हमारा स्कूल डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का था, और सरकार का उस पर वरदहस्त था, जब कि बालमुकुन्द का स्कूल उनके बलबूते पर चल रहा था। बालमुकुन्द पंडित कुछ अँगरेजी भी जानते थे, इसलिए भी उनको विद्यार्थी मिलने में सुभीता हुई। शायद वह स्कूल बाबू पत्तरसिंह के मृत्यु तक जारी रहा।

खैर, बाबू पत्तरसिंह के आने से एक फायदा तो हुआ, कि रानी की सराय का मदरसा अपर प्राइमरी हो गया। एक दूसरे अध्यापक मुंशी अब्दुल्कदीर नायब मुदर्रिस बनकर आये।

6
पहिली यात्रा

पढ़ने का काम मेरे लिए बिलकुल मुश्किल न था। वस्तुतः 4 मास की पढ़ाई के लिए मेरे बारह मास यों ही बरबाद किये जा रहे थे। नाना को गप-शप की बहुत आदत थी, यह कह ही आया हूँ। घर में भी रहते वक्त, विशेषकर फुरसत के वक्त–और वह उनके पास काफी था, उन्हें देखना था, सिर्फ श्रोता को क्योंकि उसके बिना बात की नहीं जा सकती–नाना की पुरानी आप-बीतियाँ शुरू होतीं। जैसे निद्रित या मूर्छित अवस्था से बात का ताँता शुरू हो, और आदमी को मालूम न हो कि बात कब शुरू हुई, उसी तरह मेरे भी होश सँभालने से पहिले से वह कथाएँ होती चली आ रही थीं, और कब से मैंने नाना की कथाएँ सुननी शुरू कीं, इसका मुझे पता नहीं। जाड़े के दिनों में रात के वक्त खाना खा लेने के बाद आग के सामने ही बड़ी रात तक कथाएँ होतीं। सोने के समय भी उनका समय था। दोनों ही वक्त या तो नाना की बगल में या उनकी गोद में, मैं बैठा रहता। कहानियों के सुनने में जितना रस आता, उससे कम नाना की शिकार और यात्रा की बातों में न था। भारत के भूगोल को पढ़ने का मुझे पीछे मौका मिला, किन्तु कामठी-अकोला-बुल्डाना-औरंगाबाद-बम्बई-शिमला ही नहीं, कोचीनबन्दर और कौन-कौन पचासों नाम मैं सुन चुका था। सब मुझे याद थे। वस्तुतः भूगोल पढ़ने में नाना की ये ही कथाएँ दिलचस्पी पैदा करने का कारण हुईं। इन कथाओं में जहाँ व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न प्रान्तों और उनकी भाषाओं का जिक्र आता, वहाँ भूमि के प्राकृतिक स्वरूप का भी जिक्र होता। बाघ के शिकार में अर्दली होकर नाना बराबर अपने कर्नेल के साथ जाते थे। कैसे जंगलों और पहाड़ों में बाघ रहता है ? कैसे स्वच्छन्द बाघ-परिवार किलोलें करता

है ? बाघ के शिकार में कितना तरद्दुद और जोखिम उठाना पड़ता है ?–इन बातों के जानने का उनकी बातों में काफी मसाला होता था।

नाना की पल्टन हैदराबाद की जालना छावनी में थी। नाना कई बार अजन्ता, एलौरा, और औरंगाबाद की गुफाओं का दूसरे नामों से वर्णन करते। एलौरा और अजन्ता की गुहामूर्त्तियों के बारे में उनका कहना था–रामजी वनवास को जायेंगे यह खयाल कर विश्वकर्मा ने पहाड़ काटकर ये महल बनाये, कि इनमें देवता लोग वास करेंगे, और रामजी को वनवास में कष्ट न होगा; किन्तु महल बनाकर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्मा को खबर देने गये, तब तक राक्षसों ने आकर उन महलों में डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्मा ने देखा, उन्हें बहुत क्रोध आया; और शाप दिया–जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। नाना की परम्परा के अनुसार अजन्ता-एलौरा की गुहामूर्त्तियाँ वही पथराये राक्षस हैं। वे बड़ी गम्भीरता से भौंहों को तानकर नानी से कहते–"जो राक्षस जहाँ जैसे रहा, वह वैसा ही वहाँ पत्थर हो गया। शराब पीनेवाले की बोतल वैसी ही हाथ और मुँह में लगी रही। नाचनेवाले वैसे ही नाचते रहे। सोने-बैठनेवाले वैसे ही सोये-बैठे रहे। आज भी देखने से मालूम होता है, अभी उठकर बोल देंगे।' नानी प्रोत्साहन दे कहतीं–"क्या जाने शाप छूट जाये, तो वे फिर जिन्दा हो जावें।"

पन्दहा में एक और व्यक्ति थे, जिनकी बातें सुनने में मुझे बड़ा मजा आता था, वह थे जैसिरी (जयश्री पाठक)। थे तो वह काने, और ऐसे आदमी को जरा-सी बात में भी काना कहकर ताना मारना लोगों को आसान मालूम होता है, किन्तु जैसिरी[1] के बारे में वैसा कहते मैंने किसी को नहीं सुना। घुटने तक की साफ धोती, देह पर या शिर में बँधा एक वैसा ही साफ अँगोछा, पैर में बाधा-खड़ाऊँ, हाथ में बाँस का छाता या डंडा लिये उनकी पतली, किन्तु स्वस्थ सबल मूर्ति अब भी मेरे सामने है। जिस समय की बात मैं कर रहा हूँ, उस वक्त वह 40 से ऊपर के हो चुके थे; किन्तु बचपन से अब तक वह बराबर चरवाही करते चले आये थे, और आगे भी करते रहे। इसीलिए मैंने जब भी उनको देखा, चरवाहे लड़कों की ही मंडली में। कहानियाँ उन्हें बहुत याद थीं, और वर्षों से जिस तरह के श्रोताओं को वह सुनाई जा रही थीं, उससे मँजी-तुली और मनोरंजक बन गई थीं। नाना तो मुझे सदर-आला या डिप्टी-कलेक्टर बनाना चाहते थे, इसलिए घास छीलने या भैंस चराने का मौका क्यों देने लगे ? तो भी किसी न किसी बहाने मुझे दो-चार बार जैसिरी की मंडली में शामिल होने का मौका जरूर मिला। चरवाही से छुट्टी रहने पर जैसिरी को कभी-कभी रामायण का अर्थ करते भी मैंने सुना था। कुल्हाड़ में आग तापते हुए भी उनकी बातें मैंने सुनी थीं। उस समय इस असाधारण प्रतिभा के धनी किन्तु अवसर से वंचित व्यक्ति को, एक मनोरंजक आदमी के तौर पर जानता था, किन्तु अवसर मिलने पर वह क्या बनता, इसका खयाल कर अफसोस तो दुनिया देख लेने पर होने लगा।

शायद 1902 के ही अप्रेल में मेरा जनेऊ हुआ। आमतौर से हमारे परिवार में धूमधाम से जनेऊ हुआ करता था। मंडप बनाया जाता, कलशा सजाया जाता; आम के नये पीढ़े और पट्टी–लिखने की–तैयार की जाती; पंडित आते; देर तक देवताओं की पूजा और मन्त्रोच्चारण होता, लड़के को धोती-लँगोटी पहना, कन्धे पर मृगचर्म बाँध, हाथ में पलाश का दंड दे "काशी पढ़ने के लिए भेजा जाता", हाँ, और चन्द ही मिनटों बाद उसी मंडप के एक कोने से यह कहकर लौटा लिया जाता–चलो लौट चलो, तुम्हारा ब्याह कर देंगे।

मुझे बहुत असन्तोष हुआ, जब सुना कि मेरा जनेऊ गाने-बजाने, धूम-धाम के साथ घर पर नहीं बल्कि विन्ध्याचल में होगा। माँ ने या किसी ने दीर्घायु होने के खयाल से वैसी मिन्नत मानी थी, इसलिए दूसरा करके विन्ध्याचल की जागता देवी के कोप का भाजन कौन बनता ? लाचार, एक दिन मेरे चचा प्रताप पांडे–वह मेरे पिता से छोटे थे–मुझे पन्दहा लिवाने आये। अप्रैल का महीना था, गर्मी थोड़ी-थोड़ी शुरू हुई थी। पहिले हम लोग कनैला गये, वहाँ से 14 मील चलकर सादात स्टेशन। कह नहीं सकता, उस वक्त तक रानी की सराय रेल पहुँच गई थी। सम्भवतः रेल के लिए जमीन नप गई थी। मैंने रेल की सवारी अभी तक नहीं की थी। सादात हम दो ही तीन बजे दिन को पहुँच गये थे, और रेल सूर्यास्त के बाद आनेवाली थी। चचा के पास एक गठरी, कम्बल, लोटा-डोर

1. देखो मेरी कहानी, 'जैसिरी' ('सतमी के बच्चे')।

के अतिरिक्त हाथ में सेर-डेढ़ सेर गाय का घी मिट्टी के बर्तन में था। गाय के घी ही में पूड़ी पकाकर विन्ध्याचल में ब्रह्मभोज कराना था। शाम को सादात के पोखरे पर–स्टेशन के पास ही–चचा ने दाल-बाटी बनाई, शायद आलू का भर्ता भी था। भोजन हुआ। गाड़ी आने पर सवार हुए। भीड़ थी या नहीं इसका मुझे स्मरण नहीं, यह भी याद नहीं कि रेल के 'चलते हुए घरों में' बैठकर मुझे क्या-क्या खयाल आ रहा था।

रात थी जब हम अलईपुर (बनारस शहर) स्टेशन पर उतरे। शहर में घुसने से पहिले चुंगीवाले ने घेरा। और भी बहुत-से दिहाती मुसाफिर थे। कुछ देर इन्तिजार करने के बाद हमारी बारी आई। पोटरी खोलकर देखी गई, शायद घी पर कुछ चुंगी लगी। पिता के मामा ईसरगंगी पर एक छोटे-से वैरागी महन्थ थे, वहीं हम लोग ठहरे।

बनारस से विन्ध्याचल तक की सभी बातें क्रमशः याद नहीं हैं। ईसरगंगी मठ में आते-जाते दोनों बार हम ठहरे थे। अब तक रानी की सराय ही मेरे लिए शहर था। वहाँ के लड़कों को एक खूँट एड़ी, और दूसरा फांड घुटने तक रखकर धोती, नाखूनी किनारे की बूटेदार टोपी पहिने देख, मैं उन्हें नागरिकता का चरम नमूना समझता था। हम दिहातवाले जिसे 'धरना' कहते थे, उसे रानी की सराय के हमारे साथी 'पकड़ना' कहते, और इसे हम पूर्ण नागरिक भाषा की बानगी समझते थे। फिर अब छोटे-मोटे शहरों से न गुजरकर सीधा बनारस जैसे महान् नगर में पहुँच जाना–मेरे लिए बड़े कौतूहल की बात थी। मीलों चली गई उसकी सड़कें, गलियाँ और उनके किनारे के आलीशान मकान–जिनकी ऊपरी छत को देखने में बाबू पत्तरसिंह के कथनानुसार शिर की पगड़ी गिर जाती थी–मेरे लिए बिलकुल दूसरी दुनिया की चीजें थीं। सबेरे चचा मुझे ले पंचगंगा घाट नहाने गये। गंगा जैसी बड़ी नदी पहिले-पहिल देखी, और फिर उस पर के पत्थर के घाट, जिनकी सीढ़ियाँ उतरने में खतम ही नहीं मालूम होती थीं। शायद हमारे साथ मठ का कोई साधु भी था, क्योंकि चचा जैसे अटट दिहाती के साथ घाटियों की छीना-झपटी का मुझे स्मरण नहीं है। चचा ने हाथ पकड़े हुए मुझसे गंगा में डुबकी लगवाई। विश्वनाथ और अन्नपूर्णा का दर्शन हुआ। फिर चौक के रास्ते जब लौट रहे थे, तो वहाँ मैंने किसी बिसाती की चद्दर पर शीशा, कंघी और क्या-क्या चीजों के साथ लिथों में छपी कुछ उर्दू की पुस्तकें देखीं। शायद चचा भी वहाँ से कुछ खरीद रहे थे। मैंने देखा कि उन किताबों में कुछ किस्से और कुछ उर्दू हरफ़ में छपे तुलसीकृत रामायण के भिन्न-भिन्न कांड थे। चचा ने दो या चार पैसे में एक-दो किताब मेरे लिए खरीद दी, लेकिन मेरी इच्छा उतने से पूरी होनेवाली नहीं थी।

दूसरे दिन सबेरे, चचा मुँह धोने या किसी से बात करने में लगे थे, मैं चुपके से निकला। मठ के दरवाजे से बाहर वह पत्थर का शेर था, जिसके लिए पिछले सालों हिन्दू-मुसल्मानों का झगड़ा होने लगा था; और अब वह कठघरे के अन्दर चबूतरे पर रखा है। उस वक्त उस शेर को कोई नहीं पूछता था, रास्ते की बगल में आधा धरती में दबा और आधा ऊपर पड़ा हुआ था। वहाँ से होते सड़क पर आया, और फिर सीधे चौक। रास्ते में कई जगह मुड़ना था, किन्तु मालूम होता है, वह सारे मुड़ाव मेरे दिमाग पर नक्श थे। मैंने न खिलौने लिये, न मिठाई, सीधे जा बिसाती से दो-दो पैसे में पाँच या सात किताबें खरीदीं, और फिर लौट पड़ा। दो तिहाई रास्ता पार करके जब मैं आ रहा था, तो चचा हैरान-परेशान मिले। लोग बहुत शंकित हो उठे थे। बनारस जैसे 'राँड़-साँड़-सीढ़ी-संन्यासीवाले' शहर में एक दिहाती भटकते लड़के के लिए और दूसरी आशा ही क्या हो सकती ? मार नहीं पड़ी, सिर्फ डाँटे ही भर गये, चचा के लिए खोये लड़के का मिल जाना ही भारी प्रसन्नता की बात थी।

एक तरह मेरी साहसपूर्ण यात्राओं का क-ख यहीं से शुरू हुआ।

राजघाट के पुल-पार का मुझे स्मरण नहीं। मुगलसराय में गाड़ी बदलने का कुछ खयाल जरूर है। विन्ध्याचल में स्टेशन से उतरकर हम अपने पंडे के पास गये। बस्ती के बारे में मुझे इतना ही याद है, कि वहाँ की कितनी ही दीवारें मिट्टी की जगह पत्थर की ईंटों की थीं। विन्ध्याचल की भगवती दिन में तीन रूप धारण करती हैं–सबेरे बालिका, दोपहर को तरुणी, शाम को वृद्धा। मालूम नहीं मुझे भगवती के किस रूप का दर्शन मिला। मन्दिर में उत्कीर्ण अक्षरवाले कितने ही बड़े-बड़े घंटे टँगे थे। पास के आँगन में बलि दिये बकरों के खून की पॉक-सी पड़ी

हुई थी।

भगवती के नाबदान में नया जनेऊ डुबोया गया, और मेरे गले में डाल दिया गया। बस जनेऊ की विधि समाप्त।

लौटकर हम बनारस में फिर ईसरगंगी मठ में ठहरे। मठ में एक गुफा है। लोग बतला रहे थे, यह पतालपुरी गुफा है, इस रास्ते आदमी पतालपुरी पहुँच जाता है; किन्तु आजकल सरकार ने भीतर से रास्ते को बन्द कर दिया है, सिर्फ बाहर से दर्शन होता है। बाहर से दर्शन मैंने भी किया। मठ की एक कोठरी में 14-15 वर्ष की उम्र का एक संस्कृत का विद्यार्थी रहता था। उसने वहाँ की बातों का परिचय देने में मेरी बड़ी सहायता की। मठ में तो पानी का नलका नहीं था, किन्तु सड़क पर शेर के मुँहवाले नलकों को मैंने देखा था। मेरा साथी बतला रहा था, है तो गंगाजल ही, किन्तु उसके पानी से धर्म चला जाता है, क्योंकि उसके भीतर चमड़ा लगा हुआ है। उसने 'ओले' का शर्बत पिलाया, सचमुच ही वह बहुत मीठा और ठंडा मालूम हुआ। मठ के हाते में पीछे की ओर इमली के वृक्षों के नीचे कुछ स्त्री-पुरुष रेशम का ताना-बाना करते थे। उन्होंने कुछ टूटे धागे मुझे दिये थे, और उन रंगीन चमकते धागों को मैं अपने साथ घर ले आया था। मठ की बगल में जगेसरनाथ का मन्दिर था। उनकी विशाल-पिंडी का दर्शन करते वक्त मुझे बतलाया गया, कि बाबा हर साल जौ-भर मोटे हो जाते हैं।

बनारस से हम दिन की गाड़ी में लौटे थे, इसलिए सारनाथ पार होते लोगों के इशारा करते वक्त मैंने भी 'लोरिक की धमाक' (धमाक स्तूप) को देखा। लोरिक अहीर का नाम शायद मैं सुन चुका था। लोग बतला रहे थे, लोरिक दोनों हाथों में दो घड़ा भैंस का दूध दुहकर एक धमाक (चौखंडी) से दूसरे पर कूद जाता था।

लौटकर मैंने अपने स्कूल में अपने से अगले दर्जे के लड़के राजाराम–जो रानी की सराय के डाक-मुंशी का बेटा था, और अँगरेजी अक्षर लिख लेता था–से पूछा, कि ईसरगंगी के विद्यार्थी मित्र को मैं कैसे पत्र भेज सकता हूँ। उसने बड़ी संजीदगी के साथ पूछा–पता बनारस छावनी है या शहर ? मुझे नहीं याद मैंने उसका क्या जवाब दिया। उसके बताये अनुसार एक पोस्टकोर्ड–जिसका दाम उस वक्त एक पैसा था–मैंने भेजा जरूर, किन्तु उसका जवाब कभी नहीं आया, शायद वह पहुँचा भी नहीं।

7

रानी की सराय की पढ़ाई (2)

1903 ई. में शायद रेल रानी की सराय आ गयी थी। मेरे सहपाठी सेठबल के शोभितलाल का बहुत-सा खेत रेल में चला गया। नील का उजड़ा गोदाम, छोटी पोखरी, उसके किनारे के आम के वृक्ष और कितने ही खेत अब भी उनके पास थे। शोभित के दादा आम के दिनों में उनकी रखवारी किया करते थे। मदरसा छोड़ने पर वहाँ तक अक्सर मेरा और शोभित का साथ रहता। जाड़े के दिन बड़े सुहावने लगते थे। ऊख, साग, छीमी खेतों में मौजूद थीं। रानी सागर के भींटे से लगे रेल की सड़क के पास रानी की सरायवालों के मटर के खेत थे। फलियाँ खाने लायक हो गयी थीं। दो लड़कियाँ हमारी ही उमर की खेत की रखवाली करती थीं। हम भींटे की आड़ से पहिले झाँकते, फिर गफ़लत में देखकर खेत पर टूट पड़ते और खेत में सरपट भागते, छीमी तोड़ते कई फेरा कर डालते। लड़कियाँ हमारे पीछे-पीछे दौड़तीं, और हमें न पकड़ पातीं, वह बनावटी क्रोध दिखलातीं। फ़सल कट जाने पर लड़कियाँ खेत पर न आतीं, लेकिन द्वार से गुजरते वक्त वे पहचानतीं और खुश होतीं। सलाम, बन्दगी, हाथ उठाने या टोपी उठाने की कोई प्रथा तो थी नहीं, देखकर मुख पर हँसी की रेखा ला देना, बस यही अभिवादन-प्रत्यभिवादन होता।

क्वार-कातिक के महीने मलेरिया के महीने थे। लड़कपन में प्रायः हर साल मुझे जूड़ी आती। क्विनैन को लोग बुरा समझते, इसलिए नानी भटवास की जड़ को पीसकर गरम जल के साथ देती थीं। ज्वर के कारण वैसे

ही मुँह का स्वाद खराब रहता, ऊपर से अरहर के दाल का 'जूस' (रस) पीने को दिया जाता। दाल तो मुझे स्वस्थ रहते वक्त भी विष मालूम होती, फिर बीमारी में कैसे पसन्द आती ? मैंने भी एक तरीका निकाल लिया था। पेट दर्द का बहाना करके छटपटाने लगता, नानी घबराकर उपचार करने आतीं। उनसे सिर्के का लहसुन माँगता। नानी भूल जातीं, कि पेट के दर्द के लिए सिर्के का लहसुन अच्छा होते भी जाड़ा-बुखार में हानिकारक है। फल होता, ज्वर छूटने के साथ तिल्ली का बढ़ना। ज्वर छूटते ही फिर स्कूल। अब दोपहर के खाने को भुना हुआ चना या दूसरा दाना नहीं दिया जाता, बल्कि घर की बनी पूड़ी मिलती, जो अक्सर मीठी होती थी। नानी को इतना ही मालूम था, कि घी की पूड़ी में ताकत होती है, और ताकत आने पर तिल्ली दब जाती है। तिल्ली पन्दहा में कम खतरनाक बीमारी न थी। सतमी का लड़का सुद्धू और हमारे कुछ दिनों के स्कूल के साथी सम्पत् तिल्ली से ही मरे थे।

नाना ने मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इसलिए उनके भतीजों, विशेषकर बड़े भाई के लड़कों को बुरा लगना स्वाभाविक था। कभी-कभी दोनों घरों में कहा-सुनी भी हो जाती। मुझे ये बातें कुछ विचित्र-सी मालूम होतीं, और दुःख इसलिए होता कि जेठे नाना के घर मेरा जाना कुछ दिनों के लिए रुक जाता। वहाँ मेरी पाँच मामियाँ थीं, जिनमें सबसे छोटी–रामदीन मामा की प्रथम स्त्री–मुझे बहुत मानती थीं, और मैं अक्सर इन मामी साहिबा के दरबार में हाजिर हुआ करता। उस वक्त मुझे यह भी मालूम नहीं था, कि भांजे को मामी से मजाक करने का हक है। यह बात तो पीछे छोटी नानी से मालूम हुई, जब फागुन के दिनों में मैं उनके आँगन में सूरजबली मामा की स्त्री के पास चुपचाप बैठा था। छोटी नानी ने कहा–'आधी मामी आधी जोय। पद लागे तो सवरो होय।'

8

रानी की सराय की पढ़ाई (3)

1903 ई. में मैं दर्जा 2 पास हो गया। दर्जा 3 की नयी पुस्तकें पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि वे पहिले से संख्या में अधिक और मोटी थीं।

इसी साल की पाठ्य पुस्तक (मौ. इस्माईल की उर्दू की चौथी किताब) में मैंने नवाजिन्दा बाजिन्दा की कहानी (खुदराई का नतीजा) पढ़ी। उसमें बाजिन्दा के मुँह से निकले, "सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ। ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ"–इस शेर ने मेरे मन और भविष्य के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला, यद्यपि वह लेखक के अभिप्राय के बिलकुल विरुद्ध था।

1904 की जनवरी से फिर मैं उसी तरह रानी की सराय पढ़ने जाता। शायद इसी साल, दो साल की प्रतीक्षा के बाद दलसिंगार को फिर पढ़ने की इजाजत मिली। दलसिंगार अब मुझसे दो दर्जा नीचे थे, और हम टाट पर दो जगह बैठते थे। तो भी रास्ते में आते-जाते तथा घर पर हमें अधिक साथ रहने का मौका मिलता था, हम दोनों को इसके लिए बड़ी प्रसन्नता थी। किन्तु यह प्रसन्नता देर तक नहीं रही। कुछ ही महीने बाद शायद बरसात के अन्त में दलसिंगार सख्त बीमार पड़ा। मैं हर रोज देखने जाता। कौन बीमारी थी, यह मुझे मालूम नहीं। आखिरी दिनों में मैंने देखा, उसका मुँह बहुत सूज गया है, और आँखें सूजन में ढँक गयी हैं। जब दरवाजे पर पहुँचता, तो दलसिंगार की माँ मुझे दौड़कर भीतर ले जातीं। शायद उन्हें मालूम था कि बीमारी बहुत सख्त है। शायद उनको विश्वास था कि उनके घर में विद्या नहीं 'सहती' और जो गति उनके दो पढ़े-लिखे देवरों की हुई, वही दलसिंगार की भी होनेवाली है। वह जानती थीं, कि जब मैं दलसिंगार के पास रहता हूँ, तो वह अपने दर्द को भूल जाता है।

दलसिंगार आखिर चल बसा। इसी वक्त सर्वप्रथम मुझे मृत्यु के चोट का अनुभव हुआ। मैं रोता नहीं था, बल्कि मेरे हृदय में एक तरह की असह्य एकान्तता का अनुभव होता था। मेरे दिमाग में मौत के बारे में

तरह-तरह के खयाल पैदा होते थे।—मरकर दलसिंगार गया कहाँ ? अगर कहीं गया है, तो क्या मैं उससे मिल नहीं सकता ?

रेल और प्लेग का चोली-दामन का सम्बन्ध है, यह धारणा गाँव के लोगों में आम पायी जाती थी, और उसी की पुष्टि हुई, जबकि 1904 के अक्तूबर-नवम्बर में रानी की सराय में चूहे गिरने लगे। चूहों को फूँक देना, घर को छोड़ देना—आदि-आदि बातों की हिदायत सरकार की ओर से छपकर पुलिन्दे के पुलिन्दे हमारे स्कूल में बाँट देने के लिए आते थे। बाबू पत्तरसिंह ने स्कूल को हटाकर दो मील उत्तर रेल की सड़क पर के गाँव मैनी में ले जाना तै किया। इतने लड़कों के बैठने लायक वहाँ मकान कहाँ से मिले। जाड़ों का दिन था, पढ़ाई खुले आसमान के नीचे होती थी। उसी समय रमजान पड़ा, और हमारे नायब-मुदर्रिस मुंशी अब्दुल्कदीर सूर्यास्त के समय दातुवन करते देखे जाते। पन्दहा में भी प्लेग आ गया था, इसलिए मुझे मैनी ही में रहना पड़ता। यहीं पहिले-पहिल अपने हाथ से खाना बनाने और दाल खाने की नौबत आयी। मेरी दाल कभी भी गलती न थी, लेकिन न जाने वह क्यों बहुत मीठी मालूम होती थी।

ब्याह में जेठे भाई की जरूरत होती है, क्योंकि ब्याह की विधि में ज्येष्ठ द्वारा दुलहिन के गले में एक लाल-सूत (ताग-पाट) डालना आवश्यक है। यागेश कुछ महीने मुझसे छोटे थे, इसलिए उनके ब्याह में यह रसम मुझे अदा करनी थी। बारात देखी तो मैंने जरूर थी, किन्तु बाराती बनकर जाने का यह मेरे लिए पहिला अवसर था। जिस समय मैं मैनी में पढ़ रहा था, उसी वक्त बछवल में यागेश का 'तिलक' चढ़ा। ससुरालवाले वैभव दिखलाने के लिए अपने साथ दो हाथी लाये। अब इसका जवाब देना बारात ले जानेवालों के लिए जरूरी हो गया। महादेव पंडित ने अपने भतीजे की बारात में जितने हाथी हो सके, उतने ले आने के लिए अपने सम्बन्धियों के पास सन्देश भेजा। कनैला से जब सन्देश पन्दहा पहुँचा, तो नाना ने दो हाथी ठीक किये। मेरी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी, उन्हीं के साथ मैं पहिले कनैला, फिर जखनियाँ के पास बारात के गाँव पंडरी गया। 21, 22 हाथी जमा हुए थे। बारात बड़े धूम की रही। लड़कीवालों ने भी खूब हौसला दिखलाया, और बारातियों को खाने-पीने की शिकायत नहीं हुई। मेरे लिए हाथियों का जमावड़ा, दर्जनों घोड़ों की घुड़दौड़, धूमधाम से द्वारपूजा, दो रात नाच-गाना देखने-सुनने का मजा रहा। हाँ, जिन्दगी में पहिले-पहिल इसी वक्त मुझे जूता पहिनने को मिला था। ठोक-पीटकर उसे अपने से ड्योढ़े पैर के लिए बनाया गया था, और उसने दस ही मिनट चलने पर आधे दर्जन जगहों में काट खाया। बारात में नंगे पैर घूमना इज्जत के खिलाफ था, इसलिए काटने में जो और भी कसर बाकी थी, वह भी पूरी हो गयी। यह सब हो जाने के बाद तीसरे दिन जब बारात विदा होनेवाली थी, तो एक जूता ही गायब। यागेश के चचेरे भाई और मेरी बुआ के बड़े लड़के रामेश बारात में सहबाला (शाहबाला) बनकर गये थे। रंडी के नाच-गाने और खासकर 'मिलन' के दिन की उसकी वीभत्स गालियों को तो मैंने भी सुना था, किन्तु रामेश उनमें एकाध कड़ी को कंठस्थ कर चुके थे, और बड़ी तत्परता से घर की स्त्रियों के सामने उन्हें राग से अलाप रहे थे। मैं तो शरम के मारे गड़ा जाता था।

बारात से लौटकर आने पर मालूम हुआ, बाबू पत्तरसिंह का प्लेग में देहान्त हो गया। शायद नायब-मुदर्रिस भी बदल गये थे, अब हमारे स्कूल में दो नये जवान अध्यापक आये थे, बड़े अध्यापक बाबू लालबहादुरसिंह नगरा (बलिया) के रहनेवाले थे, और उनकी बलियावाली 'रउआँ' वाली बोली हमें दूसरे द्वीप की भाषा मालूम होती थी। बाबू पत्तरसिंह जितने ही क्रोधी थे, बाबू लालबहादुरसिंह उतने ही शीतल थे, उनके मुँह पर सदा हँसी बनी रहती थी। हमें अफसोस यही था, कि वे स्थायी अध्यापक होकर नहीं आये हैं, क्योंकि वे नार्मल पास नहीं हैं। दूसरे अध्यापक का नाम याद नहीं, वह करहा के रहनेवाले योगी (मुसल्मान) थे, उनका ननिहाल निजामाबाद के पास पड़ता था, और पन्दहा के रास्ते में पड़ने से वे अक्सर नाना के घर आते रहते थे। वह भी मार-पीट बहुत कम करते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लड़के इस युगल जोड़ी को सदा बने रहने की प्रार्थना किया करते थे।

1904 की गर्मी चल रही थी। स्कूल की छुट्टी हुई, प्लेग अब भी चल रहा था। मुझे फिर कनैला जाना पड़ा, शायद एकाध मास के लिए। उस वक्त बछवल की बुआ भी कनैला आयी थीं, और रामेश तथा मैं धरवारा—तीन

मील से अधिक दूर–रोज पढ़ने जाया करते थे। यह सिलसिला ज्यादा दिन नहीं चला। मुझे फिर पन्दहा लौट जाना पड़ा। लेकिन वहाँ एक और मुसीबत पड़ी। मेरा ब्याह करने के लिए नाना की ससुराल के एक सज्जन एक बार आ चुके थे। नाना या नानी की शायद उन्हें अर्धस्वीकृति भी मिल चुकी थी, तभी तो हिम्मत करके अचानक–कम से कम मेरे लिए तो अवश्य–वे तिलक चढ़ाने के लिए आ पहुँचे। नाना शायद स्वयं असहमत थे, अथवा पिताजी की असहमति का उन्हें डर था, उन्होंने चुपके से मुझे कनैला भेज दिया। तिलक चढ़ानेवाले दूसरे दिन वहाँ जा धमके, और बहसा-बहसी के बाद कई घंटा रात चढ़े तिलक चढ़ा। उसी गर्मी में एक छोटी-सी बारात गई, और ब्याह भी हो गया। उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूँ, तो मालूम होता है, समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में इसने ही पहिला काम किया। 1908 ई. में जब मैं 15 साल का था, तभी से मैं उसे शंका की नजर से देखने लगा था, 1909 ई. के बाद से तो मैं गृहत्याग का बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस 'तमाशे' का थोड़ा-बहुत हाथ जरूर था। 1910-11 ई. से निश्चित तौर से मैं इसे अपना ब्याह नहीं कहता था।–ग्यारह वर्ष की अबोध-अवस्था में मेरी जिन्दगी को बेचने का घरवालों का अधिकार नहीं, यह उत्तर उस वक्त भी मैं अपने बुजुर्गों को दिया करता, जो कि ब्याह के प्रति अपना कर्त्तव्य मुझे समझाते। मेरा उस वक्त का ज्ञान बहुत परिमित था, तो भी मैं इसे घर और समाजवालों का अन्याय समझता था, और उसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार न था। 1909 के बाद घर शायद ही कभी जाता था, 1913 के बाद को तो वह भी खतम-सा हो गया, और 1917 की प्रतिज्ञा के बाद तो आजमगढ़ जिले की भूमि पर पैर तक नहीं रखा (1943 से पहिले)। किसी बाकायदा तिलाक से मेरा यह तिलाक–जो वस्तुतः अस्वीकृत अबोध विवाह के लिए जरूरी भी न था–कहीं बढ़कर था; और मैंने उसी रूप में लिया था, इसलिए मैं समझता हूँ, उक्त घटना–ब्याह–के लिए समाज की जगह मुझे जिम्मेवार ठहराना गलत होगा। मैंने उसे कभी न ब्याह समझा, न उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर मानी।

जून-जुलाई तक रानी की सराय के मदरसे की पढ़ाई अस्थिर-सी ही रही, क्योंकि प्रधानाध्यापक लालबहादुर सिंह अस्थायी थे, और उन्हें शायद छुट्टी भी जाना पड़ा। बरसात के शुरू में नये प्रधानाध्यापक मुंशी जगन्नाथराम आये। ये रानी की सराय के ही रहनेवाले थे। यद्यपि पहिले, पट्टावाले बालों, ऊपर की ओर सँवारी मूँछों के साथ धोती का एक फन्दा अँगूठे तक पहुँचते देख हमें बा. पत्तरसिंह याद आने लगे, किन्तु पीछे वे बहुत मुलायम स्वभाव के निकले।

रानी की सराय के मदरसे का आसपास के इलाके में खास स्थान था, खासकर रेल के स्टेशन हो जाने पर तो स्थान का महत्त्व और बढ़ गया। ऊँचागाँव, आँवक के लोअर-प्राइमरी मदरसे इसके हल्के में थे, और वहाँ के मुदर्रिस अपने यहाँ की रिपोर्टों को रानी की सराय के प्रधानाध्यापक के द्वारा ऊपर भेजते थे। उस वक्त का तो याद नहीं है, किन्तु बाबू द्वारिकासिंह के समय आँवक के इम्दादी मदरसे के अध्यापक एक काफ़ी उम्र के मौलवी थे। बगले के पर जैसा सफेद और हाथी के पैर समाने लायक उनका पायजामा, उसी तरह का साफ अचकन, बूटेदार सफ़ेद दुपलिया लखनऊ की टोपी, दिल्लीवाला नोकदार लाल जूता, यह सब खर्चीली चीजें तो थीं ही, साथ ही छोर पर तीन बल खाये तीन-चौथाई सन जैसे बालों का सँवारा पट्टा और आँखों में पतला सुरमा हम गँवार लड़कों के दिल में भी कुतूहल पैदा किये बिना नहीं रहता था। आँवक में कातिक शुक्ल षष्ठी (?) को मेला लगता था, शायद सूर्य का। एक बड़े ताल में लोग स्नान करते थे। मन्दिर और पूजा का मुझे याद नहीं, शायद मन्दिर नहीं था। गाँव में कितने ही मुसलमान सम्भ्रान्त परिवार थे, जिनमें से एक के घर उक्त मौलवी साहब रहते और लड़कों को पढ़ाते थे।

अपर प्राइमरी खुल जाने पर आसपास के कई स्कूलों के लड़के रानी की सराय पहुँचने लगे थे। दर्जा चार में लड़कों की संख्या तेरह-चौदह थी, जिसमें उर्दू का विद्यार्थी अकेला मैं ही था। शोभित शायद पिछड़ गये थे। सभी दर्जों में उर्दू पढ़नेवालों की संख्या बहुत कम ही होती थी। मुझे बाबू द्वारिकासिंह हों या पत्तरसिंह, लालबहादुर या जगन्नाथ सबके पास हिन्दीवाले लड़कों के साथ पाठ पढ़ते वक्त बैठा रहना पड़ता और उनके पाठ को सुनने का मौका मिलता था। लिखने का तो अवसर नहीं मिलता था, लेकिन सुनते-सुनते हिन्दी की पुस्तकों को भी मैं

वैसे ही समझ लेता जैसे अपनी उर्दू की; बल्कि हिन्दी की पुस्तकों को और अच्छी तरह समझता था; क्योंकि हमारे साथी प्रायः सभी अधिक हिन्दी-पठित और उर्दू से अल्पपरिचित थे।

सालाना इम्तिहान होता, तो रानी की सराय से उत्तर कुछ दूर पर पक्की सड़क के पूर्व के बाग में स्कूल के डिप्टी-इन्स्पेक्टर का शामियाना पड़ता। कभी-कभी कोई असिस्टेंट-इन्स्पेक्टर भी पहुँच जाते, नहीं तो डिप्टी-इन्स्पेक्टर ही इम्तिहान लेते। आसपास के कई स्कूलों के दूसरे और चौथे दर्जे के विद्यार्थी परीक्षा देने आते। कपड़े तो उनके ऐच्छिक होते, किन्तु कश्तीनुमा टोपी का खास रंग होता, और उसमें लड़के का नम्बर उर्दू या हिन्दी अंकों में सफेद पन्नी से काटकर चिपकाया रहता। जिस साल मैंने चौथे दर्जे (अपर प्राइमरी) का इम्तिहान दिया, उस साल शामियाना नहीं पड़ा था। शायद रेल के सुभीते ने यह परिवर्तन उपस्थित किया हो। जिले के डिप्टी इन्स्पेक्टर और दो-तीन सब-इन्स्पेक्टर पहिले ही दिन शाम को पहुँच गये थे। असिस्टेंट इन्स्पेक्टर बाबू व्रजवासी लाल आनेवाले थे। दस बजे की गाड़ी चली गयी, तो डिप्टी लोगों ने समझा अब वह नहीं आवेंगे, और उन्होंने हम लोगों का इम्तिहान लेना शुरू कर दिया। दो फेल बाकी सभी लड़के पास हुए, और ज्यादा लड़के तो 'कत्तई' (पूर्ण) पास।

व्रजवासीलाल, वस्तुतः, गाड़ी में सो गये थे। दो स्टेशन आगे जाने पर उनकी नींद खुली तो उतर पड़े, और दूसरी गाड़ी से 3 बजे के आसपास हमारे स्कूल में पहुँचे। व्रजवासीलाल अपनी कड़ाई के लिए काफी बदनाम थे, लेकिन किसी को यह आशा न थी, कि वह दुबारा परीक्षा लेने का आग्रह करेंगे। आते ही उन्होंने पहिले के परीक्षा फल को रद्द कर दिया और फिर से परीक्षा लेना शुरू किया। परिणाम बिलकुल उल्टा निकला। सारे दर्जे में सिर्फ़ दो लड़के पास हुए—मैं और गिरिधारीलाल, जिसमें गिरिधारीलाल भी शर्तिया या रियायती पास हुए थे। लड़कों में कुहराम मच गया, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी-शिक्षावली (चौथा भाग) शायद उस समय हमारे दर्जे की पाठ्य पुस्तक थी। व्रजवासीलाल के प्रश्न शब्दों के रटे हुए अर्थ के बारे में उतने न होते थे, जितने कि विद्यार्थी की चतुराई देखने के लिए। जिन प्रश्नों के उत्तर देने में मेरे दर्जे के लड़के चुप रह रहे थे, उनका उत्तर देने को मैं व्याकुल हो रहा था, यद्यपि मैं हिन्दी का विद्यार्थी न था। इसमें शक नहीं यदि मुझे हिन्दी में भी परीक्षा देने का मौका मिलता, तो मैं उसमें कत्तई पास हुआ होता।

खैर, परीक्षा समाप्त हुई। मैं अच्छे नम्बरों से पास हो गया, इसे सुनकर नाना-नानी को बहुत प्रसन्नता हुई। महावीरजी को अगले मंगल सवा सेर लड्डू चढ़ाया गया, वही महावीरजी जो रानी सागर के उत्तरी घाट पर रहते थे, और जहाँ पर दूर-दूर के साधु-सन्तों और मृदंग में रेल की आवाज निकालनेवाले उस्ताद मदनमोहन के दर्शनों का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सारे जिला के अपर प्राइमरी पास लड़कों की छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता की अभी एक और परीक्षा मुझे देनी थी, इसलिए इम्तिहान की छुट्टियों में कनैला जाने का अवसर न था। माँ छै-सात महीने से बीमार थीं। पहिले मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथ के जन्म के समय प्रसूत ज्वर हुआ, और वही आगे बढ़ते-बढ़ते पांडुरोग में परिणत हो गया। बीमारी में एक बार मैं जरूर देखने गया था, किन्तु तब अवस्था उतनी अब्तर नहीं हुई थी। मेरे पिता का स्वभाव था—जब जिसकी आवश्यकता पड़ी, तब उसी ज्ञान की प्राप्ति में जुट पड़े,—अब वह रसराज महोदधि पर पिले हुए थे, और शायद उन्होंने माँ को अपनी बनायी एकाध दवा खिलायी हो, तो भी तअज्जुब नहीं।

जनवरी (1906 ई.) का महीना था। प्लेग के कारण अबकी बार स्कूल रायपुर गया हुआ था, और मैं वहाँ से पढ़कर घर लौट रहा था। कुल्हाड़वाले घर से हमारे घर का द्वार छिपा हुआ था, लेकिन कूएँ पर मैंने माँ की सखी दिलासी को पानी भरते देखा। मुझे देखते ही वह घड़े को मन पर रखकर जरा-सा ठमक गयी, और फिर आँखों से झरझर आँसू बहाते अपने पर काबू न रखते बोल उठी—'अब बच्चे को बहिनी का मुँह देखने को नहीं मिलेगा।'

एक ही दिन पहिले खास सन्देशा आया था, और नाना जल्दी-जल्दी कनैला गये थे। दिलासी के शब्दों से मुझे मालूम हो गया, कि माँ का देहान्त हो चुका। दिलासी अहिरिन मेरी माँ की सखी थी। बचपन में लड़कियाँ

मिठाई या दूसरी चीज–एक दूसरे के दाँत की कटी हुई–को खाकर सखी बनती हैं। एक सखी दूसरी सखी का नाम नहीं ले सकती। वे आपस में झगड़ा नहीं कर सकतीं। ब्याह के बाद तो अपनी-अपनी ससुराल चली जाती हैं, इसलिए यह सखित्व अचल स्थायी बन जाता है, क्योंकि उनमें पारस्परिक वैमनस्य की गुंजाइश नहीं रह जाती। दिलासी मेरी माँ की वैसी ही सखी थी। उसका ब्याह हुआ था, किन्तु मैं उसे हमेशा अपने भाइयों के घर में ही देखता था। शायद पति-पत्नी में झगड़ा रहता हो। दिलासी मुझको लड़के की तरह मानती थी। वह गरीब थी, इसलिए उसका प्रेम उसके भावों से ही प्रकट हो सकता था। दिलासी ने, मैं शायद घबरा जाऊँ–इसी डर से अपने ऊपर पूरा नियंत्रण कर अपना वह उद्‌गार प्रकट किया था।

घर में जाने पर देखा–नानी विह्वल हो रो रही हैं। नाना अलग आँसू बहा रहे हैं। मेरे कलेजे में भी ठंडी हवा के झोंके धक्का देते थे, चित्त में एक अजीब तरह का अवसाद मालूम होता था, तो भी न मैं चिल्ला रहा था, न आँखों में आँसू का नाम था। मैं एक घोर चिन्ता में पड़ गया था। रह-रहकर माँ का चेहरा मेरे मानस नेत्रों के सम्मुख आता। मर जाने की बात से चित्त विकल होने लगता, फिर खयाल आता, नहीं माँ से भेंट जरूर होगी, शायद वह फिर जी जावेगी–मुर्दे जी जाते भी सुने गये हैं; शायद वह यमराज के यहाँ से लौट आवे, मरे हुए आदमी चिता पर जी जाते देखे गये हैं। लेकिन यदि कहीं माँ को जला दिया गया हो–नाना ने कहा था, कि उसे गंगाजी जलाने को ले गये, तो फिर ? तो भी मैं निराश नहीं होता था, मुझे विश्वास ही नहीं पड़ता था, कि माँ फिर नहीं आवेगी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में भी लड़के विस्तृत ज्ञान रखनेवाले देखे जाते हैं, लेकिन मेरी परिस्थिति उन लड़कों की-सी नहीं थी। मैं एक गाँव में पैदा हुआ था, और ऐसे नाना के घर में, जिन्होंने अँगूठा लगाने के डर से सिर्फ अपना हस्ताक्षर-भर करना सीखा था। मुझसे अधिक पढ़ा न नाना के गाँव में कोई था और न कनैला में। बहुश्रुत, बहुवित्, बहुदर्शी पुरुषों का दर्शन और संग भी मुझे अप्राप्य था। धार्मिक कथाओं के सुनने का भी अवसर नहीं मिलता था। इस प्रकार मेरे आँसू न 'ब्रह्मज्ञान' के कारण रुके हुए थे, और न किसी और तत्त्व-साक्षात् के कारण। मेरी सान्त्वना और धैर्य का कारण एक भोले-भाले ग्रामीण लड़के का सीधा-सादा विश्वास था। श्राद्ध के वक्त कनैला जाने पर यद्यपि माँ के लौटने का विश्वास कम हो गया था, तो भी कातरता नहीं आने पायी थी। शायद, इसमें बँटा हुआ स्नेह भी कारण हो सकता है। आखिर, साल में साढ़े ग्यारह महीने के लिए तो नानी मेरी माँ थी–और मैं उन्हें माँ के ही नाम से पुकारता भी था।

9

एक कदम आगे

रानी की सराय की पढ़ाई समाप्त हो गयी। पन्दहा से नजदीक 3-4 मील पर निजामाबाद का मिडल स्कूल पड़ता था, नाना ने मुझे वहीं भेजने का निश्चय किया। यद्यपि मार्च (?) के महीने में अभी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिता की परीक्षा में शामिल होना था, किन्तु फरवरी (1906 ई.) में ही नाना निजामाबाद में पहुँचा आये। उस वक्त वहाँ भी प्लेग था, और स्कूल टौंस नदी के उस पार एक नील के गोदाम में चला गया था। यद्यपि उस वक्त तक, नील की खेती बन्द हो जाने के कारण आम तौर से पुराने नील-कारखाने गिर-पड़ गये थे, किन्तु इस कारखाने के सभी मकान अभी साबित थे। मकानों के भीतर नील की बटियों के रखने या सुखाने के लिए तह पर तह जमाये बाँस के चाँचरों के तख्ते भी मौजूद थे। इन्हीं चाँचरों पर रात को हम लोग सोते थे। अभी तक अपने दर्जे में मैं उर्दू के अकेले-दुकेले लड़कों में था, किन्तु यहाँ हिन्दीवालों का बहुमत होते भी उर्दूवाले भी काफी संख्या में थे। यहाँ का वायुमंडल गाँव से अलग-सा मालूम होता था। मेरे दर्जे में जनकसिंह, द्वारिकाप्रसाद और दो-तीन और निजामाबाद कसबे के रहनेवाले लड़के थे, सभी उर्दू पढ़ते थे, इसलिए हम सबका उठना-बैठना एक साथ होता था। कस्बाती लड़के अपनी नागरिकता के घमंड में, हम सबको दिहाती कहकर चिढ़ाते

थे, और हम लोग भी उन्हें कोई न कोई पदवी दिये बिना नहीं रहते थे। यह कस्बाती और दिहाती संस्कृति का झगड़ा बहुत दिन तक नहीं चलता था। कुछ ही महीनों में अधिकांश दिहाती लड़के भी कस्बाती संस्कृति में दीक्षित हो जाते थे। हाँ, हमारे निजामाबाद के गौड़-कायस्थ 'आइन'-'गइन'वाली जो अवधी बोलते थे, उसे हम नहीं सीख पाते थे।

अभी बाकायदा पढ़ाई नहीं हो रही थी। बाहर से आनेवाले नये लड़के भी बहुत कम आ पाये थे। मिडल-वर्नाक्यूलर का इम्तिहान मार्च या अप्रैल में होता था, इसलिए नये दर्जे की पढ़ाई उसके बाद से ही होती थी। मेरे कस्बाती सहपाठी भी छात्रवृत्ति-प्रतियोगिता की तैयारी कर रहे थे, मैं भी उनके साथ शामिल हो गया। में गणित का अच्छा विद्यार्थी था, और दूसरे विषय भी मेरे अच्छे थे। हमारे रानी की सराय के अध्यापक का कहना था, कि मैं जरूर छात्रवृत्ति पाऊँगा; किन्तु जब मैंने यहाँ अपने साथियों को घड़ी तथा दूसरे हिसाब को लगाते देखा, और पूछने पर मालूम हुआ कि यह भी दर्जा 4 के पाठ्य में है, तो मुझे निराशा-सी हो गई। रानी की सराय के पाठ्य-विषय में अज्ञता या आलस्य के कारण कितनी ही बातें नहीं पढ़ाई गई थीं। शुरू ही से मेरे उर्दू पढ़ानेवाले अध्यापक–द्वारिकासिंह, पत्तरसिंह, लालबहादुर सिंह या जगन्नाथराय–सभी जबर्दस्ती उर्दू पढ़ाते थे, और इसीलिए निजामाबाद के साथियों के मुकाबिले में मुझे अपनी उर्दू कमजोर जँचती थी। अब प्रतियोगिता के लिए समय भी कम रह गया था, इसलिए कमी के पूरा करने की सम्भावना नहीं थी, और इसी बीच रानी की सराय के अध्यापक का सन्देश पर सन्देश आने लगा–प्रतियोगिता की सफलता का श्रेय उन्हें मिलनेवाला था, इसलिए वह विशेष तैयारी कराने के लिए उकता रहे थे। रानी की सराय पहुँचने पर जब मैंने घड़ी के तथा दूसरे हिसाबों को निजामाबाद में लगाये जाने की बात कही, तो उन्होंने यह कहकर टाल दिया–वे लोग अगले साल का हिसाब लगा रहे हैं। आजमगढ़ से उत्तर मँदुरी में पोखरे के पास के बड़े बगीचे में सारे आजमगढ़ जिले के दर्जा 4 में 'कतई' पास लड़के परीक्षा देने आये। आधे हिसाब वे ही आये, जिन्हें हमारे अध्यापक दर्जा 5 का पाठ्य समझते थे। परिण।म के लिए कम से कम मुझे प्रतीक्षा करने की आवश्यकता न थी।

मार्च या अप्रैल में, जब से निजामाबाद में हमारी बाकायदा पढ़ाई शुरू हुई, तब तक प्लेग चला गया था, और स्कूल अपने मकान में चला आया था। मिडल स्कूल का मकान भी शकल-सूरत में रानी की सराय के मकान ही जैसा था। वैसा ही बीच में बड़ा हाल, चारों तरफ बरांडा, खपड़ैल की छाजनी–हाँ, जहाँ रानी की सराय में बरांडे में कोनों पर सिर्फ दो कोठरियाँ थीं, वहाँ यहाँ चारों कोनों पर चार कोठरियाँ थीं, और हाल बहुत बड़ा था। हाल में दक्षिण तरफ प्रधानाध्यापक मौलवी गुलाम गौसखाँ, बीच में द्वितीयाध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय, और उत्तरी छोर पर तृतीयाध्यापक बा. जगन्नाथराय की कुर्सियाँ, और तीन तरफ़ तीन बेंचों से घिरी तीन मेजें थीं–तृतीयाध्यापक की जगह पहिले एक मौलवी थे। उत्तर और दक्षिणवाले अध्यापक क्रमशः दक्षिण और उत्तर मुँह बैठते थे, और श्रोत्रिय जी पूरब मुँह। अध्यापकों की कुर्सी के पीछे थोड़ा-सा बाएँ हटकर तख्ता-स्याह (ब्लेक-बोर्ड) रहा करता था। लड़के पाठ लेते वक्त अध्यापक के सामने बेंचों पर बैठते थे, नहीं तो पूरबवाली दीवार की जड़ में उनके बैठने के लिए जमीन पर दो फुट चौड़े टाट की पट्टी बिछी हुई थी। हाल के पश्चिमवाले बरांडे में ब्रांच-स्कूल था, जिसमें लोअर और अपर प्राइमरी के लड़के पढ़ते थे। पंडित गंगा पांडे उसके प्रधानाध्यापक, हमारे दूर के रिश्ते में पड़ते थे, इसलिए कितने ही समय तक मेरी रसोई उनके साथ बनती थी। इस बरांडे के पीछे कुछ खाली जमीन थी, जिसमें हारीजेंटलबार, पेरेललबार और कूदने के लिए एक अखाड़ा था। बार का इस्तेमाल होना शायद ही मैंने कभी देखा था, किन्तु अखाड़े में कूदने का कभी-कभी मुझे मौका मिला था, और लम्बी तथा ऊँची कुदान में भी काफी कूद लेता था; यद्यपि सबमें प्रथम होनेवाले हमारे सहपाठी सरयूसिंह थे। अखाड़ा कोनेवाली कोठरी के करीब था, और उसके बाद ही हरफ़ा-रेवड़ी का एक दरख्त था; जिसके छोटे-छोटे खट्टे फलों को हम बड़े चाव से खाते थे। स्कूल के पूरबवाले बरांडे के बाहर एक लम्बा-सा पक्का प्लेटफार्म था, जो प्लेटफार्म के खयाल से उतना नहीं बना था, जितना कि चार-पाँच फुट नीचे से जानेवाली सड़क में गिरनेवाले पानी की धार से स्कूल की इमारत की हिफ़ाजत के खयाल से। शाम के वक्त कभी-कभी हमारा पाठ इस प्लेटफार्म पर भी होता था।

सड़क की दूसरी तरफ दो जगह बोर्डिंग की कोठरियों की कतारें थीं, जो स्थानीय एक बड़े जमींदार सरदार
नान्हकसिंह (?) की सम्पत्ति थी। कोठरियों के बरांडों ही में रसोई बनाने के चूल्हे थे।

नाना ने मेरे रहने का इन्तिजाम बाजार में एक ठाकुरबाड़ी में किया था। ठाकुरबाड़ी कस्बे के एक व्यापारी,
शायद महँगी साहु की बनवाई हुई थी। पुजारी बूढ़े, नाटे, किन्तु काम-काज में बड़े फुर्तीले एक आचारी साधु थे,
जो बात-बात में साहु को दस सुना देना अपना कर्तव्य समझते थे। पता ही नहीं लगता था, कि ठाकुरबाड़ी के
मालिक पुजारीजी हैं या साहु। यद्यपि पुजारी के कथनानुसार, ठाकुरबाड़ी में क्या लगा था,–मुर्दों के कब्रों को खोदकर
लाई लाखौरी ईंटें और कुछ चूना सुर्खी; किन्तु वस्तुतः वह एकदम इतनी खराब न थी। ठाकुरजी (शायद
राम-लक्ष्मण-सीता) की कोठरी के तीन तरफ परिक्रमा की गली, फिर दो कोठरियाँ, सामने सभामंडप–झाड़-फन्नूस
से सुसज्जित, जिसके उत्तर-दक्खिन में कोठेदार बारहदरियाँ, सामने छोटा-सा पक्का आँगन, जिसके एक कोने में
मीठे पानी की पक्की कुइयाँ, आँगन के उत्तर-दक्खिन दो कोठरियाँ। बाहर का दरवाजा बाजार की सड़क पर
खुलता था।

यद्यपि मैनी में एकाध-महीने कच्ची-पक्की रसोई मैं बना चुका था, किन्तु वह मेरे और नाना-नानी के विचार
में सन्तोषजनक न था; इसलिए और लड़के को अनुशासन में रखने के खयाल से भी मुझे इस ठाकुरद्वारे में रखना
पसन्द किया गया। पुजारीजी पक्के आचारी थे, इसलिए रसोई के भीतर मुझे जाने की इजाजत ही कहाँ से हो
सकती थी ? पानी-बासन का काम भी उनके एक शिष्य किया करते थे। पुजारी को गुस्सा बहुत जल्द आ जाया
करता था, तो भी उनका बर्ताव मेरे प्रति बहुत अच्छा था। पढ़ाई रानी की सराय की तरह सारे दिन-भर नहीं
चला करती थी, वह शुरू होती थी दस बजे से, खेल-कूद लेकर शाम को स्कूल से छुट्टी मिलती थी। स्कूल ठाकुरद्वारे
से कुछ दूर था। पुजारी एक क्षण भी चुपचाप बैठ नहीं सकते थे। स्नान, पूजा, झाड़ू-बहारू, रसोई-अमनिया, दिया-बत्ती,
पोथी-पाठ–कुछ न कुछ काम उनको हर वक्त लगा रहता था। कहने को मैं अब धर्मस्थान में था, किन्तु मैं वैसा
का वैसा ही कोरा रहा, और मुझ पर भक्तिभाव की एक छींट भी पड़ने न पायी। पुजारीजी सिखाने-पढ़ाने की
कभी कोशिश नहीं करते थे। कुछ दिनों बाद हमारे दर्जे का एक राजपूत लड़का भी ठाकुरद्वारे में रहने के लिए
आ गया, उसके बाद से तो हमारी दुनिया ही अलग हो गयी।

तीन-चार मास रहते-रहते मेरा मन ठाकुरबाड़ी से उदास हो गया। कारण, शायद पुजारी का चिड़चिड़ा
मिजाज था। नाना ने बोर्डिंग में रहने की इजाजत दे दी। उत्तर के बोर्डिंग में दक्खिन के छोरवाली कोठरी में हम
दो या तीन लड़के रहते थे। रसोई अध्यापक गंगा पांडे के साथ थी। दाल, चावल, तरकारी तो मैं बना लेता था,
किन्तु रोटी पांडेजी को सेंकनी पड़ती थी, उसे मुझ पर छोड़ने पर तो उन्हें शायद रोज लवणभास्कर की जरूरत
पड़ती।

निजामाबाद पुराना कस्बा है। कहते हैं, औरंगजेब के एक लड़के आजमशाह के नाम से आजमगढ़ बसा,
दूसरे निजामशाह के नाम से निजामाबाद। यह मैं उस समय की सुनी-सुनाई बातों को कह रहा हूँ। हो सकता
है, निजामाबाद और पहिले से चला आया हो, और बस्ती तो मुसल्मानी समय से पहिले की भी हो सकती है,
वहाँ के कुछ स्थानों को रजभरों के राज्य से सम्बद्ध किया जाता था। किसी समय निजामाबाद की बस्ती और
दूर तक फैली हुई थी, यह उसके पुराने आबादी के चिह्न बतला रहे थे, जिनमें से कितने की दीवारें अब भी खड़ी
थीं। छोटी-पतली लाखौरी ईंटों की इमारतें, मेहराब और कब्रें तो जगह-जगह खड़ी और गिर-पड़ रही थीं ! कितने
ही तहखानों, जमीन के भीतर बने अलदीन के महल जैसे महलों, तालाबों की कथाएँ मशहूर थीं। पुजारीजी के
कहने में कुछ सच्चाई भी थी, उनका ठाकुरद्वारा ही नहीं कितने ही और भी मकान निजामाबाद में इन्हीं पुरानी
इमारतों की ईंटों से बने थे।

कस्बे के मुसल्मानों की संख्या काफी थी। पश्चिम तरफ के काजी साहेब की जमींदारी यद्यपि बहुत कुछ
बिक चुकी थी, तो भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत थी। ये लोग शिया थे, और निजामाबाद का अलम (झंडा) गाड़ी पर
रखे बड़े-बड़े तबल के साथ बहुत धूमधाम से निकलता था। काजी-परिवार में कोई प्रसिद्ध व्यक्ति उस वक्त नहीं
था। उनके महल और पक्की चहारदीवारी के भीतर लगे तरह-तरह के फल के बगीचे मेरी नजर में उस समय

दुनिया की अद्‌भुत माया-सी जान पड़ते थे। काजी-परिवार की सम्पत्ति कैसे नष्ट हुई, इसके बारे में बहुत-से कथानक प्रसिद्ध थे। कोई कहता, उनके पाखाने की दीवारों में अतर पोता जाता, कोई कहता झुंड की झुंड रंडियाँ उनके यहाँ इन्द्रसभा रचाती थीं। मेरे सामने उनके घर जौनपुर से एक बारात आयी। खूब कागज की फुलवारी, बाजा-गाजा, गैस की रोशनी का जलूस निकला। नामी-नामी तवायफ़ नाचने आयी थीं। शादी के बाद भी दामाद साहेब शायद एकाध महीने तक ससुराल में रहे। काजी-परिवार बादशाही जमाने में शहर के काजी (न्यायाधीश) रहे होंगे, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। हो सकता है, ये लोग जौनपुर की बादशाहत के जमाने में यहाँ आये हों, और निजामाबाद भी उसी समय उन्नति के शिखर पर पहुँचा हो। निजामाबाद टौंस नदी के किनारे होने से व्यापार के लिए अनुकूल स्थिति में था। हो सकता है, पहिले यह व्यापार का भी एक अच्छा केन्द्र रहा हो। यद्यपि रेल के आने के बाद रानी की सराय का सितारा ओज पर था, उसकी दूकानें मेरे देखते-देखते संख्या और धन दोनों में बढ़ गई थीं। नये आये मारवाड़ी व्यापारियों ने तो कपड़े की थोक-बिक्री का कारबार शुरू करके रानी की सराय को आसपास के इलाके का व्यापार केन्द्र बना दिया था। निजामाबाद रेल के–स्टेशनों–रानी की सराय और फरिह से 4, 5 मील दूर था, इसलिए वहाँ व्यापारिक उन्नति की बहुत सम्भावना न थी, तो भी वहाँ की पैंठ बड़ी थी। निजामाबाद अपने बेल-बूटा किये काले मिट्टी के बरतनों के लिए जिले ही में नहीं, प्रान्त में भी काफी विख्यात था। निजामाबाद के कुम्हारों में अधिकांश मेरे नाना के चचा के यजमान थे। कथा-पूजा होने पर भोज में मेरा बुलावा जरूर होता था, और परनाना की साली–जिन्हें गाँव-भर मौसी कहा करता था–के हाथ की बनी परवल की तरकारी मुझे खास तौर से पसन्द आती थी।

निजामाबाद के पूरब छोर पर एक और प्रतिष्ठित मुस्लिम-परिवार रहता था। इनके पास अभी काफ़ी जमींदारी थी। उनका एक गाँव रानी की सराय से पूरब पड़ता था, और घर के एक तरुण को भोटिया (नेपाली ?) टाँघन पर कदम उड़ाते अक्सर मैं पन्दहा और रानी की सराय के बीच देख चुका था। उसके ही घोड़े की सवारी को देखकर, बल्कि रानी की सरायवाले काल में कितनी ही बार मेरी इच्छा होती–एक तेज घोड़ा रहता, और एक विलायती कुत्ता (यह भाव शायद बाबू द्वारिकासिंह की कुत्ती से मिला था), घोड़े को दौड़ाते हुए मैं चलता, और कुत्ता पीछे-पीछे भागता आता।

कस्बे के तीसरे बड़े रईस सरदार नान्हकसिंह (?) थे। पुराने बादशाही जमाने में ही निजामाबाद में गौड़-कायस्थ और उनके पुरोहित सनाढ्य ब्राह्मण बस गये थे। ये लोग जिले की साधारण आबादी में द्वीप की भाँति थे। इन परिवारों को अपनी शादी-ब्याह के लिए दूर-दूर जिलों की खाक छाननी पड़ती थी। इनमें यद्यपि केशधारी सिख कम थे, किन्तु थे सभी सिख। कस्बे के भीतर एक संगत (गुरुद्वारा) थी, और बाहर नदी के घाट पर भी एक मन्दिर-सा था। संगत के महन्त बाबा सुमेर सिंह थे। संगत में कभी-कभी कड़ा-प्रसाद (हलवा) बँटता, जिसे लेने के लिए हम स्कूल के लड़के बराबर पहुँच जाया करते थे। हमारे दर्जे में पाँच गौड़ लड़के थे, जिनमें जनकसिंह, तथा एक और बाल रखे हुए थे, और बाकी तीन बिना बाल के। पहिले मैं सिखों को अलग जाति समझता था, किन्तु जब मालूम हुआ कि मेरे एक केशरहित साथी का ननिहाल सरदार नान्हकसिंह के यहाँ है, दो साथियों में एक सिख का मामा बिना केश का है; तो बड़ा कौतूहल हुआ। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्मस्थान होने के कारण निजामाबाद एक साहित्यिक स्थान है, किन्तु उस वक्त मुझे इसका कोई पता न था। मुझे इतना ही मालूम था, कि पंडित अयोध्यासिंह कानूनगो पहिले निजामाबाद में प्रधानाध्यापक थे, हमारे गणित के अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय उनके विद्यार्थी और सजातीय हैं। पंडित अयोध्यासिंह कवि हैं, उनका उपनाम 'हरिऔध' है, इससे मैं बिलकुल अपरिचित था। हाँ, जब अपने एक साथी को अपने पिता की बनाई कवित्तों को पढ़ते देखकर मैंने भी कुछ कवित्त-सवैया गढ़ डालीं, तो दूसरे साथियों ने बतलाया–कविता करना बड़े जोखिम का काम है, छन्द में एक मात्रा के भी टूट जाने पर बड़ा पाप होता है। उन्होंने उदाहरण के तौर पर बतलाया–पहिले पंडित सीतारामजी कविता किया करते थे, किन्तु इसी गलती के कारण उनके लड़के मर जाते थे। अब उन्होंने कविता छोड़ दी है, तभी यह 2, 3 वर्ष का लड़का जीवित है। खैर, कविता करने की मुझमें अन्तःप्रेरणा तो थी नहीं, जो भय से उसे छोड़ बैठता, वह तो देखा-देखी थी, और वहीं खतम हो गयी।

निजामाबाद में मनोरंजन की सामग्री काफ़ी थी। शीतला और नदी पार कोई दूसरा मेला लगता था। शीतला का मेला तो सावन में हर सोमवार को लगा करता था, जिसमें दूर-दूर की स्त्रियाँ शीतला देवी को 'कढ़ाई' (पूड़ी-हलवा) चढ़ाने आया करती थीं ! पढ़ने के लिए आने से पहिले भी मैं एक बार नानी के साथ वहाँ आ चुका था। मन्दिर का स्मरण नहीं, एक बाग था, जिसमें कढ़ाइयाँ चढ़ती थीं। शायद लड़कों के बाल काटे तथा सूअर के छौनों की बलि भी चढ़ाई जाती थी। नाचनेवाले लड़के रहते थे, मानता माननेवाली माँएँ उन्हें जमीन पर बिछे अपने आँचल के कोने पर नचाती थीं। निजामाबाद में रामलीला भी होती थी, और उसका भरतमिलाप तो हमारे बोर्डिंग के पीछेवाले ठाकुरद्वारे के हाते में होता था। कस्बे के लाला लोग नाच-गाने के भी शौकीन थे, स्वयं नाचते नहीं, बल्कि बाहर से आनेवाली रंडियों का मुजरा अक्सर कराया करते थे। हम विद्यार्थियों के लिए इन नाचों में जाना आसान काम न था। अगर पता लग गया, तो दूसरे दिन पंडित सीताराम की छड़ी बरसे बिना नहीं रहती। कस्बाती लड़कों से खबर-भर मिल जाया करती थी, मैं शायद एक-दो बार ही किसी हाते की दीवार फाँदकर भीतर पहुँचा था, और खड़ी हुई भीड़ के पीछे छिपकर देखता रहा। रानी की सराय में रहते एक-दो बार डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के ड्रिलमास्टर हमारे स्कूल में भी आये थे, और उन्होंने कुछ दंड-कसरत सिखलाया था, लेकिन उनके जाते ही कहाँ का दंड और कहाँ की कसरत ? निजामाबाद में तो वैसे किसी चलते-फिरते ड्रिलमास्टर के भी दर्शन नहीं हुए। जिला-भर के स्कूलों का रस्साकशी, ड्रिल, कूद और दौड़ का टूर्नमिंट हर साल आजमगढ़ में हुआ करता था। उस साल हमारे यहाँ के भी 14, 15 लड़के शामिल हुए थे। इसके लिए उन्हें काले गल्ता (आधा रेशमी आधा सूती कपड़ा) के कोट बनवाने पड़े थे। दर्जी हमारे स्कूल के ही कोई भूतपूर्व विद्यार्थी थे, जो जाति से दर्जी नहीं बल्कि अशरफ़ खानदान से तअल्लुक रखते थे। वे बाहर घूमे हुए थे, और वहीं मशीन चलाने और दर्जी के काम को उन्होंने सीखा था। दावा तो उनका पूरे उस्ताद होने का था, किन्तु कोटों के सिलकर आने पर सभी पछता रहे थे। उनके लम्बे-लम्बे अँगरेजी बाल, तड़क-भड़कवाली पोशाक में छोटी एड़ीवाला लेडी-शू भी शामिल था, जो मेरी नजर में, उस समय अनुचित नहीं था, शायद टूर्नामेन्ट में हमारे स्कूल को कोई इनाम नहीं मिला, और मिलता क्या, सिर्फ़ गल्ता का कोट सिला लेने के लिए !

आरम्भ में अपने कस्बाती लड़कों के सामने मैं अपने को हकीर समझता था। उनकी सरौते की तरह सरासर चलती जबान—सो भी 'आइन रहा' 'गइन रहा' जैसी किसी विदेशी भाषा में—मेरे जैसे गँवारू लड़के पर रोब जमाये बिना कैसे बाकी रह सकती ? मैं जनक, द्वारिकाप्रसाद और दूसरे भी कितने कस्बाती लड़कों को बहुत तेज विद्यार्थी समझता था, किन्तु वह धाक ज्यादा दिन तक कायम न रही। तीन-चार महीना बीतते-बीतते मैं सारे दर्जे में अव्वल हो गया। गणित में जहाँ दूसरे लड़कों की रूह काँपती थी, वह मेरे लिए बायें हाथ का खेल था। इतिहास में सन् को छोड़कर और बातों को तो मैं पाठ समाप्त होने के साथ दुहरा दिया करता। भूगोल के अध्यापक बा. जगन्नाथराय तो कितनी ही बार पाठ सुनने का काम मेरे ऊपर छोड़ दिया करते। बा. जगन्नाथराय के पहिले एक कम-उमर के मौलवी कुछ दिनों तक अध्यापक रहे। सुना जाता था वे अरबी-फारसी भी जानते हैं, किन्तु हमें तो बहारिस्तान और उर्दू व्याकरण-भर पढ़ने से मतलब था। उनके चल जाने पर भाषा पढ़ाने का काम बूढ़े मौलवी गुलामगौस खाँ करते थे।

मौ. गुलामगौस ठिगने-पतले कद के 60 वर्ष के बूढ़े आदमी थे। उनके पट्ट और दाढ़ी के सभी बाल सफेद थे। एक बार किसी ने खबर उड़ा दी '56 साला में सभी अध्यापक हटाए जानेवाले हैं', तो कितने ही महीनों तक हर हफ्ते उनके बालों में खिजाब लगता रहा। बेचारों को बीस रुपया मासिक मिलता था, और उसी के सहारे तीन लड़कों और घर के दूसरे व्यक्तियों का पालन-पोषण करना था। उनका मझला लड़का इब्राहीम हमारा सहपाठी था। वह और उसका छोटा भाई पिता के साथ रहते थे। बड़ा लड़का यासीन (?) मेट्रिक में फेल होने लगा, तो मौलवी साहेब ने उसे गोरखपुर ड्राफ्टमैन का काम सीखने को भेज दिया। 15) महीना तो उन्हें बड़े लड़के को भेज देना पड़ता था, बाकी पाँच रुपये में वे कैसे अपना गुजारा करते थे, यह समझना मेरे लिए एक पहेली थी। मौलवी साहेब को गुस्सा बहुत कम आता था, जब आता तो लड़कों पर तड़ातड़ छड़ियाँ टूटतीं। हमारी किताब में जहाँ-तहाँ पुराने पैगम्बरों, मूसा, दाऊद आदि का भी जिक्र आता, फिर तो मौलवी साहेब 'कससुले-अंबिया'

लेकर बैठ जाते, और पाठ पढ़ने का सारा समय उसी में बीत जाता।

पंडित सीताराम श्रोत्रिय बड़े गुरु-गम्भीर तबियत के आदमी थे। विद्यार्थी उनका रोब सबसे ज्यादा मानते
थे। गणित और हिन्दी का अध्यापन उनके हाथ में था। उर्दू के विद्यार्थी होने से मुझे गणित के लिए ही उनके
पास जाना पड़ता। गणित में मैं तेज था, इसलिए मार खाने की नौबत नहीं आती थी। हाँ, एक बार की जाड़ों
की बात है। इम्तिहान करीब आने पर विद्यार्थियों से दूनी मेहनत ली जाती थी। दिन की पढ़ाई तो होती ही थी,
रात को खाने के वाद लालटेन के किनारे बैठकर हम पाठ याद किया करते। सबकी तरह मैं भी पढ़ने जाता,
लेकिन सौ-सौ मन की नींद मेरे पलकों पर बैठी रहती। पंडितजी और तृतीय अध्यापक पास में चारपाई बिछाकर
बैठते, कि कोई सोने न पावे। जैसे ही वे लोग वहाँ से हटे, कि बन्दा वहाँ से रफूचक्कर। बोर्डिंग से ढूँढ़कर पकड़
के आने पर–'पानी पीने गया था' का बहाना करता था। अक्सर दोनों हथेलियों पर गाल रखकर जमीन के पास
झुककर मैं ऐसे पढ़ता था, जिसमें सो रहा हूँ या पढ़ रहा हूँ, इसका पता न मालूम हो सके। अध्यापकों का हुक्म
था, कि सोनेवाले लड़के की नाक देखनेवाला लड़का मल दे। मेरी नाक मलने की किसी को हिम्मत न होती थी,
इसलिए नहीं कि मैं शरीर से बलिष्ठ था, और पीछे खबर लेता; बल्कि मैं दर्जे का सबसे तेज लड़का था। किसी
काम में व्यस्त रहने पर पाठ सुनने और सवाल करने का काम कितनी ही बार मुझको मिल जाता था, और इतिहास,
भूगोल, दूसरी भाषा आदि विषय–, जो कि बा. जगन्नाथराय के पास थे–तो प्रायः हर रोज ही मेरे हाथ में आते
थे। नाक पकड़नेवाले पर दनादन दो-तीन कड़े-कड़े सवाल कर देता। एक का न जवाब देने पर बेंच के ऊपर
खड़ा होना, दूसरे के जवाब न देने पर यदि बच गये, तो तीसरे तक तो जरूर अध्यापक को दृढ़ हो जाता कि
लड़का पाठ नहीं याद करता; और बा. जगन्नाथराय जैसे शान्त स्वभाव के आदमी को भी छड़ी उठानी पड़ती।
यही कारण था, जो कि सहपाठी मुझे छेड़ना नहीं चाहते थे। पं. सीताराम और दूसरे अध्यापकों को मालूम हो
गया था, कि मैं रात को नहीं पढ़ता। लेकिन करते क्या, इतिहास, भूगोल जैसी रटनेवाली चीजें तो मुझे पढ़ाते
के साथ याद हो जाती थीं, फिर जवाब देने में चूक हो तब न छड़ी खींची जावे। एक दिन पंडितजी ने गणित
का ऐसा प्रश्न दे दिया, जिसे दो-तीन मास पहिले पढ़कर हम छोड़े हुए थे। आवृत्ति करते थे, किन्तु सारे कायदों
की रोज-रोज आवृत्ति थोड़े ही हो सकती थी। सवाल में गलती हुई। और सब लड़के तो बच गये, पंडितजी ने
'बड़े तेजूखाँ बने हैं' कहकर मेरे ऊपर ताबड़-तोबड़ दो-तीन छड़ी जमाईं। पढ़ने के लिए छड़ी खाने का शायद यही
एक मौका मुझे निजामाबाद में मिला।

मौ. गुलामगौस खाँ को गुस्सा कभी-कभी आता था, किन्तु वह रहता था बहुत कम देर तक। पं. सीताराम
का गुस्सा बहुत देर तक रहता था, और विद्यार्थियों से खुश होकर बात करते तो उन्हें देखा ही नहीं जाता था।
बा. जगन्नाथराय बिलकुल साधुपुरुष थे। वे थे भी वैष्णव। उनके गले में पतली तुलसी की कंठी थी। रोज स्नान-पूजा
करते साधु-सन्तों के सत्संग में रहते। उस वक्त टौंस के घाट पर छोटी-सी शिवलिया के सामने एक भभूत-जटाधारी
साधु आये थे। बाबू साहेब शाम-सबेरे रोज वहाँ पहुँचते, और महात्मा के सत्संग और गाँजा-मंडली में शामिल होते
थे। उनको गुस्सा नहीं के बराबर था। यदि कभी किसी लड़के को मारना भी पड़ता, तो बेमन से और हल्के हाथों।
वे बड़े विचारसहिष्णु थे, जो कि षट्कर्मी भक्त लोगों में बहुत कम पाया जाता है। रविवार को बाबू साहेब अलोना
व्रत रखते थे, उस दिन वे एक बार पूरी हलवा या रोटी हलवा खाते थे। मेरा उस दिन का नियम था गोश्त पकाकर
खाने का, सो भी बाबू साहेब के चौके से 3 हाथ दूरवाले तीसरे चौके में। वह कभी-कभी सहृदयता के साथ बोलते
भी–'अरे केदारनाथ, रविवार को तो मांस न खाया करो।' मैं कहता–'क्या करूँ बाबू साहेब, दूसरे दिन मांस खरीदकर
लाने, मसाला पीसने और पकाने के लिए छुट्टी कहाँ मिलती है।' बात भी कुछ सच ही थी, तब वे और कुछ नहीं
बोलते थे। और विषयों के साथ मेरी द्वितीय भाषा हिन्दी और भूगोल की नकशाकशी भी बा. जगन्नाथराय के
पास ही थे। उर्दू की अपेक्षा मेरे हिन्दी के अक्षर–बनाकर लिखने पर बड़े सुन्दर होते थे, अतएव उसके लिए तारीफ़
हो तो कोई खास बात नहीं थी, किन्तु नकशा बनाने में जो भी शाबाशी मुझे मिलती थी, उसे तो मैं भी अनुचित
समझता था। जल-स्थलों, प्रान्त-रियासतों पर रंग-बिरंगी पेंसलें खींचकर मैं सिर्फ आँख में धूल-भर झोंक देता था,
नहीं तो मेरी सीमा-रेखाएँ बिलकुल ही गलत होती थीं। यह बारीकी शायद मुझको ही मालूम होती थी। वस्तुतः

नाना की कितनी ही कथाओं को सुनने के बाद जब मुझे उनके बतलाये शहर और स्थान नकशे में मिलने लगे तो मुझे उसमें एक अजब तरह की दिलचस्पी पैदा हो गयी। नकशे में कौन जगह कहाँ है, इसे सचमुच ही मैं कभी-कभी आँख मूँदकर बतला सकता था। हो सकता है, इन्हीं कारणों से अपना खींचा नकशा मुझे सरासर दोषपूर्ण मालूम होता था, जब कि अध्यापक और दूसरे सहपाठी उसकी तारीफ करते थे।

साल के अन्त में जब हम पहुँच रहे थे, तो कितनी ही बार पंडित सीतारामजी दर्जा 6 (यही उस वक्त मिडल का अन्तिम दर्जा था) और दर्जा 5 के विद्यार्थियों को इकट्ठा गणित के सवाल दे दिया करते थे। नरसिंहराय दर्जा 6 के सबसे तेज लड़के थे, और पीछे मिडल परीक्षा में उन्हें सरकारी छात्रवृत्ति मिली, लेकिन एक दर्जा नीचे रहते भी मैं कितनी ही बार उनके बराबर नम्बर लाता था। निजामाबाद में अब अधिक विस्तृत क्षेत्र में (कुछ विशेष चुने हुए विद्यार्थी-मंडली में) मेरी प्रतिभा को प्रतियोगिता का मौका मिला, और उससे जरूर अधिक फायदा हुआ, किन्तु वह यथेष्ट न था। अखबारों को हम जानते न थे। पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त यदि कभी 'हातिमताई' या 'आराइश-महफिल' किसी के हाथ लग गयी, तो बहुत समझिए। हाँ, शिक्षा विभाग की ओर से मनाही होने पर भी पाठ्य पुस्तकों की 'कुंजियाँ' हमारे पास जरूर पहुँच जाती थीं।

बरसात के बाद स्कूल की खपड़ैल को फिर से छाने और शायद नई कड़ी बदलने की भी जरूरत पड़ी, इसलिए स्कूल हटाकर एक बड़ी हवेली में ले जाया गया। निजामाबाद के कायस्थ किसी वक्त बड़ी अच्छी हालत में थे। अब बहुतों की जमींदारी बिक-बिका चुकी थी। हाँ, उनमें से कुछ साधारण क्लर्क या पटवारी जैसी नौकरियों पर थे। पंडित अयोध्यासिंह के छोटे भाई पं. गुरुसेवकसिंह उपाध्याय डिप्टी कलेक्टर थे; लेकिन पुराने पक्के मकानों और उनके भीतर के सामान से ही मालूम हो जाता था, कि पहिले से अब जमाना पस्ती का है। जिस घर में हम गये थे, वह किसी हकीम साहेब का था। आजकल वह हकीमी करते थे, और रोजी कमाने के लिए नहीं, मुफ्त सेवा के खयाल से। हवेली एक विशाल इमारत थी, जिसमें कितने ही आँगन, दालान और कमरे-कोठे थे। हमारी पढ़ाई कोठे पर के कमरों में हुआ करती थी।

मार्च (1907 ई.) के आसपास हमारी वार्षिक परीक्षा समाप्त हुई। छुट्टी में मैं ननिहाल आया। वहाँ उस वक्त प्लेग था। नानी ने दूसरे ही दिन मुझे कनैला के लिए रवाना किया। अब मेरा भी संस्कृति का तल कुछ ऊँचा हो चुका था। कनैला मेरे लिए निरा ऊजड़ गाँव मालूम होता था। जब से वह गाँव बसा था, तब से अब तक शायद मुझसे ज्यादा पढ़ा-लिखा आदमी उस गाँव में नहीं पैदा हुआ। मेरे तीन छोटे भाई श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ पढ़ रहे थे, किन्तु अभी निचले दर्जों में। गाँव में दो-एक ही और आदमी थे, जिन्होंने किसी मदरसे में शिक्षा पाई हो। इस प्रकार शिक्षित के मनोरंजन का वहाँ कोई साधन न था। कनैला में अब भी कसरत और अखाड़े का रवाज था, यद्यपि वह अधिकतर बरसात ही में होता था, जबकि कोई नट आकर अखाड़ा बाँधता; किन्तु मेरी रुचि को उधर जाने का कभी मौका ही नहीं मिला। आम के दिनों में यदि पहुँच गया, तो भरोसा पांडे से बगीचे-ताल-पोखरा और ऊसर के अकेले पीपर के भूतों की कथाएँ सुनता। आश्विन के नवरात्र में जो पहुँचा, तो किन्ना के बाबू के देवखुर (देवस्थान) पर भूत खेलनेवाली औरतों से 'छोड़ दे' 'क्यों पकड़ा', 'तुम्हें क्या पूजा चाहिए' आदि पूछता, बहुत रात तक मनोरंजन करता। और अब ये मनोरंजन कुछ फीके भी पड़ने लगे थे।

कनैला में एक-दो दिन ठहरकर मैं बछवल चला गया। बछवल मेरी आँखों को कुछ अधिक सभ्य जँचता था, और यही कारण था कि पीछे मेरे रहने के समय में कनैला और बछवल आधे-आधे के साझीदार थे। फूफा महादेव पंडित की विद्वत्ता से लाभ उठाने के अभिप्राय से न मैं वहाँ जाता था, और न उसके लिए अवसर ही था। मेरा अधिक समय यागेश और दूसरे समवयस्क विद्यार्थियों के साथ खेलने-कूदने, गपशप में कटता था। इन खेल-कूदों में ताल में चरनेवाले घोड़े-घोड़ियों को पकड़कर चढ़ना भी था। एक दिन मैं और यागेश ताल से घोड़े पकड़कर लाने गये। लगाम की जगह शायद रस्सी हम लोगों के पास थी। यागेश पहिले चढ़े, और मैं अपनी घोड़ी पर पीछे। यागेश के घोड़े को दौड़ते देख मेरी घोड़ी भी दौड़ पड़ी। रोकने से वहाँ रुके कौन ? एक जगह मेंड की छलाँग मारते वक्त मैं नीचे आ पड़ा। घोड़ी की एक टाप खोपड़ी के पीछे जरा-सा छूती चली गई। घाव सख्त

नहीं लगा, किन्तु खून बहने लगा। दूसरे दिन जब बुआ ने पूछा तो कह दिया, दालान की कड़ी लग गई है।

बछवल में ही रहते पता लगा, कि नानी का प्लेग से देहान्त हो गया। मिडल के परीक्षा-परिणाम के निकल जाने पर निजामाबाद जाना पड़ा, लेकिन वहाँ ज्यादा दिन नहीं रहा। नाना की शिकार की कथाओं और नवाजिन्दा-बाजिन्दा के सैर-सपाटों ने रंग लाना शुरू किया। खाने-पीने के लिए उस समय मेरे पास आटा-चावल था, उसे बाजार में बेंच डाला। कुल मिलाकर डेढ़-दो रुपये हो गये। मैं सीधे फरिहा स्टेशन पहुँचा। मन और जीभ पर था बाजिन्दा का सुनहला वाक्य–

"सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ ?
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

फरिहा स्टेशन से टिकट लेते वक्त बनारस ही सामने था, क्योंकि उसी को मैंने देखा था। टिकट ले गाड़ी पर बैठा। दिन में ही किसी वक्त बनारस पहुँचा। पिता के मामा का मठ तो मालूम था, किन्तु अकेला जाने पर वहाँ प्रश्नों की झड़ी लग जाती, इसलिए वहाँ जाना उचित नहीं जँचा। सोच-समझकर उसी मठ के बगल में जगेसरनाथ के मन्दिर में गया। वहाँ कितने ही संस्कृत के विद्यार्थी रहते थे। पूछने पर उन्हें बतला दिया, मैं संस्कृत पढ़ने के लिए आया हूँ। हमारी जाति के ब्राह्मणों–सरयूपारियों–में नातेदारी से बाहर कच्ची रसोई खाने का रवाज नहीं; इसलिए अपने हाथ से रोटी बनायी। स्टेशन से उतरने से लेकर बराबर मन में खिचड़ी-सी पक रही थी। नवाजिन्दा-बाजिन्दा दुनिया की सैर के लिए यहाँ तक भगा ला सकते थे, लेकिन आगे के लिए पर कटे मालूम होते थे। पास के पैसे खतम होना चाहते थे। जल्दी निर्णय करना था, नहीं तो लौटने-भर का किराया भी समाप्त होनेवाला था। सब सोच-साचकर शाम तक मन ने और आगे की उड़ान को अनुचित बतलाया, और कहा–बस, रानी की सराय का टिकट कटाओ और लौट चलो।

रात की गाड़ी पकड़कर, और शायद मऊ में ट्रेन को बदलकर जब मैं आगे चला, तो नींद ने जोर पकड़ा, और रानी की सराय पार कर गाड़ी फरिहा पहुँची तो आँख खुली। उतरे, लेकिन टिकट से एक स्टेशन फ़ाज़िल चले आये थे। पास में पैसा था भी नहीं। शायद स्टेशनमास्टर ने तंग नहीं किया।

रात बिताई, सबेरे पन्दहा जाने में नाना के सवालों का डर मालूम होने लगा और मैंने कनैला का रास्ता पकड़ा।

10
प्रथम उड़ान

पहिला प्रयास विफल रहा, उसमें मैं असफल रहा; दिल ने गवाही दी–तुम नवाजिन्दा-बाजिन्दा बनने लायक नहीं हो। लेकिन आगे कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिन्होंने फिर मुझे साहस करने के लिए मजबूर किया।

नानी के मरने पर अब पन्दहा में नाना अकेले रह गये थे। आमों के पकने का मौसिम था, मई का मध्य या अन्त, जब मैं अपनी बहिन रामप्यारी के साथ पन्दहा पहुँचा। हमीं दोनों बहिन-भाई खाना बनाते और घर का इन्तिजाम करते, नाना के पैसा-कौड़ी का भी मैं ही खजानची था। एक दिन मक्खन को पिघलाकर घी बनाया, पिघले हुए घी को बिल्ली के डर से एक उल्टी नाँट के नीचे दबाना पड़ता था। घी को दबाते वक्त, अँधेरे घर में मुझे मालूम नहीं हुआ कि मटकी कहाँ है, नाँद का किनारा मटकी के ऊपर पड़ा। मैं तो नाँद दबाकर निश्चिन्त था, किन्तु दूसरे दिन देखा, तो सारा घी–करीब दो सेर–गिरकर जमीन में फैला हुआ है। नाना गुस्सा होंगे, इस डर ने मुझ पर आतंक जमाया, और फिर बैल की बिक्री के आये बाईस रुपयों को लेकर मैं रानी की सराय स्टेशन

की ओर चल पड़ा। रास्ते में शोभित का बाग पड़ता था। लाल-पीले आम दरख्तों पर पके हुए थे। शायद शोभित ही का आग्रह हुआ–दो-चार आम खाकर जाओ। लग्गी ली और आम तोड़-तोड़कर खाने लगे। रेल का समय नजदीक जानकर मैं स्टेशन गया। मुझे खयाल था, नाना को इतनी जल्दी खबर नहीं मिलेगी, क्योंकि मैंने बहिन से भी अपना इरादा जाहिर नहीं किया था। मामूली कपड़े, जो बदन पर थे, उन्हीं के साथ निकल पड़ा था। स्टेशन पर पहुँच गया। ट्रेन का लाइन क्लियर हो गया था, इसी समय देखा, नाना की विशाल मूर्ति बड़ी तेजी से लपकती हुई स्टेशन की ओर आ रही है। शायद शोभित से उन्हें मालूम हो गया था कि मैं स्टेशन की ओर गया हूँ। मैंने सीधे बाजार जानेवाली स्टेशन की सड़क पकड़ी, फिर पक्की सड़क पकड़कर बाजार-भर तो धीरे-धीरे, किन्तु उसके बाद तेज चलते-दौड़ते दूसरे स्टेशन आजमगढ़ का रास्ता लिया। स्टेशन पर मुझे न पा नाना ने न जाने क्या खयाल किया। शायद उन्होंने सोचा हो, शोभित ने उन्हें चकमा दे दिया। चाहे यह निर्णय न कर पाये हों कि अगले स्टेशन पर पूरब की ओर गया या पच्छिम की ओर। खैर, यदि उसी ट्रेन से वे स्टेशन चले आये होते, तो मेरे पकड़े जाने की पूरी सम्भावना थी, लेकिन उन्होंने वैसा किया नहीं।

आजमगढ़ स्टेशन शहर से बहुत दूर है, और आसपास के लोग उसे आजमगढ़ न कहकर पास के गाँव के नाम से पल्हनी कहते हैं। रानी की सराय से वह चार मील से कम ही है–लोगों के कथनानुसार। सिग्नल गिर चुका था, जब मैं रेलवे-क्रासिंग पर पहुँचा। स्टेशन पर पहुँच जाने पर जान में जान आई। सूर्य अस्त हो चुके थे, जब कि मैं ट्रेन में सवार हुआ। टिकट बनारस का लिया, क्योंकि वही रास्ता जाना हुआ था। बनारस में एकाध दिन ठहरा या आगे रवाना हुआ, इसका कोई स्मरण नहीं। वहाँ से मुगलसराय और फिर विन्ध्याचल जरूर गया। ये सब पहिले के देखे स्थान थे। विन्ध्याचल में शायद पुराने परिचित पंडा के यहाँ गया था। बनारस-मुगलसराय-विन्ध्याचल-मुगलसराय के बीच ही में मैंने सोलह-सत्रह रुपये खर्च कर डाले थे; जरूर इस आवा-जाही में मैंने कई दिन खर्च किये होंगे; क्योंकि गुलबकावली (हिन्दी) की किताब, लोटा-डोरी और एक गमछा छोड़ मैंने सारे पैसे खाने ही पर खर्च किये थे। मन जल्दी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच रहा था। हिचकिचाहट जरूर थी, किन्तु घर लौटना असम्भव था, वहाँ दो सेर घी बरबाद करने का ही कसूर न था, बल्कि बाईस रुपये लेकर रफूचक्कर होने, और उन्हें खर्च कर डालने का भी संगीन जुर्म सर पर था। अन्त में हार-पछताकर मन को निर्णय करना ही पड़ा–चलो कलकत्ता।

ट्रेन मुसाफिरों से खचाखच भरी थी, मैं किसी तरह उसमें सवार हुआ। किस तरह की ट्रेन थी यह तो मुझे याद नहीं, किन्तु इतना जरूर स्मरण है, शाम से रात-भर चलकर सबेरे वह हवड़ा पहुँची। लिलुआ में हमारे टिकट ले लिये गये थे। कलकत्ते में कहाँ जावेंगे, शायद रास्ते में यह खयाल तंग नहीं कर रहा था, क्योंकि समझा था वह भी बनारस ही ऐसा शहर होगा। लेकिन, जब हवड़ा के विशाल स्टेशन पर उतरा, तो वहाँ की अपार भीड़ को देखकर मुझे वह एक शहर या बड़ा मेला जान पड़ने लगा। उस वक्त हवड़ा स्टेशन में तीसरे दर्जे के मुसाफिर जहाँ बैठ ट्रेन का इन्तजार करते थे, वह मुसाफिरखाना दूसरी तरह का था। फर्श इतना साफ सीमेंट का न था। सिग्नल जैसे अनेक जोड़वाले लोह के ऊँचे खम्भों पर शायद टीन की छत थी। उस मेले में मेरी अक्ल गुम हो गयी। कहाँ चलना है, इस पर पहिले विचार नहीं किया था, यहाँ आने पर तरह-तरह की बोलियाँ, विचित्र वेश-भूषा दिखलाई पड़ रही थीं। सड़क पर जाकर देखे गंगा के पक्के घाट, पुल पर चलती अपार जनराशि, फिर नदी के आर-पार शहर की अट्टालिकाएँ दिखलाई पड़ीं; उन्हें देखकर मन पर एक आतंक छा गया। कहाँ जावें, किसके पास जावें ? बच्चा मामा या जवाहिर मामा के पास जावेंगे–यह किसी से पूछना अपने ही को भारी हिमाकत जँचती थी। लाचार, लौटकर मुसाफिरखाने के एक खम्भे के पास सटकर बैठ गया !

शायद इस तरह चुपचाप बैठे, और अपने किये पर पछताते मुझे एक युग बीत गये। मैं अथाह समुद्र में गोते लगा रहा था। समस्या के सुलझने का कोई रास्ता नहीं दीख पड़ता था। शायद मैं अब भी संघर्ष में डटा हुआ था, या मैदान छोड़कर "कश्ती खुदा पै छोड़ दे लंगर को तोड़ दे" कह रहा था। उसी समय एक गोरा पतला-सा लड़का–मेरी उम्र से कुछ ज्यादा का–मेरी ओर आया। उसके बदन पर धोती-कुर्ते के अतिरिक्त शिर पर शायद टोपी भी थी। वह भुक्तभोगी था, इसलिए बिना किसी हिचकिचाहट के मेरे पास चला आया। बात कैसे शुरू की,

इसकी कुछ याद नहीं। उसने जरूर पूछा होगा—कहाँ से आये हो ? हम मदरसा जानेवाले लड़के कुर्ते की आस्तीन
से सोख्ते का काम लेते थे, शायद उससे उसे अनुमान हुआ हो, कि मैं स्कूल का विद्यार्थी हूँ। अथवा दिहाती चरवाहे
और दिहाती विद्यार्थी में भी अन्तर तो हुआ ही करता है। हमारी बातचीत के बाद यह पता लगा, कि हमारे सहयोगी
बा. महादेवप्रसाद मेरी ही तरह हँडिया तहसीली स्कूल के छठे दर्जे के उर्दू के विद्यार्थी थे, और अब के ही साल
पाँचवें से छठवें दर्जे में आये थे। याद नहीं नवाजिन्दा-बाजिन्दा की प्रेरणा की मार उनके ऊपर भी पड़ी थी, उनके
तुरन्त भागकर आने का क्या कारण हुआ था, यह भी स्मरण नहीं। यह मालूम हुआ, कि वह मुझसे कई दिन
पहिले कलकत्ता पहुँचे। मैं तो दो-चार आने में खरीदकर एक गुलबकावली का मालिक बना था, और हमारे महादेवप्रसाद
अपना सारा बस्ता ही लेते आये थे। मेरी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता को देखकर उन्होंने हिम्मत बढ़ाते हुए कहा—मेरे ऊपर
भी वैसे ही बीती थी। लेकिन अब आठ आने महीने पर हमने वासा किराया ले रखा है। हमारी ही तरह भागकर
एक और तरुण साथ ही रहते हैं। महादेवप्रसाद मेरे लिए घोर अन्धकार में बिजली के चिराग बनकर मिले।
नवाजिन्दा-बाजिन्दा की लगाई आग बुझी नहीं थी, वह राख के बड़े बोझ से दब गयी थी। उनकी बातों को सुनकर
मेरी हिम्मत फिर ताजी हो गयी।

हम लोग वहाँ से उठकर हवड़ा पुल पार हुए। गंगा तटवाली सड़क को पकड़कर जगन्नाथ घाट की ओर
मुड़े—दिशा तो तब से आज तक कलकत्ता में मुझे मालूम ही नहीं होती। टकसाल के पास गुजरते वक्त
महादेवप्रसादजी ने बतलाया—यहीं रुपये-पैसे ढाले जाते हैं। इससे भी उधर मेरा चित्त इसलिए आकर्षित हुआ, कि
हम लोग रोजी का कोई सिलसिला ढूँढ़ रहे थे, और मालूम हुआ था, कि वहाँ काम मिलने की सम्भावना है। टकसाल
से आगे जोड़ा साखू की किसी गली में पहुँचे। वहाँ आस-पास अधिकतर 'खोलाबाड़ी' (बाँस के चँचरे की दीवार
और खपड़ैल की छत के मकान) थीं। कलकत्ता में आठ आने महीने का वासा सुनकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ,
क्योंकि अब तक किराये-भाड़े से मुझे वास्ता ही कब पड़ा था ? आश्चर्य होता भी तो अब वासा देखकर उसके
लिए गुंजाइश नहीं रह जाती। वासा नहीं, वह खुला हुआ बड़ा-सा मचान था। शाखू-खम्भे गड़े थे, उन पर कड़ियों
पर बाँस के फट्ठे बिछाए हुए थे। नीचे बड़ी सीड़ थी, किन्तु नीचे हमें रहना न था, वहाँ तो बाँस और शाखू
के बल्ले रखे हुए थे। ऊपर भी शायद एक ओर कुछ बाँस के फट्ठे रखे हुए थे। बाँस की सीढ़ी से ऊपर जाने
का रास्ता था। सिर्फ एक या डेढ़ तरफ चाँचर की दीवार थी, नहीं तो चारों ओर से 'कोठा' खुला हुआ था। फर्श
पर मिट्टी भी नहीं थी, सिर्फ़ रसोई की जगह थोड़ी-सी मिट्टी डाली हुई थी, जिसमें चूल्हे की आग से वह जल न
जावे। वस्तुतः बाड़ीवाले को तो हमसे आठ आना भी नहीं लेना चाहिए था, उतने का तो हम उसकी चीजों की
रखवाली कर दिया करते थे। वहाँ पहुँचने पर बीस-बाईस बरस के एक साँवले-पतले-लम्बे जवान मिले। महादेवप्रसाद
ने हमारा परिचय कराया। हम सबमें वही सबसे बुजुर्ग थे, उम्र के खयाल से, नहीं तो उनके लिए काला अक्षर
भैंस बराबर था। वे बस्ती जिले के ब्राह्मण-पुत्र थे। घर में बहुत-सी गाय-भैंसें थीं। हमारे दोस्त शायद अपने भाइयों
में सबसे छोटे थे, और उनका काम चरवाही करना था। गर्मियों या जाड़ों में वे अपने पशुओं को लेकर नेपाल-तराई
के जंगलों में चले जाते थे। वहाँ के दृश्यों को वह बड़े उत्साह के साथ वर्णित करते थे। शेर या हाथी से साबिका
पड़ने की बात तो उन्होंने नहीं की, किन्तु झाड़ियों में उलझ जाने पर भैंसों की सींग को उन्हें 'दाव' से काट देना
पड़ता था। उनको रह-रहकर अपनी तरुण स्त्री याद आती थी, जो दिन-भर के थके-माँदे गोसार में सोये अपने
पतिदेव के पैरों में तेल की मालिश करती थी।

रसोई कौन बनावे—यह प्रश्न उठने पर महादेवप्रसादजी के कायस्थ होने से उनकी बात ही नहीं उठ सकती
थी। रहे बाकी दो आदमी, उसमें रसोई बनाने में मैं कच्चा भी था, साथ ही बस्तीवाले देवता किसी दूसरे के हाथ
का पका खाना खाने को तैयार न थे। स्कूल की आबो-हवा ने मुझमें कुछ हेरफेर जरूर किया था, जिससे कि
मैंने आसानी से एक अज्ञात ब्राह्मण के हाथ का भोजन स्वीकार किया।

हमारे पैसे खर्च होते जा रहे थे, इसलिए सबसे ज्यादा फिक्र हमें काम ढूँढ़ने की थी। 14, 15 वर्ष के हम
दोनों जैसे लड़कों को नौकरी मिलना आसान काम नहीं था, तो भी हमारा अधिक समय उसी की तलाश में बीतता
था। मेरा परिचित तो कोई वहाँ मालूम नहीं हुआ, किन्तु महादेवप्रसाद अपने परिचितों—रेल में पैटमैन या कुली

का काम करनेवालों—के पास ले गये। कभी हम जगन्नाथ घाट पर जा बैठते थे। उस वक्त वहाँ एक अधेड़ साधु आया हुआ था, जो अँगरेजी सरकार और अंग्रेजों के खिलाफ़ कड़े-कड़े शब्द निकालता रहता था। हमारे जैसे कितने निठल्ले लोग उसके गिर्द जमा होकर सुनते रहते थे। उस समय बंगभंग के विरुद्ध सशस्त्र आन्दोलन शुरू हो गया था, किन्तु मेरे जैसे को उस दुनिया का पता ही कहाँ था ? सुननेवालों में से किसी-किसी को कहते सुना—जरूर यह कोई जासूस हे। हाँ, जासूस या पागल छोड़ वह तीसरा आदमी हो भी नहीं सकता था। दिन में एक बार हम हवड़ा स्टेशन पर जरूर पहुँच जाते थे, और दो-चार ही दिन के भीतर अपने जैसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ दो और व्यक्तियों को अपनी चौकड़ी में भरती करने में सफल हुए, इनमें एक आरा के 30 वर्ष की उम्र के थे, और दूसरे हम दोनों के ही समवयस्क तथा थोड़ा-बहुत पढ़े हुए जौनपुर जिले के एक क्षत्रिय-पुत्र। शायद कोई छठाँ भी आदमी रहा हो।

हमने अपना एक कम्यून् (साम्यवादी समाज) कायम कर लिया था। मैं, और मेरा का खयाल भूल गये थे। जिसके पास जो पैसा था, वह सार्वजनिक खर्च के लिए हाजिर था। तै किया गया कि जिसको भी नौकरी मिले, कमाई सबके खर्च में लाई जावेगी। सबेरे हम भूरी-भूँजा पर गुजारा कर लेते। दिन में एक बार शाम को दिन रहते ही रोटी बनाकर खा लिया करते थे। दिन में दो-दो की जोड़ी बनाकर नौकरी की तलाश में घूमा करते। कभी खिदिरपुर डक में जहाज से बस्ता उठाने के काम की तलाश में जाते, कभी कोयला-डिपो में कोयला-कुली के काम के लिए। हमारे लिखे-पढ़े का भी वहाँ कोई उपयोग हो सकता है, इससे हम निराश थे; इसलिए जाँगर की रोजी पर ही हमारी आशा थी। खैर, जहाज-कोयला-माल-गोदाम के कुली का तो कोई काम मिला नहीं; और मिलने पर क्या महादेव और मेरे ऐसे दुधमुँहे छोकरे—जिन्होंने पढ़ने के सिवा हाथ से कभी काम नहीं किया—उस काम को कर भी पाते ? अधिकतर मैं और महादेव साथ रहते, हम दोनों में बहुत अधिक समानता थी। शायद कभी-कभी अकेले भी घूमने चला जाता। एक बार हवड़ा में बर्न कम्पनी के कारखाने में काम का पता लगा। कुलियों की भरती ठीकेदारों द्वारा होती थी, उसने मुझे काम दे दिया। काम था मालगाड़ी के धुरे के दोनों सिरों—जहाँ पर गाड़ी रखी जाती है—को तेल और लत्ते से रगड़कर चमचम करना। वहाँ टीन के छत के नीचे सैकड़ों लोहार-मजदूर काम कर रहे थे। जगह-जगह नलकों से हवा निकल रही थी, जिनके सहारे पत्थर के कोयले की अँगीठियाँ जल रही थीं। हथौड़े और घन की आवाज से सारी टीन की छत गूँज रही थी। मुझे याद नहीं, महादेवप्रसाद भी उस समय मेरे साथ थे या नहीं। धुरा रगड़ने में थोड़ी ही देर बाद हाथ दुखने लगता। इधर-उधर निरीक्षक को न देखकर, कुछ सुस्ताते और फिर रगड़, जब उससे भी काम न बनता, तो पाँच-सात बार पेशाब करने चले जाते। मालूम नहीं, दो दिन काम किया या चार दिन। रहने का इन्तिजाम एक मिस्त्री के साथ था। मिस्त्री की स्त्री मेरे खाने-पीने की ओर बड़ा ध्यान रखती थीं, रसोई मैं खुद बना लेता था। मेहनत कुछ भी रही हो, किन्तु उससे डरकर नहीं बल्कि वहाँ से जोड़ासाखू में, साथियों से मिलने आया इसी खयाल से, 'गुलबकावली' और लोटाडोर को भी वहीं मिस्त्री के यहाँ छोड़ आया था।

इधर आने पर लौटना भूल गया। साथियों को छोड़कर जाना पड़ता, शायद यह भी उसमें कारण हुआ। फिर नौकरी की तलाश में—और बहुत कुछ निरुद्देश्य चक्कर काटना आरम्भ हुआ। कभी चितपुर, तो कभी धर्मतल्ला, कभी खिदिरपुर तो कभी नीमतल्ला। दिन में दस घंटे से क्या कम घूमते रहे होंगे। दीवारों पर चिपके बंगला इश्तिहारों को देखते-देखते न जाने कब बँगला वर्णमाला मुझे याद हो गई। हमारे बासे के बगलवाले घरों में बंगाली गृहस्थ रहते थे। उनके घरों की स्त्रियाँ कभी-कभी कुछ बात भी करती थीं, किन्तु मैं बहुत डरता था। मैंने सुन रखा था, बंगाल में बड़ा जादू है, वहाँ की औरतें जादू मारकर मेंढ़ा बना लेती हैं। मुझको उस वक्त इन बातों पर पूरा विश्वास था, और मैं मेंढ़ा बनने के लिए तैयार न था।

एक दिन मैं अकेला धर्मतल्ला से कहीं आगे जा रहा था। एक डाकिया भी उधर ही जा रहा था। पूछा-पेख हुई। नौकरी की तलाश कहने पर कहा—"नौकरी की क्या कमी है। बस्ता (बोरा) ढो सकते हो ?" "क्यों नहीं, और मेरे और भी साथी हैं ?" "अच्छा तो शाम को मेरे बासा में कुलीबाजार में आओ।" "मैं अपने और साथियों को लेकर आज आऊँगा। हम सब एक ही जगह काम करेंगे, एक ही जगह रहेंगे।" 'अच्छा' कहकर पोस्टमैन

चला गया। मैं लौटकर अपने बासे में आया। वहाँ जौनपुरी साथी मौजूद थे, बाकी लोग तलाश-रोजगार में गायब थे। शाम होनेवाली थी, और पोस्टमैन से मिलना जरूरी था, इसलिए मैं और ज्यादा इन्तजार नहीं कर सकता था। जौनपुरी को साथ लिये मैं चल पड़ा। खिदिरपुर काफी दूर है। वहाँ जाकर कुलीबाजार के ढूँढ़ने में भी दिक्कत नहीं हुई। शायद तब तक सूर्य डूब चुके थे। हम लोगों ने पोस्टमैन का पता लगाना शुरू किया। मुहल्ले में ज्यादातर देशवाली आदमी थे। वहाँ देशवाली पोस्टमैन का पता लगना मुश्किल न था, किन्तु यदि वह वहाँ हों तब न पता लगे। हम इधर से उधर पूछताछ में लगे ही हुए थे, कि बारिश शुरू हो गयी मूसलाधार। हमारे सारे कपड़े भींग गये, ऊपर से दो घड़ी रात बीत चुकी थी। इस समय जोड़ासाखू लौटकर जाना दूर की बात थी। अन्त में हमने आसपास के घरवालों से रात को रहने की प्रार्थना की। दो-चार जगह 'अज्ञात कुलशील' को बास देना अस्वीकृत हुआ; किन्तु आखिर एक घरवालों को वर्षा, रात और हमारी उम्र देखकर दया आ ही गयी। उन्होंने भीतर बुला लिया। शायद वहाँ चार-पाँच आदमी रहते थे, सभी पूरबी युक्तप्रान्त के। काम—शायद कुली का करते रहे होंगे। पूछने पर पहिले तो पोस्टमैन के न्योते की बात कही। घर-द्वार के पूछने पर जौनपुरी साथी ने दोनों का घर एक गाँव में बतला दिया। फिर तो हमें पुरोहित-यजमान का लड़का भी कहना पड़ा। भागकर आना—हमारी उम्र के लड़कों के लिए कलकत्ता पहुँचने का सर्वप्रसिद्ध कारण था। दूसरे दिन घरवालों ने रात का उपदेश जारी रखते हुए कहा—"परदेश में कलेश होगा, तुम्हारी उम्र के लड़कों को काम नहीं मिल सकता, घर चले जाओ। घर चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जायेगा न ?"

हम दोनों बोल उठे—"जरूर।"

"तो यहीं रहो। खाने-पीने की चिन्ता मत करो। चिट्ठी लिख दो, रुपया आ जाने पर घर चले जाना।"

शील-संकोच के मारे हम 'नहीं' करके वहाँ से चल देने की हिम्मत नहीं रखते थे, साथ ही एक बार के मुँह से निकल आये झूठ—हम दोनों एक गाँव के हैं—को वापस लेने के लिए तैयार न थे। रहने को रह तो गये, और जौनपुरी भाई के घर चिट्ठी भी लिखकर डाल दी गयी, किन्तु मुझे बड़ा तरद्दुद मालूम होने लगा। यदि कहीं इन लोगों को असली बात मालूम हो गयी, तो क्या कहेंगे। चिट्ठी के जवाब आने का समय जितना ही नजदीक आता जाता था, उतना ही मैं साथी से चल देने का आग्रह करने लगा, किन्तु वह चलने को तैयार नहीं था। लाचार, एक दिन मैं यह कहकर वहाँ से अकेला चल पड़ा—"मैं तो जाता हूँ, तुमको तरद्दुद में पड़ना हो तो रहो।" उसके बाद फिर उनसे मुलाकात नहीं हुई, इसलिए नहीं कह सकता—उन्होंने क्या किया।

मैं लौटकर हरीसन रोड से गुजर रहा था। उस वक्त आने-जाने की कोई खास जल्दी थी नहीं। कहीं देखने की कोई चीज हुई, तो उसे ही थोड़ी देर ठहरकर देखने लगता था। उसी जगह साफ़ धोती, कोट, गोल-फेल्ट टोपी लगाये हाथ में छाता लिये एक बूढ़े आदमी मिले। उन्होंने घर-बार के बारे में पूछा, और फिर बेसरोसामानी का पता लगने पर कहा—चलो, मैं तुम्हें अपना घर दिखला देता हूँ, जरूरत हो तो आना, यदि मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकता हूँ, तो करूँगा। उनकी कोठरी राजा बर्दवान के कटरे के तीसरे तल्ले पर थी। पाठकजी—बिन्दाप्रसाद पाठक, यही उनका नाम था—की बात पर मुझे विश्वास हो गया, और साथ ही कलकत्ता में मुझे एक अवलम्ब-सा दिखलाई पड़ा। किन्तु पहिले मुझे अपने साथियों क़ी खबर लेनी थी। जोड़ासाखू की खुली खोलाबाड़ी में किसी का पता नहीं था। जौनपुरी शायद कुलीबाजार से टले न थे। महादेवप्रसाद और दूसरे साथी रोजगार की तलाश में गये हुए थे। शाम तक किसी को आया न देख मैं पाठकजी के घर पर गया।

तीसरे तल्ले पर सीढ़ी के पास शायद 64 नम्बर की कोठरी थी। कोठरी 6 हाथ लम्बी, चार हाथ चौड़ी रही होगी। बगल में सीढ़ी के ऊपर एक थोड़ा-सा और स्थान था, जो नीचे की कोठरी से दो हाथ ऊँचे पर पड़ता था, और उसमें कभी कोई सामान रख दिया जाता था। दरवाजे के पास दो हाथ चौड़ी जमीन पानी गिराने और जूता रखने के लिए थी, फिर हाथ भर ऊँचा बाकी कोठरी का फर्श था। कोठरी के दूसरे सिरे पर खिड़की थी, और कलकत्ता की गर्मी में उसकी हवा बड़ी शीतल और सुखद मालूम होती थी। पाठकजी रसोई मारवाड़ी बासे में खाया करते, इसलिए कोठरी में कोयले या धुआँ-धक्कड़ की जरूरत न थी। उनको हुक्का पीने की बड़ी आदत थी, और उसके लिए टिकियों से काम चल जाता था। हुक्का की जगह मुरादाबादी कली थी। मेरा काम था, कोठरी

को साफ रखना, नीचे नलके से पानी भर लाना—जो कि सारे दिन के लिए एक घड़ा काफ़ी था, और जब पाठकजी घर पर हों तो दो-चार या दस चिलम भरकर देना। चिलम की बात पहिले मुझे नागवार मालूम होती थी, क्योंकि हमारे सरवरिया ब्राह्मणों में इसे घोर पाप समझा जाता था। मुझे तो इसके कारण पाठकजी के ब्राह्मण होने में सन्देह भी होता था, किन्तु एक बार रानी की सराय में किसी असिस्टेंट इन्स्पेक्टर ब्राह्मण को फ़र्शी गुड़गुड़ाते देखकर इस शंका का समाधान हो चुका था। धीरे-धीरे पाठकजी को मेरे कुल-शील, पढ़ने-लिखने आदि के बारे में और भी बातें मालूम हुईं। पाठकजी का बर्ताव मेरे साथ नौकर का-सा नहीं, लड़के जैसा होने लगा। उन्होंने पढ़ने का शौक देखकर मुझे अंग्रेजी पढ़ानी शुरू की।

पंडित बिन्दाप्रसाद पाठक—डाइरेक्टरी और चिट्ठी-पत्री में एम्-बी-पाठक लिखे हुए थे—मुरादाबाद की मियाँसाहेब की गली के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे। 1907 में उनकी आयु 55 से ऊपर थी। हिन्दी-उर्दू के अतिरिक्त वह अंग्रेजी भी जानते थे। फ़ौजी कमसरियट में वह कन्ट्राक्टर का काम कर चुके थे, और इसी सिलसिले में वे पेशावर और आसाम में रह आये थे। पीछे कलकत्ता में उन्होंने दलाली का काम शुरू किया, और कुछ वर्षों तक उनको बड़ी सफलता मिली। बँगला, बग्घी, नौकर-चाकर सब हो गये थे। लाखों का कारबार करते थे। किन्तु, इसी वक्त—उनके कथनानुसार नक्षत्र ने पलटा खाया—उनका कारबार पट पड़ा। थोड़े ही दिनों में बग्घी-बँगले, नौकर-चाकर सब विलीन हो गये, और वह अकेले रह गये। आज कई वर्षों से उनका नक्षत्र पल्टा खाये हुए था। पुराने कारबार के वक्त के जान-पहिचानी मारवाड़ी सेठ या किसी अंग्रेजी कम्पनी का कोई साहेब कभी कोई हल्का-सा काम दे देते थे, जिससे तीस-चालीस रुपये महीने का हिसाब लग जाता था। उसमें से 5 रुपया महीना वह मकान का किराया दे देते थे, बाकी में अपना खाना-खर्चा चलाते थे। उनके एकमात्र लड़के अपने शहर मुरादाबाद में ही रेलवे में क्लर्क थे। घर का खर्च किसी तरह चला लेते थे, और पिता के ऊपर घर चले आने के लिए बहुत जोर देते थे, किन्तु पाठकजी कहते थे—यहाँ समुद्र के किनारे पड़ा हूँ, न जाने किस वक्त लक्ष्मी की लहर चली आवे; मुरादाबाद जाने पर तो भविष्य से इस्तीफा दे देना पड़ेगा।

बस्तीवाले ब्राह्मण के सम्पर्क में आकर रिश्तेदारी में ही कच्ची रसोई खानी चाहिए—इस पारिवारिक नियम को मैंने तिलांजलि दी। पाठकजी का छुआ, तथा उनके गौड़ ब्राह्मणों के बासे का भोजन भी थोड़े-से मानसिक संकट के साथ मैंने स्वीकार कर लिया; किन्तु मुझे यह सुनकर बड़ा धक्का-सा लगा, जबकि मालूम हुआ कि महीने-भर से जिसे मैं रबड़ी समझकर बड़े चाव से खा रहा हूँ, वह दूध में भिगोई पावरोटी है! पावरोटी को मैं पूरा क्रिस्तानी खाना समझता था। पाठकजी ने हवड़ा पुल के पास ले जाकर पावरोटी की उन दूकानों को दिखलाया, जिनमें शंख से सफ़ेद मोटे-मोटे जनेऊ पहिने बंगाली ब्राह्मण पावरोटी बेचा करते थे। मैं पहिले बंगाली को ब्राह्मण ही मानने के लिए तैयार न था। मैंने समझ लिया, धरम तो चला ही गया, लेकिन सन्तोष करता था—अच्छा यहाँ कलकत्ता में घर-खान्दान का कौन है जो इसे जानता है। इसके बाद तो कितनी ही बार पाठकजी के साथ और अकेले भी मैं हवड़ा में स्टेशन के पास की एक सँकरी सड़क पर सिक्खों की तन्दूरी दूकानों पर चला जाता, और गर्मागर्म तन्दूरी रोटियाँ 'महाप्रसाद' के साथ छक आता। पाठकजी के साथ एक बार एक साहेब के बँगले पर जाना पड़ा, बेहरा ने लेमनेड की दो बोतलें लाकर सामने रखीं, तो मैंने उससे इन्कार नहीं किया। बंगाली हिन्दू भोजनालयों में तो अक्सर जाकर खाना खा आता था। किसी मुसल्मान क्रिस्तान होटल में खाना खाने तो नहीं गया, लेकिन पाठकजी ने उसके लिए भी मुझे तैयार कर दिया था, न खाना संयोग की बात थी।

पाठकजी दिन में दोपहर को थोड़ा समय छोड़कर बाहर ही घूमते रहते थे, उधर अंग्रेजी पढ़ने की मेरी रुचि कुछ बढ़ चली थी, इसलिए एक दिन वह मुझे ले जाकर विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय में दाखिल करा आये। फर्स्ट बुक पढ़ने को मिली। मेरे दर्जे में अधिकतर मारवाड़ी लड़के थे, एक सहपाठी को सरवरिया ब्राह्मण कहते सुनकर मुझे यह पता लगा, कि सरवरिया मारवाड़ में भी होते हैं। हमारे अध्यापक बलिया जिला के रहनेवाले एक दुबले-पतले सज्जन थे।

धीरे-धीरे कलकत्ता की नवीनता जाती रही। राजा चौक के नीचे की दूकानों की मसाला, हल्दी, प्याज की

गन्ध की विचित्रता भी लुप्त हो गयी। दोतल्ले के बंगाली बासे की 'झी' (नौकरानी) चिरदृष्ट होने से मेरी ओर जब लौंग बिंधा हरे पान का बीड़ा, अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में हँसी भरकर बढ़ाती; तो जादू के डर से मैं उसे अब छोड़ न देता। घर से चिट्ठी-पत्री भी होने लगी। नाना का बार-बार लौट आने का तकाजा था। इस तरह मेरा मन घर आने के लिए उतावला हो पड़ा। नाना ने चिट्ठी लिखी, रुपया भेज दिया। पाठकजी ले जाकर एक दिन हवड़ा गाड़ी में चढ़ा आये।

11

अन्यमनस्कता

रानी की सराय में रात को उतरा था, इसलिए रात को स्टेशन ही पर रह गया। सबेरे रानी की सराय के कुछ सहपाठियों से भेंट की। मेरी नजर में वे बिलकुल भिन्न-से मालूम होते थे। एक दिन पहिले-पहिल जब मैं पन्दहा से वहाँ पढ़ने गया था, तो वहाँ के लड़कों की थोड़ी-सी विभिन्नता उनकी नागरिकता की परिचायक मालूम होती थी; और आज चार महीने बाद कलकत्ते से लौटने पर वे मुझे नितान्त असंस्कृत अनागरिक मालूम होते थे। मैं अब सफ़ेद धोती, सफ़ेद कुर्ता, फ़ेल्ट टोपी और बूट जूता पहिने हुए था। धूप से बचने तथा साबुन-तेल से नहा-धोकर साफ़-सुथरा रहने का मेरे रंग और चेहरे पर भी जरूर असर हुआ होगा। तो भी मैं अपने कुछ पुराने साथियों से मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। मदरसा देखने गया नहीं, किन्तु रानी सागर पर महावीरजीवाली कुटिया की अब उतनी रौनक न थी। रेल के आने से पहिले वहाँ वही छोटा-सा मन्दिर और बगल में एक घर था। वही अब भी वहाँ थे, किन्तु बीच में वह कुटिया बहुत गुलजार हो गयी थी। बराबर पाँच-सात साधु रहा करते थे। बाजारवाले रसद-पानी देने में बड़ी तत्परता दिखलाते थे। वह तत्परता तो शायद अब भी कम न थी, लेकिन मालूम होता है यह परिवर्तन किसी योग्य साधु के न रह जाने के कारण हुआ। वहाँ अब एक अनपढ़ लँगड़ा साधु रह गया था। बन्दरों की भरमार अब भी वैसी ही थी।

नाना के सामने जाने में अब संकोच न था, क्योंकि बीच के चार महीनों और उनके भीतर हुई घटनाओं ने उनके दिल से दो सेर घी गिराने और 22) रुपये पर हाथ फेरनेवाली बात को भुलवा दिया–इसका मुझे पूरा विश्वास था। नाना मुझको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पढ़ाने की उनकी बहुत चाह थी, किन्तु अब मेरी इच्छा के विरुद्ध जोर देना नहीं चाहते थे। यद्यपि मैं सितम्बर के महीने में लौटा था, तो भी यदि तुरन्त पढ़ने में लग जाता तो मिडल की अगली परीक्षा में बैठ सकता था, यदि उपस्थिति का खयाल न किया जाता; किन्तु, न नाना ने कहा और न मैंने ही पढ़ने का नाम लिया। मेरा समय अधिकतर पन्दहा में बीतता, कनैला और बछवल भी एकाध बार हो आया था। इसी समय उमरपुर के परमहंस के दर्शन का मौका मिला। दिसम्बर या जनवरी (1908 ई.) में एक बार निजामाबाद गया। उस वक्त मेरे साथी परीक्षा की तैयार कर रहे थे। मेरे कलेजे में टीस-सी लगी, किन्तु अब क्या किया जा सकता था ?

नाना ने सर्वे में गाँव के सरकारी कागज में अपने नाम के साथ मेरा नाम दर्ज करा दिया था, जिस पर उज्र हुआ था, और बन्दोबस्त के डिप्टी ने समझाकर हटवा दिया, यह मैं पहिले लिख चुका हूँ। नानी ने अपने अन्त समय में बहुत जोर दिया, कि नातियों के नाम लिखा-पढ़ी हो जानी चाहिए, जिन्दगी का क्या ठिकाना है। उनके जीते-जी हम चारों भाइयों के नाम नाना ने अपनी सारी स्थावर सम्पत्ति हिब्बा लिख दी। ऐसा करके उन्होंने अपने भतीजों, विशेषकर बड़े भाई के लड़कों को युद्ध का अल्टीमेटम् दे दिया। इस वक्त अभी काना-फूँसी ही हो रही थी, खुला संघर्ष नहीं हो रहा था, तो भी भविष्य संकटापन्न दीख पड़ता था। वैसे नाना के छोटे भाई के दो लड़कों–सूरजबली और नरसिंह का भी नाना की सम्पत्ति पर उतना ही दावा था, जितना बड़े भाई के लड़कों का, तो भी वे अपने को जन-धन में निर्बल समझते थे, इसीलिए उनसे खटपट नहीं थी। नरसिंह मामा तो मेरे

समवयस्क थे, और अब मृत छोटी नानी के संकेत के अनुसार उनकी भावज तथा अपनी मामी के साथ हँसी-मजाक मेरे मनोरंजन का एक खास साधन बन गया था।

धीरे-धीरे जाड़ा बीत गया। गर्मी के महीने और उनके साथ आमों की फ़सल खतम हो गयी। बेकार रहते मन उकताने लगा, तब जाकर मैंने फिर पढ़ाई शुरू करना तै किया। निजामाबाद में नाम लिखाने के बाद देखा, मेरे पुराने साथी अधिकांश पास होकर चले गये हैं। नये साथियों में अधिकांश बाहर के स्कूलों से आनेवाले अपरिचित चेहरे थे, कुछ अब के साल के फेल तथा स्थानीय स्कूल के चौथे दर्जे के पास लड़के परिचित भी थे। अध्यापकों में परिवर्तन नहीं हुआ था। मेरे हृदय में एक प्रकार की उदासी बनी रहती थी। मैं अपने एक साल के खोये जाने को जिस रूप में देखता था, मुझे मालूम होता है, जैसे दौड़ में मेरी घोर पराजय हुई। दर्जे में जाते ही पुराने परिचित लड़कों ने मेरी योग्यता को काफ़ी बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया था, किन्तु उसको पूरा दिखाने में मुझे कुछ देर लगानी पड़ी। यही नहीं कि पिछले सवा वर्ष के पुस्तक-त्याग से मैं बहुत-सी बातें भूल गया था, बल्कि अब के साल की कई पाठ्य-पुस्तकें बदल गई थीं। वहारिस्तान की जगह एक दूसरी ही किताब आई थी। उक़लैदिस (रेखागणित) की जगह ज्यामेट्री आई थी। इतिहास में भी शायद कुछ परिवर्तन हुआ था। और इन पुस्तकों के कितने पाठ हो चुके थे, जब मैं फिर से दाखिल हुआ। रात को न पढ़ने की 'कसम' अब के भी मेरी जारी रही, तो भी दो-तीन महीने के बाद फिर मैं दर्जे और स्कूल का सबसे तेज लड़का हो गया।

इधर दो-तीन बरसों से मैं मलेरिया से बचा हुआ था। एक दिन पुराने पुजारी के यहाँ गया तो उन्होंने बतासा डाला हुआ तरबूजा खाने को दिया। बोर्डिंग में उसी दिन राब (पतले गुड़) में डालकर मक्का का लावा खाया। खाने में दोनों ही अच्छे लगे थे, किन्तु शाम को कै हुई, उसके बाद जड़ैया के साथ ज्वर। मालूम हुआ ज्वर या कमजोरी अभी कुछ दिन रहेगी, इसलिए मैं पन्दहा में बिना ठहरे कनैला चला आया। मुझे यह सुनकर बड़ा अफ़सोस हुआ कि मेरी बहिन मर गई। मरने के बाद जो रंज हुआ, उससे मालूम हुआ, कि मैं उसे कितना प्यार करता था। माँ की मृत्यु नानी की उपस्थिति के कारण सह्य हुई थी, और नानी के वृद्धापन ने उनकी मृत्यु को अवश्यंभाविनी कहकर सह्य बना दिया होगा, लेकिन बहिन के बारे में वैसे कोई कारण न थे, इसलिए उसकी मृत्यु को मैंने ज्यादा अनुभव किया। उसका चेहरा-मुहरा माँ से कुछ मिलता था, हाँ उसके बाल काले नहीं कुछ भूरे-से थे। वह किसी से झगड़ा करना नहीं जानती थी, और संकोचशीला थी। एक बार नानी के मरने के बाद हम दोनों पन्दहा में थे। किसी बात में मैंने उसे डाँट दिया—आखिर बड़ा भाई ही क्या जो छोटे पर कुछ हुकूमत न जताये। रामप्यारी चुपके उठी और कनैला चली गई। मुझे उसका बड़ा अफ़सोस हुआ, और नाना तो पता लगाने 10 मील दौड़-दौड़े कनैला गये। आजी बतला रही थीं—कोई बड़ी बीमारी नहीं थी। जरा-जरा जड़ैया आ रही थी, वह भी छूटती-सी मालूम होती थी। मुझसे कहा, 'बड़की मैया ! जरा दालान से बाहर जाती हूँ।' लौटकर तुरन्त ही आई। पुआल के बिछौने पर बैठने के साथ ही गिर पड़ी। मैं दौड़ी, देखा दो-तीन हिचकी आईं, जरा-सा खून मिला कफ़ गिरा, और उसका बदन ठंडा हो गया है।

रामप्यारी को मरे अभी हफ्ता नहीं बीता था। आमतौर से अविवाहित छोटे बच्चे का श्राद्ध नहीं होता, किन्तु पिताजी इसे माननेवाले न थे। वह अपनी रामप्यारी के प्रति प्रेम और श्रद्धा को किसी रूप में दिखलाना चाहते थे।

दो-तीन सप्ताह में अच्छा होकर मैं फिर निजामाबाद चला आया। उस साल वर्षा के शुरू होते ही से नाना और उनके भतीजों में हिब्बा के लिए झगड़ा हो रहा था। उन्होंने एक मुकदमा दीवानी में दायर किया था। लेकिन उन्हें वकीलों ने बतला दिया था, कि कानून नाती के हक को मानता है। वे यह भी नहीं साबित कर सकते थे; कि नाना और उनका सम्मिलित परिवार है; क्योंकि इसके खिलाफ़ छोटे नाना का नाना के नाम लिखा बैनामा मौजूद था। दीवानी में पक्ष कमजोर देखकर उन्होंने फ़ौजदारी शुरू किया। जबर्दस्ती खेत काट लिया। नाना अकेले और बूढ़े थे, बेचारे कहाँ तक ज़ोर लगाते। पिताजी को भी उनकी मदद में आना पड़ा, जिससे उनके घर का काम

हर्ज होने लगा। मैं इन खबरों को सुनता था, किन्तु अन्यमनस्क-सा रहता था।

परीक्षा के तीन-चार मास रह जाने पर सारे जिले के तहसीली स्कूल अपने यहाँ के छठे दर्जे (मिडल के अन्तिम दर्जे) के विद्यार्थियों का मासिक सम्मिलित इम्तिहान लेते थे। आजमगढ़ के किसी प्रेस में छपकर हर विषय के प्रश्नपत्र हमारे पास आते थे। इस परीक्षा से यह भी पता लगता था, कि कौन स्कूल और उसका कौन विद्यार्थी कितना तेज है ? सारे जिले के विद्यार्थियों में मेरा और मकबूल (?) का मुकाबिला रहा करता था, और सो भी जबान (भाषा) को लेकर; क्योंकि जहाँ उर्दू की नींव मेरी शुरू से नहीं बन पाई थी, वहाँ मकबूल को उसकी योग्यता बढ़ाने के अच्छे साधन प्राप्त थे। तो भी अधिक बार मैं ही प्रथम रहता रहा। मकबूल का मकान तो नहीं मालूम, किन्तु वह आजमगढ़ के तहसीली (मिडल) स्कूल में पढ़ता था।

जनवरी (1909 ई.) तक ही शायद हर तरह से तंग आकर पिताजी को मेरे चचेरे मामा लोगों से सुलह करनी पड़ी थी। उन्होंने देख लिया कि 5 कोस दूर दूसरे गाँव में जाकर वह लाठी तो लाठी, कानून की लड़ाई भी ठीक से नहीं कर सकते। उन्होंने यह भी देखा कि हजार-डेढ़ हजार की जायदाद के लिए पाँच-छै सौ रुपये अभी उनके खर्च हो गये हैं। मामा लोगों ने भी ऊँच-नीच सोचा और अन्त में मेरे फूफा पंच बनाये गये। उन्होंने फैसला दिया कि जायदाद के लिए मामा लोग भांजों को ग्यारह सौ (?) रुपये दें। नाना की भावना का खयाल करके उन्हें अपने साथ पत्थर के कोल्हू को भी कनैला ले जाने का अधिकार दिया गया। भतीजों में बच्चा पाठक और जवाहर तो बराबर कलकत्ता ही अपनी नौकरी पर रहते थे। रामदीहल की भाइयों से पटती कम थी, सीताराम सबसे बड़े भाई मुँहजोर बहुत थे, किन्तु असली दिमाग था सबसे छोटे रामदीन मामा का। झगड़े में रामदीन मामा का ही सबसे बड़ा हाथ था, किन्तु उनके प्रति मेरा भाव सदा सम्मान और प्रेम का था। उसका कारण भी था। उन्होंने रानी की सराय ले जाकर मेरा अक्षरारम्भ कराया था। वह लोअरप्राइमरी पास कर कुछ महीने निजामाबाद दर्जा 3 में पढ़ने गये थे–उस वक्त रानी की सराय में अपरप्राइमरी के दर्जे नहीं थे, लेकिन उन्होंने कहीं से उर्दू सीख ली थी। किताब आदि की सहायता से वह रोमन में भी लिख लेते थे–और रोमन लिखना उस वक्त मेरे जैसों की नजर में अंग्रेजी-साहित्य में पारंगति प्राप्त करना था। दूसरे-तीसरे दर्जे में पढ़ते वक्त जब मैं घर लौटता, रामदीन मामा घसीट उर्दू लिखकर मेरे पढ़ने की परीक्षा करते, और मेरे पढ़ लेने पर शाबाशी देते हुए नाना से कहते–चाचा ! अब केदारनाथ के पढ़ने में कोई हर्ज नहीं है। यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी होती। सच पूछो तो रामदीन मामा बचपन के मेरे प्रथम आदर्श थे, और शायद उसीलिए बीच के कड़वाहट के जमाने में भी मेरे भाव ज्यों के त्यों रहे। यह भी हो सकता है, कि पन्दहा की जायदाद के प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं था।

शायद जनवरी का ही महीना था, जबकि मैं पन्दहा में किसी छुट्टी में आया था। दोनों घरों में सुलह हो गई थी। नाना से उनके भतीजों, और खासकर भतीज-बहुओं का आग्रह था, कि वह वहीं रहें। रामदीन मामा की स्त्री (पहिली नहीं, जो मेरे बाल्यस्नेह और श्रद्धा की आराध्य देवी थीं) से नाना भी बहुत खुश थे, किन्तु उनको डर था, कि किसी दिन कोई ताना न मार दे–जमीन बेंच-खोंचकर तो नातियों को दे दिया, अब यहाँ पड़े हैं टुकड़ा तोड़ने के लिए। नाना कनैला जाने के लिए तैयार बैठे थे, लेकिन अभी गये नहीं थे। एक तरह नाना का घर उनके भतीजों के सुपुर्द हो गया था, और नाना उन्हीं के घर खाना खाते थे। अबकी मैं भी वहीं ठहरा। ऊख का मौसिम था, यद्यपि पत्थर के कोल्हू की जगह लोहे के कोल्हू का प्रचार हो जाने से ऊख के शर्बत में न वह मिठास थी, और न वह सामूहिक कार्य करने का दिलबहलाव। हाँ, इस समय मुझे एक काम करना पड़ा, जो मेरी स्मृति को उस दिन की ओर ले गया, जब कि रामदीन मामा ने ले जाकर रानी की सराय में मेरा अक्षरारम्भ करवाया था। बड़े नाना ने अपने पौत्र, रामदीन मामा के पुत्र दीपचन्द को मुझे ही ले जाकर अक्षरारम्भ करवा आने का आदेश दिया, और मुझे इस आदेश को पालन करने में बड़ी खुशी हुई। मालूम होता था, मैं उसके द्वारा एक बड़े ऋण से उऋण हो रहा हूँ।

लड़कपन से ही सम्मिलित बड़ा परिवार मुझे बहुत प्रिय लगता था। जब मैं अभी सात ही आठ साल का था, तभी मझगाँवाँ के एक राजपूत परिवार के रामफल, बाँके आदि 5, 6 लड़के रानी की सराय पढ़ने आते थे।

मझगाँवाँ पन्दहा से भी मील-डेढ़ मील और आगे है, इसलिए उन्हें रोज छै मील आना-जाना पड़ता था। मुझे देखकर रश्क आता था, जबकि वे पाँचों-छओं लड़के एक अँगोछे से भूँजा या सना हुआ सत्तू खाते थे। मझगाँवाँ में मैं सिर्फ़ एक बार गया था, और उनके घर को शायद नजदीक से देखने का मौका नहीं मिला। तो भी मुझे यह सुनकर बड़ी खुशी होती थी, कि उनके घर में चालीस-पचास व्यक्ति हैं, मन-भर चावल एक दिन में खर्च हो जाता है। वह परिवार मुझे आदर्श-सा मालूम होता था। मेरे सामने उस परिवार में अलगा-बिलगी नहीं हुई थी। इसी तरह का एक राजपूत परिवार कनैला के पास के एक गाँव··· में था। कनैला में हमारे यहाँ यजमानी नहीं होती थी, और यजमान के नाते था इन्हीं का एक परिवार। मैं बहुत छोटा था, जबकि उस परिवार के अन्तिम प्रधान का देहान्त हुआ था, और बाकी बचे लोगों में सबके विश्वास का पात्र कोई व्यक्ति न रह गया। मेरे चचेरे आजा (दादा) महादेव पांडे–जिनको मेरे आजा जानकी पांडे बहुत मानते थे–बड़े भाई के मरने के बाद मुखिया होकर सारे परिवार को इकट्ठा रखकर चलाने में समर्थ तो नहीं हुए–और शायद इसका बहुत कुछ दोष मेरी आजी की नीम-सी कड़वी जबान और क्षुद्र-हृदयता थी, किन्तु वे गाँव के प्रधान और आसपास के इलाके के भी एक माननीय पंच माने जाते थे। उक्त राजपूत परिवार के लोग उस वक्त परिवार के बँटवारे के लिए दौड़-धूप कर रहे थे। महादेव बाबा उन्हें बहुत समझा रहे थे इकट्ठा रहने के लिए, लेकिन वे उसमें सफल न रहे। मैं समझता हूँ, सम्मिलित परिवार की मौखिक बरकतों को यदि सुनने का मुझे कभी मौका मिला होगा, तो इसी समय। सम्मिलित और बड़ा परिवार, मालूम होता है, मुझे स्वभावतः प्रिय था, यह मैं आज साम्यवादी मनोभाव के कारण नहीं कह रहा हूँ। दाल मुझे बहुत नापसन्द थी, चावल को भी मैं खा नहीं सकता था; किन्तु, मुझे तअज्जुब होता था, कि कनैला के बिरादरी के भोजों में मटर की भी दाल मुझे इतनी स्वादिष्ट क्यों मालूम होती है ? साठी का बिलकुल मोटा-झोंटा भात बार-बार मैं माँगकर क्यों खाता जा रहा हूँ ? हो सकता है सम्मिलित बड़े परिवार और सम्मिलित बड़े भोज मुझे इसलिए ज्यादा आकर्षक मालूम होते हों, कि मेरे नाना के घर में दो बूढ़े व्यक्ति और मैं अकेला लड़का था, उस पर से खेल-कूद में भी मुझ पर कड़े निर्बन्ध थे, और इसीलिए एक ही परिवार में बहुत-से बच्चों को देखने के लिए मैं तरसा करता था।

कुछ भी हो, नाना के यहाँ के झगड़े की शान्ति से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। बरसों से मुझे देखते ही रामदीन मामा के घर की कितनी ही त्योरियाँ जो चढ़ जाया करती थीं, अब उनमें एक तरह का स्नेह दिखलाई पड़ता था। कह नहीं सकता, उस बार रामदीन मामा से मुलाकात हो पाई। वे पढ़ाई छोड़ने के बाद कुछ समय तक घर पर रहे, फिर पोस्टमैन हो गये, रहते जिले ही में थे, किन्तु घर से दूर। पहले जब मैं रानी की सराय में पढ़ा करता, तो अतवार की छुट्टियों में उनसे भेंट हुआ करती, किन्तु निजामाबाद चले जाने के बाद उसका बहुत कम मौका मिलता था।

-

निजामाबाद की पढ़ाई के दिन समाप्ति पर पहुँच रहे थे। नौ महीने पहिले सहपाठियों में जो अधिकांश अपरिचित चेहरे देखे थे, अब वे सुपरिचित हो गये थे। आज (21-4-40) 31 वर्ष बाद, सो भी 23 साल से जब कि जिले तक को देखने का मौका मिला, यदि सभी नाम याद नहीं पड़ रहे हों, तो स्मृति को बहुत दोष नहीं दिया जा सकता। उनमें से बहुत-से चेहरे अब भी स्मृति-पट पर साफ़ दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि वे 31 वर्ष के पहले के उनके लड़कपन के चेहरे हैं, और उनके बल पर आज अपने उन सहपाठियों को पहचानना मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। 'नई' गाँव को बहुत बचपन से ही पन्दहा से कनैला आते-जाते मैं रास्ते से कुछ हटकर देखा करता था। वहाँ के तीन लड़के मेरे साथ पढ़ते थे। तीनों चचेरे भाई किन्तु एक परिवार के थे। पतले-दुबले तो सभी थे, किन्तु बड़े श्यामनारायण पांडे सबसे ज्यादा दुबले थे, शायद इस अन्दाज में उनकी लम्बाई भी कारण रही हो। वह और सबसे छोटे भाई पढ़ने में अच्छे थे, मझले पढ़ने में कमजोर; किन्तु वे अक्सर हमारे रविवार के 'व्रत' (मांसभोजन) में शामिल हो जाया करते थे। मुझे याद नहीं, कभी इन तीनों भाइयों की मुझसे अनबन हुई हो, किन्तु बाकी दो भाई ताना दे देते थे–केदारनाथ तो हमारे भाई को फोड़ लेते हैं। मेंहनगर के दो चचा-भतीजे महाब्राह्मण लड़के पढ़ते थे, उनमें

भतीजा मेरी उम्र का था, दर्जे में मेरे बाद तेजी में उसी का नम्बर था। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा था, क़द और आयु में मेरे बराबर होने पर भी वह बहुत मजबूत था, मिडल पास करने के बाद एक बार बनारस में उनसे भेंट हुई थी, वह वहाँ कोतवाली में कान्स्टेबल थे।

सारे जिले के मिडल के लड़कों का इम्तिहान आजमगढ़ के मिशन स्कूल में हुआ करता था। यह वही मिशन स्कूल था, जिसके बारे में रानी की सराय के आरम्भिक दिनों में नाना कहा करते थे–उर्दू पढ़ जावे, फिर तो जहाँ मैंने एक बार पादरी साहेब (मिशन स्कूल के हेड मास्टर) को फ़ौजी सलाम दिया, कि उसे भरती करवाकर छोड़ूँगा। उनके फुफेरे भाई इसी स्कूल में पढ़े थे, जो कि पीछे सब-जज बनकर जवानी ही में मरे थे। स्कूल के पास ही एक घर किराये पर लिया गया था, जिसमें हम निजामाबादी परीक्षार्थी ठहरे हुए थे। याद नहीं हम लोगों के साथ कौन अध्यापक गया था। दस बजे परीक्षाशाला में हम पहुँचते थे। सारे युक्तप्रान्त के लिए एक ही तरह के प्रश्नपत्र छपकर आते थे। हम उर्दूवालों के पर्चे नस्तालीक में नहीं, बल्कि काँटेवाले टाइप में छपे होते थे। देखने में तो खैर वे भद्दे होते ही हैं, साथ ही उनके पढ़ने में विद्यार्थियों को दिक्कत भी होती है। हम लोगों की प्रायः सारी ही पुस्तकें नस्तालीक में छपी थीं, इसलिए हमारे वास्ते और भी दिक्कत थी। और मुझे तो इन कँटीले टाइपों का गुन और भी नहीं भूल सकता, क्योंकि मेरे जीवन-प्रवाह को एक दूसरी धारा में बहाने में उनका भी खास हाथ होता था। मेरे फेल होने की तो कोई सम्भावना थी नहीं; हाँ, सवा साल पढ़ाई छोड़कर पहिले के पढ़े को भुलवा देने तथा पाठ्य-पुस्तकों के परिवर्तन के बाद भी लोगों की राय थी, कि मुझे सरकारी छात्रवृत्ति मिलेगी। लेकिन जब इन कँटीले टाइपों में छपे अनुवाद के पर्चे में 'इलाहाबाद' या 'अल्लाह अल्लाह' में से एक की जगह दूसरा पढ़कर मैंने सारे अनुवाद ही को उल्टा कर डाला, तो मुझे तो पूरा सन्देह हो गया।

परीक्षा देकर मैं कनैला चला आया। अब की एक से अधिक बार उमरपुर के परमहंस बाबा की कुटी पर गया। परमहंस बाबा के बारे में चारों ओर ख्याति थी, कि वे 120 वर्ष के हैं। आसपास के कितने ही बूढ़े आदमी गंगा-तुलसी उठाने के लिए तैयार थे, कि पिछले पचास सालों से वे उन्हें उसी सूरत में देख रहे हैं। परमहंस बाबा अपने जन्मस्थान पोखरा (नेपाल) से काशी विद्या पढ़ने आये थे। वहीं वैराग्य हुआ, और संन्यासी हो गये। बनारस में जब रेल आयी, तो वे राजघाट की एक गुफा में योगाभ्यास करते थे। किसी अपने भक्त से उन्होंने रेल से दूर ले चलने के लिए कहा, जिस पर वह उन्हें कटहन से दक्खिन के अपने गाँव में ले आया। एकाध जगह कुटी बदलने के बाद आसपास के गाँवों से मील-मील पौन-पौन मील दूर मँगई नदी के दाहिने तट को अपने लिए पसन्द किया। जल्दी ही वहाँ उनके लिए कुटी बन गई। एक-दो कोठरी और बरांडेवाली खपड़ैल से छाई मूल कुटी थी। इसके चारों ओर खपड़ैल से छाई कच्ची चहारदीवारी। इस चहारदीवारी के बाहर एक और बड़ा हाता–मिट्टी के ऊँचे 'खाँवें' (परिखा) से घिरा था, जिसके भीतर दो पोखरियाँ, एक झोंपड़ी और बहुत-सी खाली जगह थी। उत्तरवाली पोखरी में पक्की सीढ़ियाँ थीं; और इसमें परमहंस बाबा को छोड़कर कोई दूसरा, नहाने-धोने की तो बात ही क्या आचमन भी नहीं कर सकता था। पूरबवाली पोखरी सार्वजनिक सम्पत्ति थी। भीतरी चहारदीवारी के दरवाजे के बाहर पूरब मुँह की एक फूस की झोंपड़ी थी, जिसमें सस्य भक्त लोग बैठा करते थे। हाँ, सस्य भक्त इसलिए कहता हूँ, कि परमहंस बाबा भक्तों को भी असह्य समझते थे। कुटी के बाहरी हाते के भीतर घुसने पर भी कितनों पर मार पड़ती थी। चरवाहे डर के मारे अपने पशुओं को दूर रखते थे। यह डर मार का उतना नहीं था, जितना परमहंस बाबा के सिद्धबल का। आसपास के साधारण लोग ही नहीं, फूफा महादेव पांडे जैसे संस्कृत के धुरन्धर पंडित और कितने ही अंग्रेजी पढ़े-लिखे अफ़सर तक उन्हें अगाध पंडित, जीवन्मुक्त योगी और सिद्ध मानते थे। लोग जब दुःख-सुख में उनसे वरदान माँगने जाते, और उनके इनकार करने तथा चले जाने के लिए कहने पर भी नहीं हटते थे, तो कभी-कभी वह डंडा भी चला देते थे, किन्तु जिस पर डंडा पड़ता था, वह समझता था, हमारा मनोरथ सुफल हो गया।

परमहंस बाबा में दिखलावा नहीं था। वह एकान्तप्रिय थे, और अपनी भीतरी चहारदीवारी से बाहर शायद ही कभी निकलते थे। भीतरी चहारदीवारी के भीतर इमली के कितने ही दरख्त तैयार हो गये थे, जिन पर चिड़ियों ने कब्जा जमा लिया था। शायद यह उन्हें नापसन्द न था, क्योंकि कभी-कभी चिड़ियों को चहचहाते देख, वह

भी उस तरह नकल करके कहते थे–'चूँ चूँ करता है।' एक बार हजारों चिड़ियों ने अपना शहर बसाकर बाकायदा बहस-मुबाहसा शुरू कर दिया। परमहंस बाबा ने इमली की सारी डालियों को कटवा दिया, और चिड़ियों को डंडा-कुंडा लेकर भागने के लिए मजबूर किया।

परमहंस बाबा की सेवा में दो व्यक्ति बहुत तत्पर थे, एक हरिकरणदास–हाँ, यह संन्यासी का नाम नहीं है। हरिकरणसिंह पास के गाँव के एक जवान राजपूत थे। परमहंस बाबा की सेवा के लिए वे घर का कारोबार छोड़ वहीं–किन्तु कुटिया से दूर हटकर, परमहंस बाबा अनन्य सेवक को भी पास रहने नहीं देते थे–रहने लगे। बाबा तो किसी को चेला बनाते न थे, इसलिए हरिकरणसिंह ने स्वयं गेरुआ रंग लिया, चुटिया-जनेऊ तोड़ फेंके, और हरिकरणदास बनकर कुटिया से तीन-चार सौ गज दूर दक्षिण तरफ़ एक खपड़ैल की कुटिया में रहना शुरू किया। परमहंसजी के भोजन तथा भीतरी कुटिया की सफ़ाई आदि का भार उनके ऊपर था। उनके अतिरिक्त बालदत्तसिंह एक दूसरे भक्त थे। इन्होंने बूढ़ी माँ, स्त्री, तथा घरबार छोड़ वैराग्य और सन्त-सेवा के लिए परमहंस बाबा की कुटिया पर धूनी रमाई थी। बालदत्तसिंह ने कपड़ा नहीं रँगा था। घर में रहते वक्त भी वह धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे, और मेरे पिता से उनकी बहुत पटती थी–दोनों में पुरोहित-यजमान का भी नाता था। परमहंस बाबा पहिले ब्राह्मण-क्षत्रिय के घर के बने भोजन को खा लिया करते थे, एक बार किसी स्वच्छन्दवृत्ति स्त्री ने परमहंसजी को खिलाकर पड़ोसियों को ताना मारा–"तू क्या कहैगी, मेरे हाथ की रसोई तो परमहंस बाबा ने स्वीकार की।" इसी के बाद किसी के घर की रसोई खाना उन्होंने छोड़ दिया। यह नये स्थान पर आने से बहुत पहिले की बात है। मामूली फल-फूल छोड़कर, बाकी भोजन वह सिर्फ एक व्यक्ति का स्वीकार किये हुए थे। खजुरी के एक राजपूत जमींदार को इसका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी ओर से एक दूध देनेवाली भैंस बराबर आया करती थी। बालदत्त भैंस की सेवा द्वारा परमहंसजी की सेवा करते थे। गोभी-आलू की गाढ़ी तरकारी, रोटी से नहीं, खाली खाने के लिए, और दूध में भिगोया धान का चूरा परमहंस बाबा का प्रधान भोजन था। ऊख का रस भी उन्हें पसन्द था, इसके लिए लकड़ी के बेलन का कोल्हू बाहरी हाते की मँड़ैया के सामने गड़ा हुआ था।

मेरे पिता धार्मिक आदमी थे, किन्तु अन्ध श्रद्धा उनमें बहुत कम थी। सिसवा के पौहारी बाबा की कनैला और आसपास के गाँवों में बड़ी पूजा होती थी; किन्तु पिताजी साधारण शिष्टाचार-भर का उनसे सम्बन्ध रखते थे। इसी तरह आजमगढ़ के पास के एक कबीरपंथी साधु भी दो-तीन अनुयायियों के साथ हर साल गाँव में अनाज जमा करने आते थे। गाँव के बीच में एक पुराना पीपल का वृक्ष था, जिसे गाँव की स्थापना के समय ही रोपा गया बतलाया जाता था। गाँव के पास का पोखरा भी तभी खोदा गया था, किन्तु पानी नहीं निकल रहा था। कहते हैं; उसी समय गोविन्द साहेब एक सिद्ध फ़कीर कनैला पहुँचे। उन्हीं के वरदान से पोखरे में पानी निकल आया, और उन्हीं ने अपने हाथ से यह पीपल लगाया था। इस पीपल को भी 'गोविन्द साहेब' कहा जाता था। उस विशाल वृक्ष की घनी छाया गर्मियों में बहुत शीतल मालूम होती थी, गाँव-भर के कितने ही आदमी उसके नीचे या पास के सुखदेव पांडे की बैठक में बैठे रहते थे। रामायण और फाग-मंडली के जुटने का यही स्थान था। कबीरपंथी महात्मा भी आकर यहीं ठहरते थे। परमहंस बाबा की बात दूसरी थी। दूसरे सन्त-महात्माओं से गाँव के लोग तभी खुश रहते थे, जब वे प्रसाद बाँटने में उदार देखे जाते। पौहारी बाबा तिन्नी के चावल के भात में घी-साग-तरकारी आदि मिलाकर चूँ चूँ का मुरब्बा बाँटते थे, कबीरपंथी महात्मा नारियल-गिरी के टुकड़े। पिता का अनुराग इन महात्माओं में न था, किन्तु परमहंसजी के वे बड़े भक्त थे। बालदत्त और पिताजी के कारण मैं भी वहाँ आने-जाने लगा। शायद हरिकरणदास से एकाध बार बात करने का भी मौका लगा था, और मुझे साधु-जीवन की ओर हल्का-सा आकर्षण भी हुआ, किन्तु भविष्य के गर्भ में जो था, उसका अभी कोई आभास न दिखलाई पड़ता था।

परीक्षा देकर आने के बाद दो सप्ताह से ज्यादा घर पर नहीं रह सका। तबियत लग नहीं रही थी।

12
दूसरी उड़ान

'सैर कर दुनिया की गाफ़िल' का मंत्र चैन नहीं लेने दे रहा था। पहिली उड़ान के लिए घी का गिरना और नाना की डाँट का डर भी कारण था, किन्तु अब की बार के लिए उसकी आवश्यकता न थी। रास्ते के लिए पैसे की जरूरत होती है, यह तो मैं शैशव से जानता था, जबकि सुना था कि नाना अपने पिता के रखे सौ रुपयों को लेकर सुदूर दक्षिण-हैदराबाद की ओर चंपत हुए थे। मुझे अब की बार एक या दो रुपये तथा रुपयों की मालावाला जेवर हाथ लगा। माला को तो प्रश्नोत्तर के डर से मैं नहीं बेंच सका, और आठ महीने बाद उसे वैसा ही लौटा लाया, लेकिन रुपयों ने कलकत्ता पहुँचने में मदद दी। रेल का टिकट शायद मुगलसराय हीं तक खरीदा जा सका, बाकी सफ़र टिकट के बिना ही तै हुआ। शायद रास्ते में कोई टिकट-चेकर नहीं मिला। लिलुआ में कैसे जान बची, इसका भी स्मरण नहीं। दो साल पहिले के कलकत्ता आने और अब के आने में बहुत अन्तर था। अब मैं वह पुराना सीधा-सादा चौदह वर्ष का गँवार लड़का न था, जिसकी अकल हवड़ा के मुसाफिरखाने ही को देखकर खब्त हो जाती। मुझे पुरानी यात्रा के तजरबे के अतिरिक्त यह भी मालूम था, कि मेरे मेहरबान पाठकजी कलकत्ता में मौजूद हैं।

पाठकजी अब भी अपनी उसी कोठरी में रहते थे। अभी भी उनके लिए लक्ष्मी की लहर का कहीं पता न था। हाँ, अपना खर्च किसी-न-किसी तरह चल जाता था। आजमगढ़ में अभी कैरियाँ देखकर आया था, किन्तु यहाँ कलकत्ता में पके आम बिक रहे थे। उस वक्त पाठकजी ग्रेट ईस्टर्न होटल को चटनी-मुरब्बे के लिए आम देने का ठीका लिये हुए थे। मुझे आने के साथ ही काम मिल गया। बाजार में आमों को गिनवाने तथा होटल में उन्हें सँभलवाने में मैं भी उनकी सहायता करता था। आमों का काम खतम हो जाने पर हवड़ा में रेलवे का कोई उच्च कर्मचारी पेंशन लेकर विलायत जा रहा था। पाठकजी ने उसकी कोठी की चीजें नीलाम ली थीं। पाठकजी के पास, वस्तुतः उनके खरीदने के लिए भी रुपया कहाँ था, रुपया किसी मारवाड़ी सेठ का था, नफ़े में कमीशन पाठकजी को भी कुछ मिलनेवाला था। कोठी से सामान लाने में मुझे भी सहायता करनी पड़ी। उसी वक्त मुझे मालूम हुआ, अंग्रेजों की तरह रहने में कितने सामान की आवश्यकता होती। दर्जनों तो छुरियाँ थीं। काँटे, छोटे-बड़े-चम्मच, प्याले, चायदानियाँ, प्लेटें, तश्तरियाँ और खाना परोसने तथा खाने के न जाने कितने बरतन थे। सूती-ऊनी कपड़ों के बीसियों सूट थे। कुर्सी-मेज आदि के साथ एक मलाई का बर्फ़ जमाने की मशीन भी थी। सामान लदवाकर लाया गया। कुछ चीजें तो थोक ही बेंच दी गयीं, किन्तु कपड़ों में से कितनों को पाठकजी ने मेरे वास्ते फेरी के लिए छोड़ रखा। चन्द दिनों मैंने उन कपड़ों की फेरी भी की। कालेज स्क्वायर के जैसे लोहे के कठघरों पर उन कोटों, कमीजों और पतलूनों को टाँग देता था, और फिर गाहकों के आने की बाट जोहता था। गाहक मेरे पास शायद ही कभी आये। मैं समझता था, बिक्री में भी हाथ-हाथ की बात होती है, किन्ना को मछली और आम मारने में अधिक सफलता प्राप्त करते देख ऐसा ही मैं समझा करता था। मुझे उस वक्त खयाल नहीं आता था कि जिन लोगों के सामने मैं इन सूटों—अधिकांश जीन के—को फैलाये हुए हूँ, उनमें से एक भी तो, इनाम देने पर भी उन्हें पहिनकर बाजार में चार कदम चलने के लिए तैयार नहीं हो सकता। हार मानकर फेरी का काम बन्द करना पड़ा।

मारवाड़ी सेठों के काम के लिए पाठकजी को साहेब लोगों के पास अक्सर आना-जाना पड़ता था। हवड़ा स्टेशन के मालगोदाम के सुपरिन्टेंडेन्ट या असिस्टेंट सुपरिन्टेंडेन्ट से उनका परिचय था। वह एंग्लो-इंडियन था। पाठकजी के कहने पर उसने मार्कामैन का काम मुझे दे दिया। मुझे अभी काम सीखने को मिला था, और मुफ्त ही वहाँ कितने ही बंगाली तरुण काम करते या करने के लिए लालायित थे। उम्मीदवारों को भी रोज कुछ-न-कुछ आमदनी हो जाती थी, और नौकरी मिल जाने पर तो वह खासी आमदनी की नौकरी समझी जाती थी। काम था बिल्टी देखकर सफ़ेद या काली स्याही से माल पर भेजने और पानेवाले स्टेशनों के संकेताक्षर तथा बिल्टी के

नम्बर को अंग्रेजी में लिख देना। इसके लिए बहुत ज्यादा अंग्रेजी जानने की जरूरत न थी। माल बहुत पड़ा रहता था, जब तक मार्का न पड़ जावे तब तक माल रवाना नहीं हो सकता था, इसीलिए हर एक माल भेजनेवाला मार्का बाबू की भेंट-पूजा के लिए तैयार रहता था। मुझे छोड़ सभी मार्का बाबू बंगाली थे। वह पुराने और उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे। पैसा मिलनेवाला मार्का कभी मेरे पास नहीं आया। मुझे उस आमदनी की उतनी चिन्ता भी न थी, क्योंकि भोजन के लिए मैं निश्चिन्त था। पाँच-सात दिन बाद मालूम हुआ, मेरे नजदीकी चचा जयमंगल भी उसी गोदाम में कुली का काम करते हैं। वह कभी-कभी चीनी का शरबत पिलाते थे। जब लाखों मन चीनी को वहाँ से गुजरना था, तो शरबत का कौन दुःख ! एकाध फटे बोरे निकल आने से लखपती व्यापारियों का दीवाला थोड़े ही निकलनेवाला था।

दो-तीन सप्ताह बीतते-बीतते मेरा मन वहाँ से ऊब गया। काम मैं अच्छी तरह करने लगा था, किन्तु वहाँ दिल बहलाव के लिए कोई साथी न था। दूसरे बाबुओं से भाषा-भेद के कारण भी शायद घनिष्टता न पैदा हो सकती थी, लेकिन उससे भी अधिक कारण था उनका मेरे रहने को भीतर ही भीतर नहीं पसन्द करना। साहेब की ओर से भेजे जाने के कारण वह मेरा कुछ कर नहीं सकते थे, किन्तु उनके अलग-थलगपन ने खुद मेरे ऊपर असर डालना शुरू किया। यदि जीविका और रुपये कमाने की फ़िक्र होती, तो उस एकान्तता को सह्य भी कर लेता, और कुछ महीने रहने के बाद शायद कुछ दोस्त भी बन जाते, इस प्रकार हवड़ा मालगोदाम की मार्कामैनी अचल हो जाती; लेकिन क्या करूँ, स्वभाव से मजबूर था। काम छोड़कर मैं चला आया, उसके बाद भी साहेब बने पाठकजी से मुझे भेजने के लिए कहा, किन्तु मैं नहीं गया।

पाठकजी मुरादाबाद के रहनेवाले थे, यह कह चुका हूँ। उनकी और उनके शहर के कुछ दूसरे साथियों की बोली सुनकर मुझे पता लगा, कि किताबों से पढ़ी और माँ के दूध के साथ बोली जानेवाली हिन्दी में कितना अन्तर है। कह नहीं सकता, पहिले के चार और अब की के आठ मास के सहवास में मैं भी पाठकजी की-सी हिन्दी (या उर्दू कहिए) बोलने लगा था, किन्तु दोनों के उच्चारण और मुहावरे की बारीकियों को तो जरूर समझता था। पाठकजी के हाथ में था ही क्या, किन्तु पैसा होने पर वह बहुत उदार हो जाते थे, साथियों की मदद करने में। मैं तो उनका पोष्य पुत्र-सा हो ही गया था, उनके शहर के एक व्यक्ति–जिनका नाम तो कुछ दूसरा था, किन्तु एक आँख के धनी होने के कारण सब लोग उन्हें 'नवाब' 'नवाब' कहा करते थे–को कितनी ही बार वह सहारा देते थे। 'नवाब' साहेब दस-बारह वर्ष से कलकत्ता में रहते थे। कचालू फ़र्स्ट क्लास का बनाते थे। सवा रुपये की घुइयाँ, आलू, केला, अमरूद, नीबू, मसाला आदि चीजें लगती थीं। सबेरे से दोपहर तक चीजों को तैयार करने में लगता था। बारह बजे बाद नवाब साहेब अपना खोंचा लेकर निकल जाते तो शाम तक तीन-साढ़े तीन रुपये तो धरे हुए थे। डेढ़-दो रुपये रोज कमा लेना 'नवाब' के लिए बायें हाथ का खेल था, लेकिन नवाब पूरे नवाब-मिजाज थे। रुपये हाथ में आते ही उन्हें काटने लगते थे। सट्टे के पीछे वे मरते थे। अफ़ीम, चाँदी ही नहीं, पानी का भी जुआ कलकत्ता में होता था। तुलापट्टी में किसी मारवाड़ी सेठ के छत का पनाला बह निकलता और पानी के खेला में पैसा लगानेवालों के पौ-बारह हो जाते। रुपया पास हो और नवाब सट्टे के बाड़े में न जावें, यह असम्भव बात थी। और फिर सट्टा करते उनको इसका भी ध्यान नहीं रहता था, कि खोंचे के लिए माल खरीदने-भर का पैसा तो बचा रखें। दस-पाँच दिन खोंचा लगाते, कुछ पैसे जमा होते, फिर मूलसहित सट्टेबाजी में हार आते। दो दिन चार-दिन भूखे पड़े हैं, मारे-मारे फिर रहे हैं, किसी साथी ने सवा रुपये का इन्तजाम कर दिया, और फिर खोंचा उन्होंने उठाया। दो-तीन हफ्ते बाद फिर वही रफ्तार बेढंगी। पाठकजी नवाब की बराबर फ़िक्र रखा करते थे। पैसा देकर मदद करने से स्थायी फायदा न होते देख, एकाध बार तो वह नवाब को अपने यहाँ लिवा लाये। नवाब कोयले के चूल्हे पर ऊपरवाली आले जैसी कोठरिया में कचालू का सामान तैयार करते। जीरा, धनियाँ और क्या-क्या मसाले भूनते और पीसते, जिनकी सुगन्ध बड़ी सोंधी लगती। मुफ्त का और सो भी मात्रा से अधिक खाने को मिल जाने के कारण मुझे उस कचालू का वह मजा न आता था, जो कि पैसा गिन-गिनकर दोना-दोना लेकर खानेवालों को। नवाब के एक और दोस्त थे, शायद मथुरिया चौबे। मछुआ बाजार में उनकी मिठाई की दूकान थी। मिठाई अच्छी बनाते थे, लेकिन जब सट्टे की सनक चढ़ती, तो जोड़-जाड़कर सारी पूँजी तक स्वाहा कर आते।

खैरियत यही थी, कि उन्होंने एक रखेलिन रखी थी, और वह किसी तरह दूकान को बिलकुल उजड़ जाने से बचा लेती थी।

नवाब के दोस्तों में मुरादाबाद का ही एक ब्राह्मण नौजवान था। दोनों साथ ही कलकत्ता पहुँचे थे। वह देखने-बोलने में बंगाली मालूम होता था। बंगाल का किसी भी जिले का कोई मेला उससे छूटता नहीं था। कोई भी छोटी-मोटी चीज बेंचकर उसी के सहारे वह अपने राह-खर्च निकाल लेता था। और वह चीज भी बाज वक्त उसका अपना आविष्कार होती। उस समय वह चार-चार पैसों में मोहिनी हार बेंच रहा था। ताँवे का चमकता पतला तार बाजार से लेकर चरखे के तकुये पर लपेटकर बाहर को खिसकाता जाता, फिर अपेक्षित लम्बाई का हो जाने पर तोड़कर तागा पिरो बाँध देता, बस यही मोहिनी हार था। कुछ देर के लिए, और पसीना न लगे तो जाड़ों में पाँच-सात दिन के लिए उसका रंग, सचमुच गिन्नी के सोने जैसा होता। उसके बनाने में धेले से भी कम खर्च आता, फिर चार पैसे में बेंचने में उसको नफ़ा ही था। वह जब घूमकर आता, तो पाठकजी के यहाँ जरूर आता, और उस वक्त अपनी ताजी यात्राओं का विवरण सुनाता।

मार्कामैनी छोड़ने के बाद दो-तीन सप्ताह से ज्यादा मैं बेकार नहीं रहा। इसके बाद बनारस के सुंघनी साहु की कलकत्तावाली दूकान में नौकरी मिल गई। 'प्रसाद'जी का खान्दान अपनी मशहूर बनारसी सुंघनी के लिए कितने ही सालों से 'सुंघनी साहु' के नाम से मशहूर है। उन्हीं के चचा गिरिजाशंकर साहु ने अपनी एक शाखा तुलापट्टी में चितपुर रोड के नुक्कड़ के पास खोली थी, दूकान का नाम उनके दो लड़कों के नाम पर भोलानाथ-अमरनाथ था। जिस वक्त मैं नौकर रखा गया, उस वक्त मालिकों में से कोई वहाँ नहीं था। मुझे काम मिला था, चिट्ठीपत्री लिखना, तथा हफ्तावार जमाखर्च को उतारकर बनारस भेजना। बहीखाता लिखनेवाले एक अधेड़ मुंशीजी थे। दूकान पर एक रुपये से अस्सी रुपये सेर की जहाँ सुंघनी बिकती थी, वहाँ कई तरह का जर्दा, किमाम और सुर्ती-गोलियाँ भी थीं। इनके अलावा खमीरे की खुशबूदार तम्बाकू वहाँ की खास चीज़ थी। दूकान में बेंचने के लिए तीन या चार और नौकर रहते थे। हिन्दी-उर्दू चिट्ठियों के अलावा पाठकजी ने एक अंग्रेजी चिट्ठी का मजमून लिख दिया था, जिसे यंत्रवत् कापी करके मैं रोज 25, 30 की तादाद में पुरानी डाइरेक्टरी से पता देखकर भारत के भिन्न-भिन्न राजा-रईसों के पास भेजा करता था। उस वक्त मेरा ध्यान तो जाता ही क्या, दूसरों का भी खयाल इधर नहीं गया, कि किसी नौसिखिया से चिट्ठी लिखवाने की जगह पत्र ज्यादा प्रतिष्ठित और आकर्षक होता, यदि उसे अच्छे लेटर पेपर पर छपवाकर भेजा जाता। तो भी सभी तीर खाली नहीं जाते थे। कुछ आर्डर आ ही जाते थे। कहीं-कहीं शिकायत आती थी, कि सुरती गोली और काला जर्दा पहिले कुछ दिनों तक खाने में अच्छा रहता है, फिर स्वाद फीका पड़ जाता है। हम लोग जानते थे, कि जब तक अतर की तरावट रहेगी, तब तक स्वाद बना रहेगा। पीछे हम मोटे काँच की शीशियों में ठंडी जगह रखने की हिदायत के साथ भेजा करते थे।

कुछ ही दिनों बाद बूढ़े साहु गिरिजाशंकरजी भी आ गये। उनका रंग गेहुआँ, कद ठिगना और कुछ मोटा था। उमर 55 के आस-पास होगी। उनके लिलार में आँवले के बराबर की मंसविर्द (मांसवृद्धि) थी, जिस पर किसी चिकित्सक गुनी के परामर्शानुसार वह टिन्चर लगाया करते थे। घुटने तक की धोती, शिर पर सफ़ेद दुपलिया टोपी, बदन पर सफ़ेद चादर के अतिरिक्त एक लाल चारखाने की अँगोछी भी कन्धे से लटका करती थी। दोपहर के बाद साहुजी दूकान पर आते, सन्ध्या होते ही टहलने निकलते, और उस वक्त अक्सर मैं साथ रहता। टहलने की जगहें भी उनकी बहुत सीमित थीं। बहुत दूर गये तो बड़े डाकखाने तक। उनको दमे का रोग था। मुझे किसी तरह मालूम हो गया था, कि दमे का एक सिगरेट होता है। मैंने साहुजी को परामर्श दिया, और बी. के. पाल के यहाँ से एक डिब्बा खरीदवा भी दिया। पीते के साथ उससे आराम होता था। साहुजी की दृष्टि में मैं बड़ा होशियार और स्वामिभक्त नौकर जँचने लगा। टहलने के बाद अक्सर वे अपने एक सम्बन्धी—जिनकी अफ़ीम चौरस्ते पर हलवाई की दूकान थी—के घर चले जाया करते थे। वहीं शौच होते, कुछ बैठक और मुगदर भाँजते, फिर दूकान पर आते। फिर दूकान के बगल के चबूतरे पर आसन लगाकर बैठ जाते, और बाजार से खरीदकर उनके लिए भोजन आता। शाम के भोजन पर बीस-चौबीस गंडे लगते—उसमें रबड़ी, दूध, मिठाइयाँ, पूड़ी, और फल शामिल होते थे। हाँ, एक बात भूल गया, गिरिजाशंकर साहु के लिए अठन्नी-भर अफ़ीम हर शाम जरूरी थी।

नित्य नियम से छुटकारा ले रात को नौ या दस बजे जब वह अपने वासस्थान पर जाते, तो मैं उनके साथ रहता। वासस्थान पर चितपुर रोड से बहुत आगे जाकर छोटी-बड़ी सड़कों से होकर जाना पड़ता था। दूकान और बासा दोनों मकान किराये के थे, किन्तु साहु ने सारे मकान को मालिक-मकान से किराये पर ले लिया था, और अपनी तरफ़ से किराये पर लगा रखा था; इस तरह किराये का बोझ उनके ऊपर बहुत हल्का पड़ता था। उनके क़िरायेदारों में एक रंडी भी थी, जो दूकान के कोठे पर रहा करती थी।

चितपुर रोड का वह हिस्सा, जो हमारे सामने गुजरता था, रंडियों के कोठों से भरा था। अपने गुंडों के लिए भी यह मुहल्ला बहुत मशहूर था। एक बार अँधेरा होते ही गुंडों के दो दलों में मार हो गई। मार के वक्त पुलिस के सिपाही का पता नहीं था। छूरे और लाठियाँ चल रही थीं। हम लोग अपनी दूकान से देख रहे थे। मरा तो कोई नहीं, हाँ घायल कई हुए। लड़ाई समाप्त होने के बाद एक गुंडा हमारे साथियों में से एक–जो उसी के हमजिन्स मालूम होते थे–से कह रहा था, "गुरु, क्या कहते हो, आदमी हों तब न लड़ें। साले ने जाने कहाँ से देव मँगाये थे।" दोनों तड़ों में एक का सरदार मुसल्मान था, और दूसरे का एक अहीर। था मुसल्मान सरदार–लेकिन उसके दल में हिन्दू भी शामिल थे, उसने कई बार अहीर के दल को पीट भगाया था, इसीलिए अब की बार उसने मिर्जापुर-अकोली के लड़ाके बुला मँगवाये थे।

एक दिन टहलते वक्त साहु की नजर माजून की बर्फ़ियों पर पड़ी। उन्होंने खरीदकर खुद खाया, और एक टुकड़ा मुझे भी दिया। मुझे वह कलाकन्द की खुशबूदार बर्फ़ी बहुत मीठी लगी, और जरा-से टुकड़े पर कनायत करने के लिए मन तैयार नहीं हुआ। साहु जब थोड़ी दूर पर किसी परिचित से बात कर रहे थे, मैंने जा एक या दो पूरी बर्फ़ी खरीदकर खा ली। भाँग का नशा जोर करने लगा। खैर किसी तरह मैंने साहुजी को उनके बासे पर पहुँचाया। लौटते वक्त मेरा तालू सूखा जा रहा था। उसी वक्त कोई कुल्फ़ी का बर्फ़ बेचनेवाला आ गया। मैंने एक कुल्फी खाई, दो खाई, लेकिन तालू का सूखना अब भी बन्द न हुआ। आखिर उसकी हँडिया में जितनी कुल्फ़ियाँ थीं, उनको खाकर मैं अपने वासस्थान की ओर चला।

इसके बाद मुझे एक बार की जरा-सी क्षीण स्मृति है, कुछ आदमी मुझे उठाकर सीढ़ी के रास्ते उतार रहे हैं। एकाध युग के बाद मालूम हुआ, मैं किसी स्वप्न-जगत् में आ गया हूँ। कोई अच्छा साफ़ हवादार कमरा है, जिसमें छत से लटकते सुन्दर बिजली के लेम्प जल रहे हैं। छत से लटकते अनेक पंखे मद्धिम चाल से चल रहे हैं। दरवाजे में शीशे जड़े हैं, दीवारें कपूर जैसी सफ़ेद हैं। मुझसे दूर कमरे के बीच में किन्तु एक सिरे के पास एक मेज है, जिसके पास दो-तीन कुर्सियाँ हैं, उनमें से एक पर एक स्वर्णकेशी महाश्वेता अप्सरा शिर में सफ़ेद-सी कोई रूमाल या क्या लपेटे चुपचाप बैठी है। मुझे वह स्वप्न अच्छा लगा, लेकिन ठोसपन का भाव होते ही जिज्ञासाएँ तरंगित होने लगीं। उसके बाद फिर मानों स्वप्न गम्भीर निद्रा में परिणत हो गया।

दूसरे दिन वह चीजें स्वप्न की नहीं, ठोस जगत् की दिखलाई पड़ीं और मुझे मालूम हुआ, कि मैं मेडिकल कॉलेज अस्पताल में हूँ। मेरी पंक्ति और सामने की पंक्ति में कई और चारपाइयाँ हैं, जिनमें मरीज लेटे हैं। कुछ दिन चढ़े मेरी चारपाई के गिर्द कनात घेरी गई। एक एंग्लो-इंडियन नर्स ने अस्फंज और साबुन से शरीर के कुछ भाग को धोया, पाउडर लगाया। मेरी आँख खुली और मुझे होश में देखकर वह मुस्कराकर बोली–"बाबू, अच्छा हो जावेगा।"

शाम को पाठकजी के आने पर मालूम हुआ, मैं उस रात घर पर पहुँचते-पहुँचते बेसुध हो गया, और उसके बाद दस्त पर दस्त होने लगे। सबेरे बेहोशी की हालत में ही मेडिकल कॉलेज अस्पताल में पहुँचाया गया। मुझे याद नहीं, कितने दिन बाद मुझे होश आया। मेरे बचने की आशा लोग छोड़ चुके थे। कुछ देर बाद साहु गिरिजाशंकर भी आये। उसके बाद से पाठकजी तो रोज, और साहुजी हर दूसरे-तीसरे दिन देखने आते थे।

नर्सें वहाँ सभी एंग्लो-इंडियन थीं। बेहोशी में जो दवा-दारू पीते रहे वह तो था ही, अब होश-चेत में भी वह दूध, और पीछे दूध और पावरोटी खिलाने लगीं। पाठकजी ने रास्ता पहिले दिखला दिया था, इसलिए वहाँ उज्र का कोई सवाल ही नहीं था। नर्सों में एक से मेरी धीरे-धीरे अधिक घनिष्टता हो गई थी; जिससे अस्पताल छोड़ते वक्त जरा-सा अफ़सोस भी मालूम हुआ।

मेरी बगल में एक चीनी बीमार था। उसको तश्तरी में छुरी-काँटे से अंग्रेजी खाने खाते देख मेरी भी जीभ लुटपुटाने लगी, लेकिन डाक्टर ने अभी भारी खाना मना कर दिया था। खाने लायक होने पर छुरी-काँटा खयाल से उतर गया, और उसकी जगह अस्पताल के ब्राह्मण रसोइया मछली-भात दे जाया करते। दो हफ्ता या अधिक अस्पताल में रहने के बाद मैं वहाँ से चला आया।

शरीर में जरा बल आने पर घर याद आने लगा, और अक्तूबर या नवम्बर के महीने में कनैला चला आया। चले आने के लिए सुंघनी साहु की कई चिट्ठियाँ आईं, लेकिन अब तो मैं दूसरे रास्ते पर लुढ़क रहा था।

तारुण्य : 1910-14 ई.

1
वैराग्य का भूत

कनैला पहुँचने पर नाना भी यहीं मिले। वह पन्दहा से पत्थर का कोल्हू लेकर चले आये थे। उन्हें मेरी बहुत चिन्ता थी। किन्तु वह कहा करते थे—"छ महीने का कुत्ता बारह बरस का पुत्ता। हुआ सो हुआ गया सो गया।" और मैं तो सत्रहवें बरस में था। मुझे यह देखकर अफ़सोस होता था, कि नाना को कनैला का रहना उतना अनुकूल नहीं मालूम होता। खाने-पीने में उनकी वह स्वच्छन्दता नहीं रही; साथ ही वह अनुभव करते थे कि उन्हें लड़की की ससुराल में जिन्दगी का अन्तिम भाग बिताना पड़ रहा है—जिसके ग्राम की सीमा में धर्मभीरु पिता पानी तक नहीं पीता।

कलकत्ता के लिए रवाना होने से पहिले परमहंसजी के दर्शनों ने मन में कुछ भाव पैदा किये थे, जो अब तक सुप्त थे, लेकिन अब वे जागृत होने लगे। मैं फिर परमहंस बाबा की कुटी पर जाने लगा। वह तो मुझे क्या किसी को उपदेश दिया नहीं करते थे, महादेव पंडित जैसे विद्वान् भी जाते तो शायद उपनिषद् का कोई वाक्य उनके मुँह से निकल आया तो निकल आया, नहीं तो जो ही बात जबान पर आई, बच्चों की तरह दुहराते गये। हाँ, हरिकरणदास ने ज्ञान फूँकना शुरू किया। वह संस्कृत नहीं जानते थे, हिन्दी भी तेरह-बाईस ही, किन्तु बराबर लगे रहने से विचार सागर, विचारचन्द्रोदय, अष्टावक्रगीता-हिन्दी टीका जैसे ग्रंथों को पढ़ते और बहुत कुछ समझ लेते थे। मैं भी उनके पास बैठकर उन ग्रन्थों को पढ़ता, और उनसे वार्तालाप करता। धीरे-धीरे मेरी "आँखों का पट्टर" खुलने लगा, "एकश्लोकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।" मुझे कण्ठस्थ हो गया। उसी वक्त के याद हुए श्लोकों में है—

> तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
> न गर्जति महाशक्तिर्यावंद् वेदान्तकेसरी।।

वेदान्त की हिन्दी पुस्तकें समाप्त हो गईं। हरिकरण बाबा ने बतलाया कि और ग्रंथों के पढ़ने के लिए तुम्हें संस्कृत पढ़ना चाहिए; उनका यह विचार मेरे मन में घर कर गया। मैंने घरवालों के सामने अपना विचार प्रकट किया। पिता और नाना अब भी अंग्रेजी पढ़ाने के पक्ष में थे, अभी भी मेरे सम्बन्ध की पुरानी वासना उनकी छूटी न थी। दूसरे इधर कुछ महीनों के मेरे चाल-व्यवहार ने उन्हें और शंकित कर दिया था। मैंने सन्ध्या सीख ली थी, दिन में तीन बार नहाकर सन्ध्या करता। कुश की आसनी बराबर साथ रहती। सिर्फ़ एक वक्त, सो भी अपने हाथ से बनाकर भोजन करता। धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने या परमहंस बाबा के दर्शन तथा हरिकरण बाबा के सत्संग

में समय बिताता। हँसी-मजाक की तो बात क्या, किसी से बातचीत करना भी मुझे पसन्द न था। इन बातों को देखकर घर के लोग बड़े चिन्तातुर थे, संस्कृत पढ़ने का मतलब वे समझते थे, वैराग्य के बिरवे में पानी सींचना। बछवल बीच-बीच में मैं जाया करता था। वहाँ यागेश और पुराने मित्र तथा कालिकादास एक साधु, मेरे विचारों से कुछ सहानुभूति दिखलाते थे। मैंने फूफाजी से संस्कृत पढ़ने का आग्रह किया, किन्तु उन्हें घरवालों का मनोभाव मालूम था, वह आनाकानी करने लगे। पीछे बहुत पीछे पड़ने पर उन्होंने कहा—संस्कृत पढ़ने को मैं तो हानिकारक नहीं समझता, किन्तु तुम्हारे घर के लोग नहीं चाहते, अच्छा हो, तुम बनारस में पढ़ो, मैं अमुक दिन वहाँ जा रहा हूँ, साथ लिवाते चलूँगा, और अपने एक सहपाठी पंडित को सुपुर्द कर आऊँगा। मुझे उनकी राय बहुत पसन्द आई।

निश्चित दिन से एक दिन पहिले मैं बछवल पहुँच गया। लेकिन, दूसरे दिन प्रस्थान वेला से पहिले ही मैंने चचा साहेब (प्रताप पांडे) को वहाँ पहुँचा देखा। उन्होंने फूफाजी को पिताजी, नानाजी की राय तथा मेरे उग्र वैराग्य की बात बतलाकर कहा कि उसे बनारस न ले जावें, बल्कि समझावें कि आजमगढ़ में नाम लिखाकर अंग्रेजी पढ़े। फूफाजी उनकी बात से सहमत हुए, और मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा, जबकि उन्होंने अपना निर्णय सुनाया।

मेरी वृत्तियाँ इस वक्त अन्तर्मुखीन थीं। वेदान्त और धर्म सम्बन्धी पुस्तकों का स्वाध्याय तथा सत्संग, बस यही काम था। खाने के समय—जो कि दिन में सिर्फ़ एक बार का था—को छोड़ बाकी वक्त परमहंस बाबा की कुटी पर ही गुजरता था। पुस्तकों का बड़ा अकाल था। मेरे घर में पहिले तो पढ़ने-लिखने का रवाज न था, पिताजी की जमा की हुई विनयपत्रिका और रामायण थे, जिनसे, वेदान्ती होने के कारण, मेरा उतना अनुराग न था। एक दिन घर के भीतर घूमते एक पुरानी पिटारी में कुछ पुरानी पुस्तकें मिलीं। मालूम हुआ वह हमारे पिता के फूफा की पुस्तकें हैं। किन्तु उनमें ज्यादातर फलित ज्योतिष की छोटी-मोटी पुस्तकें, दुर्गासप्तशती तथा एकाध स्तोत्र पाठ थे। उनमें से दाल्भ्य-स्तोत्र का बहुत दिनों तक मैं पाठ करता रहा। चाणक्यनीति और भर्तृहरि वैराग्यशतक कुछ दिन के लिए हाथ लगे थे, मैंने श्लोकों को एक कापी पर लिख डाला, और भाषाटीका के सहारे कितनों के अर्थों को भी समझ डाला।

हरिकरण बाबा दो ही तीन साल पहिले बदरीनाथ हो आये थे। वैराग्य और अरण्यवास की बात रोज चलती ही थी। एक दिन उन्होंने अपनी बदरीनाथ यात्रा का वर्णन किया। ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरे-हरे देवदार, सफ़ेद-सफ़ेद बर्फ़, ठंडे पानी के चश्मे तो आकर्षक मालूम हुए ही, क्योंकि वे मेरी पर्यटन की सतत-उपस्थित लालसा को जगाते थे; किन्तु, सबसे अधिक खिंचाव जिस बात ने किया, वह थी एक बालरूपी योगी की, जिनके दर्शन हरिकरण बाबा को देवप्रयाग के आगे के पहाड़ों में किसी निर्जन स्थान पर पहाड़ से उतरकर आते वक्त हुए थे। वह बतला रहे थे—महापुरुष का शान्त स्वरूप, दिव्य ललाट, छोटी-छोटी पिंगल जटाएँ थीं। जान पड़ता था कोई दूसरे ध्रुव हैं। उनके पास एक कमंडलू, एक मृगचर्म और एक लँगोटी के सिवा और कुछ न था। वह जरा देर के लिए बैठ गये। उनके मुँह से वेदान्तवाक्य फूल की तरह झड़ते थे। उनके कमंडलू में मुठिया ताले की तरह की एक गोल चीज थी, उन्होंने किनारे पर जरा हाथ लगाया, कि डेढ़ हाथ लम्बी चमकती तलवार लपलपाने लगी। तलवार का हमारे वैराग्य और वेदान्त प्रसंग से कोई खास सम्बन्ध न था, किन्तु उस वक्त मुझे वह बात अप्रासंगिक नहीं मालूम हुई।

होली में मैं मुहर्रमी सूरत ही लिये फिरा। चैत का महीना (1910 ई.) आ गया। सर्दी खतम हुई। थोड़े-से कपड़े में भी अब गुजारा हो सकता था। हाल ही में सुनी बदरीनाथ की यात्रा और हरिकरण बाबा के 'तपस्वी ध्रुव' की कथा ने मुझे रास्ता दिखला दिया था। मैं सोच रहा था, अंग्रेजी—म्लेच्छ भाषा मुझे पढ़नी नहीं है, संस्कृत पढ़ने के लिए बछवल और बनारस का रास्ता बंद है, फिर कहाँ जाया जाय। आखिर एक दिन मैंने हरिकरण बाबा से उत्तराखंड की ओर जाने का अपना इरादा प्रकट किया, उन्होंने उसका समर्थन किया, कालिकादास की भी वही राय हुई। यागेश को मेरे वैराग्य और वेदान्त से कोई वास्ता नहीं था, उनका मुझसे प्रेम था, और देशाटन उनके लिए भी थोड़ी-बहुत आकर्षक चीज थी।

उसी वैराग्य की आँधी के जमाने में एक दिन मेरे उस्ताद मौलवी गुलामगौस खाँ अपने घर मेंहनगर से कनैला

आये। अब वह बुढ़ापे के कारण नौकरी से अलग हो गये थे। घरवालों की शिकायतों को सुनकर उन्होंने मुझे अपने कर्त्तव्य पर सर्मन देना शुरू किया। शिष्टाचार के नाते ही मैं उसे बर्दाश्त कर सका, नहीं तो वैराग्य और वेदान्त का पारा जितना चढ़ा हुआ था, उसमें उनकी सारी बातें मुझे हेच और असह्य मालूम होती थीं। मौलवी साहेब मेरे मिडल पास के सर्टीफिकेट को लेकर देने आये थे, जिसमें दो-एक रुपयों के मिलने की आशा थी, और वह उन्हें मिले भी।

इधर महीने-भर से बीच-बीच में मैं दो-एक दिन के लिए परमहंस बाबा की कुटिया—अर्थात् हरिकरण बाबा की कुटिया—या बछवल में रह भी जाता था, जिससे लोग घर से एकाध दिन की अनुपस्थिति में घबराते नहीं थे। कनैला में पहिले-पहिल अब की साल प्लेग आया था। गाँव-भर के लोग झोंपड़ियों में निकले हुए थे, और मौत की शंका से भयभीत थे, किन्तु मुझे उसका हर्ष-विस्मय न था। रोज की तरह एक दिन फिर मैं दक्षिण की तरफ परमहंस बाबा की कुटी को ओर चला। बदन पर एक धोती, एक कोट और गमछा, बगल में अपने हाथ की बुनी कुश की आसनी थी। घरवालों ने समझा कोई खास बात नहीं है। उसी शाम को मैं बछवल चला गया। बछवल में फूफा के घर नहीं, बल्कि कुटी पर कालिकादास के पास। वहीं रात को यागेश आ गये। फूफाजी के विद्यार्थी अक्सर कुटी पर आया करते थे, मालूम नहीं कैसे मैंने उनकी नजर पड़ने से अपने को बचाया। मैंने दोनों जनों से अपना संकल्प प्रकट किया। दोनों ने प्रोत्साहन दिया। पहिली दो उड़ानों में पंख रुपये के थे, उनके बिना मैं अपने को पंगु समझता था, किन्तु अब के वैराग्य का संबल साथ में था। हर वक्त यह श्लोकांश जिह्वा पर था—"का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते।" पानी के लिए मेरे पास कोई बरतन नहीं था, कालिकादास ने अपना नया सुन्दर लौकी का छोटा-सा कमंडलू दे दिया। सबेरे अँधेरा रहते ही जब मैं चलने लगा, तो सिर्फ आधपाव गुड़ की डली-भर साथ ले जाने को तैयार हुआ। साथ में संबल लेकर चलना, मुझे अपने वैराग्य के साथ परिहास करना-सा मालूम होता था।

मैंने पैदल ही अयोध्या होते हरिद्वार जाने का इरादा किया था, मेरा इरादा तुरन्त साधु बनने का न था, और न तुरन्त योग में लग जाना ही चाहता था। मैंने तै किया था, पहिले संस्कृत और वेदान्त के ग्रंथों को खूब पढ़ूँगा, उसके बाद संन्यासी हो जाऊँगा। 9, 10 बज रहे थे, जब मैं सिधारी का पुल (टौंस पर, आजमगढ़ के पास) पार कर रहा था। देखा, पुल के नीचे नदी के किनारे बैठे मेरे भितिहरावाले नाना (प्रताप चचा के ससुर) दातुवन कर रहे हैं। मैंने खुदा का हजार शुक्र किया, जो वह पुल या सड़क पर नहीं मिले, नहीं तो 'कहाँ' का जवाब देना मेरे लिए आसान न था। और वह जा रहे थे कनैला को ही। वह बहुत बूढ़े थे, पुल पर जाते देखकर मुझे पहिचान नहीं सकते थे। आजमगढ़ शहर से मैं सीधे गुजर गया। चैत्र शुक्ला अष्टमी थी, गर्मी काफी थी, इसलिए सड़क पर किसी बाग या कूएँ पर थोड़ी देर के लिए विश्राम मैंने जरूर किया। आधपाव गुड़ खाकर, सो भी चौबीस घंटे के निराहार के बाद, पैदल मंजिल तै करना, फिर भूख क्यों न लगे ? सड़क के किनारेवाले दरख्तों पर पकी गूलरें थीं, उनसे दोपहर के भोजन का काम चल गया।

घंटा-भर दिन रह गया था, जब मैं मँदुरी के पोखरे पर पहुँचा। यह वही पोखरा था, जहाँ चार साल पहिले मैं छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता का इम्तिहान देने आया था। उस वक्त यहाँ डिप्टी लोगों के तम्बुओं, विद्यार्थियों, अध्यापकों और अभिभावकों की भीड़ के कारण मेला लगा हुआ था, आज वहाँ सिर्फ वही विशाल पक्का पोखरा, और घना बाग था। घने बाग के अँधेरे में पहुँचने पर मेरे मन में कुछ चंचलता, कुछ टीस-सी उठने लगी। मैं पोखरे पर थोड़ी देर के लिए बैठ गया। दिन-भर की भूख और गूलर के फीके फल याद आने लगे। शिर पर आ पहुँची रात और अपरिचित स्थान का चित्र नजरों के सामने खिंचने लगा। मन ने धमकाना शुरू किया—बेपैसे-कौड़ी, बेगाने देश में इस तरह पैदल घूमना हँसी-ठट्टे की बात नहीं है। वैराग्य ने कुछ कहना चाहा, किन्तु उसे यह कहकर दबा दिया—'फिर, क्यों नहीं हवा-पानी पीकर रहे, क्यों गूलरों पर ढेले फेंके ?' मन ने ठंडे दिल से समझाया—'भितिहरा यहीं कहीं पास ही में है, चले चलो, अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है।' वैराग्य की तरफ से—'भितिहरा कभी नहीं गये'—उज्र पेश करने पर, यह कहकर चुप कर दिया गया—'सगे चचा की ससुराल है। नाना नहीं हैं, किन्तु मामा तो परिचित हैं ही।'

दिन-भर की आपबीती का काफ़ी असर पड़ चुका था, इसलिए भितिहरा जानेवाली सलाह मुझे माननी पड़ी। भितिहरा वहाँ से मील-डेढ़ मील रहा होगा। रब्बी की फसल कट गई थी, जगह-जगह खलियानों में लोग थे, उनसे पूछते मामा के घर पहुँचने में दिक्कत नहीं हुई। मामा के गाँव के पहिले एक छोटा-सा पोखरा मिला, वहाँ पहुँचने पर मेरा ध्यान अपने कमंडलू की ओर गया। कमंडलू के साथ मामा के यहाँ जाना—बैठे-बिठलाये आफ़त मोल लेनी थी। अभी भी वैराग्य को अन्तिम उत्तर नहीं दिया गया था, मँदुरी पोखरे का निर्णय अस्थायी था। अन्तिम निर्णय को रामनवमी के दिन और भितिहरा के वास पर छोड़ा गया था। मैंने पास के पोखरे में कमंडलू को इस खयाल से डाल दिया, कि जरूरत पड़ने पर उसे फिर ले सकूँगा।

मामा ने मेरे आने पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। थोड़ी ही देर में घर-सा हो गया। घर में मामी और मामा दो व्यक्ति थे, नाना कनैला गये थे। कहाँ और कैसे का सवाल नहीं हो सकता था, क्योंकि मामा के यहाँ आना भी तो एक जरूरी कर्त्तव्य था। दूसरे दिन रामनवमी थी। साधारण हिन्दू गृहस्थ के यहाँ भी उस दिन पूड़ी, हलवा बनता है। स्वयंपाकी और दूसरे खट्राग को छोड़कर मैंने मामी के हाथ के भोजन को स्वीकार किया।

भोजन और विश्राम ने वैराग्य को फिर शक्ति प्रदान कर दी, और रात को ही मैंने निश्चय कर लिया—'यात्रा जारी रखनी होगी।' दूसरे दिन गप-शप के साथ मामा से पटसन माँगकर सीखने के बहाने मैंने रस्सी बटनी शुरू की, क्योंकि रास्ते में कमंडलू के साथ रस्सी की भी जरूरत पड़ती। मामा मेरे ऊट-पटाँग बटने को देखकर हँसते, और खुद बट देने का प्रस्ताव करते थे, किन्तु मैं सीखने के बहाने उसे टाल देता। शाम को मैंने कह दिया था, कि कल मैं घर लौटना चाहता हूँ।

मेरा सत्रहवाँ वर्ष पूरा हो रहा था, और मैं अब बच्चा न था, तो भी सबेरे चलते वक्त मामा ने एक आदमी साथ कर दिया। उन्हें मेरी गतिविधि पर कुछ सन्देह हो गया था। पाथेय के लिए गुड़मिश्रित सत्तू और भूँजा था। मामा पहुँचाने के लिए आये, बहुत आग्रह करके मैंने गाँव के बाहर से ही उन्हें लौटा दिया। अब मुझे साथवाले आदमी से पिंड छुड़ाना था। 17, 18 मील दूर बेगार में कनैला जाना उसके लिए भी कोई शौक की चीज न थी, जब मैंने उसके सामने लौट जाने का प्रस्ताव किया, तो वह तुरन्त मान गया। मैंने खुशी में पाथेय में से थोड़ा-सा सत्तू रखकर बाकी उसी को दे दिया। पोखरे में जाकर देखा, तो वहाँ कमंडलू कहीं तैरता नहीं दिखलाई पड़ा। चारों तरफ घूमकर एक-एक कोने को छान डाला, किन्तु वहाँ कमंडलू हो तब न दिखाई दे। मैंने सोचा था, कमंडलू साधुओं की चीज है, इसे चोर-चहरी कोई भी नहीं पूछता; लेकिन मुझे लड़कों का खयाल नहीं आया, जिनके लिए लौकी का कमंडलू फुटबाल या निशाने का काम दे सकता है। मैं पछताने लगा—क्यों नहीं कीचड़ में दबा दिया। अब दिन-भर की मेहनत से बटी रस्सी भी बेकार थी, किन्तु रस्सी को मैंने फेंका नहीं।

मैं फिर पश्चिम की ओर मुड़ा, और फिर आजमगढ़ से अयोध्या (फैजाबाद) वाली पक्की सड़क पर आ गया। दोपहर को स्नान और सन्ध्या की जरूरत पड़ी। सड़क के किनारे एक स्कूल दिखलाई पड़ा। मास्टर से लोटा-डोर लेकर स्नान किया। एक धोती में नहाते नहीं बनता था, इसलिए उसे फाड़कर दो लुंगियाँ बना लीं। सत्तू खाकर फिर चला। अब तो अयोध्या में रामनवमी करने की आशा न थी, इसलिए बड़ी मंजिल मारने की चाल से नहीं चल रहा था। दोपहर की गर्मी में सुस्ताता और सहयात्री के अभाव में अपने ही मन से बात-चीत करता चलता रहा।

सूर्यास्त को आते देख रात को ठहरने का इन्तिजाम करना जरूरी थी, और उससे भी जरूरी था लोटा-डोर माँगकर स्नान-सन्ध्या करना। सड़क के पास एक छोटा-सा गाँव था, एकाध ही घर के बाद एक कुआँ था, जहाँ पर कुछ स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। उनके घाघरे और ओढ़नी को देखकर मुझे मालूम हो गया, कि मैं अब फैजाबाद जिले में हूँ। पास के घर से लोटा-घड़ा मिलने में दिक्कत नहीं हुई। स्नान के बाद कुशासनी पर बैठ मैं सन्ध्या करने लगा, कुछ कंठस्थ स्तोत्रों का पाठ भी हुआ। फिर कूएँ से जरा-सा हटकर आसनी बिछा निश्चिन्त बैठ गया। धीरे-धीरे पश्चिम के सूर्य की लाली अँधेरे की कालिमा में परिणत होने लगी। पानी भरनेवाली स्त्रियों में से कुछ मुझे गौर से देख रही थीं। मेरी आयु, मेरी शकल-सूरत, मेरी पूजा-प्रार्थना सभी अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने की चीजें थीं। दो स्त्रियों ने आकर घर-द्वार, कहाँ जा रहे हो पूछा; फिर कहा—भोजन नहीं बनाओगे ? मैंने तय

किया था—जिसे नहीं बताना चाहता वैसी बात को न बताऊँगा, किन्तु जो बात कहूँगा सच्ची-सच्ची कहूँगा। जब उन्होंने देखा कि मेरे पास न खाने का सामान है और न बरतन-ईंधन। तीन-चार औरतें अपने घर से आटा-दाल-नमक, कंडा-हँडिया ले आईं। कंडा का 'अहरा' बनाना मैं जानता नहीं था, इसलिए एक स्त्री ने उसे बना दिया। आग सुलगने पर मैंने चावल-आटा-नमक इकट्ठा ही हँडिया में डाल दिया। उन्हें आश्चर्य हुआ। मैंने यह कहकर समाधान कर दिया, कि आखिर पेट में जाकर तो सब एक हो ही जावेंगे। अधिक आया हुआ सामान डलियों में पड़ा था। उन्होंने उसे बाँध लेने के लिए कहा। मैंने कहा—"मैं सामान बाँधता नहीं।"

"कल काम आवेगा।"

"आज क्या मैं यहाँ बाँधकर लाया था।"

जहाँ तक मुझे याद है, स्त्रियों के अतिरिक्त किसी पुरुष से वहाँ मेरी बात-चीत नहीं हुई। मालूम होता है 'किसी माँ-बाप के कोमल तरुण लड़के' को देखकर स्त्रियों के चित्त में करुणा उमड़ आई थी।

दूसरे दिन भिनसारे ही सड़क से यात्रियों के चलने की आवाज आने लगी। लोग अयोध्या से रामनवमी का मेला करके लौट रहे थे। रात की 'विश्वम्भर की कृपा' देख वैराग्य के गल्बे ने और जोर पकड़ा। मालूम होता था, पहिला किला फ़तह कर लिया। मालूम नहीं उसके बाद कितने दिनों में अयोध्या पहुँचा। कैसे खाता-पीता रहा, इसका भी स्मरण जाता रहा। एक दिन दोपहर को एक गाँव में गया। वहाँ कूएँ पर दो आदमी ढेकली चला रहे थे। स्नान-सन्ध्या के बाद उन्होंने सत्तू और नमक लाकर सामने रखा। माँगना मुझे आता न था, न सीखने की हिम्मत रखता था।

दर्शननगर के पहिले के बड़े तालाब पर मुझे कोई साधु मिला, वह भी अयोध्या जा रहा था। उसी के साथ मैं भी रात को बाबा रामप्रसाद की छावनी में ठहरा।

दूसरे दिन सरयू का स्नान और अयोध्या देखना था। वेदान्ती होने के कारण देवताओं की भक्ति मेरे लिए उतनी आकर्षक न थी। सबेरे स्नान करके जब मैं सरयू किनारे घूम रहा था, तो एक चलते-पुर्जे साधु ने मेरे पास आकर बात करनी शुरू की। फिर चेला होने का परामर्श दिया। मैंने कहा—मैं पहिले संस्कृत और वेदान्त पढ़ना चाहता हूँ, पढ़ लेने के बाद साधु बनने के बारे में निश्चय करूँगा। साधु खुद संस्कृत पढ़ा-लिखा न था, इसलिए मुझ पर कोई प्रभाव न डाल सका। अयोध्या को मैं घर से बहुत दूर नहीं समझता था, इसलिए काशी की तरह यहाँ के रहने को भी अपने लिए खतरनाक समझता था।

अयोध्या में किन-किन जगहों का दर्शन किया, इसका मुझे स्मरण नहीं। एक रात गोंडा जिले के आये यात्रियों के साथ जन्मस्थान के पास के किसी मठ में ठहरा था। उन यात्रियों में एक-दो देहाती साधु और कुछ गृहस्थ थे। दूसरे दिन जब वे घर को लौटते वक्त फ़ैजाबाद की ओर चले, तो मैं भी चल पड़ा। फ़ैजाबाद में किसी सेठ की सदावर्त लगी थी, उस मंडली के साथ मैं भी वहाँ इन्तिजार करता रहा, और सदावर्त लेने पर एक बूढ़े साधु ने मेरा भी भोजन बना दिया। मुझे सबसे ज्यादा तरद्दुद था एक जलपात्र का। बूढ़े साधु ने कहा, हमारी कुटिया पर बहुत से कमंडलू हैं, यदि वहाँ चलो तो तुम्हें हम एक नहीं, दो कमंडलू दे देंगे। कमंडलू से निश्चिन्त होने का मतलब था, बार-बार लोगों से लोटा-डोर माँगते रहने से मुक्त होना। मैंने बूढ़े साधु की बात मान ली और उनकी कुटिया पर जाने के लिए राजी हो गया।

हमें नाव पर सरयू पार करनी पड़ी। पार होते-होते धूप बहुत तेज हो गई, और दोपहर को नंगे पैर जलते बालू पर चलना बड़ी तकलीफ़ की बात थी। सरयू पार नजदीक कोई गाँव नहीं था। दियारे में जहाँ-तहाँ झाऊ के दरख्त थे, और कहीं-कहीं गाय-भैंसे चर रही थीं। एक बजे के करीब जब एक अहीर की झोंपड़ी में हमारा काफ़िला ठहरा, तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। अहीर बूढ़े बाबा का 'सेवक' था। बैठते के साथ ही गाढ़ा मट्ठा आया, 'नेकी और पूछ-पूछ'—मैंने पेट-भर पिया। बूढ़े बाबा वैष्णव साधु और ब्राह्मण दोनों थे, और वह दूसरे के हाथ की बनाई रसोई नहीं खाते थे। 'पक्के' साधुओं की भाषा में तो उन्हें साधु भी नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वह अपने ही गाँव तथा अपने ही घर में रहते थे। उनकी स्त्री-बच्चे सब मर गये थे, सिर्फ एक विधवा बहू थी। शायद विधवा बहू की रक्षा के लिए ही वे घर छोड़ना नहीं चाहते थे।

रसोई बनी, भोजन हुआ, कुछ विश्राम किया गया, और उसके बाद हम फिर रवाना हुए। आगे की यात्रा बहुत आराम से होती रही। हर तीन-चार मील पर, बूढ़े बाबा के परिचित साधुओं की कुटियाँ थीं, हमारी 3, 4 आदमियों की जमात वहाँ पहुँचती। दंडवत् प्रणाम होता। बूढ़े बाबा जौ या गेहूँ की रोटी, घी से बघारी अरहर की दाल, आलू की तरकारी और आम की चटनी बनाते; भोजन बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता। मैं क्या करता रहता, यह स्मरण नहीं। अपनी पुस्तकों और विचारमालाओं के अतिरिक्त साधुओं से बात-चीत भी करता रहता था, जरूर। इधर के गाँवों की दीवारें, टट्टी और छतें फूस की होती थीं। कारण पूछने पर स्थानीय साधु ने बतलाया—बरसात के दिनों में यहाँ बाढ़ आ जाती है, सरयू का पानी. पाँच-पाँच, दस-दस मील तक फैल जाता है, मिट्टी की दीवारें तो उसमें गल जायें। बाढ़ के वक्त रहने की बात पूछने पर उन्होंने बतलाया—"दरख्तों पर मँचान बाँधकर।"

"और खाना ?"

"सत्तू, वहाँ आग कहाँ जलाई जा सकती है ?"

"और पाखाना ?"

"पानी ही में, आपद् धर्म ठहरा।"

यह भी पता लगा, कि बाढ़ सारी बरसात-भर नहीं रहती, दस-पाँच दिन में चली जाती है। बाढ़ के तजर्बे के लिए मेरा मन भी ललचाया, लेकिन मैं तो दूसरी ही मुहिम पर निकला था।

बूढ़े बाबा के गाँव से पहिले पास का गाँव (शूकर क्षेत्र) मिला। बराह भगवान के मन्दिर में ही डेरा पड़ा। बराह मन्दिर की बहुत धुँधली-सी स्मृति है। मन्दिर के सामने शायद चहारदीवारी से घिरा हाता था। बराह क्षेत्र से आगे जाने पर सरयू नदी—घाघरा नहीं—को हमने पैदल ही पार किया। धोती भीग गई थी। बूढ़े बाबा का गाँव कैसा था, उनका मकान कैसा था, उनकी बहू कैसी थी—इन बातों का कोई प्रतिबिम्ब स्मृति-पट पर अंकित नहीं मिलता। दूसरे ही दिन या एक-दो दिन बाद मैं जब चलने लगा, तो बूढ़े बाबा ने लौकी का एक गोलमटोल कमंडलू दिया। मुझे सूरत से क्या मतलब, काम के लिए वह काफी अच्छा था। रास्ते के लिए संयुक्त प्रान्त की मुख्य-मुख्य सड़कों का मुझे स्मरण था। मैं वहाँ से बहरामघाट रेलवे-पुल पार हुआ। मालूम नहीं कौन कब, किन्तु शायद जगजीवन साहेब का कोटवा और लोधेश्वर तो जरूर ही मेरे रास्ते पर पड़े। नित नये गाँव, नित नये-नये मेजबानों के चेहरे सामने आते थे। माँगना न जानता था, और न उसकी जरूरत थी। कोई न कोई गृहस्थ खाने के लिए जरूर पूछता, और 'विश्वम्भर की कृपा' समझकर मैं दाता के उपकार के लिए उतना कृतज्ञ होने की जरूरत नहीं समझता था। कुछ दिनों बाद दोपहर को सड़क के किनारे के कच्चे आमों पर रह जाता था, कमंडलू पास होने के कारण स्नान के लिए अब मैं गाँव का मुहताज न था। हाँ, रात को जरूर किसी साधु की कुटिया या गृहस्थ के द्वार पर पहुँचता।

मैं मुरादाबाद तक पैदल ही गया जिसमें बीस-पचीस दिन लगे थे, किन्तु रास्ते की घटनाएँ इतनी साधारण थीं, कि उनमें से बहुत कम याद हैं। बिसवाँ मेरे रास्ते पर पड़ा था, और शायद वहाँ एक बड़े महन्त के मठ में ठहरा था। महमूदाबाद शाम को पहुँचा था, और वहाँ एक उदासी साधु के स्थान में रात-भर के लिए ठहरा। मिसरिख के पोखरे पर बाटी लगी थी। पोखरे में पानी बहुत कम था, उसके एक कोने में एक कुआँ दिखलाई पड़ता था। नीमसार के कुंड के बारे में कहा जाता था, कि उसके पानी का थाह नहीं, वह पाताल लोक तक चला गया है। उसकी एक ओर से थोड़ा-थोड़ा पानी बह रहा था। हरदोई में कचहरी के पास विलायती दरख्तों पर लाल फूल खिले हुए थे। शाहजहाँपुर से कुछ मील पहिले बनारस जिले के एक तीर्थाटक ब्राह्मण मिले। साथ-साथ कुछ मील चलने पर सलाह हुई, साथ ही चलने की। वह भी हरिद्वार और बदरीनाथ जा रहे थे। मुरादाबाद तक हम दोनों साथ रहे। ब्राह्मण के साथ छूत-छात का खयाल मेरा बिलकुल नहीं था, ब्राह्मण देवता रसोई बनाते थे, खाने-पीने की चीज माँग-जाँच भी लाया करते थे। बरेली में बादशाह एडवर्ड के मरन के कारण उस दिन बाजार बन्द थे। रामपुर में पाठकजी के साले रहते थे, जिन्हें कलकत्ता में मैंने देखा था। उनसे मिलने गया। मुझे वैराग्य से डिगाने के लिए उन्होंने कोशिश की, किन्तु अब मैं उस अवस्था से बहुत आगे पहुँच चुका था। उन्हीं से मालूम हुआ, कि पाठकजी कलकत्ता छोड़कर घर चले आये हैं, और अब मुरादाबाद ही में रहते हैं।

मुरादाबाद में हम सीधे मियाँ साहेब की गली में गये। पाठकजी को मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु मेरे बाने और साथ के तिलकधारी को देखकर उन्हें बेचैनी हुई। रात बीतने पर सबेरे देखा तो बनारसी दोस्त गायब हैं। ढूँढ़ने में इधर-उधर परेशान देखकर पाठकजी के लड़के ने मुस्कराते हुए कहा—हमने उसे रवाना कर दिया। पहिले आनाकानी करते थे, किन्तु जैसे ही कहा—'दूसरे के लड़के को भगाये लिये जा रहे हो, जा रहे हैं पुलिस को रपट करने'; बस इतने ही में बच्चा का होश ठीक हो गया। आप यहाँ रहिए, और हम लोगों को भी ज्ञान-वैराग्य सिखलाइए। खैर, मुझे अभी जल्दी भागने की नहीं पड़ी हुई थी। पाठकजी का परिवार सभ्य नागरिक परिवार था, और पाठकजी के आग्रह को मैं जल्दी ठुकरा नहीं सकता था। नगर के एक धनी सेठ थे। पाठकजी उनके दरबार में आया-जाया करते थे। दो भाइयों में बड़े भाई को भी ज्ञान-वैराग्य की बीमारी लगी हुई थी। मुझसे मिलकर उन्होंने बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और अपने ही यहाँ रहने के लिए कहा। मुरादाबाद के दस-पन्द्रह दिन अधिकतर उनके ही यहाँ बीते। विरक्त सेठ ने कई दरियाई नारियल जमा कर रखे थे। कह रहे थे—'देखिए, दस नारियल हैं, मैं सोच रहा हूँ, दस संन्यासी हो जायें तब हम साथ निकलें। दो तो हो ही गये, आठ और आ जावेंगे।' गर्मी खूब पड़ रही थी, लेकिन सेठ (साहु) जी के बैठके में खस की टट्टियाँ लगी थीं। मेरे खाने-पीने, रहने-सहने का अच्छा से अच्छा इन्तिजाम था, और सेठजी समझते रहे होंगे, कि अब यह जानेवाला नहीं, बस सिर्फ आठ और मूर्तियाँ चाहिएँ।

सेठजी के छोटे भाई और खासकर उनकी माँ बड़े बेटे के रवैया से पहिले ही से बहुत परेशान थीं; मुझे डटकर सत्संग करते देखकर, उनका भय और बढ़ गया। मैं अब उकताने लगा था। सेठजी की दसवाली स्कीम मुझे फीकी लगने लगी, और ज्ञान-वेदान्त में तो वे मेरे पासंग के बराबर भी न थे। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब एक दिन सेठजी की माँ और छोटे भाई ने बड़ी मिन्नत करके प्रस्ताव किया—"आप यहाँ से हरिद्वार चले जायें। वहाँ जाने के लिए रहने के लिए जो कुछ जरूरत हो, हम उसका इन्तजाम कर देंगे।" मैंने देखा उनके द्वारा मैं सेठजी और पाठकजी दोनों से बचकर निकल सकता हूँ, जिसकी इधर कुछ दिनों से मुझे बड़ी फ़िक्र थी। मैंने कहा, एक लुटिया (कमंडलू अब सड़ने लगा था) और हरद्वार तक का टिकट मुझे चाहिए, और कुछ नहीं।

2
हिमालय (1)

हरद्वार स्टेशन पर उतरते वक्त मेरे पास दो-चार आने पैसे से अधिक नहीं रहे होंगे, किन्तु अब मेरे लिए पैसे-कौड़ी के बिना अजनबी जगह में जाना चिन्ता की चीज नहीं थी। गंगा में स्नान करने गया। उस गर्मी में दिल कहता था, पानी में बैठें, किन्तु पानी में घुसने पर वह सर्दी के मारे काटे खाता था। हर की पैडी के पास कहीं कुछ पेट-पूजा की, और फिर चला किसी पंडित की खोज में। आखिर हरद्वार आने का मेरा मतलब सिर्फ़ तीर्थ और तपस्या करना नहीं था, मैं वहाँ आया था संस्कृत पढ़ने के लिए। एकाध जगह लोगों से पढ़ने और पंडित के बारे में पूछा। लेकिन जब घर बनारस के पास बतलाया, तो उन्होंने कहा—यह चले हैं यहाँ हरद्वार में संस्कृत पढ़ने। सारी दुनिया जाती है बनारस संस्कृत पढ़ने, और इनकी उल्टी धार। पास के दूसरे आदमी ने कहा—अरे भाई, यह पढ़नेवाले देवता नहीं हैं, आये हैं छत्रों के टुकड़े तोड़ने। एक आदमी ने विष्णुतीर्थ (?) पर विष्णुदत्त (?) पंडित का नाम बतलाया। तलाश करते वहाँ पहुँचा। आवाज लगाई। कोठे पर से एक अधेड़ आदमी बोल उठा—"कौन, किसको चाहते हो ?"

"मैं पंडित विष्णुदत्त से मिलना चाहता हूँ।"

"ऊपर चले आओ, मेरा ही नाम विष्णुदत्त है।"

पंडितजी बहुत अच्छी तरह मिले। मेरी और उनकी उम्र के बीच जितना शिष्टाचार दिखलाना चाहिए, उससे

अधिक शिष्टाचार दिखलाया। पढ़ने की बात कहने पर कहा—कोई परवाह नहीं, हम पढ़ायेंगे। तुम दूर के विद्यार्थी हो, खाने के लिए चिन्ता मत करना, हमारे चौके में खाना।

इतनी सफलता पर मेरे आनन्द की सीमा न थी।

दो-तीन घंटे बाद पंडितजी ने कलम, दवात और कापी के साथ एक मोटी-सी पुस्तक मेरे सामने ला रखी। बोले—"इस पुस्तक की खेमराज श्रीकृष्णदास के प्रेस से माँग पर माँग आ रही है, इसे तुम रोज नकल किया करो।"

मुझे और हर्ष हुआ, समझा—मुफ्त की नहीं, कमाकर रोटी खाना सबसे अच्छा है। एक दिन, दो दिन तो मैं संकोच में पड़ा रहा; समझता था, पंडितजी खुद पढ़ने के लिए कहेंगे। जब उधर से कोई बात ही चलती न देखी, तो मैंने पढ़ने के बारे में कहा। 'हाँ, बहुत अच्छा' कहकर दो दिन और टाला। उधर दिन में आठ घंटा बराबर कलमघिसाई करनी पड़ रही थी। फिर कहने पर बड़े मीठे स्वर से कहा—"जल्दी क्या पड़ी है, किताब को जल्दी भेजना है, इसे लिखकर खतम कर डालो, फिर पढ़ाई शुरू करना, तब तक मेरी पुस्तकों में से जो रुचे, पढ़ते रहो।"

पंडितजी की पुस्तकों में मेरे काम की कोई पुस्तक न थी। छुट्टी मिलने पर दो-एक घंटे बाहर घूमने जाता। कोशिश यह भी करता था, कि कहीं दूसरी जगह पढ़ने का सिलसिला लगे तो वहाँ चला जाऊँ। एकाध स्थान का पता भी लगा, तो बनारस की ओर से आना मेरे आवारापन का सबसे बड़ा प्रमाण था, और कोई मुझे विद्यार्थी के तौर पर स्वीकार करने को तैयार न था। पहिले ही साधु बन जाने के मैं बिलकुल खिलाफ़ था, इसलिए मठों में न मैं गया, न किसी साधु की मेरी ओर नजर गई। अखबार से मैं कोरा था। निजामाबाद के अन्तिम वर्ष में 'सरस्वती' के एकाध अंक देखे थे, पढ़े थे—इसमें सन्देह है।

सात-आठ दिन रहने के बाद पंडितजी का रहस्य खुलने लगा। उनको संस्कृत से कोई वास्ता न था। 'व्रतार्क' (यही उस पुस्तक का नाम था) को छपवाकर प्रेसवालों से कुछ रुपया और साथ ही तीर्थ पर आये भक्तों पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना उनका काम था। रसोइया रो रहा था—छै महीने हो गये, एक पैसा तनख्वाह नहीं दी। खाना खिलाने की यह हालत थी, कि उनकी आठ-नौ वर्ष की लड़की ही छोटी होने से पेट-भर खाने को पाती हो तो हो। लड़की के सिवा पंडितजी के घर में और कोई न था। शाम के वक्त छत पर बैठकर खाने और रात को वहीं सोने में मुझे और नफ़रत आती थी, जब देखता था कि उसी छत पर कुछ दूर हटकर महीनों का पाखाना सूख रहा है।

अपनी सफलता पर फूला न समाता हरद्वार पहुँचने के दूसरे ही दिन मैंने यागेश को 'गद्यकाव्य' में एक पोस्टकार्ड लिखा था। उस आनन्दातिरेक में पत्र में कवित्व आ जावे तो कोई आश्चर्य नहीं। पत्र सीधे यागेश को लिखा था या कालिकादास के पते से, यह याद नहीं। कोई दूसरा पत्र को न पढ़ ले, इसके लिए सारे पत्र को लिखकर, फिर उसे इति से अथ की ओर करके उलट दिया था। मुझे जहाँ तक खयाल है, मैंने चलते वक्त यागेश को बतलाया नहीं था, कि मैं इस तरह का सांकेतिक पत्र लिखूँगा। वाक्यों को उलटकर कहने की देहाती स्कूलों में चाल थी, शायद इसी से यागेश को पत्र के पढ़ने में दिक्कत न हुई। पत्र में मैंने अपने यात्रानन्द का आकर्षक वर्णन करते हुए, उन्हें भी उसमें सहभागी बनने के लिए निमन्त्रण दिया था।

मेरा पत्र यागेश के पास आया है, यह रहस्य धीरे-धीरे खुल गया। यागेश के हाथ से उनके चचा महादेव पंडित पत्र लेने में सफल हुए। पहिले तो उसका कोई अर्थ नहीं मालूम हुआ, किन्तु पीछे उन्होंने भी संकेत ढूँढ़ निकाला। अब यागेश के ऊपर निगरानी रख दी गई। यागेश मेरे पत्र को पाकर चलने का बहुत कुछ निश्चय कर चुके थे, और जब निगरानी देखी, तो उनका इरादा और पक्का हो गया। वह निकल भागने की फिक्र में पड़े।

पंडितजी ने अपनी रोटियों के लिए लिखाने का काम लेकर यदि किसी के पास मेरे पढ़ने का प्रबन्ध भी कर दिया होता, तो भी मैं उनके पास बना रहता; किन्तु जिस स्थिति में बेवकूफ़ बनाकर वह रखना चाहते थे, वह मुझे सह्य नहीं थी। उस वक्त बदरीनाथ के यात्री आने लगे थे। हरिद्वार में पढ़ाई से निराश हो जाने पर मैंने सोचा, पढ़ाई के लिए फिर बनारस ही लौटना होगा, लेकिन अब जब यहाँ आ गया तो बदरीनाथ भी हो आना चाहिए।

एक दिन सबेरे मैंने पंडितजी से रुखसत ली। भीमगोड़ा होते ह्रषिकेश पहुँचा। अयोध्या से मुरादाबाद के

सफ़र में सदावर्तों और धर्मशालाओं से मैं परिचित हो गया था। भीख माँगना तो मुझे अपने बस की बात नहीं मालूम होती थी, किन्तु सदावर्त में भीख माँगने की जरूरत नहीं, वहाँ तो नियमित अन्न या पैसा पाना हर भिखमंगा अपना अधिकार समझता है। रास्ते में मालवा के एक साधु मिल गये। यात्रा में एक से दो अच्छे होते हैं, यह बनारसी तीर्थाटक के साथ रहकर मैंने अनुभव कर लिया था। दोनों बात करते चले, और हृषिकेश में जाकर कालीकमलीवाले की धर्मशाला में ठहरे। पहिले के कालीकमलीवाले बाबा के 'पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश' को मैं पढ़ चुका था, किन्तु मुझे यह नहीं मालूम था कि कालीकमलीवाले की इतनी धर्मशालाएँ और इतने सदावर्त उत्तराखंड में फैले हुए हैं।

मेरे साथी मालवी बाबा देखने में पतले-दुबले तथा पचास से ऊपर के थे, किन्तु चलने–काम करने में मुझसे ज्यादा मजबूत थे। दो-तीन उतराई-चढ़ाई में जहाँ मैं टें बोल जाता, वहाँ वह हाथ में लाठी, पीठ पर बिस्तरा, बगल में झोली लिये धीरे-धीरे चलते ही जाते। दिन की मंजिल पूरी करके जब हम किसी धर्मशाला या चट्टी पर पहुँचते, तो मैं तो लेट जाता, और जरा भी हिलने-डोलने की इच्छा नहीं रहती, किन्तु वह लकड़ी जमा करते, आग सुलगाते, खाना बनाने में लग जाते। थोड़ी देर सुस्ताने के बाद लज्जित होकर मैं उठ खड़ा होता और उनके काम में सहायता देने लगता। हमने हृषिकेश में ही कालीकमलीवाले के छत्र से अगले छत्र की दो चिट्ठियाँ ले ली थीं–जिसमें एक आदमी दो बार सदावर्त न ले ले, इसके लिए कालीकमलीवाले ने एक चट्टी या धर्मशाला पीछे से छपी चिट्ठी ले जाने का तरीका निकाला था, चिट्ठी को देते ही उसमें छपी सदावर्त की चीजें मिल जाती थीं। सदावर्त की जगह हर रोज नहीं मिलती थी, ऐसी स्थिति में हमें तीर्थयात्री दाताओं पर भरोसा करना पड़ता था, और उनकी काफ़ी संख्या हमारे साथ-साथ चल रही थी। माँगने-जाँचने का काम मुझसे होता भी नहीं, और उसके लिए मालवी बाबा जैसे एक्सपर्ट वहाँ मौजूद थे।

देवप्रयाग पहुँचते-पहुँचते मेरे भी पैर और फेफड़े कुछ मजबूत होने लगे। देवप्रयाग में अलकनन्दा उस पार हम एक या दो दिन ठहरे। भागीरथी की धार पर पारवाले गाँवों में जाने के लिए रस्सी का झूला बना हुआ था, एक बार मैं उस पर से जाकर आर-पार हो आया और यह उस वक्त के लिए साधारण बहादुरी की बात नहीं थी।

देवप्रयाग में सलाह हुई सीधे केदार-बदरी होकर चला जाना क्या, आये हैं तो जमनोत्री, गंगोत्री भी होते चलें। प्रस्ताव मालवी बाबा की तरफ़ से हुआ, और मैंने एवमस्तु कहा। देवप्रयाग छोड़ने के बाद पहिली चढ़ाई जब शुरू हुई, और उठते-बैठते घंटों चढ़े चले जाने पर भी चढ़ाई का अन्त नहीं दिखलाई पड़ा; तो अपने निर्णय पर मुझे बहुत पश्चात्ताप होने लगा। लेकिन "अब पछताये होत का।" यह बात 1910 की है, उस समय देवप्रयाग से टेहरी का रास्ता, पगडंडी था।

चढ़ाई इतनी कड़वी मालूम हुई, किन्तु उसके खतम होने के बाद फिर इन्द्रियाँ शान्त हो गईं। अब कुछ आदत पड़ती जा रही थी, इसलिए चलने के बाद चौबीस घंटा दर्द बनी रहनेवाली बात न थी। ऊपर डाँडे पर ठंडी हवा, और पके करौंदे, तथा तूत जैसे सुनहले फल–जिसके पौधे कँटीले थे–खाने में मजा आने लगा। वहाँ की प्रकृति का सौन्दर्य पीछे की चकाचौंध के कारण भूल गया, किन्तु इतना याद है, वहाँ जंगली अनार थे, जो खाने में अधिक खट्टे थे। कितनी ही दूर जाने पर उतराई में वर्षा शुरू हो गई। हम लोग, एक पनचक्की घर में चले गये। वहाँ वर्षा से बचने के लिए घर तथा खाना बनाने के लिए पास में पानी भी मौजूद था। ईंधन की कमी न थी। अपने राम तो आज खाकर हँडिया ही फोड़ देते, किन्तु मालवी बाबा को देशाटन करते युग बीत गये थे। वह तीनों धाम हो आये थे, और उनमें से एक या दो को तो एक से अधिक बार। वह अच्छी तरह समझते थे, मौका पर गाँठ का बँधा गुड़ जितना क़ाम देता है, उतना वेदान्त वैराग्य नहीं। एक शाम, दो शाम के लिए आटा-आलू-मिर्च-मसाला उनकी झोली में बराबर रहता था। आस-पास मील आधमील–सो भी पहाड़ी चढ़ाई-उतराई के साथ–कोई बस्ती न थी, तो भी हम निश्चिन्त थे। मालवी बाबा ने अपना छोटा तवा, थाली-बटली निकाली। पानी लाने, बरतन मलने में अब मैं भी सहायता करता था। रोटी उतनी अच्छी तरह तो नहीं सेंक सकता था, किन्तु दाल-तरकारी बनाने में कोई त्रुटि नहीं होती थी। मालवी बाबा किस जाति के हैं, इसे न मैंने कभी पूछा,

न पूछने की जरूरत समझी। यद्यपि वेदान्त के 'खाने के दाँत और दिखाने के और' के अनुसार व्यवहारावस्था में हजारों पाखंडों का पालन करना अन्तःकरण की शुद्धि के लिए आवश्यक समझा जाता है, किन्तु वेदान्त से पहिले कलकत्ता के पाठकजी का मन्त्र भी तो मुझे लग चुका था।

कितने दिन बाद टेहरी पहुँचे। वह कैसी बस्ती है, यह मुझे याद नहीं। राजकीय धर्मशाला में हम लोग ठहरे थे। मालवी बाबा कहने लगे–तीरथ का फल पूरा नहीं मिलता, जब तक कि वहाँ के राजा का दर्शन भी न कर लिया जावे। 'तीरथ के फल' को मैं बिलकुल तुच्छ समझता था, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु उसमें देशाटन की वासना बहुत ज्यादा मात्रा में थी, इसमें तो सन्देह नहीं; और उस दृष्टि से राजा का दर्शन एक आवश्यक चीज थी। हम लोग बस्ती से बाहर किसी बाग के पास खड़े हुए। हमारी तरह के कुछ और तीरथ प्रवासी लोग वहाँ खड़े थे। राजा साहेब सामने के पहाड़ पर अपने ग्रीष्मावास से आये, उनकी बग्गी हमसे चार कदम पर खड़ी हुई। हम सबों ने राज-दर्शन पाया। राजा की क्या उम्र थी, कैसा चेहरा-मुहरा था, यह मुझे बिलकुल याद नहीं। हाँ, लौटते वक्त साथी लोग बातचीत कर रहे थे, कि महाराजा का शादी-सम्बन्ध नेपाल राजवंश के साथ है।

टेहरी से धरासू की यात्रा में कोई स्मरणीय घटना नहीं घटी। दोपहर से पहिले किसी-न-किसी गाँव में हमें मट्ठा मिल जाया करता। कुछ सदावर्त, और कुछ माँग-जाँचकर हमारे दोनों शाम के भोजन का काम चल जाता। अब सर्दी भी पड़ रही थी, और आगे की सर्दी में मेरे पास कोई कम्बल जरूर रहा होगा, किन्तु मुझे जहाँ तक याद है, नीचे से कम्बल मैं साथ नहीं लाया था; कम्बल मिला होगा तो हृषिकेश या टेहरी में ही। धरासू पहुँचते-पहुँचते मालूम होने लगा, कि अब मालवी बाबा के साथ और अधिक रहने में कड़वाहट के साथ अलग होना पड़ेगा। धरासू से यमुना के तट तक पहुँचने का दृश्य कैसा था, यह तो नहीं कह सकता, लेकिन यमुना के किनारे पहुँचने पर मालूम होता था, नाटक का एक नया पटोद्घाट हो गया। उपत्यका अधिक चौड़ी थी। यमुना का नीला जल दूर तक फैला हुआ अनवरत कल-कल करता चल रहा था। आपादमस्तक हरियाली से लदे विशाल पर्वत अपनी छाया से उपत्यका को ढाँके हुए थे, जिससे प्रकृति बड़ी स्निग्ध मालूम होती थी, यद्यपि अभी कुछ दिन था। इधर विशेषकर धरासू से इस तरफ़ जमनोत्री के यात्री बहुत कम होते थे, और रास्ते की मरम्मत और चट्टियों (पड़ाव की दूकानों) का अभाव था, इसीलिए हम लोगों ने जंगलात मुहकमे के कुलियों के डेरे के पास यहीं ठहरना पसन्द किया।

हमारे डेरा डाल देने के थोड़ी देर बाद एक और भी मूर्ति हमारी बगल में आकर रुकी, जिसकी शकल-सूरत और बातचीत ने बहुत जल्द ही मेरे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित किया। उसका रंग गोरा, चेहरे पर कम मांस, नाक नुकीली, आँखें चमकीली, मुँह पर घनी काली मझोले परिमाण की दाढ़ी, शिर पर काले केशों का छोटा-सा जूट था। उसके पास बहुत कम सामान था–एक पशमीने की नारंगी रंग की अलफी (लम्बा कुर्ता), एक कम्बल, छोटी-सी झोली, पीतल का कमंडलू (डोल जैसा) एक गमछा, दो लँगोटी के सिवा एक लम्बा 'रोज' का लाल डंडा-भर उसके पास था। उसके आने के साथ ही एक बड़े-बड़े बालोंवाला मटमैला सफ़ेद कुत्ता इधर-उधर सूँघकर मालिक से पाँच कदम दूर जाकर बैठ गया।

ब्रह्मचारी–उस व्यक्ति का नाम याद नहीं रहा–की जबान और रोम-रोम चुप रहना जानते ही न थे। उसने आते ही प्रश्नों की झड़ी लगा दी–"कहाँ से आये महात्मा ?" "कैसा रास्ता है ?" "हाँ, आप मालवा उज्जैन के रहनेवाले हैं, मैं उज्जैन के चढ़ाव पर गया हूँ।" "और आप तो बहुत अल्पवयस्क मालूम होते हैं; यह आपके पढ़ने का समय है ?" "अच्छा, आपका जन्मस्थान बनारस के पास है ? बनारस मैं दो बार गया हूँ। मणिकर्णिका-स्नान और विश्वनाथ के दर्शन किये हैं। काशी विश्वनाथ की नगरी का क्या कहना है ? हिमालय के बाद यदि कोई स्थान मुझे प्रिय लगता है, तो काशीपुरी ही, लेकिन वर्षों से हिमालय में घूमते रहने के कारण वहाँ की गर्मी बर्दाश्त नहीं होती, मैंने पिछली बार कुछ महीने रहना चाहा, किन्तु फागुन के बाद रहना नामुमकिन हो गया।"

वह बड़े आत्मविश्वास के साथ, शुद्ध संस्कृत हिन्दी में अप्रयास धाराप्रवाह बोलते जा रहे थे। उनका जन्मस्थान बरैली–मुरादाबाद की तरफ का मालूम होता था। उनकी भाषा में कितने ही उर्दू के शब्द भी आते थे, जिनका उच्चारण बहुत शुद्ध था। 'आपका आना किधर से हो रहा है'–पूछने पर बोले–

"मैं हरद्वार की ओर से नहीं आ रहा हूँ। यहाँ से पच्छिम रामपुर-कुल्लू-चंबा-जम्मू-काश्मीर मेरी विचरण

भूमि है। जाड़ों में कुल्लू में रहा। मणिकर्ण नाम सुना है ? नहीं सुना होगा। बहुत कम लोगों को पता है। बड़ा जागता तीर्थ है। जमनोत्री में तो एक गर्म कुंड देखोगे, वहाँ अनेक। यहाँ तो पानी में रोटी आलू डालने पर पकते हैं, वहाँ पानी पर बर्तन रखकर पका लो। पार्वतीजी के कान की मणि गिर गई, इसीलिए स्थान का नाम मणिकर्ण पड़ा।··· हाँ, ठीक मणिकर्णिका नाम भी काशी में पार्वतीजी की मणि खो जाने के कारण ही पड़ा, किन्तु यहाँ उबलते हुए पानी के चश्मे बतलाते हैं, कि त्रिशूली के त्रिशूल ने मणि को खोज निकालने में कितना प्रयत्न किया। ··· नहीं बूढ़े बाबा, कहने की बात है–'जो जाय कुल्लू, हो जाय उल्लू।' कुल्लू-चंबा में सुन्दरता बहुत है इसमें शक नहीं।··· मैंने कातिक मेला रामपुर में किया था। एक से एक कम्बल आते हैं, लेकिन भारी होते हैं। राजा ने बहुत कहा–'ब्रह्मचारीजी ! जाड़ों के लिए कुछ कपड़े ले लें।' जानते हैं, बोझ लादे-लादे फिरना मुझे सबसे ज्यादा तकलीफदेह मालूम होता है। बीहड़ से बीहड़ पहाड़ों को मैं कुछ नहीं समझता।··· धरासू से इधर का रास्ता मैंने नहीं देखा, तब भी वहाँ कुछ तो राज की ओर से रास्ते की मरम्मत पर खरच करना पड़ता होगा। मैंने तो ऐसे रास्ते पार किये हैं, जहाँ रास्ते के चिह्न बनाने का काम आदमियों के पैरों ने किया है। नदियों को आर-पार बाँधे एकहरे रस्से के सहारे पार करना होता है।··· हाँ, यह कम्बल और पट्टू की अल्फी रामपुर के राजा की दी हुई हैं। दोनों हल्के हैं, किन्तु खूब गर्म हैं। पट्टू–यह पशमी का पट्टू है। बर्फीली जगह की बकरियों के बालों के भीतर पशम उगती है।··· हाँ, बहुत कोमल है। असली पशमीने की परख है,–मलमल जैसे पतले पशमीने को चार परत करके जमे घी पर रख दिया, और आध घंटे में वह पिघल गया।··· हाँ, रामपुर का राजा तो बड़ा है, इधर पहाड़ों में चार-चार गाँव के राजा हैं।··· पहाड़ी लोग बड़े सच्चे होते हैं, अब तो देशी लोगों के संसर्ग से वे भी कुछ चालाक होते जाते हैं, नहीं, तो झूठ-चोरी का तो ये नाम भी न जानते थे। साधु-सन्तों में बड़ी श्रद्धा रखते हैं।··· हाँ, बूढ़े बाबा, बदरी केदार की सड़कों पर चट्टियों में दूकान करनेवाले कहाँ तक अपनी श्रद्धा कायम रखेंगे, वहाँ तो रोज सैकड़ों साधु-सन्त आते-जाते रहते हैं।··· हाँ, यह झोली–इसमें यह देखो एक गाँजे की चिलम, साफ़ी, दियासलाई और कुछ गाँजा तम्बाकू है।··· एक कमंडलू काफ़ी है, प्यास लगी तो पानी, गाँव रहा तो छाछ या दूध माँग लिया। ··· रोटी बनाने की जरूरत क्या ? भोजन के समय चार घरों में घूम गये, चार रोटी मिल गई, खा लिया।···यह कुत्ता रामपुर रियासत से मेरे साथ आ रहा है। बड़ा ईमानदार है। रोटी बनाकर नहाने-धोने, कुल्ला-गलाली करने चले जाइए, यह बैठा रोटी की रखवाली करता रहेगा। मजाल है कोई कुत्ता पास फटक जाये।··· हाँ, बड़ा तगड़ा है। रोटी सामने रख दीजिए, कनखियों ताकता रहेगा, लेकिन जब तक मुँह से 'खाओ' न कहें, तब तक भूखा भले ही मर जाये, रोटी में मुँह न लगायेगा। यह कुत्ता साथी का काम देता आ रहा है।···"

ब्रह्मचारी की बातें मैं बड़े चाव से सुन रहा था। मन कह रहा था–यह है आदमी बाजंदा-टाइप का। काश ! मुझे भी इसी तरह उड़ते-फिरते रहने के लिए पर मिलता। शाम होने से पहिले वह थोड़ी देर के लिए टहलने निकल गये, और देखा ठीकेदार का मुंशी 'जी महाराज' कहता पीछे-पीछे आ रहा है। ब्रह्मचारी ने उससे कहा–'देखो, यह दो सन्त सूखी रोटी बना रहे हैं। इनके लिए पावभर घी और कुछ तरकारी-सरकारी तो भिजवाओ। अच्छा लो, पहिले एक चिलम गाँजा तैयार करो। 'दम लगे, बला भगे'।'

चिलम तैयार हुई। तम्बाकू के धूएँ से पीली पड़ गई भिगोई साफ़ी (रूमाल) को पीतल जड़ी काठ की लम्बी चिलम में लपेटते हुए ब्रह्मचारी ने दूर तक की वनस्थली को गुँजाते हुए कहा–"लेना हो शंकर।··· आ जा कैलाश के राजा।" और फिर दम खींचते हुए मालवी बाबा की ओर मुँह कर कहा–"आ जाओ बूढ़े बाबा, दम लगा जाओ। रोटी बनती रहैगी, रात तो अपनी है।"

दम लगाकर मुंशीजी हमारे लिए घी-तरकारी दे गये। ब्रह्मचारीजी का न्योता ठीकेदार के यहाँ था, वह एक-दो चिलम और फूँककर वहाँ चले गये और काफ़ी रात गये लौटकर आये। कह रहे थे–"सुल्फा (चरस) और बालूचर (गाँजा) यहाँ पहाड़ में कहाँ ? यहाँ तो जंगल की भाँग और जंगल का गाँजा। भंग के रस को मल-मलकर हाथ में लपेट लेने पर उससे सुल्फे का काम लिया जा सकता है। बहुत रात गये तक वार्तालाप जारी रहा, ज्यादा बात ब्रह्मचारी ही करते थे। मालवी बाबा तो शायद ही कभी बोलते थे, मैं भी ज्यादातर 'हाँ' 'हाँ' और कभी-कभी जिज्ञासा के दो-एक शब्द बोल देता था।

सबेरे हम तीनों ने रास्ता पकड़ा। रास्ता यमुना के बायें तट से ऊपर की ओर जा रहा था। दोपहर को एक पनचक्की के पास रसोई का तारघाट लगा रहे थे, तब ब्रह्मचारी को मालूम हुआ, कि कुत्ता गायब है। वह उसकी तलाश में तीन-चार मील पीछे देखने गये, लेकिन नहीं मिला। वह आज गर्मी से परेशान मालूम हो रहा था। जहाँ पानी दिखलाई पड़ता, वहीं वह अपने शरीर को भिगोने जाता। ब्रह्मचारी कह रहे थे, जिस गाँव से कुत्ता उनके साथ चला था, वह और ज्यादा ठंडा था। कुत्ते को अपना गाँव याद आया और वह उधर को लौट गया। यही निष्कर्ष हम लोगों ने भी निकाला।

हम जितना ही आगे बढ़ते गये, पर्वत की हरियाली और पानी के झरने भी बढ़ते गये। जमनोत्री के पंडों के गाँव में हम लोग शाम को पहुँचे। वहाँ चमड़े की रस्सियों से मढ़े बाजे एक चिकनी समतल जगह में रखे थे। लोगों ने बतलाया, आज स्त्री-पुरुषों का नाच होगा। मुझे यह कुछ अजीब-सा मालूम हुआ, क्योंकि मेरी समझ में आया पंडे लोग सपरिवार नाचेंगे। गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित नाच को हमारे गाँवों और शहरों में नीची निगाह से देखा जाता था। मुझे याद है, जब मैं नौ-दस वर्ष का था, उस वक्त मेरे समवयस्क तथा रिश्ते में भाई जगमोहन का ब्याह हो रहा था। जगमोहन–प्रसिद्ध बहादुर चोर घुरबिन अहीर–का पोता था, पीछे वह गाँव का सबसे बलवान् पुरुष, तथा बिरहा गाने में कई गाँव में अद्वितीय जवान हुआ। बारात जाने से दो-तीन दिन पहिले ही शादी में स्त्रियों के पूजा-कुलाचार शुरू होते हैं। सारे दिन और रात में भी बहुत देर तक नगारा बजता रहता है। अहीर बड़ी खुशदिल जाति है। गाय-भैंस पालना, खेती करना–और खूब तन-मन लगाकर–उसके बाद मनोरंजन का सामान भी होना चाहिए। वह मनोरंजन था–बिरहा, लोरिकी का गाना, तथा गाहेबगाहे नाचना। नाच में तरुण स्त्रियाँ भी उस वक्त शामिल होती थीं। जगमोहन की माँ किसी काम से बाहर आई। गाँव के किसी देवर ने ताना मारा, जिसको वह बहादुर अहीरिन कैसे सह सकती थी। वह ललकारकर मैदान में उतरी और तब तक नाचती रही, जब तक कि सामने का मर्द थककर भाग नहीं गया। मुझे याद था, उस दिन का वह नाच और साथ ही वह प्रसन्नता भी जो उसे देखकर हुई थी। आज यद्यपि कनैला से चला हुआ शुष्क वैराग्य हिमालय की भूमि में कुछ सरस हो चला था, तो भी पंडे स्त्री-पुरुषों के नाच की बात न जाने कैसी जान पड़ी।

दूसरे दिन चलकर यमुना के किनारे वहाँ पहुँचे, जहाँ दो चट्टानों के ऊपर लकड़ी के ठट्ठर का पुल बना हुआ था। वहाँ चट्टान पर कुछ लाल खून लगा हुआ था। जिज्ञासा का समाधान हुआ–कोई गिर गया, उसका सर फट गया। मुझे सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि यह कोई उतनी कठिन जगह नहीं थी, आगे जरूर कितनी ही जगह कुछ कठिन रास्ते आये। वृक्षों के तनों और शाखाओं से हरे कपास के बड़े-बड़े फाहे से लटक रहे थे–बर्फ़ पड़नेवाली जगह के वृक्षों का यह चिन्ह है। लेकिन ये वृक्ष उतने सुन्दर नहीं जँचे जितने कि देवदार। हम लोगों ने भगवान को बहुत धन्यवाद दिया, जब कि बिना पानी-बूँदी के हम जमनोत्री पहुँच गये। आखिर के दो मील तो तै करने में सचमुच पानी बरसने पर बहुत मुश्किल हो जाते।

जमनोत्री ऊँचे पहाड़ों से घिरी एक छोटी-सी जगह मालूम हुई, जो एक तरफ से खुली हुई थी, और पानी उधर से ही बह रहा था। थोड़ी दूर पर सैकड़ों फ़ीट ऊँचे बर्फ़ से सद्योजात दो धाराएँ गिर रही थीं, जो चन्द ही कदमों पर मिलकर एक हो जाती थीं। बायेंवाली धारा के बायें थोड़ी ही दूर पर तथा पहाड़ की जड़ में, पत्थरों में, हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा, उतना ही चौड़ा, और हाथ-भर से कुछ अधिक गहरा एक कुंड था। पानी उसके मुँह तक भरा न था। यही जमनोत्री का तप्तकुंड था। कुंड के किनारे से सूत जैसी एक धार पिचकारी की तरह छूट रही थी। इस गरम पानी में ही खाना पकाकर खाना तीर्थ यात्री लोग धर्म समझते थे। हमने भी अँगोछे में आलू बाँधकर कुंड में डाल दिया, छोटी-छोटी रोटियाँ बनाकर कड़ाही के घी में पूड़ियों की तरह उस पानी में डालते जाते थे। पकी रोटी की पहिचान थी, उसका ऊपर उतरा आना। कुंड तथा बर्फ़ीली धार के कुछ पानी को ले जाकर एक कुंड में मिलाया गया था, यहीं यात्री स्नान करते थे। वहाँ की सर्दी में घंटों उसी के भीतर पड़े रहने का मन करता था। जमनोत्री में यमुनाजी का मन्दिर कैसा था, यह तो याद नहीं, किन्तु वहाँ एक या दो दूकानें थीं, जिनमें खाने की चीजें मिल जाती थीं।

जमनोत्री से मालवी बाबा और मेरा साथ छूट गया। ब्रह्मचारी की निर्द्वन्द्वता, उसकी दुरूह स्थानों में हुई

यात्राओं, और भाषण की विचित्रता, तथा अधिक संस्कृत व्यवहार मुझे अपनी ओर आकृष्ट करने में ज्यादा सफल हुए। जमनोत्री से चलते वक्त हमारे साथ एक तीसरा व्यक्ति बहराइच जिले के एक अधेड़ मुराव (कोइरी) भगत थे। चलने में अब मैं वही आदमी न था, जो कि हृषिकेश से सर लटकाये मुर्दों की तरह जबर्दस्ती रस्सी बाँधकर खींचा जाता-सा ऊपर की ओर घसीटा जा रहा था। मेरे भी पैर अब फुर्ती में ब्रह्मचारी के पैरों का मुकाबला करने को तैयार थे। पाँच-चार मील चलते-चलते हम लोग आज के चले सभी यात्रियों को छोड़कर आगे बढ़ गये।

हिमालय की इस यात्रा का वर्णन मानस-पटल पर अंकित सिर्फ़ उन प्रतिबिम्बों के सहारे कर रहा हूँ, जो आज से तीस वर्ष पहिले पड़े थे। उसके बाद फिर इस रास्ते जाना नहीं पड़ा, जिसमें कि धूमिल पड़ते उन प्रतिबिम्बों के रंग को चटक करने का मौका मिलता। मैंने उस वक्त कोई नोट भी नहीं किया था, और न आज (23-4-40) जेल में लिखते वक्त मेरे पास कोई नक्शा या पथप्रदर्शिका किताब है; जिससे मैं रास्ते और दूरी के बारे में कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। स्मृति प्रमाण नहीं है, यह भारत के एक सर्वोच्च नैयायिक का कथन है, अतः पुराण बाल्य-स्मृति के सहारे लिखा गया यह मेरा वर्णन कितनी ही जगह वस्तुस्थिति से विपरीत हो सकता है।

खैर, मालूम नहीं कितने मील चलने के बाद, हम तीनों एक जगह ठहरे। भोजन बनाने का काम मेरे ऊपर था। मुराव भगत पानी ला देते, आटा गूँध देते। ब्रह्मचारी तरकारी बनाने में सहायता करते, जंगल से न जाने कौन साग वह ला देते। पानी के किनारे एक बालिश्त से कम ही आँकुर जैसा एक डंडी-पत्ते का पीलापन लिये हरा साग खाने में बहुत अच्छा लगता था। उस दिन शाम को ही पता लग गया था, कि कुछ मील पर गंगोत्री के दो रास्ते फूटनेवाले हैं, एक तो पुराने रास्ते से धरासू होकर गंगा के क़िनारे-किनारे उत्तरकाशी और फिर गंगोत्री को, दूसरा यहीं से उत्तरकाशी को जायेगा। नये रास्ते से दो या तीन दिन की बचत थी, लेकिन उसका लोभ न मुझे था, और न ब्रह्मचारी ही को। हम लोग "बरस दिन के रास्ते से छै महीने के रास्ते" को ज्यादा पसन्द करते थे, क्योंकि पता लगा यह रास्ता ज्यादा सुनसान, ज्यादा अल्प-प्रचलित और ज्यादा खतरनाक है। मुराव भगत से पूछने पर उन्होंने भी छोटे रास्ते से चलना पसन्द किया।

पहिले रास्ते को छोड़कर हम बायें को मुड़े। 7 बजे के पहिले आखिरी गाँव खतम हो गया। मालूम हुआ अब इसके बाद दूसरा गाँव 18 या 20 मील पर आवेगा। पहिले के दिन होते, तो दिल काँप जाता। रास्ते में ज्यादा चढ़ाई-उतराई नहीं थी, किन्तु आदमियों के पैरों से बने रास्ते—जिन पर से कि हम चल रहे थे—को छोड़कर दूसरा मानवचिन्ह कहीं नहीं दिखलाई पड़ता था। विशालकाय वृक्ष, उनके नीचे उगी रंग-बिरंगी बूटियाँ जिनकी मादक गन्ध लेकर हवा चारों ओर बिखेर रही थी। बिलकुल साँप के फन जैसे एक पौधे को दिखलाकर जब ब्रह्मचारी ने कहा, कि इसकी जड़ में साँप रहता है, तो मुझे बिलकुल विश्वास हो गया। वहाँ किसी वेदान्ती को रज्जु में सर्प के भ्रम की जरूरत न थी, वह बूटी तो सोलहो आने फन-जैसी मालूम होती थी। कुछ मील चले जाने पर एक जगह धूनी सुलग रही थी। लकड़ी का बड़ा कुन्दा अब भी जल रहा था। हमने खाना बनाने के लिए अभी बहुत सबेरा समझा। ब्रह्मचारी ने झोली खोली, चिलम तैयार हुई। जनशून्य कानन को 'बम्-शंकर' से प्रतिध्वनित करते हुए दम खींची, एक बालिश्त तो नहीं, किन्तु चार अंगुल ऊँची लपट चिलम से ऊपर निकली; "लो हो भगत !" कहते हुए साथी को दिया। दो बार चिलम परिवर्तन के बाद चिलम को जमीन पर आहिस्ते से पटका, गिट्टक को फिर उठाकर उसके भीतर रख उन्होंने साफ़ी से लपेट, झोली में रखा और हम फिर रवाना हुए। ग्यारह बजे के करीब बड़े वृक्षोंवाला जंगल खतम हो गया। अब लुकाट या गुलायची के पत्तों जैसे पत्तेवाले केवड़े की भाँति क़े छोटे-छोटे और उसी तरह नीचे टेढ़े-मेढ़े हो गये दरख्त मिलने लगे। ब्रह्मचारी ने कहा, अब हम असली बर्फ़ की जगह आ गये। आसमान में जब-तब बादल दिखलाई पड़ जाते थे, किन्तु उनकी हमें उतनी परवाह न थी। हम लोग सूखी लकड़ी की तलाश में थे, वह मिल न रही थी, और उधर भूख तेज होती जाती थी। एक बजे तक जब वही टेढ़ा-मेढ़ा पतला वृक्ष मिलता गया, तो लाचार हमने कुछ सूखी-सी दीख पड़ती लकड़ियों को इकट्ठा किया। सूखी पत्ती थी नहीं, जिससे कि दियासलाई बालकर आग सुलगाते। मुराव भगत के पास बिछाने की चट्टी थी। एक बालिश्त काटकर सुलगाया। चट्टी तो सुलग गई, किन्तु लकड़ी बिलकुल बहरी थी, कुछ नहीं

सुन रही थी। जब हमारी एक डिबिया दियासलाई और मुराव भगत की सारी चट्टी खतम हो गई, फिर भी आग न जली, तो हार मानकर उस प्रयत्न को छोड़ना पड़ा। उस वक्त मालवी भगत मुझे याद आये। वह होते तो उनकी झोली में कोई खाने की चीज जरूर निकल आती। आटा, आलू, कुछ घी भी हमारे पास था, किन्तु उनके लिए आग की जरूरत थी। उस वक्त मुराव भगत ने कहा–मेरी झोली में गुड़ मिला पावभर सत्तू है, और तो रास्ते में खर्च हो गया, बस इतना ही बाकी है। हमारे जान में जान आई। मुराव भगत को शाबाशी दी। सत्तू को लेकर ठीक तीन हिस्से किये गये। ब्रह्मचारी ने लुटिया में घोलने से मुझे मना कर दिया। कहा–मैं कमंडलू में सत्तू घोलकर पी लेता हूँ, फिर इसी कमंडलू-भर पानी में सत्तू घोलकर पियो। पेट जितना ही भरा रहेगा, उतना ही पैर आगे पड़ेगा। सत्तू क्या, मालूम होता था जैसे देवताओं ने अछूता अमृत अभी-अभी स्वर्ग से भेजा है।

दो घंटा और चलने के बाद एक सूनी मड़ैया पहाड़ की रीढ़ पर दिखलाई पड़ी। अगली रात जहाँ हम ठहरे, वहाँ पहिले से पहुँचे साधु ने कहा–"मैं रात को उसी मड़ैया में ठहर गया था। कभी-कभी उसमें गोरखिये रहते हैं, लेकिन उस शाम को कोई नहीं था। शाम को जब मैंने रीढ़ की दूसरी ओर पचास कदम नीचे देखा, कुछ भालू और उनके बच्चे किसी चीज की जड़ खोदकर खा रहे हैं, तो मेरी साँस उल्टी टँग गई। मैं चुपचाप आकर झोंपड़ी के एक कोने में पड़ रहा। रात को नींद कहाँ आवेगी, मालूम होता था, भालू अब आते हैं, और फिर मैं यहाँ का यहीं।"

खैर, यदि हमको उस झोंपड़ी में रात बितानी पड़ती, तो हमें उतना डर न होता, हम अकेले नहीं तीन थे, जिसमें मुराव भगत के पास डंडे में खन्ती, ब्रह्मचारी के पास नोकदार लोहा मढ़ा लम्बा डंडा था, मैं निहत्था जरूर था, और इस कथा के बाद मैं भी बराबर एक डंडा साथ रखने लगा। उतराई शुरू हुई–पहिले का अधिक रास्ता पहाड़ की रीढ़ पर था, समतल भूमि पर मालूम होता था, फिर आदमियों और पैरों से कटे तथा पानी के बहाव से गहरे हो गये रास्ते अधिक मिलने लगे। भूख का जोर तेजी पर था, वह सत्तू तो लाल तवे पर की दो बूँदें थीं, तो भी अब रास्ते से नजदीक गाँव होने की सम्भावना थी, इसलिए मन सन्तोष करने के लिए तैयार था। चार-साढ़े चार बजे के करीब हम गाँव में पहुँचे गये।

धर्मशाला तो नहीं थी, किसी गृहस्थ का सूना घर रहा होगा, जिसमें हम लोग ठहरे। हमारी अँतड़ियाँ ऐंठ रही थीं, पैरों की ओर से कोई शिकायत न थी। ब्रह्मचारी एक मिनट के लिए भी बिना रुके–'तुम लोग आराम करो, मैं तुरन्त आता हूँ" कहकर चले गये। मुश्किल से पन्द्रह-बीस मिनट गुजरे होंगे कि एक सेर भुना हुआ गरमा-गरम गेहूँ और आधा पाव गुड़ की डली लिए ब्रह्मचारी हाजिर हुए।

"खांओ ! खूब खाओ ! रोटी की फ़िक्र मत करो, अभी दिन बहुत है। मैंने तो चाहा कुछ मट्ठा भी मिल जावे, तो अच्छा, किन्तु शाम–मट्ठे का समय नहीं।··· मैं सीधा गाँव के प्रधान के घर गया। संयोग से वह नेपाली निकल आया।··· नेपाल का बाशिन्दा है, अब शादी क़रके यहीं रह गया है। मैंने कहा–प्रधान, तीन-तीन सन्त आज सारे दिन भूखे चले आ रहे हैं। जो कुछ तैयार हो, पहिले तो वह दो। सत्तू के लिए गेहूँ भूने जा रहे थे, उसने यह लाकर रखा। गुड़ पहाड़ में मोती के भाव बिकता है। उसके घर बस इतना ही था।··· अभी खा लो। मुझे बात करने की फुर्सत कहाँ थी। तुम्हारी अँतड़ियाँ क्या कह रही थीं, यह मुझे मालूम था।··· अब जाऊँगा। आज शाम को खीर-परावठे खाने की तबियत करती है।··· दूध क्यों नहीं मिलेगा।"

शाम को सचमुच चार सेर दूध लिवाए ब्रह्मचारी पहुँचे। प्रधान भी आया था, किन्तु उसकी शकल-सूरत याद नहीं पड़ती। चीनी नहीं थी, गुड़ हम सफ़ाचट कर चुके थे, किन्तु चीनी बिना भी वह गाढ़ी निर्जल खीर जिसमें दूध से चौथाई भी चावल नहीं पड़ा था, बहुत मीठी लगती थी।

दूसरे दिन घंटा बीतते-बीतते धरासूवाली सड़क पर पहुँच गये। उसी दिन हम उत्तरकाशी पहुँच गये। बादल और हवा के कारण काफ़ी सर्दी लग रही थी, किन्तु धर्मशाले में गुड़ और चाय की सदावर्त ने उसके भगाने में बड़ी सहायता की। उत्तरकाशी गंगा के किनारे एक खुली भूमि में बसी मालूम पड़ी। शिवमन्दिर काफ़ी बड़ा और सफ़ेद था, पास में धर्मशाला या घर भी अच्छा खासा था। सदावर्त तो जरूर ही होगी। कहाँ ठहरे, कितने दिन ठहरे, बाजार और बस्ती कितनी बड़ी थी, यह स्मरण के बाहर की बात है।

वहाँ से गंगोत्री कितने दिन में पहुँचे, यह याद नहीं आता। इतना मालूम हुआ कि हमारा रास्ता गंगा—जिसकी उपत्यका देवदारों के शुरू होने तक बहुत चौड़ी हो गई थी—के दाहिने से था। इधर के गाँवों में अखरोट के बड़े-बड़े दरख्त थे, जिनमें हरे-हरे फल लगे थे, और मैं समझता था, कि जब इनका रंग पीला पड़ जावेगा, तो लड़के आम की तरह लेकर चूसते होंगे। देवदारों के आने से पहिले ही एक सड़क के किनारे कुछ गदहे चर रहे थे, जो मामूल से कुछ ज्यादा बड़े थे। थोड़ी ही दूर पर रास्ते से जरा-सा हटकर एक छोटा-सा तम्बू खड़ा था। ब्रह्मचारी हमें भी साथ लिवाये वहाँ गये। 'लामा' 'लामा' कह तम्बूवाले से बात करने लगे। मालूम हुआ यह तिब्बत का नहीं नेपाल का बाशिन्दा है, व्यापार के लिए आया हुआ है। ब्रह्मचारी ने जब महाराना जंगबहादुर का नाम लिया, तो हँसी से मुख की रेखा को कान तक बढ़ाते, आँखों को गालों के भीतर अन्तर्धान करते 'लामा' ने एक हाथ को मुट्ठी बाँधकर ऊपर खींचते हुए जंगबहादुर के असिबल का नाट्य किया। उसका शरीर छै फीट से कम न रहा होगा, और उसी के अनुसार उसके शरीर की चौड़ाई भी थी। मुझे तो वह बचपन की कहानियों में सुना दानव मालूम होता था। उस वक्त मेरी धारणा हो गई थी कि, तिब्बत के सबसे छोटे आदमी ऐसे होते हैं। ब्रह्मचारी ने चलते वक्त लामा से 'चोरा' और जिम्बू की बूटियाँ माँगीं, जिनमें पहिली सूखी पतली जड़-सी मालूम होती थी, और दूसरी किसी चीज का हरा पत्ता था। उसी शाम आलू की तरकारी, घी में उसी बूटी में से एक का छोंक देकर बनाई गई। लाल मिर्च, नमक और घी के अतिरिक्त उसमें दूसरा कोई मसाला नहीं पड़ा, था, किन्तु स्वाद के बारे में क्या कहना, उस वक्त कहना तो गुनाह होता, किन्तु मालूम होता था रामदीन मामा ने डाकखाने के अपने अफ़सर की दावत के लिए बकरी के पट्ठे का मसालेदार मांस तैयार किया है।

शाम के वक्त हम देवदारों की छाया में पहुँचे। सामने के अस्ताचल की आड़ में सूर्य के चले जाने से, अन्धकार नहीं बढ़ रहा था, बल्कि मालूम होता था, सूरज के डर से देवदारों की घनी हरी छाया के नीचे छिपा अन्धकार सूर्य के बल को कमजोर देखकर धावा बोल रहा है। देवदार का विशाल वृक्ष, शिवाले के शिखर जैसा उसका नुकीला शिखर, सहस्रों भुजाओं की तरह समकोण में फैली उसकी शाखाएँ, हरी फुलवारी की पतली रेखाओं जैसी उसकी लम्बी-लम्बी पत्तियाँ और उस पर से देवदारु जैसा आकर्षक नाम—देवदारु के सौन्दर्य ने उस दिन अपने लिए 'वृक्ष-श्रीका मापदंड' होने का जो निर्णय स्वीकार कराया, उसे तीस साल बाद भी फिर से विचार करने की मुझे जरूरत नहीं पड़ी। उस दिन उसके नीचे से भीनी-भीनी निकलती खुशबू का जो आघ्राण मैंने किया था, वह देवदार से सैकड़ों मील दूर रहते आज भी मुझे ताजा मालूम होता है।

आज जहाँ ठहरे थे, उसके आसपास जंगलात के ठीकेदार के आदमी देवदार के स्लीपर चीर रहे थे।

दूसरे दिन हम अधिकतर देवदार की छाया में चलते गये। किसी नदी को आरपार होना पड़ा याद नहीं। हाँ, एक जगह ऊपर के जानेवाले रास्ते को छोड़ दाहिनी ओर नीचे से उतरने लगे, उस समय सुना कि ऊपर का रास्ता एक भयानक पुल पर से गुजरता है, इसीलिए हम नीचे के रास्ते से चल रहे हैं। कितनी ही दूर उतरने के बाद काठ का एक पुल आया, और उससे हम भोट गंगा को पार कर गये। अब फिर चढ़ाई शुरू हुई, और काफ़ी दूर तक, किन्तु अब हम अभ्यस्त हो गये थे। आगे कहीं चौकीदार का घर मिला, जिसने हमें खबरदार किया, कि आग जहाँ-तहाँ न जलावें, जंगल में आग लग जाने का डर है।

गंगोत्री में हम जिस घर में ठहरे, उसमें सिर्फ साधु ही साधु थे, जिनकी संख्या आठ-नौ से ज्यादा नहीं रही होगी। बीच में बड़े-बड़े लक्कड़ों की धुनी जल रही थी, और उसके किनारे अपने-अपने आसनों पर सन्त लोग बैठे हुए थे, उनमें कुछ शिर में लम्बी पिंगल जटा, देह में अखंड भभूत और माला-लँगोटी के सिवा नंगे-मादरजाद थे, किसी के गर्दन तक पहुँचे भूरे बाल तथा कान में स्फटिक की मुद्रा, किसी की लाल लँगोटी और गर्दन में काली ऊन की माला, किसी का सर घुटा और बदन में लम्बी अल्फी। वेश-भूषा में भेद रहते भी एक बात सबमें साधारण थी, वह थी गाँजे की साफ़ी, और लम्बी चिलम। गाँजे की एक चिलम हाथ से हाथ में बदली जाती थी, और उधर दूसरी चिलम तैयार हो रही थी। मालूम नहीं वहाँ गाँजा महँगा मिलता था या सस्ता, अथवा नैपाल की शिवरात्रि की भाँति सदावर्त में मिलता था। चाहे कुछ भी हो, झोली से गाँजा निकालकर देने में हर सन्त होड़ लगाये हुए था। गंगोत्री एक तीर्थ मार्ग का अन्तिम छोर था, इसलिए हर एक धर्मेच्छुक गृहस्थ वहाँ साधुओं को कुछ

भोजन और दान-दक्षिणा दिये बिना नहीं रहता था। मैं नहीं समझता था, दो या तीन जितने दिन हम वहाँ रहे, हमें कभी रसोई बनानी पड़ी थी। रोज किसी न किसी माई-दाता की ओर से पूड़ी-हलुवा, पूआ, मिठाई बनके चली आती थी।

अब इधर मैं सन्तों को बहुत नजदीक से देख रहा था, और उनकी धुआँधार चिलमों में अभी मैं शामिल न हुआ था, उन्हें ब्रह्म-वेदान्त की चर्चा में लीन भी मैं नहीं देखता था, तो भी मुझे उनसे घृणा और उदासीनता नहीं हुई। यह बात नहीं कि वेदान्त और वैराग्य मैं भूल गया था। जान पड़ता है, उनका बेफ़िक्री का स्वच्छन्द जीवन, उनकी एक तल पर आपस में मिल बैठने की भेदभावशून्य चाल, उनकी खाने-खर्चने में उदारता, उनकी मार्ग के कष्टों को आवाहन करने की बेकरारी और उनकी कल से बेफिक्री इतनी ठोस चीजें थीं, जिनके कारण तसवीर के दूसरे रुखे पर मेरा ध्यान ही नहीं जाता था। छीलने पर मैं अन्दर से क्या कहूँ, यह तो मुझे पता न था।

गंगोत्री से गंगनाणी तक हमें फिर लौटकर आना पड़ा। अब की बार लकड़ी के बिना कटघरेवाले पतले पुल से हम गंगापार के गर्मकुंड में नहा भी आये। मालूम नहीं उसी पुल से या उससे नीचे किसी और पुल से पार होकर हमने केदारनाथ का रास्ता पकड़ा। महीना शायद आषाढ़ का होगा, नदी के ऊपर के खेत कट चुके थे। खेतों में गेहूँ के लम्बे डंठल खड़े देखकर मुझे माजरा समझ में नहीं आया, पीछे मालूम हुआ, यहाँ बालें ही काटी जाती हैं—वर्षा का डर होने से बालें तो घर में भी छिपाई जा सकती हैं। बूढ़े केदारनाथ के लिए हमें बराबर ऊपर से ऊपर चलते रहना पड़ा।

बूढ़ा केदार बहुत बड़ी बस्ती न थी; हाँ, उसके पास खेत बहुत थे। मन्दिर का स्मरण नहीं, यह याद है कि ब्रह्मचारी के लेक्चरों से प्रभावित हो एक दिन रात को रोटी के वक्त मैं मधूकरी माँगने गया था। एक या दो द्वारों पर गया, और हर घर से छोटी-बड़ी एक-एक रोटी मिली, इसी वक्त कुत्ते भूँकते हुए टूट पड़े, वहीं से मैं उल्टा लौट पड़ा; और उसके बाद फिर कभी मधूकरी माँगने का नाम नहीं लिया।

बूढ़ा केदार के आगे मेरी तबियत कुछ अस्वस्थ हो गई। ज्वर आने लगा। एक या दो दिन आगे जाने पर मैं ब्रह्मचारी के साथ पैर मिलाकर चलने में असमर्थ था। ब्रह्मचारी को मैंने अपनी अवस्था बतलाई थी, किन्तु उनको उसका खयाल न हुआ। एक दिन मैं 4, 5 मील जाते-जाते आगे चलने में असमर्थ हो गया। पास में एक ब्राह्मण का घर था। नीचे गाय-बैल के बाँधने का स्थान, और ऊपर आदमियों के रहने की साफ़-सुथरी कोठरियाँ। घर के चारों ओर निकला बरांडा था। घर में कोई नौजवान लड़का था, मेरी अवस्था देखकर उसने घर में बुलाया। मुश्किल से मैं सीढ़ी के ऊपर चढ़ पाया। वहीं बरांडे में कम्बल बिछाकर पड़ रहा। थकावट दूर होने पर कुछ चित्त स्वस्थ मालूम होने लगा। वहीं घर में मैंने तुलसीकृत रामायण देखी।—रामायण की चौपाइयाँ यहाँ भी पढ़ी जाती हैं! दो घंटे के विश्राम के बाद ब्रह्मचारी के आगे बढ़ने की चिन्ता बढ़ने लगी। मैंने हिम्मत करके चलना ही पसन्द किया। मुश्किल से मील-भर जा सका हूँगा, कि पैरों ने फिर आगे बढ़ने से जवाब दे दिया। चढ़ाई का रास्ता होने के कारण शरीर को ऊपर ढकेलना बड़ा कष्टसाध्य मालूम हो रहा था। आगे गाँव दूर होने के कारण रास्ते से थोड़ा नीचे गाँव की सूनी चौपाल में कम्बल डालकर पड़ रहा। थोड़ी देर में प्यास बढ़ी तो सामान वहीं छोड़ वहाँ से कुछ दूर चश्मे पर पानी पीने गया। इसी बीच ब्रह्मचारी आये। उन्होंने मेरे आने का भी इन्तिजार नहीं किया, पूछताछ की तो बात की क्या, अपना कम्बल—जिसे मैं ही ढो रहा था—लेकर चले गये। मुझे इस व्यवहार से अफ़सोस तो हुआ; लेकिन करता क्या? ब्रह्मचारी से उसके बाद फिर मुलाकात नहीं हुई। मैं अब उतनी तेजी चाल से चल भी नहीं सकता था।

दूसरे दिन रास्ते में कोटा के तीन-चार गृहस्थ मिले। उनकी बड़ी तथा एक तरफ़ तिर्छी बँधी छींट की पगड़ी, एड़ी तक पहुँचती दोकच्छी धोती और कानों में मोती की बालियाँ अब भी याद हैं। मंडली के मुखिया की बगल में कानवास की एक छोटी-सी मशक लटक रही थी। उन्होंने अपने साथ भोजन बनाते-खाते चलने के लिए कहा। धर्मशाला-सदावर्त से दूर के उस पथ पर भिक्षा-भीरु व्यक्ति को इससे बढ़िया क्या बात हो सकती थी। हमारा एक पड़ाव गोरखियों के झोंपड़ों में पहाड़ की रीढ़ पर पड़ा। मैंने रसोई बनाई—नमक डाले आटे की रोटी

और उड़द की दाल… । बात छिड़ गई थी जंगल के बघेरों की । हमारे चारों ओर जंगल था, उसमें रीछ और बघेरे रहते थे । गोरखिया (चरवाहा) कह रहा था—बघेरे का बाप कोकी (जंगली कुत्ता) है । वे पचास-पचीस का गिरोह बाँधकर चलते हैं, और एक साथ हमला कर देते हैं । बघेरा भी उनसे नहीं बच सकता, गाय-भैंस की तो बात ही क्या ?

तिरयुगीनारायण से पहिले वृक्षरहित किन्तु घास से ढँके पहाड़ों पर पैर के अँगूठे जितनी मोटी काली-काली जोंकें दीख पड़ीं । जोंक से मैं नहीं डरता, कितने लोग तो नन्हीं-नन्हीं जोंकों से भय खाते हैं, उनका तो दम ही इन डबल जोंकों को देखकर निकल जावे ।

तिरयुगीनारायण केदारनाथ के रास्ते से थोड़ा ऊपर हटकर है, किन्तु हर एक यात्री के लिए वहाँ जाना आवश्यक है, इस प्रकार वह प्रधान रास्ते पर है । यहाँ काली कमलीवाले की सदावर्त थी, किन्तु कोटेवाले सेठ के साथ रहने के कारण इस वक्त मुझे सदावर्त की जरूरत नहीं थी ।

तिरयुगीनारायण से उतराई उतरकर फिर केदारनाथ की प्रधान सड़क पर आये । नदी पार करते वक्त झूले का पुल टूटा मिला । बगल में अस्थायी रस्सी का झूला बँधा था । यात्री लोग सुनी-सुनाई बात कह रहे थे कि एक बार ही बहुत से आदमी चढ़ गये, इसलिए लोहे के तारवाला झूला टूट गया; कितने ही आदमियों की तो लाश तक नहीं मिली । उस रात हम गौरीकुंड में ठहरे । वहाँ के पीले गन्ध की ठंडे चश्मे, तथा साँवले गर्म पानी के चश्मे में लोग स्नान कर रहे थे । एक अच्छी धर्मशाला पास में थी, जिसमें कोई नेपाली रानी ठहरी हुई थीं । लोग भिक्षा माँगने जा रहे थे । भिखमंगों का क्या एक को जहाँ कुछ मिला कि दूसरे पचीस चल पड़े, आखिर दाता की श्रद्धा और थैली का भी कोई परिमाण होता है । देखा-देखी में मैं भी किस्मत-आजमाई में शामिल हो गया । 'रानीजी कुछ मिल जावे'—संकोच और शर्म से भरी आवाज में कितनी ही बार कहा होगा । यह भी स्मरण नहीं कि रानीजी की ओर से क्या-क्या दिलवाया गया था । जीवन में दीनता के साथ भिक्षा माँगने का यही मेरा आदिम और अन्तिम प्रयास रहा ।

गौरीकुंड से चढ़ाई चढ़ते हुए लामबगड़ पहुँचे । यहाँ से केदारनाथ पांच-छै (?) मील है । केदारनाथ की सर्दी को इतना बढ़ा-चढ़ाकर लौटे यात्री सुनाते थे, कि नये जानेवाले घबरा जाते थे । अधिकांश यात्री दोपहर को भी लामबगड़ पहुँचने पर वहाँ से आगे नहीं जाते । डंडा-कुंडा वहीं रखकर साधारण कपड़े के साथ केदारनाथजी के दर्शन करके शाम तक लामबगड़ लौट आने को हर एक यात्री पसन्द करता था । मेरे पास उतना सामान भी न था, जिसमें से कुछ छोड़ जाता, और दूसरे मैं यमुनोत्री की मार खाये हुए था, जिसका रास्ता और भी बीहड़ समझा जाता था ।

लामबगड़ से रास्ता नदी (मन्दाकिनी) की दाहिनी ओर से चढ़ाई ही चढ़ाई का था, किन्तु चढ़ाई उतनी कड़ी न थी । कुछ आगे जाने पर उपत्यका भी और चौड़ी हो गई । बर्फ़ पिघल चुकी थी, वर्षा के शुरू हो जाने से पहाड़ों में चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखलाई पड़ती थी । लामबगड़ से कितना आगे तक वृक्ष मिले, नहीं कह सकता; किन्तु अन्त में वृक्षहीन घास से ढँकी भूमि थी । चढ़ाई सीधी न होने पर भी साँस बहुत फूल रही थी, लोग कह रहे थे, यह विषैली जड़ी-बूटियों का प्रभाव है । मेरे भूगोल पाठ ने इसको प्रदेश के उन्नतांश से जोड़ा या नहीं इसका पता नहीं । केदारनाथ बस्ती के पास पहुँचने पर पुल से हमें मन्दाकिनी के बाईं ओर आना पड़ा ।

संयोग से हमारे कोटेवाले सेठ किसी पंडा के मकान में न ठहर, कालीकमलीवाले की धर्मशाला में ठहरे । बस्ती के दूसरे मकानों से वह अधिक साफ़ और आरामदेह थी । दोमहला मकान था, और शायद टीन या स्लेट से छाया हुआ था । सीढ़ी से उतरने पर दाहिना भाग—जो बायें से कम था—ऊपर-नीचे दोनों धर्मशाला के कर्मचारियों के लिए सुरक्षित था, और बायाँ यात्रियों के लिए । शायद हम लोग बायेंवाले निचले भाग की किसी कोठरी में ठहरे । अब हम प्रधान यात्रा पथ पर चले आये थे, जहाँ धर्मशालाएँ और सदावर्त सुलभ थे । मैं रसोई बनाते हुए सेठों की मंशा से चलना पसन्द न करता था । मुझे साधुओं की मस्तानी यात्रा ज्यादा पसन्द थी; इसलिए यहाँ से रसोईदारी के काम को छोड़ना तै किया । उसी दिन रात को ऊपर बरांडे में रामायण की कथा हो रही थी । शायद उसे पहिले दो-तीन साधुओं ने शुरू की । गाना नहीं अर्थसहित चौपाई का थोड़ा स्वर से पाठ । पाठ शायद

कोई दूसरा करता था, अर्थ मैं कर रहा था। उत्तरकांड का ज्ञानदीपक प्रकरण था। थोड़ी देर के बाद कुछ और महात्मा शामिल हो गये, जिनमें सदावर्त के अध्यक्ष उदासीन बाबा धर्मदास भी थे। थोड़ी देर चुप रहने के बाद अर्थ करने का काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिया। अर्थ करते वक्त वह बीच-बीच में उपनिषद् की श्रुतियाँ बोलने लगे। उन्होंने आत्मा के स्वरूप को 'अणुवो रणियान महितो महियान' श्रुतिवाक्य से प्रतिपादन करना शुरू किया, तो मेरे ऊपर उनकी विद्वत्ता की जो धाक पड़ी, उसे वर्णन नहीं कर सकता। मुझे क्या मालूम था, कि वह इतना अशुद्ध उच्चारण कर रहे हैं, और जिन श्रुतियों को वह मौके-बेमौके फर-फर दुहरा रहे हैं, वही उनकी बिना अर्थ समझे तोते की तरह रट रखी जिन्दगी-भर की पूँजी है।

कथा समाप्त होने पर महात्मा धर्मदास ने मुझसे कुछ प्रश्न किये। साधु बनने के बारे में पूछने पर मैंने कहा—"साधु तो मुझे जरूर बनना है, किन्तु पहिले संस्कृत और वेदान्त ग्रन्थों को पढ़ लेने के बाद।" उन्होंने कहा—"तो फिर हृषीकेश या हरिद्वार में तुम रह क्यों नहीं गये ?" "पढ़ने का सिलसिला कोई लगता दीख न पड़ा"—उत्तर देने पर, बोले—"दो-चार दिन रहकर तलाश करने पर लग जाना मुश्किल न था। अच्छा, तो तुम दो-चार दिन यहाँ मेरे पास रहो, कल जाने का इरादा छोड़ दो; फिर हम इसके बारे में बातचीत करेंगे।" मेरे पास का कम्बल केदारनाथ की सर्दी के लिए काफ़ी न था, इसलिए उन्होंने एक मोटी लोई दी। रात को मैं अपने साथियों के यहाँ सो गया।

दूसरे दिन हमारे सेठ तो चले गये, और मैं ऊपर धर्मदासजी के बैठने के स्थान में गया। एक बरांडा था, जिसके पीछे दो कोठरियाँ थीं, जिनमें से एक में सदावर्त में दिया जानेवाला सामान—सारे सामान के लिए नीचे गोदाम था—रहता; दूसरी कोठरी में यात्रियों के रात-भर के लिए उधार दिये जानेवाले लोई-कम्बलों के अतिरिक्त धर्मदासजी का बिस्तरा था। दिन में वह अधिक़तर बाहर बरांडे में अपनी कोठरी के सामने मोटे गद्देवाले आसन पर मोटी पट्टी के कोट-पाजामा तथा कनटोप को ओढ़े-पहिने लोई से शरीर को ढाँके पड़े रहते। जरा भी हवा होने पर सामने के जँगले को बन्द कर देते, जिससे वहाँ अँधेरा छा जाता। सामने अँगीठी में निर्धूम कोयले की आग भी पड़ी रहती। धर्मदासजी गाँजा-तम्बाकू नहीं पीते थे। गुड़-घी-आटा-चावल-दाल के साथ चाय भी यद्यपि सदावर्त में बाँटी जाती थी, किन्तु वे चाय के भी ज्यादा आदी न थे, हाँ कभी-कभी एकाध गिलास पीते जरूर थे। सीढ़ी के पासवाले बरांडे के बाकी आधे भाग में सदावर्त में दी जानेवाली चीजों को रखे बाँटनेवाले नौकर बैठते थे—जिनमें एक का नाम था नत्थराम और दूसरे का याद नहीं।

3
हिमालय (2)

अगले दो-तीन दिन के वार्तालाप में तै हुआ, कि मुझे पढ़ने के लिए फिर बनारस नहीं लौटना चाहिए। घर का खतरा मेरे दिल में बना ही हुआ था। धर्मदासजी ने कहा—"यात्रा का समय सितम्बर-अक्तूबर तक समाप्त हो जावेगा, फिर मैं हृषीकेश चलूँगा। उसी वक्त तुम भी चलना। बल्कि तुम्हारा बदरीनाथ दर्शन बाकी रहता है, वहाँ होते आ जाना। हृषीकेश में मैं तुम्हारे संस्कृत पढ़ने का प्रबन्ध कर दूँगा। फिर पढ़कर तुम्हारी इच्छा हो तो साधु बन जाना।"

मुझे और क्या चाहिए था ?

केदारनाथ की सर्दी सचमुच सख्त थी, गंगोत्री और यमुनोत्री उसके मुकाबिले में कुछ न थे। पहिले दिन तो बर्फ़ से तुरन्त पिघलकर आये मन्दाकिनी के जल में मैं भी नहा आया था, दूसरे दिन नहाने के लिए जाते देख धर्मदासजी ने आदमी साथ कर दिया, जो मुझे पूरब ओर की पहाड़ी की जड़ में अवस्थित स्वच्छ स्फटिक जैसे पानी के चश्मे पर ले गया। वहाँ पर भी मैं एक ही दो दिन नहाने गया, पीछे देखा बाबा धर्मदास और उनके दोनों कर्मचारी सबेरे गर्म पानी से हाथ-मुँह धोकर मंत्र स्नान कर लेते हैं। उन्होंने मुझसे कहा भी—"यहाँ

की सर्दी साधारण नहीं है। एक-दो दिन की बात हो तो कोई परवाह नहीं, ज्यादा ठंडे जल में नहाने पर बीमार हो जाने का डर रहता है।" उनके ब्राह्मण कर्मचारी ने अपने अध्यक्ष की बात का समर्थन करते हुए कहा—"नीचे देश में गंगाजल से जितनी पापशुद्धि नहीं होती, उतनी यहाँ कैलाश-खंड की हवा के शरीर में लगने से हो जाती है।"

'बिल्ली के भाग्य से छींका टूट गया'—तीन-चार दिन के हिमजल में शरीर भिगोने से कैसा कष्ट हो रहा था, यह मैं ही जानता था। उसके बाद मैंने भी सहवासियों का अनुकरण शुरू कर दिया। बाबा ने मेरे लिए भी सफ़ेद पट्टी का एक मोटा कोट, ऊनी पाजामा, गर्म कनटोप दे दिया। चलने-फिरने के लिए गर्म मोजा और लाल लोधियानवी जूता भी मिला।

बाबा धर्मदास पंजाबी थे, लेकिन भारत के बहुत भागों में घूमे हुए थे। आयु उनकी 54, 55 की रही होगी। बोलने-चालने में वे बहुत चतुर थे। उस दिन कथा बाँचने में चाहे श्रुतियों के उच्चारण करते वक्त भले ही सरस्वती उनकी जिह्वा पर बैठ गई हों, किन्तु बाद में वह पंडिताई नहीं दिखलाना चाहते थे। साफ़ स्वीकार करते थे कि मैंने संस्कृत नहीं पढ़ी है। विचारसागर, रामायण, योगवाशिष्ठ जैसे कुछ भाषा के ग्रंथ-भर पढ़े हैं। इस साफ़गोई का मुझ पर बहुत असर पड़ा।

हरद्वार के बाद से, या शायद पहिले ही से मेरी त्रिकाल सन्ध्या मद्धिम पड़ी थी। यह क्यों ?—यात्राकर्षण ने वैराग्य पर अपना असर डाला होगा, या साधुओं की रहन-सहन से अतिवादिता ढीली पड़ी थी, अथवा लगातार चलते रहने से फ़ुरसत कम मिलती थी। केदारनाथ में अब कुछ महीनों के लिए स्थिर रहना था, इसलिए यहाँ फिर जीवनचर्या में कुछ परिवर्तन करना था। रामायण, विचारसागर, गुरुमुखी पंचीग्रंथी के सिवाय बाबा के पास एक भाषा-टीका शिवपुराण था। गुरुमुखी एक नई लिपि थी, किन्तु दो-तीन दिन में ही पंचग्रंथी के "1 ओम् सतिगुरुप्रसाद···" को मैं पढ़ने लगा। विचारसागर और रामायण कई बार पढ़े हुए थे, इसलिए उन पर ज्यादा समय नहीं दे सकता था; हाँ, दोपहर के खाने के बाद दो-तीन घंटा शिवपुराण का पाठ चलता था। संस्कृत के श्लोक पढ़ जाता, फिर उसकी हिन्दी-टीका को। यत्र तत्र ही संस्कृत का कोई शब्द समझ में आता था, किन्तु हिन्दी भाषान्तर से काम चल जाता था। कथा के वक्त बाबाजी के अतिरिक्त दो-एक ग्रामवासी पंडा और कर्मचारियों में से भी कोई रहता था। खैर, वहाँ कथा सुनाने से मुझे विशेष प्रयोजन नहीं था, मैं कथा का रसास्वादन ले रहा था। अनजाने बेल के वृक्ष से गिराये पत्तों के विस्मृत अलक्षित शिवलिंग पर पड़ जाने से घोर पापी को शंकर के दूत स्वर्ग ले जाने के लिए आये—इस कथा ने मेरे दिल में शंकर के प्रति श्रद्धातिरेक पैदा किया हो, सो बात नहीं थी। मुझे तो उसके पढ़ने में उसी तरह की दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जैसी 'हातिमताई' और 'आराइशे-महफ़िल' को कई वर्ष पहिले बछवल में पढ़ते वक्त।

पुस्तक-पाठ और बाबा से यात्रा तथा वेदान्त पर बातें सुनने के अतिरिक्त मेरा काम था, आसपास के पहाड़ों पर घूमने जाना। सारी निचली उपत्यका और पूरबवाली दूर तक चली गई अधित्यका में हरी घास तथा रंग-बिरंगे फूलों से लदी जड़ी-बूटियों का कालीन बिछा हुआ था। अक्सर नाथूराम के साथ मैं घूमने जाता था। उपरली अधित्यका पर, कितनी ही बार नीचे की ओर वहाँ तक गया, जहाँ छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हो जाते हैं। ऊपर की ओर सत्पथ शुरू होनेवाले चट्टानों से बहुत आगे तक कई बार गया। पहिली बार हम दोनों उधर जा रहे थे, तो भेड़ों के झुंड से एक अधेड़ आदमी ने आवाज दी। नाथूराम गये। लौटकर बोले—"इधर से आगे जाना मना है। पाण्डव लोग इसी रास्ते हिमालय गलने गये थे। कितने लोग इधर से जाया करते थे—रास्ते में गल गये, तो मरने के बाद, नहीं तो सशरीर ही स्वर्ग पहुँच जाते।··· हाँ, स्वर्ग इधर ही है। प्रधान पूछ रहा था, आप सत्पथ तो नहीं जाना चाहते। सरकार की ओर से मनाही है।"

'सत्पथ' का शौकीन तो मैं नहीं था। 'स्वर्ग इधर ही है' के खिलाफ़ मेरे भूगोल ज्ञान ने कितना विद्रोह किया था, यह मुझे याद नहीं। हमने एक बड़ी चट्टान पर त्रिशूल तथा दूसरे चिह्न बने देखे। नाथूराम कह रहे थे, कि पुराने सत्पथ-यात्री यह अपना चिह्न छोड़ गये हैं। लौटते वक्त हम सुन्दर-सुन्दर फूलों और पत्तियों का गुच्छा बनाकर लाते थे।

पहिले रोज, और पीछे सोमवार के सोमवार मैं केदारनाथ के दर्शन को जाता था। मन्दिर पत्थर का तथा अब तक के हिमालय में दिखाई पड़े मन्दिरों से बड़ा था। कलश और शिखर की धातु याद नहीं, किन्तु मन्दिर शिखरवाला था। शायद मन्दिर के बाहर सभा-मंडप न था। भीतर लिंग के स्थान पर अनगढ़ पत्थर का महिषपृष्ठाकार लिंग था। कथा में सुना भी था, कि शंकरजी को भैंसा का रूप धर के इसी उपत्यका में चरने की बात सुन पांडव पकड़ने आये। भीम दोनों पहाड़ों पर पैर रखकर खड़े हो गये, जिसमें कि पैरों के नीचे से जो भैंसा न जावे, उसे शंकरजी समझकर पकड़ लिया जावे। शंकर सचमुच ही हिचकिचा रहे थे। पांडव लपके पकड़ने को, किन्तु उसी जगह शंकर अन्तर्धान होने लगे, पीठ-भर धरती में डूबने को रही, वही यह केदारनाथ महादेव हैं, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक हैं। शंकर का चढ़ा प्रसाद–शिवनैर्माल्य–खाना वर्जित है, यह मैं लड़कपन से सुनता आया था; किन्तु यहाँ अक्सर शिवजी के प्रसाद को रावल (केदारनाथ के दक्षिणी प्रधान-पुजारी) के यहाँ से आते देख मैंने बाबा से पूछा, तो उन्होंने कहा–ज्योतिर्लिंग और नर्मदेश्वर (नर्मदा नदी से निकले) के प्रसाद के ग्रहण करने में कोई हर्ज नहीं है। मन्दिर के रावलजी की भाँति कालीकमलीवाले बाबा की सदावर्त के अध्यक्ष बाबा धर्मदास भी केदारनाथ के प्रमुख व्यक्तियों में थे। रावल भी अक्सर उनके यहाँ आया करते थे। सावन के महीने में केदारनाथ की पूजा खास तौर से की जाती थी। उस वक्त एक तरह का कमल ('हिमकमल') बहुत चढ़ाया जाता। हमारे बाबा भी आदमी भेजकर हर सोमवार को टोकरे-भर कमल मँगवाते, और बड़ी भक्तिभाव से चढ़ाते थे। "परसे तुहिन तामरस जैसे"–यह चौपाई मुझे याद थी, और यहाँ हिमालय में कमल होने पर मुझे बड़ी आपत्ति थी; किन्तु लोग उसे कमल ही कहने का आग्रह करते थे, और बतलाते थे, कि बर्फ़ के गल जाने पर पच्छिमवाले पहाड़ के पीछे एक विशाल झील में वह पैदा होते हैं। पच्छिमवाली झील को देखने तो मैं नहीं जा सका, किन्तु उत्तर तरफ़ एक दिन नाथूराम के साथ बहुत दूर तक गया था। वहाँ, हवा के पतली होने के कारण साँस लेने में तकलीफ़ होती थी। हम उस बर्फ को भी पार कर गये, जिसके नीचे से मन्दाकिनी की धार आ रही थी। आगे एक ईषद्-हरित साफ पानी की छोटी-सी झील मिली। मैं थक गया था, इसलिए एक चट्टान के ऊपर लेट गया, और नींद भी आ गई; किन्तु नाथूराम आगे घूमने गये। उनके लौट आने पर हम लोग साथ ही बस्ती में लौटे।

केदारनाथ में जानवरों में गाय-बैल के अतिरिक्त टट्टू और कुत्ते भी काफ़ी थे, टट्टू सामान लाने के लिए थे। डंडी, झप्पान या खटोले पर तो किसी-किसी को चढ़े मैंने जरूर देखा था, किन्तु घोड़े पर चढ़े किसी यात्री को देखा हो इसका खयाल नहीं आता। कुत्तों की गर्दनों में चार-छै अंगुल चौड़े लोहे या पीतल के पट्टे थे। लोग बतला रहे थे, इसके रहने से कुत्ता बघेरे के काबू में नहीं आता।

केदारनाथ में रहते मुझे दो या तीन हफ्ते हो गये थे, इसी समय मैंने अँधेरी जगह में अपने आसन पर बैठे देखा, एक साधु के साथ एक लड़का–हाँ, दूसरा नहीं मेरा बालसाथी यागेश–सदावर्त लेने आया। उसके पास दो से अधिक पुर्जियाँ थीं। सदावर्त देनेवाला कर्मचारी बिना आदमी देखे, सदावर्त का सामान देने के लिए तैयार नहीं हुआ। साधु ने यागेश को साथियों के पास उन्हें लिवा लाने के लिए भेजा। यागेश के सीढ़ी से उतर जाने के बाद मैं भी चुपके से उतरकर पीछे हो लिया। यागेश के पास एक धोती, एक सूती कुर्ता या कोट था, सिर और पैर नंगे थे; और मैं सिर से पैर तक गर्म कपड़ों से लदा था। दो-तीन सप्ताह के निश्चिन्त रहने तथा खाने-पीने के आराम के साथ शरीर में वैसे ही नया खून आ गया था, ऊपर से सम्भ्रान्त पोशाक और लोधियानवी लाल जूती और भी बतलाती थी, कि कोई अमीर का लड़का है। यागेश जब अपने साथियों के रहने की जगह पर पहुँच गये, तब मैंने कहा–'यागेश !'

यागेश ने पीछे मुड़कर मुझे देखा। दोनों तरफ़ के आनन्द का ठिकाना न रहा। हममें से किसी की आँखों में आनन्दाश्रु आये–नहीं कह सकता। और बात करने को तो अब सारा समय अपना था, इसलिए उस प्रसंग को बिना छेड़े मैंने उन्हें साथ चलने के लिए कहा। यागेश ने सदावर्त से लाये सन्देश को अपने साथियों से कहा या नहीं, किन्तु जब उन्होंने उनसे कहा–'मेरे भाई मिल गये, इन्हीं की खोज में मैं घर से निकला था, वह बाहर खड़े हैं।' मुखिया साधु ने झाँककर मुझे देखा, तो घबड़ाए हुए जाकर यागेश के गले से कंठी उतारने लगा, उतारने में देर देखकर उसे तोड़ लिया। जिक्र करने पर यागेश से जब मैंने कारण पूछा, तो बतलाया–वह घबरा गया,

कि कहीं इनका भाई जबर्दस्ती चेला बनाने की बात पुलीस से कहकर फँसा न दें। हम लोग उसके भोलेपन पर हँसते धर्मशाला की ओर चले। मैंने कर्मचारी को कह दिया—'हाँ, इन्हें पुर्जी के मुताबिक सदावर्त दे दो, मेरा यह भाई इन्हीं के साथ आया है।' मैं भी तो उनका उपाध्यक्ष-सा था, फिर वह मेरी बात क्यों न मानते।

कुछ खिलाने-पिलाने के बाद यागेश ने सारा किस्सा सुनाया। कैसे मेरी उल्टी चिट्ठी को उन्होंने पढ़ा, और कैसे अचानक आकर फूफा साहेब ने वह चिट्ठी उनसे छीन ली। कैसे बेसरोसामानी की हालत में वह आँख बचाकर घर से निकले, कैसे कहीं थोड़ी दूर रेल पर और कहीं थोड़ी दूर पैदल चलते हरिद्वार पहुँचे। कैसे विष्णुदत्त पंडित (?) ने मेरे बदरीनाथ से लौटकर वहाँ आने की बात कह उन्हें भी रखना चाहा, और मेरी तरह वह भी पंडितजी की बनावटी बातों से असन्तुष्ट हो चलने पर मजबूर हुए। रास्ते में उन्हें गाजीपुर जिले की यह गृहस्थ-साधु-मंडली मिल गई, और उसके साथ वह यहाँ तक पहुँचे। मैं ही समझता था, यागेश को कितना कष्ट हुआ होगा, खासकर मेरे जैसा उनके पास वेदान्त और वैराग्य का बल न था, वह मेरे प्रेम और कुछ देशाटन के लोभ से खिंचकर ही इतने कष्ट को सहने के लिए तैयार हुए थे। मैंने भी अपना यात्रा विवरण कह सुनाया। बाबा धर्मदास से मैंने सारी कथा कही। उन्होंने कहा—'अच्छा है, दोनों भाई चलो हृषीकेश, वहीं संस्कृत पढ़ना, और साधु बन जाना।' साधु बनने के बारे में मैं तो कुछ 'ननु' 'न च' भी क़रता था, किन्तु यागेश अपने को एकदम तैयार जाहिर करते थे। हाँ, वह मेरे सामने जरूर कहते थे—'माँ याद आती है, भैया ! चलो घर चले चलें।' किन्तु, मुझ पर तो दूसरी ही सनक सवार थी। मैं कोमल किन्तु स्थिर शब्दों में यागेश को उस बात से रोकता था।

केदारनाथ में भुना चना रुपये का दो सेर, अर्थात् करीब-करीब घी के बराबर बिकता था। इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात मुझे यह मालूम हुई, कि आटा और पूड़ी दोनों एक भाव—शायद छै आने सेर—बिकते थे। कारण पूछने पर बतलाया गया—सभी हलवाई चढ़ा-ऊपरी कर रहे हैं, और इसमें घाटा भी नहीं है, क्योंकि पूड़ी आटे से ड्योढ़ी हो जाती है, और उसी वृद्धि में घी का दाम तथा थोड़ा नफ़ा भी निकल आता है। पूड़ी खाकर पेट की खराबी को मैंने देख लिया था। केदारनाथ में पहाड़ी लोग भी उससे डरते थे। सबेरे के वक्त हम हलवा बनाते थे, घी-गुड़-आटे की वहाँ कमी न थी। हलवा बनाने की कला मुझे बाबा धर्मदास ने बताई थी। यागेश के आ जाने पर तो हम दोनों बना लिया करते थे। बाकी वक्त का खाना दोनों कर्मचारियों में से कोई बनाता था। दोपहर को क्या खाते थे, यह तो याद नहीं, किन्तु रात को खाना खाने हम नीचे जाते थे। केदारनाथ में अरहर या उड़द की दाल नहीं मिलती थी, न भात ही सीझता था; हमारी दाल मसूर की होती। तरकारी के लिए आलू की फ़सल तैयार होने में देर थी, उसकी जगह प्याज की तरकारी बनती थी। कभी-कभी जंगल का कोई साग भी बन जाता। रोटी में घी चुपड़कर खाने से डरते थे, उसकी जगह आटा गूँधते वक्त कुछ घी मिला दिया जाता। दाल को घी से छौंकने में कोई आपत्ति न थी। सामग्री के परिमित होने पर भी भोजन सुस्वादु होता था।

यागेश के आने के बाद हम एक मास या अधिक केदारनाथ में रहे। दिनचर्या में शायद कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जाड़ों में बदरीनाथ की सारी बस्ती उजड़कर नीचे चली आती है, यात्रियों का आना रुक जाता है, वहाँ की भूमि सारे मन्दिर-मकान बर्फ से ढँक जाते हैं, और जानकारों के कहे अनुसार—छै महीने का भोग-आरती देवता लोग किया करते हैं, पंडा लोग उसके लिए सामान मन्दिर में बन्द कर जाते हैं; पट खुलने पर देखा जाता है, सारी सामग्री खतम हो गई है, मन्दिर से धूप की ताजी सुगन्ध आ रही है। अब पट बन्द होने में तीन-चार सप्ताह बाकी थे—इतना ही समय जिसमें कि इधर हम बदरीनाथ होकर हृषीकेश लौटते, और उधर बाबा धर्मदास भी सदावर्त-धर्मशाला बन्द कर वहाँ पहुँचते।

पूर्व-निश्चय के अनुसार एक दिन पहिनने-ओढ़ने के कपड़े तथा रास्ते के खर्च के लिए पैसे देकर बाबा ने हमें बदरीनाथ की ओर रवाना किया। चलते वक्त मुझे जरा भी विश्वास न था, कि बाबा धर्मदास से यह आखिरी मुलाकात है। पिछले डेढ़-दो महीने मुझे बहुत कम ही चलना-फिरना पड़ा था, किन्तु रास्ता अभी बहुत दूर तक नीचे की ओर का था। गुप्तकाशी के पास तक हम श्रीनगर-केदारनाथ के रास्ते से आये। गुप्तकाशी के छोटे गाँव तथा साधारण मन्दिर को देखकर तो मुझे काशी नाम के साथ परिहास-सा मालूम हुआ। उतराई उतर, नदी पार हो आगे बढ़े। ऊषीमठ को देखकर, पहिले के पढ़े हुए सुखसागर के बाणासुर और उषा की कथा याद आ गई।

वहाँ से और आगे के एक पड़ाव की अब भी स्मृति है, वहाँ भैंसों-गायों का गोष्ठ था। मच्छर बहुत लगते थे, और बनारस की ओर 'ही' कहकर जैसे भैंस को पुकारते हैं, वहाँ उसकी जगह 'डी' या कोई दूसरा शब्द इस्तेमाल करते थे। तुंगनाथ जाने की लालसा तो थी, लेकिन जब उसके लिए दुरूह पर्वत पथ से आधे आसमान पर चढ़ने की बात सुनी, तो वह ढीली हो गई। चमोली के पास गंगा का लोहे का झूला उसी साल टूट गया था, और लोग बगल में बने रस्से के झूले के बारे में तो उतना नहीं किन्तु इस विशाल रस्सी के झूले को देखकर मैं पहाड़ियों की चतुराई को बहुत सराहता था।

यहाँ से आगे हम हरिद्वार से सीधे बदरीनाथ जानेवाले रास्ते पर थे। यहाँ सड़क काफी चौड़ी थी। बरसात से कहीं-कहीं के पुल टूट गये थे, किन्तु मालूम होता था, सरकार की ओर से सड़क की मरम्मत पर काफ़ी ध्यान दिया जाता है। चट्टियाँ और गाँव भी ज्यादा थे। कहीं-कहीं पके आडू खाने को मिले। थके-माँदे जिस किसी चट्टी पर पहुँचते, तो यागेश झट कह उठते—'भैया ! खिचड़ी बना न लें।' मेरे बदन में आग लग जाती। बालपन के शत्रुभोजनों में खिचड़ी का स्थान अभी ज्यों का त्यों था, यद्यपि बछवल में मैं खिचड़ी खा लेता था, क्योंकि वहाँ बघारे हुए सिर्के और आम की फारी के साथ उसे हमजोलियों के साथ बैठकर खाना होता था। मैं यागेश को डाँट देता; यद्यपि मेरी समझ में पीछे आता था, कि यागेश मुझे चिढ़ाने के लिए वैसा नहीं कहते हैं। खिचड़ी बनने में कम मेहनत और जल्दी होती है, इसी खयाल से उनका वह प्रस्ताव होता—साथ ही खिचड़ी उन्हें रुचती भी थी, इसमें सन्देह नहीं। मालूम नहीं, बदरीनाथ के रास्ते में ऊपर जाते वक्त कभी हमारी तबियत खराब हुई थी। जोशीमठ (ज्योतिर्मठ) की कोई खास बात याद नहीं है, उसका यह महत्व भी दिल पर अंकित न था, कि वह वेदान्त के आचार्य शंकराचार्य के चार प्रधान मठों में से एक यही है।

जोशीमठ से आगे उतराई उतरकर कोई नदी पार करनी पड़ी, फिर अलकनन्दा के किनारे ही किनारे बदरीनाथ तक गये। बदरीनाथ से कुछ मील पहिले ही पर्वत वृक्षों से शून्य हो गये थे, आगे हरी घास थी। पहाड़ों की दूर की चोटियों पर बर्फ़ दिखलाई पड़ती थी, नहीं तो और कहीं उसका नाम न था।

बदरीनाथ की कालीकमलीवाली धर्मशाला केदारनाथ की अपेक्षा बड़ी थी। वहाँ के अध्यक्ष एक गरीबदासी साधु थे। उनका महंतों-जैसा लम्बा कद, गोरा रंग, मोटा बदन था। सिर-दाढ़ी मुड़ी तथा शरीर पर गेरुआ कपड़ा था। उमर 35-40 साल की होगी। धर्मदासजी से यह ज्यादा पढ़े-लिखे थे, किन्तु उसे विशेष जानने का मुझे मौका नहीं मिला। केदारनाथ से हम उनके लिए चिट्ठी लाये थे, और उन्होंने ठहरने और भोजन आदि का ठीक प्रबन्ध कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ, कि हम हृषीकेश लौटकर बाबा धर्मदास के साथ रहनेवाले हैं, तो उन्हें यह बात पसन्द न आई। उन्होंने हमें मना करना शुरू किया—"पढ़नेवाले नौजवानों को साधुओं के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। बाबा धर्मदास खुद पढ़े-लिखे नहीं हैं, वह विद्या की क्या कद्र करेंगे। चेला बना लेंगे और कहेंगे 'मूँड दिया माँग खाओ'।" उनका उपदेश चलता ही रहा, उसमें कितना अंश हमारे प्रति सद्भावना से प्रेरित था, और कितना ईर्ष्या से यह मैं नहीं कह सकता। मैं बराबर उनकी सम्मति को अपने भीतर जाने से रोकता था, किन्तु यागेश तो मानों उससे भी पहिले से इस बात के लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने भी जोर देना शुरू किया—"नहीं, भैया ! चलो बनारस ही, साधुओं का ठिकाना नहीं। असहमत होने पर न जाने क्या कर बैठे। हृषीकेश हमने देखा नहीं है क्या ? वहाँ कहाँ पंडित हैं ?"

बदरीनाथ की बस्ती बड़ी थी। मकान संख्या में अधिक तथा अच्छी तरह के बने थे। छतों पर खपड़ैल की जगह लकड़ी के पटरे थे, जिनके नीचे भोजपत्र की छाल बिछी थी। तप्तकुंड के होने से यहाँ नहाने की बड़ी मौज थी। बदरीनाथ के मन्दिर और मूर्त्ति का मुझे कोई स्मरण नहीं। वहाँ दाढ़ी-मूँछ रहित लाल मुँहवाले कितने ही मजदूर और उनकी स्त्रियाँ दीख पड़ीं। लोग उन्हें मारछा कह रहे थे। गंगोत्री के पास मिले लामा से उनकी सूरत कुछ मिलती थी, यद्यपि वे उतने कद्दावर न थे; तो भी उस वक्त इन नरनारियों को देखकर मुझे कोई खास जिज्ञासा नहीं पैदा हुई। सुना, इनकी बस्तियाँ और ऊपर तक हैं। कुछ मील पर वसुधारा तीर्थ था। एक बार जाने की इच्छा हुई, किन्तु न जाने क्यों नहीं जा सके। बदरीनाथ में बस्ती से बाहर ज्यादा नहीं घूमे-फिरे। धर्मशाला के रसोईघर में एक बड़ा तवा था, जिस पर एक साथ दस-बारह फुलके डाले जा सकते थे। ऐसे तवे के देखने का

यह पहिला अवसर था, इसलिए कुछ कौतूहल हुआ। यहाँ शीरा-पूड़ी की जगह शीरा-रोटी का भोज होता था, मालूम होता है यहाँ वाले भी पूड़ी से वैसे ही डरते थे, जैसे केदारनाथ वाले। बदरीनाथ में तीन-चार दिन से अधिक हम नहीं ठहरे। अध्यक्ष महाशय के उपदेशों के कारण मेरा मन वहाँ नहीं लगता था।

केदारनाथ छोड़ते वक्त तक तै नहीं हो पाया था, कि हमें बाबा धर्मदास के पास नहीं रहना है। यह बात पहिले तै हुई होती, तो उनसे हम कहकर आये होते, किन्तु अब तो उनसे मुलाकात हृषीकेश ही में हो सकती थी। यागेश मुझे वहाँ तक जाने देने के लिए तैयार न थे। उन्हें डर था, और इसमें सच्चाई भी थी, कि एक बार हृषीकेश पहुँच जाने पर मैं वहाँ से न हटूँगा—बनारस जाने से मैं ज्यादा शंकित था। यद्यपि हमें उस वक्त मालूम न था, और बदरीनाथवाले महात्मा साफ़ इन्कारी थे, तो भी हृषीकेश के साधुओं में संस्कृतज्ञ कुछ अवश्य थे। बदरीनाथ में ही हृषीकेश न जाने की बात न तै हो पाई, किन्तु उसके अन्तिम निर्णय के लिए अभी काफी समय था। हृषीकेश और रामनगर का रास्ता अभी कई दिनों तक सम्मिलित था।

चमोली के पास तक हम अपने गये रास्ते से लौटे। अलकनन्दा के रस्सीवाले पुल पर चलते वक्त कुछ रोमांच होता था, खासकर नीचे धार की ओर नजर करने पर; किन्तु वह रोमांच उतना भय-संचार करनेवाला न था, जितना कि गंगोत्री से लौटते वक्त भैरवघाटी में भोटगंगा के ऊपर के पुल से सैकड़ों फीट नीचे सफ़ेद पतली धार तथा हिलते हुए लोहे के पुल को देखकर होता था। शायद जब नन्दप्रयाग से हरद्वारवाला रास्ता छूटा, तब तक मैं भी बनारस लौटने के लिए तैयार हो चुका था। हम जितना ही नीचे उतरते जाते थे, उतनी ही गर्मी बढ़ती जाती थी, और पहाड़ों पर गाँव भी अधिक दिखलाई पड़ते थे। चलने की गति हमारी तेज होती गई और अन्तिम दिन—जिस दिन कि रामनगर पहुँचे—हम एक दिन में चालीस मील चले।

4
काशी को

रामनगर में, अब हम मैदान में थे। बरसात अभी-अभी समाप्त हुई थी, किन्तु धरती पर अब भी उसका असर बाकी थी। पहाड़ से उतर आने पर भी अभी हम तराई में थे; यहाँ चरागाह के सुभीते के कारण गायें ज्यादा पाली जाती थीं। हम सड़क पकड़े पैदल ही काशीपुर की तरफ़ चले। ठंडी जगह से आने के कारण धूप बहुत सख्त मालूम होती, और प्यास के मारे तो मुँह हर वक्त सूखा रहता। गाँव से दूर किसी समृद्ध आदमी ने मुसाफिरों के लिए एक धर्मशाला बनवा रखी थी। उसके हाते में अमरूद पके हुए थे। दूसरे भोजन के स्थान पर वह अधपके अमरूद हमें अच्छे लगते थे। धर्मशाला में ठहरे यात्रियों को मट्ठा पीते देखकर उनके बतलाये अनुसार हम भी मट्ठा लेने गये, गृहस्थ के घर वह घड़े का घड़ा तैयार था। गायें ज्यादा थीं, मट्ठा घर-भर के लिए पीने से खतम होनेवाला थोड़े ही था।

रास्ते में ठहरते या कैसे एक दिन शाम को हम काशीपुर पहुँचे। उसी दिन भादों की कन्हैयाजीवाली अष्टमी थी। एक भगत बड़ी श्रद्धा दिखलाते हुए अपने घर ले गये। भूख तो लगी थी, किन्तु आधी रात को कृष्णजन्म हो जाने पर पेट भर प्रसाद मिलेहीगा, इस आशा पर हम बैठे रहे। भगतजी के यहाँ काफ़ी रोशनी बल रही थी। एक तरुण साधु पिटारी में कई साँप लिये हुआ आया, उसने उनमें से किसी को शिर पर, किसी को गले में, किसी को हाथ में लपेटकर शंकर बन के दिखलाया। मनोरंजन होते-हवाते आधी रात बीत गई, कन्हैयाजी का जन्म भी हो गया, किन्तु वहाँ एक चम्मच चरणामृत और चुटकी-भर पंजीरी के सिवा और कुछ न था। भूख के मारे नींद नहीं आई। सबेरे बासी सूखी रोटियाँ सो भी आधपेट मिलीं। कहीं उसी तरह के 'श्रद्धालु भगत' दूसरे न आ मिलें, इसलिए हमने जितना जल्दी हो सका कस्बे से बाहर हो ठाकुरद्वार का रास्ता लिया। हम दोनों के अतिरिक्त शायद

कोई तीसरा भी सहयात्री था। किसी कूएँ पर जंजीर या रस्सी के साथ बँधी हुई डोल को देखकर मुझे यह प्रथा बड़ी अच्छी मालूम हुई, यद्यपि वह स्वयंप्याव मुसल्मानों ही के लिए था।

ठाकुरद्वार में कुछ बड़े धनी वैश्य परिवार रहते हैं। उनके वड़े-बड़े पक्के घरों को सिर्फ़ बाहर से देखते हम लोग सीधे मन्दिर में गये। वहाँ ही आगन्तुकों के उतरने का इन्तिजाम था। रात को तो मैं सो गया, लेकिन यागेश जगे थे, और एक नौजवान साधु के नाचने-गाने की बड़ी तारीफ कर रहे थे, शायद ठाकुरद्वार में जन्माष्टमी आज थी–सभी पर्व हिन्दुओं के दो दिन पड़ा भी तो करते हैं ?

ठाकुरद्वार से हम मुरादाबाद आये और शायद पैदल ही। वहाँ रामगंगा के किनारे एक वैरागी साधु के मठ में ठहरे। पाठकजी से भेंट हुई। मैंने बतलाया कि किस तरह हरिद्वार से हताश होकर हम बनारस लौटे जा रहे हैं, साथ ही बाबा धर्मदास का भी जिक्र आया। पाठकजी ने बातों-बात यह जिक्र दसकमंडलू जमा करके साथ चलनेवाले नौ दूसरे साथियों के इन्तिजार में वैराग्य सेवन करनेवाले साहुजी से कह दिया। उनके भाई और माँ के षड्यन्त्र में पड़कर बिना सूचना के मेरा भाग जाना उनको बुरा लगा था, अब उन्होंने समझा, बाबा धर्मदास को बिना कहे चला आना मेरा अक्षन्तव्य अपराध था। मेरी अनुपस्थिति में उन्होंने मठ के बूढ़े महन्त से आकर कहा, कि इन दोनों लड़कों को अपने मठ में न रहने दें। खैर ! हम लोग वहाँ बसने के लिए नहीं गये थे, इसलिए हम हर वक्त चलने को तैयार थे। महन्त कह रहे थे–शहर के बड़े आदमी हैं, उन्हें नाराज करना अच्छा नहीं है।

फिर वही सीधी सड़क पकड़ी, जिससे 4 महीने पहिले मैं गुजरा था। नहीं मालूम होता था, सिर्फ चार महीने तब से गुजरे हैं, आखिर घटनाएँ काल की माप हैं, और उनकी संख्या बहुत अधिक जरूर थी। रामपुर में गोर्खा पल्टन में ठहरे। सिपाहियों ने खाने-पीने का इन्तिज़ाम किया। बरेली में स्टेशन के पास की पक्की धर्मशाला में ठहरे। उसी धर्मशाला के एक भाग में रेलवे के दारोगा (सब-इन्स्पेक्टर) का परिवार रहता था। दारोगा साहेब के भाई वहाँ बराबर रहते थे। पास में आसन गिराने से परिचय ज्यादा बढ़ा। वह उन्नाव जिले के पुरवा तहसील और शायद पुरवा कस्बे के ही रहनेवाले राजपूत थे। उनके घर के लोग पल्टन में भी नौकर थे। खुद हमारे दोस्त भी काली तथा फाड़कर दोनों तरफ़ सँवारी अपनी दाढ़ी और खड़ी मूँछों में पलटनिहा सिपाही ही जैसे मालूम होते थे। याद नहीं, हम लोगों का भोजन धर्मशाला की ओर से आता था, या दारोगाजी के यहाँ से।

दो-एक दिन बाद वहाँ एक नेपाली साधुओं का काफिला आया। वे लोग हिंगलाज की भवानी (कराची से आगे बलूचिस्तान के रेगिस्तान में) का दर्शन करके लौटे थे। काफ़िले का प्रधान पुरुष स्वामी पूर्णानन्द से हिंगलाज की भवानी के तेज और उससे भी अधिक ऊँट के ऊपर पथचिह्न-शून्य मरुभूमि पर अटकल से पथ-प्रदर्शक के इशारे पर दिनों चलते जाने का वर्णन सुनकर एक बार जीभ में पानी भर आया। काफ़िले के मुख्य-सरदार स्वामी पूर्णानन्द नहीं उनकी 'गुरुभाई' एक पचास वर्ष की अवधूतानी थीं। स्वामी पूर्णानन्द मुँह और शिर पर केश नहीं रखते थे, लेकिन अवधूतानी की जटाएँ छै-छै फीट की थीं। उनके गले में बड़े-बड़े रुद्राक्ष और हिंगलाज के पतले-पतले सफ़ेद पत्थरों या सीपों की कई मालाएँ थीं। शरीर पर उनके भी पूर्णानन्द की तरह की स्वच्छ गेरुआ की ब्रह्मगाँती थी। पूर्णानन्द नेपाल की बहुत-सी बातें सुनाते थे, राजनीतिक नहीं, प्राकृतिक और धार्मिक। नेपाल देखने की सूक्ष्म लालसा उसी वक्त मेरे मन में प्रविष्ट कर गई, जिसे पूर्ण होने के लिए तेरह बरसों का इन्तिजार करना पड़ा। मैं बनारस की ओर ही जा रहा था, इसलिए उनसे भी पता पूछा। उन्होंने अपना स्थान मणिकर्णिका पर 'दत्तात्रेय की पादुका' बतलाया।

जिस धर्मशाला में हम ठहरे थे, उसकी बगल में एक और धर्मशाला किसी पेंशनर जिलाजज (नाम शायद शिवनाथ) की बनवाई हुई थी। उसमें एक विद्वान् संन्यासी की खबर सुनकर मैं एक दिन उनका दर्शन करने गया। वह गेरुआ कपड़ा पहिने एक आसन पर बगल में डंडा लिये बैठे थे। बीच-बीच में वह अपने डंडे को धरती में पटकते थे। लोग बतला रहे थे–चित्त को एकाग्र करते हैं, जब चित्त इधर-उधर जाने लगता है, तो डंडा पटकते हैं। वह शायद बातचीत नहीं करते थे, या मुझसे उन्होंने बात नहीं की। उनके पास कुछ छपी पुस्तिकाएँ रखी थीं, जिनमें से उठाकर एक उन्होंने मुझे दे दी। वह बहुत सरल संस्कृत में थी, जिसे मैं भी समझ लेता था।

उसमें अहिंसा का माहात्म्य दर्शाया गया था। साधु नाम खुन्नीलाल शास्त्री मुझे उस वक्त अर्थहीन-सा मालूम हुआ किन्तु पीछे मालूम हुआ कि हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में बौद्धधारा को पुनः प्रवाहित करनेवालों में उनका खास स्थान था।

मैं रोज वहाँ से चलने को कहता, किन्तु दारोगाजी के भाई का आग्रह देखकर रुकना पड़ता। उनके आग्रह को यागेश का समर्थन प्राप्त हो जाता, इसलिए पलड़ा उधर भारी रहता। इसी तरह करते एक सप्ताह से अधिक हो गया। आखिर एक दिन मैंने उनकी एक न मानी, यागेश को भी डाँट दिया, और हम रेल से पीलीभीत के लिए रवाना हुए। उस वक्त तक मुझे मालूम नहीं था, कि यागेश से मिलकर वहाँ एक षड्यन्त्र रचा जा रहा है। पहिले कह चुका हूँ, कि यागेश पर वैराग्य का भूत सवार न था, वह इस कष्टमय यात्रा में मेरे स्नेह तथा कुछ देशाटन के लोभ से शामिल हुए थे। इतने दिनों घर से बाहर रहते उनको अपने घर का और खासकर माँ का मोह लगने लगा था। उन्होंने चुपके से हमारी सारी बातें दारोगाजी के भाई को बतला दी थीं। उन्होंने, शायद पुलीस की मार्फत, बछवल सूचना दे दी थी। वह बछवल से किसी के तुरन्त आ पहुँचने के इन्तिजार में हमें रोके हुए थे। इस यात्रा में तीन ऐसे अनचाहे प्रयत्न मुझे लौटा लाने के लिए हुए। पहिले, भितिहरा होकर जाने की खबर सुनकर पिता जी अयोध्या पहुँचे, और उनको एक मौनी ने यह कह ठगकर अपना गृहस्थ शिष्य बना लिया—'हाँ, आपका लड़का यहाँ आया था। मुझसे गुरुमन्त्र लिया। बदरीनारायण गया है, वह जरूर लौटकर आयेगा।' हरद्वार से आई मेरी चिट्ठी को देखकर फूफाजी की सम्मति से नाना चल पड़े, वह भी बदरीनाथ होकर लौट आये और मेरा पता न पा सके। अब यह तीसरा वार था। वस्तुतः यदि मैं एक दिन और रह गया होता, तो यागेश के पिता श्री सहदेव पांडे ने बरेली ही में पकड़ लिया होता। पीलीभीत में भी जिस मठ में हम कुछ घंटों के लिए ठहरे थे वहाँ भी हमारे हटने के एकाध ही घंटे बाद वह पहुँचे थे, और अन्त में उन्हें भी खाली हाथ बछवल लौट जाना पड़ा।

पीलीभीत में जब हम शहर से गुजर रहे थे, तो एक भद्र पुरुष ने बुलाया। बदरीनारायण से लौटे आ रहे हैं—सुनकर पूड़ी-मिठाई मँगवाकर भोजन करवाया। हम लोगों ने शहर के बाहर एक मठ में कुछ देर जाकर विश्राम किया। अधिक समय उसी देखे हुए रास्ते में गुजारने की अपेक्षा जल्दी से जल्दी बनारस पहुँच पढ़ाई शुरू करने की मुझे चिन्ता लगी हुई थी। किन्तु प्रश्न था, रेल के किराये का। मालूम हुआ राजा ललिताप्रसाद यहाँ के एक बहुत धनी पुरुष हैं। दिमाग में न जाने कहाँ से बात समाई कि राजा साहेब की प्रशंसा में एक कविता पेश करूँ, शायद भाग्य खुल जाये। मनमानी तुकबन्दी जोड़ी, फिर एक साफ़ कागज पर लिखा, और राजा साहेब के दर्बार में हाजिर हुए। क्या कहकर 'कविराज' ने डेवढ़ीदारों को अपने 'पधारने' की सूचना दी थी, यह याद नहीं। किसी दर्बार में जाने की उन्हें जरूरत नहीं पड़ी। शायद लिखित कविता को भीतर भेज देना पड़ा था, या राजा साहेब ने बाहर निकलकर उसे ले लिया था। उम्मीद करके चले थे, बनारस के लिए दो रेल के टिकटों की, लेकिन 'कविराज' को वहाँ धेली मिली। लौटते वक्त हमें फिर वही बूढ़े सज्जन दिखलाई पड़े। पूछने पर हमने कहा—हम बनारस जाना चाहते हैं, यदि आप वहाँ तक का टिकट दिलवा दें, तो अच्छा। उस वक्त तो उन्होंने इन्कार किया; किन्तु जब हम स्टेशन पर गोलागोकर्णनाथ की गाड़ी का इन्तिजार कर रहे थे, तो उनका आदमी आया। 'कहाँ जाओगे' पूछने पर हमने बतलाया—जाना तो चाहते थे अयोध्या तक, किन्तु टिकट का पैसा नहीं है, इसलिए गोलागोकर्णनाथ जा रहे हैं। शायद गोलागोकर्णनाथ का टिकट भी हम कटा चुके थे। उसने टिकट बदलवाकर फ़ैजाबाद तक के दो टिकट हमारे लिए खरीद दिये।

फ़ैजाबाद से अयोध्या जा हमने शायद एक ही दिन में दर्शन-पर्शन खतम कर आगे का रास्ता नापा। रास्ते में पैकोली के पौहारीज़ी के मठ में भंडारा था। हमें भी एक-एक अँगोछा, दो या तीन बड़े-बड़े लड्डू बाँधकर मिला। अब हमारा रुख था बनारस की ओर, जौनपुर के रास्ते पैदल।

अब भी हम लोगों में लड़कपन था। एक दिन हम रास्ते से जा रहे थे, तो एक आदमी भी कुछ मीलों से उसी रास्ते चला आ रहा था। उसके शरीर में एक-दो घाव थे, जो अभी हाल के मालूम होते थे। हमने उससे कहा—क्यों किसी को मारकर भागे जा रहे हो क्या ? उसने जवाब नहीं दिया। दूसरी या तीसरी बार दुहराने पर

वह हमें मारने दौड़ा। अब परिस्थिति की गम्भीरता मालूम हुई, और बोलते तो वह मारे बिना नहीं छोड़ता। वस्तुतः वह मारपीट करके ही भागा था, शायद पुलीस के डर से।

खेतासराय के पहिले एक बाग से हम लोग गुजर रहे थे, उस समय कुछ औरतें आपस में कह रही थीं– 'हे ! वहाँ पुल पर एक चाईं लेटा पड़ा है।' आगे और क्या कहा, यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, किन्तु चाईं का नाम सुनते एक पुरानी बात याद आई और मन कुछ शंकित हो उठा। रानी की सराय में मैं जब पढ़ा करता था, तो प्रयाग माघ-स्नान के लिए पैदल जानेवाले हजारों यात्री–स्त्री और पुरुष दोनों–उसी सड़क से गुजरते थे। पुरुषों के पीठ पर और स्त्रियों के शिर पर आटा-सत्तू की गठरी होती, हाथ में लोटा-डोरी, कन्धे पर कम्बल या पिछौरी। पैरों में जूते बहुत कम के होते। इन्हीं प्रयाग-यात्रियों के एक गिरोह में पन्दहा के भी कुछ व्यक्ति जा रहे थे, जिनमें से एक ने यह कथा कही। यह बात भी जौनपुर जिले के ही किसी स्थान की थी। रात को सैकड़ों यात्रियों का एक गिरोह किसी बाग में ठहरा हुआ था। इतनी बड़ी संख्या में होने से मारकर उनकी चीज तो छीनी नहीं जा सकती, और रेल से पैसा बचाने के खयाल से पैदल चलनेवालों के पास सम्पत्ति ही क्या रहेगी ? लेकिन साधारण गरीब चोर के लिए उनके सत्तू-आटे की गठरी, और कपड़े भी बहुत हैं। एक चाईं दरख्त पर शायद शाम ही से चढ़कर बैठा था, या मौका देखकर चढ़ गया। रात को जब सब सो गये, तो उसने गठरी को फाँसकर ऊपर उठा लेने के लिए कई मुँह का लोहे का काँटा रस्सी के सहारे नीचे गिराया। संयोग से काँटे का एक छोर किसी गठरी में न फँसकर एक बूढ़े आदमी की कमर में लिपटी धोती में पड़ा। गठरी जानकर चाईं ने काँटे को ऊपर उठाया। धरती छोड़ देने पर बुड्ढे की नींद खुली। एक-दो और हाथ उठने पर उसने जोर से आवाज देकर साथियों से कहा–'भाइयो ! बहिनो ! कहा-सुना माफ़ करना। प्रयागराज का फल यहीं मिल रहा है। भगवान् डोरी लगा लिये हैं और इसी देह से उठाये लिये जा रहे हैं।' चाईं को अपनी गलती मालूम हुई, वह रस्सी छोड़कर उतर भागा। बूढ़े का शिर फूटा, कमर टूटी, और उसे फिर संसार में लौट आना पड़ा। चाईं मेरे लिए एक अत्यल्प परिचित शब्द था, और उसके कान में पड़ने पर यह कथा याद आने से हँसी छूट रही थी। डर तो था नहीं क्योंकि अभी दिन था, बस्ती से हम दूर न थे। वहाँ पुल पर सचमुच किसी आदमी को लेटे देखा।

जौनपुर जिला पार होकर हम बनारस जिले में प्रविष्ट हुए थे, पिंडरा के आसपास कोई जगह थी। यागेश बगल के गाँव से मक्का का दाना भुनाकर ले आये। गुड़ के साथ हम दोनों ने खाया। खाते वक्त मुझे याद नहीं रहा, कि निजामाबाद में गुड़-लावा खाने पर मुझे मलेरिया ने पकड़ा था, और तब से उसकी तरफ़ नजर करते ही फिर देह में गर्मी और हृदय में कँपकँपी होने लगती है। खाने के बाद कै हुई कि नहीं, किन्तु थोड़ी दूर जाने के बाद मुझे जड़ैया ने आ घेरा। कपड़ा ओढ़कर वहीं सड़क की बगल में पड़ा रहा। जड़ैया के कम होने पर बुखार बढ़ा, किन्तु हम हिम्मत करके थोड़ी दूर पर बाईं ओर एक कुम्हार के घर में चले गये। रात-भर वहीं पड़े रहे। बनारस से पहिले ही, शायद, यागेश को भी जड़ैया आने लगी, लेकिन, सबेरे के वक्त, उसके आने से पहिले हम कुछ चल लिया करते थे। याद नहीं कितने दिनों में बनारस पहुँचे।

बनारस पहुँचने पर सबसे पहिले एडवर्ड अस्पताल में हम मलेरिया की दवा लेने गये। शीशी में कुइनैन और क्या-क्या मिलाकर एक जहर से भी कड़वी दवा मिली, जिसमें से कुछ हमने वहीं पी लिया। उस जूड़ी से परास्त अवस्था में गंगा स्नान क्या किया होगा। हाँ, जैसे-कैसे हम अस्सी के तुलसी घाट पर पहुँचे। किसी से पाठशाला और पढ़ने के बारे में पूछ रहे थे, कि एक पतले नाटे से अधेड़ व्यक्ति–जिनके मुँह पर चेचक का दाग, शिर में त्रिपुंड, विभूति, कानों में पतले और गले में बड़े-बड़े रुद्राक्षों की माला पड़ी थी–हाथ में छोटे से ताँबे के घड़े में गंगाजल लटकाये नीचे से वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने भी 'कहाँ' और 'कैसे' पूछा। पढ़ने की बात सुनकर बोले–आओ हमारे साथ। बनारस को उससे पहिले मैं नाममात्र देख पाया था, और उसके इस हिस्से में तो आया भी नहीं था। जिन गलियों और सड़कों से घूमता उस दिन मैं मोतीराम के बगीचे में पहुँचा, उनसे होकर तुलसीघाट पर स्नान करने तथा तैरने जाना पिछले दो वर्षों में रोज का काम-सा हो गया, किन्तु उस आद्यपरिचय के दिन उनका जैसा अजीब-सा रूप देखा था, वह पीछे लुप्त हो गया।

मोतीराम का बाग दुर्गाकुंड से जानेवाली उसी छोटी सड़क पर है, जिस पर भास्करानन्द की समाधि और

कुरुक्षेत्र का पत्थर के घाटवाला तालाब—जो सदा ही जलशून्य रहा करता है, सिवाय सूर्यग्रहण के, जबकि काशी में ही कुरुक्षेत्र का पुण्य लूटने के लिए पानी का कोई प्रबन्ध कर लिया जाता है। मोतीराम का बाग कुरुक्षेत्र के तालाब से सटे ही पूरब तरफ़, तथा उक्त सड़क से थोड़ा उत्तर हटकर है। बाग के चारों तरफ़ लाखैरी पतली ईंटों की चहारदीवारी थी, तीन छोटे-छोटे दर्वाजे थे, जिनमें पूरब का दर्वाजा हमारे आज के मेहरवान—चक्रपाणि ब्रह्मचारी—के दखल में था, और उसे बन्द कर उन्होंने उसे एक कोठरी के रूप में परिणत कर दिया था। बाग जैसा छोटा-सा था, वैसे ही उसके घर भी छोटे-छोटे थे। मालूम होता था, ये किसी वामन-द्वीप के आदमियों के रहने के लिए बनाये गये हैं। खैर, बगीचे और उसके निवासियों का वर्णन फिर किसी दूसरे समय के लिए। चक्रपाणि ब्रह्मचारी हमें अपने स्थान पर ले गये। उस घर में उनकी दो कोठरियाँ, पूरब ओर का बरांडा—जो उन कोठरियों के लिए हॉल-सा था और कोठरियों के बीच का रास्ता, जिसके पूरबी छोर पर बाग का मूल पूर्वद्वार था—यह सभी एक ही पक्की छत के नीचे थे। चक्रपाणि ब्रह्मचारी निराकार उपासी परमहंस नहीं थे वह साकार-साधक थे। उनके पास एक गाय सदा रहती थी, और उस वक्त एक अच्छी जाति की सर्वकृष्णा गौ उनकी सेवा की अधिकारिणी थी। गाय को पानी से बचाने के लिए घर चाहिए, खिलाने के लिए भूसा और उसके रखने का स्थान चाहिए—गोशाला का स्थान तो ब्रह्मचारीजी ने मूल कुटी से दक्खिन टिन गिराकर बना लिया था, और भूसागार का काम उनका पीछेवाला 'हॉल' देता था। कुटी की पच्छिमी दीवार तथा कोठरियों के सामने एक और टिन का ओसारा पड़ा था, जिसमें ब्रह्मचारी और उनके सहवासी विद्यार्थियों के चूल्हे थे।

उनके साथ दो-चार दिन रहने के बाद हमें मालूम हुआ, कि चक्रपाणिजी को अपने आसपास विद्यार्थियों को रखने का एक व्यसन-सा है। वह धनी नहीं थे, हाँ, अपने खर्च के लिए उनको कोई कष्ट नहीं था, शहर में उनके कई दायक थे। उस परिमित आमदनी से भी यथाशक्ति वह विद्यार्थियों की सहायता करते थे। उनको यह भी लोभ नहीं था, कि विद्यार्थी उनकी गाय की सानी-पानी कर देंगे, उनके काम में सहायता कर देंगे। ज्यादा से ज्यादा यही स्वार्थ उनका कहा जा सकता था, कि लोग जानें कि ब्रह्मचारी चक्रपाणि के साथ पाँच विद्यार्थी रहते हैं। चक्रपाणि ब्रह्मचारी का जन्म कुरुक्षेत्र के पास किसी गाँव में गौड़ ब्राह्मण-कुल में हुआ था। देश के नदियों और तालों का पानी जैसे सिमिट-सिमिटकर समुद्र में पहुँचता है, वैसे ही भारत के दूर और नजदीक के सभी प्रान्तों के कोने-कोने के गाँवों से ब्राह्मणों के विद्याकाम लड़के बनारस पहुँचते हैं। यही काफ़ी कारण था, बालक चक्रपाणि के भी बनारस पहुँचने का। बनारस में वह पढ़ने के लिए आये थे, किन्तु बुद्धि उनकी तेज न थी, इसलिए उसमें वह अधिक प्रगति नहीं कर सके। व्याकरण में लघुकौमुदी के कुछ पन्ने ही वह पढ़ पाये थे; हाँ, रुद्री, तथा शुक्ल यजुर्वेद-संहिता के कितने ही अध्याय उन्होंने स्वरसहित किसी वैदिक से पढ़े थे। वैदिकों की यज्ञयाग की पुरानी प्रणाली, तथा शंकर की सगुण पूजा-उपासना में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। शंकराचार्य को भी वह शिवावतार तथा वेदोन्नायक के तौर पूजते थे, न कि वेदान्त के संस्थापक के तौर पर। वेदान्त पर उन्हें मैंने कभी बात करते नहीं पाया, किन्तु दण्डी स्वामियों तथा हमारे बाग की महान् ब्रह्मचारी मंगनीराम को वह बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते थे।

उनके समय का बहुत भाग कृष्णा की सेवा में अर्पित होता था। सहवासी विद्यार्थियों के कहने के अनुसार कृष्णा राज्य भोग रही है, और चक्रपाणि ब्रह्मचारी से पूर्वजन्म का ऋण उतरवा रही है। घास-भूस-कराई के अतिरिक्त रोज दो-तीन सेर अन्न उसे मिल जाता था। उसके बोतल से चमकते सारे शरीर में कहीं हड्डी दिखलाई नहीं पड़ती थी, रोयें मालूम होते थे, भैरवजी के रेशमी काले गंडों के बिना गुँथे छोर हैं। सबेरे उठते ही कृष्णा की सानी-पानी तथा दूध दूहने का काम खतम कर ब्रह्मचारी गंगाजी (तुलसीघाट) स्नान करने चले जाते थे। वहाँ से लौटने पर आसन पर बैठ, आँखों में चश्मा लगा (उस वक्त उनकी आयु 45 से ऊपर थी) कुछ पाठ और पूजा करते—शायद नर्मदेश्वर की दो-एक गोलियाँ उनकी पूजा में थीं। फिर फूलझारी लिये उत्तर की तरफ़ के शिवालय में शिवजी को फूल-बेलपत्र चढ़ाते (बाग में बेल के काफ़ी वृक्ष थे,) और अन्त में गोस्तोत्र के सस्वर पाठपूर्वक कृष्णा के शिर में चन्दन की टीका शिर पर फूल रखे जाते, फिर ब्रह्मचारीजी उसके अगले खुर पर शिर रखकर प्रणाम करते। नर्मदेश्वर की आरती उतारते वक्त कृष्णा की भी आरती उतारना आवश्यक था। कृष्णा की इतनी सेवा, और इतनी भक्ति करते भी कभी खाने-पीने, खासकर दूध देने में हाथ-पैर चलाने पर ब्रह्मचारी को गुस्सा भी चढ़ आता

था, और फिर वह, एक-दो डंडे जड़ देने से भी बाज नहीं आते थे। मैं खयाल करता था—देवता भी यदि चौबीस घंटा उनके साथ बस जायें, तो उनको भी इसी तरह के बर्ताव का सामना करना पड़ेगा।

मोतीराम के बाग में आते ही हमारी जड़ैया न जाने कहाँ चली गई। चक्रपाणि व्रह्मचारी का आतिथ्य पाँच-सात दिन से ज्यादा हमने स्वीकार न किया होगा, कि पिताजी के घर से आ जाने के कारण यागेश की प्रेरणा से हम स्वयं घर चले गये, यह निश्चय करके कि लौटकर यहीं पढ़ने आना होगा। लेकिन इस निश्चय में यागेश साथ नहीं थे, क्योंकि उन्हें वैराग्य और पढ़ना दोनों का रोग न था। घरवालों को अव अपनी गलती मालूम हो गई थी, इसलिए हमारे संस्कृत पढ़ने में बाधा डालना नहीं चाहते थे। बनारस पढ़ने से 3 मील पर बछवल पढ़ना और सुरक्षित है, यह सोच उन्होंने बछवल जाकर पढ़ने का परामर्श ही नहीं दिया, बल्कि चचा साहेव तीन-चार महीने के खाने का आटा-दाल लिवाये मुझे एक दिन वहाँ पहुँचा भी आये। फूफा साहेब ने जब आटा-दाल की बात सुनी, तो चचा को बहुत फटकारा—"यहाँ हमारे पास खाने के लिए अन्न है, एक लड़के के और बढ़ जाने से वह घटेगा नहीं।"

अक्तूबर (1910 ई.) में एक दिन शुभ मुहूर्त में मिश्री-मेवा की भेंट के साथ-साथ सरस्वती की पूजा करके फूफाजी से मैंने लघुकौमुदी शुरू की। उस वक्त यह स्मरण आने पर बड़ा अफसोस आता था, कि आठ वर्ष पहिले (1902 जुलाई) मैंने यहीं सारस्वत शुरू किया था, काश वही क्रम जारी रहता तो आज मैं कहाँ होता ? स्मरण शक्ति ने अब भी मुझे जवाब नहीं दिया था, लेकिन मेहनत करने से जी चुराने की आदत भी उसके साथ थी। 1902 ई. में किसी ने नहीं कहा था, कि याद करना दुर्गुण है, लेकिन बीच के वर्षों में कितने ही प्रामाणिक मुखों से 'रट्टपीर' की निन्दा सुनी थी। उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जव कि वह मेहनत से बचने का एक सम्मानपूर्ण रास्ता निकाल देता था। दूसरे लड़के चिल्ला-चिल्लाकर पचासों बार रटते हुए अपने पाठ को याद करते थे, मैं मन में कुछ देर आवृत्ति करके उसे याद कर लेता था। इसमें समय कम लगता था, किन्तु मुझे सन्देह रहता था, कि चिल्लाकर रटने से स्मृति ज्यादा ठोस रहती है। लघुकौमुदी के साथ मैंने हितोपदेश भी शुरू कर दिया था।

बछवल में रहते बाल्यकाल के बछवल की कुछ मुधर स्मृतियाँ याद आती थीं। पहिली बार मैं आया था बरसात में मक्का की फ़सल के समय। हम कई छोटे-छोटे बहिन-भाई मचान पर जाते, चिड़ियों से मक्का के खेत की रखवाली करने शायद लड़कियाँ ज्यादा थीं, या उनका प्रभाव ज्यादा था। वह गाना शुरू करतीं। 'सबके सिपहियन के लालि-लालि अँखिया, हमारि काहे कुचुरी ए दीदी-बहिनी ?" (सबके सिपाहियों-पतियों की लाल-लाल आँखें हैं, किन्तु हमारे (की) क्यों छोटी बदसूरत-सी ?), मैं और यागेश भी उसे दुहराते। हमें क्या मालूम था, कि यह लड़कियों-स्त्रियों का गाना है, लड़कों-पुरुषों को उसे नहीं गाना चाहिए। बछवल से लौटकर कनैला जाने पर एक दिन अकेले मचान पर बैठे मैंने तान लेना शुरू किया, और उसे विद्या बाबा ने सुनकर मजाक करना शुरू किया—'कौन लड़की गीत गा रही है; तब मुझे अपनी गलती मालूम हुई। फिर एक बार गर्मी के दिनों में—जिस साल (1907 ई.) नानी मरी थीं—आया था, उस वक्त फूफा के पास आज से ज्यादा विद्यार्थी थे। रामस्वरूप एक हृष्ट-पुष्ट गोरा तरुण विद्यार्थी था, वह 'चन्द्रिका' पढ़ता था। दोपहर के वक्त गरुड़पुराण की साँची पन्नेवाली पोथी को सामने रख व्यास की तरह पलथी मार वह मधुर स्वर से आधे गीत के राग में उसका पाठ करता, साथ ही अर्थ करता जाता, वह कितना अच्छा लगता ! रामस्वरूप अब मर चुका था, इसलिए और अफ़सोस होता था। पहिले के बहुत-से विद्यार्थी बछवल छोड़कर या तो घर बैठ गये थे, या बनारस पढ़ने चले गये थे। अतीत की निशानी राजाराम अब भी वहाँ मौजूद थे, यह एक सन्तोष की बात थी। पहिली बार जब मैं आया था तो फूफा और उनके छोटे भाई (यागेश के पिता सहदेव पांडे) एक साथ रहते थे, किन्तु अब दोनों अलग-अलग हो गये थे। आमतौर से यह अलगा-बिलगी कड़वाहट पैदा हो जाने के बाद होती है, वही बात इन दोनों घरों में भी थी, किन्तु, मेरा दोनों घरों से एक-सा स्नेह-सम्बन्ध था। एक घर में मेरी अपनी बुआ बरता थीं, जो मुझ पर बड़ा स्नेह रखती थीं—जिनके परिमार्जित तथा संस्कृत वार्तालाप, व्यवहार को मैं अपने अभिमान की बात समझता था; दूसरे घर में यागेश जैसा मेरा अनन्य बालमित्र। दोनों घरों में आपस का चाहे कैसा ही सम्बन्ध हो, किन्तु मैंने उनमें कभी भेद नहीं किया।

यागेश के प्रेम के कारण उनकी माँ भी मुझे वैसा ही मानती थीं। उनके बारे में मालूम हुआ, जब यागेश मेरे साथ मारे-मारे फिर रहे थे, तो उस वक्त उनके घर हर भिखमंगे को दूनी-तिगुनी भीख मिला करती थी, इसलिए कि उनकी माँ को, उसी तरह किसी के द्वार पर जाते अपने ज्येष्ठ पुत्र की सूरत दिखलाई देने लगती थी।

बछवल में मैंने दो-ढाई महीने निश्चिन्त पढ़ने पाया होगा, कि फिर दिमाग में खुराफात शुरू हुई। प्रयाग में बड़े धूमधाम से प्रदर्शनी हो रही थी। गवर्नमेंट उस पर खूब पैसे खर्च कर रही थी। सलाह हुई प्रदर्शनी देखी जाये। पैसे की कमी ? पैदल ?–शालिग्राम को भूनकर खा जानेवाले के लिए बैंगन भुनने में हिचकिचाहट ? यागेश, मैं, फूफा के एक विद्यार्थी विश्वनाथ और शायद चौथा भी कोई। सलाह हुई–सब कनैला से अमुक दिन सबेरे परमहंस बाबा की कुटी पर आओ। यागेश वहीं मिले। फिर साथ खंगपुर में विश्वनाथ को लिवाते पैदल ही चल पड़े। योजना में कोई बाधा नहीं हुई। कुहरा पड़ रहा था, जब कि कुछ देर की प्रतीक्षा के बाद यागेश परमहंस बाबा की कुटी पर मिले। विश्वनाथ घर के खाते-पीते आदमी थे, किन्तु सिर्फ़ यजमानी के भरोसे; उनके घर खेती का काम नहीं होता था, इसलिए वह शरीर से बहुत कमजोर थे, यद्यपि आयु में हम दोनों से बड़े। भाला होते हुए हम औंढ़ियार, फिर रेल की सड़क पकड़े सारनाथ पहुँचे। अब तक सारनाथ की धमाख को दूर से ही देख 'लोरिक कुदान' मुँह से निकालकर हम सन्तोष कर चुके थे। अब की हम धमाख देखने गये। उस वक्त पीला कपड़ा पहिने कुछ बर्मी भिक्षु भक्तिभाव से प्रणाम कर रहे थे। उनमें से एक वृद्ध ने हमारी ओर देख हाथ से आँखों की ओर इशारा करके कहा–'चक्खु', 'चक्खु', मैं भला क्या अर्थ समझता। हाँ, उस बार यह मालूम हुआ, कि 'धमाख' 'लोरिक-कुदान' ही नहीं है, बल्कि दूर देश के लोगों का तीर्थस्थान भी है। अभी सारनाथ का जादूघर नहीं बना था, खुदाई में निकली मूर्तियाँ जैन मन्दिर के पीछेवाले चहारदीवारी के घिरावे में रखी हुई थीं। वहाँ एक काले रंग के आदमी थे, पूछने पर उन्होंने अपने को सिंहाली बतलाया। उन्होंने बुद्ध की मूर्तियों को दिखलाया। एक ठोस मन्दिर-प्रतीक के चारों ओर नंगी मूर्तियों के बारे में पूछने पर उन्होंने हँसकर कहा–जैनमूर्ति है। पुरातत्व की वस्तुओं और मूर्तिकला से यह पहिला साक्षात्कार था। मैंने समझा, सिंहल के सभी लोग उन्हीं की तरह हिन्दी जानते होंगे। शायद वह कलकत्ता में रहते थे।

बनारस में बिना ठहरे ही हम गंगापार चले गये, रामगढ़ के रास्ते या राजघाट के, सो याद नहीं। चुनार में हम सूर्यास्त के बाद पहुँचे, इसलिए किले के भीतर भर्तृहरि की समाधि के दर्शन की बड़ी उत्सुकता रखते भी वैसा नहीं कर सके। जाना था प्रयाग, किन्तु हम चुनार-मिर्जापुर-विन्ध्याचल का चक्कर क्यों काट रहे थे ?–मटरगस्ती और क्या ? हम प्रयाग पहुँचे। प्रदर्शनी देखी। कुश्ती और हवाई जहाज पर चढ़ाकर घुमाना–ये दो आकर्षक चीजें थीं, किन्तु उनके लिए हमारे पास पैसे न थे। प्रयाग से हम लोग अलग-अलग हो गये, या साथ लौटे, यह याद नहीं। यह भी नहीं कह सकता, कि बछवल की पढ़ाई समाप्त कर मैंने किस वक्त प्रस्थान किया।

मार्च (1911 ई.) में मैं निश्चित रूप से बनारस में था। उसी वक्त एक और दीर्घ-यात्रा का प्रयत्न किया गया। पन्दहा में किसी से सुन रखा था, कि वह पैदल ही वहाँ से कलकत्ता गया था। मुझे भी उसके तजर्बे से फायदा उठाने का खयाल आया। अस्सी पर जगन्नाथ मन्दिर में पंडित मुखराम पांडे–फूफाजी के पुराने विद्यार्थी–रहते थे, मैं उन्हीं के पास पढ़ने जाया करता था, वैसे रहता था चक्रपाणि ब्रह्मचारी के ही पास। जगन्नाथजी के पुजारी मुखराम पंडित के जन्मस्थान वीरपुर और कनैला के बीच के एक गाँव के रहनेवाले थे। उनके भाई दशरथ लघुकौमुदी के विद्यार्थी तथा मेरे समवयस्क थे। हम दोनों की सलाह हुई–अबके पैदल कलकत्ता देखना चाहिए। एक दिन हम दोनों गायब हो गये। राजघाट-मुगलसराय होते पुरानी बादशाही (शेरशाहवाली) सड़क पकड़े चले। चँदौली में शाम हो गई। हम लोग कहाँ ठहरे यह याद नहीं। दिन में पास के खेतों के मटर-चने की फलियों से काम चल गया। कर्मनाशा की धार को हमने बड़े आश्चर्य से देखा, क्योंकि सोलह आना नहीं तो दस-बारह आना हमें जरूर विश्वास था, उसके पांनी के छूने से कर्म (पुण्य) के नाश हो जाने का। दुर्गावती में हम सबेरे दस बजे पहुँचे थे, दशरथ मुझसे कुछ पीछे आये। भूख-प्यास तो जो थी सो थी ही, हम लोगों के पैरों के तलवे कट गये (हम नंगे पैर थे और दशरथ का पैर फूल गया था। बड़े दीन-बचन से दशरथ ने कहा–अब लौट चलना चाहिए। हम लौटकर फिर बनारस पहुँच गये।

5
बनारस में पढ़ाई (1)

मोतीराम का बाग प्राचीन नहीं तो मध्यकालीन मुनि-आश्रम-सा था। इस आश्रम की कुटियाँ बाग को चारों ओर से घेरनेवाली चहारदीवारी से सटकर बनी थीं, और एक को छोड़ सभी आकार-प्रकार में घरोंदे जैसी थीं। ब्रह्मचारी के उत्तर चार ही पाँच हाथ के फ़ासिले पर एक दंडी स्वामी की कुटी थी, जिनके भतीजे बनमाली मेरे समवयस्क दोस्तों में थे। उनसे और उत्तर ब्रह्मचारी जगन्नाथ पंजाबी थे, जिन्हें जिन्दगी-भर हिन्दी बोलने न आई और बराबर मतलब को मतबल और चाकू को काचू कहते रहे। उन्हें भी गाय पालने का शौक था, किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी–जिनसे उनकी कभी-कभी कहा-सुनी हो जाती थी–का कहना था, कि वह सब मेरी ईर्ष्या से करते हैं। जगन्नाथ ब्रह्मचारी क्रोध में दुर्वासा के द्वितीय अवतार थे। उनके आगे से चहारदीवारी पच्छिम ओर मुड़ती थी, और आधी दूर से आगे जाकर पक्का कुँआ और शिवालय मिलता था। इसी के पास सहारनपुर के रहनेवाले एक महात्मा रहते थे, बुढ़ापे ने उनकी कमर को टेढ़ी कर दिया था, और वह अनन्त काशीवास की प्रतीक्षा में थे। उनकी कुटिया से पश्चिम चहारदीवारी के साथ खाली जमीन में जाने की जरूरत नहीं, वहाँ से दक्खिन घूमने पर हम बगीचे के केन्द्र में पहुँचते थे, जहाँ बड़े-बड़े वृक्षों की छाया में ऊँचे पक्के चबूतरे पर टीन की छत थी। गर्मियों में वहाँ बैठने में बड़ा आनन्द आता था। वहाँ से पश्चिम चन्द ही कदम पर उत्तर मुँह की एक छोटी कुटिया थी, जिसमें एक अत्यन्त वृद्ध संन्यासी रहते थे, जिनके सौ वर्ष से अधिक के होने में मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। अक्सर कई-कई दिन तक उनको पाखाना नहीं होता था, और उसके लिए पिचकारी लगाने की जरूरत पड़ती। वह चल-फिर नहीं सकते थे। सभी इन्द्रियों ने–मन के साथ–जवाब दे दिया था। इस कुटी से थोड़ा ही आगे पश्चिम के घरों की पाँती शुरू होती थी, और यह थी छत्रों की पाँती। पहिला छत्र था गाजीपुर के किसी मारवाड़ी सेठ का। उसमें कुछ भोजन भी वितरण होता था, किन्तु उससे ज्यादा इसका नाम अपने अपक्व अन्न के वितरण के कारण था। बनारस के आसपास बहुत दूर तक सरयूपारी ब्राह्मण ही रहते हैं, इसलिए वहाँ के पंडितों और विद्यार्थियों में उनकी संख्या का अधिक होना स्वाभाविक है। कनौजियों की तरह सरयूपारी भी 'आठ कनौजिया नौ चूल्हा' के माननेवाले हैं। बनारस में पक्व अन्न देनेवालों की अपेक्षा अपक्व (सूखा) अन्न देनेवाले छत्रों की संख्या कम है, इसलिए भी इस छत्र का महत्व ज्यादा था। किन्तु इससे भी बढ़कर इसकी ख्याति बनारस में अपने दानपात्र विद्यार्थियों की योग्यता के कारण थी। वहाँ परीक्षा के बाद चुनकर विद्यार्थी स्वीकार किये जाते थे। उन्हीं महीने के खर्च के लिए गेहूँ, दाल, तथा नमक, दियासलाई, ईंधन आदि का दाम दिया जाता था। इस छत्र के बाद पटियाला के एक ब्राह्मण रविदत्त पंडित का छत्र था। इनके पिता अच्छे पण्डित थे, पंजाब में उनके गृहस्थ शिष्यों की काफ़ी संख्या थी, और उन्हीं की सहायता से यह रोटी-छत्र चलता था, जिसमें उस तरफ़ के कुछ विद्यार्थी भोजन करते थे। उसके दक्खिनवाले दर्वाजे के पास सन्यासी-ब्रह्मचारियों का एक रोटी-छत्र था, जिसमें एक-दो विद्यार्थी भी रहते थे। चहारदीवारी के साथ पूर्वमुख घूमने पर कुछ कदमों पर ऊँची कुर्सी पर एक अच्छी ऊँची पक्की बारादरी थी, जिसके दोनों सिरों पर दो हवादार कोठरियाँ, तथा सामने काफ़ी चौड़ा पक्का चबूतरा था। आरम्भ में बाग के साथ ही यह इमारत बनी थी; शायद कूएँ के पासवाला शिवालय भी उसी वक्त का हो, किन्तु बाकी कुटियाँ तो जरूर पीछे की थीं। बाग में कुछ बेल-आम के बड़े दरख्तों के अतिरिक्त कागजी नींबू के दरख्त ही ज्यादा थे, और साल में उनसे कुछ आमदनी हो जाती थी।

हाँ, तो जिस बारादरी के पास जाकर हम रुक गये, उसका उस समय की काशी में बड़ा महत्व था। उसी में ब्रह्मचारी मंगनीराम रहते थे। पतला गोरा शरीर, छोटी चुटिया, केश-श्वश्रू श्वेत, कमर से घुटने तक एक गेरुआ अँगोछे का आवरण, शायद देह में एक श्वेत जनेऊ–यही थी मंगनीराम ब्रह्मचारी की मूर्ति। इस वेष में जो कुछ दिखावा हो, बस इतना ही उनमें दिखावा था, नहीं तो उनमें कृत्रिमता छू नहीं गई थी। न उन्हें धर्मोपदेश का मर्ज, न योग-ध्यान चर्चा का व्यसन, न वेदान्त-उपनिषद् की सनक, न पूजा-पाठ की आसक्ति थी। या तो वह उसी

चौतरे पर टहला करते, या कोठरी में बैठे पुस्तक देखते। आम दर्शकों की भीड़ वहाँ नहीं लगती थी, किन्तु कभी-कभी कोई-कोई गम्भीर जिज्ञासु वहाँ पहुँच जाते। प्रणाम करने पर, स्वाभाविक हास की रेखा मुख पर लाकर वह 'नारायण' कह दिया करते। बहुत ही कम बोलते, किन्तु मौनी नहीं थे। लोग उन्हें बहुत कम दिक करते। उनके आसपास कोई साधक या परिचारिक नहीं रहते। उनको बवासीर का रोग था। जौ की रोटी, मूँग की दाल खाते थे, जिसे रोज एक पंजाबिन बुढ़िया बनाकर पहुँचा जाती। आषाढ़-पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) के दिन उनके यहाँ ज्यादा भीड़ रहती। जिनकी पूजा के लिए उस दिन खुद शिष्यों की भीड़ रहा करती, वैसे दिग्गज शिवकुमार शास्त्री जैसे पंडित भी उस दिन फल-फूल लिये वहाँ मंगनीराम ब्रह्मचारी की पूजा तथा परिक्रमा करते आपको मिलते, यदि आप उस समय वहाँ रहते तो। मंगनीराम ब्रह्मचारी के प्रति श्रद्धा जिन व्यक्तियों के हृदय में थी, वह साधारण राह चलते आदमी नहीं थे। भास्करानन्द और तैलंग स्वामी के पीछे मरनेवाले वहाँ नहीं पहुँच पाते थे। वह निराकांक्ष थे, प्रदर्शन-शून्य थे। मंगनीराम ब्रह्मचारी विद्वान् थे, वेदान्त और उपनिषद् के खास तौर से; किन्तु उनकी विद्या 'विवादाय' क्या होती, उसकी ख्याति तो हृदय से हृदय तक ही पहुँचकर रह जाती थी। उनके विद्याध्ययन के बारे में कहा जाता था, कि सूखी पत्तियों की क्षणिक प्राप्त रोशनी के सहारे उन्होंने पाठ याद किये थे। मैं बराबर ही उधर से गुजरता था, और नजर पड़ने पर प्रणाम करता, उत्तर में 'नारायण' सुनने को मिलता। पढ़नेवाले विद्यार्थियों में मेरी भी ख्याति थी, इसलिए मुझसे तो नहीं किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी से मेरे बारे में वह कभी-कभी पूछ लिया करते थे।

मंगनीराम ब्रह्मचारी की कुटिया के आगे फिर कोने ही पर पूरबवाली चहारदीवारी के साथ एक कुटिया थी।

यह था मोतीराम का बाग, जो किसी पंजाबी ब्राह्मण मोतीराम की सम्पत्ति थी, किन्तु उस वक्त किसी दूसरे के हाथ में चला गया था।

मोतीराम के बगीचे के आश्रमवासियों का जिक्र मैं कर चुका। इनके अतिरिक्त वहाँ कुछ विद्यार्थी भी रहते थे, जिनको दो वर्ष बाद भी पाया जाना मुश्किल था। हमारे गिरोह में अर्थात् चक्रपाणि ब्रह्मचारी के साथ रहनेवालों में सीतापुर जिले (?) के वंशीधर थे। बहुत सीधे और हँसमुख, यदि ओठों को सी भी दिया जाता, तो हँसी फाड़कर निकल आती। कोई समय था, जब व्याकरण आरम्भ करते वक्त विद्यार्थी सारस्वत से शुरू करता, पूर्वार्ध समाप्त हो जाने पर सिद्धान्तचंद्रिका से कुछ गम्भीर कदम आगे को बढ़ाता। लेकिन इस प्रक्रिया में दोष यह था, कि विद्यार्थी को तीन तरह के सूत्रों को कंठस्थ करना पड़ता, जो कि 'रटन्त विद्या घोषन्त पानी' के जमाने में निर्दोष भले ही रहा हो, लेकिन अब जब कि 'रटन्त' में यावच्छक्य मितव्ययता दिखलाने ही में बहादुरी समझी जाती थी, प्रादेशिक व्याकरणों की जगह सर्वत्र-प्रचलित पाणिनीय व्याकरण परीक्षा और व्यवहार दोनों की दृष्टि से अधिक उपयोगी था। ऐसे समय सारस्वत-चन्द्रिका के रास्ते कौन जाना चाहेगा ? वंशीधर चन्द्रिका समाप्त कर रहे थे। खाने-पीने का काम तो छत्र-वत्र से चल जाता था, किन्तु ऊपर से भी कुछ पैसों की जरूरत होती, जिसके लिए अब के उन्होंने भागवत पुराण की पोथी खरीदी थी—बाहर जायँगे, कहीं कभी कथा लग गई, तो बीस-पचीस नकद तो मिल ही जावेंगे, इसी भावना से प्रेरित होकर।

कुछ समय बाद उनके मातुलपुत्र अर्जुन भी आ गये। लम्बा-धड़ंगा शरीर, उम्र तेईस-चौबीस, अक्षर से भेंट नहीं। लोग कह रहे थे 'बूढ़ा तोता क्या राम-राम कहेगा', किन्तु चक्रपाणि ब्रह्मचारी ने रख लिया। बेचारे की स्मरणशक्ति भी बहुत क्षीण थी, इसलिए बहुत प्रगति नहीं कर सके। एक दिन हँसी में हम दोनों एक दूसरे के हाथ पकड़ रहे थे, उसी वक्त मेरा दाहिना पैर कुछ बेकाबू पड़ गया, अपने और अर्जुन के बल को लिये मैं उसी पर गिर पड़ा। कुछ आवाज हुई, और घुटने से पैर 'टूट गया'। ब्रह्मचारी को रामनगर का एक मल्लाह मालूम था, जो हड्डी बैठाने में काफ़ी ख्याति रखता था, चक्रपाणि खास तौर से गुणग्राही थे। नाव पर मुझे वहाँ ले जाया गया। संयोग से वह घाट पर ही मिला। हाथ से पकड़ उसने झटका दिया, 'तड़' से आवाज हुई। कहा—जाओ, ठीक हो गया। और सचमुच ही ठीक हो गया, यद्यपि ब्रह्मचारी और दूसरों के अनुसार मैं वहाँ से अपने पैरों 'दौड़ा' क्या चलकर भी नहीं आ सका। उस खेल की निशानी अब भी मेरे दाहिने पैर के घुटने में एक चलती-फिरती कौड़ी है, जो कभी बैठते वक्त सिमटनेवाले चमड़े के बीच में आ जाने पर तकलीफ़ देती है।

बनमाली मेरे पहुँचने से पहिले से वहाँ रहते थे, और मेरे चले आने के बाद भी कुछ महीनों तक रहे। वह

भी लघुकौमुदी पढ़ते थे, किन्तु उसे हम दोनों एक गुरु के यहाँ नहीं पढ़ते थे। हाँ, वेद का स्वर-अध्ययन हमने साथ ही एक गुजराती वैदिक ब्रह्मचारी से आरम्भ किया था, जो कि अस्सी नाले के पार एक बगिया में शीतलदास के अखाड़े के उस पार रहते थे। एक समय हाथ उठा-उठाकर एक स्वर से "हरिहि ओ-ो-ो-म्-मा। गणा-ां-ना-ा त्वा-ा" पढ़ने में कम मनोरंजन नहीं होता था, यद्यपि उस समय–हम यजुर्वेद की पवित्र ऋचाओं का पाठ कर रहे थे, इससे ज्यादा ज्ञान नहीं रखते थे।

व्याकरण पढ़ने मैं पंडित मुखराम पांडे के पास जाता था, जो पहिले जगन्नाथ मन्दिर और पीछे 'पुष्कर' के किनारे छोटे गूदर (मठ) के छत की कोनेवाली अकेली कोठरी में रहते थे। पंडित मुखरामजी फूफा साहेब के योग्य विद्यार्थियों में थे, और उनके सम्बन्ध के कारण वह मुझे साधारण विद्यार्थी से अधिक मानते थे। यद्यपि सरयूपारी ब्राह्मणों में दूसरे ब्राह्मण का भी छूआ खाना जाति-नियम के विरुद्ध समझा जाता है, लेकिन मैं उन नियमों की पहिले ही से अवहेलना कर चुका था, अब फ़र्क इतना ही था, कि उन्हें खुल्लमखुल्ला तिरस्कृत कर रहा था। पढ़ने में कितना जोर लगा रहा हूँ, यह तो मैं ही जानता था, किन्तु दूसरे सभी लोग मुझे अच्छा विद्यार्थी समझते थे–हितोपदेश आदि के अर्थ लगाने में मैं भी अपने समकक्ष विद्यार्थियों से अपने को आगे पाता था जरूर। खैर, इस सार्वजनिक राय का चक्रपाणि ब्रह्मचारी पर बहुत अच्छा असर हुआ था, और वह मेरी शारीरिक आवश्यकताओं पर बहुत ध्यान रखते थे। रसोई मेरी उन्हीं के साथ बनती थी। उनकी कृष्णा का दूध वैसे भी गाढ़ा होता था, ऊपर से औटाये दूध में आधा छटाँक घी डालना वह न भूलते थे। मुझे वैसा दूध बिलकुल पसन्द न था, किन्तु करता क्या स्नेह का बलात्कार सहना पड़ता। मोतीराम के बगीचे के निवासियों को महीने में दस दिन तो कम से कम निमन्त्रण में जाना ही पड़ता था, और मेरा तो आधा-आधा था, मैं वेदपाठी जो था, पंक्ति में परोसते वक्त वेदपाठ का ब्राह्मणों में बड़ा महत्व समझा जाता था। निमन्त्रण का मतलब साधारण दाल-रोटी का भोजन नहीं पक्वान्न–पूरी, खीर, हलवा यह तो मामूली भोज में होता, नहीं तो पूआ, लड्डू, जलेबी आदि कई तरह की मिठाइयाँ, दही, रायता और क्या-क्या तरकारियाँ, और कितनी ही जगह तो दूध को भी केसर से पीला रँगकर दिया जाता था। कितनी ही बार भोज हमारे बगीचे ही में होता था। यदि कभी सम्मिलित निमन्त्रण में जाना हो, तो पंडित रविदत्त का भांजा उस दिन ठंढाई के साथ पिसी भाँग जबर्दस्ती पिला जाता, जिसका मतलब था, उस दिन शाम और रात की पढ़ाई भी खतम। इसमें शक नहीं, मोतीराम-बगीचे के विद्यार्थियों–जिनकी संख्या एक दर्जन से ज्यादा न थी–को जितना खाने-रहने का सुभीता था, उसके अनुसार पढ़ाई में वह तत्परता नहीं दिखलाते थे।

गर्मी के महीनों में आमतौर से बिहार-युक्तप्रान्त के विद्यार्थी अपने घर चले जाते और फिर आषाढ़-पूर्णिमा के आसपास लौटकर आते। बनारस की गर्मी से गाँव की गर्मी कुछ कम भी रहती है, दूसरे गर्मी के मारे पढ़ाई अच्छी नहीं होती, और परीक्षा दिये हुए विद्यार्थियों की पढ़ाई परीक्षाफल की प्रतीक्षा में रुकी रहती थी। पंडित मुखरामजी भी घर चले गये थे, किन्तु मैं तो बनारस में सिर्फ़ विद्या पढ़ने के लिए नहीं रहता था, बल्कि उसमें गृह से विरक्ति का भी अंश काम कर रहा था। मोतीराम के बाग के तीन-चार मास के वास, तथा यजुर्वेद और शिवभक्तों के संसर्ग में आकर मेरे दिल में एक और खब्त सवार हुआ, वह था वैष्णव-मतविरोधी शिवभक्ति। 32 मणियों का बड़ा रुद्राक्ष का कंठा गले में रहता, और शिर का भस्म त्रिमुंड रात को ही सो जाने पर मिटता। रुद्राष्टाध्यायी के बहुत से अध्याय तथा महिम्नस्तोत्र पारायण करते ही करते याद हो गये थे। हर सोमवार को नियम से विश्वनाथ का दर्शन करने जाता। गर्मियों में चक्रपाणि ब्रह्मचारी नियम से मंगल की शाम को दुर्गाजी के सामने के कूएँ पर पानी पिलाने जाते, लेकिन न जाने नजदीक होने से या क्यों, वहाँ मैं बहुत कम दर्शन करने गया। बनारस में वैष्णव (रामानुजीय, निम्बार्कीय, आदि) शायद ही कभी दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु पिताजी के गले में ठगकर अयोध्या के वैरागी के हाथ की बँधी कंठी को देखकर मुझे कुछ गुस्सा-सा आ गया था, नहीं तो कारण नहीं मालूम होता, क्यों वैष्णवों के खिलाफ़ पुरानी गाली-गलोज की पुस्तकों को खोजता फिरा–'चक्रांकित मतनिरूपण' तथा दो-एक और इस तरह के खंडन-मंडन के ग्रंथों को मैंने बड़े प्रयत्न से खोज निकाला था। मेरे बार-बार के कहने से पिताजी को अपनी कंठी तोड़कर फेंकनी पड़ी।

सब मिलाकर देखने से मैं अपने समय का उपयोग कर लेता था, यद्यपि उससे सन्तुष्ट नहीं था। गर्मी थी,

बनारस की। दोपहर तो किसी तरह काट लेता, शाम को चार बजते ही गंगा किनारे दौड़ता। और फिर दो घंटा गंगा में तैरना और खेलना। कभी तैरकर उस पार नहीं गया, किन्तु वह किसी साथी के अभाव के कारण, नहीं तो अस्सी पर आधी धार से आगे तो रोज ही मैं पहुँच जाता था।

गर्मियों में रघुवंश, वाल्मीकीय रामायण तथा दूसरे सरल काव्यग्रंथ बहुत मन लगाकर पढ़े, इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत भाषा का पढ़ना अब मुझे अँधेरी कोठरी में टटोलना-सा नहीं था। एक दिन कूएँ पर वाले बाबा ने सत्यनारायण की कथा मुझसे करवाई–इस कथा का वहाँ के समाज में उतना मान न था–मैं साथ-साथ अर्थ कहता गया, लोगों ने बड़ी तारीफ़ की। साथी विद्यार्थी मंडली को तारीफ़ करना ही था, क्योंकि खेल का खेल और मुफ्त का प्रसाद।

आषाढ़ आ जाने पर फिर विद्यार्थी लोग जुटने लगे। मुखराम पंडित भी आ गये। उनकी राय हुई, कलकत्ता की व्याकरण प्रथमा परीक्षा दे देने की, मैंने भी स्वीकार किया। उनको अन्नवृत्ति मोतीराम-बगीचे के उसी प्रसिद्ध अन्नछत्र से मिलती थी। छत्र के निरीक्षक एक दिन नये छात्रों की भरती के लिए आये थे। बहुत से छात्र उम्मीदवार थे, मैं भी गया; अक्षर देखा, कुछ प्रश्न पूछे, इसके बाद मेरा नाम वृत्ति पानेवालों में दर्ज कर लिया गया। चक्रपाणि ब्रह्मचारी और निमन्त्रणों की कृपा से मुझे उसकी उतनी जरूरत भी न थी, किन्तु घर आई लक्ष्मी को कौन लौटावे ?

बनारस में रहते वक्त मैंने बरेली में मिले स्वामी पूर्णानन्द को भी ढूँढ़ निकाला। दत्तात्रेय-पादुका का मिलना मुश्किल न था, किन्तु पूर्णानन्दजी उस वक्त वहाँ न थे। उनके गुरु को देखा। बड़ी-बड़ी जटाएँ, नंगे मादरजाद धुनी के पास बैठे गाँजे-सुल्फ़े की चिलम पर चिलम उड़ाये जा रहे थे। उनके चारों ओर 'जी महाराजियों' की पलटन बैठी हुई थी। एक दिन कह रहे थे–"आज गया था विश्वनाथ का दर्शन करने। पंडे ने कहा– 'बाबा कुछ चढ़ाते नहीं।' इन्द्रिय में से निकालकर एक चवन्नी गिरा दी। पंडा लाल-पीली आँखें करने लगा। मैंने कहा–'अबे आँख के अन्धे, यही है विश्वनाथ'। दूसरे पंडे ने उसे डाँटा–'चीन्हते नहीं किस महापुरुष से बात करते हो ?'"

मंडली बोल उठी–"दयालू ! सबको आँख थोड़े ही मिलती है···।"

वर्षा शुरू होने से पूर्व ही स्वामी पूर्णानन्दजी आ गये। उनके गुरु के प्रति तो मेरी श्रद्धा नहीं जगी थी, किन्तु कुछ नेपाल के जन्म होने तथा कुछ उनकी शान्त प्रकृति के कारण पूर्णानन्दजी से मुझसे ज्यादा रब्त-जब्त रहा; उसमें सहायक हो गया था मेरा मन्त्र-तन्त्र की ओर नया उत्पन्न हुआ आकर्षण। मुझे लोगों ने बतलाया था, कि नेपाल की तरफ़ अच्छे-अच्छे मन्त्रवेत्ता रहते हैं। मैं पूर्णानन्दजी के पास उसी मन्त्र-तन्त्र की खोज में बार-बार जाता। वह भी धीरे-धीरे मेरी श्रद्धा को उस ओर अधिक बढ़ाते ही जाते थे। 'जिन खोजाँ तिन पाइयाँ' के अनुसार क्रमशः लिखित, मुद्रित तन्त्रों और पटलों की काफ़ी संख्या मुझे मिली। खैर, और जो हुआ सो तो कहने ही जा रहा हूँ, इन तन्त्रों में मन के एकान्त-रत होने से संस्कृत भाषा का ज्ञान स्वयं बढ़ता जा रहा था–यह तो नकद लाभ था। एक पुस्तक से रसायन–तांबे का सोना बनाना–की अच्छी विधि देखकर मैंने उसका प्रयोग करना चाहा। हड़ताल, सोना-मक्खी और क्या-क्या चीजें बंगाली टोला की किसी दूकान से खरीदीं। बनारस से बछवल को अधिक एकान्त और अनुकूल समझा–और वहाँ मेरे अनुमोदक, समर्थक यागेश भी थे, जो हर बात में 'हाँ, भैया ठीक तो है' कहने के लिए तैयार थे। मन-सवा–मन कंडे में रसायन को फूँका गया, लेकिन तांबे का सोना कहाँ बननेवाला था। लेकिन 'एक ताव की कसर' पर श्रद्धा टूट थोड़े ही सकती थी।

बनारस लौटने पर फिर पढ़ाई के साथ-साथ वह खब्त जारी रहा। स्वामी पूर्णानन्द ने 'अनंगरंग' नामक एक गोर्खा (नेपाली) भाषा की हस्तलिखित पुस्तक दी, थी तो कामशास्त्र की पुस्तक (लोदी शासनकाल में संस्कृत भाषा में लिखे ग्रंथ का अनुवाद) किन्तु उसमें जड़ी-बूटियाँ भी कितनी ही दी हुई थीं। मैंने उतारते वक्त गोर्खा भाषा में न लिख, हिन्दी में लिख डाला, यह मेरा अनुवाद का पहिला प्रयत्न था। उस पुस्तक में उल्लिखित सुगन्धित तेल को मैंने तिल के तेल में अपेक्षित सामग्री डाल बोतल में बन्द कर धूप में कई दिनों तक रखकर बनाया, मगर कुछ भी सफलता न हुई, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु, इतना जरूर था, कि उससे अधिक अच्छा तेल आधे

ही दाम में बाजार से मिल सकता था।

मन्त्र-तन्त्र के फ़िराक में हैं, यही नहीं बल्कि खुद उसके विशेषज्ञ हैं, इस तरह की मेरी ख्याति धीरे-धीरे हमारी परिमित विद्यार्थी-मंडली में बढ़ी। एक बड़े ज्योतिषी के यहाँ उनका स्वदेशी विद्यार्थी रहता था, उसको मेरी मन्त्रशक्ति को अनुभव करने का अवसर मिला। बेचारे ने दक्षिणा के एक-एक-दो-दो पैसे जमा करके भागवत की पोथी खरीदी थी। अभी दो-तीन दिन भी चौक से लाये नहीं हुए थे, कि किसी ने उसे झटक लिया। बहुत चिन्तातुर मेरे पास आकर गिड़गिड़ाने लगा। मैंने बड़ी गम्भीर मुखमुद्रा के साथ कहा–'घबराने की क्या बात है। पुस्तक हजम हो जायेगी, यह हो नहीं सकता। आप जाइए, लोलार्क कुंड पर की देवी के चबूतरे की एक ईंट उलट दीजिए, और इस मन्त्र का सवा लाख जप कीजिए। लेकिन पहिले पास-पड़ोस के रहने वालों को जतला दीजिए, कि आप भयंकर पुरश्चरण करने जा रहे हैं। देवी की ईंट को उलटना और इस अमोघ मन्त्र का जाप ठट्ठा नहीं है। यदि नौसिखिये चोर को अकल होगी तो सँभल जायेगा। हाँ, आप अपनी कोठरी में ताला बिना लगाये, कभी-कभी बाहर-भीतर चले जाइएगा।'

विद्यार्थी ने मेरे कहे अनुसार किया। शाम को बड़े प्रसन्न बदन दौड़ा हुआ मेरे पास आया, और टोकरे के टोकरे धन्यवाद देने लगा–'आपकी कृपा से, बस आपकी कृपा से, नहीं तो पुस्तक मिलनेवाली न थी ? मैं कोठरी में बिना ताला लगाये बाहर गया था, शाम को लौटकर देखा पुस्तक किवाड़ के भीतर रखी पड़ी है। मैं जाप भी शुरू नहीं कर पाया था। ईंट उलटने ने ही गजब ढा दिया। अब नाम लेने से क्या मतलब ? जिसने पुस्तक हजम करनी चाही थी, उसका भी पता लग गया। बच्चू को दो ही दस्त तो आये, और फिर मेरी पोथी को कौन घर में रखता। मैं आपका सदा कृतज्ञ रहूँगा। मन्त्रबल इसे कहते हैं !…"

उक्त विद्यार्थी का पढ़ने-लिखने से बहुत कम ही सरोकार रहता था। छत्रों और निमन्त्रणों से भोजन करना, और फिर इधर-उधर मुसाहिबी करना तथा गप्पें मारना। ऐसे आदमी द्वारा मेरा नाम दूर तक–उच्च-मध्यम हल्के में नहीं निम्न में ही सही–फैलने की सम्भावना थी, जिससे मैं सबसे डरता था। मैंने उसे बहुत समझाया और कुछ धमकाया भी, तब वह अपनी जबान पर कुछ संयम कर सका। एक दिन वह बड़ी नम्रता से मुझसे कह रहा था–"मैं आपके मन्त्र की बात किसी से नहीं कहता।… हमारे ज्योतिषीजी–जानते ही हैं, वह मेरे ऊपर कितनी कृपा रखते हैं।… उनकी बहिन बेचारी निस्सन्तान हैं। बहुत से अनुष्ठान हुए, दवा-दारू भी की गई, किन्तु उनका बन्ध्यात्व गया नहीं। पति-पत्नी सिर्फ़ दो व्यक्ति हैं। उनकी बड़ी लालसा है, कि आप कुछ उनके लिए अनुष्ठान बतलावें।"

"तो आपने उनके पास तक बात पहुँचा ही दी ?"

"आप नाराज मत हों, मैंने अपने ओठों को सी दिया है; किसी से जिक्र तक नहीं करता, किन्तु ज्योतिषीजी के परिवार का और मेरा सम्बन्ध आप जानते हैं। और फिर आपके समझाने से पहिले जो बात मुँह से निकल चुकी थी, उसे कैसे वापस करता ?"

मेरे दोस्त का तकाजा बढ़ता ही गया–वह आपसे खुद बात करना चाहती है, अनुष्ठान में जो खर्च लगे, उसे देने के लिए तैयार हैं। मैंने तन्त्र की पुस्तकों में वन्ध्या के पुत्रयोग के कितने ही प्रयोग देखे थे, किन्तु मैं यह व्यवसाय नहीं करना चाहता था। संकोच तो उस वक्त हजार गुना ज्यादा था, यद्यपि मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग कहाँ तक खींचकर ले जा सकता है, इसका भी मुझे पता न था। एक दिन विद्यार्थी ने रोनी सूरत बनाकर कहना शुरू किया–"उस घर में मेरा विश्वास चला जाने को है। आप एक बार चलकर, चाहे असाध्य ही क्यों न कह आयें, किन्तु चलें जरूर। नहीं तो मुझे झूठा बनाया जा रहा है।…"

पोथी में वन्ध्योपचार पढ़ लेने से समस्या का सांमुख्य थोड़े ही किया जा सकता है। मैं गया। उमर ने चाहे जो भी खिलाफ़ फ़ैसला दिया हो, किन्तु मैंने अपने को नौसिखिया साबित नहीं किया। मैंने इतना ही कहा,–'उपचार मैंने पढ़े हैं, किन्तु किसी गुरु की देख-रेख में मैंने उनका प्रयोग नहीं किया है, और मन्त्र-विद्या में बिना गुरु के निरीक्षण में कुछ करना खतरनाक है।'

मेरी साफ़गोई का स्त्री पर अच्छा असर पड़ा, मेरी जान भी बच गई।

स्वामी पूर्णानन्द के पास जब-तब जाना मेरा अब भी हो रहा था। मन्त्र-तन्त्र के ग्रन्थों के पढ़ने से उनकी

'गुरुभाई' अवधूतानी पर मुझे सिद्धायोगिनी का सन्देह हो रहा था, किन्तु अवधूतानी कुछ ही दिन रहकर नेपाल चली गई थीं। यजुर्वेद पढ़ते देख, स्वामी पूर्णानन्द ने मुझे नेपाली कागज पर लिखी एक अपूर्ण यजुर्वेदसंहिता प्रदान की, जिसे कुछ वर्षों पीछे मैं न सुरक्षित समझ लालचन्द पुस्तकालय (डी. ए. वी. कालेज, लाहौर) को भेंट कर दिया। मन्त्र-तन्त्र पर श्रम और श्रद्धा पराकाष्ठा को पहुँच रही थी, कोई विशाल प्रयोग करना अब मेरे लिए अनिवार्य हो गया था। मैंने पूर्णानन्दजी से–यह कह दूँ, पूर्णानन्दजी ने कभी मुझसे गुरुवत् मनवाने की आशा न रखी, और न मैंने वैसा किया–किसी मन्त्र या देवता की सिद्धि के लिए प्रयोग बतलाने का आग्रह शुरू किया। क्वार का नवरात्र जितना ही नजदीक आता गया, उतना ही मेरा आग्रह बढ़ता गया, और उन्हें मेरी प्रार्थना मंजूर करनी पड़ी।

नवरात्र में पंडित मुखरामजी घर जानेवाले थे, इसलिए मन्त्र सिद्धि के लिए सबसे उपयुक्त स्थान उनकी कोठरी थी। छोटे गूदर में वही एक कोठे पर की कोठरी थी, और थी एक कोने (पूर्व-उत्तर) में। मन्दिर, रसोईघर तथा साधुओं के रहने के स्थान पच्छिम तरफ़ में थे, जो वहाँ से काफ़ी दूर पड़ते थे। हमारी कोठरी के नीचे रहनेवाले विद्यार्थी भी घर चले गये थे। थी वहाँ वह दुहरी कमरवाली दुबली-पतली अस्सी बरस की बुढ़िया, जिसे चिढ़ाने में विद्यार्थियों को बहुत मजा आता था, और वह भी आपे से बिना बाहर हुए चुन-चुनकर गालियाँ सुनाती–"गुलाम का बेटा…" बुढ़िया माई अच्छी बात भी लड़कों के मुँह से सुनने को तैयार न होती, सिवाय उस समय के जब कि नारियल पर चिलम रखकर धूम्रपान सेवन करतीं। तीसों बरस हो गये थे बुढ़िया को इसी मठ में रहते। बूढ़े महन्त वंशीदास ने उसे तरुणी विधवा के तौर पर मुजफ्फ़रपुर जिले से लाकर आश्रय दिया था। वंशीदास अभी भी जीवित थे, किन्तु बुढ़ापे के कारण अब वह आँख-कान के साथ मठ की अध्यक्षता को भी खो चुके थे। बुढ़िया उन्हें भी पचास गालियाँ देती, किन्तु वहाँ सुननेवाला कौन था। खाना-पानी देने में अब भी वह वंशीदास की सहायता करती।

हमारी मन्त्र-साधनावाली कोठरी के ठीक नीचे ही बुढ़िया रहती थी, किन्तु उससे बाधा का डर न था। स्वामी पूर्णानन्द के अतिरिक्त चक्रपाणि ब्रह्मचारी ही दूसरे व्यक्ति थे, जो मेरी मन्त्रसिद्धि की बात जानते थे। उनके जिम्मे एक बार सिर्फ रात को कृष्णा का आध सेर गर्म दूध ला देना था, जिसे वह सेर भर से जलाकर छटाँक घी के योग के साथ लाते थे।

पंडित मुखरामजी की पुस्तकें यत्न से एक तरफ रख दी गईं, उनकी संख्या ज्यादा नहीं थी। और सामान नीचे कोठरी में रख आये। उस स्वच्छ कोठरी में सिर्फ मेरा आसन था। बीच में, पक्के फर्श पर जमीन से उभड़ा गंगा की चिकनी मिट्टी से मैंने सुन्दर षट्कोण बनाया, जिसके केन्द्र में 'ओं' और छओं कोनों पर 'श्रीं ह्रीं क्लीं फट् स्वा हा' मिट्टी के उभड़े हुए सुन्दर अक्षरों में रचकर लिखा। सबेरे के वक्त अँधेरा रहते ही मैं गंगा-स्नान कर आता, और बगल की फुलवाड़ी से थोड़ा फूल लेकर धूपदीप के साथ 'चक्र' की पूजा करता, और फिर पूर्णानन्द के बतलाये 'श्रीं ह्रीं क्लीं' मन्त्र का रुद्राक्ष माला पर जप करने लगता। उन्होंने बतलाया था, कि पूरे नियम के साथ 9 लाख जप करने पर दुर्गा सिंहवाहिनी का साक्षात् दर्शन होगा, वह 'वरंब्रूहि' कहेगी, फिर धन, बल, बुद्धि, विद्या जो माँगना हो माँग लेना। मैंने पहिले अल्पश्रम साध्य यक्षिणी या किसी दूसरे छोटे-मोटे देवता–हनूमान आदि की सिद्धि करनी चाही थी, किन्तु पूर्णानन्द की राय हुई–कुछ श्रम भले ही अधिक करना पड़े, किन्तु आद्यशक्ति की सिद्धि अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों फलों की साधक होगी।

दिन-भर पच्छिम, दक्खिन के दोनों दर्वाजे बन्द रहते और मैं अपने जप में तन्मय रहता। शायद वृद्ध विद्यार्थी पंडित रामकुमार दास पूजा के बारे में जानते हों, किन्तु उन्होंने कभी बातचीत करनी नहीं चाही। रात के कुछ घंटे सोने के सिवाय बाकी समय जप और पूजा में बीतता। शाम के वक्त ब्रह्मचारी दूध देने आते, उनके सिवाय किसी आदमी का दर्शन नहीं, बात तो उनसे भी एक या दो शब्द तक परिमित थी। पाँच-छै दिन तक तो कोई बात ही नहीं, सातवाँ दिन भी बीता, सिंहवाहिनी के वाहन की घंटी का भी कहीं पता न था। रात को छत पर नजर गड़ाये जब लेटता, तो लोहे की कड़ियों पर पड़ी पत्थर की पटियों के खुरदरापन के कारण उठ आई रेखाएँ, टिमटिमाते घी के चिराग की रोशनी में कुछ ज्यादा स्पष्ट होने लगतीं। जहाँ-तहाँ उनमें कुछ चेहरों का आकार

निकलता दिखलाई पड़ता, किन्तु रेखाओं का खयाल आते ही वे चेहरे विलीन हो जाते। आठवाँ अहोरात्र भी बीत गया, इस दिन के सूर्यास्त से दिल धड़कने लगा। आज पूजा के लिए विशेष सामग्री जमा की गई थी, जिसमें और चीजों के अतिरिक्त कितने ही धतूर के पक्के फल भी थे। मैंने भक्तिभाव से गद्‌गद् हो स्तुतिपुरस्सर जगदम्बा की पूजा की। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' को बड़े भावावेश के साथ कई बार दुहराया। जप के शेष भाग को भी समाप्त किया। चित्त भगवती के गुणों के चिन्तन, कान उनकी नूपुरध्वनि के श्रवण, और नेत्र दिशाओं को जब-तब निहारने में लग्न थे। धीरे-धीरे दिन बीत चला। शाम हुई। अँधेरा होते ब्रह्मचारी दूध दे गये, मैं उनसे एक शब्द भी नहीं बोला। उनके चले जाने के बाद मेरे मन में प्रतिक्रिया शुरू हुई। मैंने सारी विधियों का पूर्णरूपेण पालन किया। किसी सामग्री में कमी नहीं रही। मन्त्र का उच्चारण बिल्कुल शुद्ध-शुद्ध किया। मन्त्र का प्रभाव तो अमोघ है, फिर क्या कारण है, जो जगदम्बा ने दर्शन नहीं दिया ? बहुत 'सोचने-विचारने' के बाद मैं इसी निर्णय पर पहुँचा, कि इस असफलता में मेरा अभागा जीवन ही कारण है और तै किया कि इस जीवन के रखने से लाभ नहीं ? उसी वक्त मैंने दो चिट्ठियाँ लिखीं। एक में लिखा कि मेरी लाश को मणिकर्णिका पर फूँक दिया जावे, दूसरे में पिताजी को अभागे पुत्र के लिए शोक न करने की प्रार्थना की गई थी। दोनों चिट्ठियों को शायद धोती के खूँट से या जनेऊ में बाँधा था। मैंने पूजा में चढ़ाये धतूर के फलों में से दो के सारे बीजों को मिश्री के साथ कूटा, और इस अर्धअवलेह को पानी के सहारे निगल गया। इसके बाद बिछौने को कोठरी से बाहर पच्छिम की छत पर बिछाकर पड़ रहा।

उसके बाद की अवस्था के बारे में सहवासी कह रहे थे—उनमें से एक, शायद पं. रामकुमार दास, ऊपर पेशाब करने आये, तो उन्होंने मुझे छत पर लोटते देखा। दूसरों की सहायता से वे मुझे नीचे ले गये। मैं कुछ समय तक बोलता-चालता न था, पीछे विक्षिप्त-सी बातें कर रहा था। मुझे याद है, धतूरे के खाने के बाद कै आई थी, और पेट के भीतर का बहुत-सा अंश निकल गया था। दूसरी बात खयाल पड़ती है—खूब दिन निकल आया था; मुझे कई आदमी जोर से पकड़कर रखे हुए थे, मैं उनसे आदमी के तौर पर पेश आने के लिए विनती कर रहा था।

उसी दिन अचानक यागेश आ गये। उस अवस्था में भी यागेश को देखकर मैं ठंडी बातें करने लगा। मैंने कहा, मुझे तालाब पर ले चलो, मैं खूब मुँह तथा शिर धोना चाहता हूँ। यागेश मुझे पक्की सीढ़ियों से उतारते पुष्कर पर ले गये। मैं उसमें कूद पड़ा। देखनेवाले घबराये, यागेश वैसे ही कपड़ा पहने कूद पड़े, और उन्होंने जाकर मुझे पकड़ा। मैं वस्तुतः गर्मी से व्याकुल था, इसीलिए कूदा था। बाहर निकाला गया।

दूसरे दिन शाम तक मैं होश में आ गया या तीसरे दिन, इसका मुझे कुछ पता नहीं। वहाँ से मुझे मोतीराम के बगीचे में लाया गया। अब मैं बहुत कुछ प्रकृतिस्थ था। कुछ उकताया हुआ-सा था, किन्तु अकल की बातें करता था। साथियों से कहा—मैंने बहुत धतूरा खा डाला है। पेट में ज्वाला फूँके हुए है। जले तम्बाकू, कोयला पीसकर पिलाओ, जिसमें पेट साफ़ हो जावे। शायद लोगों ने दिया भी, किन्तु पेट में अब तक कोई चीज रखी हुई थोड़े ही थी। इस सारी हालत में न कोई डाक्टर बुलाया गया न वैद्य, भूत-प्रेत झाड़नेवाला आया हो तो उसकी खबर नहीं।

रात को बाग के बीचवाले चबूतरे से चाँदनी रात में नींबुओं की ओर देखता। उसकी डालियाँ धीरे-धीरे बढ़ने लगतीं, और अन्त में हथियारबन्द हजार पैदल तथा घुड़सवार पल्टनों की पंक्ति में परिणत हो जातीं। वह मार्च करते मेरी तरफ़ आतीं, जब पाँच-सात कदम रह जाता और मैं हटने के तरद्दुद में पड़ जाता, तो वह फिर पीछे हटकर छोटी-छोटी पत्तियाँ बन जातीं।

इस प्रकार प्राणों की बाजी लगाकर मैंने मंत्र-साधना की।

6
बनारस में पढ़ाई (2)

और तरह से अच्छा हो जाने पर भी पुस्तकों के अक्षर मुझे पुती हुई हल्की स्याही जैसे मालूम होते थे। यागेश के साथ मैं घर चला गया। हफ्तों बाद भी आँखों की रोशनी की वही हालत रही। इसी बीच कलकत्ता का परीक्षा-पत्र भरने का समय भी बीत गया। अक्षर जब फिर पढ़ने लगा, तो मैं फिर बनारस (अक्तूबर में) चला आया।

अब मुझमें कुछ परिवर्तन था। यह तो नहीं कह सकता, कि मन्त्र-तन्त्र, देवी-देवता पर से मेरा विश्वास उठ गया। उसकी सम्भावना कहाँ थी, जबकि मेरे आसपास के विद्वान्-मूर्ख सब उस विश्वास को बढ़ाने में सहायक थे। हाँ, अब फिर वैसे तजर्बों के लिए मैं तैयार न था। धार्मिक वायुमंडल में उड़ने के साथ ठोस पृथिवी पर भी पैर रखना चाहिए, इधर भी मेरा खयाल गया। साधुओं और त्यागियों के समाज में भी अंग्रेजी जाननेवाले की कदर होते देख, मैंने तै किया, कुछ समय उसके लिएं देने को। आनन्दबाग में एक तरुण ब्रह्मचारी रहते थे, जिनके बारे में हमारे चक्रपाणि ब्रह्मचारी का कहना था, वह सब पास कर गये हैं, 'विलायत तक की विद्या'। मैं एक दिन गया, तो देखा भास्करानन्द की समाधि से पूरबवाले मकान में सीढ़ियों के सिरे पर लिखा था, 'कृपया आने का कष्ट न उठाइए।' मैं वहीं से लौट आया। लेकिन ब्रह्मचारी चक्रपाणि किसी तरह उनके पास पहुँच गये। इतना ही नहीं उन्होंने उनसे वादा ले लिया, कि वे मुझे अंग्रेजी पढ़ायेंगे। अपनी जगह बुलाकर पढ़ाने की जगह उन्होंने शाम को टहलने के लिए निकलने पर मेरे वासस्थान—उस वक्त मैं स्वामी अनन्ताश्रम के लिमडी-छत्र में रहता था—में आकर पढ़ाना स्वीकार किया। मैं कई महीने उनसे पढ़ता रहा, जिसमें छठी क्लास तक पढ़े जानेवाले सभी रीडर समाप्त कर डाले।

तन्त्र-मन्त्र और पूजा-पाठ के अभाव में समय की भी काफ़ी बचत थी। उस समय को संस्कृत और अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी पुस्तकों और समाचार-पत्रों के पढ़ने में भी लगाना शुरू किया। अखबारों का शौक 'विदेशयात्रा' वाले मुकदमे से बनारस में फैली सनसनी के कारण हुआ था। बाबू श्रीप्रकाश विलायत से लौटकर आये थे, उनकी अग्रवाल-बिरादरी ने उनको जातिच्युत किया था, इसलिए जाति के पंचों पर मानहानि का मुकदमा दायर हुआ था। पंचों की तरफ से पं. शिवकुमार शास्त्री जैसे धुरंधर पंडित समुद्र यात्रा के विरुद्ध साक्षी पेश किये जाते थे। मुकदमे की कार्रवाई अखबारों में छपती थी। कचौड़ी गली में अन्नपूर्णा की ओरवाले छोर के पास एक अखबार के पन्ने टँगे रहते थे, जिसे मेरे जैसे बिना पैसा-कौड़ी के अखबार पढ़ने के शौकीन पढ़ा करते थे। बढ़ते-बढ़ते यह शौक चौक जाते वक्त कारमाइकल लाइब्रेरी तथा रींवा कोठी के एक तरुण विद्यार्थी तक ले जाने लगा। दुर्गाकुंड पर भी पुस्तकों और हिन्दी अखबारों का अड्डा निकल आया। वहाँ ही पहिले-पहिल 'सरस्वती' का पारायण मैंने शुरू किया था। उस वक्त खन्ना के अमेरिका-भ्रमण पर लेख निकल रहे थे। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के एक-दो व्याख्यान (गिने-चुने तरुणों के सामने गोदौलिया के पास एक कोठरे पर, अपने निवासस्थान पर दिये गये) भी सुनने को मिले।

इसी समय फुसलाकर टापू में भेज देनेवाले अरकाटियों से सावधान रहने तथा टापू के कष्ट के सम्बन्ध में छपे उनके हैंडबिल पढ़ने को मिले। इस सम्बन्ध के, मालूम होता है, कई लेख पढ़ने को मिले, तभी तो मैं किसी अरकाटी से भिड़न्त करने के लिए डोलता-फिरता था। एक दिन मैं दशाश्वमेध से सिकरौल जानेवाली सड़क पर कहीं जा रहा था। एक आदमी ने आकर मुझसे पूछा—"नौकरी करना चाहते हो ?"

"क्या नौकरी ?"

शायद मेरे शिर पर चन्दन था, अथवा विद्यार्थी के वेष से वह समझ गया, कि मैं ब्राह्मण हूँ। बोला—"बाबू की रसोई बनानी है ?"

"कितना रुपया मासिक मिलेगा ?" मैंने मनोरंजन के लिए, किन्तु संजीदगी के साथ पूछा।

"बीस रुपया महीना, किन्तु बनारस से बाहर कुछ दूर जाना पड़ेगा।"

अब मुझे निश्चय हो गया, कि वह अरकाटी है। मैंने और इतमीनान से कहा—"भाई, तुम्हारी बड़ी नेकी मानूँगा, नौकरी की तो तलाश में मैं पाँच दिन से मारा-मारा फिर रहा हूँ।"

फिर वह नौकरी, और उसके आराम तथा कमाई के सम्बन्ध में बातें करते इंग्लिशिया लाईन में मुझे वहाँ ले गया, जहाँ मेहतरों के झोंपड़ों के सामने आज जौहरी का बँगला है। उस वक्त ईंटों की चहारदीवारी से घिरा एक बाग था, जिसके दक्खिन में पक्की सड़क की ओर कुछ पक्के साधारण से घर थे। भीतर जाने पर मैंने देखा, वहाँ दर्जनों दीहाती बैठे हुए हैं, जिनमें एक मेरी उमर का लड़का भी था। मैंने उससे पूछा—"कहाँ घर है ?" जवाब मिला—"आजमगढ़ जिला में देवकली।" देवकली ! मेरे गाँव से बहुत नजदीक है। फिर पूछा—"यहाँ कैसे बैठे हो ?" "नौकरी के लिए। बाबू अच्छी नौकरी दिलवा रहे हैं।"

मैं नौसिखिया था, अपने को रोक न सका, और उत्तेजित हो मैंने लड़के से कहना शुरू किया—

"बाबू अच्छी नौकरी दिलवा रहे हैं ! वह तुम्हें दस रुपये पर बेंच रहे हैं, बेंच। हाँ, मिरिच, डमरा टापू समुन्दर पार भिजवा रहे हैं, जहाँ न धरम···।"

मेरा स्वर कुछ ऊँचा था, साथ ही लड़का भयभीत होकर जिस तरह मेरे पास आकर मेरी बातें सुनने लगा, और आसपास के दो-एक और आदमी आने लगे, उसे देख मेरे अरकाटी का ध्यान मेरी ओर हुआ; और मेरे मुँह से निकलती बातों को सुनते ही आगबगूला हो मेरी ओर लपका। मैं चार छलाँग में बाग के बाहर हो गया। सौभाग्य से दर्वाजा उस वक्त खुला था। उसने ताबड़तोड़ कई ढेले चलाये, किन्तु मैं बेतहाशा भागता वहाँ से बँच निकला। अरकाटी, अधिकतर शहर के गुंडों में से होते थे, इसलिए मारपीट करना उनके बायें हाथ का खेल था। यदि मैं पकड़ा गया होता, तो खूब मरम्मत हुई होती।

खतरे के क्षेत्र से बाहर आ जाने पर मुझे अब फिक्र पड़ी, कैसे उस लड़के का उद्धार किया जावे। उस वक्त राजनीति की हवा तक भी मुझसे छू नहीं गई थी। मैं अरकाटियों के धोखे और टापू में होते अत्याचारों को पढ़कर समझ रहा था, अरकाटी से उस लड़के के बचाने का मतलब है, कसाई से एक गाय को बचा लेना। मैंने सोचा सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में आजमगढ़ जिले के रामजीलाल (बछवल) तथा दूधनाथ पांडे पढ़ते हैं; यदि उनसे कहूँ, तो शायद अब भी लड़के को बचाया जा सके। ये तथा दूसरे नौजवानों और शायद आरा के देवेन्द्रकुमार जैन (जो कालेज के होस्टल में रहते थे) के पास भी मैं पहुँचा। अपने आवेग का कुछ अंश उनके भीतर भी प्रविष्ट कराने में मैं सफल हुआ, और मुझे तथा शायद रामजीलाल को बगीचे की ओर भेज उनमें से कुछ एनीबेसेंट से मदद लेने के लिए बहुत आशा के साथ गये। हम तीनों फिर उसी बगिया के पास सड़क पर आये। हममें से एक सूचना देने तथा दूसरे साथियों को लाने लौट गया और दो आदमी—मैं और शायद रामजीलाल—पहरा देने के लिए रह गये; जिसमें कि लड़के को दूसरी जगह भगाया न जा सके। हम लोग बड़ी सड़क पर टहलते थे। शाम होने लगी, तो दो-तीन अरकाटियों ने छत पर से ईंटें चलानी शुरू कीं। अब और अधिक वहाँ रहना बेसूद था, क्योंकि हिन्दू कालेज से भी कोई खोज-खबर लेने नहीं आया। जब हम वर्तमान भारत माता भवन—जो उस वक्त अस्तित्व में नहीं आया था—के आगेवाले घर, जो बहुत दिनों तक काशी-विद्यापीठ के विद्यालय-विभाग का छात्रावास रहा, और उस वक्त वहाँ कितने ही कालेज के विद्यार्थी रहते थे—सामने से गुजरे, तो हमारे साथी का खयाल हुआ, यहाँ से कुछ विद्यार्थियों को लेकर हाकी की कुबड़ी के बल पर मारकर लड़के को छीन लावें, किन्तु उस वक्त का भारत आज का भारत नहीं था। कालेज जाने पर पता लगा—बेसेंट साहिबा ने मदद देने की जगह शान्त रहने का एक संक्षिप्त लेक्चर झाड़कर अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया।

मेरे सार्वजनिक कार्य का आरंभ पहिले-पहिल इस वक्त (नवंबर 1911 ई.) हुआ, यद्यपि उस वक्त उसके पीछे ज्ञान और निरन्तर कार्यशीलता का अभाव था।

दिसम्बर में बादशाह जार्ज की दिल्ली में राजगद्दी हुई। बनारस में भी उस दिन बड़ी तैयारी थी। क्वीन्स कालेज के सामने से पल्टन और रामनगर राज्य—जो अभी तक जमींदारी थी—के मशक बाजा बजानेवाले सिपाहियों का जुलूस बहुत सजधज के चल रहा था। राजा मुंशी माधवलाल की कोठी खूब सजाई गई थी। शहर में और जगह भी तैयारी थी। अस्सी मुहल्ले में उतनी चहल-पहल न थी, इसका कारण शहर से अलग-अलग रहना भी

हो सकता है। वस्तुतः हिन्दू विश्वविद्यालय के बनने के पहिले अस्सी शहर का बाहरी छोर मालूम होता था। हम लोगों के लिए यह जुलूस और बाजा-गाजा एक बड़ा तमाशा था। उस समय अंग्रेजों के प्रति राजनीतिक वैमनस्य का कोई भाव उस समाज में नहीं देखा जाता था, जिसमें कि मैं घूमता था। हाँ, अंग्रेज विधर्मी, म्लेच्छ हैं, इस भाव से कोई मुक्त नहीं था।

1912 का नया वर्ष शुरू आया, उसके साथ-साथ मेरे ज्ञान और दृष्टि का विकास भी होता जा रहा था। लघुकौमुदी के बाद मैंने सिद्धान्तकौमुदी शुरू की थी। कई सरल नाटक और काव्य—कुछ किसी के साथ और कुछ खुद समाप्त किये थे। अंग्रेजी ब्रह्मचारी पढ़ा रहे थे, और हिन्दी का अपने ही से स्वाध्याय चल रहा था। इस समय के मेरे पढ़ानेवालों में पंडित मुखराम पांडे के अतिरिक्त पंडित शिवमंगल दूबे, पंडित चाननराम, एक काव्यतीर्थ वैरागी (जो अस्सी पर पंडित अनन्तराम के मकान के पीछे रहते थे), गुजराती ब्रह्मचारी तथा एक-दो और सज्जन थे। मित्रों में थे, बनमाली के अतिरिक्त रीवाँ कोठी में रहनेवाले पुरोहितपुत्र गिरिशंकरजी (?) और छोटे गूदरवाली सड़क पर रहनेवाले कविजी के ज्येष्ठ पुत्र (?) जो अच्छे विद्वान् होकर जवानी ही में मर गये। पंडित शिवमंगलजी नगवा में पढ़ते थे, और खुद स्याद्वाद विद्यालय में पढ़ाने जाते थे। एक दिन मैं भी उनके साथ स्वाद्वादविद्यालय गया। पंडितजी पढ़ा रहे थे, मैं टहलता हुआ आँगन में, और फिर पट खुला देख मन्दिर में गया। पुजारी दौड़ा हुआ आया—"आपको मन्दिर में नहीं आना चाहिए, यह जैनमन्दिर है ?"

"क्यों ?"

"जैनमूर्त्ति के दर्शन करने से पाप लगता है।"

"तो तुम पूजा क्यों करते हो ?"

"हम तो पेट के लिए···।"

यह भी मेरे लिए एक नया अनुभव था। इस अनुभव के बाद सुना—"नवेदद् याविनीं भाषां न गच्छेद् जैनमन्दिरम्।"

गर्मियों में अब की भी मैं बनारस से बाहर नहीं गया। उसी वक्त अस्सी पर एक और नई मूर्त्ति पधारी, जिसने पक्की बावड़ी के दक्खिनवाले घर में डेरा डाला। सारी विद्यार्थी मंडली में—और पंडित-मंडली में भी समझिए—तहलका मच गया, बड़ा अगाध पंडित, भारी कवि, सूक्ष्मतार्किक, महान् नास्तिक रामावतार शर्मा आया है। वह वेद को नहीं मानता, वह भगवान् को नहीं मानता, वह पुण्य-पाप को नहीं मानता। सैकड़ों दूसरे व्यक्तियों की भाँति भी मुझे वह अजूबा-सा आदमी सुन पड़ा। पहिली बार मुझे उनके दर्शन हुए, जगन्नाथ मन्दिर के बाहरवाले फाटक के सामने किन्तु सड़क के दूसरे किनारे पर। एक धोती पहिने हुए थे, एक धोती और शायद अँगोछा भी हाथ में था। एक कन्धे पर दो-तीन वर्ष की एक लड़की बैठी थी, जिसे सँभालने के लिए दूसरा हाथ उठा हुआ था। पाँच-सात आदमी—जिनमें तरुण विद्यार्थी ही अधिक थे—घेरे हुए थे। व्याकरण या न्याय पर शास्त्रार्थ नहीं हो रहा था, बल्कि बात हो रही थी किसी पौराणिक गप या ऋषि के असम्भव चमत्कार पर। पंडितजी स्नान के लिए गंगा के रास्ते में थे। एक दिन मैं उनके बैठके में पहुँचा—बैठका भी दो दर्वाजों की एक सामान्य कोठरी थी, और वह फर्श ही पर बैठे हुए थे। वहाँ, हमारे वह काव्यतीर्थ वैरागी तरुण भी थे। पंडित रामावतारजी का दर्बार सबके लिए उन्मुक्त था, इसलिए हम लोग निस्संकोच पहुँच जाते थे। शायद फेरीवाले से कुछ कल्मी आम खरीदकर अभी-अभी वह घर में भेज रहे थे—हाँ, सुना कि पंडितजी की दो स्त्रियाँ हैं। वैरागी तरुण से मजाक करते हुए कह रहे थे—"भाई ! सात-सात दिन के उपवास के बाद भी हमें तो इन्द्रियों पर संयम रखना मुश्किल मालूम होता है, और तुम लोगों का आजन्म ब्रह्मचर्य ! असम्भव।"

आगे स्वामी मुद्गरानन्द की बात शुरू हो गई। वह छींक देते थे, तो दनादन हाथी निकल आते थे। पुराण की गप्पों की मजाक करते हुए शर्माजी इन कथाओं को कहते थे। उनकी बातों को तीन-चार बार से अधिक सुनने का मुझे मौका नहीं मिला, और उनका मुझ पर सिवाय क्षणिक मनोरंजन के कोई स्थायी प्रभाव हुआ, यह मुझे खयाल नहीं। शायद मैं अभी उसके लिए आरम्भिक तैयारी से वंचित था, अथवा उनकी बातें मुझे विशृंखलित तौर से जब तक थोड़ी देर के लिए सुनने को मिलीं।

मई या जून पहुँचते-पहुँचते मेरा भी स्कूल में नाम लिखाना तै हो गया। मेरे रीवाँवाले साथी हाल ही में खुले दयानन्द स्कूल की नवीं क्लास में नाम लिखा चुके थे, मुझे भी उनकी सम्मति हुई, उसी स्कूल में प्रविष्ट होने की। संस्कृत पढ़ने के लिए तो फ़ीस की जरूरत नहीं थी, वहाँ तो बल्कि छात्रवृत्ति भी मिल जाया करती थी, किन्तु यहाँ प्रश्न आया फ़ीस का, किताबों के दाम का। मैं घर के भरोसे नाम लिखाने जा रहा था, और न कोई दूसरी आमदनी का स्थायी रास्ता था। किसी ने कहा, स्कूल के मैनेजर पंडित केशवदेव शास्त्री के नाम कोई सिफ़ारिशी चिट्ठी ले जाओ, तो शायद फ़ीस माफ़ हो जावे। यह भी पता लगा, कि स्याद्वादविद्यालय के मैनेजर नन्दकिशोरजी पंडित केशवदेव के दोस्त हैं। नन्दकिशोरजी से मेरी भी जब तब की देखा-देखी थी, उन्होंने चिट्ठी लिखकर दे दी। पंडित केशवदेव शास्त्री ने आधी फ़ीस माफ़ करने के लिए हेडमास्टर को लिखा। इस प्रकार दयानन्द स्कूल में परीक्षा लेकर सातवें दर्जे में मेरा नाम लिखा गया। उस वक्त स्कूल किराये के मकान में गोदौलिया गिरिजा से सिकरौल जानेवाली सड़क पर थोड़ा गली में था। पंडित केलकरजी उस वक्त हेडमास्टर थे, और अभी वह हिन्दू कालेज में एम. ए. में पढ़ रहे थे। मेरे अध्यापकों में एक बंगाली थे, जिन्हें दाढ़ी की समानता से हम 'किंग जार्ज' कहा करते थे, और एक सीधे-साधे बूढ़े पंडितजी संस्कृत के अध्यापक थे। दर्जे में कुल छै या सात लड़के थे, जिनमें एक चन्द्रावती के पास के राजपूत उमें में हम सबसे बड़े थे। संस्कृत में कुछ पूछना ही नहीं था, मैं कालेज की पढ़ाई के बराबर पढ़ चुका था। गणित में बीजगणित नई चीज थी, किन्तु उसमें भी मेरा लोहा सहपाठी तुरन्त मान गये। अंग्रेजी–खासकर उसका व्याकरण मेरा कमजोर था, और एक दिन परीक्षा लेने के बाद मास्टर ने इसके लिए बहुत ताकीद भी की। हमारे दर्जे में एक मोटा-सा बंगाली लड़का था, जिसकी तबियत पढ़ने में बिल्कुल नहीं लगती थी, और वह बराबर गप्पों में लगा रहता–'कलकत्ता गया, तो मुगलसराय में किल्नर के यहाँ यह खाना खाया, वह बोतल उड़ाई।' एक और साँवले मुंशीजी थे, जिनके सुन्दर अक्षरों को देखकर मुझे रश्क आता था। धर्मशिक्षा का घंटा मुकर्रर था, और वह रोज नियमित रूप से हुआ करती थी, लेकिन शायद ही एकाध दिन भूल-भटककर मैं उधर गया हूँगा। मुझे उनकी बातें बच्चों की बकवास-सी मालूम होती थीं।

पहिले गिरिजाशंकर के साथ मैं नित अस्सी से वहाँ पढ़ने जाता, फिर दूर समझकर खयाल हुआ कहीं नजदीक ही रहने का। इधर यागेश एकाध बार प्रयाग से आये, तो उन्होंने भी तै किया, आकर पढ़ने का। गोदौलिया गिरिजा से थोड़ा पूरब, गली में एक संन्यासी का मठ था। संन्यासी बाबा, कनैला से दो मील पूरबवाले गाँव दौलताबाद के ब्राह्मणों के गुरु थे। उनसे कहने पर बड़ी खुशी से उन्होंने हमारे लिए एक अच्छी कोठरी रहने को दे दी, जिसमें एक आलमारी भी थी। हमने अपनी पुस्तकें, कपड़े-लत्ते खूब सजाकर रखे। यागेश को वेस्ट-एंड-वाच–शायद बहुत भारी मालूम हो रही थी–इसलिए वह भी उसी में रखी गई। खाने के लिए एकाध महीने का पैसा तो हम लोगों के पास जरूर रहा होगा, तब तो हम वहाँ नये घर में बसने जा रहे थे। एक ही दिन उस घर में रहने पाये, दूसरे दिन देखा तो घड़ी गायब। कौन ले गया–बिना देखे यह कहना तो मुश्किल था, किन्तु लेनेवाला घर का ही कोई आदमी रहा होगा, इसमें तो सन्देह नहीं। पूछताछ से हाथ से निकली चीज कैसे लौट आ सकती है ? यागेश का मन फीका, मेरा भी उदास। यागेश फिर प्रयाग चले गये, मैं फिर मोतीराम के बाग से स्कूल का रास्ता रोज नापने लगा।

पंडित चन्द्रभूषणजी सेंट्रल हिन्दू कॉलेज के संस्कृत-विभाग (रणवीर पाठशाला) के प्रिंसिपल और बनारस के प्रधान वैयाकरणों में थे। मेरे अध्यापक पंडित मुखरामजी उनके विद्यार्थी थे। उस वक्त भी उनका शब्देन्दु (?) शेखर का कुछ पाठ चल रहा था। एक बार उनके साथ मैं भी पंडित चन्द्रभूषणजी के पास चला गया। पुराने पंडितों की सादगी का क्या कहना ? उनके लिए विद्यार्थी उनके घर का एक व्यक्ति होता था। पंडितजी चारपाई पर बैठे बात कर रहे थे। खयाल आया–गाय के सामने भूस नहीं है। बोल उठे–'मुखराम ! गाय के सामने भूस नहीं मालूम होता।' 'डाल आता हूँ गुरूजी !' कहकर पंडित मुखरामजी उठना चाहते थे। मैं बोल उठा–'आप बैठें, मैं जा रहा हूँ।' मैं उठ खड़ा हुआ। भूसागार में उस सूर्यास्त के समय कुछ और अँधेरा था। पंडितजी ने अपनी छोटी लड़की को आवाज दी–'तुषारे ! ओ तुषारे ! अरे बोलती क्यों नहीं ?··· लालटेन दिखला दे, गाय को भूस डालना है।' भुस डालकर मैं गया। उसके पहिले मेरे बारे में गुरु-शिष्य में क्या बातचीत हुई थी, सो तो मैं नहीं

सुन पाया। अब कह रहे थे–

"... लड़का होनहार मालूम होता था। वृत्ति कहीं से मिलती है या नहीं ?"

"नहीं, गुरुजी ! इस वक्त तो नहीं मिलती।"

"भला, वृत्ति बिना पढ़ने-लिखनेवाला विद्यार्थी क्या पढ़ेगा ?... अब की भरती के वक्त ले आओ। वृत्ति का प्रबन्ध करना होगा।"

इन्हीं दिनों मुझे एक सिन्धी नौजवान मिला। उसके बदन पर का कपड़ा फट गया था। राह चलते मुझसे बातचीत हो गई। उसने बतलाया–घर छोड़कर भाग आया हूँ। मैंने उसे अपना कुर्त्ता दे दिया। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब मैंने दो दिन बाद देखा, उसने आठ आने किराये पर मकान ले पकौड़ियों की दूकान कर ली है, और आर्थिक तौर से स्वतन्त्र है। वह मेरे पहिले व्यवहार का बहुत कृतज्ञ था। उसने आपबीती कहते हुए बतलाया, कि जैसे उसका पिता एक धनी सेठ है। उसने पिता के रुपयों को जवानी की शौकों में बर्बाद किया, और भागकर यहाँ आया है। उसका अमीरी जीवन से पकौड़ी बेंचने तक उतर आना जरूर मुझे साहस का काम मालूम हुआ।

छोटे गूदर में उस वक्त कई सेवकों के साथ कहीं के एक बड़े महन्त ठहरे हुए थे। जहाँ कि महन्तजी ठहरे थे मेरा उधर जाना बहुत कम हुआ करता था। पंडित मुखरामजी की कोठरी अलग-अलग थी, और मेरा मतलब उनके ही पास तक था। एक दिन रात के सात बजे पंडित रामकुमारदास के शिष्य मुझे बुलाने आये–'चलिए आपको गुरुजी बुलाते हैं।' गया, देखा एक ठिगने, गोरे, अधेड़ भद्र पुरुष, सफ़ेद विनीतवेष धारण किये, एक चौकी पर बैठे हुए हैं, उनके आसपास दो-चार साधु खड़े या बैठे हैं। पंडित रामकुमारजी ने एक कागज मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए कहा–'यह कागज पढ़ तो दीजिए।' मैंने कागज को हाथ में लेकर देखा, वह किसी अदालती फ़ैसले की बाकायदा नकल थी। मेरा मन पहिले तो घबराया–'अभी तीन दिन से मैंने अंग्रेजी शुरू की है, भला अदालत का फ़ैसला मैं कैसे पढ़ सकूँगा।' लेकिन मैंने अपनी घबराहट को बाहर प्रकट होने नहीं दिया। कागज को खोलते हुए कहा–"अदालती कागज के पढ़ने का मेरे लिए यह प्रथम अवसर है, उसकी एक खास भाषा होती है, और मैंने तो अभी हाल में अंग्रेजी शुरू की है।"

फ़ैसले को मैंने एक बार खुद पढ़ा। कुछ अर्थ तो समझ में आया, किन्तु वहाँ बहुत से शब्द मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखते थे। मैंने भावार्थ को कुछ नमक-मिर्च लगाकर सुना दिया। महन्तजी उछल पड़े–"देखा, महन्त रामकिसुनदास ! तुमने, देखा पंडित रामकुमारदास ! तुमने, सदर-आला ने इनका फैसला लिखा है। बाबू लोग अब सात जनम में भी मठ का कुछ बिगाड़ नहीं सकते।"

"हाँ, ठीक सरकार, आपका अकबाल है"–पास बैठी मंडली बोल उठी।

मैं दो-चार मिनट वहाँ बैठा रहा, इसके बाद मोतीराम के बाग चला गया।

अगले दिन पंडित रामकुमारदास पंडित मुखरामजी के सामने कह रहे थे–"यह छपरा जिले के एक बहुत प्राचीन और भारी मठ परसा के महन्त हैं। लाखों की सम्पत्ति के स्वामी हैं। एक बड़ा मन्दिर बनवाने जा रहे हैं, उसी के लिए खुद देखकर पत्थर खरीदने आये हैं। केदारनाथजी ने जो फैसला पढ़ा; वह परसा के बाबू लोगों की ओर से महन्तजी के खिलाफ़ दायर किये हुए मुकदमे का था। महन्तजी के एक शिष्य रामउदारदास थे–जो अभी हाल ही में मरे हैं। महन्तजी ने अपने बाद उनको महन्ती लिख दी। बाबू लोग उन्हें नहीं चाहते थे, यही झगड़े की जड़ थी। दीवानी के अलावा फौजदारी के कई मुकदमे चल रहे थे। महन्तजी का पचास हजार रुपया उसमें खर्च हुआ है।..."

मेरा तो हर रोज पंडित मुखरामजी के पास जाने का काम था, और महन्तजी कई दिनों तक वहाँ ठहरे रहे। पंडित रामकुमारदासजी अकेले मिलने पर भी जब-तब परसा-मठ की चर्चा चलाने लगे। फिर कहा, महन्तजी के योग्य और प्रिय शिष्य मर गये। उन्हीं के लिए इन्होंने सारा झगड़ा किया था। महन्तजी बहुत अफ़सोस में रहते हैं। मुझसे कह रहे हैं–'बनारस में तुम रहते हो, मेरे लिए कोई अच्छा पढ़ा-लिखा तरुण शिष्य नहीं ढूँढ़ देते।'

शुरू-शुरू में जब इस तरह की बातें हुईं, तो मैं अपने को अन्य पुरुष समझता था। मैं समझता था, पंडित रामकुमार महन्तजी के लिए चेला खोज देने में मेरी भी सहायता चाहते हैं। दो-तीन दिन बाद आखिर एक दिन वह खुल ही पड़े–"केदारनाथजी ! आपने उस दिन फ़ैसला जो पढ़कर सुनाया, उसके बाद से महन्तजी को दूसरा कोई जँचता ही नहीं। मैंने एकाध विद्यार्थियों का नाम लिया था, लेकिन वह तुम्हारे बारे में पूछते हैं। तुम भी तो घर से वास्ता नहीं रखते। साधु होने की बात भी करते रहते हो ?"

यदि वैष्णव के यहाँ चेला होने की बात साल-भर पहिले उन्होंने मुझसे की होती, तो गुस्से से मेरा रोम-रोम जल उठता, किन्तु पिछली मन्त्रसाधना के बाद से मैं वह उग्र वैष्णवपन्थ-वैरी नहीं रह गया था। मैंने सीधे इनकार न करते हुए कहा–

"मैं पढ़ रहा हूँ। आप जानते हैं, मैंने स्कूल में नाम लिखाया है। अंग्रेजी और संस्कृत दोनों को दत्तचित्त से पढ़ना चाहता हूँ।"

"तो इसमें कौन-सी बाधा है। वहाँ तो आपको और अनुकूलता होगी। पढ़ाने के लिए पंडित और अध्यापक रखे जा सकते हैं, यहाँ ही आकर पढ़ सकते हैं। देखते नहीं, इन्हीं के एक शाखामठ बगौरा के महन्त के शिष्य··· यहाँ पढ़ रहे हैं ?"

"परतन्त्रता होगी। महन्तजी के स्वभाव से परिचित नहीं हूँ।"

"महंतजी बेचारे बहुत बहुत सीधे-सादे व्यक्ति हैं। सबेरे से ग्यारह बजे तक लगातार, पूजा-पाठ में रहते हैं। बारह वर्ष से ज्यादा हो गये, इन्हें अन्न छोड़े, सिर्फ फलाहार करते हैं। इतने बड़े महंत, जिसकी पन्द्रह हजार सालाना नकद तथा उसी के करीब गल्ले की आमदनी हो, ऐसा तपस्वी जीवन व्यतीत करें ! मुझे तो सिर्फ़ इस बात की लालच है, कि तुम्हारे ऐसा विद्याव्यसनी यदि परसा का महंत हुआ, तो विद्या-व्यसनियों और विद्यार्थियों की कदर करेगा।"

"लेकिन मुझे बात कुछ जँचती नहीं है।"

"मैं अभी फ़ैसला करने के लिए नहीं कहता। आप इस पर विचार कीजिए। अभी महंतजी पाँच-सात दिन और रहेंगे। पत्थर का एक बड़ा मन्दिर बनवाने जा रहे हैं, दशाश्वमेध पर कई बार पत्थर देखने गये, किन्तु उनकी पसन्द के पत्थर वहाँ बहुत कम हैं। मैं आपसे कहूँगा, परसा मठ आपके लिए सबसे अधिक अनुकूल होगा। आप तो कह चुके हैं, साधु जरूर होंगे; फिर ऐसे स्थान में क्यों न हों, जहाँ के बारे में हम कुछ दावे से कह सकते हैं।"

"खैर, मैं सोचकर जवाब दूँगा।"

यह प्रस्ताव तो मेरे सामने बिल्कुल नया था, किन्तु पढ़ाई में आनेवाली आर्थिक कठिनाइयों–विशेषकर अंग्रेजी स्कूल में नाम लिखाने के बादवाली–को हल करने का यह भी एक रास्ता है, इस पर मैंने विचार नहीं किया था। अब मैं पंडित रामकुमार के प्रस्ताव पर ज्यादा ध्यान से विचार करने लगा। मेरे लिए दिक्कत यह थी, कि बनारस में उस वक्त कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिसके सामने इस रहस्य-प्रश्न को खोलकर रख सकूँ। वैरागी का चेला होना–चक्रपाणि ब्रह्मचारी को कभी पसन्द न आता। पंडित मुखरामजी घर और फूफाजी के सम्बन्ध के कारण भी, सुनते ही इसका विरोध ही नहीं करते, बल्कि हर तरह की बाधा उपस्थित करते। यागेश उस वक्त वहाँ थे नहीं, होते भी तो वह वैराग्य और आश्रमपरिवर्तन में मुझसे सहमत न थे। इस प्रश्न पर निर्णय मुझे अकेले ही सोचकर देना था।

आर्थिक कठिनाइयाँ मेरी कोई इतनी ज्यादा नहीं थीं। घरवालों से मदद माँगना यद्यपि मैं अपने आत्मसम्मान के खिलाफ़ समझता था, तो भी ब्रह्मचारी चक्रपाणि की कृपा से मैं भोजन और रहने से निश्चिन्त था। चार-पाँच रुपये मासिक की वृत्ति के प्रबन्ध की बातें कई जगह से चल रही थीं, और उनके होने में बहुत देर न थी। पंडित चन्द्रभूषण की बात कह चुका हूँ। एक वृद्धा रानी के यहाँ पूजा करने की माँग आई–मैं कुछ वैदिक भी हो गया था। धर्माध्यक्ष ने पसन्द करके अन्त में स्वीकृति के लिए रानी साहिबा के सामने ले जाने को कहा। पता लगा, जब तक रानी स्वयं देखकर पसन्द नहीं कर लें, तब तक रखा नहीं जा सकता। रानी ने देखा, एकाध बात पूछी

और अपनी स्वीकृति दे दी। रानी के सम्बन्ध की बहुत-सी अफ़वाहें सुन चुका था, और अब वह बातें और स्पष्ट होने लगीं, इसलिए मैं फिर वहाँ नहीं गया। एकाध जगह किसी (दुर्गाजी के एक पंडे) के लड़के को पढ़ाने की भी बात चल रही थी। इतना होते भी आर्थिक अनुकूलता का हाथ मेरे निर्णय में नहीं था, यह मैं नहीं कह सकता। मुझे याद है, उस वक्त का एक उदाहरण। अस्सी पर रहनेवाला एक साधारण विद्यार्थी कीनारामी रामगढ़ (?) गद्दी के महंत का चेला होने जा रहा था। पहिले उसे कोई नहीं पूछता था, किन्तु अब वह पीताम्बरी पहिने तिवारीजी के सड़क पर के कमरे में रहा करता था। लेकिन आर्थिक सुभीते से भी ज्यादा जिस बात ने परसा के पक्ष में मुझे निर्णय देने पर जोर दिया, वह था घर और घरवालों की पहुँच से दूर, पृथिवी के दूसरे छोर–हाँ, छपरा जिला उस वक्त मेरे लिए कुछ वैसा ही अपरिचित-सा था–पर चला जाना, एक नई जगह नये लोक का अनुभव प्राप्त करना। महंतजी के पूजापाठ ने तो नहीं, लेकिन उनके सीधे-सादे स्वभाव ने भी मुझ पर कुछ असर डाला, यद्यपि उस वक्त मैं यह नहीं जानता था, कि वह संस्कृत नहीं जानते।

दो-चार दिन सोचने-विचारने के बाद, अन्त में मैंने अपनी स्वीकृति दे दी। महंतजी बहुत प्रसन्न हुए। पंडित रामकुमार के प्रति उन्होंने बड़ी कृतज्ञता प्रकट की।

बनारस से चलने में मुझे इस बात का भी ध्यान था, कि घरवालों को, मैं कहाँ गया, उसका पता न लगने पावे, सदा के लिए नहीं तो कम से कम काफ़ी समय के लिए; और इसके लिए पंडित मुखराम और ब्रह्मचारी चक्रपाणि से अपने निर्णय तथा महंतजी के सम्बन्ध को गोप्य रखना बहुत जरूरी था। पंडित मुखरामजी क्वार के नवरात्र में घर जानेवाले थे, इसलिए इसी समय को प्रस्थान के लिए मैंने सबसे अधिक अनुकूल समझा।

किस दिन मैं बनारस से प्रस्थान करूँगा, छपरा स्टेशन पर किस ट्रेन से पहुँचूँगा, और स्टेशन पर आदमी के न मिलने पर मुझे कहाँ पहुँचना चाहिए–सभी बातें महंतजी से मिलकर तै कर लीं।

7

परसा में साधु (1912-13 ई.)

उस दिन (सितम्बर 1912 ई.) मेरी ट्रेन छपरा (भगवान बाजार) स्टेशन पर शाम को पहुँची थी। याद नहीं, महंतजी का आदमी बनारस से ही साथ आया था, या यहाँ स्टेशन पर मिला। पंचमन्दिर के पीछे परसा मठ की छावनी में पहुँचने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। महंतजी बहुत प्रसन्न हुए। उनके परिचारक तथा मुसाहिब बड़ा सम्मान दिखला रहे थे। बनारस में एक अकिंचन विद्यार्थी की तरह मैं नहीं रहता था। यद्यपि कपड़े-लत्ते में तड़क-भड़क नहीं थी, किन्तु उसको तथा मेरे चेहरे को देखने सें आदमी समझ सकता था, कि मैं काफी आराम के साथ रहने का आदी हूँ। महन्तजी ने अपने आदमियों को कह रखा था, कि मुझे किसी बात का कष्ट न होने पावे। अपने साईस के लड़के रामदास को मेरे लिए खासतौर से खवास नियत किया। छपरा के उस आरम्भिक जीवन की घटनाओं में 'खोवा की दही' का शब्द मेरे कानों में अजनबी-सा मालूम हुआ। मैं सोचने लगा–दही दूध से बना करती है, खोवा हो जाने पर तो दूध अपने ही सूख जाता है, फिर दही कैसे बनेगी ? दूसरी बात नई-सी मालूम हुई, उस कुली का नाम दहाउर, जिसने मेरा सामान स्टेशन से परसा-छावनी में पहुँचाया था।

छपरा में एक-दो दिन से ज्यादा नहीं रहा। याद नहीं, मैं स्टेशन से दूर भी कहीं गया। शायद पंचमन्दिर के बाबू ठाकुरप्रसाद के घर गया होऊँ, उनसे मुलाकात तो जरूर हुई होगी, क्योंकि महन्तजी के मुकदमे में उन्होंने मुख्तार के तौर पर ही उनका काम नहीं किया था, बल्कि जरूरत पड़ने पर धन–हाँ कर्ज के तौर पर–ही नहीं, लाठी से भी बाबू लोगों के विरुद्ध महन्तजी की मदद की थी। महन्तजी उनके बड़े कृतज्ञ थे, क्योंकि वह जानते थे, कि मुख्तार ठाकुरप्रसाद जैसा सहायक नहीं मिला होता, तो कानून उनकी रक्षा नहीं कर सकता था।

हम लोग छपरा से एकमा रेल से गये। महंतजी सेकंड क्लास में थे, नहीं कह सकता मैं किस क्लास में गया। एकमा प्लेटफार्म, और स्टेशन से बाहर खड़े पीठ पर मुर्गा बाँधे घोड़ों के एक्कों का झुंड उस दिन कुछ विचित्र-सा मालूम हुआ। महंतजी के साथ सामान काफ़ी था, और नौकर-चाकर भी काफ़ी। मेरे पास दो-चार किताबें, धोती-चादर, बदन पर सफ़ेद डोरिया का कोट, और शायद शिर पर टोपी थी। क्वार समाप्त हो रहा था, या कातिक का पहिला-दूसरा दिन बीत रहा था। महन्तजी की बग्घी पर चढ़कर जब हम परसा को जा रहे थे, तो देख रहे थे, सड़क के पास हरे-हरे धान के खेत लहलहा रहे हैं। मैं बीच-बीच में मौसिम और फ़सल के बारे में एकाध बात पूछता जाता था। महंतजी भी मुझे बात में लगाये हुए थे। सड़क कच्ची थी, इसलिए घोड़े को दौड़ने का बहुत कम मौका मिला। धुरदह के पुल को पार करने पर मैंने दाहिनी तरफ़ काफ़ी दूर बहुत ऊँचे मकान देखे। महन्तजी ने बतलाया—'वही बाबू लोगों का गढ़ है, वही एक चेले को शिखंडी खड़ा कर लड़ रहे थे।' मैंने कहा—मकान बहुत ऊँचे मालूम होते हैं। उत्तर मिला, पुराना गढ़ है, जमीन ही वहाँ की बहुत ऊँची है, इसलिए मकान बहुत ऊँचे मालूम हो रहे हैं। बहुत से घर तो खँडहर पड़े हैं। दो ही तीन घर बाबुओं के धनी हैं, बाकी सब गरीब हो गये हैं।

और आगे चलने पर मठ के खपड़ैलवाले मकान, तथा दो शिखरदार मन्दिर दिखलाई पड़े। महन्तजी ने बतलाया—'यह पश्चिमवाली मठिया है, इससे कुछ दूर पर वह दूसरी पूरबवाली मठिया है। वहाँ गोपालजी का मन्दिर है और यहाँ रामजी का। यह छोटा मन्दिर समाधि है, पहिले के महन्त गुरुओं की चरणपादुकाएँ यहाँ रखी हैं।'

बातें करते-करते, हमें मालूम भी नहीं हुआ, और तीन मील का रास्ता तै कर हम मठ पर पहुँच गये।

उस वक्त मठ के बाहरवाले पक्के घरों का पता न था, वहाँ पश्चिम तरफ़ सिर्फ एक घोड़सार थी। मठ का सामने का भाग पक्का था, जिसके सामने ऊँची कुर्सी पर, खपड़ैल का ओसारा था। ओसारे के दोनों छोरों पर दो कोठरियाँ थीं, जिनमें से पूरबवाली में मठ के दीवान साहेब रहते थे। भीतर जाने पर मेरा सामान पक्के मकान के पूर्वी पार्श्व में छोर पर अवस्थित कोठरी में रखा गया। मुझे बतलाया गया, कि मृत युवक महन्त रामउदारदास इसी कोठरी में रहा करते थे। अब रामदास मेरा वैयक्तिक खिदमतगार था, इसलिए नई जगह होने पर भी मुझे किसी बात की अड़चन नहीं पड़ती थी।

सबेरे के वक्त पाखाना—खेतों में—जाते वक्त रामदास लोटे में पानी लेकर चलता था। अपनी कोठरी के पीछे, पोखरे के पक्के घाट पर हाथ-पैर धोता, दातुवन करता फिर स्नान करता। हलवाई को हुक्म हो गया था, कि मेरे लिए सबेरे ही पावभर गर्मागर्म जलेबियाँ आ जायें। बनारस में नियमपूर्वक पान तो नहीं खाता था, किन्तु शायद महन्तजी ने पान खाये मुझे देखा था, इसलिए पान मँगवा रखने की ताकीद थी। कोठरी का फर्श पक्का था, जिसके एक तरफ़ चबूतरा था, जिसे मृत तरुण महन्त ने अपने लिए बनवाया था। उसी चबूतरे पर मेरा बिस्तरा लगा था।

बाबू लोगों की मुकदमे में हार हुई थी, लेकिन अब भी झगड़ा बन्द नहीं हुआ था। अपील करने की मियाद अभी बाकी ही थी। पूरबवाले मठ के बाहरवाले आँगन की दालान तथा कितनी ही कोठरियाँ अब भी बाबू लोगों के पक्ष के कुछ साधुओं के अधिकार में थीं। वहाँ के दोनों मन्दिर—गोपालजी और रामजी—के पुजारी महन्तजी के वर्ग के थे। एक दिन रामजी के मन्दिर के पुजारी—लम्बाई-चौड़ाई में समभुज एक तरुण साधु—गाली देते हुए आये—'हमारे काम में वे बाधा डाल रहे हैं, कहते हैं हमारा मठ है।' लोग लाठी लिये पूरबवाले मठ की ओर दौड़े, किन्तु मारपीट तक नौबत नहीं आई।

शाम को मठ के पुरोहित पंडित—ओझाजी और तिवारीजी—आये। तिवारीजी यहाँ पश्चिमवाले मठ में रोज कथा सुनाते थे, और ओझाजी गोपाल मन्दिर के सामने। ओझाजी संस्कृत अधिक पढ़े थे, इसलिए उनके साथ मेरा हेल-मेल जल्दी कायम हो गया। तिवारीजी बड़े मधुर स्वभाव के वृद्ध पुरुष थे। कथा कहते हुए वह भाषार्थ भी कहते जाते थे, किन्तु वह दुनिया के पर्दे पर कहीं बोली जानेवाली भाषा न थी। उसमें बनारसी 'भया' भी आता था, ब्रजभाषा के भी कितने ही सुबन्त-तिंगत प्रत्यय शामिल थे, और छपरा की बोली की गहरी पुट तो होती ही थी। पहिले कुछ राग के साथ श्लोक को पढ़ते, फिर अपने ढंग से अर्थ करते—"वोही समैया को बीच मों-ं,

जे बा-से, रामजीकी-ी हिंछासे सुखदे-वजी-ी महारां-ां-ज बो-े-लते-भ-ये। क्या कर-कर-करके, गोविन्दाय-नमो-े-न-मः…" एकादशी के दिन 'एकादशी माहात्म्य' से उस दिन की एकादशी की कथा कही जाती।

ओझाजी की कथा पूरबवाली मठिया में होती थी, इसलिए उसे सुनने का मुझे मौका नहीं था। उनकी भाषा कुछ कम अस्वाभाविक होती थी। उस दिन शाम को जब दोनों पंडित जमा हुए, तो महन्तजी ने मेरे साधु होने के लिए एक अच्छी तिथि निश्चित करने का प्रस्ताव रखा। कितनी ही देर तक पन्ना उलटा गया। मेरी मकर राशि (चो) से ग्रहों और नक्षत्रों के स्थान को मिलाया गया, और अन्त में कार्तिक शुक्ला एकादशी (वैष्णवी) को सबसे महापुनीत दिन समझा गया। महन्तजी ने बहुत सोच-साचकर अपने मृत उत्तराधिकारी का नाम–रामउदारदास मेरे लिए भी तजवीज किया।

एकादशी को मन्त्र दीक्षा की सारी विधियाँ तो मुझे याद नहीं, हाँ, उसमें कंठी और "रां रामाय नमः" मन्त्र देने के अतिरिक्त, एक और भी विधि हुई थी, जिसका पता यदि बनारस में लगा होता, तो उतने ही मात्र से मैं परसा का नाम न लेता, लेकिन अब तो वचन देकर बहुत आगे बढ़ चुका था। बाबू पत्तरसिंह के मुँह की कहावत याद आती थी–"तेरी माँ ने खसम किया।" "बुरा किया।" "छोड़ दिया।" "बहुत ही बुरा किया।" विधि थी–पीतल में बनी शंखचक्र की मुद्रा को आग में लाल करके दोनों बाहुमूलों में दागना। रामानुजीयों (आचारियों) में अनिवार्य होने पर भी, बैरागियों में यह प्रथा नहीं थी, किन्तु हमारे महन्तजी ने दक्षिण में अपने पर्यटन के समय आकर्षित हो इसे अपना लिया था। आचारी तो बिल्कुल हल्के तौर से सिर्फ़ छुआ मात्र देते थे, जिससे बहुत हल्का-सा दाग उतर आता है; किन्तु यहाँ मालूम होता था, जीवित आदमी के शरीर पर दहकती धातु नहीं लगाई जा रही है, बल्कि डाकखाने में कोई नौसिखिया आहिस्ते-आहिस्ते मुहर लगा रहा है। खैर, मैंने जी कड़ा करके आँख दूसरी ओर फेर ली थी, समझ लिया था, आखिर ये मिनट भी घंटों तक नहीं चलते रहेंगे।

अब से मैं रामउदारदास या संक्षेप में रामउदार कहा जाने लगा।

मठ में मेरे आराम का पूरा ध्यान दिया जाता था। मैं वहाँ वैरागी, तपस्वी साधु नहीं था, बल्कि एक सुकुमार राजकुमार था, जिसके नहलाने-धुलाने, पैर दबाने, तेल लगाने के लिए नौकर था। कोट उतर गया था, किन्तु उसकी जगह तनजेब की चौबन्दी बनी थी। धोती भी शान्तिपुरी पाढ़ की बारीक, जूता लाल दिल्लीवाल। धूप में निकलने पर नौकर छाता लगाये चलता था। पुराने नाम-राशि की सारी दिनचर्या, नौकरों ने मुझे भी सिखला दी। मैं भी पहिले नक्कू न बनने के खयाल से उसे स्वीकार करता गया, पीछे वह साधारण-सी बात हो गई। महन्तजी का स्नेह बढ़ता ही गया। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के बहुत-से चाल-व्यवहारों को सिखलाना शुरू किया, और सचमुच वहाँ पचासों बातें सीखनी थीं। पाखाने के वक्त शिर से हाथ लगाकर नहीं बैठना चाहिए। वहाँ से लौटते वक्त दाहिने हाथ से लोटा नहीं पकड़ना चाहिए। मिट्टी से हाथ धोते वक्त पहिले बायें हाथ में पाँच बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए, फिर पाँच बार दाहिने हाथ को और तब पाँच बार दोनों हाथों को। हाँ, पैरों को भी मिट्टी लगाकर धोना चाहिए। लोटा शुद्ध भूमि पर भी रखते वक्त, पहिले चिल्लूभर पानी गिराकर तब रखना चाहिए। छुरी नहीं, चाकू कहना चाहिए, साग को 'चीरना' नहीं 'अमनिया करना' कहना चाहिए। इसी तरह की एक दूसरी शब्द-सूची बतलाई गई, जिसमें बाबूशाही (गृहस्थ) बोली होने के कारण कितने ही शब्द निषिद्ध हैं, और उनकी जगह साधूशाही कोश के शब्द बतलाये गये। उसी वक्त महावाक्य सुनने में आया–'बारह बरस रहे साधु की टोली। तब पावे एक टुटही बोली।'

महन्तजी फलाहार करते थे, यह पहिले कह आये हैं। ग्यारह बजे पूजा-पाठ समाप्त करने के बाद थोड़ा-सा दूध पीते, और आध घंटा मठ का कारबार देखते, फिर फलाहार बनाने जाते। अब उनका शरीर वृद्ध हो चला था, कमर भी टेढ़ी हो गई थी, इसलिए उनके कामों में कुछ मुझे भी सहायता देनी जरूरी थी। पहिले मैंने फलाहार बनाने से शुरू किया। अब मुझे पता लगा, फलाहार में सिर्फ़ तपस्या का ही खयाल काम नहीं कर रहा है, बल्कि अन्न ग्रहण करने पर पंक्ति में शामिल होना पड़ता, जिसमें जहर देने का डर था। फलाहारी अवस्था में भी महन्तजी के एक गुरुभाई ने एक बार दूध में उन्हें जहर दिया था, जिसके पीने से वह बाल-बाल बच गये थे। इसी खयाल से किसी दूसरे के हाथ का फलाहार न खाकर वह उसे खुद बनाते थे। महन्तजी का फलाहार बनाना भी एक

अच्छी खासी पाक-कला थी। उसमें चावल, दाल, पूड़ी, पकौड़ी, हलवा, खीर, तरकारियाँ, चटनियाँ, पूड़े सभी शामिल थे, और रोज एक दर्जन के करीब चीजें बनती थीं। चावल में धान का स्थान तिन्नी (नीवार) ग्रहण करती. आटे में गेहूँ का स्थान कुटू (बकह्वीट), दाल-बेसन में अरहर-उड़द-चने की जगह बकला (क्लोवर) ग्रहण करता। घी और दूध सिर्फ गाय का और मीठे के लिए सिर्फ़ मिश्री का व्यवहार होता। अभी तक पाकशास्त्र मेरे लिए सबसे दुरूह चीज थी, और मिला भी तो फलाहार पर उसके प्रयोग करने का मौका, जिसमें कुटू के आटे का गूँथना तो एक बड़ी टेढ़ी खीर थी। लेकिन धीरे-धीरे गुरुजी ने मुझे सब सिखला दिया। रसोई में पास हो जाने पर उन्होंने अपने पाठ-पूजा की बातें भी सिखलाईं, क्योंकि उनके अस्वस्थ होने पर वह भार मेरे ऊपर आता।

परसा मठ के दो भाग थे–पूरब की मठिया और पश्चिम की मठिया–यह मैं पहिले कह आया हूँ। महन्तजी, मैं, तथा कितने ही साधु पश्चिमवाली मठिया में ही रहा करते थे। किसी समय पश्चिमवाले मठ में सिर्फ़ महन्त और दो-चार परिचारक तथा पुजारी ही रहते थे, बाकी सभी साधु पूरबवाली मठिया में रहते। रसोई भी वहीं बनती, और उत्तराधिकारी भी वहीं रहते। किन्तु झगड़े के बाद रसोई भी पश्चिमवाली मठिया में चली आई, साधू भी ज्यादातर यहीं आ गये, और पूरबवाली मठिया धीरे-धीरे उजाड़ होने लगी। मेरे सामने ही उसका नौबतखाना, बाहर के आँगन के गिर्द का घेरा और पक्की दालान गिर गई, और मेरे सामने ही पश्चिमवाली मठिया के आँगन के भीतरवाले घर कच्चे से पक्के हो गए, और बाहर एक नया चौक कई पक्के घरों के साथ बनकर तैयार होने लगा।

कार्तिक के आखिरी सप्ताह और अगहन के पहिले पखवारे तक सोनपुर (हरिहर क्षेत्र) का मेला लगता है। मेला शुरू होने से पहिले ही परसा में मैं पुरान-चिरान हो गया था। गुरुजी के साथ उनकी बग्घी में बहरौली और एकाध दूसरे जमींदारी के गाँवों में हो आया था। कनैला, और बछवल में कभी-कभी घोड़े पर चढ़ा था, किन्तु वह घोड़े, परसा के पाँच सौ के घोड़े के सामने गदहे थे। परसा का घोड़ा बहुत दिनों से सिर्फ़ बग्घी में चलता था, और सवारी की चाल भूल गया था। परसा पहुँचने के सात-आठ ही दिन बाद मैंने साईस नकछेदी से घोड़े पर चढ़ने की इच्छा प्रकट की। वहाँ खरहरा करने की मामूली सीधी-सादी लगाम थी, लेकिन मैंने कहा–'कोई परवाह नहीं, इसी लगाम के साथ पीठ पर गद्दी कस दो।' रिकाब भी मौजूद न थी। मैं मठ के दर्वाजे से ही घोड़े पर सवार हुआ, और सरपट दौड़ाता हुआ एकमा के रास्ते पर बहुत दूर तक ले गया। लौटते वक्त फिर उसी चाल से चला आ रहा था, किन्तु मुख्य सड़क से मठ की तरफ़ मुड़नेवाली सड़क के मुड़ाव को देखकर मैंने चाल धीमी करनी चाही। घोड़ा उस लगाम को क्या समझे ? मेरा कुछ ध्यान तो अपने को बचाने और कुछ लगाम के सहारे खड़ा करने में बँट गया। इसी बीच में मठ के पास के पुल की ढालुवाँ जमीन आई, सँभलूँ ही सँभलूँ कि मठ के फाटक पर सीधा 90 डिग्री का समकोण, इस मुड़ाव में अपने बोझे को ठीक न कर सका, और घोड़े की पीठ से बाईं ओर गेंदे की भाँति उछाल दिया गया। वहाँ रखी हुई लकड़ी से बाल-बाल बचा। चोट नहीं लगी। धूल झाड़कर बहादुर शहसवार की भाँति खड़ा हो गया। लोग पहिले चिन्तातुर हुए, फिर मुझे खड़ा होकर मुस्कुराते देख तारीफ़ करने लगे–"ऐसे बगैर काँटे की लगाम पर इस तरह के जबर्दस्त घोड़े पर सवारी करना ऐसे-वैसे आदमी का काम नहीं है।"

मठ की बग्घी मुझे बहुत भद्दी मालूम होती थी। थी भी वह गुरुजी की योजना के अनुसार मठ के गाँव बहरौली के रामजियावन मिस्त्री के हाथ की–सोलह आना स्वदेशी–बनी हुई। गुरुजी ने भीतर जगह कुशादा रखने में फराखदिली रखने का आदेश दिया था, और रामजियावन मिस्त्री ने बग्घी में घर के शीशमों की मामूल से सिर्फ चार-पाँच गुना अधिक लकड़ी लगाई। भारीपन को हटाने के लिए, एकाध बार छीला-छीली भी की गई, किन्तु उससे कुछ हुआ-हवाया नहीं। मुझे वह भद्दी और चारों ओर से बन्द, सुस्त सवारी पसन्द न थी। मैं चाहता था, तेज सवारी। गुरुजी ने परामर्श को स्वीकार कर मेले से टमटम खरीद लाने के लिए मुझे ही भेज दिया।

सोनपुर के मेले को उसके बाद, न जाने कितनी बार देखा, लेकिन वह पहिली बार की नजर में कुछ दूसरा ही जँचा था। कहीं कतार के कतार हाथी बँधे हुए हैं, जो जब-तब चिंग्घाड़ उठते हैं। कहीं घोड़ों के अलग-अलग कितने ही बाजार हैं–छोटे घोड़े अलग, नेपाली टाँघन अलग, और बड़ी राशि के घोड़े अलग। कितने ही घोड़ों के

ऊपर कपड़े का सुन्दर चँदवा टँगा हुआ है। बैलों और गायों की बाजार में जाने पर अनन्त दूर तक मालूम होता है, उन्हीं का हाट लगा है। मेले में सबसे अप्रिय चीज थी, दिन में धूल और रात में धुआँ। मैंने अपनी पसन्द का एक टमटम और घोड़े का नया साज खरीदा, एक ही दो दिन रहकर टमटम लाने के लिए आदमियों को छोड़कर चला आया।

नई जगह की नवीनता भी धीरे-धीरे जाने लगी। मैं अपनी पढ़ाई पर नजर डालने लगा, तो वहाँ मेरे आसपास और दिनचर्या में उसका कोई स्थान न था। खैर, मैं 'सरस्वती' और 'डॉन' (अंग्रेजी मासिक पत्र) का ग्राहक बन गया। इंडियन प्रेस की छपी कुछ हिन्दी की पुस्तकें तथा कितने ही संस्कृत के काव्य-नाटक मँगाये। इस प्रकार शून्यता कुछ कम मालूम होने लगी, साथ ही इसमें सहायक हुआ अगले दो-ढाई महीने लगातार दीहात में घूमते रहना। गुरुजी जानकीनगर, बुचया, कल्यानपुर होते एक ओर गंडक के किनारे सलेमपुर घाट तक पहुँच गये, तो दूसरी ओर गंगा-सोन संगम पर, संठा के पास, मकर संक्रान्ति का स्नान किया। सभी जगह यात्रा उसी बग्घी से होती रही, मेरा टमटम गुरुजी के लिए कम आरामदेह था।

मठ के जमींदारी के गाँवों में रिआया पर जमींदार का रोब मेरे लिए एक नई चीज थी। ननिहाल और पिता के गाँव में हम लोग खुद छोटे-मोटे जमींदार थे, इसलिए अपने ऊपर जमींदार का रोब कैसे अनुभव कर पाते ? किन्तु, मैं न समझ सकता था, कैसे यहाँ के जमींदार अपने काश्तकारों से आपसी झगड़े में जुर्माना वसूल कर सकते हैं, ब्याह-शादी, आना-जाना, हर वक्त हुकूमत और बेगार ले सकते हैं। युक्तप्रान्त में जहाँ पटवारी सरकारी नौकर था, वहाँ यहाँ मैं उसे जमींदार का नौकर पाता था। पटवारी से सारे किसान कितनी पनाह माँगते थे, इसका मुझे अनुभव था; इसलिए यहाँ पटवारी के भी जमींदार का नौकर होने की बात देखकर मैं और समझने लगा किसानों की दयनीय दशा को।

मठ के नौकर-चाकर मेरा बहुत अदब मानते थे, सिर्फ इसलिए नहीं कि मैं नया 'पुजारीजी' (परसा के महन्त के उत्तराधिकारियों का यह भी एक उपनाम था। शायद पहिले के कुछ व्यक्ति महन्त होने से पहिले पुजारी रह चुके थे) था, बल्कि इसलिए भी कि मैं कागज की 'उदिया-गुदिया' समझता था, 'पारसी' अंग्रेजी सब जानता था। बूढ़े महन्तजी के बाद मैं ही महन्त बनूँगा, इसमें किसको सन्देह था, जब कि मेरा नाम भी वही रामउदारदास पड़ा था, जिसके नाम महन्तजी महन्ती लिख चुके थे।

कनैला और पन्दहा में जमींदारी कागजपत्रों के देखने का मुझे कभी मौका नहीं मिला था, और यहाँ के कागजपत्र—'तिरजी', 'सियाहा' आदि बिल्कुल दूसरी ही चीज थे। पहिले तो उधर ध्यान देने ही में दिल उकताता था, क्योंकि साथ ही मैं अपने को विद्यार्थी अवस्था में भी तो समझता था। देखते-देखते उनका समझना भी आसान हो गया। मठ के जमा-खर्च के जंगलों को देखना चाहा। मालूम हुआ कि कई साल से जमा-खर्च ही तैयार नहीं हुआ। महन्तजी में न उसे समझने की शक्ति थी न देखने की फुरसत। पूछने पर लिखने-पढ़नेवाले लोग बहानेबाजी करते। खैर, यह तो मुझे मालूम हो गया, कि कर्ज बढ़ता जा रहा है, और महन्तजी आमदनी से ज्यादा खर्च कर रहे हैं। जिस सभामंडप के लिए पत्थर आने शुरू हो गये थे, वह उधार के रुपये से बनने जा रहा है। यद्यपि उसके खर्च का तखमीना महन्तजी चार-पाँच हजार लगा रहे थे, किन्तु मैं समझ रहा था दस हजार, और अन्त में तो वह पन्द्रह हजार पहुँचकर रहा। मठ के भीतरी यन्त्र को बहुत दूर जाकर देखने की मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं थी, क्योंकि जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं अपना ध्यान पढ़ने से दूसरी ओर नहीं ले जाना चाहता था, किन्तु जो कुछ देखा, वही कम न था।

तीन महीने बीत चुके थे, अब जनवरी 1913 ई. शुरू थी, और पढ़ने का कोई भी इन्तिजाम नहीं। शायद इसका असर भी जाहिर होता, किन्तु इसी समय पत्थर के भेजने तथा कारीगरों के आने में कुछ गड़बड़ी हुई, जिसके लिए महन्तजी फिर बनारस गये—महन्तजी को ठगना आसान था, और वह हमेशा ठगे जाते थे; किन्तु स्वयं जाकर सारी जमात के साथ रेल-भोजन आदि पर चौगुना खर्च करके भी—यदि काम करते थे, तो समझते थे, कि मैंने बहुत से रुपये बचा लिये। उनकी अनुपस्थिति में एक दिन पिताजी और फूफा महादेव पंडित परसा आ धमके। जिस खतरे से मैं डरता था, वह खतरा मेरे सामने आ खड़ा हुआ। सोचने लगा, किस तरह बचा जाये। तै किया—जिस

वक्त यह लोग औरों से बात करने में फँसे हों, उसी वक्त भाग चलना चाहिए। दूसरे दिन सबेरे मैंने नकछेदी को कहा—टमटम कसकर सड़क पर दूर लेकर चलो। 'जी महाराज' कहकर वह कसने लगा। मैं मासूम की तरह फूफाजी के पास बैठा कुछ सुन रहा था। रामदास या किसी दूसरे ने इशारे से बतलाया कि टमटम चला गया। मैं किसी बहाने उठा, और खिड़की के रास्ते खेतों से होकर सड़क पर पहुँचा। एक बार टमटम पर सवार हो जाने के बाद मेरे हाथ में चाबुक और घोड़े की पीठ थी, यदि वह खड़ा होने का नाम लेता। एकमा, दाऊदपुर, कोपा-समहुता के पास पहुँचा। मेरा जिले से बाहर कहीं अनजान जगह में चला जाना जरूरी था, और टमटम वहाँ तक जा नहीं सकता, इसलिए मैंने नकछेदी को कहा—'टमटम लौटा ले जाओ, रास्ते में कोई पूछे तो कह देना, मैं नहीं जानता कहाँ गये, मैं तो यहीं से उतारकर आ रहा हूँ।'

कोपा-समहुता में ट्रेन आने में देर थी, इसलिए वहाँ प्रतीक्षा करने की जगह अगले स्टेशन—छपरा—पर पैदल चलकर पहुँच जाना अच्छा समझा। छपरा से मुजफ़्फरपुर, पटना, बनारस की तरह निकल जा सकता था, और शायद ट्रेन भी थी, किन्तु सबसे पहिले तो आवश्यकता थी, रुपये की, जिसके बारे में परसा में मैंने नहीं सोचा था, हालाँकि उसके लिए वहाँ सुभीता था। यहाँ छपरा में मुख्तार ठाकुरप्रसाद के सिवाय मेरा कोई परिचित न था। मैंने जाकर उनसे पिता और फूफा के चले आने की बात कही, और कहा कि इस वक्त मेरा यहाँ से हट जाना अच्छा होगा, आप कुछ रुपये दें। रुपया कितना भयंकर, कितना जहरीला नाम है, जिसके निकलने के साथ आदमी की बात, उसकी शान, उसकी इज्जत नगण्य हो जाती है ! मुख्तार साहेब के दिल में भी इस तरह का कोई भाव उद्भूत हुआ, अथवा उनकी सहानुभूति पिताजी की ओर हो गई। उन्होंने नहीं तो नहीं किया, किन्तु 'थोड़ी देर में कहेंगे' कहकर शब्दान्तर में वही कहा।

मैं लौटा आ रहा था, गली में पिताजी मिले। मैं ग्यारह-बारह मील टमटम से भी आया था, वह सारा रास्ता—परसा से छपरा—पैदल आये, कैसे वह इतनी जल्दी पहुँचे गये ? और छपरा में इतनी जल्दी उन्हें जगह का पता कैसे लग गया। मालूम होता है, किसी से उन्हें ये भेद मालूम हो गये थे, ऐसा भेद बतलानेवाला महन्तजी को प्रसन्न करनेवाला नहीं हो सकता। पिताजी हाँफ रहे थे, उनकी आँखों में आँसू छलछला आये, कुछ जोर से बोलना शुरू करना चाहते थे, किन्तु लोग जमा हो जायेंगे, इस शर्म से मैंने कहा—"आप हल्ला न करें, मैं सबेरे परसा चलूँगा।"

वहाँ से हम छावनी में चले गये, जो सौ गज से दूर नहीं थी।

सबेरे जब हम परसा पहुँचे, तो देखा महन्तजी भी आ पहुँचे हैं। मुझे यह सुनकर बहुत झुँझलाहट पैदा हुई, कि फूफाजी की बातों में पड़कर महन्तजी ने सिर्फ दस दिन के लिए कनैला ले जाने की इजाजत दे दी है। फूफाजी की पंडिताई का ओझाजी तथा दूसरे लोगों पर असर हुआ। उन्होंने जब कहा, 'उसकी आजी और बुआ रोते-रोते मरी जा रही हैं, अब तो बैरागी हो जाने के कारण वह हमारी जाति का भी नहीं रह गया, सिर्फ़ दर्शन और सान्त्वना देकर चला आये, बस हम इतना ही चाहते हैं।' महन्तजी ने कहा—"कोई हर्ज नहीं।"

चलते वक्त रामदास खिदमतगार और हनुमानदास (नेत्रहीन होने से जिन्हें हम सूरदास कहते थे) साथी बनाकर भेजे गये। "दस दिन में भेज देने की बात गलत है। वहाँ जाते ही मैं नजरबन्द कर लिया जाऊँगा"—मैं कितना ही कहता रहा किन्तु महन्तजी ने कहा—हम वचन दे चुके हैं।

8

पकड़कर कनैला में (1913 ई.)

फूफाजी को ब्रह्म पर खास विश्वास था। बछवल में एक संभ्रान्त कायस्थ के ऊपर उनका पाँच सौ रुपया कर्ज था, दस्तावेज लिखा हुआ मौजूद था। बहानेबाजी में उसने तमादी की मीयाद गुजार दी, और फिर मुकदमा दायर करने पर वह खारिज हो गया। मुकदमा दायर करने से पहिले मूल रुपया वह शायद देना भी चाहते थे। खैर,

मुकदमा हारने के बाद फूफा साहेब को बहुत क्रोध आया। घरवाले कह रहे थे, पाँच सौ रुपये के लिए इतनी चिन्ता क्यों करते हैं, किन्तु वह कब माननेवाले थे। उन्होंने बाल बढ़ाए, पुरश्चरण शुरू किया, और जंगबहादुरलाल को निरवंश करने के लिए उनके टोले के कब के भूले-भटके ब्रह्म की पिंडी पर दूध की धार चढ़ाकर उसे जगाना शुरू किया। इसी फिराक में वह हरसूराम ब्रह्म की शरण तक में हो आये थे। किन्तु जंगबहादुरलाल का बाल भी बाँका नहीं हुआ। हरसूराम ब्रह्म के जोड़-तोड़ के ही मैरवावाले हरिराम ब्रह्म भी थे, और मैरवा हमारे रास्ते में पड़ता था, फिर फूफा साहेब वहाँ क्यों न उतरते ?

9 बजे सबेरे के करीब, हम स्टेशन पर उतरे, और मील भर पैदल चलकर 'बाबा के धाम' पर पहुँचे। यात्री आते थे, पंडे भी मौजूद थे, किन्तु पिछले 28 वर्षों में जो श्रीवृद्धि 'बाबा के धाम' की हुई, वह उस वक्त न थी। बड़ा तालाब, और कितने ही मकान तथा दूकानें जो मन्दिर से उत्तर आज दिखाई पड़ती हैं, वे सब पीछे की माया हैं। हम लोग मन्दिर के सामनेवाले कूएँ पर बैठे। फूफा साहेब स्नान-सन्ध्या में लगे और फिर उन्हें हरिराम ब्रह्म का पूजन करना था। मैं इस ब्रह्मपूजा से मुक्त था, वैष्णव होने का एक लाभ तो मिला। पंडित बतला रहे थे—हरिराम की गाय को राजा ने (जिसके ध्वस्त गढ़ को थोड़ी ही दूर पर झरही के किनारे पूरब-उत्तर के कोने पर अब भी दिखलाते हुए) जबर्दस्ती ले लिया। ब्राह्मण हरिराम ने बहुत विनती की, किन्तु प्रभुता में मदान्ध राजा ने एक न मानी। हरिराम ने आत्महत्या कर ली। देखते-देखते राजा की प्रभुता स्वप्न की तरह विलीन हो गई। 'रहा न कुल कोउ रोवनहारा।' भव्य प्रासाद पस्त होकर मिट्टी में मिल गये। मैंने कथा को ध्यान से सुना, किन्तु अब उसमें वह प्रेरणा नहीं मिलती थी, जो दुर्गासाधना से पहिले ऐसी चमत्कारिक कथाओं में मिला करती थी।

मैरवा से दूसरी गाड़ी पकड़कर, भटनी में बदलते हुए मऊ पहुँचे। मऊ में यह मेरा पहिले-पहिल आना हुआ था। वहाँ एक या दो दिन हम लोग ठहरे थे, कहाँ, सो याद नहीं। फूफा साहेब पसंद नहीं कर रहे थे, कि सूरदास और रामदास मेरे साथ जायें। सूरदास से उन्हें खास तौर से भय था, क्योंकि वह परसा लौटने की ओर मेरा ध्यान दिलाते रहते। फूफाजी की बोली-बानी देखकर सूरदास भी समझ गये, और उन्होंने एक मित्र से मिल आने का बहाना ढूँढ़कर छुट्टी माँगी। मैंने भी इसे पसन्द किया। मैं तो चाहता था, रामदास भी न जावे, क्योंकि बिल्कुल अकेला रहने में मुझे भागने में सुभीता होता—मैं समझ ही गया था, कि अबकी मेरे ऊपर जबर्दस्त देख-रेख रखी जावेगी।

मालूम होता है, फूफा साहेब ने पिताजी को मेरे बारे में विशेष ध्यान देने के बारे में समझाया था। वह समझते थे, गाँव में अच्छे खाने-पहिने का सुभीता नहीं रहता है, इसलिए इसका मन वहाँ नहीं लगता। जो पिताजी सादी पोशाक, सादे चाल-व्यवहार के जबर्दस्त पक्षपाती थे, उन्होंने जोर देकर मेरे लिए गल्ता की कमीज और किसी वैसे ही सूती-रेशमी कपड़े का वास्कट वहीं मऊ में सिलवाया। पान के बीड़े ही नहीं आ गये, बल्कि कनैला साथ ले चलने के लिए भी सौ-डेढ़ सौ अच्छे पीले पान के पत्ते, कत्था-कसैली, चूना-जर्दा के साथ ले लिया गया। मुझे भीतर ही भीतर हँसी आ रही थी।

कनैला में देखकर सबसे अधिक खुशी नानाजी को हुई। उनका तो लड़कपन ही से मैं सर्वस्व था। आजी और चाची भी प्रसन्न हुईं, और मुझे भी प्रसन्नता हुई—इससे मैं इन्कार नहीं करता। कनैला और पन्दहा को देखकर क्यों न मुझे आनन्द होता, वहाँ के एक-एक वृक्ष, एक-एक भींटे, एक-एक पोखरे-पोखरी, एक-एक खँडहर तक में मेरे बाल्यकाल की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ निगूढ़ थीं। गोविन्द साहेब पीपल अब सूखकर खतम हो चुका था, किन्तु जब मैं उधर से गुजरता तो फागुन के दिनों के प्रहसन याद पड़ते—कैसे रात की चाँदनी में एक तरफ़ स्त्रियों की और दूसरी तरफ़ पुरुषों की जमात बैठती। कैसे बीच में प्रतिभाशाली तरुण सद्यःप्रसूत भावनाओं से प्रेरित हो, लोगों के मनोरंजन के लिए तरह-तरह के अभिनय करते—जिनमें कितने ही अश्लील भी होते थे यह ठीक है, तो भी वे मनोरंजन की काफ़ी सामग्री रखते थे। चुड़िहार नौजवानों के उत्साह के कारण जोगीड़ा खूब जमता था। फ़जल, वलीजान, अब्दुल की उस वक्त बड़ी माँग थी। फ़जल की उस समय की हँसने-हँसानेवाली सूरत को जब कई वर्ष बाद की उस सूरत से मैंने मिलाया, जिसमें नंगे शिर, बंडी, धोती-काली लुंगी की जगह वह घुटनों

तक पायजामा, कुर्ता और सिर पर टोपी रखे हुए था, तो वह मुझे बिल्कुल नहीं जँची। मैं दलसागर पर ब्रह्म बाबा के बरगद को अपने दर्वाजे से देख सकता था। उस वक्त कामुक सैयद से नवोढ़ा पत्नी के सतीत्व को बचाने के लिए ब्राह्मण दम्पति की आत्माहुति से भी बढ़कर मधुर वह स्मरण मालूम होता, जिसमें पशु-पक्षियों तक को सब काम छोड़ छाया का आश्रय लेने के लिए मजबूर करनेवाली गर्मी की दुपहरिया में उस बरगद के नीचे लड़के अपनी गाय-भैंसों को जमा कर देते–वे स्वयं वहाँ बैठकर जुगाली करने लगतीं–और फिर बरगद की घनी शीतल छाया से स्फूर्ति पा ओल्हापाती खेलने लगते। और कहीं होता तो वृक्ष पर चढ़ने की कला से अपरिचित होने के कारण मैं शरीक न होता, किन्तु ब्रह्म बाबा की धरती-छूती मोटी-मोटी सहस्र शाखाओं पर चढ़ने और कूदने में हाथ-पैर टूटने का डर न था। बड़ी, लहुरिया और नाउर की पोखरियाँ उन कहानियों को याद दिलाती थीं, जिन्हें मझली बुआ या माँ की गोद में लेटा हुआ मैं बड़ी तन्मयता से सुना करता था। सोचता था–कनैला में भी कोई राजा था, जिसकी बड़ी, लहुरी (छोटी) दो रानियाँ थीं, जिसकी चहेती एक नाइन थी, तीनों ने इन तीनों पोखरियों को बनवाया था। इन्हीं पोखरियों में मैं कभी किन्ना और बदरी के साथ मछली मारा करता। कनैला के स्थानों को देखकर पुरानी घटनाएँ फिर आँखों के सामने सजीव होकर फिरने लगतीं, और चित्त में "ते हि नो दिवसा गताः" की टीस के साथ एक प्रकार का आनन्द भी प्रदान करतीं। इस तरह कनैला आना सिर्फ असन्तोष ही असन्तोष पैदा करने का कारण नहीं हुआ।

पाँच-सात दिन बाद रामदास ने परसा हो आने की इच्छा प्रकट की, मैंने भी उसके द्वारा गुरुजी के पास अपनी परिस्थिति को कहला भेजा। रामदास आठ-दस दिन बाद लौट भी आया। लेकिन यहाँ जाने देने का कौन नाम लेता है ? निराश हो रामदास जब परसा जाने के लिए तैयार हुआ, तो घरवालों को बहुत सन्तोष हुआ। मैंने भी इसे अच्छा ही समझा, क्योंकि अपने साथ रामदास को भी लेकर भागना ज्यादा मुश्किल था। घास चरने के लिए लम्बे रस्से में बँधे बछड़े की भाँति मेरे बन्धन में भी कनैला से बछवल तक आने-जाने की गुंजाइश थी। मेरे लिए विशेष खाने-पीने की व्यवस्था थी, किन्तु कुटुम्ब-भोज में अवांछनीय दाल-भात को अमृत बनाकर खाने वाला मन अब भी मेरे पास था, फिर छोटे भाइयों और घर के दूसरे व्यक्तियों से पृथक् अपने लिए विशेष भोजन मुझे क्योंकर पसन्द आता।

रामदास के चले जाने के हफ्ते-भर बाद मैंने एक बार मुक्त होने का साहस किया। भागकर आजमगढ़ स्टेशन पहुँचा, किन्तु ट्रेन पकड़ने से पहिले ही पिताजी वहाँ मौजूद थे। सामने पड़ जाने पर भीड़ इकट्ठा कर बहस शुरू करना मुझे पसन्द न था। मैंने अपनी हार स्वीकार की, और उनके साथ कनैला की ओर चल पड़ा। रास्ते में वह समझा रहे थे–तुम्हें गाँव का जीवन पसन्द नहीं। वहाँ खाना अच्छा नहीं मिलता, वहाँ परिष्कृत वस्त्र दुर्लभ हैं। मैं तुम्हारी जिन्दगी-भर के लिए घी-दूध खाने, साफ़ कपड़ा पहिनने का इन्तिजाम कर देता हूँ।' इसके बाद उन्होंने हिसाब भी लगाना शुरू किया, और बतलाया–"इतने मूलधन के सूद से तुम्हारा काम चल सकता है। तुम कहीं मत जाओ, घर पर रहो, मैं इतना रुपया तुम्हारे नाम से जमा करने के लिए तैयार हूँ। मुझे उनकी बातों से गुस्सा नहीं आता था, मुझे सिर्फ इतना ही खयाल आता था, कि अपने भावों को उन्हें समझाना मेरे लिए कितना मुश्किल है। ज्ञान की भी कोई भूख है, विस्तृत जगत के देखने की भी कोई भूख है, शिक्षित-संस्कृत समाज में रहने की भी कोई भूख है, जो भोजन की भूख से हजारों गुना ज्यादा तेज, और सदा अतृप्त रहनेवाली है) इसे मैं समझाने की कोशिश करता, किन्तु वह उसे सुनने को तब तैयार होते, जब मैं कनैला में आँखों के सामने रहने की उनकी शर्त को कबूल कर लेता।

कनैला और बछवल में लोग ज्यादा सजग हो गये थे, इसलिए इस अवस्था में कोई साहस करना फ़जूल था। मुक्ति प्राप्त करने के लिए विश्वास दिलाकर उनकी उस जागरूकता को खतम करना जरूरी था। यागेश आधा प्रयाग में और आधा बछवल में रहते थे। वह संस्कृत नागरिक समाज में रहना पसन्द करते थे, किन्तु ज्ञान-लिप्सा की वह प्रचंड दावानल जो मेरे अन्तरतम में जल रहा था, उसके प्रहार से वह बहुत कुछ सुरक्षित थे। वह अब भी मेरे "नर्मसचिव" थे, इसलिए होली से पहिले बछवल में उन्हें आया देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। उसी तरह हम चारपाई पर लेटे या बैठे भूत-भविष्य की कथाएँ और कल्पनाएँ किया करते। उसी तरह हम एक साथ कभी

कुटी, कभी संकटाप्रसाद के बँगले और कभी हरे-भरे खेतों में चक्कर काटने चले जाते। कनैला की अपेक्षा बछवल में मेरा दिन अच्छा कट जाता। फूफा साहेब नस लेते थे, उनके छोटे भाई सहदेव पांडे (यागेश के पिता) सुर्ती (खाने का तम्बाकू) और अफ़ीम दोनों के आदी थे। अपने बड़े भाई की तरह उन्होंने संस्कृत नहीं पढ़ी थी, उसकी जगह उन्होंने उर्दू सीखी थी। निचले ओठ में सुर्ती दबाये रामायण की चौपाइयों को बड़े राग से और कभी-कभी वह गद्‌गद हो पढ़ते थे। मेरे प्रति बाहर से यद्यपि शिष्टाचार का बरताव रखते, किन्तु यागेश पर मेरे असर को वह बिल्कुल पसन्द न करते थे। यागेश की माँ अपने ज्येष्ठ पुत्र की इच्छा के विरुद्ध जाने की हिम्मत नहीं रखती थीं, और उनको मालूम था, यागेश और मेरा स्नेह कितना चिरस्थायी है।

मेरी बुआ मेरे लिये अभिमान की चीज थीं, पहिले ही साक्षात्कार के समय से मैं उन्हें मितभाषिणी और गम्भीर होते हुए भी बहुत स्नेहमयी पाता था। मुझे माँ की यह बात याद थी—"उस वक्त मैं पहिले-पहिल ब्याह के बाद ससुराल आई थी। घर का बड़ा कुनबा था। मेरी छोटी ननद बरता—अभी ब्याह नहीं हुआ था—ने दीवार की आड़ से अँगुली दिखलाकर बतलाया था, यह हैं काका। मैंने वही एक बार आँख भरकर अपने ससुर को देखा था। थोड़े समय बाद तो वह मर ही गये।" माँ और उनकी छोटी ननद कैसी रही होंगी ?—तब तो संसार में मेरा अस्तित्व भी नहीं हो पाया था। बुआ ब्याह के बाद जब बछवल गईं, तो उन्हें पीसने के लिए अनाज बहुत दे दिया जाता था। कनैला में उनका मायका बहुत धनी न होने पर भी काफ़ी काम करनेवाले असामियों का स्वामी था, इसलिए ज्यादा काम न करना पड़ता था, और अभी तो वह छोटी लड़की भी थीं। उनकी इस तकलीफ़ की सूचना जब कनैला पहुँची तो जानकी पांडे ने अपने भाई को कहा—'मथुरा ! ले जाओ यहाँ से कुछ पिसनहारियों को, और रामटहल तिवारी (?) फूफा (के मौसा जो उस वक्त घर के प्रबन्धक थे) के घर के लिए छै महीने की कुटाई-पिसाई करवा आओ। मथुरा पांडे सचमुच ही मजदूरिनों को लेकर चले गये थे। बुआ मुझसे बहुत बातें करतीं, और उनकी बातें साधारण ग्रामीण स्त्रियों के तल से कुछ ऊँची हुआ करतीं, इसलिए उस वक्त संस्कृति के नये दिल्दादे मुझे वह पसन्द आया करतीं। एक दिन गाँव के पश्चिम की मठिया (टोले) में रहनेवाली एक वृद्धा स्त्री आईं। कमर झुकाये डंडे के सहारे चलती थीं। मैंने बुआ से उनके घर के बारे में पूछा। बोलीं—"बचवा ! वह जिस वक्त अपने घर की बात कहती थीं, तो उनकी आँखों से छल-छल बहते आँसुओं को देखकर मुझे भी रुलाई आती थी। कहती थीं, 'बदमली (1857 के गदर) के जमाने में आसपास के गाँवों को मारती-जलाती गोरों की पल्टन हमारे गाँव में भी आई। उनका गाँव लखनऊ के पास था। गोरों ने घर की तीन तरुण बहुओं को एक्के में बैठाकर छावनी की ओर रवाना किया। रास्ते में दोनों तालाब या कूएँ में कूदकर मर गईं। मैं अपने भाग्य को कोसती हूँ, मैंने भी क्यों नहीं वैसा ही किया। मुझे जीवन का लोभ हो आया।' वैसे ही भूलती-भटकती मठिया के महन्त के पास आजमगढ़ पहुँच गईं।

बछवल में उसी वक्त एक दुर्घटना घट गई थी। बुआ के जेठे लड़के रमेश—उम्र में मुझसे छोटे—बड़े गरम मिजाज के थे। एक दिन बात-बात में एक लड़के से तकरार कर बैठे, और उसे उठाकर तालाब में फेंक दिया। मामला पुलीस में गया, और जाँच में दारोगा के अतिरिक्त इन्स्पेक्टर साहेब आये। गवाही-साखी के वक्त मैं भी रहा। फूफाजी की पंडिताई का इन्स्पेक्टर के ऊपर भी प्रभाव पड़ा, और लड़कों का झगड़ा समझा-बुझाकर वहीं दबा दिया गया। इन्स्पेक्टर साहेब का ध्यान मेरी ओर खासतौर से आकर्षित हुआ था। क्यों ? उर्दू-संस्कृत कुछ अंग्रेजी जानता था, इसकी खबर कहाँ तक उन्हें मालूम थी, यह तो नहीं कह सकता; किन्तु मैं उस वक्त 19 वर्ष का लम्बा छरहरा, पतला किन्तु स्वस्थ जवान था—गाँव के देखनेवालों के कहे अनुसार 'निखरी जवानी' थी। पतली साफ़ धोती, लाल जूता, फलालैन की बगलबन्दी के विनीत वेष का भी प्रभाव पड़ना जरूरी था। पूछने पर जब फूफाजी ने अभिमानपूर्वक कहा—"मेरे साले के लड़के—मेरे ही लड़के हैं।" तो इन्स्पेक्टर साहेब ने कहा—"ऐसा लड़का मेरा होता तो मैं उसे अंग्रेजी पढ़ाता।" शायद डील-डौल को देखकर उनको खयाल हुआ, अंग्रेजी पढ़ाकर एक दिन मेरी तरह इन्स्पेक्टर बनना इसके लिए आसान होता। अब कनैला का थाना जहानागंज टूटकर चिरैयाकोट हो गया था। एक दिन वहाँ के दारोगा साहेब ऐसे ही गश्त लगाते कनैला आये। मेरे दर्वाजे पर थोड़ी देर के लिए ठहरे। बनारस के रहनेवाले खत्री नौजवान थे। कालेज से पढ़ाई छोड़कर पुलीस में आ पड़े थे। बड़े-बड़े मन्सूबे

थे, इसलिए बेचारे वर्तमान परिस्थिति से सन्तुष्ट न थे। शायद उन्होंने मुझमें कुछ समानधर्मता देखी, इसीलिए तो पुराने स्वप्नों को मेरे सामने रखने लगे। पुराने आशाभंग स्वप्नों का संकथन भी बाज वक्त अच्छा मालूम होता है। मुझे खयाल आता था, अपने शैशव का जमाना, एक बार पिता ने गाँद के दूसरे घर का कुछ खेत रोक दिया था–हक का झगड़ा था–फ़ौजदारी के मामले में जहानागंज के दारोगाजी जाँच करने आये। गाँव के बाहर पोखरे के पास पकड़ी के वृक्ष के नीचे चारपाई पर दारोगाजी बैठे थे। आसपास लाल पगड़ी बाँधे सिपाही और काला कुर्ता पहिने चौकीदार बैठे हुए थे। रात थी, लालटेन की रोशनी में–लालटेन जरूर दारोगाजी अपने साथ लाये होंगे, क्योंकि गाँव में अभी मिट्टी का तेल और लालटेन पहुँच न पाई थीं–दारोगाजी दोनों ओर के गवाहों की गवाही लिख रहे थे। मैं देख रहा था, किस तरह सारे गाँव और सात-आठ वर्ष के बच्चे, मेरे ऊपर भी दारोगाजी का रोब छाया हुआ था। बहुत दिनों तक सिउबरती (शिवव्रता मँझली) बुआ, नानी या दूसरे के मुँह से कहानियाँ सुनते वक्त राजा का नाम आने पर मुझे पकड़ी के नीचे के वह दारोगा साहेब तथा उनके आस-पास के सिपाही-चौकीदार याद पड़ते थे। आज दारोगाजी को मैं अपने सामने, किसी जबर्दस्ती छीन लिये गए आदर्श के वास्ते अफ़सोस करते, और अपने को संवेदना प्रकट करते देख रहा था।

होली के दिन मैं बछवल में रहा। यागेश प्रयाग लौटनेवाले थे, इसलिए किसी दिन उनके साथ चल देना मेरे लिए आसान था। हम लोग रात को यागेश के ननिहाल शाहपुर में रहे। उनके मामा लक्ष्मी को बछवल की पहिली यात्रा में देखा था, उनकी उम्र उस वक्त छोटी थी, और उनकी जनानी आवाज का लोग मजाक उड़ाते थे। वह घर पर न थे। रानी की सराय स्टेशन से हम दोनों का रास्ता दो तरफ होनेवाला था। यागेश की गाड़ी कुछ पहिले रवाना हुई। रानी की सराय को चार साल बाद देखने का मौका मिला था, किन्तु गाड़ी की जल्दी में मैंने उधर ध्यान नहीं दिया। हाँ, यागेश की गाड़ी से जानेवाले मेरे सहपाठी जहाँगीरपुर के देवकीप्रसाद मिले। हम दोनों ने एक साथ निजामाबाद से मिडल पास किया था। वह जौनपुर में अमीन का काम करते थे। दूसरे एक परिचित व्यक्ति पन्दहा के थे। उन्होंने मुझे बिल्कुल नहीं पहिचाना, जिससे मालूम हुआ, कि तब से मेरे चेहरे में बहुत परिवर्तन हो गया है। जीवन में बारह और चौबीस वर्षवाले चेहरे में बहुत अन्तर होता है। मैंने भी उस हालत में परिचय देना नीति-विरुद्ध समझा।

भटनी में जाकर भेष में परिवर्तन की जरूरत पड़ी। वैरागी साधु चाहे तो सारे मुँह और शिर के बाल को मुँड़ा सकता है, या सभी को रख सकता है। मैं अब तक कनैला में गृहस्थ वेश में था। खैर, नाई ने उस काम को ख़ुशी से कर दिया, यद्यपि मूँछ मूँड़ते हुए उसे आनाकानी हुई–मूँछ हमारी तरफ वही हिन्दू मुँड़ा सकता है, जिसका बाप मर गया हो।–हाँ, अब मेरे चेहरे पर जरा-जरा से बाल उग रहे थे। वेस्टकोट को नाई को ही दे दिया–वह बाबू की शाखर्ची पर बहुत खुश था, उसको क्या मालूम था, कि बाबू वेश-विरुद्ध समझकर उससे पिंड छुड़ा रहे हैं।

9
फिर परसा में

गुरुजी आशा को बिल्कुल तो छोड़ नहीं बैठे थे, किन्तु उन्हें मेरे आने में सन्देह होने लगा था। मुझे लौटा हुआ देखकर उन्हें बड़ी खुशी हुई। पिता और फूफाजी जान गये, कि मैं कहाँ गया हूँ, किन्तु अब वहाँ से लौटाकर लाना अपने बूते से परे की बात समझकर वे चुप रहे। रामदास फिर मेरी खिदमत में आ गया, और तीन महीने पहिले जैसी दिनचर्या फिर शुरू हुई।

पढ़ने के बारे में कुछ कहने पर गुरुजी साफ़ इनकार नहीं करते थे, कभी कहते 'अच्छा' कभी कहते 'यहीं ओझाजी से पढ़ते क्यों नहीं ?' कभी कहते 'मैं बूढ़ा हो गया हूँ खड़ा होकर चल नहीं सकता, न जाने किस दिन

आँखें मुँद जायें, तुम मठ का कारबार सँभालो।' यह बातें मुझे रुचिकर नहीं जँचती थीं सही, किन्तु मैं यह भी देख रहा था कि मठ का प्रबन्ध बहुत खराब है, हिसाब-किताब का कोई खयाल नहीं करता। आमदनी से खर्च बहुत ज्यादा था। सरासर घाटे के काम बड़े उत्साह के साथ 'लाभदायक उद्योग' के तौर पर किये जाते थे। परसा में मठ के बहुत से धान के खेत थे, जिनके लिए 10, 15 रुपया एकड़ पर जोतनेवाले आसानी से मिल जाते, किन्तु उनको खास 'जिरात' में रखा गया था। मैंने हिसाब करके दिखलाया, कि उन खेतों की जुताई, रोपाई, निकाई, सिंचाई, कटाई, दँवाई पर जितना खर्च होता है, उतनी भी उनसे आमदनी नहीं होती, 10, 15 रुपए एकड़ मालगुजारी का जो नुकसान होता है, सो अलग। लेकिन गुरुजी इस बात को भी नहीं समझ पाते थे। कारिन्दा समझा देते—"साल में धान की कितनी बड़ी राशि खलियान में दिखलाई पड़ती है, सब खरीदना पड़ेगा।" और गुरुजी भी वही दुहराते। मन्दिर के सभामण्डप का काम भी घटने की जगह बढ़ता ही जा रहा था। उस वक्त बनारस के मिस्त्री उस पर काम कर रहे थे। इन दोनों बातों को रुकवा सकना, मैंने अपनी शक्ति से बाहर की बात देखी, किन्तु कर्ज का रास्ता रोकना तथा आमदनी के रास्ता को स्थायी करने के लिए कुछ करना जरूरी था।

मठ का सबसे बड़ा गाँव बहरौली था, जिसकी सालाना आमदनी पाँच हजार थी। यह गाँव मठ के प्रभावशाली संस्थापक बाबा परसादीराम को अठारहवीं सदी में दिल्ली से दान मिला था। गाँव के राजपूत बड़े लड़ाकू थे, मालगुजारी कभी वसूल न होती थी, वस्तुतः इसीलिए यह बूढ़ी गाय का गोदान हुआ था। परसादी बाबा के अधिकार में आ जाने पर भी गाँव के राजपूतों के मालिकाना के हक को स्वीकार किया गया था, और सरकार के पास जमा की जानेवाली मालगुजारी का कुछ हिस्सा "मालिकाना" के तौर पर अब भी उन्हें मिलता है। कुछ को छोड़कर बहरौली के सारे खेत रब्बी के हैं। आज से पचास वर्ष पहिले बहरौली की नीलकोठी सारे उत्तर बिहार में प्रसिद्ध थी, उसके निलहे साहबों का आस-पास के सैकड़ों गाँवों पर भारी रोब था। कोठी का विशाल बँगला, कितने ही फैक्टरी घर तथा मशीनें उस वक्त भी मौजूद थीं। नील का रोजगार जब जोरों पर था, तो बहरौली के आधे से अधिक खेतों में नील की खेती हुआ करती थी। नील की खेती के बन्द होने पर कोठी का शीघ्रता से पतन हुआ। कोठी और उसके चारों ओर की मुकरी जमीन किसी दूसरे ने खरीद ली। मालिक की बकाश्त जमीन मालिक को लौट गई। अभी खूब खाद डालकर नील की खेती में रहने के कारण खेत बड़े उपजाऊ थे, इसलिए खेत के लिए भूखे घनी आबादीवाली बहरौली के किसानों ने बीस-बीस, पचीस-पचीस रुपए एकड़ की शरह पर खेतों का बन्दोबस्त लिया। अब उन किसानों से वह रुपया दिया न-जाता था, और हर साल बहुत-सी मालगुजारी बाकी रह जाती।

उस वक्त इस बाकी पड़ी मालगुजारी पर मैं इस दृष्टि से नहीं देख रहा था, मैं देख रहा था, हमारे गुमाश्ता, पटवारी मिलकर कुछ ले-दे वसूल होनेवाली रकम को भी बाकी रख देते; जब कई वर्ष का बकाया जमा हो जाता, तो मालिक से कहते—'सरकार, वसूल होने लायक नहीं है, छोड़ दें।' और इस प्रकार हर साल दो-ढाई हजार रुपये छोड़े जाते। यह बात मुझे, मालिक के साथ धोखा देना मालूम हुई। उधर बहरौली के बा. राजनारायणसिंह—जिन्होंने अपने उद्योग से कलकत्ता में जा एक अच्छी सम्पत्ति पैदा की थी—कुछ रुपयों के अगवढ़ के साथ गाँव को ठीका पर लेने के लिए तैयार थे। मैंने तै किया, गाँव को ठीका लिख देना ही अच्छा होगा। गुरुजी मेरी राय को मान गये, तो भी जिन लोगों के स्वार्थ पर धक्का लगता था, वह बराबर उल्टा समझाने की कोशिश करते रहे—'महाराजजी, ठीका दे देने पर अपनी ही जमींदारी में आप पराये हो जायेंगे। इतना जुरमाना, फ़रमाइश हुकूमत की आमदनी ठीकेदार ही को न मिलेगी…।' पटवारी ने सालों से कागज तैयार नहीं किया था, उसका तैयार करना भी आसान काम नहीं था। उसी में महीनों लग गये, और जब ठीके के कागज की रजिस्ट्री हो गई, तो मुझे एक भार-सा हल्का होता दिखाई पड़ा।

रात को मन्दिर की आरती-पूजा और भोजन से छुट्टी हो जाने पर और शिष्यों के साथ मैं भी गुरुजी का चरण दाबने जाता था। यह वक्त था, जबकि गुरुजी अपनी तीर्थ-यात्राओं, अपनी सुनी हुई कथाओं और मठ तथा सम्प्रदाय के मौखिक इतिहास को बतलाते थे।

परसादीराम की गुरु परम्परा पीछे जाती हुई शाहजहाँ–औरंगजेब के समकालीन सन्त धरणीदास तक पहुँचती है। वह एक अच्छे सन्त कवि हो गये हैं। परसादीराम के बाद रामसेवकदासजी महन्त हुए। इन्हीं के जमाने में सारन जिला कम्पनी के अधिकार में गया। रामसेवकदास के शिष्य रामचरणदास कुछ दिनों अंग्रेजी पल्टन में सिपाही थे। गुरु के मरने पर उनके पुत्र लक्ष्मीनारायण महन्ती के दावीदार थे। हथुआ के बाबू छत्रधारीशाही, जो पीछे अपनी सेवाओं के कारण महाराज छत्रधारीशाही (वर्तमान हथुआ राजवंश के पूर्वज) बने, उनकी पीठ पर थे। हथुआ राज्य की ओर से झरही के किनारे–रामनगर आदि पाँच गाँव परसा मठ को मिले थे, इसलिए मठ के उत्तराधिकार के प्रश्न पर मेरा भी बोलने का अधिकार है, यह उनका कहना था। दूसरे पक्ष ने–जिसमें परसा के बाबू लोग शामिल थे–श्री रामचरणदास को कह-सुनकर परसा ले आ, उनकी ओर से महन्ती का दावा दायर किया। लड़ाई बहुत दिनों तक होती रही, अन्त में रामचरणदास की जीत हुई, और परसा मठ गृहस्थ के घर के रूप में परिणत होने से बच गया। इसी मुकदमे में बहरौलीवाली बादशाही माफ़ी की सनद, अदालत में जमा हो गई, और दायमी बन्दोबस्त के दुबारे सर्वे में पेश न कर सकने के कारण बहरौली पर सरकारी मालगुजारी बँध गई, जो आस-पास की शरह से ज्यादा थी। रामचरणदास के महन्त होने पर बाबू छत्रधारीशाही ने अपने राज की ओर से दिये गये पाँचों गाँवों को परसा से लौटा लिया।

सन् सत्तावन के गदर में विदेशी शासकों के खिलाफ़ देश के विरोध को देखकर रामचरणदास के बूढ़े शरीर में भी एक बार सिपाही-खून जोश मारने लगा। उन्होंने परसा के ठठेरों को बुलाकर तोप ढालने की सलाह शुरू की। गढ़ के बाबुओं ने बहुत हाथ-वाथ जोड़कर उन्हें वैसा करने से रोका। बाबा रामचरणदास बड़े दीर्घजीवी रहे, कहते हैं वह सौ वर्ष से ऊपर तक जिये, और उनके दाँत फिर से निकल आये थे। दान देने में भी वह बड़े मशहूर थे। सामने जो कुछ आता उसे देने में संकोच नहीं करते। मठ का कारबार छोटे महन्त श्रीरघुवरदास ने सँभाला था, उस वक्त मठ के हाथी को दान हो जाने के भय से परसा मठ पर आने नहीं पाता था।

हमारे गुरुजी के गुरु श्री रघुवरदासजी में कोई खास विशेषता न थी, सिवाय इसके कि वह अपने मठ की सम्पत्ति का अच्छा इन्तिजाम कर लेते थे। इन्तिजाम करने के लिए मठ का एक और अधिकार था जिसे 'अधिकारीजी', कहा भी जाता था। वस्तुतः अंग्रेजी राज्य में–हर तरह की सम्पत्ति पर व्यक्ति का निस्सीम अधिकार–इस एक ही लाठी से सबको हाँककर मठ की सम्पत्ति पर व्यक्ति का एकाधिकार जिस तरह कायम कर दिया वैसा पहिले था भी नहीं। पहिले महन्त को मनमानी करने से रोकने का अधिकारी को अधिकार था, और महन्त पर दूसरे साधुओं, गृहस्थों तथा सम्प्रदाय के मंडल का अधिकार होता था। परसा में मेरे आने से पहिले ही अधिकारी का स्थान रिक्त हो गया था, और गुरुजी अपने स्वातन्त्र्य में बाधक समझ अभी उसकी स्थापना के बारे में सोच भी नहीं रहे थे।

परसा का मठ किसी समय कइल के मठ से निकला था। उसके संस्थापक केवलराम के उत्तराधिकारी गृहस्थ हो गये, और आज उस मठ में उन्हीं की सन्तान गृहस्थ वैरागी के तौर पर रहती है। केवलराम के गुरु माझी के धरणीदास थे, यह बतला चुके हैं। इस प्रकार परसा मठ का नम्बर माँझी और कइल के पीछे पड़ता है, किन्तु वैरागी जगत् में परसा ही का नाम ज्यादा प्रसिद्ध है, उसकी वजह यही है कि परसादीराम की शिष्यपरम्परा ज्यादा बढ़ी, और पिछली दो शताब्दियों में वह युक्तप्रान्त और बिहार ही नहीं पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल तक फैल गई। उसकी शाखा-मठों की संख्या आज सैकड़ों है। उस वक्त गुरुजी इन मठों के नाम तथा उसके संस्थापकों की विशेषताएँ बतलाते। वह खुद भी बहुत घूमे हुए थे। साथ ही कभी-कभी उन मठों के साधु मूलस्थान को देखने परसा आया करते थे, उनसे भी बातें मालूम होती थीं।

यद्यपि वह नहीं चाहते थे, कि मैं परसा से जाऊँ, तो भी वह आपबीती से जानते थे, कि मैं किसी वक्त चला भी जा सकता हूँ; इसलिए 'करम-धरम' (साम्प्रदायिक चाल-व्यवहार) सिखलाने में बड़ी तत्परता दिखलाते थे। 'रामपटल' और 'रामपद्धति'–की छोटी-छोटी पोथियाँ मेरे हाथ में थमा दी गई थीं, और रोज आग्रह होता था–'इसमें से धाम-क्षेत्र पंच-संस्कार याद कर डालो।' वेदान्त और भगवती के महामन्त्र की सिद्धि की जिस पर मार पड़ चुकी हो, उसे आर्य समाज की छींट न पड़ने पर भी, ये पटल-पद्धतियाँ खिलवाड़-सी थीं; तो भी अब उन्हें देखना तो

जरूरी था। इसमें शक नहीं कि, धर्म और वैराग्य की खोज में मैं परसा नहीं आया था, मैं वहाँ आया था शास्त्र और संसार के विषय में विस्तृत ज्ञान के सुभीते के खयाल से। परसा में एक दिन एक पंडित से मेरी बहस होने लगी, अद्वैत वेदान्त का पक्ष ले मैं बोल रहा था। गुरुजी को वेदान्त के सूक्ष्म सिद्धान्तों से क्या मतलब ! तो भी वह यह जानते थे, कि अद्वैत वेदान्त शंकराचार्य की चीज है, इसीलिए मुझसे कहा—यह हमारे सम्प्रदाय का सिद्धान्त नहीं है। मुझे यह भी एक नई-सी बात मालूम हुई, क्योंकि मैं रामानन्द के शिष्य कबीर तथा रामानन्दीय तुलसीदास को अद्वैत वेदान्त का प्रेमी मानता था।

'पंचसंस्कार' की सोलहो आना जाली 'श्रुतियाँ' तो मुझे असह्य-सी मालूम होती थीं, क्योंकि रुद्री और यजुर्वेद के बहुत से अध्यायों को स्वरसहित पढ़ा होने से मैं पहचानता था, कि वेद के मन्त्रों की भाषा कैसी होती है। किसी नये मठ या साधु के पास जाने पर, उसके असली-नकली पहचान के लिए धाम-क्षेत्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते हैं। गुरुजी ने उसके कुछ प्रश्नोत्तर मुझे निम्न प्रकार बतलाए—

"कौन स्थान है महात्मा !"

"परसा।"

"आपके गुरु महाराज का नाम क्या है ?"

"श्री श्री श्री लक्ष्मणदासजी महाराज।"

"कौन अखाड़ा है ?"

"दिगम्बर।"

"कौन द्वारा है ?"

"सुरसुरानन्द।"

आमतौर से यही प्रश्न काफ़ी होते हैं। धामक्षेत्र में वैष्णवों के चारों संघ-बद्ध सम्प्रदायों के अलग-अलग 'अयोध्या धर्मशाला, चित्रकूट सुखविलास' आदि सूची दी गई है। पाँच-सात बार के कहने पर भी मुझे उन सूचियों को रटते न देख गुरुजी ने चेतावनी देते हुए कहा—'यदि याद नहीं करे रहोगे, तो बालाजी (तिरुपती) में पंघत (पंक्ति) से साधु उठा देंगे।'

मैंने उत्तर दिया—"पंघत में बैठने की नौबत आने से पहिले मुझे सारे धाम-क्षेत्र, पंच-संस्कार याद हो गये रहेंगे।"

आजमगढ़ और छपरा के जिलों के बीच में सिर्फ बलिया या गोरखपुर में से एक जिले का अन्तर है। उन दोनों की भाषा भोजपुरी है, और आजमगढ़ के कुछ थानों में तो उसकी उपशाखा वही मल्ली बोली जाती है जो छपरा में। यद्यपि कनैला और पन्दहा दोनों की भाषा काशिका (बनारसी) उपशाखा के भीतर पड़ती थी, और इस प्रकार छपरा की भाषा से अन्तर था। इसी तरह कितने ही ग्रामीण आचारों और पूजा-प्रकारों में भी अन्तर दिखलाई पड़ता था। इसी तरह कितने ही ग्रामीण आचारों और पूजा-प्रकारों में भी अन्तर दिखलाई पड़ता था। जब पहिली बार बहरौली में मुझसे कहा गया—आज छठ का पर्व (कार्तिक शुक्ला षष्ठी सूर्य पूजा) है, तो मुझे यह नहीं मालूम हो सका, कि आज हिन्दू-घर रात को कई घंटों के लिए स्त्रियों से शून्य हो जायेंगे। औरतों की बटगायनों में भी मुझे कनैला-पन्दहा से यहाँ फरक मालूम होता था। मेरे लिए यह भी तअज्जुब की बात थी, कि खासतौर से पहिले से इन्तिजाम न करने पर बहरौली जैसे बड़े गाँव में भी अरवा चावल—वैष्णव साधु उसी को खा सकते थे—नहीं मिल सकता; घर-गाँव, हाट-बाजार सभी जगह लोग 'उसिना' चावल (उबले धान का चावल) खाने के आदी हैं।

मठ के साधुओं के साथ मेरा बरताव सदा सहृदयता का रहता था। ज्ञानप्राप्ति में सहायता के सिवाय मठ के अधिकार को मैं और किन्हीं अर्थों में नहीं लेता था। यद्यपि भविष्य की रूपरेखा मेरे सामने साकार नहीं थी, तो भी उस वक्त भी मुझे मालूम होता था, कि परसा मेरा 'अथ' और 'इति' नहीं होगा। मठ में साधुओं की संख्या 15, 16 के करीब रहती थी। मैं उन दिनों की बात बड़ी ईर्ष्या से सुनता था, जब परसा मठ की 'पंघत' में सौ

से कम साधु नहीं बैठते थे। मेरे गुरुभाइयों में श्री सीतारामदास शुरू ही से मेरे स्नेह के भाजन रहे। एक और तरुण गुरुभाई–जो थोड़ी-सी लघुकौमुदी भी पढ़े थे–से तो इतना स्नेह हो गया था, कि जब पहिली लम्बी यात्रा से लौटकर आने के बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका देहान्त हो गया, तो इसका मुझे बहुत दिनों तक अफ़सोस रहा। मेरी कोठरी के बाहर मौनी बाबा का आसन था। वह भी परसा मठ के हितैषी सरल साधुओं में से थे। वह कभी नहीं बोलते थे, किन्तु अँगुलियों और आँख के इशारे से सभी बातें समझा देते थे, और स्लेट पेन्सिल की बहुत कम जरूरत पड़ती थी। महन्तजी का उन पर बहुत विश्वास था। वह भी मठ के कुप्रबन्ध से बहुत दुःखित थे, किन्तु करते क्या ? मठ के स्थायी साधुओं में सूरदास और माधवदास दो भाई थे। सूरदास–यह नेत्रहीन होने के कारण उनका नाम पड़ा–समझदार थे, किन्तु उनके भाई माधवदास आठ वर्ष के बच्चे के बराबर बुद्धि रखते थे। तरुण लड़के और छोटे-बड़े मठवासियों के लिए वह मनोरंजन की एक सामग्री थे। भात बनाने के बड़े बरतन उन्हें मलने के लिए दे दिये जाते और कहा जाता–माधवदास जाओ आज से तुम "टोकना" (देग) के महन्त बना दिये गये। मजाक समझ जाने पर भी वह नाराज नहीं, खुश होते। सुदर्शनदास की कथा बड़ी मनोरंजक है। सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र में वह महन्तजी से शिष्य होने आये थे। दालान में सोये हुए थे। एक दूसरे साधु को बात मालूम हो गई, उसने तुलसी की कंठी ले धीरे से गले में बाँध दी, जिस वक्त वह कान में मन्तर फूँक रहे थे, उस वक्त नींद खुली। अब क्या करते ? चेला तो बन चुके थे, अन्त में वही सम्बन्ध स्थायी बन गया। एक आधा-पागल साधु गंगादास (?) हमेशा अस्तबल में रहता। देग मलने का काम उससे लिया जाता। नहाते उसे कभी किसी ने नहीं देखा। जिस पुआल और चटाई पर सोता, उसे कभी बदलता नहीं था। एकाध बार उसके बदन से दबकर मरे साँप बिस्तरे के नीचे पड़े मिले। इतना होने पर भी पैसा जमा करने में उस्ताद था। परसा से एकमा जानेवाली सड़क पर, प्रायः आधी दूर बरगद के नीचे एक बिना गचका कुआँ था। वह लोटा-डोर लेकर आने-जानेवालों को पानी पिलाता। बंगाल से लौटनेवाले कितने ही मुसाफिर एकमा स्टेशन से उतर इसी रास्ते लौटते। पानी पिलाकर बड़े मधुर स्वर में कहता–'भैयाजी ! और सर्धा तो पूरी हो गई। रामजी की दया से कुआँ भी बँध गया, अब इसकी मन को पक्का कर देने की सर्धा और बाकी है। जो आना-दो आना, पैसा-दो पैसा बन सके, धरम के काम में मदद करें।' और उसे पैसे मिल जाते थे। लोग समझते थे, इसी साधु ने कुआँ बनवाया है।

साधुओं में पढ़ने-लिखने का अभाव था, और उसके लिए प्रोत्साहन भी नहीं दिया जाता था। वहाँ चाहिए थे ऐसे साधु, जिनके पास कम से कम दिमागी सम्पत्ति हो। जो बर्तन मल सकें, झाड़ू दे सकें, खाना बना सकें, हजारों छोटे-मोटे शालिग्रामों को 'नहला' (धो) कर उन पर थोड़ा-थोड़ा चन्दन और एक-एक तुलसी का पत्ता डाल सकें, राम-लक्ष्मण-सीता, या राधा-गोपाल की मूर्तियों के समय-समय पर नया कपड़ा बदल सकें, आरती दिखला सकें, तथा सबेरे झाल-ढोलक लेकर वे सुर-ताल के भजन गा सकें, और रात को दूकान से छुट्टी पाकर आये बनिया भगतों के साथ मिलकर रामायण के संगायन के नाम पर खूब गला फाड़ सकें। इससे ऊपर यदि किन्हीं की जरूरत थी, तो महन्तजी के लिए एक 'हजूरिया' (साधु खिदमतगार), एक भंडारी (भंडार के सामान को देने-लेनेवाला) की, जिनमें कुछ साक्षरता हो तो अच्छी बात। शरीर से कुछ काम कर देना, दोनों शाम खा लेना, और समय बचे तो कुछ गला फाड़ लेना या गप्पें उड़ाना बस यही वहाँ के साधुओं की दिनचर्या थी–वहीं क्यों दूसरे वैरागी मठ भी इससे बेहतर हालत में नहीं थे।

हमारे नौकरों में कोचवान नकछेदी थे, जिनका लड़का रामदास मेरा अपना खिदमतगार था। नकछेदी बहुत सीधे-सादे बूढ़े आदमी थे। गुरुजी के उस वक्त के खिदमतगार ढुन्मुन के बाप और नकछेदी से जब भेंट हो जाती, तो मजा आ जाता। ढुन्मुन के बाप चुपके से बिना बताये गोली दागने की तरह नकछेदी के पास जाकर हाथ धरती की तरफ़ बढ़ा बोलते,–"पान (पाव) लगी, नकछेदी भाई !" "पान ल··· अरे यह क्या बड़ा भाई छोटे भाई को कहीं 'पान' लगता है ?"

"बड़े भाई तुम ही हो न ?"

"कहने से हो जायँगे ?"

"तो किसी को पंच बद लें ?"

"पंच बदने की क्या जरूरत ? (नकछेदी राउत को पास-पड़ोस में किसी की ईमानदारी पर विश्वास नहीं था) वह तो दोनों का चेहरा ही देखने से मालूम हो जायेगा।"

"बाल की कम-बेशी सफ़ेदी से उमर नहीं पहिचानी जाती ?"

"तो चमड़े की झुर्रियों से ?"

"हाँ", फिर सन्देह में पड़कर "नहीं, सारा गाँव जानता है, कौन बड़ा कौन छोटा है।"

"तो नकछेदी भाई ! और किसी को पंच नहीं मानते, तो भौजी (भाभी) को ही पंच मान लें, वह जिसको छोटा कहें वही छोटा।"

"हूँ" हँसी को ओठों से बाहर न जाने के लिए पूरा प्रयत्न करते हुए "भसुर (बड़े भाई) के सामने भवेह (छोटे भाई की स्त्री) कैसे आयेगी ?"

"भावज को भवेह मत बनाओ, नकछेदी भाई !"

नकछेदी पूरी कोशिश करते, किन्तु ढुन्मुन के बाप की बहस तथा पंचों का रुख उनके ख़िलाफ़ जाता।

मेरे लिए परसा का निवास बौद्धिक अनशन था। किस तरह के समाज में रहना पड़ता था, इसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर करा चुका। इसके अतिरिक्त यदि कोई थे, तो खुशामदी जीहुज़ूरिए। उनकी बातों को सुनने से मालूम होता था, मठ और उसके भगवान के वे कितने अनन्य भक्त हैं, किन्तु मौका पाते ही उन्हें आँख में धूल झोंकते देर न लगती थी। बड़ा घोड़ा बग्घी में चलता था, जिसकी आवश्यकता गुरुजी को भी रहा करती थी, इसलिए चैत में, डुमरसन के मेले से मैंने सवारी के लिए एक घोड़ा खरीदना चाहा। मैंने अपने जान एक विश्वसनीय आदमी को दाम ठीक करने में मदद देने के लिए चुना। सवा सौ रुपये में घोड़ा लिया गया, लेकिन पीछे मालूम हुआ, घोड़ा पचहत्तर से ज्यादा का कभी नहीं हो सकता। वह सारा वायुमंडल सड़ाँद से भरा मालूम होता था। मेरा वह समय अच्छा गुजरता, जबकि 'सरस्वती' के नये आये अंक को या किसी और नई पुस्तक को पढ़ता। उस समय हिन्दी-साहित्य आरम्भिक अवस्था में भी था। पूजा-पाठ की तरफ़ मेरा मन न लगता था। सबेरे स्नान करके कोठरी में जाता। लोग समझते 'पुजारीजी' पूजा-पाठ में लगे हैं, और यहाँ पुजारीजी दर्वाजा बन्द कर बिस्तरे पर खूब पैर फैला लेटे हुए हैं, अथवा कोई उपन्यास या 'सरस्वती' का अंक पढ़ रहे हैं। मन्दिर के पुजारी दूसरे ही थे, किन्तु यदि कभी मेरे मत्थे पड़ा, तो पाँच मन शालिग्रामों को बड़े थाल में दो-दो घड़े पानी से एक-एक करके धोना मेरे बस की बात न थी। सौभाग्य से स्नान-शृंगार के वक्त मन्दिर के दर्वाजे से पर्दा लटकता रहता था। उस वक्त मैं एक-एक को अलग धोने की जगह अंजली की अंजली पानी में डुबोकर रखता जाता। यदि कपड़ा मजबूत होता, और मैं अपने दोनों हाथों से सारी ढेरी को उठा सकता, तो एक ही बार डुबो के रख देता। श्रद्धा के साथ अत्याचार करने का यही नतीजा होता है। अभी तक मैं आर्यसमाज के मूर्तिविरोधी प्रभाव में नहीं आया था, तो भी मेरे लिए शालिग्राम के वह काले-काले गोल-मटोल चिकने पत्थर निरे पत्थर थे। बेगार की तरह उन पर चन्दन और तुलसीदल भी डाल देता। जल्दी पर्दा हटा देने पर डर था सन्देह होने का, इसलिए भीतर ही बैठा एक शालिग्राम को दूसरे से लड़ाया करता।

परसा में यदि किसी आदमी से मिलने में मुझे प्रसन्नता होती, तो देवरिया (डेवढ़िया) के ओझाजी थे। सिद्धान्तकौमुदी (व्याकरण) के कितने ही भाग को समाप्त कर चुका था, तो भी मुझे रस आता था काव्यशास्त्र के विनोद में। कादम्बरी तो नहीं किन्तु दशकुमार चरित का बहुत-सा अंश मैं पढ़ चुका था; नाटक तो कई, काव्यमाला में छपे भी कितने ही। एक दिन याद है, पंडितराज जगन्नाथ पर हम वार्तालाप कर रहे थे, और शाहजहाँ के इनाम देने की बात कहने पर पंडितराज ने कहा था–

> "न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं, न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
> इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता लवंगी कुरंगीदृगंगीकरोतु।"

आज से तीन सौ ही वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण महान् विद्वान् ने 'यवन' तरुणी से ब्याह किया था, इसका मेरे दिल पर, सामाजिक रूढ़ियों को लेकर, क्या प्रभाव पड़ा था, उसे नहीं कह सकता। वस्तुतः, उस समय मेरे दिल पर सबसे अधिक असर यदि किसी विचारधारा का था, तो वह वेदान्त का, और वेदान्ती व्यवहार में सड़ियल से सड़ियल, सरासर बेवकूफी से भरी, नितान्त परस्पर-विरोधी बातों पर भी विश्वास करने का विधान करते हैं।

10

परसा से पलायन (1913 ई.)

बहरौली के ठीके पर चले जाने से प्रबन्ध का कुछ काम मैंने सम्पादन कर दिया था। इधर बौद्धिक अनशन में भी सब्र का प्याला लब्रेज हो चुका था। अब के लीची-आम-कटहल के फल खूब डटकर खाये, और उनकी फ़सलें भी समाप्ति पर पहुँच गई थीं। गुरुजी से मद्रास और बम्बई प्रान्त के तीर्थों और वहाँ के वैरागी स्थानों के बारे में भी काफी सुन चुका था। पढ़ने की इच्छा तो प्रबल हो ही रही थी, साथ ही बाजन्दा ने भी दिन-रात रट लगानी शुरू की–

"सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िन्दगानी फिर कहाँ
ज़िन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ।"

किसी को मन की बात बतलाना, यहाँ भी कनैला की भाँति ही नीति के विरुद्ध था, गुरुजी की ओर से जरूर बाधा पहुँचाई जाती। मैंने मन्दिर बनानेवाले बड़े मिस्त्री महावीरराम–जो बनारस के होने से मेरे ज्यादा विश्वास-भाजन थे–से तीन रुपये लिये, और रात को ट्रेन से थोड़ा ही पहिले जा एकमा पहुँचकर गाड़ी पकड़ी (जुलाई 1913)। दो-एक संस्कृत पुस्तकें, दो धोतियाँ, दो लंगोटियाँ, गमछा और बिछौने के लिए आलवान का एक पल्ला मात्र मेरे पास था। ज्यादा चीज ले ही कैसे सकता था ? एकमा से हाजीपुर का टिकट खरीदा।

हाजीपुर में सबसे पहिले जरूरत पड़ी लोटे की। लोटे के बिना किसी साधु के स्थान पर जा कैसे सकता–तुरन्त कह बैठता, लोटे बिना यह साधु अपना 'करम-धरम' कैसे निबाहता है ? आठ आने में पीतल का बंगाली लोटा लिया–पैसे को कम से कम खर्च करना जो था। यह पहिली बार रमते साधु के तौर पर मुझे किसी स्थान में जाना पड़ा, इसलिए परीक्षा में उपस्थित होनेवाले विद्यार्थी की तरह दिल में धकधकी हो रही थी। 'अखाड़ा-द्वारा' तो खैर याद ही था। रात को रेल की बत्ती के सहारे मैंने 'धामक्षेत्र', 'पंचसंस्कार' के भी कितने ही अंशों को रट लिया था–कहीं कोई पूछ न बैठे। रामचौरा मठ में गया। किन्तु वहाँ परसा स्थान-भर बतलाने की जरूरत पड़ी, बाकी मेरा भव्य वेश बतला देता था।

परसा से प्रस्थान करते वक्त यह तो निश्चय कर लिया था, कि अब के मद्रास की ओर चलना है, किन्तु कैसे, यह तै नहीं कर पाया था। जब निश्चय किया, कि रेल के लिए पैसा भी नहीं है, और पैसा होने पर भी पैदल ही चलना उत्तम। पिछली बार तो मैं कनैला से मुरादाबाद तक सर्पगति से मार्ग की सारी भूमि को स्पर्श करते गया था, अब के मंडूक-प्लुति (मेंढक-कुदान) कर रहा था। हाजीपुर में मैं एक-दो दिन रह रेल से बरौनी पहुँचा। शाम होने को आयी थी, मैं स्टेशन से पश्चिमवाले नजदीक के गाँव में गया। संस्कृत-भाषण के भरोसे समझ रहा था, किसी संस्कृतज्ञ के यहाँ रात-भर को शरण मिल ही जावेगी। किन्तु, वहाँ जिस ब्राह्मण देवता से मुलाकात हुई, उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं वैरागी हूँ, तो उनका मुँह बिगड़ गया। अवहेलनापूर्वक एक चौपाल की-सी जगह बतला दी। मैं क्या-क्या विचारता वहाँ जाकर सो रहा।

सबेरे घाट की गाड़ी पकड़, गंगा पार हो रेल द्वारा लखीसराय पहुँचा। पूछने पर साधु के स्थान का पता लग गया, और सड़क से दाहिनी ओर के मुहल्ले में उस छोटी-सी ठाकुरबाड़ी में पहुँचा। वहाँ सिर्फ़ एक मूर्त्ति साधु

थे। अच्छी तरह आसन लगवाया। उनके मधुर वार्तालाप से चन्द ही मिनटों में मालूम हुआ, कि मैं किसी अपरिचित स्थान में नहीं हूँ। तीन रुपये की पूँजी खतम होने जा रही थी, इसलिए यहाँ से आगे पैदल चलने की सोच रहा था। रास्ते के बारे में जब स्थानीय महात्मा से पूछा, तो उन्होंने कहा—आगे बैजनाथ का जंगल आयेगा; इसमें चोर-डाकू लगते हैं, आपके पास कुछ है या नहीं यह वे क्या जानेंगे; पहिले विषबुझा उनका तीर आपको लग जायेगा, फिर आकर टटोलेंगे। अन्त में उनकी सलाह से मैंने यही तै किया कि आसनसोल तक के रास्ते को रेल से पार कर लिया जावे, जिसमें जंगल भी खतम हो जावे, फिर पैदल चला जायेगा।

नदी पार क्यूल में गाड़ी पकड़नी थी। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ, गाड़ी में कुछ देर है। एक मुसल्मान टिकट-कलेक्टर से पूछताछ करने लगा। उन्होंने बड़ी नम्रता से सब बतलाया, और साथ ही मेरे बैठने के लिए कुर्सी मँगवाकर रख दी, खाने-पीने का आग्रह करने लगे। पहिले मुझे समझ में नहीं आया, क्यों वह इतना अधिक सम्मान प्रदर्शन कर रहे हैं। मेरे बदन पर शान्तिपुरी पाढ़ की सफ़ेद नफ़ीस धोती सादगी के साथ अँचले के रूप में बँधी थी। बदन पर दूसरा कुर्ता आदि कुछ नहीं था। हाथ और पैर का बहुत-सा भाग खुला था। दूसरी धोती में पुस्तक लँगोटी में लिपटी बाँधी थी। कन्धे पर, शायद, साफ़ पतला गमछा था। शिर और पैर नंगे थे। अच्छा खाने-पीने तथा घोड़े की सवारी करते रहने से शरीर मांसल और दृढ़ मालूम होता था, ऊपर से सुगन्धित तिल के तेल की रोजाना मालिश ने चमड़े को स्निग्ध और छायावास ने उसे शुभ्र बना दिया था। क्या इस आकृति ने टिकट-कलेक्टर पर प्रभाव डाला था ? कुछ जरूर, किन्तु अधिक असर मेरी भाषा का पड़ रहा था। शायद टिकट-कलेक्टर युक्तप्रांत के रहनेवाले थे, मेरी उर्दू तथा उसके परिष्कृत उच्चारण से वह ज्यादा प्रभावित हुए थे।

ट्रेन आयी। बहुत से कम्पार्टमेंट खाली थे। मैं एक कम्पार्ट में, टिकट-कलेक्टर से कृतज्ञता प्रकट करते हुए चढ़ने जा रहा था, कि बगल के कम्पार्टमेंट में बैठे एक सज्जन बोल उठे—'इसी कम्पार्टमेंट में आइए महाराज !' मैं उसमें चला गया। टिकट-कलेक्टर से 'आदाब' हुआ, कुछ मिनटों में गाड़ी चल पड़ी।

हमारे कम्पार्टमेंट के दूसरे साथी ने बात शुरू की। स्थान पूछने पर परसा बतला दिया, व्यवसाय तो साधु था ही। कहाँ जा रहे हैं ?—जहाँ सींग समाये, लेकिन अभी आसनसोल तक। उनके बारे में पूछने पर ज्ञात हुआ, वह बाढ़ के वकील युगेश्वरीशरण (?) कचहरी की छुट्टियों में पुरी, रामेश्वर और शायद द्वारिका के भी दर्शन के लिए निकले हैं। प्रारम्भिक परिचय के समाप्त होने के बाद उनका सबसे ज्यादा आग्रह था, आसनसोल में न उतरकर, सीधे उनके साथ चलने का। मैं पैदल चलने का पक्षपाती था, रेल के डब्बे में बन्द होकर एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाने में मुझे कोई मजा नहीं मालूम होता था। वकील साहेब के संभ्रान्त व्यवहार को देखते अन्त में उनके आग्रह को अस्वीकार करने में मैं समर्थ नहीं हुआ। तै हुआ, मेरे खाने-पीने का प्रबन्ध वकील साहेब करेंगे, और रेल की सवारी बिना टिकट।

आसनसोल, आद्रा और खड्गपुर में ट्रेन बदलनी पड़ी। बिना टिकट कैसे हम बचकर नई ट्रेन पकड़ सके, इसकी कोई बात याद नहीं है। शायद किसी टिकट-कलेक्टर से सामना नहीं पड़ा, एक जगह तो पुल से न जाकर लाईन ही पार कर हम दूसरे प्लेटफ़ार्म पर चले गये। खुर्दा से पुरी तक का टिकट ले लिया गया था। यहीं से किसी पंडे का आदमी भी साथ हो लिया। स्टेशन से घोड़ा-गाड़ी पर चढ़ हम पंडा के घर पहुँचे। कोठे पर एक अच्छी साफ़-सुथरी कोठरी हमको मिली।

सत्ताईस वर्ष पहिले उस वक्त पुरी के किस-किस हिस्से को मैंने किस रूप में देखा, यह तो पूरा मुझे याद नहीं। जगन्नाथ के मन्दिर के ऊपर की अश्लील मूर्त्तियाँ तो हम दोनों को नापसन्द आईं। जगन्नाथ के दर्शन में बदरीनारायण की भाँति ही मुझे कोई विशेष प्रभावोत्पादक बात नहीं मालूम हुई। एक बार हम लोग समुद्र में स्नान करने भी गये थे। दो या तीन दिन पुरी में रहे। रोज एक शाम जगन्नाथ का प्रसाद—'हटका'—चला आता था। चलते वक्त पंडा ने अपनी बही या रजिस्टर सम्मति लिखने के लिए वकील साहेब के पास भेजी, उन्होंने अंग्रेजी में अपनी बहुत बुरी सम्मति लिख दी। न जाने क्यों, मुझे यह बात पसन्द न आई। पंडे इतनी खातिर और आराम के साथ रखकर, कुछ दक्षिणा की आशा रखते हैं, तो कौन-सा बुरा करते हैं।

मैंने पुरी तक ही रेल से चलने की बात स्वीकार की थी। अब मैंने यहाँ से पैदल यात्रा शुरू करने की बात

कही। वकील साहेब बहुत प्रार्थना करने लगे, और संकोच के मारे मैं फिर नहीं न कर सका, यद्यपि समझ रहा था, कि मैं कितना पर्यटन के आनन्द से वंचित किया जा रहा हूँ।

खुर्दा से दो-चार ही स्टेशन आगे तक का मेरे लिए टिकट लिया गया था। अब की हम लोग मद्रास-मेल में बैठे थे। एक ही ट्रेन में तीस घंटे से ज्यादा चलना पड़ा होगा, और एकाध बार टिकट-चेकर जरूर आया होगा, किन्तु याद नहीं कैसे पिंड छूटा। यदि ट्रेन से उतार देता तो मुझे बड़ी खुशी होती। रास्ते के दृश्य बिहार और युक्तप्रान्त से बिलकुल भिन्न थे। चिल्का झील को भूगोल में पढ़ा था, किन्तु अब उसे प्रत्यक्ष आँखों के सामने देख रहा था। उसकी मछुवे की नावें और उन पर के पाल बलात् मेरे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे, मैं उनमें सत्यनारायण की कथा में आये साधु बनिये के व्यापारी जहाजियों को देख रहा था। पास ही छोटे-छोटे पहाड़, लाल जमीन, दूर तक फैले धान के खेत थे। स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा से मालूम होता था कि मैं किसी दूसरे द्वीप में जा रहा हूँ, विशेषकर आन्ध्र-स्त्रियों में किसी-किसी की चार-चार जगह छिदी नाक–दोनों नथुने, नासिकान्त और विभाजक दंड। जितना ही आगे बढ़ता जाता लोगों का रंग अधिक साँवला तथा काला और उसी के साथ काया खर्व होती जाती थी।

मद्रास हम लोग सबेरे नौ या दस बजे पहुँचे थे। बिना किसी दिक्कत के वकील साहेब के साथ में 'छत्रम्' (धर्मशाला) में पहुँचा। छत्रम् रेल की सड़क पार करके पड़ता था। अब यहाँ से दूसरी ट्रेन से रामेश्वर जाना था, जो रात को दूसरे स्टेशन से जाती थी। दिन में हमने घूमकर मद्रास शहर के कुछ हिस्सों को देखा। वहाँ के अधिकांश एकतल्ले मकानों को देखकर मालूम नहीं होता था, कि हम भारत के तीसरे बड़े शहर में घूम रहे हैं। स्त्रियों की तेज रंग की चारखानेवाली साड़ियाँ तथा नंगे शिर ने मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था,–यहाँ परदा के लिए कितनी बेपरवाही है। आठ-दस घंटे ठहरने को मिले थे, किन्तु उनको भी शहर को अच्छी तरह देखने में वकील साहेब ने नहीं खर्च किया। मुझे अब और आगे रेल से चलना असह्य मालूम हो रहा था, किन्तु साफ़ इनकार करने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। इतने दिनों तक साथ-साथ रहने से वैसा करने में बड़ी बेमुरब्बती मालूम होती थी।

शाम को नौ या दस बजे डाक छूटनेवाली थी। सैदापट का टिकट लेकर मैं भी वकील साहेब के साथ बैठा। एक कदम भी रेल से आगे जाना नागवार गुजर रहा था, किन्तु मानसिक परवशता–मुरव्वत के बन्धन को तोड़ने की हिम्मत नहीं थी। सिर्फ़ एक आशा थी टिकट-चेकर पर, यदि वह आ जाये, तो उतरने का नाम लेते ही, मैं इतना दूर चला जाऊँगा, कि फिर वकील साहेब नहीं पा सकेंगे। मैं धड़कते दिल से ट्रेन खुलने की प्रतीक्षा कर रहा था, और जब टिकट-चेकर को ट्रेन के डब्बों के बीच-बीच से आर-पार गये रास्ते में आते देखा, तो चित्त में कुछ प्रसन्नता हुई। टिकट-चेकर ने मेरे टिकट को देखते ही अंग्रेजी में कहा–"उतरो, यह ट्रेन सैदापट में नहीं खड़ी होती।" मैं दर्वाजे की तरफ़ बढ़ा, वकील साहेब 'जरा रुकिए' कहकर कुछ बहस करने लगे। बहस के परिणाम को सुनने की मुझे ख्वाहिश नहीं थी; मैं दर्वाजे से तुरन्त प्लेटफार्म पर और फिर वकील साहेब की नजर से ओझल।

मालूम हुआ, सैदापट में खड़ी होनेवाली गाड़ी दूसरे प्लेटफ़ार्म पर है। रात के दस या ग्यारह बज रहे थे, जब मैं सैदापट स्टेशन पर उतरा। गुरुजी कहा करते थें, कि मद्रास में यात्रियों के ठहरने के लिए जगह-जगह 'छत्रम्' बने हैं, जिनमें से अधिकांश में सदावर्त भी मिलती है। रात को सदावर्त से तो मुझे मतलब नहीं था, किन्तु छत्रम् की जरूरत थी, रात को रहने के लिए भी, और साथ ही आसपास के तीर्थों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए भी। स्टेशन से बाहर निकलते ही एक लड़का मिला। मैंने अंग्रेजी में 'छत्रम् कहाँ है' पूछा। उसने कहा–'मैं उधर ही जा रहा हूँ, चले आइए।' मैं अंग्रेजी में ही बातचीत करता जा रहा था। आगे किसी परिचित व्यक्ति से उसने हिन्दुस्तानी में बातचीत की। मेरे पूछने पर लड़के ने कहा–हम इधर के मुसल्मान हिन्दुस्तानी भाषा में ही बोलते हैं। उस वक्त मुझे नाना की बात याद आयी। वह कहा करते थे–'तिलंगाना (आन्ध्र) में जब कोई भाषा समझनेवाला नहीं मिलता, तो हम मुसल्मान के बारे में पूछते थे। मुसल्मान जरूर हमारी बोली समझ लेता था।' लड़के ने छत्रम् के दर्वाजे पर मुझे छोड़ दिया। रात को मैं दर्वाजे के बाहर चबूतरे पर सो गया।

सबेरे छत्रम् में किसी से आगे के दर्शनीय स्थान के बारे में नहीं मालूम हो सका। बिना किसी से पूछे सड़क

पकड़कर एक तरफ़ चल पड़ा। कितनी ही दूर पर सड़क की दाहिनी तरफ़ एक बड़ा बँगला देखा, हाते में कुछ दरख्त थे, फूल नहीं, और एक कोने में था एक पक्का कुआँ। मैं कायदे-कानून से परिचित न था, कि किसी के हाते में जाना जुर्म है, विशेषकर कूएँ को तो घर के आँगन में भी होने पर मैं सार्वजनिक सम्पत्ति समझता था। मैंने कूएँ पर जाकर इत्मीनान से पानी भरकर दातुवन की, स्नान किया। तब तक देखा, बँगले के बाहर के दरख्त के नीचे तीन-चार कुर्सियाँ पड़ गई हैं, और उन पर एक तरुण और दो स्त्रियाँ बैठी हैं। स्त्रियाँ उत्तरी भारत की तरह साड़ी पहिने हुई थीं। हाते के भीतर आते वक्त यह नहीं मालूम था, कि बँगले में कौन रहता है। स्नान करते ही वक्त नौकर ने आकर इशारे से मुझे मालिक के बुलावे की खबर दी। वहाँ जाने पर तरुण ने मेरे स्थान आदि के बारे में पूछा और यह भी कि कहाँ जा रहे हैं। उसकी माँ और बहिन भी बात में सम्मिलित हो गईं। उन्होंने खाना खाकर जाने के लिए कहा। वह बेला भी उसी की थी। मैंने दाल, तरकारी का झगड़ा छोड़ा और रोटी को घी-मिश्री से खा लेने में जल्दी समझी। पंजाबिन स्त्री का हाथ हो, और वह छटाँक-दो छटाँक से कम घी की बात चलाये ! एक कटोरी घी की भरी आई। खाना खाया। कोई लाहौर का उर्दू का अखबार था, उसे जरा-सा पढ़ा, और फिर चलने के लिए उठ खड़ा हुआ। तरुण ने आज रह जाने के लिए कहा, किन्तु आज रहने और कल रहने के फेर से मैं अभी-अभी छूटकर आया था। तरुण ने मेरे लिए आस-पास किसी तीर्थ के बारे में नौकरों से पूछा और तिरुमले (?) का नाम मालूम हुआ। 'तिरुमले अंगे', (तिरुमले कहाँ) इतना मैंने तालिम में सीख लिया, और जहाँ कोई आदमी सामने से आता दिखाई पड़ता, उसे दुहरा देता। वह हाथ से इशारा करते हुए 'इंगे पो' (इधर जा) कह देता। शायद तिरुमले तक मुझे सड़क ही से जाना पड़ा था, यद्यपि सड़क कच्ची, और कितने ही चौरस्तों से होकर जाती थी।

तिरुमले में मन्दिर के सामने एक कमलयुक्त सरोवर था। दक्षिण के प्रायः सभी मन्दिर इसी तरह के होते हैं, इसलिए यह उसकी विशेषता नहीं हो सकती थी। हाँ, उसके पास एक छोटा-सा पथरीला पर्वत था, जिस पर मन्दिर नहीं तो एक गोपुर (द्वारशिखर) जरूर था, जिसमें रात के वक्त एक से अधिक लालटेनें उसके दो-तीन तलों पर जलाई जाती थीं। तिरुमले मैं शाम से बहुत पहिले पहुँच चुका था। यहाँ संस्कृत के कारण मुझे बोलने-चालने में कोई दिक्कत नहीं हुई। मन्दिर में दर्शन किया, किसी नवपरिचित व्यक्ति ने मुझे यह भी बतला दिया, कि शाम को मन्दिर की भोजनशाला से पथिकों को दध्योदन मिलता है। दध्योदन है तिल के तेल में मेथी या किसी दूसरी चीज का तड़का देकर छौंका हुआ मट्ठा और भात, खाने में खट्टा नमकीन, अच्छा लगा। पुजारी से यह भी पता लगा, कि यहाँ 'उत्तरार्धीमठम्' भी है। उत्तरार्धीमठम् में शायद एक आचारी और आचारिणी मिले। यद्यपि वैरागी को वह निम्न श्रेणी का जन्तु समझते थे, तो भी वहाँ रात को ठहरने के लिए जगह मिल गई और साथ ही आगे के दर्शनीय स्थानों के बारे में बहुत-सी बातें मालूम हुईं। गुरुजी कहा करते थे, कि दक्खिन में तीर्थस्थानों को 'दिव्यदेश' कहते हैं, उनकी संख्या सैकड़ों हैं, जहाँ पर कि रामानुजाचार्य और दूसरे महात्माओं का वास रहा है। इन उत्तरार्धी (उत्तर भारतीय) आचारी साधु-साधुनियों से पता लगा, कि तमिलप्रान्त के बहुत से दिव्य देशों में उत्तरार्धी साधु रहते हैं। उन्होंने कुछ के नाम भी लिखवा दिये। यह भी मालूम हुआ कि प्रायः हर मन्दिर में दो-चार नवागन्तुक के लिए 'प्रसाद' बँधा हुआ है।

ये 'उत्तरार्धी' आचारी हम वैरागियों को नीची निगाह से देखते थे, किन्तु दक्षिणी गृहस्थ-आचारियों की दृष्टि में उनका भी स्थान वैसा ही था, जैसा उनकी दृष्टि में हमारा। गुस्से में आकर मैंने उत्तरार्धियों को 'वैरागी' कहकर गाली देते भी सुना था। ये 'उत्तरार्धी' सभी दिव्य देशों में कैसे पहुँच गये और स्थानीय ब्राह्मण-पुजारियों के विद्वेषक होते भी कैसे ये अपना अड्डा जमा सके, यह भी एक मनोरंजक बात है। उत्तरीय भारत में साधुओं और उनके मठ को स्त्री-संसर्ग से बिलकुल शून्य रखना आवश्यक माना जाता है, किन्तु इधर इसमें कुछ उदारता थी, इसका कारण ढूँढ़ने पर पता लगा—उत्तरीय भारत के विरक्त आचारियों के भी दक्षिणी आचारी ही आदर्श और पूज्य हैं, और दक्षिणी आचारियों में कोई भूला ही भटका होगा, जो गृहस्थाश्रमी न हो। इस प्रकार मठ में स्त्री का रहना उतना निन्दनीय नहीं समझा जाता, खासकर जब कि स्त्री के बारे में कोई समीपस्थ सम्बन्ध बतलाया जा सकता हो। इन उत्तरार्धियों में से अधिकांश तीर्थ करने के लिए पैसे-कौड़ी बिना छत्रम् का चावल पकाते, तथा मन्दिर

का पुंगल (खिचड़ी)। दध्योदन खाते हुए आये थे। किसी दिव्य देश में पहुँचकर जहाँ-तहाँ से फूल-पत्ता जमाकर "पुष्पकैंकर्य" (फूलों द्वारा सेवा) करने लगे। मद्रास और आसपास के श्रद्धालु अब्राह्मण भक्तों से उनकी कुछ जान-पहिचान बढ़ी। उत्तर भारत में सारे अब्राह्मण तो शूद्र माने नहीं जाते—वहाँ तो ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, अगरवाल आदि पचासों जातियों को भोजन और प्रणाम को छोड़ बिलकुल एक समान माना जाता है, इतना ही नहीं कितनी ही जगह उनके हाथ की कच्ची-पक्की भी चलती है, और यहाँ मद्रास में ब्राह्मण अपने से भिन्न को बहुत नीच 'शूद्र' समझते हैं। उत्तरार्धी ब्राह्मण आदतवश यहाँ अब्राह्मण गृहस्थों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं, जिसका असर पड़ना जरूरी ठहरा। व्यापार, व्यवसाय अब्राह्मण चेट्टी और मुदालियर लोगों के हाथ में है, उत्तरार्धी अपने व्यवहार द्वारा उनका प्रिय हो जाता है, और इस प्रकार पुष्पकैंकर्य के लिए दो-आना चार-आना मासिक चन्दा कई जगहों से उसे मिलने लगता है। स्त्री और बाल-बच्चों का बोझ न होने से ये रुपये जमा होने लगते हैं, और थोड़े ही दिनों में उत्तरार्धी का अपना मकान, अपना बाग, और कभी-कभी काफ़ी जायदाद भी हो जाती है।

तिरुमले में मालूम हुआ, कि यहाँ से कुछ दूर पर पुन्नमले का दिव्य देश है। मैंने रात को तमिल वाक्यों को काफ़ी संख्या में अपने नोटबुक में लिख लिया था। सबेरे रवाना हुआ। रास्ते में सौभाग्य से संस्कृत का जानकार एक तरुण कुछ दूर तक साथी बना, और फिर पूछते-पाछते पुन्नमले पहुँच गया। पुन्नमले काफ़ी बड़ा बाजार है। बस्ती में नारियल के कुछ वृक्ष और बगीचे काफ़ी हैं। यहाँ पहिले उत्तरार्धी मठ में गया। स्वामिनी एक उत्तरार्धिनी आचारिनी थीं, जो बहुत दिनों से इधर रह जाने से तमिल खूब बोलती थीं। वह इधर की आचारी (वैष्णव अय्यंगार) ब्राह्मणियों की तरह लाँग बँधी चारखानेवाली साड़ी पहिने हुए थीं। देखने से मालूम नहीं हो सकता था, कि वह रीवाँ की रहनेवाली हैं। थोड़ा-सा परिचय दे पुस्तक रख मैं मन्दिर में चला गया। यहाँ का मन्दिर तिरुमले से बड़ा था। संस्कृत जाननेवाला मन्दिर में मिल ही जाता था। अपने असह्य जाति-अभिमान के साथ तमिल ब्राह्मणों में यह बात तो जरूर है, कि उनमें शत-प्रति-शत पढ़े हुए लोग हैं। वह कपड़ा-लत्ता, घर-द्वार ज्यादा साफ़ रखते हैं, और बहुत काफ़ी संख्या संस्कृताभिज्ञों की भी उनमें मिलती है। कह नहीं सकता 'पुंगल' मिला या दध्योदन, उसे खाकर मैं उत्तरार्धी मठ में चला आया। उत्तरार्धी मठ में एक आचारी भी थे। पहिले मैं समझता था, यही स्वामी हैं, पीछे यह बात गलत निकली। खैर, उनसे पूछकर आगे के कई दिव्य देशों के नाम और मार्ग के बारे में लिखा; इनमें पहिले आनेवाले थे—पच्चपेरुमाल, तिरुमिशी और तिन्नानूर, पहिले दोनों में उत्तरार्धी आचारी रहते हैं यह भी पता लगा।

पच्चपेरुमाल दूर नहीं था, तो भी अभी प्रतिदिन एक दिव्य देश के दर्शन का नियम गया। पच्चपेरुमाल एक छोटे-से गाँव का छोटा-सा मन्दिर था, किन्तु वह 'छोटा सा मन्दिर' राग-भोग, वस्त्र-आभूषण, वृत्ति-बन्धन में हमारे यहाँ के बड़े-बड़े मन्दिरों की नाक काटनेवाला था। यहाँ के उत्तरार्धी आचारी अभी कुछ ही सालों से आये थे। उनका अपना मकान भी नहीं था। किसी तरह गुजारा कर लेते थे, किन्तु अब तक के देखे तीन दिव्य देशों में सबसे अधिक सहृदय मुझे यही मिले। रात को बड़ी देर तक उनके साथ दक्षिणी लोगों के आचार-व्यवहार पर बातचीत होती रही। वह भी उनके जात्यभिमान से तंग आये हुए थे। आगे के बारे में उन्होंने बतलाया कि तिरुमिशी में आपको श्री हरिप्रपन्नाचार्य मिलेंगे, वह हमारे उत्तरार्धियों में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति हैं।

11

तिरुमिशी का उत्तराधिकार (1913 ई.)

अगले दिन आठ बजे मैं तिरुमिशी (या तिरुमलिशै) में था। फूले कमल के साथ चारों ओर पक्का बँधा बड़ा तालाब, उसकी उत्तर और पूरबवाले छोर से दूर तक चली गई एकतल्ले खपड़ैल के, किन्तु स्वच्छ घरों की पंक्तियाँ, पश्चिम

तरफ काफी खाली जगह छोड़कर, मन्दिर का विशाल गोपुर (शिखरद्वार)—तरह-तरह के पशु-पक्षियों, देव-देवियों की चूने-ईंटे की बनी मूर्त्तियों से अलंकृत, और उसकी दोनों बगल से साँप की तरह से निकलकर चला गया चतुर्भुज प्राकार तथा तदन्तरालवर्ती देवालय समुदाय। प्राकार के दक्खिन-पश्चिम थोड़ी-सी वीथी छोड़कर फिर समरेखा में अवस्थित गृह-पंक्तियाँ। तालाब के पूरब तरफ फूलों का बाग, सुन्दर मंडप और फाटक।

तालाब में स्नान कर पहिले मैं देवदर्शन के काम से निवृत्त होने मन्दिर में चला गया। दर्शन के समय का भी खयाल रखना जरूरी था। यहाँ चार या पाँच सन्निधि (देवालय) थे। तिरुमिशी आलवार (भक्तिसार स्वामी) रामानुजी वैष्णवों के बारह प्रधान आलवारों (सिद्धाचार्यों) में हैं, यह मुझे उस वक्त मालूम हुआ था, जिस वक्त भारी रुद्राक्ष के कंठे और दूर से चमकते भस्म-त्रिपुंड को धारण कर ढूँढ़-ढूँढ़कर मैं वैष्णवों के लिए लिखी गई गालियों को बड़े शौक से पढ़ता था; उनमें से किसी पुस्तिका में वैष्णवों को नीच-अन्त्यजों का पन्थ साबित करने के लिए किसी पुराने ग्रन्थ का उद्धृत यह श्लोक मुझे याद था—

"विचक्षणो विश्वविमोहहेतुः, कुलोचिताचारकलानुषक्तः
पुण्ये महीसारपुरे विधाय, विक्रीय शूर्पं विचचार योगी।"

वही यह महीसारपुर था, और यही भक्तिसार स्वामी का जन्म और कर्म-स्थान रहा। किसी समय के एक शूर्पकार की जन्मभूमि होने से आज इसका यह सम्मान था, किन्तु आज का शूर्पकार वीथी के भीतर तक घुस नहीं सकता था, मन्दिर के प्राकार के भीतर जाने की तो बात ही क्या ?

दर्शन और प्रसादग्रहण से निवृत्त हो मैं उत्तरार्धी मठ में गया, जो कि दक्षिणवाली वीथी में प्राकार से दूसरी तरफ़ था। लम्बा और कुछ मोटा-सा एक प्रौढ़ वयस्क व्यक्ति चबूतरे पर बैठा हुआ था। मैंने संस्कृत में पूछा—उत्तरार्धी मठ यही है। संस्कृत ही में मुझे अगले प्रश्नों का भी उत्तर मिलता गया। बहुत देर बाद जाकर मालूम हुआ, कि यही स्वामी हरिप्रपन्न हैं। कुछ देर के बाद जब मैं चलने की इजाजत माँगने लगा, तो उन्होंने अकृत्रिम मधुर शब्दों में कहा—"दोपहर का प्रसाद पाकर न जावें।" रह जाने के बाद फिर बातें शुरू हुईं। मालूम हुआ उनका जन्म-स्थान बलिया जिले का है, वृन्दावन के किसी 'खटले' में वह शिष्य हुए। वहीं लघुकौमुदी का बहुत-सा भाग पढ़े, फिर दिव्य देशों की दर्शन-लिप्सा उन्हें यहाँ ले आई। छपरा और बलिया पास-पास के जिले हैं, इसलिए छपरा का नाम सुनकर अधिक आत्मीयता अनुभव करना उनके लिए स्वाभाविक था। दोपहर के बाद जब जाने के लिए तैयार हुआ, तो कहने लगे—'महात्मा दो-चार दिन यहाँ विश्राम करो। इसे दूसरे का स्थान मत समझो। तुम्हें दिव्य देशों के दर्शन की लालसा है, तो मैं भी उसी लालसा से खिंचकर देश छोड़ इस मुल्क में आ पड़ा हूँ। पिछले पच्चीस वर्षों के निवास में मैं सभी दिव्य देशों में घूम आया हूँ। मैं तुम्हें वह सब बातें बतला दूँगा, जिनके जानने से तुम्हारी यात्रा अल्पायास से होगी।

मुझको उनकी बातें युक्तियुक्त मालूम हुईं, और मैंने अपने दंड-कमंडलु को वहीं रख दिया।

हरिप्रपन्न स्वामी वृन्दावन से खाली हाथ भागकर दक्षिण में आये थे। यहीं उन्होंने पुष्पकैंकर्य कर्म शुरू किया। धीरे-धीरे मद्रास के कितने ही चेट्टी गृहस्थ उनके परिचित हो गये। चार-चार आठ-आठ आने मासिक चन्दे की रकमें जमा करते अब उनकी आमदनी पचास रुपये मासिक से ऊपर पहुँच गई थी। आज स्वामी हरिप्रपन्न के पास वीथी में अपने दो घर थे, तालाब से पूरबवाला बड़ा गुलाब का बाग इन्हीं का था। कितने ही एकड़ धान के खेतों के अतिरिक्त कुछ हजार रुपये सूद पर भी चल रहे थे। 'यह सब भक्तिसार स्वामी के पुष्पकैंकर्य की कृपा से' जैसा कि वह कहते थे।

मठ में हरिप्रपन्न स्वामी के दो शिष्यों में देवराज फ़ैजाबाद के रहनेवाले थे, और तीर्थयात्रा करते ऐसे ही भटकते हुए यहाँ पहुँच गये थे; दूसरे शिष्य रीवाँ-राज्य के रहनेवाले हरिनारायण थे। देवराज बहुत सीधे-सादे थे, किन्तु गुरु का स्नेह और विश्वास उन्हीं पर ज्यादा था। पहिले हरिप्रपन्न स्वामी ने अपनी कठिनाइयों को मेरे सामने रखकर सहानुभूति प्राप्त की। तमिल ब्राह्मणों के अभिमान का उन्हें सचमुच निशाना बनना पड़ा होगा। खाली हाथ आकर उन्होंने यहाँ एक अच्छा धर्मस्थान तैयार कर दिया, इसमें किसको सन्देह हो सकता है। दो-चार दिन रहने

के बाद उन्होंने कहा–"मैं भी पढ़ने के समय इसी तरह भागकर मारा-मारा फिरने लगा। पढ़ता होता, तो एक अच्छा पंडित होके रहता। तुम्हारी उम्र पढ़ने की है, घूमना तो पीछे भी हो सकता है।"

बाजिन्दा की सदा जीवित वाणी के कोलाहल में भी कभी-कभी हरिप्रपन्न स्वामी जैसों की इस युक्ति के तथ्य को मैं स्वीकार करता था। फिर उनका प्रस्ताव हुआ–"परसा गुरुजी को लिख दें, और कुछ साल यहीं रहकर विद्या पढ़ें। व्याकरण के लिए हमारा देश जबर्दस्त है, किन्तु न्याय, वेदान्त, मीमांसा और काव्य में यहाँ वालों का अच्छा प्रवेश होता है। इस घर को अपना घर समझें। किसी बात की तकलीफ़ हो तो मुझसे कहें। यहाँ एक अच्छी संस्कृत पाठशाला है, यहीं रहकर संस्कृत क्यों न पढ़ें ?"

मुझे हरिप्रपन्न स्वामी की स्वार्थहीन सम्मति क्यों न पसन्द आती, आखिर सैर और विद्याव्यसन में कौन मुझे अधिक प्रिय है, इस बात का पता तो अभी भी मुझे नहीं लग सका है।

तालाब के उत्तर-पूरबवाले मकान में उस समय संस्कृत पाठशाला थी, जिसमें दो अध्यापक थे। मैंने जाकर पाठशाला में नाम लिखा लिया। भक्ति (पीछे मीमांसा-शिरोमणि टी. वेंकटाचार्य), रंगा और श्रीनिवास मेरे सहपाठी थे। हम लोग पाठशाला की ऊपरी श्रेणी में पढ़ते थे। भारी अन्तर था, यहाँ के विद्यार्थियों और समकालीन काशी के विद्यार्थियों में। लेकिन इसमें दोष हमारे यहाँ के विद्यार्थियों का नहीं है, आखिर वह जिन घरों से आते हैं, उनमें कितने सैकड़े शिक्षित रहते हैं ? बहुतेरे विद्यार्थी तो 'रामागति' शुरू करके 'इयं स्वरे' रटने लगते हैं, और ठीक से वर्णमाला और हिन्दी की पाठशालीय पुस्तकों से भी परिचित नहीं होते। भक्ति और दूसरे साथी फूले हुए कमलों से भरे तालाब के किनारे घंटों बैठकर उनके सौन्दर्य को देखते रहते, असाधारण वर्षा होने से लबालब भरे जलाशय को देखने के लिए तीन-तीन मील तक जाते। क्या इस बात की आशा हम अपने बनारसी साथियों से रख सकते थे ? यहाँ हम लोग सिर्फ़ पाठ्य-पुस्तकों को ही नहीं रटते थे, बल्कि अपने मन से कितने ही काव्य, नाटक, चम्पू मिलकर या अलग-अलग पढ़ते थे। देलरामकथासार जैसे कितने ही अपरिचित काव्य-नाटकों को मैंने यहीं समाप्त किया। मालूम हुआ उपन्यास और कहानियों की भाँति संस्कृत के इन ग्रन्थों को भी शौकिया पढ़ाई में शामिल किया जा सकता है। पाठशाला में हम सिद्धान्तकौमुदी, मुक्तावली, तथा कुछ काव्य, अलंकार ग्रन्थ पढ़ते थे। मेरा मन खूब लग गया था, इसमें सन्देह नहीं।

हरिप्रपन्न स्वामी ने अब धीरे-धीरे अपने सारे परिश्रम के व्यर्थ जाने तथा मठ के चौपट हो जाने की बात कहकर प्रेरणा करनी शुरू की–"ऐसा स्थान जहाँ पढ़े-लिखे, सभ्य जनों का समागम सुलभ है, एक महान् पुण्यतीर्थ होने से सारे वैष्णवजगत् में जिसका सम्मान है, ऐसी जगह रहना और दक्षिणियों को भी दिखला देना कि उत्तर-भारतीय कितने विद्वान् हो सकते हैं, यह कैसा अच्छा होगा ?..."

वे बड़े व्यवहारकुशल थे, उन्होंने अपने अभिप्राय को एक ही दिन में नहीं कह डाला। उसके लिए पखवारे का वह इन्तिजार करते रहे। वह यह जान गये, कि वहाँ के सहपाठियों, पढ़ाई और समाज में मेरा मन लग गया है। तो भी मैं बराबर उज्र करता रहा–"मैं एक जगह शिष्य हूँ।" "ठीक, किन्तु रामानुज स्वामी तो उस सम्प्रदाय के भी मूल हैं। उनके वेदान्त की परम्परा तो बल्कि आचारी लोगों के ही पास है"–उत्तर मिला। इसी बीच वृन्दावन के महान् नैयायिक सुदर्शनाचार्य (पंजाबी नहीं दूसरे) के प्रधान शिष्य श्रीभागवताचार्य श्रीरंगम् से तिरुमिशी आये। शायद हरिप्रपन्न स्वामी ने खासतौर से उन्हें बुलाया था। भागवताचार्य नव्य-न्याय के भारी विद्वान् थे, अपने अध्यापक के सबसे तीव्र विद्यार्थी थे, और उत्तर भारत में रहते तो उनकी बड़ी ख्याति होती। किन्तु, उनको दमा का रोग था; जाड़ों, और बरसात में भी उत्तर में रहने पर बराबर दौरा हो जाया करता था; इसी कष्ट से बचने के लिए वह तमिल प्रान्त में चले आये थे। तमिल देश में सर्दी का नाम नहीं, माघ-पूस में भी वहाँ कपड़ा ओढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। यहाँ वह दमा से बचे रहते थे। वह अधिकतर श्रीरंगम् में रहते, किन्तु बीच-बीच में रामानुजाचार्य की जन्मभूमि पेरेम्बुदूर (भूतपुरी), तिरुमिशी, तथा दूसरे दिव्य देशों में भी चले जाया करते थे। उस वक्त उनकी आयु 50 वर्ष से ऊपर की थी ! उनका पतला-दुबला गोरा शरीर, अमांसल प्रसन्नमुख, असाधारण मधुर वाणी, तथा परम सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किसी को भी अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता था। वह कुछ दिन यहीं रहनेवाले थे, और उनका आग्रह हुआ; मैं सपरिष्कार न्याय के किसी ग्रन्थ को शुरू करूँ। तर्कसंग्रह मैं पढ़

चुका था, किन्तु उसी के प्रत्येक लक्षण का परिष्कार उन्होंने मुझे पढ़ाना शुरू किया। उनके पढ़ाने का ढंग सुन्दर था, न्याय जैसे शुष्क विषय में भी वह दिलचस्पी ला देते थे।

श्री भागवताचार्य मेरी ओर से बहुत प्रभावित हुए थे, कारण शायद पढ़ने की लगन तथा परिष्कृत रुचि ही रही होगी। हरिप्रपन्न स्वामी की बात का उन्होंने भी समर्थन करना शुरू किया, और अन्त में मुझे हरिप्रपन्न स्वामी का प्रस्ताव बलात् स्वीकार करना पड़ा। फिर से वासुदेवमन्त्र दिया गया, बाहुमूलों में तप्तमुद्रा (शंख चक्र) दी गई, हाँ उतनी गरम और उतनी निर्दयता से नहीं जितनी कि परसा के नये 'आचारी' के हाथों से मिली थी। दीक्षा के बाद भी पंक्ति में बैठकर भोजन करने के लिए प्रमाण चाहिए था, कि मैं ब्राह्मण हूँ। मैंने प्रयाग यागेश के पास पत्र लिख दिया, और उनकी चिट्ठी चली आई। लिखित प्रमाण हरिप्रपन्न स्वामी को नहीं दक्षिण की और उत्तरार्धी बिरादरी के लिए आवश्यक था।

यहाँ मेरे लिए पूजा-पाठ का विशेष झगड़ा न था। सबेरे शौच-दातुवन खतम कर तालाब में स्नान करता, फिर, तालपत्र की छोटी-सी सुन्दर पिटारी से सफेद सुवासित रज, तथा लाल रोरी से ललाट में तिलक करता, और बस पूजा खतम। हरिप्रपन्न स्वामी, और पंडित भागवताचार्य संस्कृत की पाठ्य-पुस्तकों के पढ़ने को भी पूजा-पाठ का अंग समझते थे। नहाते वक्त हफ्ते में एक बार तिल के तेल की मालिश जरूर होती थी। यहाँ एक छटाँक तेल सुखा देना तेल मलनेवाले (स्नापक) के लिए प्रशंसा की बात न थी, और ऐसे स्नापकों की कमी भी न थी। खैर, बदन में तेल की खूब मालिश करानी अच्छी ही बात थी, किन्तु जब आँखों में भी तिल के तेल डालने की बात आती तो मुझे बहुत बुरा लगता, लेकिन जब देवराज और हरिनारायण एक ओर से कहने लगते–इससे आँख निरोग रहती है, तो मानना पड़ता। नहाने के वक्त इमली जैसे एक फल (सिकाकाई) की पानी में पिसी लेई बदन में मलनी पड़ती। इससे बदन का तेल छूट जाता, और तेल लगकर धोती मैली नहीं होती। यदि तेल भी लगाना है, और साथ ही कपड़े को भी उजला रखना है, तो इससे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं हो सकता था। हजामत बनाने में, उत्तर भारत के वैरागी के लिए शिर-मुँह का बाल साफ़ करना ही पर्याप्त था, किन्तु यहाँ सारे शरीर पर, निर्लज्जतापूर्वक भी–छुरा घुमवाना पड़ता था। छाती-पैर के रोओं को भी कटवा देना–मुझे व्यर्थ श्रम-सा मालूम होता था। उस वक्त मेरे दिल में यह खयाल न आया था, कि यहाँ के कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों के लिए सुई का सिला कपड़ा वर्जित है, वह कुर्ता, कोट, मिर्जई नहीं पहिन सकते, इसलिए शरीर के ऊपर के बाल देखने में बुरे लगते हैं।

सब लोग, घर में और यात्रा में भी कमलपत्र पर खाते थे। उनके सूखे गट्ठर भी बाजारों में पत्तल की तरह बिकते थे। खाने में भात अनिवार्य चीज थी, और मैंने अपने को उसके अनुकूल बना लिया था। सबेरे जलपान में रात के बचे भात से ताजा बना दध्योदन मिलता था, जो सचमुच ही खाने में बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। दोपहर को उत्तरी भारत का दाल-भात, तरकारी के साथ दक्षिण का रस या शातृमधु भी रहता था। कभी-कभी लाल मिर्चों की शोखी बढ़ जाती थी, नहीं तो गरमागरम पीने या भात के साथ मिलाकर खाने में यह अच्छा मालूम होता। इसके इमली, लाल मिर्च, तिल का तैल–ये खास अंश थे। बुखार आने पर पथ के तौर पर जब हमारे एक सहवासी को रसमू दिया जाने लगा, तो मैं बहस कर बैठा–'क्यों बेचारे को मारना चाहते हो ?' मेरे उत्तर भारतीय साथियों ने बतलाया–'यह उत्तम पथ्य है, यहाँ की आबोहवा में इससे नुकसान नहीं होता।' मैं समझता था कि इससे तिल्ली बढ़े बिना नहीं रहेगी। भात-दाल मिट्टी की हँडियों में पकता था, और जब तक कोई ग्रहण नहीं आता, तब तक उनके बदलने की जरूरत नहीं पड़ती थी। मुसलमानी चौके की भाँति आचारी के चौके को भी दक्षिणी आचार के अनुसार धोने-धाने की जरूरत नहीं। वहाँ कोई खाता तो था नहीं, फिर सिर्फ़ कालिख और कचड़े की सफ़ाई के लिए रोज-रोज के श्रम में एक-एक तोला खून सुखाना क्या बेवकूफ़ी न थी ? रसोई के कमरे से खाने का कमरा अलग था, और वह खूब साफ़ रहता था। खा लेने के बाद पत्तल अपने ही उठा लेनी पड़ती, फिर थोड़े से गोबर को लेकर उस पर चिपकाकर गिरे हुए चावल उठा लिये जाते, और पानी फेर दिया जाता। भोजन में आचारियों का नियम है–जो कि वस्तुतः तमिल वैष्णव ब्राह्मणों का आचार है–भोजन कच्चा हो या पक्का, सिर्फ़ उसी के हाथ का ही नहीं बल्कि उसी की दृष्टि के सामने खाया जा सकता है, जिसका सहभोज हो सकता है।

जिसका भोजन चलता है उसी का पानी भी, इस नियम के कारण बहुत से धनी तथा उच्च-पदस्थ मद्रासी ब्राह्मणों की स्त्रियों को भी अपने हाथ चौका-बासन, पानी भरना, रसोई बनाना पड़ता है।

खान-पान सम्बन्धी छूत-छात की अति मुझे उतनी नहीं खटक रही थी, क्योंकि इसमें कुछ उदार होने पर भी मेरी धारणा किसी सैद्धान्तिक विचार पर निर्भर न थी; किन्तु ब्याह-शादी की रीतियाँ मुझे बहुत खटकती थीं। भक्ति के पड़ोसी में एक अच्छे संस्कृतज्ञ विद्वान् थे, उनकी गौरी कन्या—नाम कोई··· वल्ली पश्चिम वीथी के रहने वाले एक स्थूलकाय श्यामल तरुण से ब्याही थी। हमारी तरुण मंडली को यह ब्याह अनुचित जँचता था; लेकिन मेरे आश्चर्य की तो सीमा नहीं रही, जब मालूम हुआ कि उक्त तरुण की सगी बहिन ही उसकी सगी सास भी है। मामा की कन्या से भांजे का ब्याह पहिले सुन रखा था, किन्तु बहिन की कन्या से विवाह उस समय मेरे लिए कल्पनातीत बात थी। उसके बाद कितने ही मामा और बुआ के दामादों को देखकर मुझे यह सब साधारण-सी बात मालूम होने लगी। नंगे शिर रहना, सौभाग्य का चिह्न होने से वहाँ स्त्रियों के परदे का तो सवाल ही न था, किन्तु तरुण पति-पत्नियों का पिता-माता के सामने घूमने निकलना उत्तर भारतीय आँखों को विनयशून्यता मालूम होती थी—यद्यपि मैं उसका पूरी तरह से अनुमोदन करता था। शाम के वक्त तरुण पत्नी अपनी सर्पपुच्छाकार वेणी को फूलों से सजाती, साफ़ अक्सर रेशमी-भड़कीले रंगवाली साड़ी को लाँग बाँधकर पहनती, फिर सन्तान होने पर उसका शृंगार करके, पति के साथ बाग, वीथी, तालाब के तट पर घूमने निकल जाती। हमारे उत्तर भारत की बूढ़ी सासुएँ इसे 'निर्लज्जता की पराकाष्ठा' कहे बिना नहीं रहतीं। हाँ, एक बात मुझे जरूर खटकती थी—बुढ़ापे में कुछ विश्राम पाने की जगह वहाँ सासुओं को सबसे ज्यादा काम करना पड़ता था। दो घंटा रहते ही रात सासु उठती, घर-आँगन झाड़ती, पानी में गोबर घोलकर अविरल धार से सब जगह छिड़कती, फिर द्वार पर चूने से सुन्दर चौक पूरती—इस चौक के देखने से मालूम होता था, दक्षिणी स्त्रियाँ अपनी उत्तरी बहिनों से कला-सम्बन्धी सुरुचि में काफी आगे बढ़ी हुई हैं। सूर्य उग आते, किन्तु अभी तरुण वधू की खुमारी ही नहीं टूटती। बूढ़ी सासु पानी गरम कर तैयार करती—शायद वह तेल-साबुन के साथ नहाना चाहे, केश धोना चाहे या कम से कम हाथ-मुँह ही धोना चाहे। बहू के बच्चों को नहलाना-धुलाना आदि भी सासु का ही काम है। बरतन साफ़ करना, खाना पकाना, खिलाना, सासु से वंचित बहू को ही करना पड़ता—और बस रहने पर ऐसे घर में बहुत कम माँ-बाप अपनी कन्या को देना चाहते। शाम को रसोई बनाना, बच्चों को खिलाना-पिलाना तथा देख-भाल ही नहीं करना, बल्कि बहू के केशों की वेणी बनाना—रोज नई वेणी गूँथने का रवाज बुरा तो नहीं है—उसे फूलों से सजाना भी सासु का ही काम है। सबेरे चार बजे से रात के दस-बारह बजे तक सासु को साँस लेने की फुरसत कहाँ ? चाहे पचास वर्ष की हो या सत्तर की, सासु को इसी तरह रोज-रोज, महीने-महीने, बरस-बरस मशीन की तरह काम करते हुए एक दिन आँखों को सदा के लिए मुँद जाने पर ही छुट्टी मिलेगी। 'वृद्धा के साथ यह व्यवहार तरुण पुत्र और बधू में हृदय की कमी को बतलाता है'—उत्तरार्धियों के इस आक्षेप का दक्षिणी उत्तर देते थे—'किन्तु हर सासु को तो पहिले बधू का जीवन बिताना पड़ता है, और उस वक्त इन सुभीतों को वह पहिले भोग चुकी रहती है। साथ ही नब्बे फ़ीसदी बधुएँ सासु की अपरिचित नहीं, उसके भाई, बहिन, बेटी की लड़कियाँ होती हैं।'

तिरुमिशी में मठ के भीतर छोड़कर बाकी वक्त मुझे संस्कृत का ही व्यवहार करना पड़ता था। वहाँ एक ब्राह्मण दूकानदार थे, जिनके यहाँ से तेल, दियासलाई या कोई चीज लाने के लिए जाने पर अंग्रेजी का व्यवहार करना पड़ता। तिरुमिशी में मैं चार महीने रहा था, किन्तु पढ़ने-लिखने जैसे मानसिक श्रम का काम भी इतने मनोनुकूल ढंग, तथा स्निग्ध संसर्ग के साथ चला, कि कभी मन ऊबने न पाया, और सचमुच ही 'दिवस जात नहिं लागहि बारा।' जरूरत न पड़ने से इस बार तमिल सीखने का मुझे मौका नहीं मिला।

हरिप्रपन्न स्वामी के एक शिष्य देवराज तो बहुत सीधे-सादे आदमी थे। चौका-बासन, रसोई, मन्दिर के भीतर से पानी भर लेना (घर के कूएँ का पानी खारा था), और कुछ गाय-बैलों के खिलाने-पिलाने में ताकीद—बस इतने ही में उनका समय चला जाता था; हरिनारायणजी नाममात्र पढ़े, किन्तु होशियार थे, तो भी मुझसे उनको ईर्ष्या न थी, हालाँकि हरिप्रपन्नाचार्य का उत्तराधिकारी होने से अपने हक से वंचित हो रहे थे। शायद इसका कारण मेरी मठ की सम्पत्ति और महन्ती से निस्पृहता थी। मेरी चिट्ठी जब परसा पहुँची, तो जवाब के साथ गुरुजी ने पचीस

रुपये का मनीआर्डर भी भेज दिया, और लिखा कि जब जरूरत हो, रुपये मँगा लेना, और दक्षिण के तीर्थों में खूब घूमना।

मन्दिर के तीनों तरफ़ (पूरब तरफ़ तालाब और आगे बस्ती न थी) की वीथियों में सिर्फ़ ब्राह्मणों के घर थे। उनकी दीवारें ईंट की, छतें खपड़ैल की थीं, घर भीतर से खूब साफ़ थे। हर द्वार की भीतरी देहली में जंजीरों पर लकड़ी के तख्तों का एक झूला जरूर रहता, जिस पर आगन्तुक या काम से फ़ुरसत पाया घर का आदमी भी बैठता था। सबेरे के वक्त हर द्वार पर भिन्न-भिन्न ढंग के पुरे हुए चौक, तथा हरे गोबर से धुली भूमि के कारण वीथी बहुत सुन्दर मालूम होती। मैं वहाँ के ब्राह्मणों को जब अपने यहाँ के ब्राह्मणों से मिलाता, तो सोचता यह बिना हाथ-पैर हिलाए घरों में बैठे रहते हैं फिर इनका खर्च कैसे चलता है। दरअसल, ब्राह्मण का अपने हाथ से कुदाल चलाना, खुरपा इस्तेमाल करना भी वहाँ के लिए अनहोनी-सी बात थी। मुसलमानी शासन की स्थापना से पहिले शायद उत्तरीय भारत में भी ब्राह्मणों की यही अवस्था रही हो, किन्तु वहाँ तो नये शासन ने पुराने अग्रहारों, उनकी वृत्तियों और दानपत्रों को हजार शपथों, और शूकर-गर्दभ-सन्तान होने की चित्रित गालियों के होने पर भी नाजायज करार दे दिया। शासनदंड के सामने किसकी चलती बनती है ? इसी कारण उत्तर के ब्राह्मणों ने अन्त में अपने शारीरिक परिश्रम पर निर्भर रहने की शिक्षा ग्रहण की। इसके विरुद्ध तमिल, केरल आदि प्रान्त सदा हिन्दू-शासन के अधीन रहे, कभी मुस्लिम-शासकों ने वहाँ स्थायी विजय नहीं पाई, उन्होंने दिल्ली के फ़रमान को मान्य भी ठहराया, तब भी अपने स्थानीय राजाओं को दिल्ली के सामन्त या करद राजा रखते हुए ही इस प्रकार उनके अग्रहारों और देवालयों की बहुत-सी चर-अचर सम्पत्ति उनके हाथ से जाने नहीं पाई। उन्होंने अपनी पुरानी शास्त्रीय संस्कृत शिक्षा के क्रम को भी जारी रखा, इस प्रकार वे निरक्षर नहीं बनने पाये, और साधारण जनता पर उनकी विद्या का रोब बना रहा। लेकिन साथ ही इस अविच्छिन्न शास्त्रीय, धार्मिक परम्परा के कारण ही दक्षिण के ब्राह्मणों में सबसे अधिक विचारों की संकीर्णता तथा सामाजिक विषमता भी अक्षुण्ण बनी रही।

तिरुमिशी दो देवस्थान थे, वैष्णव देवस्थान के अतिरिक्त गाँव से उत्तर एक शैव देवस्थान भी था। वैष्णव शिव की मूर्त्ति को अचानक देख लेने में भी पाप समझते हैं, किन्तु एक दिन भक्ति के साथ चुपके से मैं उसे देखने गया। गरुड़ की जगह नन्दी, विष्णु की जगह शिव, गणेश आदि की विशेषता के साथ बाकी वही बातें, कुछ छोटे रूप में यहाँ भी थीं। वैष्णव मन्दिर के पास काफ़ी जायदाद थी, जिसकी कमिटी का प्रमुख 'धर्मकर्त्ता' एक अब्राह्मण मुदलियार था। हर महीने एक-दो विशेष दिन पड़ते थे, जब कि मन्दिर में विशेष पूजा होती, या किसी विशेष देवता या आचार्य की मूर्त्ति बाजे-गाजे के जुलूस के साथ निकलती—प्रधान मन्दिर में अचल शिलामूर्त्तियों के अतिरिक्त जुलूस में जाने के लिए एक धातु की छोटी चल मूर्त्ति भी रहा करती है। नाना सुवर्ण-मणि-मुक्ता के आभूषणों से सजाकर मूर्त्ति को सोने के मुलम्मे के चमचमाते प्रभामंडलयुक्त सिंहासन पर रखा जाता। चार या आठ आदमी अब्राह्मण—सिंहासन को कन्धे पर उठाकर चलते। आगे-आगे बाजा—जिसमें दक्षिण की प्रसिद्ध नफीरी (रोशनचौकी) भी शामिल रहती—बजता, उससे भी आगे अपने अँगोछे को धोती के ऊपर कमर से लपेटकर ऊर्ध्वकाय को नंगे रखे ब्राह्मण लोग पहिले 'द्रविड़प्रबन्ध' (सन्तवाणी) पीछे वेदमन्त्र सस्वर पढ़ते चलते। स्त्री-पुरुष सिंहासन के आगे से शिर झुकाए नजदीक पहुँचते, सवारी जरा देर के लिए ठहरती, पुजारी मूर्त्ति के सामने रखी घंटी में जटित चरण-पादुका को विनम्र नंगे शिर पर रख देता।

लेकिन तिरुमिशी के अब्राह्मण टोले की ओर जाने पर वह सफ़ाई, वह सुरुचि, और वह संस्कृति नहीं दीख पड़ती। वहाँ निरक्षरता और गरीबी का अखंड राज्य दिखलाई पड़ता, कुछ खाते-पीते किसान घरों को छोड़कर। हमारे ब्राह्मण साथी बहुत कम उधर जाना चाहते, और उन्हें यह सुनकर तअज्जुब होता, कि उत्तर के ब्राह्मण इन शूद्रों—वहाँ ब्राह्मण से अन्य सभी जातियाँ शूद्र समझी जाती हैं—के हाथ से पानी ही नहीं अन्न की मिठाई तक खा लेते हैं।

पहिले-पहिल जब रात को कहा गया—'चलो, गोष्ठी में, पुंगलप्रसाद ग्रहण करने', तो गोष्ठी से तो मैंने अन्दाज लगा लिया—कई आदमियों का एक जगह एकत्रित होना, किन्तु पुंगल सुनकर मुझे खयाल आया, कोई महार्घ पक्वान्न होगा। दो प्रधान मन्दिरों के सम्मिलित सभामंडप में—जिसमें खिड़की-झरोखा न रहने के कारण दिन में भी अँधेरा

रहता था, रात के टिमटिमाते तेल के चिराग की वहाँ कौन सुनता, पत्थर के फ़र्श पर लोग–सिर्फ़ ब्राह्मण ही–बैठे हुए थे। मधुर स्वर में कोई मुरली बजा रहा था। पुजारी पीतल के बरतनों से निकाल-निकालकर हाथ में चार-पाँच आंवले के बराबर कोई चीज डालता जा रहा था। पहिले 'कुलीन' होने से दक्षिणी ब्राह्मणों के हाथ में प्रसाद दिया गया, फिर हम उत्तरार्धी 'नीच' ब्राह्मणों की बारी आई। अब्राह्मण मंडप के दरवाजे से बाहर आसमान के नीचे अकेले टकटकी लगाये खड़े थे। मेरे हाथ में भी 'पुंगल' पड़ा। बड़े उत्साह के साथ मुँह में डाला, देखा तो खिचड़ी–हाँ, वही खिचड़ी–जिस खिचड़ी के खाने की बात कहने पर यागेश को कितनी ही बार बात सुननी पड़ती थी। मैंने धीरे से हरिनारायणाचारी की ओर घूमकर कहा–'खिचड़ी ! यही पुंगल !!' वहाँ से लौटते वक्त हरिनारायणजी ने एक घटना सुनाई–"बलिया जिले के नये बने दो आचारी बाप-बेटे तीरथ करने दक्षिणापथ आये। इसी तरह गोष्ठी में वह भी बड़े उत्साह के साथ पुंगलप्रसाद के लिए बैठे। आपकी तरह हाथ के पुंगल को मुँह में डाला, तो लड़का चिल्ला उठा–'अरे खिचड़ी है, हे बाबूजी, ससुर ने, पुंगल कहके जाति ले ली।' "

खैर, मुझे जाति की परवाह नहीं थी, और यागेश जैसे खिचड़ी-प्रेमी को तो काफ़ी घी डालकर बनी उड़द-चावल की खिचड़ी बहुत अच्छी भी लगती। मीठा पुंगल, और मीठा 'दोसै' (चावल-मूँग का मोटा चीला) तो मुझे भी अच्छा लगता, किन्तु वह कभी ही कभी बँटता था। और खीर के नाम से रोआँ गिर जाता। स्वामी हरिप्रपन्न का कहना था, पावभर दूध में एक दक्षिणी मनभर खीर तैयार कर सकता है।

तिरुमिशी में रहते पुन्नमले, पच्चपेरुमाल, पेरेम्बुदूर के उत्सवों में मैं शामिल हो आया था। जिस दिन पहिले-पहिल हरिप्रपन्न स्वामी अपनी बंडी (बैलगाड़ी) पुन्नमले चलने के लिए जुतवा रहे थे, तो मैंने कहा–"रहने दीजिए, पैदल ही चले चलेंगे।" "इससे जल्दी पहुँचेंगे"–सुनकर मुझे विश्वास नहीं हुआ। हरिण की तरह पीछे की ओर खिंची सींगोंवाले मुट्ठी-भर के उनके बैल को देखकर तो और भी आशा नहीं हो सकती थी। लेकिन दंग रह गया, जब मैंने उसे साधारण एक्के के घोड़े की चाल से दौड़कर चलते देखा। बंडी ऊपर से दाहिने से बायें मेहराब में छाई हुई थी। शायद पहियों पर स्प्रिंग नहीं था।

अगहन का महीना था, जब कि एक दिन हरिनाराणाचारी ने तिरुपती के पास तिन्नानूर के महोत्सव का जिक्र चलाया। बालाजी, तिरुपती का नाम मैं परसा में बहुत सुन चुका था, सोचा चलें, उसे भी देख आवें।

12

दक्षिण का तीर्थाटन

चौरस्ते पर दो रास्ते नजदीक क्या एक-दूसरे से मिश्रित रहते हैं, किन्तु वही आगे चलकर सैकड़ों, हजारों मील दूर पड़ जाते हैं। इसी तरह आदमी चौरस्ते पर जरा सा पथान्तर करने पर आगे कहीं का कहीं चला जाता है। तिरुमिशी से चलते वक्त हरिप्रपन्न स्वामी ने तिरुपती के एक आचारी स्थान का पता दे दिया था, और शायद परिचय पंत्र भी। रेल में अकेले बैठने पर मैं सोचने लगा, आचारी के स्थान में चलूँ, या तिरुपती के वैरागी महन्तराज–कई लाख की तहसील रखनेवाले वे वस्तुतः राजा महन्त हैं–के स्थान पर। वहाँ की पंघत (पंक्ति) में बैठ लेना वैरागी के लिए बड़े गर्व की चीज है। परसा के सम्बन्ध को मैंने दिल से तोड़ा नहीं था, क्योंकि अभी मैं निश्चय नहीं कर सका था, कि अपना कार्यक्षेत्र उत्तरीय भारत रखूँ या दक्षिणीय। अन्तिम निर्णय आगे के लिए छोड़कर मैंने सोचा, तिरुपती में वैरागी स्थान ही में चलना अच्छा होगा।

वेष-भूषा से मैं बहुत सम्भ्रान्त तरुण दीख पड़ता था, पढ़ा-लिखा भी था, इसलिए मुझे महन्तजी के झाड़-फन्नूस से सजाये हाल की बगल में एक अच्छी कोठरी में ठहराया गया। मेरे पास की कोठरी में छपरा जिले के एक तरुण साधु थे, जो लघुकौमुदी पढ़ रहे थे। हाल में खुलनेवाले पूरब के कमरे में सुरसंड (मुजफ्फरपुर) लवाहीपट्टी के परमहंस के शिष्य एवं पंडित साधु रहते थे। इन दोनों व्यक्तियों से परिचय हुआ। सबेरे का जलपान तो कर

लिया। दोपहर के भोजन का समय आया। पंघत का घंटा या नगारा बजा। औरों के साथ मैं भी मन्दिर के सभामंडप में जाकर बैठा। थोड़ी देर में एक रसोइया आया, और उसने नम्र स्वर में कहकर मुझे ले जा आँगन में बैठे साधुओं की पंक्ति में बैठा दिया। मैंने साधारण बुद्धि से समझ लिया, कि दोनों जगहों में ऊँच-नीच का कोई भेद है, और यह खयाल आते ही लोटा लिये मैं उठकर अपनी कोठरी ही में चला नहीं आया, बल्कि बाजार से कुछ सेब-अंगूर तथा मिठाई लाकर खाने की तैयारी करने लगा। इसी बीच यह घटना मठ के प्रमुख व्यक्तियों को मालूम हुई। आदमी दौड़े-दौड़े मेरे पास आये—"चलिए, आप उठ क्यों आए ?"

"आप मुझसे धाम-क्षेत्र, पंचसंस्कार जो भी वैराग का करम-धरम है, पूछते; न बतलाता तो जहाँ चाहते वहाँ बैठाते, किन्तु आपने एकदम से ले जाकर मुझे कँगालों में बैठा दिया।"

"नहीं, कँगालों में नहीं बैठाया था। ऊपर की पंघत में ऊपर (बालाजी) जो बैठ आता, उसे यहाँ भी बैठाया जाता है। अभी आप ऊपर से नहीं हो आये हैं, इसी वास्ते रसोइया ने ऐसा किया।"

"तो अब तो मैं खाने की चीज ले आ चुका।"

"नहीं, गलती माफ़ कीजिए। रसोइए अनपढ़ उजड्ड होते हैं, आप जानते ही हैं। चलिए आप जहाँ चाहें वहाँ बैठें।"

खैर मैंने जाकर सभामंडपवाली पंक्ति में बैठकर भोजन किया।

तिरुपती अच्छा खासा शहर है। यहाँ आने पर मालूम हुआ, यह स्थान तमिल (द्रविड़) देश में नहीं आन्ध्र में है। मठ (धर्मस्थान) के बारे में कहा जाता था, पहिले यह सारी सम्पत्ति—गाँव आदि—किसी राजा की थी। हाथीराम बाबा कोई वैरागी उत्तर भारत से आये, उनके सिद्धिबल से राजा इतना प्रभावित हुआ, कि उसने अपना सर्वस्व उन्हें दे दिया। मठ में गाँवों की आमदनी बारह-तेरह लाख की बतलाई जाती है। इसके अतिरिक्त ऊपर पहाड़ पर वेंकटेश (बालाजी) तथा नीचे के कई मन्दिरों के चढ़ावे की भी बहुत भारी आमदनी है। मन्दिरों की आमदनी पर उस वक्त भी महन्त का एकाधिकार नहीं था। पिछले कई महन्तों के जहर या गोली के शिकार होने की बात मैं सुन चुका था, इसलिए वर्तमान महन्त प्रयागदास का बहुत सजग रहना स्वाभाविक था। हाथीराम बाबा के समय से ही यहाँ के महन्त उत्तर भारतीय होते आ रहे हैं, महन्त प्रयागदास का जन्म राजपूताने का है। महन्तों के लिए बहुत पढ़ने-लिखने की क्या जरूरत, जब वैरागियों के यहाँ कहावत मशहूर है—"पढ़ै लिखै बब्भन का काम। भज वैरागी सीताराम।" महन्त प्रयागदास के पास एकाध ही बार मैं गया, खाली स्थानपति को अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए, अन्यथा किसी की मुसाहिबी करनी मेरे स्वभाव से बिलकुल उल्टी बात थी।

यहाँ रहते हुए मैंने फिर सोचा और अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचा, कि उत्तराखंड को छोड़कर दक्षिणापथ को मैं अपना कार्यक्षेत्र नहीं बना सकता, और तब कितना ही प्रिय होने पर भी तिरुमिशी लौटकर जाना उचित नहीं। मैंने परसा तार दिया और तार से ही रुपये चले आये। रुपये लेते वक्त महन्तजी का हस्ताक्षर जरूरी था, इसलिए उस वक्त दो-एक बात बोलने की जरूरत पड़ी। तिन्नानूर या चिन्नानूर तिरुपती से थोड़ी दूर पर एक गाँव है, जहाँ लक्ष्मी का पुराना मन्दिर है। उत्सव में बड़ी भीड़ थी, यहाँ आन्ध्र, द्रविड़ स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त सैकड़ों वैरागियों और आचारियों के रूप में कितने ही उत्तर भारतीय भी थे।

वेंकटाचलम् या बालाजी का पर्वत तिरुपती से आठ-दस मील दूर पहाड़ पर है। पहाड़ की जड़ में सीढ़ियाँ बनी हैं, जिनमें पहिले तो दाता लोग अपना नाम खुदवाकर अमर फल पाने की कोशिश करते थे, और अब विज्ञापनबाजी के युग में बहुत सी व्यापार कम्पनियाँ अचिर फल के लिए सीढ़ियों पर अपना नाम खुदवा रही हैं। पहाड़ की पैदल चढ़ाई में जितना चक्करदार बिना सीढ़ी का रास्ता अच्छा होता है, उतनी सीढ़ियाँ नहीं। सीढ़ियों पर आदमी जल्दी थक जाता है, तो भी सीढ़ी बनाने का रवाज बहुत पुराना मालूम होता है। सीढ़ियों को पार करने के बाद रास्ता साधारण चढ़ाई-उतराई का शुरू हो जाता है। रास्ते के दोनों तरफ काफी जंगल हैं।

बालाजी की बस्ती अधिक यात्रियों और उनकी सहायता में व्यापृत लोगों की है। तिरुपती के वैरागी संस्थान

का मूल मठ यहीं है, जो पहिले का राजप्रासाद बतलाया जाता है। मुझे पहिले मठ में जाकर आसन लगाना था। मठ के बाहरी भाग में पहाड़ी की जड़ में पाँती से बहुत-सी कोठरियाँ थीं, जिनमें से एक में दूसरे दो साधुओं के साथ मुझे भी स्थान मिला। संयोग से मेरी बगल में एक मस्तमौला साधु मिल गये, जो कई सालों से वहाँ रहा करते थे। बोलने-चालने, गाने-बजाने, देश-परदेश की बातों का जितना उनका ज्ञान था, उसके रहते वह मठ के प्रभावशाली व्यक्तियों में हो जाते, किन्तु उनको इससे मतलब नहीं था। बहुत दिनों तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों की भी उन्होंने सैर की थी। आज यहाँ एक जगह रहने पर वह रोज दो-चार कोस दूर जंगलों में चले जाते थे। अंचला, कमंडलु के अतिरिक्त एक खन्ती, झोली में गाँजे की चिलम, साफ़ी तथा दियासलाई उनके पास होती। मौज आती तो बड़े स्वर के साथ गाते–"चार युगों में नाम तुम्हारा कृष्णकन्हैया तुम्हीं तो हो।" वह मुरादाबाद जैसे किसी शहर के रहनेवाले थे। भाषा उनकी स्वभावतः परिष्कृत थी। सैलानी तबियत के साथ इस विशेषता ने मुझसे उनकी घनिष्टता पैदा कर दी। शाम को हम दोनों दूर चले जाते। यहाँ तक चिलम-साफ़ी से बचा आया था, किन्तु अब मैं न बच सका। दरअसल वैसा करने में हमारे साथ का आधा मजा ही किरकिरा हो जाता। कभी-कभी हम लोग दो-दो, तीन-तीन घंटा रात बीतने पर स्थान में लौटते। लोग कहा करते थी, इन जंगलों में बाघ रहता है, और एकाध बार बस्ती के पास की मठ की गौशाला से गाय को पकड़ भी ले गया, तो भी चिरनिवासी साथी को जब इसकी परवाह नहीं थी, तो मुझे क्या होती। शाम को चार बजे हम इस दैनिक सैर पर निकलते। दिन में एक और अड्डा बन गया था। बालाजी के मन्दिर के खुलते वक्त और जब तक खुला रहे, तब तक के लिए वहाँ वैरागी मठ के एक व्यक्ति का रहना जरूरी था। वह व्यक्ति एक उत्तर भारतीय पचास बरस के साधु थे। गले में सोने की साँकल, कान में साँकलदार मणिजटित कुंडल, तथा बदन पर ज़री की कीमती खिलअत पहिने वह द्वार की दाहिनी तरफ़ आकर खड़े होते, जब कि दरवाजा खुलता। उनका अपना स्थान और बगीचा था, उन्होंने उसे काफी आरामदेह और सजाकर रखा था। 'कृष्णकन्हैया' बाबा के साथ मैं एक दिन वहाँ गया। हाथीराम बाबा भी राजा से चौपड़ खेलते थे, इसीलिए शायद, यहाँ भी चौपड़ खेली जाती थी। मैं भी शामिल हो गया। खेल के बाद वहीं खाने का आग्रह। इतने दिनों से रहते भी उन्हें भात खाने की आदत नहीं थी। दोपहर को मुझे अक्सर वहीं खाना खाना पड़ता, और सदा पूड़ी ही बना करती। मालूम नहीं बालाजी में दस दिन रहा या पन्द्रह दिन, उनमें से अधिकांश दिनों दोपहर का भोजन मेरा यहीं होता रहा।

दूसरे मठों की भाँति बालाजी के "अधिकारी" का भी महन्त के नीचे मठ के प्रबन्ध में काफ़ी अधिकार था। अधिकारीजी ज्यादा यहाँ ही रहा करते थे। उनके दोनों पैर बेकार थे। 'कृष्णकन्हैया' बाबा को जब कभी भी गाँजे की कमी होती, तो वह अधिकारीजी के पास चले जाते। अधिकारीजी उनको मानते थे। अधिकारी वस्तुतः महन्त की अपेक्षा साधुओं में अधिक जनप्रिय थे। बालाजी के मध्यम-श्रेणी के साधु कर्मचारियों के पास जब चालीस-पचास हजार रुपये जमा हो जाने आसान थे, तो अधिकारी के बारे में क्या कहना ?

बालाजी में सबसे मनोरम प्राकृतिक दृश्य की जगह मुझे एक हनूमानजी का स्थान मालूम हुआ। वहाँ बारहों महीने "जनु वसन्त ऋतु रह्यो लुभाई"। खूब दरख्त, चारों ओर हरियाली, पानी से भरा जलाशय, और आसपास वनाच्छादित पहाड़ियाँ थीं।

बालाजी का निवास भी अच्छा रहा, और छोड़ते वक्त, चित्त को उदासी मालूम हुई। किन्तु आखिर हर जगह एक-एक बरस देने के लिए हजार-हजार बरस की उमर भी तो चाहिए। हजार बरस की आयु होने पर भी कौन जानता है, वह एक साल भी आदमी की नजर में दस-पन्द्रह दिन का नहीं लगने लगेगा।

बालाजी से फिर तिरुपती और वहाँ से आगे की यात्रा आरम्भ हुई। अब मैं पहिले की भाँति तहीदस्त मुहताज नहीं था। पाँच रुपये जब हाथ में रहते तभी परसा तार देता, और तीसरे दिन पचीस रुपयों का मनीआर्डर पहुँच जाता, तो भी जो रुपये के बल पर सैर करना चाहता है, वह सैर का मजा नहीं उठा सकता–आखिर मिर्चों की कड़वाहट ही स्वाद है। अब के रेनगुंटा से जब हम स्वामिकार्तिक की ओर गये, तो हमारे साथ चार-पाँच और वैरागी थे। आचारियों की हद से ज्यादा छुआछूत, और 'मैं बड़ा–तू छोटा' की नीति ने भी मुझे तिरुपती में आचारी खटले में न जाने दिया। एक लोटा या कमंडलु लेकर कम से कम सामान के साथ घूमने की इच्छावाला आदमी

भला आचारी-खटराग को कैसे माथे पर ढो सकता है ? वैरागी इस विषय में कुछ स्वतंत्रता रखते थे, यद्यपि उतनी नहीं जितने कि संन्यासी। हम चार-पाँच वैरागी थे, किन्तु एक-दूसरे के हाथ की रोटी खाने से पहिले हमें अपनी जाति का प्रमाणपत्र मँगवाना जरूरी नहीं था। स्थान, नाम, द्वारा-अखाड़ा का उत्तर जहाँ ठीक आया, कि समझ गये—टकसाली साधु है, नकली नहीं है।

स्वामिकार्तिक मन्दिर पहाड़ पर रेनगुंटा से कुछ दूर शायद दूसरे स्टेशन पर था। किस तरह की मूर्त्ति, कैसा मन्दिर था यह याद नहीं। शायद पास के छत्रम् में सदावर्त थी, जहाँ हमने भोजन बनाकर खाना खाया था।

चिंगलपट से हम पक्षीतीर्थ गये। उत्तर भारतीय साधुओं ने दक्षिण के अधिकांश नामों को दूसरे ही नामों से प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए कह नहीं सकते पक्षीतीर्थ का तमिल नाम क्या है ? वहाँ एक प्राकारवेष्ठित विशाल मन्दिर है, किन्तु वैरागियों का पंछीतीर्थ उसके पासवाली पहाड़ी पर है। रोज दस बजे पुजारी लोग कुछ भोजन बनाकर उस पहाड़ी के पार्श्व पर ले जाते हैं, फिर दो बड़े-बड़े पक्षी मँडराते उतर आते हैं, जिन्हें पुजारी भोजन कराते हैं। कहते हैं, यह पक्षी साधारण पक्षी नहीं, भगवान् विष्णु के वाहन साक्षात् गरुड़जी और उनकी धर्मपत्नी हैं। मुझे तो वह चमरगिद्ध (सफ़ेद शरीर, काली पोंछवाले छोटे गिद्ध) मालूम हुए। वहाँ कितने ही श्रद्धालु गरुड़ महाराज को साष्टांग दंडवत् करते थे। नीचे के बड़े मन्दिर के बारे में यही याद है, कि उसकी किसी शाला में चमगादड़ियों की भरमार थी, और बदबू के मारे नाक फटी जाती थी।

कांचीपुर (कंजीवरम्) के शिवकांची, विष्णुकांची नगरार्द्धों के मंदिरों में भी गया, किन्तु उस वक्त की कोई बात याद नहीं। श्रीरंग और मदुरा होते रामेश्वरम् चला। रामेश्वर का रेलवे पुल अभी नहीं बना था। जाते वक्त एक स्टीमर से उस पार गया। खाक चौक में डेरा गिरा। 'वैरागियों' के स्थान अधिकतर उन्हीं जगहों में हैं, जहाँ तुलसीकृत रामायण चलता है—यदि बंगाल के गौडिया साधुओं को वैरागी में न गिना जाये। गुजरात में वैरागी स्थान बहुत हैं, और महाराष्ट्र में भी कितने ही हैं, किन्तु उनमें रहनेवाले साधु प्रायः हिन्दी-भाषा-भाषी हैं। मद्रास की तरफ़ वैरागियों के स्थान कम हैं, जिसके कारण उन्हें कष्ट होता है। वस्तुतः स्थान क्या हैं, घूमती-फिरती पलटन की स्थायी छावनियाँ हैं, जहाँ पहुँचते ही साधु घर-सा अनुभव करने लगते हैं। यदि स्थानीय साधु के पास खाने-पीने का सामान है, तो वह हाजिर है; यदि नहीं है, तो वह एक लोटा पानी लेकर खड़ा हो सकता है, अभ्यागत उसके लिए बुरा नहीं मानेगा। उसके पास अपना जो कुछ रहेगा उससे रसोई बनावेगा और स्थानीय साधु को भी खिलावेगा। दक्षिण में वैरागी साधुओं के अभाव होते भी वहाँ छत्रम् और सदावर्त काफ़ी हैं, जिससे यात्रा असह्य होने नहीं पाती। रामेश्वरम् में एक या दो ही वैरागी साधुओं के छोटे-छोटे स्थान हैं—खाक चौक और रामझरोखा। खाक चौक बस्ती में होने से अधिकांश साधु यहीं जाते हैं। एक, दो दिन तक साधु-सेवा भी होती है, शायद दायक अधिकतर उत्तर-भारतीय यात्री होते हैं। रामझरोखा बस्ती से बाहर एक जगह है। उस वक्त एक चलते-पुर्जे साधु यहाँ रहते थे। वह दो-चार अभ्यागत साधुओं को बुला लाते, यात्रियों से—'हमारे स्थान में बच्चा, इतनी मूर्त्तियाँ हैं, कुछ रागभोग का इन्तजाम करो' कहकर सामान लाते। शाम को साधुओं को एक-एक मुट्ठी चना देकर टरका देते। दूसरे दिन फिर रामेश्वर से दूसरी मूर्त्तियाँ फँसा लाते।—यही उनका काम था।

रामेश्वर के मन्दिर की विशाल शालाएँ, छत से ढँकी परिक्रमाओं को देखने से मालूम होता था, कि मन्दिरों के बनाने में उत्तर-भारत दक्षिण-भारत से कितना पिछड़ा हुआ है—यदि हम मुसल्मानों के शासन काल में टूटे मन्दिरों की गिनती न करें। रामेश्वर के प्रधान गर्भ मन्दिर के सामने कोई मंडप बन रहा था। भीतर शिवलिंग पर लोग जल चढ़ा रहे थे, कितने ही काशी, हरद्वार और गंगोत्री का गंगाजल ढाल रहे थे।

रामेश्वर से कुछ साधुओं के साथ मैं धनुषकोडी के लिए निकला। स्टेशन के रास्ते में एक दो आदमियों के साथ एक तरुण ब्रह्मचारी दयाशंकर—नाम में भूल हो सकती है (वह उनके हाथ पर खुदा हुआ था)—मिले। उनके बदन पर एक लम्बी अल्फी, शिर पर एक छोटा-सा अँगोछा, हाथ में पीतल के कमंडलु में शंख थी। मझोला कद, छरहरा बदन, गोरा रंग, आयु 26, 27 की होगी। शहरी हिन्दी बड़ी बेतकल्लुफी से बोल रहे थे। मालूम हुआ उनका जन्मस्थान मथुरा है। वह भी धनुषकोडी जा रहे थे। हम लोग रामेश्वर के टापू के दूर तक फैले बालू, काँटेदार बबूलों और ताड़ों को देखते रेल से रवाना हुए। स्टेशन से उतरकर कुछ दूर पर ताड़ के पत्तों

से छाई एक वैरागी-कुटिया थी। अभी हाल ही में बनी थी, इसलिए बड़ी बेसरोसामानी थी। उन्हें मीठा पानी दूर से लाना पड़ता था। खैर, उस तपती भूमि में ताड़-पत्तों की छाया मामूली चीज न थी। कुटी से थोड़ी दूर पर दो दिशाओं–दक्षिण और पश्चिम को दिखलाकर बतलाया गया–यही 'रत्नाकर' और 'महोदधि' का संगम है। दोपहर और शाम को भी समुद्र स्नान हुआ, और रात को वहीं विश्राम।

लौटते वक्त ब्रह्मचारी दयाशंकर से विशेष बात हुई। वे कुछ महीनों से दक्षिण में आये हैं। आजकल पामन में रह रहे हैं। वैद्य का काम करते हैं, जिससे निर्द्वन्द्व विचरने के लिए उनको बहुत सुभीता है। उनके साथ एक काला-सा आदमी था, ब्रह्मचारी का गाँजा-चिलम-दियासलाई का खजांची वही था। 'वैराग्य' में आकर पुलिस की नौकरी छोड़ उसने ब्रह्मचारी का साथ पकड़ा था। मैं भी उर्दू बोल सकता था। मुझे भी कितने ही शेर याद थे। अन्त में ब्रह्मचारी ने मुझसे पामन चलकर कुछ दिन रहने के लिए कहा। ऐसे निमन्त्रण यदि हर सौ मील पर मिला करते, तो मैं दो-दो हफ्ता बिताने के लिए तैयार था।

पामन रामेश्वर द्वीप की अन्तिम बस्ती है। उसके बाद कुछ मीलों की उथली-सी खाड़ी और फिर जम्बूद्वीप (भारत) का स्थल-भाग आ जाता है। पामन के ज्यादातर रहनेवाले मुसल्मान थे–ब्रह्मचारी भी एक मुसलमान ही के मकान में रहते थे। ये लोग हिन्दुस्तानी बोलते थे, इसलिए तमिल से अनभिज्ञ ब्रह्मचारी को सुभीता था। घर अधिकतर फूस और बाँस के थे। ब्रह्मचारी के पास पैसों की कमी न थी। रोज दस, पन्द्रह, बीस रुपये आ जाते। पाँच-सात रुपये रोज तो उनके गाँजे में उड़ जाते। उनके पास सिर्फ़ दो दवाइयाँ थीं, एक जमालगोटे का जुलाब, और दूसरी संखिया की भस्म। शिरदर्द-पेटदर्द जैसी मामूली बीमारियों से लेकर कुष्ट, पांडु, यक्ष्मा जैसे महारोगों पर भी यह अनुपान बदलकर इन्हीं दवाओं को देते थे। मुफ्त दवा शायद ही किसी को देते हों। दवा देने से पहिले भेंट की शर्त तै कर लेते। दो-तिहाई या कम से कम आधी रकम पहिले ले लेते, और बाकी के लिए कह देते–इतने दिनों बाद रोगी को रोग-मुक्तिस्नान करा देंगे, और उसी दिन बाकी रुपया दे देना होगा। कितने ही बीमारों को उनकी दवा से बहुत चमत्कारिक लाभ हुआ था, इसलिए लोग खुशी-खुशी रुपया देकर दवा कराते थे। पामन में तो खैर मुसल्मान सहवासी दुभाषिए का काम कर देते थे, किन्तु दूसरी जगह होने पर लोग खुद दुभाषिया लिये हुए जाते। ब्रह्मचारी को यह परवाह नहीं थी, कि मुसल्मान के साथ रहने के लिए लोग उनकी कैसी नुकताचीनी करते हैं, खासकर ब्राह्मण लोग।

मुसल्मान घर में रहते हुए भी ब्रह्मचारी भोजन खुद या किसी साधु के रहने पर उसके हाथ का बनाया खाते, और यह मेरे जैसों के लिए तकलीफ़ की चीज थी। दूध, घी, आटा जितना चाहो, उतना मौजूद था, बनानेवाला चाहिए था। ईंजानिब पाचन कला से बहुत प्रेम नहीं करते थे, यद्यपि यह नहीं कह सकते, कि उससे बिलकुल अपरिचित थे। दिन में एक बार खीर परावठे, या कोई अल्पश्रमसाध्य चीज बना लिया करते। दिन-रात का वहाँ पता थोड़े ही लगता था। सबेरे जिस वक्त नींद खुली, गाँजे की चिलम तैयार मिली। और फिर एक चिलम बुझ रही है, दूसरी जल रही है, यही सिलसिला तब तक जारी रहता, जब तक रात को सो नहीं जाते। मैं समझता हूँ, शायद ही रात को 3, 4 घंटे हों, जिनमें मेरा मस्तिष्क गाँजे के नशे से मुक्त रहा हो। ब्रह्मचारी की चमत्कारिक दवा को देखकर मेरी भी ख्वाहिश हुई उसे सीख लेने की। ब्रह्मचारी चाहते भी थे सिखा देना, किन्तु कह रहे थे–जमालगोटा मारना, संखिया मारना आप किताब से भी सीख सकते हैं, किन्तु जब तक सामने बनाकर दिखलाया न जावे, तब तक मुँह से बतला देने में कोई फ़ायदा नहीं। उनका कहना बजा था, और वस्तुतः मेरे तीन-चार सप्ताह पामन में रह जाने का भी प्रधान कारण यही भस्म-विधि सीखने की इच्छा थी। गाँजा पीने, गप करने के अतिरिक्त वहाँ मेरे लिए दूसरा काम नहीं था, शायद उर्दू की कोई कविता-पुस्तक ब्रह्मचारी के पास थी, उसे पढ़ लिया करता था। हमारे आवास के पास एक कोढ़ी मुसलमान था, ब्रह्मचारी उसकी मुफ्त दवा शुरू करनेवाले थे। उससे दो-एक कौवे बहुत हिल-मिल गये थे, वे उसके शिर और कन्धे पर बैठ जाते थे। कौओं को लड़कपन ही से मैं बहुत होशियार जाति जानता था। सुना था, मादा कौआ एक बार अपने बच्चों को सिखला रही थी–'जैसे ही कोई पत्थर उठाने के लिए झुके, उड़ जाना।' बच्चों ने पूछा–'और माँ ! यदि वह घर ही से पत्थर लिये आवे ?' माँ ने कहा–'तब तुम्हें सिखलाने की जरूरत नहीं।' यहाँ इन कौओं को कोढ़ी के शिर और कन्धे पर बैठते

देखना उनकी जाति के लिए भी चतुराई का अपवाद जान पड़ा।

ब्रह्मचारी सामान मँगाकर भस्म बनाना सिखलाने की तैयारी कर रहे थे, किन्तु अब मेरी रुचि उधर से हट गई थी। दुनिया के सभी व्यवसायों को सीखने से मतलब, जब मैं सबको कर नहीं सकता ? ब्रह्मचारी और मुझमें कई बातों में समानता थी, उर्दू, शहरी भाषा और जीवन के भी हम समान भक्त थे, इसलिए उनकी इच्छा क्योंकर होती, कि मैं चला जाऊँ।

चलने के लिए हमने पामन खाड़ी पर नये बने पुल पर चलनेवाली पहिली ट्रेन को पसन्द किया। ब्रह्मचारी ने रामनद में भी अपने लिए एक अड्डा बना रखा था, और वह भी मेरे साथ ही आये। अड्डा क्या, बस्ती से दूर खजूरों के कँटेदार झुरमुट में पन्द्रह-बीस हाथ लम्बी-चौड़ी एक जगह साफ़ की गई थी, और उसी में ताल के पत्तों की एक झोंपड़ी पड़ी थी। ब्रह्मचारी जब कभी आते तो वहीं ठहरते। झोंपड़ी मदुरा से रामनद होते रामेश्वर जानेवाली सड़क पर थी, इसलिए पैदल चलनेवाले साधु कभी-कभी वहाँ पहुँच भी जाते थे। वस्तुतः इसी खयाल से ब्रह्मचारी ने उस जगह को पसन्द किया था। जब साधु आ जाते, तो उनको बहुत खुशी होती। ब्रह्मचारी उन आदमियों में थे, जो आज की आमदनी को कल के लिए रख छोड़ने को अपराध समझते हैं। साधुओं को खिलाने-पिलाने का उन्हें बहुत शौक था। तीर्थ-यात्रियों में दो श्रेणी होती है, एक नियमपूर्वक किसी सम्प्रदाय—वैरागी, उदासी, संन्यासी आदि—में प्रविष्ट साधु, जिनको अपने सम्प्रदाय का आचार-व्यवहार सीखना जरूरी होता है, और सम्प्रदाय की सार्वजनिक राय को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनको लज्जा, संकोच आत्म-सम्मान का भी बहुत खयाल करना पड़ता है, इन पाबन्दियों का लाभ उनको यह है, कि सारे भारत में जगह-जगह अवस्थित अपने सम्प्रदाय के स्थानों में दावे के साथ, और दूसरे स्थानों में सम्मान के साथ उन्हें स्वेच्छा से रहने का मौका मिलता है। ये स्थान बिना पैसे-कौड़ी दिए यात्री के लिए भोजन और निवास के होटल हैं—इसी से पता लग सकता है, कि इन संस्थाओं ने साधुओं के लिए यात्रा कितनी सरल बना दी है। भारत का कोई भाग नहीं है, जहाँ ये मठ या साम्प्रदायिक स्थान न हों। हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दू-प्रान्तों में इनकी संख्या बहुत ज्यादा है—पंजाब, सिन्धु सीमान्त में भी हिन्दुओं की संख्या के अनुसार काफ़ी है। गुजरात, काठियावाड़ साधु-सेवा के लिए बहुत प्रसिद्ध प्रान्त समझे जाते हैं। आसाम, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र में भी संख्या काफ़ी है। द्रविड़-भाषाओं के चारों प्रान्तों में अवश्य इन मठों की कमी है। वैसे तो ये मठ काबुल, कन्धार तक ही नहीं सुदूर पश्चिम कास्पियन तट के बाकू में भी कुछ साल पहिले मौजूद थे।

रामनद में ब्रह्मचारी से विदाई ली। एक बार फिर तिरुमिशी लौटने का विचार हो सकता था, किन्तु मेरे जैसे आजाद-तबियत मुसाफ़िरत-पसन्द आदमी के लिए आचारियों के आचार-व्यवहार भारी बन्धन थे—यह बात अभी बालाजी से रामेश्वर की ताजी यात्रा ने भी बतला दिया था—इसलिए मैंने उधर जाने का खयाल छोड़ दिया। यात्रा की तरह पढ़ने की रुचि भी मेरे खमीर में है, इसलिए जब तक वह उग्र रूप धारण नहीं करती, तब तक कुछ घूम लेना मैंने जरूरी समझा। इस प्रकार अब मेरा रुख द्वारिका के रास्ते में आनेवाले तीर्थों और दर्शनीय स्थानों की ओर था।

बंगलोर—रास्ते में पहिले-पहिल बंगलोर में उतरा। शहर देखकर गाड़ी से आगे बढ़ने का इरादा था। बाजार में भोजन से निवृत्त होने के लिए कोई स्थान ढूँढ रहा था, कि एक हलवाई की दूकान मिली। हलवाई की दूकान द्राविड़ प्रान्तों के लिए नई चीज है। पानी-पूड़ी में जहाँ बराबर की छुआछूत हो, वहाँ हलवाई की दूकान कैसे चल सकती है ? जाकर रुच्यनुसार पेट-भर पूड़ी-मिठाई खाई। पैसा देने पर हलवाई ने कहा—“नहीं महाराज ! आपसे पैसा नहीं लेते। उत्तर भारतीय सन्तों की एक बार भोजन से सेवा कर देना हमारा नियम है।”

विजयनगर—बंगलोर के बाद, जहाँ तक याद है, विजयनगर (हम्पी) के खंडहरों के लिए उतरने की जगह पर रेल से उतरे। स्टेशन का नाम शायद हूसपेट था। धर्मशाला में कुछ ‘खड़ियापलटन’ वाले मिले। ‘खड़ियापलटन’ यह साधुओं का खास शब्द है। बहुत-से स्त्री-पुरुष किसी सम्प्रदाय में बाकायदा दीक्षा लिए बिना साधु का वेष बनाये भारत के भिन्न-भिन्न जगहों में घूमते-फिरते हैं। इन्हें साम्प्रदायिक आचार-व्यवहार वेष-भूषा की बाकायदा शिक्षा तो हुई नहीं रहती, इसलिए ऊपर से साधुओं को देखकर उनकी नकल करना चाहते हैं। नकल करने में

भी अवान्तर भेदों–जो बहुत सूक्ष्म होते हैं–का ध्यान जरूरी है, किन्तु ये उसमें अपनी अनभिज्ञता प्रदर्शित करते हैं। साधु देखते ही समझ लेते हैं, ये बनावटी साधु हैं। खड़िया कन्धे पर दोनों तरफ लटकते झोले को कहते हैं, जिसे किसी सम्प्रदाय के साधु इस्तेमाल नहीं करते, ये तीरथवासी खड़िया लिये फिरते हैं, इसलिए इनका नाम ही 'खड़ियापलटन' पड़ गया है। साधुओं में स्त्री, स्त्री-साधुनियों के साथ, और पुरुष, पुरुष-साधुओं के साथ घूमते हैं, खड़ियापलटन इस नियम से अपने को मुक्त समझती है, उसमें स्त्री-पुरुष दोनों शामिल रहते हैं।

खड़ियापलटन से मालूम हुआ, किष्किन्धा–विजयनगर के पास की बस्ती–यहाँ से बहुत दूर नहीं है, पक्की सड़क गई है। शायद सवारी भी मिल रही थी, और मेरे पास पैसों की कमी न थी, तो भी पैदल चलना ही मुझे पसन्द आया। बोझा रखने का मैं विरोधी हूँ। शरीर को हलका से हलका रखना मुझे पसन्द है, और खाली हाथ चलने में मजा आता है। रास्ते और उसके आसपास के स्थानों के बारे में कोई बात याद नहीं, सिवाय इसके कि मैं कर्णाट भाषाभाषी प्रदेश में चल रहा था। शाम को 4 बजे के करीब मैं एक खँडहर के पास पहुँचा। एक कब्र थी, एक वृक्ष के किनारे बड़ा-सा चबूतरा था, जो बहुत दिनों से बेमरम्मत पड़ा था। वहाँ एक शाह साहेब (मुसल्मान फ़कीर) बैठे थे। उन्होंने हाथ उठाते हुए 'दर्शन सफ़ा' कहा, मैंने भी 'मिजाजे वफ़ा' कह जवाब दिया। हिन्दू-मुसलमान साधुओं में पारस्परिक अभिवादन की यह रीति है। शाह साहेब ने आग्रह से बैठाया। गाँजे की चिलम तैयार की, दयाशंकर ब्रह्मचारी के यहाँ चिलम में मुसल्मान गृहस्थ तक शामिल होते थे, तो यहाँ मुसल्मान साधु के लिए क्या कहना था ? चिलम पीते हुए हम लोगों की कितनी ही देर तक बातें होती रहीं। शाह साहेब उत्तर भारत के ही कहीं के थे, दक्खिन के मुसल्मानों के खान-पान, बोली-बानी की उनको सख्त शिकायत थी। कह रहे थे–"इमली और मिर्च। तोबः तोबः। कम्बख्तों का खाने का भी शऊर नहीं।" हम लोगों के बात करते समय ही एक दूसरे साधु चले आये; उन्होंने मुझे भी अपने साथ चलने का निमन्त्रण दिया। वे तीन-चार साधु नदी के पास किसी परित्यक्त पाषाणगृह में पाँच-सात दिनों से ठहरे हुए थे।

सूर्यास्त हो गया था, जब हम तकिया से रवाना हुए। हमें एकाध जगह नगर के टूटे पाषाण-प्राकार को पार करके जाना पड़ा। मैंने भारत के इतिहास को पढ़ा तो था, किन्तु अभी ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी, तो भी विजयनगर को ऐतिहासिक स्थान ही समझ मैं देखने आया था। साधुओं का निवासस्थान सचमुच ही मस्तानों का अखाड़ा था। गोसाईं (संन्यासी), उदासी, वैरागी सभी सम्प्रदाय वहाँ मौजूद थे। मुझे छोड़ बाकी सभी जटाधारी भभूतिए थे। बीच में लकड़ी की धुनी जल रही थी और चारों ओर हम लोग बैठे थे। यहाँ ब्रह्मचारी दयाशंकर की तरह अखंड चिलम-चक्र तो नहीं चल सकता था, किन्तु दो-चार चिलम में कोई हर्ज नहीं था। बाकी वक्त 'सूखा कंकड़' चलता रहा। बातों की कमी न थी, सभी पुराने अखाड़िये थे, और दुनिया घूमते ही जिन्दगी काटी थी। धुनी में ही आटे के टिक्कर लगे, मालूम नहीं तरकारी या दाल थी कि नहीं।

रात को तो मैं कुछ देख नहीं सका था, सबेरे नहाने के बाद घूम-घूमकर प्राचीन विजयनगर के खँडहरों को देखना शुरू किया। उस वक्त पुरातत्त्व की ओर से उल्लेखनीय खँडहरों पर उतने साइनबोर्ड नहीं लगे थे। हर खँडहर का परिचय साथी साधुओं में से पहिले के आये, सुनी-सुनाई परम्परा के अनुसार दिया करते–'यह सुग्रीव की कचहरी है', 'यह बालि का राज-दरबार है', 'यह तारा का रनिवास है', 'यह अंगदकुमार का महल है'....। सभी त्रेतायुग की चीजें, सभी बालि की किष्किन्धापुरी की इमारतें। और मैं जो चला था विजयनगर के ध्वंसावशेषों को देखने ? उनके बारे में वहाँ कोई कुछ बतलानेवाला न था। तो भी ये मन्दिर और महल विजयनगर राज्य के समर्थक हैं, इस बारे में मुझे सन्देह नहीं था। वैष्णव-विरोधी पुस्तिकाओं को पढ़ते वक्त उसमें त्रिपुंड और ऊर्ध्वपुंड (आड़ी-बेड़ी टीका) का भी झगड़ा देखा था। मैं समझता था, वैष्णवों का ऊर्ध्वपुंड बहुत पीछे का है, त्रिपुंड ही सनातन से चला आ रहा है। मैंने एक तरह के ऊर्ध्वपुंडों को यहाँ के मन्दिरों में अंकित देखा। मीलों चले जाने पर भी वे ध्वंसावशेष खतम नहीं हो रहे थे, और उनके मन्दिर, सामने पाषाणगृहों की पंक्तियाँ या बाजार ध्वस्त हो जाने पर काफ़ी रूपरेखा रखती थीं। मन्दिर तो कितने ही आसानी से मरम्मत कराये जा सकते थे। नगर के बीच में पड़ी टेकरियों पर भी कोई न कोई मन्दिर था। इन्हीं मन्दिरों में से एक जगह दोपहर को हम पहुँचे। स्थान आचारियों का था। आचारी–तीन लोक से मथुरा न्यारी–के सिद्धान्तानुसार अपनी डेढ़ चावल

की खिचड़ी अलग ही पकाते हैं। दूसरे सम्प्रदाय के स्थान में खाना-पीना तो उनका हो नहीं सकता, इसलिए दूसरे सम्प्रदायवालों को अपने यहाँ खिलाने की क्या जरूरत—इस खयाल से वैरागी-उदासी-संन्यासी साधुओं का उनके यहाँ आतिथ्य-सत्कार भी नहीं होता, होता भी है तो बेगार की तरह। उक्त स्थान—रामशिला या स्फटिकशिला—के अधिकारी ने और साधुओं के लिए तो भोजन-सामग्री दे दी, और मुझे खाने के लिए बुलाया। इस भेद का कारण क्या हो सकता था ? शायद जटा-भभूत के अभाव के कारण ऐसा किया गया हो।

दोपहर बाद हम तुंगभद्रा के तट पर गये। नदी पार होने के लिए बड़े कढ़ाव की शकल की चमड़े की नाव थी, जिसमें एक बार तीन-चार आदमी बैठ सकते थे। नदी में जहाँ-तहाँ उभड़ी और दबी पत्थर की चट्टानों को देखकर चमड़े के नाव की उपयोगिता मुझे मालूम हो गई। अब हम हैदराबाद रियासत के एक बड़े गाँव या कस्बे में थे। वहाँ कितनी ही दूकानें तथा पक्के घर थे। लोगों ने इसका नाम किष्किन्धा (आजकल की) बतलाया। रात को हम पम्पा-सरोवर पर ठहरे। एक छोटे तालाब—जिसे पम्पासर बतलाया जाता था—पर एक वैरागी स्थान था, दस-पाँच साधु वहाँ बराबर रहा करते थे। निवासस्थान और मन्दिर भी था, शायद काफ़ी गायें भी थीं। अभ्यागत साधुओं की सेवा होती थी।इससे मालूम होता था, कर्नाटक में उत्तरीय साधुओं का कुछ चल बन जाता है।

सबेरे उठकर स्नान-'पूजा' के बाद मैं आसपास की पहाड़ियों पर चढ़ता फिरा। एक पहाड़ी में अंजनागुहा बतलाई गई। यहाँ ही अंज़ना ने हनूमान का प्रसव किया था। मठ से थोड़ी दूर पर पौंढे-ऊख के खेत थे, और शायद मुझे खाने के लिए मोल से बेमोल के एक-दो मिले थे।

पम्पासर से नदी पार कर फिर एक बार हम्पी (विजयनगर) के खँडहरों में आना पड़ा था। खँडहरों में, याद है, कोई बीजापुर का महल या मस्जिद भी देखी थी, जो अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित अवस्था में थी।

बागलकोट—हूसपेट से फिर रेल पर रवाना हुआ। परसा में गुरुजी से पता लगा था, कि उनका एक सादिक (करम-धरम सीखनेवाला साधक) चेला बागलकोट में महन्त है। इधर भी बागलपुर के महन्त की साधु-सेवा की बड़ी ख्याति सुनी थी; और अब मेरा रुपया भी समाप्त हो रहा था, इसलिए कहीं दो-चार दिन ठहरकर उसे मँगाना था। बागलकोट सीधी लाइन पर नहीं है, और जहाँ तक याद है, गडग रास्ते में पड़ा था, किन्तु मैं वहाँ उतरा नहीं था। स्टेशन से मठ में पहुँचने में दिक्कत नहीं हुई। बागलकोट में काफ़ी मारवाड़ी दूकानदार हैं, और हिन्दी भाषा-भाषियों के पादरी तो हम लोग थे ही।

महन्त वैष्णवदास (शायद यही उनका नाम था) को जब मालूम हुआ, कि मैं परसा के महन्त का शिष्य हूँ, तो बहुत प्रसन्न हुए। हमारे गुरुजी उनके 'सादिक' गुरु ही न थे, बल्कि उन्हें महन्ती भी उन्हीं की सलाह से मिली थी, फिर ऐसे व्यक्ति के शिष्य और उत्तराधिकारी की क्यों न खूब खातिर करते ? वैसे भी बागलकोट में साधुओं की बड़ी खातिर होती थी, और उन्हें तीन दिन तक रहने की खुली इजाजत थी। अभ्यागत को कोई काम नहीं करना पड़ता था—दूसरे स्थानों में रसोई की सामग्री को सुधारना, तथा कुछ छोटा-मोटा काम करना जरूरी होता था, किन्तु यहाँ तीन बजे रात को ही महन्तजी उठ जाते। स्नान-पूजा के बाद अपने एक शिष्य के साथ अँधेरा रहते ही रसोई में घुसते। पूड़ी-तरकारी और साथ में हलुवा या पूआ में से कम से कम एक बारहों मास बनता था। कच्ची रसोई खिलाना महन्तजी के ज्ञान के खिलाफ़ था। बागलकोट के मारवाड़ी गृहस्थ महन्तजी की साधु-सेवा में सहायता पहुँचाने में होड़ लगाये रहते थे। सूर्योदय होते-होते, जब नदी से स्नान करके पूजा की इच्छा से मारवाड़ी महिलाएँ आने लगतीं, तब तक रसोई तैयार हो गई रहती।

गाँजे और तम्बाकू पीने में पिछले एक मास मैंने अति कर दी थी, इसलिए सन्देह होने लगा कि पेट में धुएँ की बहुत-सी कालिख जमा हो गई होगी। यहीं अपने हाथ से सनाय की जुलाब बनाकर ली, रुपये के लिए परसा तार तो दूसरे दिन ही भेज दिया था।

बागलकोट के बाहर एक नदी बहती है, और शायद पथरीली। इस तरफ़ धोबी को कपड़ा देने का बहुत कम रवाज है, देखता था सबेरे से शाम तक घाट के ऊपर कपड़ों पर डंडा दबादब चल रहा है।

पंडहरपुर—रुपया आ जाने पर मैं वहाँ से पंडहरपुर के लिए चल पड़ा। नये-नये तीर्थ-स्थानों का पता साधुओं

से लग जाया करता है। पंढरपुर तथा वहाँ के विट्ठलनाथ महाराष्ट्र के माननीय तीर्थ और देवमूर्ति हैं, किन्तु उनके बारे में मैं इतना ही जानता था, कि जब हमारे साथी साधु मैदान में रसोई बनाते, तो कहते—भाई विट्ठल भगवान् से होशियार रहना, अर्थात् कुत्ता कहीं रोटी न उड़ा ले जावे।

पूना-बंबई—पंढरपुर से चलकर पूना में शायद एक दिन मैं ठहरा, वहाँ क्या देखा, इसका कोई खयाल नहीं। बम्बई में पंचमुखी हनूमान में आसन पड़ा। शहर और महालक्ष्मी को देखा। किसी खास चीज ने वहाँ आकर्षण नहीं पैदा किया। जानकी माई की ख्याति सुनी—'वह बहुत-से लोगों को जहाज से द्वारिका भिजवा देती है। उसके बहुत-से बड़े-बड़े सेठ सेवक हैं'—आदि आदि। मुझे बम्बई से सीधे द्वारिका जाना नहीं था, और न किराये के लिए मेरे पास रुपयों की कमी थी।

नासिक—द्वारिका जाने से पहिले नासिक जाना मैंने पसन्द किया। नासिक स्टेशन से शहर तक उस वक्त घोड़े की ट्राम जाती थी, या कम से कम उसकी रेल अब तक मौजूद थी। शहर के बाद पथरीली भूमि में अनेक धार से डूबती-उतराती गोदावरी को पार किया। परसा का एक शाखामठ कपिलधारा (नासिक जिला) में था, जिसकी शाखा नासिक में भी है, यह पता लग चुका था। पता लगाने पर वह जगह तो मिल गई, किन्तु वहाँ उस वक्त कोई आदमी मौजूद न था। नासिक भी महाराष्ट्र में ही है, किन्तु यहाँ वैरागी तथा दूसरे उत्तर भारतीय साधु पन्थों के काफ़ी स्थान हैं, यह देख कुछ नवीनता मालूम हुई; किन्तु पीछे बम्बई में बसनेवाले मारवाड़ी गृहस्थों का खयाल जाते ही वह शंका दूर हो गई। दो-तीन दिन रह पंचवटी और दूसरी जगहों में घूमता रहा।

त्र्यम्बक—नासिक में मालूम हुआ, गोदावरी का उद्‌गम-स्थान त्र्यम्बक बहुत प्रसिद्ध तीर्थ है। उस वक्त कोई वार्षिक मेला था, हजारों स्त्री-पुरुष सड़क से उधर ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ हो लिया। नासिक से त्र्यम्बक कितने मील है, सो तो नहीं याद; किन्तु मैं दोपहर से पहिले नहीं चला था। रात को रास्ते में रहना पड़ा, दूसरे दिन त्र्यम्बक पहुँचा, तो वहाँ भारी भीड़ थी। गोदावरी के स्रोत में स्नान, और त्र्यम्बक का दर्शन किया। ठहरा कहाँ, नहीं कह सकता। करताल और एकतारा ले कई मंडलियाँ कुछ कीर्तन-सी कर रही थीं, जो कि उत्तरी-भारत के मेलों से कुछ भिन्न-सी चीज थी। रात को गैस की रोशनी में भी यह भजन-संगायन होते रहे।

कपिलधारा—त्र्यम्बक से मैं कपिलधारा को चला। गाँव का नाम कुछ दूसरा था और वह देवलाली से नजदीक पड़ता है, किन्तु मैं नासिक से फिर लौटकर बम्बई की ओर जाना नहीं चाहता था। रास्ता पहाड़ी, और पगडंडी का था, खाने के लिए मैंने पास में कुछ पेड़े बाँध लिये। पहाड़ में पानी कम था, और इधर मिठाई खाने से प्यास ने भी जोर मारा। नजदीक में किसी आदमी के न मिलने से एकाध बार मैं रास्ता भी भूल गया, इस प्रकार मेरी दिक्कतें बढ़ गईं। दोपहर को तो प्यास से व्याकुल हो मैं रास्ता-वास्ता का खयाल छोड़ गाँव ढूँढ़ने निकल पड़ा, और काफ़ी दूर जाने पर कुछ झोंपड़े मिले। प्यासा हूँ, कहने पर एक लड़की ने जाकर गाँव से बाहर एक गड़हे को दिखला दिया, जिसका पानी मटमैला-सा था, और मैं समझता हूँ, उसमें मवेशियों के घुसने की भी कोई रुकावट न थी। साधारण अवस्था में वैसे गड़हे का पानी कौन पीता, किन्तु उस वक्त जब कि तालू फटना चाहता था, उस पानी से कौन इनकार कर सकता था ? शाम को पहाड़ के एक बड़े गाँव में पहुँचा। सार्वजनिक चौपाल-सी थी, जिसमें मैंने आसन डाला। रात को एक पुलिस का सिपाही आया, उसने नाम-स्थान आदि नोट किये। खयाल आता है, वह हैदराबाद रियासत का गाँव था, लेकिन इसकी सत्यता पर अब विश्वास नहीं पड़ता। गाँव से बड़े तड़के ही मैं कपिलधारा की ओर चल पड़ा। ऊँचाई से निचाई—ढालुआ समतल जैसी—की ओर, और फिर निचाई से ऊँचाई की ओर रास्ता जा रहा था। रास्ते में कोई आदमी खेत की रखवाली कर रहा था, जिसके पास ठहरकर मैंने मटर या चने के ताजे होले खाये। कपिलधारा मैं दोपहर से पहिले पहुँचा था। उस वक्त महन्तजी वहाँ नहीं थे, कोई एक अभ्यागत साधु मन्दिर का काम कर रहा था। मठ में गायें काफ़ी थीं। भीतर एक झरना था, जिसका नाम कपिलधारा था। महाराष्ट्र के इस अरण्य-पर्वत में कैसे वैरागी स्थान बनाने में सफल हुए, या कैसे चला रहे हैं, और इसका प्रयोजन क्या है ?—यह मुझे समझ में नहीं आया। लेकिन जिस वक्त मेरे दिल में वे खयाल आ रहे थे, उस वक्त मैं त्र्यम्बक से रास्ते की मार खाता आ रहा था। कपिलधारा से देवलाली ज्यादा नहीं है, इस

बात का उस वक्त मेरे दिल में खयाल न था। कपिलधारा में उस साधारण मीठे पानी के झरने के सिवा और कोई खास बात नहीं थी, किन्तु मैं परसा मठ की सुदूर महाराष्ट्र में अवस्थित शाखा के तौर पर उसे देखने के लिए आया था, जिसमें कि परसा लौटकर मैं गुरुजी को बतला सकूँ, कि मैं वहाँ हो आया हूँ। जो अकेला साधु वहाँ रहता था, एक आगन्तुक साधु को देखकर उस पर भारी बोझ-सा पड़ गया। उसने पहले तो कहा–महन्तजी यहाँ नहीं हैं, वह कहीं दूर गए हुए हैं, मैं तो मन्दिर और इन गायों को देखने पर लगाया गया हूँ। कुछ देर इधर-उधर का काम करके वह फिर आया, और बोला–मैं तो भोजन कर चुका हूँ, चावल दे देता हूँ, भोजन बना लें और मट्ठा से खा लें। मैंने कहा–इस वक्त मैं थका-माँदा हूँ, मट्ठा ही दे दो एक लोटा, वही पीकर विश्राम करूँगा।

देवलाली बहुत दूर नहीं, यह सुनकर दोपहर के बाद मैं स्टेशन पर चला आया।

ओंकारनाथ-मान्धाता–बम्बई से ही नासिक की ओर चलते वक्त निश्चय किया था, कि ओंकारनाथ और उज्जैन का दर्शन करते डाकोर से द्वारिका की ओर जाना है। देवलाली से मैंने बुरहानपुर का टिकट लिया, लेकिन वहाँ शहर में ठहरा नहीं। बुरहानपुर से ओंकारनाथ के लिए कौन स्टेशन पर उतरा, नहीं याद; किन्तु शायद एक या दो नदी को पार करना पड़ा था। मान्धाता को स्टेशन से कुछ पैदल चलकर जाना पड़ता है। पहाड़ों के बीच नर्मदा की गम्भीर धारा है, नदी के दोनों तरफ़ बस्ती है, पुल के उस पारवाली बस्ती में किसी गोंडराजा का महल बतलाया जाता था। मैं इसी पार नरसिंहटेकरी के वैरागी के स्थान में ठहरा। नर्मदा की महिमा काशी में अपने वेदाध्यापक गुजराती ब्रह्मचारी से बहुत सुनी थी। वह नर्मदा के किनारे बहुत विचरे थे। उनकी सम्मति में पवित्रता में नर्मदा का स्थान गंगा से कम ऊँचा नहीं है। बल्कि योगियों और तपस्वियों के लिए मुक्तिसाधना का जो सुभीता नर्मदा प्रदान करती है, वह गंगा भी नहीं। ओंकारनाथ में मैं एक से अधिक दिन ठहरा था। शाम के वक्त नदी के तट के ऊपर की ओर दूर तक चला जाता। वहाँ खरबूजे के खेत थे, दिसम्बर या जनवरी होने से वह खरबूजों के पकने का समय तो नहीं था। उस पार के किसी शिवालय में एक शिलालेख मैंने देखा था, किन्तु वह प्राचीन था या नवीन इस ओर उस वक्त ध्यान ही नहीं जा सकता था। पुल पार की बस्ती में भी गया था, कह नहीं सकता ओंकारनाथ का मन्दिर उस पार है या इस पार।

उज्जैन–मान्धाता से चलते वक्त मेरे साथ एक और तरुण नागा साधु हो लिये। मुसल्मानी काल में, समसामयिक सभी देशों में मठाधिकारी तथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए फ़ौजी ढंग से अपने को संगठित करते देखे जाते हैं। भारत में भी वैसा हुआ था। उस वक्त मुसलिम-शासन होने से आज के जैसे हिन्दू-मुसलिम झगड़े तो हो नहीं सकते थे, उसकी जगह हिन्दुओं के आपस के साम्प्रदायिक झगड़े होते थे। हर बारहवें साल, और आपस में कुछ साल का अन्तर दे हरद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिक के चार चढ़ाव ('कुम्भ' मेले) हुआ करते थे, जिनमें यात्रियों की संख्या लाखों तक पहुँचती थी। वैरागी, दशनामी (गोसाईं या संन्यासी) तथा दूसरे सम्प्रदायों के हजारों साधु जमात बाँधकर आते। संख्या और प्रभाव में वैरागी तथा संन्यासी आगे बढ़े हुए थे, इसलिए चढ़ाव में पहिले स्नान करने के लिए इन्हीं में आपस में झगड़े हुआ करते। कबीर का समय तो वैरागियों का आरम्भिक समय था, इसलिए सोलहवीं सदी के अन्त से पहिले वह संन्यासियों से लोहा लेने लायक नहीं हो सके होंगे, इसमें सन्देह नहीं। जान पड़ता है, शुरू-शुरू में झगड़े 17वीं सदी के साथ शुरू हुए होंगे, ज्यादा से ज्यादा उनका आरम्भ हुमायूँ-शेरशाह के समय तक जा सकता है।

इन्हीं चढ़ावों के झगड़ों में पिटकर हर दल ने अपने को मजबूत करना शुरू किया, और हर सम्प्रदाय की सशस्त्र, साधारण युद्ध शिक्षाप्राप्त सेनाएँ बनने लगीं। वैरागियों के दिगम्बर, निर्वाणी, निर्मोही आदि सात अखाड़े बने, संन्यासियों के भी निरंजनी आदि अखाड़े। अखाड़ों में नाम लिखानेवाले तरुण साधु नागा कहे जाते। इन्हें बाना-बनेठी, तलवार-भाला चलाने की बाकायदा शिक्षा होती। वैरागी अखाड़े में प्रविष्ट होनेवाला लड़का हुड़दंगा कहा जाता था, बारह बरस की अखाड़े की सेवा करने के बाद किसी चढ़ाव में पंच लोग उसे नागा बनाते। उस वक्त वह अपने अखाड़े का जरदोजी के काम का झंडा–निशान (दिगम्बर का पंचरंग और दूसरों के भिन्न-भिन्न) रखने और उठाने का अधिकारी होता। बारह बरस का नागा हो जाने पर वह अतीत बनता। इन अखाड़ों के

पास महत्त्वपूर्ण स्थानों में काफ़ी मठ और सम्पत्ति होती, जिनका इन्तिजाम एक महन्त के हाथ में न होकर बहुत कुछ पंचायती होता, और सचमुच संघ का बल निर्णायक होता। नागा-अतीत लोग अपने अखाड़ों के अतिरिक्त, जमात बनाकर एक चढ़ाव के बाद दूसरे चढ़ाव की पैदल यात्रा करते। उनके पास ऊँट रहते। जिस मठ पर भी नागा पहुँचते, उन्हें खिलाने-पिलाने के अतिरिक्त अपने भेष की पलटन समझकर कुछ पूजा भी देनी पड़ती। नागों के यहाँ अपने शिष्यों से ज्यादा सादिक शिष्यों की प्रधानता होती है। ज्ञान-वैराग्य के लिए इनका निर्माण नहीं हुआ था, ये तो थे चढ़ाव और दूसरे मौकों पर भेष के निशान को ऊँचा रखने के लिए। मरने-मारने में वे किसी से डरते न थे।

आज अंग्रेजी शासन के इतने दिनों के बाद इन अखाड़ों और नागों का वह महत्त्व नहीं है। पुरानी बातों की कुछ नकल आज भी हम 'चढ़ावों' पर देख सकते हैं, और इन अखाड़ों के कितने ही मठ और स्नान उज्जैन, हरद्वार आदि जगहों में भी देख सकते हैं।

उज्जैन में हम रात को उतरे थे। मेरे साथी को खारी बावली या कौन स्थान मालूम था, हम लोग बिना दिक्कत के वहाँ पहुँच गये।

उज्जैन में तीन-चार दिन ठहरे होंगे। चढ़ाव के वक्त मेला कहाँ लगता है, उस स्थान को देखा, और बहुत से अखाड़ों में भी गये। महाकाल का दर्शन तो किया था, किन्तु पीछे वह विस्मृत हो गया। जाड़े का दिन था, सर्दी मालूम हो रही थी, इसलिए नागा के साथ मैंने भी एक गरम कोट अपने लिए बनवाई–परसा होता तो कोट की जगह चौबन्दी बनवानी पड़ती। यहाँ भी धुनी के पास ही आसन लगा था, और वह गँजेड़ियों-भँगेड़ियों के चौधराने में थी। एक दिन भाँग की गोली लेकर कुछ नशे में हो, आँखें मूँद, आसन पर पालथी मारे मैं बैठा था। भंग के नशे में आप बोलने लगें तो बहुत बोलते रहेंगे, चुप रहना चाहें, तो एकदम चुप ही रहेंगे। मैं एकदम शान्त आसीन था। आठ-नौ बजे शाम का वक्त था। कोई शहर का श्रद्धालु गृहस्थ बैठा बहुत देर से औरों को बातचीत करते, किन्तु मुझे उस तरह शान्त देख, समझने लगा–कोई योगी ध्यान में मग्न है। उसने पास के साधुओं से जिज्ञासा की। उन्होंने जो तारीफ़ करनी शुरू की–'भगत ! महात्मा हैं नहीं तो यह दुनिया ठहरी कैसे है ?...' मेरे मन में आता था, बोल दूँ–'क्यों झूठमूठ की हाँक रहे हो', किन्तु भगत की श्रद्धा से खेल करना भी तो अच्छा नहीं।

डाकोर–उज्जैन से डाकोर की ओर चलते वक्त उक्त तरुण नागा फिर मेरे साथ था। रतलाम रास्ते में पड़ा, किन्तु हम लोग वहाँ शहर में नहीं गये। हमें जाना था डाकोर–अभिनव-द्वारिका। गुजराती लोग वैरागी साधु कम होते हैं, किन्तु उनके स्थान वहाँ बहुत ज्यादा हैं। डाकोर को तो एक तरह का वैरागी स्थानों का नगर कहना चाहिए। हर गली-सड़क पर कोई न कोई स्थान है। हम लोग खाकचौक (?) में 'उतरे' (ठहरे)।

महीनों से सैकड़ों स्थानों में 'उतरते', बातचीत करते, अब रीति-रवाज, तथा स्थानीय एवं अभ्यागत साधु के कर्तव्य और अधिकार मुझे मालूम हो गये थे। किसी जगह जाने-आने, मिलने-जुलने, रहने-सहने में कोई संकोच नहीं था। अब दरअसल मैं टकसाली साधु बन गया था। इन सभी स्थानों में घूमते हुए मैं देख रहा था, वहाँ पढ़ने-लिखनेवालों का कितना अभाव है; उनका सांस्कृतिक तल कितना नीचा है; लेकिन, इतना होते हुए भी दुरूह रास्तों और स्वागतहीन देशों में जाने के लिए तैयार नौजवान भी उनमें मिलते थे, जो कि मेरे लिए कम आकर्षण की चीज न थी।

बालाजी की तरह डाकोर में भी मुझे एक छोटे-से स्थान के महन्त दामोदरदास से परिचय हो गया। वह साधारण वैरागियों से कुछ अधिक संस्कृत और समझदार थे। उनके स्थान में दो-तीन और साधु थे, महन्तजी के पास काफ़ी समय गप करने, चौपड़ खेलने और बीड़ी-तम्बाकू पीने के लिए था। वह थे भी मेरी ही उम्र के, इसलिए हम दोनों में खूब पटरी जम गई। मैं अक्सर उनके ही यहाँ रहता, चौपड़ खेलने के अतिरिक्त एक गुजराती पुस्तक उनके यहाँ देखकर मैं उठाकर देखने लगा; कितने ही अक्षर तो पहिले ही से परिचित थे, दूसरे-तीसरे दिन मैं उसे खूब पढ़ने लगा, और भावार्थ समझने में भी कोई दिक्कत न थी। दामोदरदासजी ने मुझसे बिहार के अच्छे धानों का बीज माँगा था, जिसे परसा पहुँचने पर मैंने भिजवा दिया था।

अहमदाबाद (जनवरी 1914)–माघ उतर रहा था, जब कि मैं अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। अहमदाबाद में जमाल दरवाजे से बाहर थोड़ी ही दूर पर नरसिंह बाबा का मन्दिर साधु-सेवा के लिए मशहूर हो चुका था। मेरे साथी वहाँ ही जा रहे थे, मैं भी उनके साथ वहीं जाकर धुनी के पास 'उतरा'। धीरे-धीरे देख रहा था, धुनी मुझे ज्यादा आकृष्ट कर रही है, किन्तु क्या गाँजा या सूखे की चिलम के लिए ?–नहीं, बल्कि गँजेड़ी-भँगेड़ी ही परले दरजे के सैलानी भी होते हैं; उन्हीं से ज्यादा 'देश-देशान्तर' की बात सुनने को मिल सकती, उन्हीं की बतलाई अभिज्ञता के अनुसार मैं आगे की यात्रा का प्रोग्राम बना सकता था। कश्मीर, कुल्लू, काठियावाड़, छत्तीसगढ़, अमरकंटक, आसाम के दुर्गम तीर्थों की बातें यहीं धुनी के सामने सुनी जा सकती थीं। स्थान के ब्रजवासी महन्त बड़े सीधे-सादे व्यक्ति थे। एक मैला-सा अँचला, नंगे पैर, नंगे शिर–बस यही वेष था। काम के लिए उनको न आलस्य था, न संकोच। आँगन में झाड़ू-बुहारू कर डालना यह उनके लिए मामूली बात थी। गृहस्थ, उनको मानते थे, और महीने में बीस दिन किसी न किसी की ओर से भोज़ होता रहता था। गुजरात साधु-सेवी प्रान्त के तौर पर साधुओं में बड़ा ही मशहूर है और उसमें भी अहमदाबाद। काली-रोटी, धवली-दाल (पूआ और खीर) को वहाँ के साधारण भोज के तौर पर समझा जाता था। अहमदाबाद में मैं एक मास के करीब रहा, और देख रहा था, बराबर पूड़ी के साथ किसी दिन हलवा, किसी दिन पूआ-खीर। कितने ही गृहस्थ स्थान ही में सामान भेज देते थे, और कितने खाने के लिए अपने घर बुलाते थे। उनके घर जाते वक्त घड़ी-घंटे के साथ साधुओं का जुलूस निकलता, लालसा होने पर निशान (कीमती ध्वजाएँ) भी लगाकर चलते। एकाध बार साबरमती की दूसरी तरफ़ किसी गाँव में भी हमें भोजन करने जाना पड़ा।

स्नान आदि के लिए हमें साबरमती जाना पड़ता, जो स्थान से बहुत दूर नहीं थी। यहाँ भी साधारण लोग धोबी को कपड़ा न दे खुद साफ़ कर लिया करते। नदी की धारा क्षीण थी, उसमें धुले कपड़े का पानी मिल जाता, तो बहुत गन्दा हो जाता था। जाड़े का दिन था, और धोनेवाले जरा देर से काम शुरू करते थे, तब तक जाड़े-पाले ही में बड़े तड़के हम लोग जाकर स्नान कर आते थे। अभी तक साबरमती से गांधीजी का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था। वह उस वक्त अफ़्रीका ही में थे। स्थान में ज्यादातर अभ्यागत साधु थे, जो हफ्ता-दस दिन रहने के बाद चल देते थे। महन्तजी के शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदास गुजराती तरुण थे। कुछ पढ़े थे, किन्तु आगे बैठ गये थे। मुझसे मामूली बातचीत थी। एकाध बार उनके साथ मैं गुजराती गृहस्थ परिवारों में गया। उनमें अधिक शिक्षा, अधिक संस्कृति थी, जैसी कि हमारे यहाँ की नौकरी पेशा शिक्षित परिवारों में देखी जाती है। बीड़ी का भारी प्रचार पहिले-पहिल यहीं मैंने देखा, अभी वह बिहार और युक्तप्रान्त में नहीं पहुँची थी। आगन्तुक के सामने भुना हुआ धनिया, बनी हुई कसैली तथा बीड़ी पेश की जाती थी। गुर्जरों को भी पंचद्रविड़ों में शामिल किया गया है, किन्तु यहाँ छत से टँगा झूला भर तमिल घरों जैसा देखा। परदा नहीं था, किन्तु यहाँ की साड़ी से तामिल-साड़ी का कोई सम्बन्ध न था। शायद मामा की कन्या से भांजे का ब्याह (?) यहाँ तक चले आने के कारण यहाँ के ब्राह्मणों को पंचद्रविड़ों में गिना गया हो। लोग यहाँ के कमजोर थे–बाजरे की रोटी का देश, फिर इतने कमजोर क्यों ?–यार लोगों ने बाजरे का संस्कृत वज्रान्न किया है। स्त्रियों से पुरुष ज्यादा कमजोर, और कितनों का कहना था, वहाँ की स्त्रियाँ अबला नहीं प्रबला हैं; परन्तु शायद बनिया और क्लर्क श्रेणी को देखकर उनकी यह धारणा हुई, बाकी के स्त्री-पुरुषों में ऐसा वैषम्य नहीं देखा।

अहमदाबाद में रहते मैंने गुजराती की कुछ पोथियाँ पढ़ीं। गुरु बनाने की जरूरत नहीं थी, गुजराती का हिन्दी के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा हिन्दी के साथ भोजपुरी और मगही का। गुजरात हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की लपेट में क्यों नहीं आ गया, यह आश्चर्य की बात है। अहमदाबाद में इतने दिन रहने का कारण हुआ, मेरी परसा से आनेवाले रुपये की प्रतीक्षा। मैंने डाकोर से तार दिया था, देर होते देख वहाँ से चला आया, और आखिर जब तक रुपया यहाँ आवे, तब तक मैं प्रस्थान कर गया।

अहमदाबाद से अब जाना था, काठियावाड़ और द्वारिका की ओर, किन्तु अहमदाबाद के साथियों ने कहा–डाकोर जैसी होली इधर कहीं नहीं होती; इसलिए डाकोर की होली देखकर द्वारिका जाने का निश्चय किया। जमाल दरवाजे से दो-एक दिन के लिए हम लोग एक दूसरे स्थान में, शहर की चहारदीवारी के बाहर ही चले आये थे। यहाँ

देखते थे, स्त्रियों को कपड़ों पर जरी का काम करते। पूछने पर बतलाया, निशान यहाँ भी बन सकते हैं, किन्तु उनका कारबार करनेवाले कारीगर सूरत में हैं। निशान में जरी के सूत से महावीरजी की उभड़ी हुई मूर्त्ति बनाई जाती; इसमें शायद कुछ विशेष कारीगरी की जरूरत होती।

देश देखना हो, तो पैदल चलो—इस सिद्धान्त का मैं पूरा कायल हूँ, यद्यपि हर वक्त उसका पालन करना मुझसे भी नहीं हो सका। अब के अहमदाबाद से नड़ियाद के रास्ते डाकोर पैदल आना तय किया। साथी थे, बहुत दिनों से गुजरात में रहता एक नागा, तथा एक बस्ती जिले के मोटे-तगड़े 'रमतेराम' (पर्यटक)। गुजरात के गाँव कुछ बुंदेलखंड के गैरपहाड़ी इलाके गाँवों जैसे मालूम हुए। गाँवों में भी जगह-जगह साधुओं के स्थान थे, जिनसे नागाजी परिचित थे। हम लोग वहीं ठहरते। नरसिंह स्थान (अहमदाबाद) की भाँति यहाँ भी बड़ी-बड़ी गायें पाली हुई थीं। शाम को घी में चुपड़ी बाजरे की रोटी, खट्टे मट्ठे की कढ़ी के साथ मुझे जितनी स्वादिष्ट मालूम होती थी, उतनी वह काली-रोटी, धवली-दाल भी नहीं। यद्यपि रहने की हमें जरूरत नहीं पड़ी, किन्तु गाँवों में कितनी ही जगह चौपालें भी पथिकों के लिए बनी थीं।

नड़ियाद में हम एक अच्छे वैरागी-स्थान में ठहरे। महन्त अब तो उतना नहीं, किन्तु पहिले कुछ नागरिक जीवन पसन्द करते थे। उनके बैठके में अच्छे-अच्छे कौच, गद्दीदार, कुर्सियाँ, झाड़-फानूस तथा तसवीरें टँगी थीं। नागाजी ने बतलाया, यह सब महन्तजी की प्रेयसी की देन है, जिसे मरे कुछ दिन हो गये, और जिसके बाद महन्त के जीवन में उदासी आ गई। गुजरात के वैरागी-मठों में अधिकतर महन्त और स्वत्वाधिकारी युक्त-प्रान्त और बिहार के होते हैं। महन्तों की अवस्था सभी जगह एक-सी है, और सभी जगह प्रेयसियाँ सुलभ हैं, इसलिए इसमें किसी प्रान्त के पुरुषों और किसी प्रान्त की स्त्रियों की कमजोरी बतलाना गलत है। हमारे दोस्त बतलाना चाहते थे, कि गुजरात में तरुण वैरागी सन्ततिप्रवाह कायम रखने में बड़े सहायक हैं, लेकिन मैंने पूछा—जब अधिकतर इनका सम्बन्ध कुलीन विधवाओं से होता है, तो सन्ततिप्रवाह कायम रखने का सवाल कहाँ होता है ? रास्ते में हमारी बीती यात्राओं के वर्णन और नई यात्राओं की योजना के बारे में बात होती रही। हिमालय के देवदारुओं और हिमाच्छादित स्वेत शिखरों ने मेरे हृदय को हर लिया था, इसलिए प्रकृति के सौन्दर्य, साहसपूर्ण यात्रा का जब सवाल आता, तो मैं हिमालय का नाम लिया करता। द्वारिका के तो अब पास पहुँच गये थे, और वहाँ पहुँच जाना कुछ दिनों की बात मालूम होती थी—यद्यपि वह फिर कभी पूरी न हुई। हम लोग आगे की यात्रा में हिमालय और पंजाब को ही शायद ले रहे थे। बस्तीवाले बाबा हममें से सबसे कम घूमे हुए थे।

अब की बार डाकोर में 'चार सम्प्रदाय' में उतरे। वहाँ के महन्त नागाजी के परिचित थे। आसन ऊपर कोठे पर था। हमारे पास ही नाहन के महन्तजी का आसन था। वह एक-दो साधुओं को अपने साथ नाहन ले जाना चाहते थे। बस्तीवाले बाबा तैयार हो गये। आखिर रास्ते में जो हिमालय की तारीफ़ का मैं पुल बाँधता आया था। साधुओं में महन्तजी की शिकायत भी करनेवाले थे, क्योंकि उन्होंने स्त्री रख रखी थी। साथ ही साधु-सेवा में वह डाकोर के किसी स्थान से पीछे न थे, अपनी सारी सम्पत्ति को साड़ी-सिन्दूर पर खर्च नहीं करते थे, इसलिए तारीफ़ करनेवालों की कमी न थी। भारी सम्पत्ति के स्वामी, तथा वैराग्य के आदर्श पर अल्पतम विश्वास रखनेवाले महन्तों को नागरिक जीवन के उपभोगों से वंचित रखकर, अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने की उनसे आशा रखना, वस्तुतः उन्हें आत्मवंचना एवं परवंचना के लिए उत्साहित करना था। 'चार सम्प्रदाय' के महन्तजी बहुत विनीत और मिलनसार पुरुष थे। होली के दो-एक दिन पहिले मैं डाकोर पहुँचा था, और एक-दो दिन बाद चला आया; इतने कम समय में महन्तजी से कितना मिलने-जुलने का मुझे मौका मिला, यह तो मुझे याद नहीं; किन्तु एक बार अपने अस्तबल में उन्होंने मुझे अपनी कच्छी घोड़ी दिखलाई थी। सवारी मैंने नहीं की, उसके लिए जी तो किया होगा जरूर।

डाकोर में उसी तरह की काली भोंडी-सी रणछोड़ (मगधराज जरासन्ध से युद्ध में पराजित हो मथुरा से द्वारिका भाग आने के कारण कृष्ण का यह नाम पड़ा !) की मूर्त्ति है। कहते हैं, रणछोड़ ने द्वारिका छोड़ डाकोर आने की इच्छा एक सीधे-सादे गृहस्थ से प्रकट की, और वह उन्हें डाकोर ले आया। डाकोर में मैं उनके दर्शन के लिए एक-दो बार जरूर गया होऊँगा, किन्तु देर तक प्रतीक्षा करना और कुछ भीड़-भड़कम के सिवा और

कोई बात याद नहीं। होली का जुलूस सचमुच बड़ी तैयारी के साथ निकला था। वैरागी नागों ने गुजरात को आमतौर से और डाकोर को खास तौर से अपना अखाड़ा बना रखा है। उस दिन वह अपने गदका-फरी, लेजिम, बाना-बनेठी के हाथ दिखला रहे थे। चारों ओर अपार दर्शकों की भीड़ दिखाई पड़ रही थी। निशान चल रहे थे–सो तो याद नहीं, किन्तु बाजे बज रहे थे, अबीर लगाई जा रही थी, शायद होली भी गाई जा रही थी, यद्यपि उत्तरी भारत की भाँति गन्दी नहीं; क्योंकि उनके गानेवाले साधु थे; तो भी कृष्ण-राधा, गोपी-कृष्ण के नाम पर उसे सरस बनाया जा सकता था।

डाकोर आते ही मैंने परसा तार दिया था, और होली के दूसरे ही दिन तार के मनीआर्डर के साथ खबर आई–जरूरी काम है, तुरन्त चले आओ।

13
परसा वापिस

डाकोर से परसा बहुत दूर है और मुझे रतलाम, भूपाल, बीना, कटनी, प्रयाग, काशी होते गुजरना पड़ा; किन्तु एक दिन के लिए काशी को छोड़कर रास्ते में कहीं नहीं उतरा। परसा आने पर मालूम हुआ–डोरीगंज के महन्त मर गये, उनके लिए उत्तराधिकारी चुनने का मामला पेश है। डोरीगंज छपरा से कुछ मील पूर्व गंगातट पर किसी वक्त एक अच्छा बाजार था, जब कि रेल के आने से पहिले गंगा द्वारा व्यापार हुआ करता था। जहाँ लक्ष्मी निवास करना चाहती हैं, साधु लोग भी वहाँ अपना आवास बना लेते हैं–इस नियम के अनुसार परसा के किसी साधु ने जाकर वहाँ अपनी छोटी-सी कुटिया बाँधी, वह धीरे-धीरे बढ़कर एक छोटा-मोटा मठ बन गया। बाजार की आर्थिक अवनति का प्रभाव मठ पर भी पड़ना जरूरी था, तो भी उसके पास कुछ खेत और महन्तजी के पास थोड़े से पैसे थे। परसा के महन्त प्रधान स्थान के स्वामी होने के कारण महन्त बनाने का अधिकार रखते थे। डोरीगंज के महन्त यकायक मरे थे, और परसा के महन्त को यह सोचने का मौका भी नहीं मिल पाया था, कि वहाँ कौन महन्त बनाकर भेजा जावे। मरने या सख्त बीमार पड़ने की खबर आने पर मठ की सम्पत्ति की देखभाल के लिए किसी होशियार आदमी को भेजना जरूरी था–होशियार भी हो और महन्तजी का विश्वासपात्र भी, ऐसे आदमी का परसा में अभाव-सा था। लाचार हो उन्होंने अपने एक भतीजा-शिष्य रामलखनदास को भेज दिया। बलिया जिले के सैंथवार गाँव में भी परसा मठ का एक अच्छा शाखा मठ है, वहाँ के पहिले महन्त, रामलखनदास के गुरु थे। उनके मरने पर रामलखनदास को बड़ी आशा थी, कि वही महन्त होंगे, किन्तु उनको महन्त बनाने से परसा के महन्त को भेंट-पूजा कम मिलती, नया महन्त अपने पूर्वज का शिष्य होने से मठ की चल सम्पत्ति पर अधिकार रखता, तथा उसे भविष्य के लिए अपने पास ही रखने की चाह रखता। परसा महन्त ने 'मौनीजी' को सैंथवार का महन्त बना दिया, रामलखनदास का नाराज होना जरूरी था। रामलखनदास वही साधु थे, जिन्होंने लड़के सुदर्शनदास को परसा महन्त के पास शिष्य होने न देकर, सोते ही में उसे कंठी और मन्त्र दे दिया था।

डोरीगंज में जाकर रामलखनदास ने सोचा कि यहाँ भी महन्तजी चाहेंगे, सारे रुपयों को अपने पास रख लेना, और कुछ दूसरा करने पर वह रामलखनदास को महन्त भी न बनावेंगे, इसलिए अबकी बार महन्तजी को छकाने की उन्होंने पूरी तैयारी की थी। पहिले स्थान के गृहस्थ शिष्यों को समझा दिया, कि महन्तजी चाहेंगे डोरीगंज की मिट्टी तक को खोदकर उठा ले जाना। उनकी यही रवैया हर जगह होती है। मठ के सेवकों ने तय किया, कि महन्तजी को वैसा नहीं करने देंगे। इसकी कुछ भनक महन्तजी को लग गई थी, इसलिए उन्होंने मुझे तार दिया था। मैंने सब बात सुनकर इसे अनुचित और नीतिविरुद्ध समझा कि डोरीगंज की सारी चल सम्पत्ति परसा चली आवे। आखिर वहाँ भी मन्दिर और मठ था। साथ ही रामलखनदास के वहाँ की धार्मिक जनता को महन्तजी

के ख़िलाफ़ भड़काने की भी बात मैंने सुनी। सब सोचकर मैंने गुरुजी को समझाने की कोशिश की, लेकिन वह कब उसे पसन्द करते। उन्हें ईंट-चूने-पत्थरों पर स्वाहा करने के लिए हर साल दस-पन्द्रह हजार रुपये चाहिए थे, और समझते थे डोरीगंज के हजार-बारह सौ रुपये बहुत काम के साबित होंगे।

श्राद्ध या भंडारा का दिन आया। एकाध दिन पहिले ही गुरुजी के साथ मैं भी डोरीगंज पहुँचा। महन्तजी ने जहाँ रुपये तलब किये, वहीं स्थानीय गृहस्थों के कान खड़े हो गये। रामलखनदास ने मुस्कराते हुए इशारा करके कहा–'मैं कह रहा था न, महन्तजी के लिए डोरीगंज का स्थान चूल्हे-भाड़ में जाये, उन्हें तो जरूरत है रुपयों से।' गृहस्थ-सेवकों का भी आखिर मठ पर कुछ अधिकार होता है, वे कई पीढ़ी से डोरीगंज के महन्त के शिष्य होते आ रहे थे, मठ की सम्पत्ति में उनके दान का भी रुपया था; और उनकी सन्तान का मठ के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध था, फिर वे नये महन्त को खाली हाथ काम शुरू करने की बात को क्यों पसन्द करने लगे ? उन्होंने नरमी के साथ कह दिया, कि मठ की मरम्मत आदि कितने ही काम बाकी हैं, जिनके लिए वे रुपये रखे हुए हैं। गुरुजी इस बात को सुनकर आग-बबूला हो गये, और लगे 'चौकी तोड़ने'–गुस्सा होने पर मुँह-कान लाल-लाल करके बैठने की चौकी पर आसन बदलते हुए डोलना तथा जली-कटी सुनाना यह महन्तजी की खास आदतों में था। लेकिन वहाँ चौकी तोड़ने से क्या होनेवाला था, यदि गाँव-भर के लोग एक राय थे, तो बीस कोस दूर का बड़े से बड़ा आदमी भी वहाँ क्या कर सकता था ? सैंथवार में रामलखनदास अनुभवी नहीं थे, उनको जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वास था, और जनता को अपनी ओर करने की आवश्यकता को नहीं समझ पाये थे, अबकी बार वे उन गलतियों को दुहराने नहीं जा रहे थे।

न्योता पाकर आसपास के कई स्थानों के महन्त और साधु आये हुए थे। अच्छे खासे भंडारे की तैयारी थी। रुपये देने से इनकार करने पर महन्तजी अड़ गये–'तो मैं रामलखनदास को महन्ती की चादर ही नहीं दूँगा।' मुझे समझाने में बहुत परिश्रम करना पड़ा। मैंने कहा–'आपको चादर न देने पर भी रामलखनदास डोरीगंज से जानेवाले नहीं है, पिछले दस-बारह दिनों में आपके ख़िलाफ़ लोगों को भड़काकर उन्होंने अपनी स्थिति मजबूत कर ली है। फिर नाहक बदनामी लेने से फायदा ? आखिर हजार-बारह सौ रुपयों से आपका कुछ होने जानेवाला नहीं है।' 'चौकी तोड़' उठने के बाद उनका पारा कुछ नीचे उतरता है, यह सबको मालूम था। अन्त में हम लोगों की बातों का असर हुआ, उन्होंने मुँह फुलाये हुए, किन्तु बाहर से क्रोध न प्रकट करते हुए सब काम किया। चद्दर दे रामलखनदास को महन्त बनाया, उनके बाद आए हुए दूसरे महन्तों ने भी चद्दर दी। रामलखनदास सैंथवार के नहीं तो डोरीगंज के महन्त हुए।

रामनवमी परसा में हुई। परसा मठ की रामनवमी, जन्माष्टमी बहुत प्रसिद्ध है। रंडियों की नहीं, किन्तु छोकरों की जितनी नाच-मंडलियाँ आ जावें, उनको खाना और विदाई मिलती है। जन्माष्टमी के भादों में पड़ने से वर्षा के कारण उसमें विघ्न भी पड़ सकता है, किन्तु रामनवमी में दो दिन तक शामियाने के नीचे नाच होती रहती है। जनता को तो मनोरंजन चाहिए–वह चाहे धर्म के नाम पर हो या दूसरे नाम पर। आसपास के पचासों गाँव के लोग नाच देखने के लिए डटे रहते। सबेरे बैंडबाजा, और रोशनचौकी साधारण तौर से बजती, 12 बजे दिन को रामजन्म होता, उस वक्त बाजे की आवाज से कान का परदा फटने लगता, परसादी लेने के लिए लोगों की भीड़ लग जाती। दोपहर को खा-पीकर निश्चिन्त हो नाच शुरू होती, और फिर चलती ही रहती। नाच-गाना देखने का मुझे शौक न हो सो बात नहीं, किन्तु जिस तरह के गवैये वहाँ जमा होते थे, उनके लिए नींद हराम करना मैं अपने लिए उचित नहीं समझता था। कभी-कभी कोई कत्थक या वास्तविक गायक पहुँच जाता–और ऐसा अवसर कम ही होता, क्योंकि गुरुजी के लिए सब धान बाईस पसेरी थे–तो जरूर कुछ समय तक सुनता।

अबकी लौटकर परसा आने पर एक प्रिय परिचित चेहरे को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, वह था वनमाली ब्रह्मचारी का चेहरा। वनमाली वही जो बनारस में मोतीराम के बाग में मेरे वेद के सहपाठी थे, मेरे अपने जिले के रहनेवाले थे, मेरे मित्र थे। मालूम हुआ, मेरे बनारस से चले आने पर उनके मन में भी खलबली पैदा हुई, और वह भी आकर परसा में गुरुजी के शिष्य हो गये, नाम पड़ा वरदराजदास–गुरुजी दिव्य देशों के पर्यटन से

प्रभावित हो आचारियों की नकल करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने शंख चक्र देना शुरू किया था, और इसीलिए वरदराज जैसा आचारी नाम हमारे मित्र को दिया गया। वरदराज को पास पाने से मुझे खुशी और अप्रसन्नता दोनों हुईं। खुशी तो इसलिए कि अब मेरे पास एक अभिन्न हृदय मित्र आ गया था, जिसके सामने बिना कोई परदा रखे अपने हृदय के भावों-सन्तोषों, असन्तोषों–को रख सकता था; अप्रसन्नता इसलिए हुई, कि परसा मठ के समाज, उसके विद्याविमुख तथा निम्नकोटि के वातावरण से मैं स्वयं ही असन्तुष्ट था; उसमें एक और अपने मित्र को फँस गये देखना मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। तो भी स्वार्थ के खयाल से तो खुशी की मात्रा ही मुझमें ज्यादा पैदा हो सकती थी।

मेरे लिए फिर वही चर्चा। जमींदारी के गाँवों को देखो, कागज-पत्र समझो, मामले-मुकदमे के लिए कारपर्दाजों को हिदायत करो, दिनों-दिन बढ़ते कर्ज के बोझे की फिक्र में मरो, और इन सब बातों के साथ अकल का अपमान करने के लिए हर वक्त तैयार रह चाटुकारों की खुशामदों को सुनो। गर्मी के दिन, किसी तरह नौ-दस बजा दिये; फिर तो गर्मी में बाहर जाने या किसी से मिलने-जुलने की बात नहीं; कोठरी में बैठा पंखे के नीचे या वैसे कुछ किताबें पढ़ता, वरदराज से बातें करता, या सो जाता। चार बजे उठने पर फिर कुछ इधर-उधर मठ के काम को देखता। ठंडा होने पर चाहे घोड़े पर चढ़कर या टमटम से चार-छै मील की सैर करता। टमटम से जाने पर एकमा की ओर जाता। टमटम कितनी बार उलटा होगा, गिरा भी होऊँगा, घोड़े से गिरने की तो नौबत नहीं आई, किन्तु कभी मुझे चोट-फाँट नहीं आई। एक दिन एकमा से टमटम हाँके आ रहा था, घोड़ा कुछ देखकर भड़का, और तुरन्त एक पहिया बीच के ऊँचे रास्ते से डेढ़ हाथ नीचे जा पड़ा। पहिया नीचे जाने का मुझे खयाल है किन्तु किस वक्त दिमाग को उसकी खबर मिली, किस वक्त उसने हाथ-पैरों को फाँद जाने की इजाजत दी, यह मुझे नहीं मालूम। टमटम बिलकुल उलट गया, उसका बम घोड़े की पीठ पर चला गया, खैरियत यही हुई कि घोड़ा नहीं उलटा। घोड़ा सहित टमटम के उलटने की भी नौबतें आईं, किन्तु मैं उसी तरह फुटबाल की तरह उछल जाता। एक बार की घटना मुझे याद है, जिसका स्मरण आने से अब भी रोमांच हो जाता है। परसा से जल्दी में किसी गाँव को जाना था। टमटम और बग्घी द्वारा जाने में देर लगेगी, और ज्यादा दिन का काम भी न था, इसलिए साईस को पैदल भेजकर मैं घोड़े पर साधारण गद्दी कस, खरहरा करनेवाली बिना काँटे की लगाम लगा परसा से चल पड़ा। बाजार की सड़क जहाँ एकमा से आनेवाली सड़क में मिलती है, वहाँ चार-चार पाँच-पाँच वर्ष के कितने ही बच्चे चौरस्ते पर खेल रहे थे। घोड़ा दौड़ाये हुए मैं आ रहा था, और जब नजदीक आ गया, तो लड़कों को देखा। लगाम रोकी, किन्तु वह उसकी क्यों सुने। घोड़ा जिस वक्त लड़कों के खेलने की जगह पर टाप मारता गुजरा, उस वक्त मैं संज्ञाहीन-सा था, मेरी आँखें बलात् मुँद गई थीं। आगे रोकने में सफल हो घोड़े को मोड़ा, मेरा चित्त खिल गया, जब देखा, कि सभी बच्चे भागकर सड़क के दोनों किनारों पर खड़े हो गये हैं। यूथ-प्रतिभा उनकी काम कर गई। शायद कुछ अधिक उमर के होने पर उनमें से एकाध जरूर भौंचक हो वहाँ रह जाते।

इसी साल या इससे पहिलेवाले साल में जब मैं परसा में था, भारतीय पुरातत्त्व विभाग के दो फोटोग्राफर एस. गांगोली तथा पिंडीदास पुरानी वस्तुओं का फोटो लेने के लिए आकर एकमा के डाकबँगले में ठहरे। वह परसा भी आये। उस वक्त मैं पुरातत्त्व-सम्प्रदाय के नाम से भी अपरिचित था, फिर उनके काम के महत्त्व को क्या समझता ? पिंडीदास ने मठ में आकर कुछ पूछ-ताछ की, और मैं ही ऐसा आदमी था, जिससे वह कुछ पूछ-ताछ सकते थे। उस वक्त मन्दिर के उस सभामंडप को तोड़ दिया गया था–जिसमें कि कितनी ही सुन्दर नक्काशी के काम की काठ की टोडियाँ लगी हुई थीं। उन्होंने बाकी खड़े मन्दिर-शिखर और समाधि के फ़ोटो लिये, मेरा भी पहिला फ़ोटो इसी वक्त लिया गया, पिंडीदासजी ने उसकी एक कापी दी भी थी, किन्तु वह अयोध्या जाते वक्त मनकापुर में वरदराज से खो गई। उन्होंने एक फ़ोटो घोड़े पर भी लिया था और पता दिया था इंडियन म्युजियम कलकत्ता का; किन्तु मैंने उसके लिए चिट्ठी नहीं लिखी। दोनों सज्जनों को इधर-उधर जाने के लिए मैंने अपना टमटम दे दिया था, न देने पर उन्हें पुराने ढंग के एकमा के एक्कों पर चढ़कर जाना पड़ता, जिन पर खाकर सवारी करने पर पेट स्वतः खाली हो जाता था।

बहरोली गाँव ठीके पर दिया जा चुका था, उसके बाद जानकीनगर (थाना बसन्तपुर के बिल्कुल नजदीक) ही मठ का दूसरा बड़ा गाँव था। इसे परसा के बाबुओं ने 'जानकी'जी के राग-भोग के लिए प्रदान किया था। उस समय इसका नाम बौंडैया था। पीछे कर्ज या मालगुजारी में बाबू लोगों की जमींदारी नीलाम हो गई, नये खरीददारों ने और गाँवों के साथ बौंडैया को दखल करना चाहा, किन्तु तब तक बौंडैया जानकीनगर में परिणत हो गई थी। खोजकर हार गये, उस नाम का गाँव नहीं मिला–यही पुरानी कहावत है। जानकीनगर में मठ की बाईस सौ रुपये की आमदनी थी, सरकारी मालगुज़ारी, दायमी-बन्दोबस्त के अनुसार सौ या सवा-सौ देना पड़ता था, जिसे लार्ड कार्नवालिस के वक्त मुकर्रर किया गया था। गुरुजी के साथ मैं भी जानकीनगर में जमींदारी की देख-भाल करने गया था। बिहार का जमींदार छोटा मोटा राजा है–कम से कम उस वक्त था, स्त्री-पुरुष के झगड़े में भी जुरमाना लेता था, मामूली मारपीट के झगड़े थाने तक जाने नहीं पाते थे, दोनों ओर से कुछ ले-देकर जमींदार या उसके कारपर्दाज दबा देते थे। जमींदार न्याय करते हों, सो बात नहीं, उन्हें तो हर साल जुरमाने में अधिक से अधिक रुपये मिलने चाहिए थे। मैं भी उस वक्त जमींदारों के इस अधिकार को दूसरी बहुत सामाजिक बातों के साथ सनातन और जायज समझता था; यद्यपि मेरी कोशिश थी पूरी न्याय करने की। जानकीनगर में किसी जबर्दस्त आदमी को दूसरे कमजोर के ऊपर अत्याचार करते मैंने पाया। गवाही-साखी से कसूर साबित हुआ। मैंने जुरमाना किया। जमींदार के कारपर्दाज गाँव के जबर्दस्त आदमी का ही पक्ष लेना पसन्द करते हैं, उन्होंने मुझसे जुरमाना छुड़वाने के लिए कोशिश की। किन्तु इस बारे में मेरे स्वभाव को वह जानते थे; फिर उन्होंने गुरुजी से सिफ़ारिश करनी शुरू की। उन्होंने जुरमाना माफ़ कर दिया। मुझे यह बहुत नागवार गुजरी। नियम और व्यवस्था का पद-पद पर अवहेलना करना उनके स्वभाव में था–यह मैं जानता था; फिर भी मैंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; और नाराज हो वहाँ से सीधे परसा चला आया।

लीची शुरू हो गई थी, आम के आने में बहुत देर न थी, तो भी नहीं कह सकता मीठी-मीठी लीचियाँ मेरे मन को बहलाने में समर्थ हुई थीं। परसा का रहना मुझे सिर्फ़ अपने समय को बरबाद करना मालूम होता था–उस समय को पढ़ने या दुनिया की सैर में लगा सकता था। वरदराज मठ ही पर थे, और उनसे भविष्य के कार्यक्रम पर बात होती रहती थी। यागेश के बहुत से गुण वरदराज में थे। दोनों नये स्थानों, नये दृश्यों को देखना पसन्द करते थे, दोनों मुझसे घनिष्ठ अनुराग रखते थे, और साथ ही दोनों पढ़ने-लिखने को ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे; इस तीसरी बात में यदि वे मेरे सहरुचि रखनेवाले होते, तो शायद जीवन की दौड़ में बहुत दूर तक हमारा साथ रहता।

जिस वक्त मैंने कनैला से सम्बन्ध तोड़ा नहीं था और बनारस में पढ़ रहा था, उसी समय पिताजी कनैला से पूर्व जिगरसंडी गाँव की एक जमींदारी खरीदना चाहते थे। एक बार उसके मालिक दस्तावेज लिखने भी गये थे, किन्तु किसी बात के कारण पटरी नहीं जमी। पीछे उन लोगों ने उस जमीन को एक दूसरे आदमी को लिख दिया। पिताजी ने अपनी सबसे छोटी बहिन के ससुर के नाम से–जिनके नाम कि उस जगह की जरा-सी जमीन पहिले साल लिखी जा चुकी थी–हकशफ़ा दायर किया था; अब हकशफ़ा में उनकी जीत हो गई। उन्हें दूसरे बैदार को रुपया लौटाना था। मीयाद नजदीक और यहाँ नकद रुपये नदारद। कर्ज पर दिये हुए रुपये उस वक्त लौट न सकते थे। मेरे चचा प्रताप पांडे कुछ दस्तावेजों को लिये तत्काल कुछ रुपये कर्ज लेने के खयाल से परसा आये। मैं समझ सकता था, कि असाधारण घबराहट में ही वह इधर आने पर बाध्य हुए, किन्तु मैं इस तरह के मामले में ऐसे भी हाथ नहीं डाल सकता था, और इस वक्त तो अभी-अभी झगड़कर जानकीनगर से मैं चला आया था। दूसरों के साथ रूखे बरताव के मेरे बहुत कम उदाहरण हैं, इस वक्त भी एक ऐसा ही उदाहरण मेरा अपने चचा के साथ हुआ, जिसकी स्मृति मुझे सदा अप्रिय मालूम होती है। मैंने कह दिया–'मैं कुछ नहीं जानता, आप महन्तजी के पास जायें।'

वर्षा शुरू हो गई थी। उस साल आमों की फ़सल अच्छी आई थी, अथवा दुनिया के लिए अच्छी फ़सल आवे चाहे नहीं, मेरे जैसी स्थिति के लोगों के लिए आम दुर्लभ चीज नहीं थे। फ़सल के वक्त उस समय के फलों को ही अपने भोजन का प्रधान भाग बनाना मेरी आदत है, चाहे दूसरी खाद्य-वस्तुओं से वह कितने ही सस्ते

क्यों न हों; हाँ, बारहो मास मिलनेवाले फलों के बारे में मेरा यह पक्षपात नहीं। पके कटहल को पेट-पेटभर खाते देखकर मेरे साथी डरने लगते थे, किन्तु मैं बड़े चाव से खाता था। इस वक्त आमों का खूब दौर-दौरा था। सबेरे, दोपहर और शाम के भोजन में काफ़ी परिमाण में उनका रहना बहुत जरूरी था। गुरुजी को डर था, कि मैं फिर किसी तरफ़ निकल जाऊँगा, इसलिए खिदमतगार के अतिरिक्त एक सिपाही और एक-दो साधु मुझ पर पहरा देने के लिए नियुक्त किये गये थे। दरअसल रात को सोते वक्त, बिना हथकड़ी-बेड़ी तथा काल-कोठरी के मैं एक कैदी से बेहतर हैसियत नहीं रखता था। मेरा दिमाग भागने की ताक में था, अब के वरदराज भी मेरे सहयात्री बनने को तैयार थे। दोनों का साथ निकलना असम्भव मालूम हुआ, इस पर तय किया गया कि मैं निकलकर 10, 12 मील दूर महाराजगंज के एक मठ में ठहरूँ, वहीं वरदराज भी आ मिलें, फिर दोनों साथ यात्रा शुरू करें।

एक दिन मुझे मौका मिल गया। पानी बरस रहा था, और रात थी। खाली देह लिये महाराजगंज के उस मठ में पहुँचा। दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी पहुँच गये। हम दोनों साथ परसा मठ के एक अच्छे शाखा मठ बगौरा में गये, जो कि वहाँ से तीन-चार मील पर था। महन्तजी पहिले से भी परिचित थे। बड़ी आवभगत हुई। वे समझ गये हम भागकर आये हैं, लौटाने की बहुत कोशिश की, किन्तु हमने कहा—वहाँ रहना वक्त बरबाद करना है, अयोध्या में रहेंगे, तो कुछ पढ़ेंगे। महन्तजी खुद तो पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उसकी कद्र जानते थे, तभी तो अपने एक शिष्य को बनारस में पढ़ने के लिए भेज रखा था। उस वक्त बगौरा में पूड़ी और आम ऊपर से दूध का भोग लगता था। परसा की तरह बगौरा में कितने ही बड़े पुराने तथा धनी जमींदार परिवार हैं। इस मठ की चार-पाँच हजार वार्षिक आय की जमींदारी का अधिकांश भाग वहाँ के बाबू लोगों का ही दिया हुआ था। परसा में बाबू लोगों का मठ की संरक्षता को लेकर जबर्दस्त मुकदमा हो चुका था, बगौरा में अभी नहीं हुआ था; किन्तु उस वक्त किसको मालूम था, कि वह गर्भ में है और अचल 'सीता' (मन्दिर की मूर्ति) के लिए चढ़ाई रेशमी साड़ी किसी चलती-फिरती सीता के बदन पर पहुँचकर गजब ढायेगी।

दो-चार दिन बगौरा रहकर हम अयोध्या को रवाना हो गये।

14

अयोध्या में तीन मास (1914 जुलाई-सितम्बर)

दुरौंदा से गाड़ी में चढ़ते वक्त हम दो डब्बों में बैठ गये थे। मैंने वरदराज को कह दिया था, कि गोरखपुर से अगले स्टेशन पर उतर पड़ना। शायद हम लोगों में से एक बिना टिकट का था, नहीं तो वरदराज वहाँ का उतरना न भूलते, और न हम दोनों को दो डब्बों में बैठने की जरूरत पड़ती। मैं जिस स्टेशन पर उतरा,शायद वह डोमिनगढ़ था। ढूँढ़ा, लेकिन वहाँ वरदराज का पता नहीं। स्टेशन मास्टर से परिचय हो गया। शाम को उन्हीं की सहायता से रवाना होकर मनिकापुर में ट्रेन बदल लकड़मंडी पहुँचा। अयोध्या सामने दिखलाई पड़ रही थी। बिना पैसा-कौड़ी जा रहा था, किन्तु अब बिना पैसा-कौड़ी भी काफ़ी दुनिया देख चुका था, इसलिए अयोध्या की ओर पैर बढ़ाना घर की ओर जाना-सा था। बरसात होने के कारण इस वक्त पुल नहीं स्टीमर चल रहा था, और शायद गोलाघाट पर लगता था। स्वर्ग द्वार पर विदेहीजी के स्थान का नाम मैं पहिले ही सुन चुका था, इसलिए वहीं जाकर उतरा। नीचे सीढ़ी की बाईं ओर की कोठरी में रहने के लिए जगह मिली।

सावन का महीना अयोध्या में बहुत चहल-पहल का होता था। आधी अयोध्या मन्दिरों और मठों से भरी हुई है, इस महीने में हर मन्दिर में राम-सीता झूला झूलते। झूले को खूब फूलों, लट्टुओं और रोशनी से सजाया जाता। हर जगह थोड़ा-बहुत संगीत का प्रबन्ध रहता, अधिक समृद्ध मन्दिरों में नाच भी होती, और किन्हीं-किन्हीं मन्दिरों के 'सीताराम' तो रंडियों का नाच भी देखते। मुझे कुछ आश्चर्य और कुछ अभिमान हुआ, जब कि झूले

की झाँकी निहारते वक्त घूमते समय सुना कि पास के मन्दिर में झूलन में छपरा की विख्यात नटी तौखी नाच रही है। तौखी का नाम याद रह गया, क्योंकि 1922 में तिलकस्वराजफ़ंड में उसने काफ़ी रुपया देकर दिखलाया था, कि एक रंडी भी हृदय रख सकती है। युक्तप्रान्त और बिहार के दूर-दूर के कोनों से श्रद्धालु स्त्री-पुरुष झूलन देखते सावन बिताने के लिए अयोध्या आते हैं। हम लोगों को निश्चय ही सावन का आकर्षण खींचकर नहीं लाया था।

दूसरे या तीसरे दिन वरदराज भी मिल गये। उन्हें अपने जन्मस्थान का एक वृद्ध साधु मिल गया था। परसा मठ के एक महात्मा अयोध्या की अन्तरंग धार्मिक-मंडली में बहुत विख्यात थे, उन्हीं के द्वारा हमें एक-दूसरे का पता लग पाया।

पाँच-सात दिन तो अयोध्या के भिन्न-भिन्न मठों, मन्दिरों को देखने, रात को झूलनोत्सवों का आनन्द लेने में हमारे बीत गये। दर्शकों में यही चर्चा रहती थी—'अमुक स्थान की फूलों की सजावट बड़ी सुन्दर थी', 'अमुक स्थान में रोशनी अच्छी थी', 'अमुक स्थान में हरी-पीली घासों को कैसा सजाया था ?' '··· मन्दिर में कत्थक नाचने में कमाल कर रहा था। दर्शकों की चलन्तू मंडली आधी रात तक चलती-फिरती रहती। दूसरे मन्दिरों में तो ताँबे, पीतल, अष्टधातु के राम-सीता झूले पर झूलते किन्तु 'रसिक' लोगों के यहाँ देखने-सुननेवाले, चलने-फिरनेवाले, जीते-जागते, राम-सीता झूलन का आनन्द ले रहे थे। रामलीला की तरह छोटे-छोटे सुन्दर लड़कों को राम-सीता बनाकर वहाँ झूले पर बैठाया जाता। रामजी 'द्वापर' के वेश में पट्टा काढ़े, किरीट-मुकुट बाँधे, नाक में मोती पहिने, धनुष-बाण लिये बैठे होते, उनके पास लहँगा-दुपट्टा ओढ़े शिर पर चन्द्रिका दिये जानकीजी होतीं। दोनों के शिर में चन्दन-खौर घसी रहती। गोलाघाट के महात्मा श्री रामवल्लभाशरणजी अपने श्री-करकमल से राम-जानकी को झूला झुला रहे थे, बलैया लेते उनके मुँह में पान के बीड़े दे रहे थे। वहाँ रोशनी के मारे रात का दिन हो रहा था। फूलों और अतर की सुगन्ध से सारी हवा लदी हुई थी। यहाँ फ़ैजाबाद तथा दूसरे नगरों के सम्भ्रान्त परिवारों के स्त्री-पुरुष बाल-बच्चों सहित बैठे झूले की झाँकी तथा संगीत का आनन्द ले रहे थे। लक्ष्मण किला, हनुमतनिवास जैसे रसिक देवालयों में सावन के लिए खूब तैयारी थी। अपनी सूक्ष्म रुचि का इन लोगों को अभिमान था, और वह अभिमान बहुत कुछ दुरुस्त भी था।

परसा के शिष्य एक भजनानन्दी महात्मा के पास जाने-आने का मौका न मिला होता तो मुझे सखीमतवालों के बारे में विशेष जानने का मौका नहीं मिलता। यद्यपि उस वक्त भी, और इधर तो ज्यादा मैंने कहते सुना कि सखीमतवाले दाढ़ी-मोंछ मुड़ाकर, लम्बा केश बढ़ाये बिलकुल स्त्री-वेष में रहते हैं, किन्तु अपने परिचित व्यक्तियों में मुझे ऐसे चेहरे नहीं देखने में आये। हाँ, स्त्रैण भावना उनमें ज्यादा होती है। मेरे स्थान के उक्त महात्मा भी भीतर से सखीभाव रखते थे, ऊपर से तो लम्बी दाढ़ी-मूँछ, लम्बा केश, अँचला और शिर पर एक सफ़ेद गमछा रहता; किन्तु उनके शिष्य का इसी वेष के साथ, ललाट पर राम-नाम के छाप के अतिरिक्त स्वर बिलकुल स्त्रियों का था। बोलने और चलने में स्त्रियों की हूबहू नकल करते तो मैंने भी बहुत से सखीमतानुयायी देखे। उनका कहना है—पुरुष तो एक भगवान् ही हो सकते हैं, दूसरा व्यक्ति पुरुष भाव रखकर भगवान् की भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता; इसीलिए भगवान् की भक्ति के लिए सखीभाव की पूर्ण साधना बहुत आवश्यक है। हर 'सखी' (सखीमतानुयायी) का एक स्त्रीलिंगी रहस्य नाम होता है—'लवंगलता', 'अनंगलता'। वह राम को अपना पति समझकर उनकी पूजा करती, उनको साथ लेकर कितनी ही सोती तक, और कितनों को तो मासिक-आर्तव का भी अभिनय करते देखा जाता। रसिक या 'सखी' लोग दूसरों की भक्ति को अनाड़ियों की-सी निम्न कोटि की मानते। यह 'राम-जानकी' पूजा-अर्चा में आजकल के राजा-रानियों के उपभोग की सारी सामग्रियाँ यथाशक्ति उपस्थित करना चाहते। 'सखी' लोग वियोग नाट्य नहीं, सदा मिलने के बाने को पसन्द करते। उनके कपड़े भी कुछ अधिक नफ़ीस, चेहरे पर स्निग्धता (चिकनापन) ज्यादा, वाणी स्त्रैण और मधुर होती। एक दिन श्रीराम-वल्लभाशरणजी से हम लोग बातचीत करने गये थे, वेदान्त पाठशाला के बारे में उन्होंने राजकुमार रामसम्बन्धी निजनिर्मित पहिले तो कुछ कवित्तें सुनाईं, फिर जिस उद्देश्य को लेकर हम गये थे उस पर भी बातचीत की। उस वक्त उनका बारीक अँचला सूती था या रेशमी सो तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु चादर सफ़ेद काशी सिल्क की

थी। केसरिया चन्दन से सीताराम तथा चन्द्रिका-मुद्रिका द्वारा उनका सारा ललाट दोनों आँखों के बाहरी कोनों तक अंकित था। जिस स्वर और हाव-भाव से बोल रहे थे उसमें गम्भीरता जरूर थी, किन्तु उससे मालूम होता था, कोई दाढ़ीवाली महिला बोल रही है।

किसी समय जानकी घाट–सखीमत का उद्गम स्थान–अपने सख्य-भाव और शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रसिद्ध था, फिर किला के युगलानन्यशरण का सितारा चमका जो इस वक्त डूब चुका था। इस वक्त वहाँ के महन्त स्त्रीनाट्य नहीं पुरुषाभिनय को ही तरजीह देते थे। गोलाघाट के श्रीरामवल्लभाशरण की प्रकट तथा पंडित वल्लभाशरण की गुप्त सख्यभावना की ख्याति थी, किन्तु वस्तुतः सखी समाज का केन्द्र हनुमत-निवास हो रहा था, जहाँ के महन्त गोमतीदास सख्यभक्ति में बहुत पहुँचे हुए समझे जाते थे। उनकी शक्ति प्रभाव की वृद्धि को मुबारकपुर (छपरा) के श्रीभगवानूदास–जो गृहस्थावस्था में परसा के पहिलेवाले महन्त श्रीरघुवरदास के शिष्य थे–की उनके प्रति श्रद्धा ने और बढ़ा दिया था। श्रीभगवानूदासजी अपने भक्तों में रूपकलाजी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, वह पहिले स्कूलों के डिप्टी-इन्स्पेक्टर थे, पेनशन लेने के बाद वह घर से विरक्त हो गये, और अयोध्या में रहने लगे। जिस वक्त की बात मैं लिख रहा हूँ, उस वक्त वह हनुमत-निवास में रहा करते थे। दाढ़ी-मूँछ मुँड़ाये वह पूरी तौर से स्त्री-रूप में रामभक्ति कर रहे थे। उनका बिहार के एक श्रेणी के शिक्षितों पर बहुत प्रभाव था, जिससे उनके लिए तो हनुमत-निवास काबा बन गया था।

सखीमत के सभी कर्णधारों के बारे में तो नहीं कह सकता, किन्तु अधिकांश तो इस रामभक्ति की आड़ में अपने स्थानों को अस्वाभाविक व्यभिचार का अड्डा बनाये हुए थे। मुझे आश्चर्य होता था, गृहस्थों में कितने ही इस रहस्य को जानते हुए भी क्यों उनकी ख्याति बढ़ाने में सहायक होते हैं।

पाँच-सात दिन में अयोध्या काफ़ी देख लेने के बाद अब पढ़ाई का सिलसिला भी जारी करना था, उसी वक्त पता लगा, गोलाघाट के पास 'दिव्य देश' (मद्रासी ढंग पर बने आचारी-देवालय) में एक वेदान्त पाठशाला खुली है, जिसमें एक योग्य मद्रासी विद्वान् पढ़ाते हैं। मैं भी जाकर वहाँ दाखिल हो गया। छात्रों की संख्या बारह-तेरह रही होगी, जिनमें तीन-चार को छोड़ बाकी सभी वैरागी थे, और यही अच्छे विद्यार्थियों में से थे। शायद वेदार्थ-संग्रह का पाठ चल रहा था। तिरुमिशी में रहते मैंने 'यतीन्द्रमतदीपिका' (रामानुजवेदान्त का प्रारम्भिक ग्रन्थ) पढ़ ली थी। शंकर वेदान्त का भी कुछ परिचय था, इसलिए उसके पढ़ने में मेरी खूब रुचि रहती। ददुआ साहेब (अयोध्या के राजा) के महल के पीछे उन्हीं के मकान में कुछ महाराष्ट्र वैदिक रहते थे। विदेहीजी के स्थान में रहनेवाले एक ब्राह्मण विद्यार्थी से पता लगा, कि वहाँ एक पंडित सामवेद पढ़ाते हैं। मैंने वहाँ जाकर सामवेद भी 'पढ़ना' शुरू किया–पढ़ने से मतलब यहाँ सस्वर पाठ से है। गुरुजी खुद भी गर्दभ स्वर का ही अनुकरण कर सकते थे, और ईंजानिब भी ब्रह्मा के पास उस वक्त पहुँचे थे, जब वह मृदु और संगीतोपयोगी स्वरों को बाँट चुके थे। खैर, साम-गान में कैसे पाठ की विकृति गायन के खयाल से की जाती है, इसका कुछ परिचय मिला। अध्यापक यदि गायक भी होते तो शायद और ज्यादा मजा रहता। वैदिक गुरु हमें बड़े प्रेम से पढ़ाते, और अयोध्या के निवास में आखिरी महीने को छोड़ बराबर उनके यहाँ मैं पढ़ने जाया करता।

वेदान्त पाठशाला में पढ़ते ही वक्त साथियों के अनुरोध से मैं प्रमोदवन की बड़ी कुटिया में आ गया। यहाँ उस वक्त सौ से अधिक साधु रहा करते, और यह अयोध्या के अच्छे साधु-सेवी स्थानों में गिना जाता था। हमारे कई सहपाठी इसके आसपास ही रहा करते थे। यह वह जमाना था, जब कि धार्मिक जगत् में सार्वजनिक व्याख्यानों की चहल-पहल थी, आर्यसमाजियों, सनातनियों, ईसाइयों, मुसल्मानों के परस्पर शास्त्रार्थ-मुवाहिसे हुआ करते थे। व्याख्याताओं की बड़ी कद्र थी। यद्यपि अयोध्या के पुरानी चाल के महात्मा मजमें में गला फाड़कर हाथ-पैर डुलाते हुए इस चीत्कार को बिलकुल धर्मबहिर्मुख नई चाल समझते थे; किन्तु नौजवान पीढ़ी को भाषणमंच की शक्ति का जरा-जरा भान होने लगा था। अभी हाल में ही भरतपुर के अधिकारी··· जी, और महन्त लक्ष्मणाचार्य का बड़ी जगह में भाषण हुआ था, जिसे हम भी सुनने गये थे। इसका असर यह पड़ा कि हम कई साधु-विद्यार्थियों ने मिलकर बड़ी कुटिया में एक छोटी सभा के रूप में भाषणमंच तैयार किया। उस सभा का रूहेरवाँ मैं था। सप्ताह में एक दिन हम लोग किसी विषय पर भाषण देते। यद्यपि मेरा वह पहिला ही प्रयास था, किन्तु वहाँ

में 'अन्धों में काना राजा' समझा जाता था। स्वामी हंसस्वरूप, पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र के छपे हुए व्याख्यानों को हम लोग अपनी भाषण-शिक्षा का अंग समझते थे। आर्यसमाज के प्रहारों से हिन्दुओं के प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय तंग आये हुए थे। आर्यसमाजी मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, अनेकदेवतावाद, पुराणोपरिश्रद्धा आदि सिद्धान्तों का बहुत जोर से खंडन करते थे। यह खंडन अखबारों और पुस्तकों ही में नहीं छपता था, खुद अयोध्या में भी फ़ैजाबाद के महाशय केदारनाथ धूम मचाए हुए थे। जब तब उनका व्याख्यान हो जाया करता, यद्यपि मुझे उसे सुनने का कभी मौका नहीं मिला। आर्यसमाजी अपने इस संगठनात्मक प्रवृत्ति से अप्रिय हो गये थे, किन्तु यह अप्रियता धार्मिक व्यवसायियों ही तक परिमित थी, दूसरे हिन्दू उनके इस्लाम से 'लड़' कर हिन्दू धर्म की रक्षावाली नीति से प्रभावित होते जा रहे थे।

सभा का हमने क्या नाम रखा था ? याद नहीं। खैर, बड़ी कुटिया में शाम को सप्ताह में एक बार हम लोग व्याख्यान दिया करते थे। भाषण सीखने की लालसा तो छूत की बीमारी की तरह फैल ही गई थी। देखा-देखी पंडित वल्लभाशरण के यहाँ के विद्यार्थियों ने भी अपने यहाँ सभा कायम की। मैं बीच-बीच में इचाक-मंदिर में पंडित गोविन्ददास के पास आया-जाया करता था। मेरे व्याख्यानों की ख्याति बड़ी कुटिया से बढ़कर यहाँ के विद्यार्थियों तक भी, मालूम होता है, पहुँच गई थी। उन्होंने मुझे व्याख्यान देने के लिए—नहीं व्याख्यान देकर सिखलाने के लिए—बहुत आग्रह किया। मुझे आत्मविश्वास बिलकुल नहीं था, सो तो नहीं कह सकता; किन्तु मैं अपने को व्याख्याता नहीं समझता था। नोट लिखकर व्याख्यान देना तो मैं अब तक नहीं जानता, फिर उन आरम्भिक खिलवाड़ों के बारे में क्या कहना ? खैर, मैं उनकी छोटी सभा में व्याख्यान देने गया। पंडित वल्लभाशरण भी पधारे थे। न जाने किस विषय पर व्याख्यान दिया। मैं कह क्या रहा हूँ, मुझे खुद इसका पता नहीं रहा। सामने बैठी जनता, विशेषकर पंडित वल्लभाशरणजी का रोब इतना गालिब था, कि मुझे सोच-साचकर कहने की वहाँ फ़ुरसत ही नहीं थी। मालूम होता था, भूतावेश में कुछ बोलता जा रहा हूँ—भूतावेश भी नहीं, क्योंकि मेरे व्याख्यान में शुरू ही से स्वरों के आरोहावरोह की ज्यादा गुंजाइश नहीं होती। व्याख्यान की समाप्ति पर मेरी बड़ी तारीफ़ हुई। पंडितजी ने विद्यार्थियों को कहा—इस तरह व्याख्यान देना सीखो, व्याख्यान का युग है। मुझे व्याख्यान की तारीफ़ की उतनी प्रसन्नता नहीं हुई, जितनी पत रह जाने की।

वेदान्त पाठशाला में इधर एक नया गुल खिलने लगा। श्री बलरामाचार्य (तिरुमिशी में मिले पंडित भागवताचार्य के यह दीक्षा-गुरु थे) के शिष्य इन्दौर के एक सेठ इस पाठशाला को खोलने में द्रव्य की सहायता दे रहे थे। जिस वक्त मैं तिरुमिशी में था, उस वक्त उक्त सेठ वहाँ आये थे, और पाठशाला के सम्बन्ध में बातचीत चल रही थी। पाठशाला खोलने का उद्देश्य था, उत्तरी आचारियों को रामानुज वेदान्त से परिचय प्राप्त करने का अवसर देना। किन्तु, यहाँ पढ़ने के लिए आचारी तो मुश्किल से दो-चार आये—क्योंकि अयोध्या में उनके स्थान ही बहुत कम हैं—और उधर वैरागी भर गये। वैरागी भी रामानुज के ही विशिष्टाद्वैत वेदान्त को मानते थे, इसलिए इस विषय में आचारियों के प्रति विशेष श्रद्धा रखते, अपने भीतर वेदान्त के जानकारों के अभाव के कारण वे आचारियों की प्रधानता को भी स्वीकार करते। यदि ये खुद वेदान्त पढ़ जायेंगे, तो हमारी प्रधानता छिन जायेगी, आदि खयाल थे, जिनके कारण आचारियों ने दिव्य देश की वेदान्त पाठशाला को अपने सम्प्रदाय के लिए घातक समझा। वह उसे बन्द करने की सोचने लगे। उसके अध्यापक इस मनोवृत्ति को महत्त्व नहीं देते थे, वह तो बल्कि समझ नहीं सकते थे—विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त के बीज को ऐसे श्रद्धालु तरुण मस्तिष्कों में बोने से सम्प्रदाय को कैसे हानि होगी ? वह अपने प्रति हमारी श्रद्धा तथा पढ़ने में तीव्र रुचि भी देख रहे थे, और इस प्रकार चाहते नहीं थे, कि पाठशाला टूटे। किन्तु आखिर पराधीन, थे, उनके पास रुपया कहाँ था, कि सेठ और श्रीबलरामाचारी को फटकारकर लिख देते,—जाओ, तुम अपना रुपया अपने पास रखो, हम तो यहाँ इन छात्रों को पढ़ावेंगे। हम लोगों को भी इतनी जल्दी में यह खबर लगी, कि हम दूसरा कोई प्रबन्ध नहीं कर सकते थे। तो भी इस खबर के लगते ही हमारे दिलों में आग लग गई। हमने दूसरी वेदान्त पाठशाला खोलने के लिए एक अस्थायी समिति कायम की। पंडित गोविन्ददास उसके प्रधान मंत्री और मैं उपमंत्री बनाया गया। पंडित गोविन्ददासजी कुछ सुस्त और मितभाषी थे, इसलिए, बहुत कुछ काम मेरे ऊपर था। पंडित मथुरादास, तथा दूसरे कई साधु-विद्यार्थी बड़ी

तत्परता से धनसंग्रह के लिए जुट गये। भूतपुरीवाले वेदान्ती ने हमारे आग्रह को स्वीकार करते हुए कहा—'इस वक्त तो मुझे सपत्नीक घर जाना है, किन्तु वहाँ से आप लोगों की वेदान्त पाठशाला में पढ़ाने के लिए मैं अवश्य आऊँगा।' उनके रवाना होने से पहिले ही हमने बारह-तेरह सौ सालाना चन्दा का वचन ले लिया था। इस सिलसिले में मुझे अयोध्या के प्रायः सभी मठों के महन्तों से मिलने का मौका मिला था। बड़ी जगह और राजगोपाल के दोनों महन्त महाशयों ने हमारे उत्साह को बहुत बढ़ाया था। पंडित वल्लभाशरण का सम्बन्ध रसिक-सम्प्रदाय से था; किन्तु वह भी हमारे पृष्ठपोषक थे।—दूसरे पक्के रसिक तो वेदान्त, और विशिष्टाद्वैत को फ़जूल पंडितों की 'दाँत कटाकट' समझते थे।

हमने वेदान्त पाठशाला के लिए फ़ैजाबाद से रसीद बही छपवाई, बैठने के लिए टाट बनवाया। छोटी कुटिया के महन्तजी ने अपने फाटक पर के कोठे को वेदान्त पाठशाला के लिए देना स्वीकार किया। एक दिन पंडित सरयूदासजी व्याकरणोपाध्याय की अध्यापकी में हमने पाठशाला का उद्घाटन भी कर दिया।

जिस वक्त हम अयोध्या के कुछ शिक्षित तरुण वैरागी आचारियों के अपमानपूर्ण बरताव से आहत हो नई वेदान्त पाठशाला खोलने का आयोजन कर रहे थे, कई जगह भाषण-सभाएँ चला रहे थे, उसी समय यूरोप में महायुद्ध छिड़ गया था। उससे पहिले 'सरस्वती' का पाठक तो मैं अक्सर रहता रहा, किन्तु नहीं खयाल है, साप्ताहिक पत्रों को भी देखता था या नहीं। महायुद्ध ने अखबारी दुनिया से मेरा परिचय कराया। कलकत्ता का 'वंगवासी' साप्ताहिकों में बहुत जनप्रिय था, उसका एक चद्दर के बराबर, ओढ़ने-बिछाने-भर के लिए पर्याप्त विशाल कलेवर हर सप्ताह हमारी आँखों के सामने से गुजरता। कहाँ है लीग, कहाँ ब्रूसेल्स—हमें तो बेल्जियम का भी धुँधला-सा ज्ञान था। अखबारों के लिए उस वक्त नकशे आवश्यक चीज नहीं समझे जाते थे। खबरों से यही मालूम होता था, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, और रूसी सेनाएँ बराबर जीत रही हैं, किन्तु अंग्रेजों के प्रति हमारी स्वाभाविक घृणा उन जीतों में भी हमें अंग्रेजों की हार देखने के लिए प्रेरित कर रहा था।

अयोध्या और फ़ैजाबाद के बीच, किन्तु सड़क से हटकर देवकाली नामक एक प्रसिद्ध देवी-स्थान है। अयोध्या को वैरागियों ने अपने हाथ में काबू करके उसे शाक्तों से शून्य कर डाला है। जिन राम ने, वाल्मीकि के कथनानुसार सीताहरण के शोक में ही मांस और सुरा को छोड़ा, उन्हें उनके अयोध्या के कलियुगी भगतों ने हमेशा के लिए मांस-सुरा-विरत कर दिया! किन्तु देवकाली ऐसा स्थान था, जहाँ अब भी दोनों नवरात्रों के समय बकरे की बलि हुआ करती है। न जाने कहाँ से एक आवारा तरुण ब्रह्मचारी (वैरागी या वैष्णव नहीं) भूलता-भटकता वहाँ पहुँच गया, और उसने आश्विन के नवरात्र में बलि बन्द करने के लिए भारी बाधा पहुँचानी शुरू की। गृहस्थ—विशेषकर स्त्रियाँ—साफ़ देख रही थीं, कि कालीमाई को पाठा चढ़ाने की मिन्नत से ही उनका लड़का या पति बचा है, नहीं तो वे कभी की अपुत्रा या विधवा हो गई होतीं। वह अपनी मिन्नत के मुताबिक माई को पाठा चढ़ाने के लिए बेकरार थीं, लेकिन यहाँ एक तरुण साधु वैसा करने पर भीषण शाप देने तथा आत्महत्या कर लेने के लिए तैयार था। दोनों ओर से धर्म-संकट था, क्या किया जावे, यह गृहस्थों को सूझ नहीं पड़ रहा था। किन्तु देवकाली के पुजारी खूब समझ रहे थे। नवरात्र के दिन बीतते जा रहे थे, और वहाँ एक भी बकरा नहीं आ रहा था। बलि के बकरे का मुंड उनका होता था, मुंड का शोरबा (रस) कितना स्वादिष्ट होता है—इसकी स्मृति आते ही ब्रह्मचारी के ऊपर उनका खून खौलने लगता था। साथ ही बलि के साथवाली दक्षिणा की भी उन्हें हानि उठानी पड़ रही थी। और यदि काली के प्रताप को इस तरह ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे कम करने लगे, तो पंडे-पुजारी कितने दिनों तक अपनी खैरियत मनायेंगे। नवरात्र के आखिरी दिन (आश्विन शुक्ला नवमी की) बलि जरूर करनी होगी—इसका उन्होंने निश्चय कर लिया था। इसके लिए कालीमाई के दिलाये दारुण स्वप्नों की खबरों को भी उन्होंने फैलाना शुरू किया था।

ब्रह्मचारी नवमी के मुहिम से घबरा गया। यदि उस दिन बलि चढ़ी; तो मेरा सब किया-कराया अकारथ चला जायेगा—यह सोचकर वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया। उस वक्त उसे पता लगा, हम वैरागी तरुणों का। वह हमारे पास आया और उसने पशु-बलि-विरोधी हमारे स्वाभाविक भावों को और उत्तेजित किया। हमने भी समझा कि हमारे लिये डूब मरने की बात होगी, यदि 'पंचकोशी' के भीतर निरपराध बकरों की बलि जारी रही। हमने

नवमी को आने का वचन दिया।

अयोध्या से देवकाली के लिए जिस वक्त, आठ बजे सबेरे के करीब, हम रवाना हो रहे थे, उस वक्त हमें यही खयाल था, कि पंडे भरमाकर कुछ गृहस्थों को बलि देने के लिए लायेंगे, उस वक्त हमें अपने भव्य वैष्णव स्वरूप वाणी-शक्ति का प्रयोग करना होगा। ब्रह्मचारी के कहे अनुसार इतने ही से गृहस्थों की बलि करने की हिम्मत जाती रहेगी। निमंत्रित तरुणों में पंडित गोविन्ददास—हममें सबसे अधिक संस्कृतज्ञ (काशी के व्याकरणाचार्य के कई खंड पास)—भी थे, किन्तु लेट-लतीफ़ होने से वह अभी रास्ते ही में थे, जब कि देवकाली कांड समाप्त हो गया। हमारे साथियों में दो तिरहुतिया साधु बहुत मोटे-ताजे थे, एक 'लश्करी' तो बिलकुल पहलवान जैसे थे, और दूसरे 'हरिव्यासी' उनसे कुछ नरम। बड़ी कुटिया में रहनेवाले पंचशिखी परमहंस साधारण शरीर के स्वामी थे, वही बात पंडित मथुरादासजी की भी थी, यदि वह इस मुहिम में सम्मिलित थे। मैं उम्र में सबसे कम 21 साल का लम्बा किन्तु पतला-सा जवान था। नीचे पतली धोती साधुओं के नियमानुसार लुंगी की तरह बँधी हुई थी। शायद पैर में जूता भी था, बदन पर खूब सफ़ेद धुला हुआ तनजेब का कुर्ता था, और गले में पड़ी थी एक रेशमी चादर। शिर नंगा था। हाथ में पंडित गोविन्ददासजी के यहाँ से चलते वक्त एक शीशम की छड़ी उठा ली थी। देखने में निश्चय ही सबसे ज्यादा अमीराना ठाट मेरा मालूम देता था। सारी जमात का नेता न मैं अपने को समझता था, न समझने की इच्छा रखता था; तो भी बोल-चाल में सबसे ज्यादा निधड़क मैं ही था, सबसे ज्यादा देश देखा हुआ मैं ही था, और पढ़ने में बेशी नहीं तो किसी से कम भी न था। हम लोग कितने युगों के बाद अयोध्या से देवकाली पहुँचे, इसका ठीक अन्दाजा नहीं—आगे की घटनाओं से अवश्य मुझे वह समय युगों में बीतता मालूम हुआ। चहारदीवारी में एक बड़ा द्वार था, उसी के भीतर देवकाली का स्थान बतलाया गया। द्वार के बाहर दस कदम पर चारों ओर से पक्के घाटवाला एक पोखरा था। द्वार के पास बहुत से माली स्त्री-पुरुष फूल-बतासा बेच रहे थे। हम लोगों ने दरवाजे के सामने घाट की ऊपरी सीढ़ियों का भाषणमंच बनाया। खड़े होकर एक-एक करके लोगों को समझाने लगे। कुछ तो देवी को जगत्-माता बतलाकर 'बच्चे' की बलि को निषिद्ध साबित कर रहे थे, कोई प्राण-हिंसा को पाप और नरक का रास्ता बतला रहे थे। व्याख्यान बढ़ते हुए आखिर उस अवस्था में भी पहुँच गया, जब कि उसने सीधा 'सराप' (शाप) का रूप धारण कर लिया—खासकर जब कि हमारे व्याख्यान देते रहने पर भी एक बकरा तालाब के पानी तक ले जाकर धोया जाने लगा। बकरे को धोकर—शायद शिर पर—फूलमाला पहिना गुस्से से लाल-लाल आँखें किये एक पंडा बनावटी यजमान (हमें ऐसा ही बतलाया गया, कि लोगों को बलि का जारी रहना दिखलाने के लिए पंडों ने अपने पैसे से बकरा खरीदकर अपने ही आदमी द्वारा बलि कराने का इन्तिजाम किया है) के हाथ से बकरे को लिवाये द्वार के भीतर घुसा। मेरे साथी अब आपे से बाहर हो द्वार के भीतर घुसने के लिए आगे बढ़े। मैंने भीतर जाने से मना किया, किन्तु वहाँ तो अहिंसा शिर पर भूत बनकर सवार हुई थी। छओं-सातों साथियों को आगे बढ़ते देख मैं पीछे कैसे रह सकता था ? हाते के भीतर एक तरफ़ देवकाली का साधारण-सा पक्का मन्दिर, उसके सामने बलि-स्थान। सामने एक ऊँची कुर्सी पर महाराजा बनारस की ओर से बनवाया एक मन्दिर, जिसमें शायद तत्कालीन महाराज का प्रोस्लीन पर उतरा चित्र भी था। हमारे साथियों ने उसी ऊँचे चबूतरे को भाषणमंच में परिणत कर दिया, भाषण क्या था जले-कटे शाप के रूप में गालियाँ। सारा प्रयत्न व्यर्थ गया, और जब पंडे ने बकरे के कन्धे पर चलाने के लिए शस्त्र उठाना चाहा, तब मैंने साथियों से कहा—अब भाषण बन्द कीजिए, आँखों से बलि देखने में कोई फ़ायदा नहीं। चलें बाहर निकल चलें।

जिस वक्त बाहर जाने के लिए हम फाटक के पास पहुँचे, उसी वक्त पंडों ने हाथ चलाना शुरू किया। कई साथी पिटे। हरिव्यासी बाबा का कलवाला छत्ता छीनाझपटी में हाथ से तो जाता ही रहा, साथ ही उससे लगकर उनके एक हाथ में खूब घाव हो गया। पहलवान जैसे लगते लश्करी बाबा से पहिले पंडे भयभीत से मालूम हुए, किन्तु जब पीठ सिकुड़ाए वह निकलने की कोशिश करने लगे, तो मोटे शरीर में छोटी हिम्मत का खयाल करके उनकी मोटी पीठ पर भी दो-चार हाथ पड़े। एक पंडे ने मेरी ओर इशारा करके अपने साथी को चिल्लाकर कहा—अरे यह तो साफ़ बचा निकला जा रहा है। वे मुझे मारने को लपके। वह असाधारण आवेश की अवस्था

थी, चारों ओर मेरे निहत्थे—मुझे छोड़ किसी के पास यदि कोई चीज थी तो छत्ता था—साथी पिट रहे थे। कार्यकारण पर विचार कर पक्ष-विपक्ष की दलीलों को देखते हुए निर्णय करने का वहाँ अवसर कहाँ था। वहाँ जो कुछ निश्चय हो रहा था, वह हो रहा था सेकंडों में सहज बुद्धि के द्वारा। एकतरफ़ा पिटकर चला जाना मुझे कुछ लज्जाजनक बात मालूम हुई; अभी तक गांधीजी के निष्क्रिय प्रतिरोध की ध्वनि कानों तक नहीं पहुँची थी। पंडे ने दौड़कर मेरी रेशमी चादर पकड़ी, मैं उसे छोड़ आगे बढ़ गया। उसने डंडा चलाया, उससे बचकर मैंने अपनी शीशम की छड़ी चला दी। उसने उसे पकड़ लिया। आखिर शीशम की छड़ी शौक के लिए थी, मारपीट के लिए थोड़े ही थी। खींचा-खींची में वह बीच से ही टूट गई, लेकिन तब तक हम फाटक से बाहर पहुँच गये थे, जहाँ लोगों की भारी भीड़ थी, और उसके सामने पंडों को साधुओं पर हाथ चलाने की हिम्मत नहीं हो सकती थी। मुझे अछूता निकलते देख, एक पंडे ने (जिस पर शायद मेरी छड़ी पड़ चुकी थी) और कुछ न पा, बगल में बैठी मालिन की फूलडाली रखने का टिन उठाकर चलाया, किन्तु वह भी मुझ पर न लग मेरे साथी की पीठ से टकरा खनखनाता हुआ गिर पड़ा।

मन्दिर से बाहर, दरवाजे से भी कुछ दूर पहुँच जाने पर पंडे भी लौट गये। मैंने देखा, मेरे साथी किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये हैं। आगे क्या करना है, किसी को कुछ सूझ ही नहीं रहा है। मालूम हुआ, यहाँ पुलिस चौकी है। मैंने बतलाया, पुलिस में यदि हम खबर नहीं देते हैं, तो पीटनेवाले उलटा हमारे ऊपर मुकदमा भी कर देंगे, और हम हैरान होते फिरेंगे। मैं यह भी देख रहा था, कि यदि हर एक को अपने मन से बयान देने को कहा गया, तो बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातें निकल आ सकती हैं, साथ ही आसपास खड़ी भीड़ के बीच साथियों का अपने इज़हार के सम्बन्ध में कोई रिहर्सल हो नहीं सकता था। मैंने साथियों से कहा—'हम लोग चलें पुलिस चौकी पर। मैं पहिले बयान लिखाऊँगा, बस उसी के अनुसार सब लोग बोलेंगे। दरवाजे के भीतर हम काशिराज के मन्दिर में दर्शनार्थ गये, व्याख्यान देकर बलि बन्द करने नहीं, इस बात का खूब स्मरण रखेंगे।'

पुलिस चौकी तक पहुँचते-पहुँचते मैं उनका स्वनिर्वाचित नेता बन गया। चौकी पर और बातें सच्ची ही सच्ची कहीं, सिर्फ़ मन्दिर के भीतर भाषणमंच-निर्माण को हमने देवदर्शन में परिणत कर दिया। पंडे भी वहाँ पहुँचे थे। वह हमारे उस एक झूठ का प्रतिवाद करते थे, और साथ ही मारपीट से इनकारी थे। चौकी से हम लोग सिपाही के साथ फ़ैजाबाद कोतवाली में गये। कोतवाल साहेब मुसल्मान थे, और शायद आजमगढ़ जिले के। उन्होंने हमारा इज़हार लिया। मैंने अपने पहिले इज़हार को दुहराया, मेरे साथियों ने भी उसी का समर्थन किया। पंडों से पूछा जाने लगा, तो वे हमीं को मारपीट करनेवाला बतलाने लगे। उस समय अयोध्या का सब-इन्स्पेक्टर—एक लम्बा-चौड़ा, रोबीला राजपूत—वहाँ किसी काम से पहुँच गया था, उसने पंडों को ही नहीं उनकी देवी तक को जद-बद कहना शुरू किया—"ये पढ़ने-लिखनेवाले पाँच-छै साधु तुम्हारे साथ लाठी चलाने गये थे ? यदि ऐसी मनसा होती तो इनको लाठी चलानेवाले साधु अयोध्या में नहीं मिलते ? क्यों झूठ बकते हो ? कोतवाल साहब इन सा ···पर मुकदमा कर दीजिए। और वह देवी भी··· क्या है, जो जगतमांता कही जाने पर अपने बच्चों को खाती है ?···"

मेरे साथियों में से किसी ने धीरे से मेरे कान में कहा—'जानते हैं, आर्यसमाजी हैं।' आर्यसमाजी, बड़े हर्ष से कह रहे थे, और इस वक्त वह भूल गये थे, कि वह साथ ही मूर्त्तिपूजा की भी अप्रत्यक्षरूपेण धज्जी उड़ा रहा है।

किसी को सख्त चोट तो आई नहीं थी, कि पुलिस मुकदमा करती या किसी को गिरफ्तार करती। मामला चलाने की बात चली, तो लोगों ने बतलाया—फ़ैजाबाद के आर्यसमाजी वकील इसमें पूरी मदद करेंगे। मैं एक और साथी के साथ बलदेव बाबू (आचार्य नरेन्द्रदेव के पिता) के पास एक-दो बार गया। उनसे मुकदमे की सारी बात कही, वह सहायता करने के लिए तत्पर थे। अन्त में मैंने देखा, कि मेरे साथी मामले की पैरवी से जी चुराते हैं, और सारा बोझा मुझ पर डालना चाहते हैं। उधर पंड़े भी सुलह करने के लिए पैरवी कर रहे थे। ऐसी अवस्था में मुकदमा चलाने का खयाल छोड़ देना ही मैंने वाजिब समझा। हमारी चीजें मिल गईं, पंडों ने पश्चात्ताप किया, मामला वहीं खतम हो गया।

मैंने आर्यसमाज का नाम पहिले-पहिल 1901 या 1902 में रानी की सराय में अपने योगी मास्टर से सुना था। इतना ही ज़ानता था, कि वह देवी-देवता की निन्दा करते हैं। बनारस में दयानन्द स्कूल (वर्तमान डी. ए. वी. कॉलेज) का मैं कई महीनों तक विद्यार्थी था, किन्तु वहाँ बराबर जल में कमल की तरह रहा, कभी उनकी बातें न सुननी चाहीं, न सुनीं। यहाँ अयोध्या में भाषण सीखने के सिलसिले में सनातनधर्मी व्याख्याताओं–हंसस्वरूप, ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि–के आर्यसमाज के पक्ष के खंडन में ही पुस्तकें पढ़ीं, और एक तरह से उसके प्रति घृणा पैदा करनेवाली सामग्री ही से अधिक साबिका पड़ा। किन्तु कभी-कभी कोई चीज ऐसे स्थान में मिल जाती है, जहाँ उसकी सबसे कम सम्भावना है। दूसरों के खंडनों को पढ़ते हुए मैंने उसमें कई बार स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' का नाम सुना। मैं भी पहिले इसे 'मिथ्यार्थप्रकाश' ही कहता था। एक दिन पंडित मथुरादास के पास उसकी एक प्रति देखी। वह इसे खंडन के लिए ही पढ़ना चाहते थे। पुस्तक का कीड़ा तो मैं था ही, लेकर उसे पढ़ने लगा। कौन-कौन 'समुल्लास' पढ़ डाले, यह याद नहीं। सारे ग्रंथ को तो हर्गिज नहीं पढ़ पाया था, और पढ़ भी रहा था बहुत कुछ खंडन ही की दृष्टि से, किन्तु उसकी तर्कयुक्त बातें हठधर्मी से मुकाबिला कर रही थीं। इधर देवकाली के मामले में अयोध्या के सब-इन्स्पेक्टर, तथा बा. बलदेवप्रसाद वकील आदि–जिन्हें आर्यसमाजी कहकर मुझे बतलाया गया था–के बरतावों ने आर्यसमाजियों के प्रति मेरा भाव बदल दिया; और इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के अगले हिस्से को मैं सिर्फ़ खंडन की दृष्टि से पढ़नेवाला नहीं रह गया।

वरदराज मेरे साथ नहीं रहते थे, किन्तु हम बराबर मिलते रहते थे। परसा और वैरागी-संस्थाओं से बिलगाव के बीज मेरे हृदय में काफ़ी बोये जा चुके थे, जिसमें आर्यसमाज के संश्लेष को छोड़ बाकी में वरदराज भी मेरे सहभागी थे। मुझे अब अयोध्या के रहने में अरुचि मालूम होने लगी–अपने सहपाठियों और सहकारियों की मनोवृत्ति से मेरी मनोवृत्ति में अन्तर आ गया था। आर्यसमाज के अतिरिक्त अखबारों द्वारा बाह्यजगत की हवा भी मुझे लग रही थी। मैं अपने अन्तस्तल में एक संकीर्ण गड़हिया से निकलकर विशाल जलाशय में जाने की मूक वेदना को अनुभव कर रहा था, यद्यपि अब भी मुझे यह नहीं मालूम था, कि वह जलाशय किस दिशा में है, कैसा है ?

बहुत दिनों बाद फूफा साहेब को बछवल एक पत्र लिखा, और उस पत्र में इस मानसिक उथल-पुथल की छाप जरूर रही होगी। उन्होंने पिताजी को हुकुम दे दिया–जाओ, लड़के को अयोध्या से लिवा लाओ।

1910 ई. में वह अयोध्या से खाली हाथ लौटे थे, लेकिन अबकी नहीं।

नव प्रकाश : 1915-22 ई.

1

'किं करोमि क्व गच्छामि'

कातिक के प्रथम पक्ष में दीवाली के आसपास, वरदराज से विदाई ले मैं पिताजी के साथ कनैला की तरफ़ चला। वर्षा समाप्त हो चुकी थी, रबी बोई जा रही थी, धान अब भी खड़े थे, जब कि मैं कनैला पहुँचा। शायद हम लोग आजमगढ़ स्टेशन पर उतरे थे। पिताजी को विश्वास हो गया था, कि अब वैराग्य का भूत मेरे शिर से उतर गया, अब मैं बिलकुल प्रकृतिस्थ हो घर की जिम्मेदारी लेने के लिए तैयार हूँ। उनको क्या मालूम था, कि यह शान्ति आगे आनेवाले भारी तूफ़ान का पूर्वनिमित्त मात्र है। उनको शायद ठीक तौर से मालूम नहीं था, कि जिस शादी को उन्होंने या समाज ने स्थिर मजबूत बेड़ी समझकर मेरे पैरों में डाली थी, उसे कब का नहीं तिलाक देकर मैं अपने को मुक्त कर चुका हूँ; और उसका खयाल आने पर मेरा दिल एक क्षण के लिए भी कनैला में रहने के लिए तैयार नहीं होता।

जिस वक्त मैं मद्रास के तीर्थों की यात्रा करने में लगा था, उसी वक्त नाना की मृत्यु हो गई। मरते समय उनको बराबर मेरा खयाल बना रहा। मुझ पर उनका असाधारण स्नेह था। मेरे लिए वह क्या-क्या स्वप्न देखते रहे। अपने अनजाने हाथों से उन्होंने मेरे जीवन-प्रवाह के लिए एक कुल्या खोदी थी, अपने जान मेरे शानदार भविष्य के लिए; किन्तु आदमी का जीवन-प्रवाह नदी की धारा से भी अधिक दुर्दम्य है। नाना अपने स्वप्न में सफल न हो सके। जिसे उन्होंने अपना सर्वस्व दिया, जिसके लिये सहोदर भाई और उसकी सन्तान से झगड़ा किया, जन्मभूमि को छोड़ा, निन्दास्पद यामातृपुर का वास स्वीकार किया; उसके देखने के लिए भी बिलखते हुए उन्हें अपने जीवन का अन्त करना पड़ा। मेरे हृदय में सचमुच उनके लिए समवेदना थी, किन्तु यही समवेदना क्या दक्षिण में उनकी मरणासन्नावस्था की चिट्ठी पाकर मेरे हृदय में होती।

बछवल में जाने पर कुछ विजयाभिमान के साथ फूफा साहेब ने कहा–'क्व विशेषः', अर्थात् कहाँ अच्छा है वैराग्य में या घर में ? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, और न मैंने कोई दुर्भाव माना। मैं अब भी अपने को पथ से दूर नहीं मानता था, हाँ, वह पथ किसी नई दिशा का संकेत कर रहा था, जो मुझे स्पष्ट नहीं दीख रही थी। इस बार साप्ताहिक पत्र में लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए प्रति सप्ताह मुझे बछवल जाना पड़ता। यद्यपि 'वंगवासी' के महाकलेवर में दो-तीन कालम की जो खबरें छपतीं, और सभी सरकारें अपने-अपने यहाँ जिस तरह से खबरों को युद्ध-सम्बन्धी प्रचार का जरिया बना रही थीं, उसमें मेरे जैसे नौसिखिये के लिए कुछ समझना बहुत मुश्किल था; तो भी खबरों के पढ़ने के बाद छोटे फूफा (यागेश के पिता) बड़े चाव से पूछा करते–कहो, बच्चा ! लड़ाई की क्या खबर है। वह खुद भी अखबार को पढ़ते थे। अखबार में चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु

हम सबकी राय थी, जर्मनी जीत रहा है। यद्यपि हमें उसकी वास्तविकता का जरा भी ज्ञान न था।

जिस वक्त मैं बछ्वल नहीं जाता, उस वक्त यागेश कनैला चले आते। हम दोनों को अनिवार्य 'चंडाल-दोकड़ी' समझ कनैला और बछ्वल दोनों जगह घरवाले बर्दाश्त करने के लिए मजबूर थे, यद्यपि दिल से वे शंकित रहते थे। अबकी बार यागेश ने 'संगीतरत्नप्रकाश'–आर्यसमाजी तुकबन्दियों के संग्रह–को कहीं से पैदा किया। खाट पर लेटे हम बड़े मौज से अपने संगीतपलायन स्वर में उसके मूर्त्ति-पूजा-श्राद्ध विरोधी भजनों को गाया करते। एक दिन ऐसे ही समय घराने के एक चचा आ गये, वह गाँव के उन व्यक्तियों में थे, जिनका गरीबी के कारण ब्याह नहीं हो सका, और जिनके लिए कुछ दिनों में ही तमादी लगनेवाली थी। उन्होंने कहा–'मैंने दोहरीबरहल में आर्यसमाजियों की सभा देखी थी। वह यहाँ नहीं पहुँचे तो ?'

'यहाँ क्या जरूरत है, काका ?'

'अरे ! विधवाविवाह चलता, कितने घरों के चिराग बुझनेवाले हैं।'

और इस बात में बहुत कुछ सचाई थी। कनैला के बीस ब्राह्मण घरों में से नौ की अगली सन्तानें बिलकुल अविवाहित थीं, और व्यक्ति को लिया जावे, तो दो ही तीन ऐसे घर थे, जिनको ब्याह की ओर से निश्चिन्तता थी, बाकी सबके यहाँ सयाने-सयाने व्यक्ति अविवाहित पड़े थे। सबका ब्याह होने पर ढेर की ढेर सन्तानें होंगी, इस बात पर दिमाग लगाने की मुझे उस वक्त जरूरत नहीं थी।

हकशफ़ा के रुपये का इन्तिजाम कहीं से करके, पिताजी ने जिगरसंडी की जमींदारी अपने रिश्तेदार के नाम ले ली थी। वह स्वयं वहाँ की तहसील वसूल करने जाते, और कभी-कभी मैं भी गाँव देखने जाता था। एक दिन जाने पर मेरे एक परिचित राजपूत-परिवार में ताजी मछली मारकर आई थी, उधर से कहा गया–'पांडेजी आवें, बनावें न मछली।' (ब्राह्मण होने से मैं राजपूत के हाथ की कच्ची रसोई नहीं खा सकता था, और मछली कच्ची रसोई थी, इसमें सन्देह की गुंजाइश न थी)। बचपन का प्रिय खाद्य कुछ दिनों की संयत से अप्रिय थोड़ा ही हो सकता है, मैंने बनाकर खाया। तेल में तलकर हल्दी सरसों में बनी मछलियाँ न जाने उस समय इतनी स्वादिष्ट क्यों होती थीं ? जिगरसंडी में बहुत साल तक ब्रिटिश गायना (दक्षिणी अमेरिका) में रहकर लौटा एक आदमी था। वह वहाँ अरकाटी के बहकावे में आकर कुली बनकर रह गया था। बीसों साल रहने के बाद भी वह वहाँ से खाली हाथ लौटा था। वह एक तरह की अंग्रेजी–जिसको व्याकरण से कोई वास्ता न था–धड़ल्ले के साथ बोलता था। जब उसे गायना के आराम का खयाल आता, तो लौटने के लिए पछताता था।

इस बार परमहंस बाबा की कुटिया पर मैं गया कि नहीं–यह याद नहीं। वैराग्य और वेदान्त का जोर कम होकर उसकी गति किसी दूसरी ओर हो रही थी, जिज्ञासा और यात्रा-लिप्सा का वेग पहिले ही जैसा था ?

प्रयाग का माघ-मेला नजदीक आया। यागेश से सलाह हुई, वहाँ चलने की। घरवालों को मेरे ऊपर अब उतना सन्देह नहीं था, इसलिए खास निगरानी नहीं थी। एक दिन बीस-बाईस रुपये मेरे हाथ लगे, और मैं रानी की सराय स्टेशन से प्रयाग के लिए रवाना हो गया।

प्रयाग में मैं यागेश से दो-चार दिन पहिले पहुँचा, पैसा था, मेले में ठहरने की जगहों की कमी न थी। आजकल के मेले को उस दृष्टि से कभी देखा नहीं, उस वक्त तो बहुत-सी जगहों में धार्मिक व्याख्यान होते दिखलाई पड़ते थे। पुराने ढंग के कथावाचक व्यास लोग जहाँ शाम को अपनी कथा शुरू करते थे, वहाँ नये ढंग के व्याख्यान सनातन धर्म और आर्यसमाज के शामियानों में हो रहे थे। उसी वक्त मैंने पहिले-पहिल पंडित मदनमोहन मालवीय का व्याख्यान सुना, शायद किसी धार्मिक सभा का विशेष अधिवेशन था। कुमायूँ के पंडित दुर्गादत्त पन्त ऋषिकुल के दो ब्रह्मचारियों के साथ पहुँचे हुए थे, जिनके शिर में रुद्राक्ष की माला बँधी हुई थी। आर्यसमाज के व्याख्यानों को मैं ज्यादा सुनता रहा, और उनकी खंडन-मंडन की पुस्तकें भी लेकर पढ़ता रहा। यागेश के आ जाने पर उनके ससुराल के सम्बन्धी एक पुलिस के जमादार के पास हम लोग रात को रह जाते थे।

मेरा इरादा था, खाने-पीने लायक कुछ कमाकर पढ़ाई को जारी रखने का। इसी खयाल से मैं एक दिन इंडियन प्रेस गया। 'सरस्वती' का इधर कई वर्षों से निरन्तर पाठ कर रहा था, और दीवार के सहारे चश्माधारी गिरी मूँछवाले जिस पुरुष से बातचीत कर रहा था, मेरी समझ में वह पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, यद्यपि यह

बात गलत निकली, मैं पंडित रामजीलाल शर्मा से बातें कर रहा था। उन्होंने बड़ी नम्रता से कहा—'यदि दो-तीन दिन पहिले आये होते, तो प्रूफ-रीडरी में मैं रख लेता, लेकिन अब, अफ़सोस है, कोई काम नहीं।' इसी वक्त, एक दिन यागेश के बहनोई ब्रजभूषण पांडे (?) के यहाँ शाहगंज में गया था, वहाँ हाईकोर्ट में काम करनेवाले लकड़ी की टाँगवाले अलीगढ़ के एक बाबू से भेंट हुई। कई आदमी बैठे हुए थे। उन्होंने मेरी पढ़ने की रुचि देखकर कहा—'क्यों नहीं आगरा में पंडित भोजदत्त के विद्यालय में चले जाते, वहाँ खाने और पढ़ने का प्रबन्ध है, व्याख्यान सिखाया जाता है।'

उनकी बात मेरे मन में बैठ गई। प्रयाग में मकरसंक्रान्ति तो जरूर पूरी की होगी, और शायद अमावस्या तक और रहा हूँगा। मेरे पास इतने ही पैसे रह गये, जिसमें आगरे का टिकट खरीदकर, आठ आने पैसे बचे, जब कि मैं इलाहाबाद से आगरा के लिए रवाना हुआ।

2

आर्य मुसाफ़िर विद्यालय, आगरा में

उस दिन (जनवरी 1915) सबेरे की गाड़ी से मैं आगरे में उतरा था। स्टेशन पर उतरते ही पंडित भोजदत्त के आर्य मुसाफ़िर विद्यालय का पता न लग सका, उसको ढूँढ़ निकालने से पहिले मुँह-हाथ धो लेना जरूरी समझा, इसलिए सीधे यमुना किनारे पहुँचा। मुँह-हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। किसी स्नानार्थ आये सज्जन ने विद्यालय का पता नामनेर बता दिया। आठ आने पैसे में से कुछ तो जलपान में खर्च हो गया, बाकी को पाकेट में रखे पैदल ही मैं नामनेर की ओर चला। मुहल्ले और वहाँ मुसाफ़िर विद्यालय के मिलने में देर न हुई। सड़क से थोड़ा हटकर एक मन्दिर था, मुसाफ़िर विद्यालय का मकान उसी की आड़ में पड़ता था। विद्यालय के लिए कोई खास तौर से मक़ान ठीक नहीं किया गया था। एक पुराना मकान आर्यसमाज के लिए खरीदा गया था, उसी में विद्यालय का काम होता था। दरवाजे से भीतर घुसते ही एक बड़ी दालान थी, यहीं संस्कृत की पढ़ाई होती। उत्तर तरफ कुछ कोठरियाँ थीं, जिनमें विद्यार्थी रहते। कोठे पर उत्तर की कोठरी में अरबी की पढ़ाई होती, और पश्चिम की कोठरी में कोई विद्यार्थी रहता। आठ-दस विद्यार्थियों के रहने के लिए कोठरियाँ काफ़ी नहीं थीं, इसलिए बाकी लड़के रसोई के लिए मकान में रहते थे, और वह कई जगह बदलता रहा।

विद्यालय में जाने पर पहिले विद्यार्थियों से मुलाकात हुई। शायद भाई साहेब मौलवी महेशप्रसाद उस वक्त नहीं मिल सके। अधिकांश लड़के मेरी ही उम्र के थे। उनसे नये लड़कों की भरती के बारे में पूछने पर मालूम हुआ—यद्यपि वर्ष शुरू हुए दो-तीन मास हो गये हैं, किन्तु जगह है, आप विद्यालय के प्रबन्धक डाक्टर लक्ष्मीदत्त (पंडित भोजदत्त के ज्येष्ठ पुत्र) से मिलें। दस बजे के करीब मैं पंडित भोजदत्त के घर में सीढ़ी से चढ़कर उस कोठरी में गया, जहाँ साप्ताहिक 'मुसाफ़िर आगरा' का दफ्तर था। छोटी-सी कोठरी, जिसमें दो मेजों और चार-पाँच कुर्सियों के बाद मुश्किल से थोड़ी-सी जगह घर के भीतर घुसने के लिए रह जाती। मेजों पर कलम-दवात-कागज के अतिरिक्त बहुत-से हिन्दी-उर्दू के अखबार पड़े रहते, जिनमें साप्ताहिकों की और उर्दूवाले अखबारों की संख्या अधिक होती।

मालूम नहीं डाक्टर लक्ष्मीदत्त उस वक्त मौजूद थे, या उनकी प्रतीक्षा में मुझे कुछ देर बैठना पड़ा। डाक्टर लक्ष्मीदत्त का चेहरा गोखले से ज्यादा मिलता। चश्मा लगा लेने पर सिर्फ़ मराठी पगड़ी की कमी रह जाती थी। वह फ़ेल्ट की गोल टोपी लगाया करते। नवागन्तुक के साथ बात करने में उनकी मुखमुद्रा गम्भीर हो जाती, यद्यपि परिचित को हँसने-हँसाने में उन्हें बहुत मजा आता। मैंने उनसे विद्यालय में भरती कर लेने की दरख्वास्त की। उन्होंने मेरी पढ़ाई के बारे में पूछा। उर्दू मिडल, काफ़ी संस्कृत और जरा-जरा अंग्रेजी भी, भर्ती के लिए काफ़ी योग्यता थी। पढ़कर तुम अपना समय आर्यसमाज के प्रचार में लगाओगे ?—अवश्य, यदि आप मुझे उसके योग्य

बना देंगे। 'अच्छा, तो आप जाइए—आप भर्ती हो गये।'

नवागन्तुक सहपाठी को देखकर तरुण विद्यार्थियों का बहुत कौतूहल होता है। कोई आँख बचाकर हँसी भी उड़ाना चाहते हैं, कोई नई जगह में दिल लगने में सहायता देना चाहते हैं। कोई चाहते हैं नवागन्तुक के बारे में विशेष जानना, और कोई अपने ही को सबसे आगे दिखलाना चाहते हैं।

मुसाफिर विद्यालय के विद्यार्थी अब तक मिले मेरे सहपाठियों की तरह के नहीं थे। इन सबके हृदय में एक खास भाव लहरें मार रहा था। वे बड़े से बड़े खतरे का सामना करके वैदिक धर्म—जिसे वह कभी-कभी देश-स्वातंत्र्य से अभिन्न समझते थे—का प्रचार करना चाहते थे। दयानन्द और लेखराम—जिसकी स्मृति में यह विद्यालय स्थापित हुआ था—की कुरबानियाँ, सचमुच ही, उनके हृदयों में प्रेरणा का काम देती थीं। इस तरह की भावना से ओत-प्रोत विद्यार्थी अभी तक मुझे साथ पढ़ने के लिए नहीं मिले थे।

उस पहिली मुलाकात में किसके साथ किस तरह बातचीत हुई, यह तो याद नहीं। ज्यादा बोलनेवालों में शायद अभिलाषचन्द्र और भगवतीप्रसाद थे। माणिकचन्द सहपाठियों में सबसे कम उम्र होने से कम बोलता था। मुंशी मुरारीलाल बनारस जिले के रहनेवाले होने से, मेरे जन्मस्थान के सबसे नजदीक के थे, इसलिए उनकी ओर विशेष ध्यान जाना जरूरी था। दुर्गाप्रसाद और मास्टर वसंडाराम थोड़े ही महीनों बाद विद्यालय छोड़कर चले गये, इसलिए उनके साथ के वार्तालाप का कोई असर बाकी नहीं रहा। हमसे ऊपरवाली कक्षा के दो विद्यार्थी थे, जिंसमें रामगोपाल के साथ तो मेरी घनिष्ठता उसी दिन से स्थापित हो गई।

मुसाफ़िर विद्यालय में दो साल का कोर्स था। कम से कम उर्दू मिडल पास लड़के लिये जाते थे। उन्हें संस्कृत, अरबी भाषाओं के साथ ईसाई, मुसल्मान, हिन्दुओं के प्रधान-प्रधान सम्प्रदायों के दुर्बल रीति-रवाजों, सिद्धान्तों और आर्यसमाज के मुख्य सिद्धान्त की शिक्षा दी जाती। रोज शाम को बाकायदा बहस मुबाहिसा (शास्त्रार्थ) कराया जाता, तथा भाषण देने की विधि बतलाई जाती। संस्कृत की जितनी पढ़ाई मुसाफ़िर विद्यालय में होती थी, उससे कहीं ज्यादा मैं उसको पढ़ चुका था, इसलिए और साथियों से पीछे पहुँचने पर भी मुझे सिर्फ़ अरबी ही पढ़ना था।

जनवरी तक लड़ाई शुरू हुए 4 महीने से ऊपर हो गये थे, किन्तु उस वक्त की घमासान लड़ाई, और आज (1940) की सिग्फ्रीड तथा मेगिनो दुर्गपंक्तियों के भीतर छिपकर चुपचाप बैठे रहने में बहुत अन्तर था। पहिले से सरकार की ओर से विशेष ध्यान न देने के कारण, चीजों का भाव बहुत बढ़ गया था, और अन्न का तो अकाल-सा मालूम होता था। हमारे यहाँ इसका असर गेहूँ के आटे में पर्याप्त आलू डालकर रोटी की सूरत में प्रकट हुआ, यद्यपि जाड़ों के बाद फिर शुद्ध आटे की रोटी बनने लगी।

गर्मियों के आते-आते मैं भी अरबी में अपने और साथियों के साथ था, तब तक वसन्दाराम और दुर्गाप्रसाद हमें छोड़कर चले गये, अभिलाष की स्थिति डावाँडोल रहती। उसे अरबी धातुओं और शब्दों के रूप याद करने की जगह घड़ियों के बनाने, मशीनों के सूचीपत्रों को निहारने तथा इधर से उधर जाने में ज्यादा मजा आता था। अब हमारी श्रेणी में भगवती, माणिक, मुंशी मुरारीलाल और मैं चार ही नियमित विद्यार्थी रह गये थे। ऊपर की श्रेणी में बाबूराम और रामगोपाल स्थायी थे। भाई साहेब—महेशप्रसाद—के सहपाठी पंडित धर्मवीर धर्म-प्रचार के लिए बाहर जाया करते, और उनकी इस्लाम पर जबर्दस्त नुकताचीनियों की ख्याति सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती। सुखलाल हमारे विद्यालय के भजनोपदेशक थे, और उनके प्रभावशाली भजन तथा बीच-बीच की अवतरणिकाएँ—अभी परिमित क्षेत्र में ही ख्याति पा रहे थे। संस्कृत के पंडित मध्यमा की तैयारी कर रहे थे, और रोज आकर संस्कृत पढ़ा जाया करते थे। वह सनातनधर्मी थे, और समझ रहे थे, कुछ रुपयों के लालच में हम धर्म को बेच रहे हैं। अरबी मौवली महेशप्रसाद पढ़ाते थे, जिन्हें हम सभी भाई साहेब कहते थे। मुसाफ़िर विद्यालय की विद्यार्थीमंडली में तथा मेरे जीवन में उनका खास स्थान है, इसलिए उन पर खास तौर से लिखूँगा। इनके अतिरिक्त डाक्टर लक्ष्मीदत्त और उनके छोटे भाई पंडित तारादत्त वकील अपने पिता पंडित भोजदत्त द्वारा स्थापित इस विद्यालय की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। शाम को दोनों भाई नामनेर के दोस्तों—जिनमें भोगाँव के मामा साहेब तथा सदा हँसमुख रहनेवाले पंडित प्यारेलाल तिवारी जरूर रहते—के साथ टहलने निकलते, और सूर्यास्त

होते-होते विद्यालय में चले आते। विद्यालय के बड़े आँगन में बेंच और कुर्सियाँ पड़ी रहतीं। वहाँ उनकी और विद्यार्थियों की जमात बैठ जाती, और रात को नौ-दस बज जाते किन्तु हमें मालूम न होता। हमें, कभी उसी वक्त विषय दिया जाता, और वादी-प्रतिवादी बनकर शास्त्रार्थ करना पड़ता, तथा कभी एक-दो दिन पहिले से भी विषय दे दिया जाता। हमारे भाषण की त्रुटियों पर डाक्टर साहेब की आलोचना होती, जो बड़े काम की चीज थी। भाषण में भी शिक्षा इसी तरह विषय को पहिले, या परीक्षार्थ सद्यः देकर होती थी। भाषण में जब तक अभिलाष रहे, तब तक वह अच्छे रहे, शास्त्रार्थ में थोड़े ही दिनों बाद लोग मेरा लोहा मानने लगे, इसमें संस्कृत की मेरी अभिज्ञता विशेष कारण न थी। शास्त्रार्थ में मैं सारी शक्ति को अपने ऊपर किये गये आक्षेपों के उत्तर देने में खर्च नहीं करता था, बल्कि काफ़ी समय प्रतिद्वन्द्वी पर आक्षेपों की झड़ी लगाने में खर्च करता था। धीरे-धीरे आक्षेपों की संख्या बढ़ती जाती, प्रतिद्वन्द्वी सबका जवाब नहीं दे पाता, मैं उत्तर न पाये आक्षेपों को दुहराता जाता, और दो-तीन बारी बीतते-बीतते प्रतिद्वन्द्वी अपने ऊपर किये गये आक्षेपों के उत्तर देने में ही उलझ जाता, उसे मेरे ऊपर आक्षेप करने की फुरसत ही नहीं रह जाती। मेरा काम इतमीनान से सब तरफ़ से सुरक्षित हो आक्रमण करते जाना, तथा श्रोतृमंडली पर अपने शस्त्रक्षेप के कौशल की धाक जमाना रहता। मेरे बाकी तीन स्थायी साथियों में मुरारीलाल व्याख्यान देने में अच्छे थे, भगवती व्याख्यान की कमी को अपने तीखे आक्रमणों से पूरा करता। माणिक बच्चा था, उस पर पढ़ने की ओर ज्यादा ध्यान देने का आग्रह था। ऊपरवाली श्रेणी में रामगोपाल भाई में वक्तृत्व-शक्ति अच्छी थी। वह बोलने में स्वर के उतार-चढ़ाव को ठीक से अदा कर सकते थे। लिखे और रटे उद्धरणों को वह बड़े धड़ल्ले से इस्तेमाल कर सकते थे। सारे विद्यालय में वक्तृत्वकला की दृष्टि से उनका कोई सानी नहीं था। बाबूरामजी भी अच्छा बोल लेते थे।

भाई महेशप्रसाद इलाहाबाद जिले में कायस्थान कस्बे के रहनेवाले थे। मैट्रिक पास करने के बाद सब-इन्स्पेक्टरी के लिए उम्मीदवार हुए। करीब-करीब ठीक हो गया था, और वह घोड़े की सवारी भी सीखने लगे थे, इसी समय इलाहाबाद में पढ़ने की अवस्था में मन पर पड़े संस्कार उन पर असर डालने लगे। उस वक्त इलाहाबाद से एक उग्र राष्ट्रीयतावादी पत्र 'हिन्दुस्तान' उर्दू में निकला करता था। उसके कितने ही सम्पादक जेल में चले गये थे, किन्तु 'हिन्दुस्तान' निर्भीकतापूर्वक ब्रिटिश शासन के अत्याचारों का–हाँ ज्यादातर अत्याचारों को ही, अपनी राष्ट्रीय कमजोरियों की ओर उग्र राष्ट्रीय दल की भाँति उसे ध्यान दिलाने की जरूरत न थी–भंडाफोड़ करता था। 'हिन्दुस्तान' के जेल जानेवाले सम्पादकों में महात्मा नन्दगोपाल भी थे, जिनका भाई साहेब पर काफ़ी असर पड़ा था। शायद सूफ़ी अम्बाप्रसाद को वह देख न पाये थे, किन्तु उनके साहसपूर्ण कार्य–विशेषकर एंग्लो-इंडियन बन महीनों पुलिस को चकमा दे घूमते रहना–उनकी प्रशंसा की चीजें थीं। बंगभंग के बाद स्वतंत्रता के लिए देश ने जितनी आहुतियाँ दी थीं, उनका इतिहास उन्हें जबानी याद था। पहिले-पहिल ये रोमांचक, आत्मबलि के जीते-जागते उदाहरण मुझे भाई साहेब के मुँह से ही सुनने को मिले। भाई साहेब वक्ता न थे, उनकी कलम भी साधारण तल से ऊँचे नहीं उठ पाई, किन्तु वह हमारे लिए सफल शिक्षक ही नहीं, बल्कि कुछ और भी थे। धीरे-धीरे किन्तु स्थिरता के साथ जारी रहते अपने संलापों–जिनमें बीच-बीच में प्रश्नोत्तर करने की हमें पूर्ण स्वतन्त्रता थी–द्वारा वह हमारे हृदयों में एक जबर्दस्त आग जला रहे थे। यह आग कितनी राजनीतिक पराधीनता के खिलाफ़ थी, और कितनी धार्मिक, यह हमें स्पष्ट न मालूम था; क्योंकि उस समय 'स्वदेश' और 'स्वधर्म' को हम अभिन्न समझते थे। 'आबिर' अकबराबादी (डाक्टर लक्ष्मीदत्त) की कविताओं, तथा सुखलाल अपने गानों में–

'वतन के नाम पर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' की जगह
'धरम के नाम पर यारो तुम्हें मरना नहीं आता' कह देते थे।

हमारे लिए सौभाग्य की बात थी, कि मुसाफ़िर विद्यालय में हम पाठ्यपुस्तकों के बोझ से मरे नहीं जा रहे थे। संस्कृत में जीवाराम की संस्कृत-शिक्षा की प्रथम-द्वितीय आदि पुस्तकें और शायद हितोपदेश भी था। अरबी में 'सरफ़', 'नह्व' की एक-एक पुस्तक तथा कुरानशरीफ़ था। पढ़ाई के बाद का समय हमारा अपना था, किन्तु उसे हम बहुत उपयोगी और बहुत मनोरंजक ढंग से बिताते थे। हम बाहरी पुस्तकें खूब पढ़ते, और खूब गप

भी मारते थे। लेकिन यह हमारे भविष्य जीवन-निर्माण के लिए बहुत उपयोगी साबित हुए। मुझे याद हैं वे दिन और खास करके वे रातें, जब चारपाई पर लेटे या बैठे भाई साहेब शहीदों की कथा सुनाते, 'हिन्दुस्तान' के भूखे शिक्षित सम्पादकों की तपस्या का वर्णन करते। सादगी की भाई साहेब साक्षात् मूर्त्ति थे। वह मोटे कपड़े (खद्दर का अभी युग नहीं आया था, किन्तु हाथ के बुने कपड़ों पर भाई साहेब का जरूर जोर था)–कुर्ता-धोती पहिनते, टोपी की जरूरत न थी। जूता दीहाती। खाने में सादगी रखने के लिए, खैर, आर्थिक अवस्था मजबूर किये हुई थी। भाई साहेब को खाने के अतिरिक्त दस या पन्द्रह रुपये मासिक मिलते थे, जिसमें कुछ मासिक दे वह, एक मौलवी साहेब से अरबी की आगे की पढ़ाई जारी रखे हुए थे।

अयोध्या में भाषण और अखबार का आरम्भ हुआ था। महायुद्ध की खबरों ने जर्मनी आस्ट्रिया, जापान, रूस आदि के ठोस अस्तित्व को मनवाया। और यहाँ तबकी अवस्था से मैं डिग चुका था, किन्तु अभी भी मैं था पुराने जगत में। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति किधर को है, इसका परिचय मुझे नहीं था। यहाँ आगरा में भाई साहेब के सम्पर्क में आने पर मालूम हुआ, जैसे आदमी अँधरी कोठरी से निकालकर सूरज की रोशनी में रख दिया जावे, जैसे दम घुटती काली कोठरी से निकाल शीतल मन्द सुगन्ध-वायु परिचालित बाग में ला रखा जाये। अब मुझे मालूम होने लगा, दुनिया में ऐसे भी काम हैं, जिनके लिए जीवन की आवश्यकता है, ऐसे भी आदर्श हैं, जिनके लिए मृत्यु मधुरतम वस्तु है। अंग्रेज किस तरह भारत का शोषण करते हैं, इस सम्बन्ध में उर्दू-हिन्दी में जो भी उपलभ्य पुस्तकें थीं, उन्हें भी मैंने ध्यान से पढ़ा–इन पुस्तकों में कुछ जब्तशुदा भी थीं। मुझे याद है, भाई परमानन्द के जब्तशुदा 'भारत का इतिहास' को बड़े परिश्रम के साथ जब हम हासिल कर पाये, तो कितनी खुशी के साथ उसे पढ़ रहे थे। अंग्रेजी के ज्ञान से एकदम कोरा तो नहीं था, किन्तु अभी उसकी पुस्तकों के पढ़ने का अभ्यास नहीं था।

खाना खाने के बाद दोपहर को मैं रोज 'मुसाफ़िर' के आफ़िस में चला जाता, और दो-तीन घंटे रहकर अखबारों को पढ़ता। 'मुसाफ़िर' के परिवर्त्तन में कई दर्जन अखबार वहाँ आया करते। 'लीडर' शायद डाक्टर साहेब खासतौर से मँगाया करते। मुझे उसका भावार्थ भी अच्छी तरह समझ में नहीं आता था, क्योंकि समाचार पत्रों की भाषा में भी कुछ विशेषता रहती है, तो भी आगरा के एक सवा बरस के निवास में शायद ही किसी दिन 'लीडर' पर मैंने एकाध घंटा न दिया हो, और आखिर में मुझे खबरों के समझने में दिक्कत नहीं रह गई। इन अखबारों में धार्मिक अखबारों की ही संख्या ज्यादा थी। 'आर्यगजट' और 'प्रकाश', 'हिन्दुस्तान' और 'देश' लाहौर के अखबारों का मैं निरन्तर पाठक था। 'सुदर्शन'जी ने इसी वक्त अपना पत्र निकाला था। महात्मा मुंशीराम का 'सद्धर्मप्रचारक', फर्रूखाबाद से निकलनेवाला 'सत्यवादी' (?) आर्यसमाज के हिन्दी साप्ताहिक थे। इनके अतिरिक्त हमारे शहर से निकलनेवाला तथा प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र 'आर्यमित्र' उस वक्त सर्वानन्द के सम्पादकत्व में निकल रहा था। हाल ही मैं मैंने 'मेघदूत' के पद्यबद्ध अनुवाद की एक पुस्तक देखी थी, जिसमें अनुवादक का बढ़ी दाढ़ी-मूँछ के साथ फोटो छपा था। मैं अपने साथियों के साथ एक दिन शहर (हींग की मंडी) के आर्यसमाज में पंडित आर्यमुनि या स्वामी अच्युतानन्द का व्याख्यान सुनने गया था, वहाँ दो-तीन बरस की बच्ची लिये एक मूँछ-दाढ़ी-सफाचट सज्जन आकर बैठ गये। मेरे साथियों में से किसी ने कान में कहा–यही 'आर्यमित्र' सम्पादक सर्वानन्दजी हैं, लेकिन इनका असली नाम है पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी। मुझे मेघदूत की तसवीर याद आई। मेरे एक साथी ने बतलाया–मिडल तक ही पढ़कर इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली है, कि ये हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों का कान काटते हैं। मैंने सोचा–मैं भी मिडल ही पास हूँ। अखबारों में हमारी नजर तीन चीजों पर रहती–आर्यसामाजिक जगत की क्या नई खबर है, कहीं शास्त्रार्थ और मुबाहिसा तो नहीं हो रहा, किसी बड़े समाज का जलसा तो नहीं हुआ, और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध व्यक्ति आये–स्वामी सोमदेव, स्वामी मुनीश्वरानन्द, स्वामी अनुभवानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी सत्यानन्द, महात्मा मुंशीराम, महात्मा हंसराज, प्रोफ़ेसर रामदेव, प्रोफ़ेसर दीवानचन्द, पंडित तुलसीराम, पंडित रामचन्द्र देहलवी, चौधरी खूबचन्द–आदि हमारी उस दुनिया की विख्यात मूर्त्तियाँ थीं। फिर देखते कहीं किसी आर्यसमाजी व्याख्यान या मुबाहिसा को लेकर हिन्दुओं या मुसल्मानों से सिर फुटौवल हुई कि नहीं। खंडन-मंडन के लेख–विशेषकर इस्लाम के विरुद्ध–बहुत चाव से पढ़े जाते, और

1915 ई. के अन्त होने से पहिले ही 'मुसाफ़िर आगरा' के केदारनाथ विद्यार्थी के भी लेख छापने शुरू किये। अपने लेख को पहिले-पहिल छपा देखकर तरुण लेखक को कितनी प्रसन्नता होती है, उसे अनुभवी ही बतला सकते हैं। मेरा उर्दूवाला लेख पहिले छपा या हिन्दीवाला, इसे नहीं कह सकता; किन्तु मेरठ के हिन्दी मासिक 'भास्कर' के दो अंकों में अपने छपे लेखों से मुझे ज्यादा ख़ुशी हुई। वही हिन्दी का मेरा प्रथम लेख है। इसमें अयोध्या में साधु लोगों के पास गृहस्थ लोग कैसे मन्त्र लेने आते हैं, इसे विदेहीजी के स्थान में देखे-दृश्य को लेकर मैंने वर्णित किया था।

संस्कृत की पढ़ाई से छुट्टी पाने के कारण मेरे पास कुछ और भी फ़ाज़िल समय था, जिसे मैं बाहरी पुस्तकों के पढ़ने में लगाता था। 'मुसाफ़िर' आफ़िस की रद्दियों और कूड़े में बहुत-सी समालोचनार्थ आई आर्यसमाजी पुस्तकें पड़ी थीं। मैंने लगकर कूड़ा-कचड़ा साफ़ किया, पुस्तकों को जमा किया, और एक-एक को पढ़ डाला। इन पुस्तकों में पंडित आर्यमुनि, पंडित राजाराम शास्त्री, पंडित तुलसीराम के किये दर्शन, उपनिषद् और दूसरे संस्कृत ग्रंथों के मूलसहित अनुवाद थे। मैं अब इन ग्रंथों में रस लेने लायक हो गया था। उर्दू की 'कुल्लियात-आर्यमुसाफ़िर' हमारे लिए बड़ी प्रिय चीज थी, क्योंकि यह उन्हीं शहीदे-धर्म पंडित लेखराम आर्य मुसाफ़िर की कृतियों का संग्रह था, जिनकी स्मृति में हमारा आर्यमुसाफ़िर विद्यालय स्थापित हुआ था। स्वामी दर्शनानन्द, पंडित भोजदत्त, महाशय धर्मपाल (जो अब फिर मुसल्मान हो चुके थे) की उ़र्दू पुस्तकों को मैंने बहुत शौक से पारायण किया था। इस्लाम की समालोचना में लिखी गई पादरियों की भी बहुत-सी पुस्तकें मैंने देखीं। मेरे साथी सुनी-सुनाई परम्परा को दुहराते हुए जब मौलवी सनाउल्ला अमृतसरी, पादरी ज्वालासिंह और स्वामी दर्शनानन्द की शास्त्रार्थ में अप्रतिभ प्रतिभाओं का वर्णन करते, तो मुझे ईर्ष्या होती—क्या मैं भी वैसा हो सकता हूँ। मौलवी सनाउल्लाह के 'अह्ले-हदीस' का तो मैं हर स़प्ताह पाठ करता था। 'पैगाम-सुलह', 'अल्फ़जल', 'नूर' जैसे कादियानी अखबारों से भी मुझे नवीन इस्लाम की जानकारी का अच्छा मौका लगता था।

हम लोग वैदिक धर्म—आर्यसमाज के सिद्धान्तों—ऋषि दयानन्द के पैगाम—को सारी दुनिया में पहुँचाने के लिए मिश्नरी तैयार किये जा रहे थे। हमें उपदेशों, अखबारों और पुस्तकों द्वारा बतलाया जाता था, कि दुनिया का सबसे पुराना धर्म—सारे धर्मों का आदि स्रोत—आज भी अपने सिद्धान्तों में कितना मजबूत है। उसमें एक ईश्वर छोड़ किसी दूसरे की पूजा नहीं है। बहुदेववाद वेद-विरुद्ध है, श्राद्ध ब्राह्मणपोपों के पेट पालने की चाल है। अवतार अजन्मा ईश्वर का नहीं होता। पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त हमारे धर्म को सारे धर्मों से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं, रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता का दूसरा नाम है। तीर्थ, मूर्त्ति-पूजा आदि सभी पोपलीलाएँ हैं। बात-बात में हमारे सामने ईसाई मिश्नरियों के धर्म प्रचार के लिए किये गये स्वार्थत्याग और साहस की मिसाल पेश की जाती थी, और उससे भी ज्यादा, जापान-चीन-तिब्बत-मध्यएसिया के दुरूह रास्तों से शताब्दियों पूर्व बौद्धभिक्षुओं की यात्राओं का उदाहरण पेश किया जाता था। हम अपने को दयानन्द के भिक्षु और अपने विद्यालय को एक छोटी-सी नालन्दा—यद्यपि बहुत त्रुटिपूर्ण—समझते थे।

शिक्षा सिर्फ़ मौखिक नहीं थी, उसे व्यवहार में रूप देने का भी हमारा प्रयत्न होता था। मुसाफ़िर विद्यालय के हम सभी विद्यार्थी सप्ताह के अधिकांश दिनों में शहर में, या सुल्तानपुरा बाजार में सड़क पर व्याख्यान देने जाते थे। यह परम्परा मेरे पहिले कायम हुई थी, पहिली बारी के विद्यार्थी थे भाई साहेब और धर्मवीरजी, रामगोपाल जी दूसरी बारी में, और अब हमारी जमात का नम्बर तीसरा था। मालूम होता है, इसे ईसाइयों से सीखा गया था। इन व्याख्यानों के श्रोता दस-पाँच मिनट से अधिक एक जगह न खड़े रह सकनेवाले अपनी खरीद-फ़रोख्त के लिए आये लोग हुआ करते थे, इसलिए हम लोगों का व्याख्यान संक्षिप्त होता था। इन व्याख्यानों के अतिरिक्त अछूतोद्धार में हमें खासतौर से काम करना पड़ता था। पंडित भोजदत्तजी अखिल भारतीय शुद्धि सभा के प्रधानमन्त्री और संस्थापक थे। इसका काम तो था, मुसल्मानों और ईसाइयों को वैदिक धर्म की दावत देना, किन्तु इसमें उसे बहुत कम सफलता मिलती थी। कभी ही कोई भूला-भटका मुसल्मान या ईसाई जाति-पाँत की संकीर्णता से दबे हिन्दू समाज में आना चाहता था। हाँ, शुद्धि-शुदों की संख्या दिखलाने के लिए अछूतों के शुद्धिसंस्कार होते थे। कुछ पढ़-लिख गये, तथा बेहतर आर्थिक अवस्थावाले अछूत परिवार जरूर चाहते थे कि समाज में उनके

लांछित अपमानित स्थान में कुछ परिवर्तन हो। इसी इच्छा से वह अपनी 'शुद्धि' कराते थे। इसके लिए एक दिन मुकर्रर होता। उस दिन घर के व्यक्ति, संस्कार की गम्भीरता को साबित करने के लिए उपवास रखते, शाम को हम लोग पहुँचकर हवनकुंड खोदते। चौक-वौक पूरते, संस्कारविधि में आये मन्त्रों से हवन करते, घर के व्यक्ति उसमें यजमान के तौर पर बैठकर अपने हाथों से आहुति देते। फिर उनके हाथ के बने हलवे-पूड़ी का प्रसाद बाँटा जाता। हम पुरोहित लोग वहीं भोजन करते। हमारे इन शुद्ध होनेवाले भाइयों में अधिकतर आगरा के आसपास के चमार होते, जो शकल-सूरत में पास-पड़ोस के दूसरे लोगों से भिन्न नहीं मालूम होते थे।

वैष्णवधर्म—वैरागी सम्प्रदाय—से मैं उदासीन हो गया था। धर्म का आकर्षण नहीं बल्कि घूमने-पढ़ने का आकर्षण, तथा घर से मुक्ति का खयाल मुझे वहाँ ले गया था। वहाँ मेरे विचार वंध्या समान थे, किन्तु यहाँ आर्यसमाज में अपनी बुद्धि को ज्यादा स्वच्छन्द, ज्यादा अनुकूल परिस्थितियों में पा रहा था। जाति-पाँत का खंडन आर्यसमाजी एक हद तक ही करना चाहते थे, किन्तु मैं उसको असह्य बीमारी समझता था। युक्तप्रान्त के आर्यसमाजियों में वर्णव्यवस्था को लेकर उस वक्त दो दल हो गये थे, एक दल—ब्राह्मणपार्टी—वर्णव्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार बतलाते भी स्वभाव पर बहुत जोर देकर 'पनाले को वहीं' रखना चाहता था, इस दल के मुखियों में पंडित मुरारीलाल (सिकन्दराबादी), पंडित तुलसीराम और ज्वालापुर महाविद्यालय का पंडितदल शामिल था। स्वामी सर्वदानन्द को पुरानी मर्यादा का अतिक्रमण कर, ब्राह्मणों को नीचे दबाते हुए अछूतों को आगे बढ़ाते देख, कविराज पंडित नाथूरामशंकर ने 'चमरन के तारन को तारन के कारण प्रगटे सन्त सर्वदानन्द' लिख मारा था। मैं अपने छोटे दायरे में इस विचारधारा का सख्त मुखालिफ़ था। मेरे सहपाठियों में सबसे अधिक घनिष्ट मित्र भगवतीप्रसाद कुछ दिनों तक गुरुकुल सिकंदराबाद में रहे थे, और पंडित मुरारीलाल शर्मा के विचारों से प्रभावित हुए थे। वे अक्सर वर्णव्यवस्था के बारे में मुझसे झगड़ पड़ते। मैं सारे आर्य (समाजी) मात्र की रोटी-बेटी के पक्ष में था, और स्वामी सर्वदानन्द की खरी-खरी बातों को बहुत पसन्द करता था।

एकमा से एक बार गुरुजी के साथ एक दिन मैं छपरा जा रहा था। हमारे ही सेंकड क्लास के डिब्बे में छपरा के बैरिस्टर मिस्टर मुस्तफ़ा बैठे हुए थे। बातचीत से परिचय हुआ। मिस्टर मुस्तफ़ा ने गुरुजी से कहा—'महन्तजी, अपने शिष्य को विलायत भेजिए।' किसलिए, सो मैंने नहीं सुना या याद नहीं। महन्तजी ने हँस दिया। परसा का वैष्णव वैरागी क्रिस्तानों के मुल्क में जायेगा—इस पर वह सोच भी नहीं सकते थे। किन्तु वह बात मेरे लिए भी वैसी ही न थी। उससे भी पहिले बनारस में जिस वक्त 'सरस्वती' में मैं खन्ना की अमेरिका यात्रा-सम्बन्धी लेखों को पढ़ता, तो मेरा हृदय वहाँ साक्षी मात्र नहीं रहता था। सेंट्रेल हिन्दू कालेज में, शायद कुमार देवेन्द्र को स्वर के साथ गाते सुना था—'न्यूयार्क में पहुँचकर हमको भी तार देना', तो उससे मेरे मन पर अजीब-सा प्रभाव पड़ा था। और अब तो हम विदेशयात्रा के ही स्वप्न देखा करते थे, मेरा स्वप्न अमेरिका यूरोप का नहीं था, मैं एसिया के ही किसी भाग को पसन्द करता था, पहिले अरब, मिश्र, ईरान और पीछे चीन-जापान को। किसलिए !—वैदिक धर्म के प्रचार के लिए। किन्तु, जिस तरह धर्मवीरजी अरब में धर्मप्रचारार्थ जाने के लिए उतावले होकर बम्बई की किसी मस्जिद में कई दिन काट आये थे, मैं उतनी जल्दी का पक्षपाती न था, उसके लिए मैं काफ़ी तैयारी की जरूरत समझता था। वैसे सभी चारों सहपाठी हमारे स्वप्नों के सहभागी थे, किन्तु रामगोपाल के साथ उन पर बहस करने में बहुत लुत्फ़ आता था। मैं स्वतन्त्र था, मुझे कहीं आने-जाने में कोई बन्धन नहीं था, किन्तु रामगोपाल की उड़ानों में बाधक थी उनकी स्त्री। मैं सलाह देता—उसे पढ़ाकर अपने पैरों पर खड़ा कर दो, कहीं अध्यापिका हो जायेगी। हमारी भविष्य की कार्य-योजनाओं में एक मिश्नरी विद्यालय भी था, जिसमें पुराने नालन्दा और उस वक्त के मुसाफ़िर विद्यालय का सम्मिश्रण होगा। वहाँ हम पढ़े-लिखे नौजवानों को छै-सात वर्ष की विशेष शिक्षा देंगे। जो जिन देशों में जायेगा, वह उस देश की भाषा, संस्कृति और धर्म के बारे में विशेष तौर से पढ़ेगा।

पंडित भोजदत्तजी आगरा में ही थे, किन्तु, असाध्य बीमारी—शायद यक्ष्मा—से बीमार थे। उनके दर्शन बहुत कम हुआ करते थे।

मेरी बुआ की लड़की का ब्याह करना था। फूफा साहेब ने पत्र लिखा—'फ़ीरोजाबाद के पोस्ट-मास्टर (आजमगढ़

जिले के रहनेवाले) के लड़के को देख आना, और ब्याह की बात कर आना।' मैं फ़ीरोजाबाद गया, और ब्याह के ठीक-ठाक करने में मदद की। उसी समय कनैला से पत्र आया–शायद यागेश का, कि पिताजी अर्धविक्षिप्त से हो गये हैं, शायद तुम्हारे भाग जाने के कारण; इसलिए एक बार मिल जाओ। पन्द्रह-बीस दिन की छुट्टी लेकर मैं कनैला आया। पिताजी बहुत दुबले हो गये थे, मालूम होता था बहुत दिनों की बीमारी से उठे हैं। उन्होंने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। दिमाग की गर्मी शान्त करने के लिए कनपटी के पास फ़स्द खोलकर खून निकालने के लिए आदमी आया हुआ था। उन्होंने कहा–"क्या करोगे फ़स्द खुलवाकर, मैं अब अच्छा हो जाऊँगा।" दीवाली के दिन मैं आजमगढ़ आर्यसमाज में था, और कार्तिक पूर्णिमा के दिन करहा के मेले में मुझे लेक्चर झाड़ते देख मेला देखने के लिए आये कनैला के स्त्री-पुरुषों को बहुत आश्चर्य हुआ। इसी वक्त मुहम्मदाबाद में बाबू बैजनाथप्रसाद वकील के यहाँ ठहरा। वह अभी-अभी इलाहाबाद से वकालत पास कर आये हुए थे। उनके पास 'कर्मयोगी' की पूरी फ़ाइल थी। राजनीति पर बातचीत करने के अतिरिक्त उस फ़ाइल के कितने ही भागों को मैंने पढ़ा। तीन-चार सप्ताह बाद पिताजी ने बड़ी खुशी के साथ मुझे आगरा लौट जाने की इजाजत दी।

1915 ई. के जुलाई-अगस्त तक पढ़ने-लिखने, बोलने-चालने में मेरी काफ़ी प्रगति हो चुकी थी। अब मुझे आगरा से बाहर, फ़तेहगढ़, जसवन्तनगर, फ़ीरोजाबाद जैसे स्थानों में भी व्याख्यान और संस्कार कराने के लिए भेजा जाता था। व्याख्यान देते वक्त अपरिचित अगणित चेहरों का रोब गालिब होना अब भी कम नहीं हुआ था, तो भी श्रोताओं की टिप्पणी या चेष्टा अनुत्साहवर्धक न होने से मुझे आत्मग्लानि नहीं होती थी। इसी बीच शायद सितम्बर (1915) में जबलपुर से डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित धर्मवीर को मुसल्मानों के साथ शास्त्रार्थ करने का निमन्त्रण आया। मैं भी शास्त्रार्थियों में गिना जाने लगा था, और संस्कृत के प्रमाणों को जुटाने में तो उनकी काफ़ी सहायता कर सकता था, इसलिए डाक्टर लक्ष्मीदत्त ने मुझे भी चलने के लिए कहा। हम लोग पहिले इलाहाबाद गये। उस वक्त वहाँ युक्तप्रान्त के राजनीतिक नेताओं की एक बड़ी कान्फ्रेंस हो रही थी। युक्तप्रान्त में उस वक्त लेफ्टेंट-गवर्नर शासन करता था, देशभक्तों की–जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, आदि सभी शामिल थे–माँग थी, गवर्नर की। शायद अंग्रेजी सरकार ने इस माँग को ठुकरा दिया था, इसी पर यह विराट् कान्फ्रेंस कांग्रेस की ओर से सारे प्रान्त-भर के लोगों की बुलाई गई थी। हम लोग आगरा से किसी सभा के प्रतिनिधि न थे। सभा-स्थल ही में हमें एक-एक प्रतिनिधि टिकट मिल गया। कान्फ्रेंस शायद म्योहाल में हुई थी। अंग्रेजी में धुआँधार तकरीर हुई, जिसका समझना ऐसे भी हमारे लिए मुश्किल था, ऊपर से गर्मी का पूछो मत, बर्फ़ डाले पानी के गिलासों के गिलास गले के नीचे उँड़ेले जाते थे, और प्यास बुझना जानती न थी।

जबलपुर में हम लोगों को हितकारिणी हाई स्कूल के मकान में ठहराया गया–शायद उस वक्त कोई छुट्टी थी, जिससे स्कूल बन्द था। गर्मी यहाँ भी खूब थी, किन्तु बँगले की छत कुछ ऊँची थी, और लेमनेड बर्फ़ का बराबर इन्तिजाम रहता था। मुसल्मानों की तरफ़ से मौलाना सनाउल्लाह शास्त्रार्थ करनेवाले थे। उनकी मदद के लिए मौलाना अबूतुराब, मौलाना कासिम बनारसी तथा दूसरे सज्जन भी आये थे। आर्यसमाज की तरफ़ से डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित धर्मवीर बोलनेवाले थे। पंडित रामचन्द्र देहलवी के कुछ व्याख्यान यहाँ के टाउनहाल में हुए थे, उसी पर यह शास्त्रार्थ रचा गया था। मेरे लिए यह पहिला मौका था किसी आर्यसमाजी-मुस्लिम शास्त्रार्थ देखने का। एक ही प्लेटफ़ार्म पर मध्यस्थ–जो शायद जबलपुर के किसी कालेज के मिश्नरी के प्रिंसिपल थे–की दोनों तरफ़ दो मेजों पर दोनों पक्ष के पंडित-मौलवी पुस्तकों का ढेर लेकर बैठे हुए थे। चारों तरफ़ खुली जगह में विराट् हिन्दू-मुस्लिम जनता शास्त्रार्थ सुनने के लिए बैठी थी। रात के अँधेरे को दूर करने के लिए लालटेनों का काफ़ी इन्तिजाम था। वक्ताओं को बारी-बारी से बोलना पड़ता था। समय पूरा होते ही मध्यस्थ घंटी बजा देते। शास्त्रार्थ का प्रभाव सभी जनता पर एक-सा कैसे पड़ता, जब कि उनकी सहानुभूतियाँ पहिले ही से बँटी हुई थीं। तो भी अपने धर्म को विज्ञानानुमोदित बनाने के लिए आर्यसमाज बहुत से पुराने मिथ्या विश्वासों को छोड़े हुए था; स्वामी दयानन्द ने उन्हीं सिद्धान्तों को मान्य रहने दिया था, जिन्हें वह अपने सामयिकों के कथनानुसार विज्ञानसम्मत समझते थे। एक तरफ़ अपनी पुरानी खुराफातों के अधिकांश की होली जलाकर एक आदमी आया हो, और दूसरी ओर तेरह सौ वर्षों की अधिकांश लचर बातों को काफ़िर होने के डर से न छोड़ने के लिए मजबूर

व्यक्ति हो, दोनों में कौन अच्छी तरह लोहा ले सकेगा, यह स्पष्ट ही है।

शास्त्रार्थ शायद दो दिन हुआ था। उसी समय हम ताँगे से भेड़ाघाट के मार्बल राक (संगमरमर चट्टान) को देखने गये थे। हम लोगों को निमन्त्रण देकर अपने घर खाने के लिए ले जानेवालों में एक बैरिस्टर कोई गुप्त साहेब थे। वह विलायत में तरुण भारतीयों के ऊपर ख़ुफ़िया पुलिस की कितनी कड़ी निगाह रहती है, इसके बारे में कह रहे थे—हम उनसे बचने के लिए बहुधा मैदानों की घास में बैठ जाते थे। जबलपुर में एक दिन संस्कृत में मुझे व्याख्यान देना था, किन्तु किसी कारण से व्याख्यान नहीं हो सका। उस समय के शास्त्रार्थ से मुकाबिला करने से मालूम होता था, कि अब से उस समय के लोग ज्यादा विचार-सहिष्णु थे।

युद्ध की भीषणता और भी बढ़ गई थी। नामनेर आगरा-छावनी के भीतर समझा जाता है। हम लोग दोपहर बाद पढ़ने के लिए कभी-कभी एक बाग में जाया करते थे, वहाँ देखते थे आये हुए झुंड के झुंड रंगरूटों को। ख़ुफ़िया पुलिस और भेदियों का तो चारों ओर जाल बिछा हुआ था। हमारे विद्यालय के सामनेवाले मन्दिर में एक पगला रहता था, कितने लोग कह रहे थे—वह पागल नहीं भेदिया है। कुँअर सुखलाल के गानों में कुछ राष्ट्रीयता की गर्माहट बढ़ रही थी, जिसके लिए पुलिस सजग रहने लगी थी। एक बार हम लोगों के सामने प्रस्ताव आया था, मेसोपोतामिया में दुभाषिया बनकर पलटन के साथ जाने का। लेकिन न जाने क्यों बात वहीं तक रह गई, हममें दो-एक तो जरूर ही सैर के शौक में जाने के लिए तैयार हो जाते। अब अभिलाष विद्यालय के विद्यार्थी नहीं रह गये थे, तो भी बीच-बीच में आया करते थे, और बड़ी खतरनाक सूरत में। उनकी घड़ी, फोटोग्राफ़ी के छोटे-छोटे औजारों के लिए चलने का बड़ा शौक था। थोड़े से ही खर्च में वह बड़े फिटफाट से रहा करते थे। यह हमारे विद्यालय के परले दर्जे के चलते-पुर्जे—बुरे अर्थ में नहीं अच्छे अर्थों में—तरुण थे। अपने साथियों पर पूरा विश्वास रखते और खुद भी उनके पूरे विश्वासपात्र थे। बंगविच्छेद के बाद जो बम्ब-सम्प्रदाय चला, वह भीषण दमन के बाद भी घटने की जगह बढ़ता ही जा रहा था। दिल्ली में वाइसराय लार्ड हार्डिंग के ऊपर बम्ब चला था, उसकी गूँज अब भी हवा में थी। हम बड़ी गम्भीरता और सहानुभूति के साथ दिल्ली षड्यन्त्र के मुकदमे के बारे में पढ़ा-सुना करते। मेरे आगरा में रहते ही वक्त अवधबिहारी, मास्टर अमीरचन्द और बालमुकुन्द को फाँसी हुई थी। उनकी फाँसी हमें अपने किसी अत्यन्त आत्मीय की हत्या से बढ़कर मालूम होती थी, साथ ही हमें उसका बहुत अभिमान भी था। पिछले साल-भर के साहित्य और सत्संग ने हमारे सुप्त हृदय को जागृत कर दिया था, राजनीति के साथ धर्म की खिचड़ी बनाते हुए भी देश की आजादी के लिए हम बेकरार थे। अभिलाष ने एक बार कहीं से भड़कनेवाले कुछ मसाले लाकर एक कागज में रस्सी से बाँधकर विद्यालय के आँगन में पटका, हलका-सा धमाका हुआ, शायद आँगन से बाहर आवाज नहीं गई। कुछ देर तक गन्धक की गन्ध उड़ती रही। बतलाया—यही बम्ब का मसाला है, किन्तु असली बम्ब बनाने में बहुत-सी चीजें आवश्यक होती हैं। अभिलाष—साहसी और व्यवहारपटु अभिलाष—मेरी नजरों में बहुत ऊँचा स्थान रखता था, यद्यपि उसके पढ़ाई छोड़ बैठने को मैं पसन्द नहीं करता था। आतंकवादियों से मेरी बड़ी सहानुभूति थी। उनकी देश की आजादी के बारे में अधीरता की मैं प्रशंसा करता था, और यदि जरूरत पड़ती तो उनके काम के लिए मुझे प्राणोत्सर्ग करने में भी हिचकिचाहट न होती, लेकिन उस एक दिन दो मिनट के कागज की पोटली के धड़ाके से बढ़कर मुझे कभी आतंकवाद के समीप ज्यादा जाने का मौका न लगा। मैं आतंकवादी क्यों न बना !—इसमें शायद संयोग ही कारण हो सकता है, आसपास कोई मुझे उधर खींचनेवाला व्यक्ति नहीं था। अथवा मेरे में ही दृढ़ जिज्ञासा की कमी थी, और मैं उनके अड्डों को ढूँढ़ने नहीं निकला। शायद अभिलाष का कोई सम्बन्ध रहा हो, किन्तु उसने मुझे किसी और साथी को मिलाने की बात नहीं की। भाई साहेब राजनीतिक स्वतन्त्रता का जबर्दस्त पाठ पढ़ा रहे थे, लाल-बाल-पाल के परम भक्त थे, और देश के लिए मरनेवालों की प्रशंसा करते नहीं थकते थे; किन्तु, वह भी किसी कर्मठ आतंकवादी के सम्पर्क में नहीं आये थे। तो भी, मुसाफ़िर विद्यालय के नंगे शिर नंगे पैरवाले अर्द्धशिक्षित हम तरुण विद्यार्थी भी पुलिस की निगाह से बचे न थे।

1915 के अन्त के साथ मेरी पढ़ाई का अन्त भी आता दीख पड़ा। मेरे साथियों में से कोई, नमाज और कोई मौलूद नागरी अक्षरों में करके आगरे के एक प्रेस को दे रहा था। एक बार उक्त प्रेस ने मुझे कुरान को

हिन्दी में कर देने के लिए कहा। मिहनत और पारिश्रमिक से परिचित तो था नहीं, मैंने ढाई रुपया सिपारा में नागरी अक्षरों में अरबी आयतों और हिन्दी में उनके अर्थ को लिखकर देना स्वीकार कर लिया। पहिले सिपारे को दे आने के बाद मालूम हुआ, प्रेसवाला (बाम्बे मशीन प्रेस) लूट रहा है। दूसरे सिपारे को ले जाते वक्त मैंने पारिश्रमिक को बढ़ाने के लिए कहा। कुछ तय नहीं होने पाया, और मैंने उसके बाद अनुवाद के काम को छोड़ दिया। कुछ वर्षों बाद कानपुर में किसी हटिया में अपने अनुवादित दोनों सिपारों को बिना मेरे नाम के छपकर बिकते देखा, तो मैंने प्रेसवाले को चिट्ठी लिखी। वह चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगा, और उसने कुछ रुपये भेज दिये। मैं खुद तरद्दुद में नहीं पड़ना चाहता था, न उसे तरद्दुद में डालना चाहता था।

आगरा के उस निवास में हमारा दिन सिर्फ़ रूखे आदर्शवाद ही में नहीं कट रहा था। समवयस्क सहृदय साथियों का साथ एक लालसा की चीज है। मुंशी मुरारीलालजी हममें सबसे ज्यादा गुरु-गम्भीर पुरुष थे। उन्होंने स्वामी रामतीर्थ की वेदान्त-सम्बन्धी एक-दो उर्दू पुस्तकें पढ़ी थीं, और प्रयाग में रहते वक्त स्वामी राम के दर्शन और सत्संग का जिन्हें मौका मिला था, ऐसे बहुत से आदमियों से स्वामी राम के व्यक्तित्व को जानने का उन्हें मौका मिला था; इससे उन पर वेदान्त और रामतीर्थ का गहरा असर था। एक समय था, जब मैं वैष्णव रहते हुए भी शंकराचार्य के वेदान्त का जबर्दस्त भक्त था, किन्तु अब मैं पक्का आर्यसमाजी था; सिर्फ़ ऊपर-ऊपर की बातों ही में नहीं, दर्शन में भी आर्यसमाजी द्वैतवाद के सामने वेदान्त के अद्वैतवाद को बिलकुल कमजोर समझता था। भाई मुरारीलाल को, मैं समझता था, कि वह अभी आदिम अवस्था में हैं। और जब कभी मजलिस में कुछ सुस्ती छाई होती, तो रामतीर्थ के बारे में छेड़ देता। मुरारी भाई प्रहार हलका रहने पर तो समाधान करने की कोशिश करते, और यदि कहीं प्रहार सख्त हुआ, और मैंने कह दिया–'क्या वेदान्त और क्या ब्रह्म ? जो आदमी पानी में डूब मरने के लिए तैयार हो जाये, वह पागल ही हो सकता है।' फिर तो यह उनके बर्दाश्त से बाहर की बात हो जाती, लेकिन उसके लिए वह झगड़ते नहीं थे, उनका 'मौनं केवलमुत्तरं' होता। भाई मुरारीलाल के पास एक मोटे डोरियें का अचकन था, जिसे जाड़ों में वह कभी-कभी पहनते थे; काले रंग की एक कश्तीनुमा टोपी भी थी। हम लोग मुसाफ़िर विद्यालयवाले नंगे शिर रहा करते, लेकिन मुरारी भाई जब अचकन पहनते तो टोपी भी लगा लेते। हम उनसे बहुत कहते–'भाई साहेब, सबकी तरह आपको नंगा रहना चाहिए।' बोलते–'उहुँक, इस अचकन पर तो यह टोपी लाजिमी है।' 'टोपी लाजिमी है' इसे जब हमने आवाज कसने का जरिया बना लिया, तब अचकन ही उतर गया।

हमारे यहाँ एक बूढ़ी मिश्रानी रोटी बनाया करती। बूढ़ों और जवानों की अलग-अलग दुनिया होती है। हममें से कई मनचले कभी-कभी मिश्रानी को हैरान भी कर डालते। एक दिन मिश्रानी अन्दाजा करके हम सबके खाने-भर के लिए आटा लाई। हमने निश्चय किया, आज मिश्रानी को छकाना है। बस, पालथी मार के खाने बैठ गये। मिश्रानी फूले हुए फुलके फेंकती जाती, और हम खाते जाते। आटा खतम हो जाने पर भी हम लोग डटे हुए थे। लाचार सेर-भर फिर आटा आया। आटा आने में देर, गूँधने में कुछ और देर, तब तक हमारी भूख कुछ और ताजी हो गई। उस सेर-भर आटे को भी खतम किया। फिर नौकर आटा लेने गया, हमने अपनी भूख ताजा की। मिश्रानी ने कहा–'खाओ, कितना खाओगे।' हमने कहा–'खिलाओ, कितना खिलाओगी।' दोनों ओर से होड़ लगी थी। चौथी बार आटा मँगाने के बाद मिश्रानी निराश हो गई, और उसने हार मान ली। हम लोग उन फुलकों को खाकर उठ खड़े हुए।

मुसाफ़िर विद्यालय के संस्थापक पंडित भोजदत्त शर्मा थे। पंडित लेखराम शर्मा के बाद मुसलमानों से लोहा लेने में वह भारी महारथी समझे जाते थे। उनकी जबान में जबर्दस्त ताकत थी, यद्यपि कलम में उतनी नहीं। पहिले कुछ दिनों तक वह आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के उपदेशक भी रहे। उन्होंने पंडित लेखराम के काम को जारी रखने के लिए मुसाफ़िर विद्यालय और 'मुसाफ़िर आगरा' साप्ताहिक पत्र निकाला था। विद्यालय का काम चन्दे से चलता था जिसका जमा होना, उस लड़ाई के जमाने में उतना आसान काम न था, खासकर जब कि पंडित भोजदत्तजी रोगशय्या पर पड़े थे। उनके दोनों लड़के डाक्टर लक्ष्मीदत्त और पंडित तारादत्त वकील विद्यालय का काम देखते थे, किन्तु उन्हें अपनी गृहस्थी भी चलानी थी, इसलिए अपने पेशे में भी समय लगाना जरूरी

था। डाक्टर लक्ष्मीदत्त की डिस्पेन्सरी शहर में थी। पंडित तारादत्त नये वकील थे, इसलिए उनकी कशमकश कम न थी। आर्थिक सहायता के लिए डाक्टर लक्ष्मीदत्त को ही ज्यादा काम करना पड़ता था। ये रुपये कुछ तो पंडित धर्मवीर और कुँवर सुखलाल के जरिये आर्यसमाज के उत्सवों या सभाओं से आते, और कुछ पैसे चिट्ठी-पत्री लिखने पर मददगार लोग भेज दिया करते। आर्यसमाज उस वक्त युक्तप्रान्त में निम्न मध्यम श्रेणी के शिक्षित लोगों ही में फैला हुआ था, इसलिए वह बड़ी धनराशि दान में नहीं दे सकते थे। आगरा में रहते ही वक्त छुट्टियों में पंडित बलदेव चौबे (अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती) वृन्दावन आदि घूमते हुए वहाँ आये थे। उस वक्त वह प्रयाग में मेट्रिक के विद्यार्थी थे। साधारण बातचीत हुई, एक जिले के होने से आकर्षण तो जरूर कुछ बढ़ जाता है, किन्तु उस समय कहाँ पता था, कि हमारा यह प्रथम परिचय एक आजीवन मैत्री का रूप धारण करेगा। हम लोग उस साल (1915 ई.) के दिसम्बर में गुरुकुल वृन्दावन का वार्षिकोत्सव देखने गये थे। पीछे कांग्रेस के अधिवेशन और उनके विराट् कैम्पों को देखने पर तो वह स्मृति फीकी पड़ गई, किन्तु उस वक्त का वह छोटा-सा शिक्षित संयत मेला दूसरे उजड्ड असंयत धार्मिक मेलों से बहुत अच्छा मालूम हुआ। वहाँ हमें आर्यसमाज के चोटी के उपदेशकों–प्रोफ़ेसर रामदेव आदि के व्याख्यान सुनने का मौका मिला। बार-बार पानी या दूध की घूँटों से गला साफ़ करते, नोटबुक के पत्तों को उलटते, फेनिल मुख से आरोहावरोह क्रम से निकलती उनकी आवाज, और वेद की सचाइयों के सामने विज्ञान और पश्चिमी जगत के शिर नवाने की गर्जना पर जनता की तुमुल ध्वनि–यह बातें मुझे अब भी स्मरण आती हैं। मुझे 1915 ई. के गुरुकुल वृन्दावन की इमारतों का स्मरण बहुत क्षीण है। गुरुकुल के पास ही कुछ जंगल-सा था। इमारतें थोड़ी किन्तु साफ़ थीं। पीले कपड़े, मोजे के साथ लकड़ी के चप्पलों में वहाँ के ब्रह्मचारी की ऋषियुग याद दिलाते थे। ईर्ष्या होती थी, कि मुझे ऐसी संस्था में पढ़ने का मौका क्यों नहीं मिला।

वृन्दावन में हम प्रेम महाविद्यालय को भी देखने गये थे। उनके संस्थापक का नाम और वर्णन युद्ध से पहिले शायद 'सरस्वती' में मैं पढ़ चुका था। इधर लड़ाई के समय जिस तरह सर्वस्वत्यागपूर्वक वह इंगलैंड के शत्रुओं से मिलकर भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे थे, इसकी भी खबरें हमें जब-तब मिलती थीं। उस वक्त उनकी जायदाद हाल ही में जब्त हो चुकी थी। हम लोग सराहना करते थे, उनकी दूरदर्शिता की–जायदाद का बहुत-सा भाग उन्होंने प्रेम महाविद्यालय को दे दिया था। वृन्दावन के एकाध मन्दिरों में भी गये। श्रीरंग के मन्दिर को देखकर तमिलप्रान्त के वैसे हजारों मन्दिर याद आने लगे। मथुरा से हम लोग गुजरे थे जरूर, किन्तु वहाँ ठहरे न थे। इसी यात्रा में रेल में साहित्याचार्य पंडित ब्रह्मदत्त शास्त्री से भेंट हुई थी, अभी वह एम. ए. नहीं हुए थे, न आर्यसमाज में आये थे। कुछ समय बाद जब पंडित अखिलानन्द आर्यसमाज से अलग हो उसे और उसके संस्थापक को गालियाँ देने तथा अपने संस्कृत काव्यपाठ के अभिमान में आर्यसमाजियों को शास्त्रार्थ के लिए चैलेंज देने लगे, उस समय उनसे मुकाबिला करने के लिए पंडित ब्रह्मदत्त प्रकट हुए। उन्होंने संस्कृत भाषा के गद्य-पद्य किसी में अखिलानन्द को शास्त्रार्थ करने का चैलेंज दिया।

आगरा में रहते ही वक्त कोमागातामारू के बहादुर सिक्खों और उनके नेता बाबा गुरुदत्त सिंह के ऊपर बजबज में हुआ गोलीकांड घटित हुआ था। कोमागातामारू के सिक्खों ने साहस के साथ अंग्रेजों का सामना किया था, इसे हम अपने अभिमान की चीज समझते थे। उसके बाद एक के बाद एक पंजाब में स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयासों की बातें, लाहौर षड्यन्त्र की अदालती कार्रवाइयों–जिनकी कोई-कोई बातें अखबारों और दूसरे जरियों से मिलती रहती थीं–से मालूम होती रहती थीं। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का जोश अपने जैसे लाखों भारतीय नौजवानों की भाँति मेरे हृदय में भी भरा हुआ था। भाई परमानन्द की जब्त 'इतिहास' पुस्तक को हम पढ़ चुके थे, जब कि लाहौर षड्यन्त्र केश में उन्हें फाँसी की सजा हुई। मेरी मानसिक अवस्था उस वक्त ऐसी थी कि यदि उनके या उनके दूसरे साथियों को छुड़ाने के लिए सशस्त्र चेष्टा के लिए प्राण देनेवाले स्वेच्छासेवकों की जरूरत पड़ती, तो मैं उनमें पहिले नाम लिखाता।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए मुझमें इतनी बेकरारी थी, किन्तु उस वक्त राष्ट्रीयता के बारे में मेरी क्या धारणा थी ? राष्ट्रीयता और धर्म को मैं उस वक्त अलग नहीं समझता था। धर्म से मेरा मतलब आर्यसमाज और स्वामी

दयानन्द के मान्य वैदिक धर्म से था। बाकी धर्मों—ईसाई, इस्लाम, यहूदी, बौद्ध ही नहीं हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों को भी मैं झूठे धर्म तथा वेद और विज्ञान के प्रकाश में शीघ्र ही लुप्त हो जानेवाले धर्म समझता था। तर्क और दलील द्वारा प्रतिद्वन्द्वी को अपने रास्ते पर लाने का मैं पक्षपाती था। किसी तरह का बलप्रयोग मैं मजहबों की कमजोरी समझता था। इसीलिए, जब कभी मुझे किसी ईसाई या मुसल्मान धर्मप्रचारक से मिलने का मौका मिलता, तो मैं उनसे बहुत प्रेम से मिलता। बात करते वक्त हमेशा दिमाग को ठंडा रखने का प्रयत्न करता। आगरा में भाई महेशप्रसादजी के परिचितों में वहाँ के बपटिष्ट मिशन स्कूल के हेडमास्टर श्री सामुयेल थे। उनके पिता ब्राह्मण से ईसाई हो गये थे। उनकी माँ अब भी शायद अपने बच्चे को शामलाल कहा करती थीं। भाई साहेब के साथ कभी-कभी मैं भी सामुयेल साहेब के पास जाता। उनकी बूढ़ी माँ भाई साहेब से जगन्नाथ-दर्शन करा लाने की लालसा प्रकट करतीं। शुद्धि की बातें उनके कानों तक भी पहुँची थीं; किन्तु अपनी उस आन्तरिक इच्छा में एकलौते पुत्र की सहानुभूति तथा बहू का विरोध देखकर वह खीझती थीं। उनका खयाल था, बहू न बाधा डालती तो हम फिर ब्राह्मण हो जाते। सामुयेल साहेब अपनी माँ की श्रद्धा का सम्मान करते, और उनसे बहुत प्रेम करते थे। उस वक्त मेरे दिमाग में यह नहीं समाता था, कि एक परिवार में भी माँ-बेटे ईसाई और हिन्दू दो धर्म रख सकते हैं। आर्यसमाज को मैं सार्वभौम धर्म समझता था, और विश्वास रखता था, कि अपनी सचाइयों के कारण यह भी विज्ञान की तरह एक दिन सारे संसार के समझदार और साधारण व्यक्तियों का धर्म हो जावेगा। जाति-पाँत, छूत-छात को उसमें बाधक देख, मैं उनके साथ जरा भी दया दिखलाने के लिए तैयार न था। मालूम नहीं, उस वक्त किसी मुसल्मान के साथ मुझे खाने का मौका मिला या नहीं, किन्तु आगरे ही में बनारस के एक सर्वधर्म सहभोज की बात अखबारों में पढ़ी। इस भोज में पंडित केशवदेव शास्त्री जैसे आर्यसमाजी नेता भी शरीक हुए थे। आर्यसमाज के कई समाचारपत्र इसके खिलाफ़ लिख रहे थे, लेकिन मैं उसका बड़ा समर्थक था। भगवती भाई दूसरी विचारधारा के पोषक थे, और उनका कहना था, कि बिना शुद्धि के किसी गैर-आर्य के हाथ का खाना अच्छा नहीं। मैं कहता—यदि यही बात है, तो किसी हिन्दू—ब्राह्मण, क्षत्रिय के हाथ का भी तब तक खाना नहीं खाना चाहिए, जब तक वह शुद्ध न हो ले।

उस समय मैं आर्यसमाज के गर्मदली विचारों का समर्थक था, इसके सिवाय वेद के ईश्वरीय होने में किसी की आपत्ति को मैं सहन करने के लिए तैयार न था। वेद में रेल, तार, विमान की बातें मुझे सच्ची मालूम होतीं, यद्यपि अभी तक मैंने उनकी पूरी छानबीन न की थी। आर्यसमाजी को अपने लिए हिन्दू कहना, मैं शर्म की बात समझता था। आर्य-धर्म हिन्दू-धर्म से उतना ही दूर है, जितना ईसाई और इस्लाम-धर्म, यह मैं बराबर कहा करता। भारत पर आर्य-धर्म का विशेष अधिकार है। उसकी उन्नति और स्वतन्त्रता आर्य-धर्म और एक जातीयता की स्थापना से ही हो सकती है; इसके साथ मैं यह भी समझता था, कि आज यद्यपि सभी धर्मानुयायियों का एक हो जाना असम्भव मालूम होता है, किन्तु आर्य-धर्म की सत्यता को रोका नहीं जा सकता। विज्ञान के साथ कुछ झूठे विज्ञान भी संसार में खोटे सिक्कों की भाँति चल रहे हैं, ऐसे ही झूठे विज्ञानों में डार्विन के विकासवाद को भी मैं समझता था। जब पंडित आत्माराम अमृतसरी की विकासवाद के खंडन पर लिखी पुस्तक मिली, तो मुझे बड़ी खुशी हुई। संसार के बनाने के लिए एक सृष्टिकर्ता, ईश्वर की जरूरत है (जन्माद्यस्य यतः। वेदान्त सू. 1/1), और वह ईश्वर मनुष्य-निर्माण के साथ उसे अपना ज्ञान भी जरूर देगा, इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ ही में हो जाता है; डार्विन के विकासवाद के अनुसार मनुष्यों का बन्दरों से जंगलियों तब सभ्य मनुष्यों तक मारे-मारे फिरते हुए ज्ञान का विकास करना, मेरे लिए ईश्वर की सत्ता पर भारी आघात था। इसीलिए वादविवाद होने पर मैं कहा करता, और बहुत पीछे तक—'यदि इनकार करना है, तो ईश्वर की सत्ता से पहिले इनकार करो। यदि ईश्वर है, तो उसने सृष्टि के आरम्भ ही में सूर्य की भाँति एक ज्ञान-सूर्य भी दिया होगा, जिसमें उसकी सन्तानें भटकने न पायें। और वह ज्ञान-सूर्य संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है।'

जाड़ों के साथ मेरी पढ़ाई भी समाप्ति पर पहुँच रही थी। भाई रामगोपाल उपदेशक बनकर कर्नाल चले गये थे। विद्यालय के नये निकलनेवाले विद्यार्थियों में मुझसे विद्यालयवाले ज्यादा आशा रखते थे। पढ़ाई-लिखाई, खाने-पीने का निःशुल्क प्रबन्ध करके विद्यालय का अधिकार था, मुझसे कम से कम कुछ वर्षों के लिए सेवा लेने

का। पढ़ाई के बाद जब प्रबन्धकों की ओर से कहा गया, कि अब आर्यसमाज और विद्यालय के लिए कुछ काम करो, तो मेरा उत्तर था–'आर्यसमाज का काम मैं करना चाहता हूँ, किन्तु आज की टुटपुँजिया अवस्था में मैं उसे ज्यादा नहीं कर सकता। मुझे सफलतापूर्वक काम करने के लिए अभी कुछ और पढ़ने की जरूरत है।'

मेरे पत्रों ने यागेश के लिए फिर छूत की बीमारी पैदा की, और वह मेरे आगरा से प्रस्थान करने से पहिले ही मुसाफ़िर विद्यालय में दाखिल हो गये थे।

3

लाहौर के लिए (1916 ई.)

आगरा में ही तय कर लिय[illegible] आगे संस्कृत पढ़ने का, और लाहौर में। सैर की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने अस्तित्व को भुलाने देना नहीं चाहत[illegible], इसलिए सीधे लाहौर जाने की जगह कुछ घूमते-घामते जाना था। भगवती भाई से उनके गाँव कोटा का [illegible] सुना था। भाषा-तत्त्व से अभी मेरा कोई परिचय न था तो भी मैं लालायित रहता था ऐसी जगहों को देखने तथा वहाँ के लोगों से बात करने के लिए, जहाँ की साधारण जनता हिन्दी बोलती है। हम लोग पढ़कर हिन्दी बोलते थे, और उसमें वह सजीवता, वह लचक न थी, जो कि जन्म से हिन्दी बोलनेवालों की भाषा में होती है। मुरादाबाद के सारस्वत, खत्री व्यक्तियों और परिवारों की भाषा में मुझे खास विशेषता मालूम होती थी, लेकिन मुरादाबाद की साधारण नगर और ग्राम की जनता हिन्दी नहीं बोलती, कोटा ऐसा गाँव था, जहाँ के लोग वस्तुतः उस हिन्दी को बोलते थे, जिसके परिष्कृत रूप को हम किताबों में पढ़ते, तथा अपने व्यवहार में लाते हैं। मुरादाबाद के पाठकजी की प्रारम्भिक संगति से मैंने अपनी भाषा की त्रुटियों को परखा था, उच्चारण में सेकंड के हजारहवें हिस्से तथा उच्चारण स्थान के सूत भर के अन्तर से भाषा की स्वाभाविकता, कृत्रिमता, तथा वक्ता के वासस्थान का पता लग जाता है, यह मुझे कलकत्ता के पहिले दूसरे प्रवासों ही में मालूम हो गया था। अपने प्रयत्नों से भाषा के उच्चारण में कितनी सफलता मैंने प्राप्त की यह मुझे नहीं मालूम–आखिर अपने चेहरे की तरह अपने स्वर को भी कोई देख नहीं सकता, जिस वक्त मन उच्चारण के प्रयत्न में व्यस्त रहता है, उस वक्त श्रोता से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। दर्पण की तरह कोई अपने उच्चारण का ठीक प्रतिबिम्ब (प्रतिध्वनि) सामने रख सके, तब शायद असलियत को समझा जा सके। शब्दों के प्रयोग में भी मैं ध्यान रखता था, क्योंकि भिन्न-भिन्न जगहों में घूमने से मुझे मालूम था, एक जगह का कोई बहुप्रचलित शब्द भी दूसरी जगह अज्ञात हो सकता है। हमारे मुरारी भाई अक्सर ऐसी गलतियाँ कर बैठते थे, भगवती झट इसके लिए उन पर हमला कर बैठता, फिर इस ग्राम्य दोष को हटाने के लिए मैं संस्कृत के प्रतिशब्द ढूँढ़ निकालने की कोशिश करता। जो शब्द शुद्ध या अपभ्रंश रूप में संस्कृत में मौजूद हो, उसके प्रयोग पर कौन आक्षेप करने की हिम्मत कर सकता है ?

भाषा सुनने से भी ज्यादा कोटा जाने की इच्छा भगवती भाई के घर को देखने तथा फागुन के होलों के खाने के लिए थी। खुर्जा रास्ते में पड़ा था, और बुलन्दशहर भी, किन्तु दोनों जगहों में मेरे देखने के लिए कोई खास आकर्षण न था। दोपहर के पहिले कोटावाले स्टेशन पर उतरा। कोटा वहाँ से कुछ मील पर है। रास्ता पगडंडी का था, और लोगों से पूछ-पूछकर जाना था। नहरों के पानी से नीचे गेहूँ के खेतों में बड़ी-बड़ी बालें लगी हुई थीं। चारों ओर हरियाली, और कहीं-कहीं पक गई मटर के पीले पौधों का फ़र्श बिछा मालूम होता था। अन्न सर्वोपरि धन है, अन्न को देखकर जितना चित्त प्रसन्न और सन्तुष्ट होता है, उतना और किसी चीज से नहीं, इसका ज्ञान फागुन में पकी तथा पकने को तैयार फ़सल को देखकर ही होता है। और होला ? –क्या दुनिया में इससे मधुर कोई खाद्य हो सकता है ? मटर, गेहूँ, जौ या चने के हरे दानों समेत डंठलों को सूखी पत्तियों से भून डालिये, फिर मिल जाये तो एक साथ पिसे नमक और हरी मिर्च के साथ, अथवा अकेले ही गर्मगर्म हाथ

से मसलकर खाना शुरू कीजिए–यह नियामत है ! बहिश्त का मन्ना और देवताओं का अमृत भी इसका मुकाबिला नहीं कर सकते।

रास्ता खेतों में से था, शायद जहाँ चल रहा था, वहाँ मुसाफ़िरों ने जबर्दस्ती खेत के भीतर से रास्ता बना लिया था। एक बार बन गये रास्ते–चाहे वह किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति पर ही क्यों न बना हो–पर जाना हर एक पान्थ के लिए विहित है। लम्बे गेहूँ के पौधों की आड़ से यकबयक एक युवती आ सामने खड़ी हो गई। उसने कड़खती हुई आवाज में पूछा–

'किंघे जायेगा ?'

स्त्री की आवाज इतनी कड़ी हो सकती है, इसका मुझे कभी अनुमान भी न हुआ था। मालूम होता है, शब्द नहीं एक साथ दस-दस लाठियाँ कानों के पर्दे पर पीटी जा रही हैं। पहिले सोचा, शायद मैं उसके खेत के भीतर से जा रहा हूँ, इसलिए नाराज हो रही है। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष ? रास्ता पहिले से बना हुआ है। रोकना था, तो काँटे से रूँघ क्यों नहीं दिया ? और अब फ़सल के कटने के वक्त रास्ता रोकने से ही कौन-से नये पौधे बालें लिये फूट निकलेंगे ?

'कोटा जा रहा हूँ।'–कहकर बड़ी नर्मी से मैंने उस तरुणी को उत्तर दे दिया। उसका चेहरा उसके शब्दों की तरह कर्कश न था। अठारह वर्ष की अवस्था में तो जानकारों के कथनानुसार 'गर्दभी ह्यप्सरायते', किन्तु वहाँ तो सौन्दर्य की काफ़ी मात्रा थी। लहँगा, ऊपर ओढ़नी, बदन में चोली थी। ओढ़नी शिर पर से होते पीठ पर पड़ी थी–चोली से गोल-गोल स्तन फूट निकलना चाहते थे। उसके चेहरे पर नजर रखे, उसके वाक्य तथा स्वर की प्रतिध्वनि को अब भी सुनते तथा विचार करते मैंने कोटे का रास्ता पूछा। उस तरुणी की आकृति, उसके चेहरे के इंगित को प्रकट करने के लिए, बल्कि अनुभव करने के लिए मुझे हाल की 'गाथा-सप्तशती' का ध्यान आने लगा। प्राकृत तो उतना नहीं जानता था, किन्तु संस्कृत-छाया के साथ मैंने उसे पढ़ा था। मुझे विश्वास था, कि वहाँ शायद इस मौके की कोई गाथा जरूर होगी, किन्तु इस सचाई को सिद्ध करने का कभी मौका नहीं मिला। स्वस्थ्यपूर्ण यौवन का साकार स्वरूप वह अहीर युवती, सालों के बीतने पर भी अधिक आकर्षक बनती गई। यह स्थान कोटा से बहुत दूर न था।

भगवती भाई कोटा में नहीं थे, मालूम नहीं माणिक उस वक्त कहाँ थे। भगवती के पिता भी मेरे पिता की भाँति दो भाई थे। मेरी तरह भगवती की माँ भी पहिले मर चुकी थीं, और मेरी तरह उनकी भी एक चाची थीं, जिनका बर्ताव भतीजों के साथ अच्छा होता था। भगवती उम्र में शायद मुझसे थोड़े बड़े थे–बड़े न भी हों, किन्तु मैं उनको बड़ा भाई बनाए हुए था, आखिर हर एक आदमी नफ़े का ही काम करता है, भाभी पाने में नफ़ा है, या अनुजबधू, जिस पर भूल से नजर पड़ जाना भी पाप है; और कहीं गलती से भी बदन छू गया, तो यमराज भी अपने यहाँ शरण न देंगे। भगवती भाई होते तो शायद भाभी साहिबा के दर्शन किसी तरह हो भी जाते–शायद ही कहता हूँ; क्योंकि चौबीस बरस पहिले क्या, आज भी तरुण दम्पति बुजुर्गों के सामने कितना स्वातन्त्र्य रखते हैं, यह हमें मालूम है। हाँ, भाभी के हाथ की रोटिया खाईं, बड़ी मीठी थीं। एक दिन मक्के की रोटी बनी थी, मुझे गुमान भी नहीं हो सकता था, कि मक्के का आटा इतना बारीक और उसकी रोटी इतनी मीठी हो सकती है। भाभी की वे रोटियाँ अब भी याद हैं, किन्तु पीछे यह जानकर अफ़सोस हुआ, कि घूँघट की ओट से चकले पर चलनेवाले वे हाथ अब इस दुनिया में नहीं रहे।

होली के दिन थे, रात को फाग गाने की बहार थी। आर्यसमाज की बीमारी गाँवों में पहुँच रही थी, और संयम-नियम् के नाम पर जनता के मनोरंजन के हर तरीके पर कुठाराघात किया जा रहा था–फाग अश्लील है, इसे नहीं गाना चाहिए; नाचना असभ्यों और रंडियों का काम है, उसके पास तक नहीं फटकना चाहिए। किसी समय गाँवों की अधिकांश जातियाँ–स्त्री-पुरुष दोनों ऐसे मौकों पर गाते-नाचते थे, किन्तु वे बातें अब विस्मृति के गर्भ में विलीन होती जा रही थीं। तो भी कोटा से फागुन की यह सारी बहार लुप्त नहीं हुई थी; मैंने क्या देखा इसकी स्मृति नहीं।

कोटा में आकर होले खूब खाये। भगवती भाई के बालसंघातियों के साथ खेतों में ही अधिक समय व्यतीत

करता। मुझे नहीं खयाल, कि क्या मैंने अपनी उपदेशकी का जौहर दिखलाने की वहाँ जरा भी कोशिश की। होली के एक या दो दिन बाद मैंने कोटा छोड़ा। पैदल सिकन्दराबाद गया, एक रात गुरुकुल में ठहरा। शर्माजी (पंडित मुरारीलाल) का शायद देहान्त हो चुका था।

सिकन्दराबाद से सीधे दिल्ली गया। किला, कुतुब तथा कुछ दूसरे दर्शनीय स्थानों को देखा, और रेल से सीधे गुड़गाँवा को रवाना हुआ। वृन्दावन गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में सोहना के एक सज्जन मिले थे, उन्होंने अपने यहाँ के गर्म पानी के चश्मों तथा पहाड़ों का वर्णन किया था, बस उसी के देखने के लिए लाहौर के रेल-पथ को छोड़कर इधर-उधर बहक रहा था। गुड़गाँवा से सोहना को पक्की सड़क गई है। सोहना पहुँचने पर अब भी खेतों में हरे गेहूँ खड़े थे। जाड़ा था, गर्म चश्मे में नहाने का मजा था। मालूम नहीं, वृन्दावन में मिले सज्जन से मुलाकात हुई या नहीं, किन्तु ज्यादातर ठहरा एक ब्राह्मण पहलवान के यहाँ; जिनकी एक छोटी-सी दूकान थी। वह दिल्ली षड्यन्त्र केस के अभियुक्त गणेशीलाल 'खस्ता' के मामा थे, इसलिए मुझे ज्यादा सन्निकट मालूम होते थे। उनके खानों में गाजर का अचार और उसका रस मुझे अब भी स्मरण आता है। सोहना अच्छा कस्बा है। इसके आसपास के इलाके में मेव लोग बसते हैं, जो प्रायः सबके सब मुसल्मान हैं। कस्बे के पास के पहाड़ पर बादशाही वक्त का एक उजाड़ किला है, जिसके अनगढ़ पत्थरों के बुर्ज और दीवारें अब भी खड़ी थीं। पहाड़ छोटे-छोटे हैं, और उन पर जहाँ-तहाँ बस्तियाँ हैं। एक दिन किसी के साथ मैं एक मेव मौलवी के यहाँ गया, आसपास में एक अच्छे ईश्वरभक्त के तौर पर उनकी बहुत ख्याति थी। बल्कि वह उतने मौलवी न थे, जितने कि एक 'भजनानन्दी सूफ़ी।' हिन्दू भी उनका बड़ा आदर करते थे, और वह हिन्दुओं के पीने-खाने के लिए अलग बरतन रखे हुए थे। इस्लाम और कुरान को पढ़कर मैं अभी नया-नया पहलवान बना था, और बहस का कोई मौका निकाल लेने की ख्वाहिश रखता था, किन्तु उक्त वृद्ध इसके लिए तैयार न थे। उन्होंने शायद इसके लिए किसी दूसरे मौलवी का नाम बतलाया। मुझे बड़े सम्मान से बैठाया, कितनी ही देर तक बातें करते रहे। बहस करने की साध तो मेरी नहीं पूरी हुई, किन्तु मैं अपने मेजबान की भद्रता से बहुत प्रभावित हुआ। लौटते वक्त शाम को हम एक कूएँ पर पहुँचे, जिसके पास एक धर्मशाला थी। सैकड़ों हाथ की गहराई में पानी को नहीं देखा होता, तो मुझे विश्वास न होता कि एक कूएँ के बनवाने में हजारों रुपये लग सकते हैं।

सोहना से फिर मैं पैदल ही गुड़गाँवा को लौटा। रास्ते पर किसी शिक्षित सज्जन का एक अच्छा खासा बँगला या मकान था। उनसे बातचीत हो गई, उन्होंने आग्रह किया खाकर जाने का। आखिर दोपहर का खाना कहीं खाना ही था। वहीं पहिले-पहिल पंजाबी खाना खाया। खीर, फुलके, कोलियों (कटोरियों) में प्याज के साथ घी में तुड़की तरकारियाँ (भाजियाँ), और शायद दही की लस्सी थी। सज्जन पंजाबी न थे। गुड़गाँवा आदि अम्बाला कमिश्नरी के जिले भाषा के खयाल से युक्तप्रान्त के साथ संबंध रखते हैं, किन्तु पंजाब प्रान्त में रहने से शिक्षितों की वेषभूषा तथा खान-पान पर पंजाब का असर पड़ा है।

दिल्ली होता थानेसर आया। रामगोपाल भाई यहीं उपप्रतिनिधि-सभा की तरफ़ से आर्यसमाज का प्रचार करते थे। उनसे भेंट करना, थानेसर-कुरुक्षेत्र को देखना, यहाँ आने का खास मतलब था। कुरुक्षेत्र गुरुकुल में भी हो आया, उस वक्त पंडित विष्णुदत्त उसके मुख्याधिष्ठाता थे। यद्यपि मुसाफ़िर विद्यालय के कर्णधारों का कांगड़ी गुरुकुल से झगड़ा हो गया था, और उनकी सहानुभूति महाविद्यालय ज्वालापुर के अनुकूल तथा गुरुकुल कांगड़ी के विरुद्ध थी; वहाँ गुरुकुल को बुद्धू पैदा करने की फ़ैक्टरी बतलाया जाता था; तो भी मेरी उसके साथ सहानुभूति थी। आखिर वेद और विज्ञान की पूर्ण शिक्षा का कोई स्थान तो होना चाहिए ?

रामगोपाल भाई के साथ शाहाबाद भी गया। लाला रामप्रसाद का व्याख्यान आगरा में सुन चुका था। महात्मा हंसराज की कुर्बानी का जिस तरह चित्रण उन्होंने अपने उस व्याख्यान में किया था, उसका मुझ पर भारी प्रभाव पड़ा था। आजकल लालाजी घर पर ही थे। रामगोपालजी के साथ मैं भी उनके पास गया, किन्तु मेरे बारे में उन्हें एक साधारण अर्द्धशिक्षित तरुण के सिवाय और क्या खयाल हुआ होगा।

शाहाबाद से रामगोपाल भाई को थानेसर लौट जाना था, और मुझे जाना था लाहौर। मेरे रुपये खतम हो चुके थे, और लाहौर तक का टिकट कटाकर दो-चार रुपये दे देना, रामगोपाल भाई के लिए खुशी की बात थी—हम

लोगों की घनिष्ठता साधारण मित्रों जैसी नहीं थी। थानेसर आने में उन्होंने मेरी सम्मति ली थी। वह नौकरी करके परिवार चलाने यहाँ नहीं आये थे, बल्कि पत्नी को कुछ पढ़ा-लिखाकर मुक्त हो वैदिक मिश्नरी के गम्भीर कर्तव्य को पालन करने की अगली तैयारी के लिए आये थे।

आगरा से रवाना होते वक्त, 'मुसाफ़िर' के मैनेजर कुँअर बहादुरसिंह से मैंने लाहौर के उनके दो परिचितों के नाम पत्र लिखवा लिये थे। कुँअर बहादुरसिंह भी सैलानी तबियत के आदमी थे। सिन्ध में कितने ही समय तक रहे, फिर 'मुसाफ़िर' में चले आये। पिछले ही साल सुखलाल के व्याख्यानों से उत्तेजित हो उनके जिले जालौन के कोंच कस्बे में मुसल्मानों ने उन पर हमला कर दिया था, जिसमें उनको बहुत चोट आई थी। उन्होंने एक चिट्ठी 'आर्यगजट' के सम्पादक महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' के लिए दी थी, और दूसरी हाल में ही बुंदेलखंड की एक राजपूत विधवा से शादी करनेवाले एक तरुण-पंजाबी के लिए, जो किसी दफ्तर में शार्टहैंड-राइटर और टाइपिस्ट थे। स्टेशन से उतरकर पहिले अनारकली आर्यसमाज में गया, शायद उसी दिन 'खुर्सन्द' साहेब से मुलाकात हो गई, किन्तु पहिले चन्द दिनों मैं टाइपिस्ट महाशय के यहाँ मोरी दरवाजे के भीतर के एक अँधेरे घर में रहा। वहाँ की एक घटना याद है। घर की मालकिन बुंदेलखंडी महिला को पंजाब में आये अभी पाँच-छै ही महीने हुए थे; किन्तु इतने ही में, मालूम होता था, वह अपनी भाषा के कितने ही शब्दों के प्रयोग को छोड़ चुकी थीं। उन्होंने कहा–'दो पैसे की पकौड़ी लेते आवें, बताऊँ की।'

मैं वाक्य के अन्तिम अंश को सुनने की प्रतीक्षा करने लगा। उन्होंने फिर कहा–"हाँ, जाइए न, दो पैसे की पकौड़ी लाइए दरवाजे के बाहर से, बताऊँ की।"

कहीं बेवकूफ न समझा जाने लगूँ, इसलिए मैंने और इन्तिजार करना पसन्द नहीं किया, और 'अच्छा' कह मैं वहाँ से चला गया। सोचा श्रीमती की फ़र्माइश पकौड़ी की है, 'बताऊँ की' ऐसे ही दो बार मुँह से निकल आया, वाक्य तो उतने ही से पूरा हो जाता है। मैंने प्याज की पकौड़ियाँ खरीदीं, और लाकर उनके सामने रखा। उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा–"यह क्या ? मैंने तो बताऊँ की पकौड़ियाँ मँगाई थीं।"

"बताऊँ क्या बला है ?"

"अरे बैगन, बैगन।"

मन में कहा–'देशी बुढ़िया मराठी बोल' इसी को कहते हैं। लेकिन उनकी अपेक्षा मैं अपने पर ज्यादा गुस्सा हुआ। सन्देह था, तो संकोच छोड़कर पूछ क्यों नहीं लिया। मैंने अफ़सोस जाहिर करते हुए कहा–"माफ़ कीजिए, बताऊँ का मतलब मुझे समझ में नहीं आया।"

"नहीं कोई बात नहीं, मुझसे ही गलती हुई।"

4
आर्यसमाज के गढ़ लाहौर में (1916 ई.)

महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' का उस वक्त का तरुण-चेहरा मुझे याद है। वह सचमुच 'खुर्सन्द' (प्रसन्न) थे। कभी मुहर्रमी सूरत तो उनकी मैंने देखी नहीं। हँसी की मृदुरेखा तो चौबीसों घंटे मानो उनके ओठों पर नाचती रहती थी। 'नमस्तेजी महाराज' कहने का उनका ढंग, तथा 'खुर्सन्द तो हैं ?' कहकर खैरियत पूछना एक बिलकुल खुलेदिल दोस्त की अपनी निराली अदा का सबूत देते थे। उस वक्त 'आर्यगजट' का आफ़िस आर्यसमाज-मन्दिर के हाल की बाईं कोठरी में था, वहाँ 'खुर्सन्द'जी रहते थे। मैं भी जब तक वैदिक-आश्रम में भरती नहीं हो गया, तब तक आर्यसमाज में ही ऊपरवाले कोठे पर रहता था। 'खुर्सन्द'जी ही लाहौर में मेरे प्रथम परिचित व्यक्ति बने। मैं बेयार-व-मददगार उस बड़े शहर में आया था। इसमें शक नहीं, ऐसी यात्राएँ मैं कई सालों से कर रहा था, इसलिए मेरे पास हिम्मत काफ़ी थी; किन्तु, 'खुर्सन्द'जी ने जिस तरह शुरू ही से सहायता और प्रोत्साहन दिया,

उससे लाहौर परदेश नहीं रह गया। 'पैसा अखबार' के सामनेवाली पाँती में एक छोटा-सा वैष्णव-होटल था, जिसमें वह खाने जाया करते थे। वह मुझे जरा भी संकोच का अवसर दिये, दबोचकर वहीं खाना खिलाने ले गये। अपने घी के डब्बे की चाभी दुहरी करके एक मेरे हवाले की—'हम लोग साथ न आ सकें, तो यह डब्बा है, घी निकालकर खाना खा जाया कीजिये।' स्मरण रखना चाहिए, उस वक्त के 'खुर्सन्द' आज के 'रोजाना मिलाप' के स्वामी और सम्पादक नहीं थे, बल्कि उन्हें प्रादेशिक-प्रतिनिधि-सभा के 'आर्यगजट' के निर्वाह मात्र के लिए कुछ रुपये मिला करते थे।

सप्ताह के भीतर ही मैं डी. ए. वी. कालेज के संस्कृत-विभाग में भरती हो गया। विशारद श्रेणी में नाम लिखा गया। पंडित भक्तराम वेदतीर्थ, पंडित नृसिंहदेव शास्त्री हमारे अध्यापक थे। आर्यसमाज भवन में मैं ज्यादा दिनों तक नहीं रह सका, और थोड़ी ही देर बाद एक छात्रवृत्ति के साथ कालेज के छात्रावास 'वैदिक-आश्रम' में दाखिल कर लिया गया। उसके आस ही पास डी. ए. वी. कालेज कें होस्टल में रसोइयों को पढ़ाने का काम मिल गया। दोपहर को एक घंटा जाना पड़ता, और दस या बारह रुपये मिल जाते, जो खान के ऊपर के खर्च के लिए जरूरत से ज्यादा थे।

आगरा छोड़ते वक्त यह नहीं मालूम था, कि बलदेव चौबे भी वैराग्य के फंदे में फँस लाहौर पहुँच गये हैं। हाँ, किन्तु उनका वैराग्य सिर्फ़ इसी बात का था, कि आत्मिक उन्नति—तत्त्वज्ञान—के लिए संस्कृत पढ़ने की जरूरत है, अंग्रेजी बिलकुल बनियापन की विद्या है। वह अनारकली में वंशीधर के मन्दिर में रहते, किसी छेत्र में खाना खाते और लघुकौमुदी पढ़ते हैं। मैंने आते ही उनके निर्णय पर चोट पहुँचानी शुरू की—'संस्कृत पढ़िए, अच्छा है, किन्तु मेट्रिक में नाम भी लिखवा लीजिए।' नये वर्ष से वह डी. ए. वी. हाई स्कूल के दसवें दर्जे में दाखिल हो गये। वंशीधर के मन्दिर में बलदेवजी के साथ एक दूसरे तरुण मिस्टर कनकदंडी वेंकट सोमयाजुलू भी रहते थे, हम लोग उन्हें मिस्टर कहा करते। वे भी हमारे लाहौर के घनिष्ट मित्रों में थे। उन दोनों मित्रों के कारण अक्सर मैं वंशीधर के मन्दिर में जाया करता। उस वक्त मन्दिर के मालिकों ने उसे बिलकुल व्यवसाय का जरिया नहीं बनाया था। वंशीधर महाराजा रणजीतसिंह के पुरोहित-वंशी थे। मन्दिर के साथ सड़क पर कुछ दूकानें थीं, जिनका अच्छा किराया आता था। भीतर के दो-तीन कमरे, कोठरियाँ और बरांडे संस्कृत पाठशाला तथा विद्यार्थियों के लिए थे। बलदेव और सोमयाजुलू एक बरांडे में रहते, सामान रखने के लिए शायद दीवार में दो आलमारियाँ थीं। गर्मी के दिनों में साफ़ चिकने संगमरमर के फ़र्श पर बैठने-लेटने में अच्छा लगता था। वहीं हम लोगों का घंटों अपने भविष्य, देश के भविष्य और आर्यसमाज के काम पर बातें हुआ करतीं। इन बातों में एक चौथे दीवाने मोहनलालजी शामिल हो जाया करते थे। इन्हीं बातों के सिलसिले में तय हुआ कि बलदेवजी बहिन महादेवी को लाकर कानपुर में किसी शिक्षण-संस्था में दाखिल कर दें। यहीं पहिले-पहिल पंडित सन्तराम से मुलाकात हुई, जिसने आगे चिरस्थायी मित्रता का रूप धारण किया। पीछे भाई महेशप्रसादजी और रामगोपालजी के आ जाने पर तो वंशीधर का मन्दिर हम सभों का सम्मिलन-मन्दिर हो गया।

मुसाफ़िर विद्यालय में प्रवेश, भाई महेशप्रसाद की संगति और महायुद्ध ने मिलकर मेरे सामने एक विशाल जगत् रख दिया था। आगरा में रहते ही वक्त कानपुर से श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' निकाला था, अथवा कम से कम मेरा उससे परिचय उसी वक्त हुआ। उसके बाद तो अक्सर मैं उसे पढ़ा करता था। यहाँ लाहौर से उर्दू के कई दैनिक पत्र 'देश', 'बुलेटिन', 'पैस अखबार' आदि तथा 'ट्रिब्यून' अंग्रेजी में निकलते थे। मैं अब अखबारों का आदी हो गया था। अच्छी तरह न समझने पर भी 'लीडर' पर जो साल-भर आगरे में भिड़ा रहा, उसका फल अब मिलने लगा था, और अंग्रेजी पत्रों से भी मुझे समाचारों के जानने का सुभीता था। अखबारों को इत्मीनान से पढ़ने के लिए प्रायः रोज ही मैं 'गुरुदत्तभवन' पहुँचता। हिन्दी-उर्दू की राजनीतिक पुस्तकें शायद पढ़ चुका था, इसीलिए इस समय उनके पढ़ने में समय नहीं जाता था, किन्तु साथ ही अब डी. ए. वी. कॉलेज और कॉलेज आर्यसमाज के मनस्वी विद्वानों पंडित भगवद्दत्त और पंडित रामगोपाल शास्त्री के सम्पर्क में आने का मौका मिला। खासकर, पंडित भगवद्दत्त की लगन और अन्वेषण-प्रेम ने मेरे हृदय में उसकी ओर एक प्रेरणा पैदा की, यद्यपि अन्वेषण के तरीके आदि के सम्बन्ध में उनसे सीखने का मुझे मौका नहीं मिला। पंडित ऋषिराम

और प्रोफ़ेसर रामदेव एम. ए. उस समय बी. ए. के विद्यार्थी थे, और वैदिक साहित्य तथा आर्यसमाज के कामों में खास दिलचस्पी रखते थे।

आचारियों के अति-संकीर्ण तथा वैरागियों के अपेक्षाकृत उदार तो भी संकीर्ण वायु-मंडल से निकलकर आर्यसमाज में आने पर मुझे मानसिक विचार-स्वातंत्र्य का मूल्य मालूम होने लगा। मुसाफ़िर विद्यालय में 'करोड़ों वर्षों से स्थापित आचार, धर्म-सम्बन्धी परम्परा पर भी हम खुली तौर से नुक्ताचीनी कर सकते थे। 'यस्तर्कणानु-संधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' के महामंत्र को सुनकर मेरा रोआँ-रोआँ आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञ था। अब भी सीधे वेद के पढ़ने और उस पर विचार करने का मौका नहीं मिला था, तो भी जो कुछ जानता या सुन चुका था, उस पर मुझे विश्वास था—आर्यसमाज के सिद्धान्त ध्रुवसत्य हैं। मैं निस्सन्दिग्ध रूप से जानता था, कि मुझे अपना जीवन आर्यसमाज के प्रचार में समर्पित करना है। एक दिन मैंने स्वामी दयानन्द के प्रति अपने उद्‌गार को प्रकट करते हुए कह दिया था—'मैं दयानन्द के एक-एक वाक्य को वेदवाक्य मानता हूँ।' पंडित भगवद्दत्त ने सहमत होते भी कहा—'इतनी जल्दी न कीजिए। पहले पढ़कर देखिए तो।'

हमारे संस्कृत-विभाग के विद्यार्थियों में पंडित ईशानन्द और पंडित तुलसीराम भी थे। तुलसीराम के अध्यवसाय को मैं बहुत सराहनीय समझता था। किसी वक्त मजदूरी करने वह पंजाब से पूर्वी अफ्रीका के केन्या प्रदेश में पहुँचे थे। शायद मिस्त्री का काम करते थे। वहीं आर्यसमाज के सम्पर्क में आये। पढ़ने की इच्छा बलवती हुई। काम छोड़कर लाहौर पहुँचे, और नीचे से शुरू करके आज शास्त्रिश्रेणी के अच्छे विद्यार्थियों में थे। ईशानन्द के पिता गुरुकुल विरालसी के प्रधान स्तम्भ थे। ईशानन्दजी पहिले वहीं पढ़े। काशी के व्याकरणाचार्य के एक खंड भी वह पास थे, और अब शास्त्री परीक्षा देनेवाले थे। मेरी अपनी विशारद श्रेणी में रामप्रताप, देवदत्त-द्वय, यशपाल तथा पंडित भक्तराम के छोटे लड़के थे। रामप्रताप पढ़ने में भी अच्छे, तथा उन मजाकपसन्द लड़कों में थे, जो अपनी हँसी को ओंठों की सीवन में छिपा सकते थे। उनके मज़ाक का निशाना करारा लगता था, किन्तु पुरदर्द चोट नहीं पहुँचाता था। पंडित भक्तरामजी बूढ़े आदमी थे। आँखों से उन्हें बहुत कम सूझता था, और पढ़ने के लिए पुस्तक को आँख के बिलकुल पास ले जाना पड़ता था। संस्कृत के पंडित, उस पर बूढ़े, बात के फेर में जल्दी पड़ जानेवाले वैसे ही होते हैं, किन्तु यहाँ जिस दिन हम लोगों का पढ़ने का मन नहीं होता, तो रामप्रताप कोई बात चला देते, पंडितजी बहक जाते और दूसरी बातों में लग जाते। हमारा घंटा बस उसमें खत्म हो जाता। कभी-कभी पंडितजी को हम लोगों की चालाकी मालूम हो जाती, फिर उनकी टिप्पणी शब्दों में नहीं बल्कि पतली छँटी मूँछों के ऊपरी खिंचाव और उससे भी ज्यादा गालों पर छलकती हँसी के रूप में प्रकट होती थी। यशपाल उन विद्यार्थियों में थे, जो भूल-भटककर विद्याकुंज में चले आते हैं। उनमें प्रतिभा का अभाव नहीं था, किन्तु उनका मन पढ़ने में बिलकुल नहीं लगता था। वह एक रँगीली तबियत के ऐसे तरुण थे, जिनकी धारणा होती है, जीवन को बस हँसी-खुशी में बिता देना चाहिए। ऐसे आदमियों को अपनी एकतरफ़ा धारणा पर जबर्दस्त थपेड़ा लगने का डर रहता है, और उस अवस्था में वे अपनी किश्ती का बैलंस ठीक नहीं कर पाते। यशपाल को एक बार कोई ऐसी ठेस लगी, कि उसने अफ़ीम खा ली थी, खैर, जान बच गई। कोई अनिष्ट होने पर हम लोगों को साधारण आघात नहीं लगता। यशपाल अपने सहपाठियों में हर-दिल-अजीज तरुण था, वह हमारे मजलिस की जीनत था। उसके भाई श्रीरामदासजी होशियारपुर, डी. ए. वी. हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, और उनकी बड़ी इच्छा थी, कि यशपाल अच्छा संस्कृत पढ़ जाये। यशपाल महीने-भर के लिए मिले खर्च को हफ्ते से ज्यादा तक चलाने को पाप समझता था।

देवदत्त दो थे—गोरे, छोटे। गोरे देवदत्त पतले छरहरे बदन के थे, उनका रंग यदि पश्चिमी यूरोपियन की तरह नहीं तो पूर्वी यूरोपियन जैसा था। वह महात्मा हंसराज के जन्मस्थान (वेजवाड़ा) के निवासी थे। पुरानी स्मृतियों में यह दोष है, कि पहिले की पड़ी मुहर पर नई मुहर पड़ जाने या फ़ोटो फिल्म के दुहरा एक्सपोजर की तरह उनका अंकन अस्पष्ट हो जाता है, जब उन पर कोई नया ठप्पा लगता है। देवदत्त से कई वर्षों पीछे भी मुझे मिलने का मौका मिला, जब कि वह शास्त्री करके बी. ए. में पढ़ रहे थे, इसलिए उन आरम्भिक दिनों की बातों की स्मृति क्षीण हो गई। वह ऐसे तरुणों में थे, जो किसी मजलिस में प्रधान पात्रों का पार्ट तो नहीं अदा करते,

किन्तु जिनके लिए मजलिस सफल भी नहीं हो सकती। छोटे देवदत्त के कानों में सोने का कुंडल था। हमारी श्रेणी में वह और रामप्रताप कुंडलधारी थे। उनका 'न ऊधो से लेना न माधो को देना था', तो भी सहपाठियों की मजलिस से बहिष्कृत होने लायक नहीं थे। शिवलालजी भी हमारे एक सहपाठी तथा गुड़गाँवा (हरियाना) जिले के रहनेवाले थे। वैसे हमारे सहपाठियों में मेरे सिवा और भी ठेठ गाँव के पैदायशी विद्यार्थी रहे होंगे, किन्तु हम सभी शहरी हो गये थे; शिवलाल ही ऐसे व्यक्ति थे, जिसमें कच्चे नौतोड़ खेतों की गन्ध आती थी। वह दाल को दाल्ल, काला को काल्ला बोला करते।

अभी संस्कृत-विभाग की पढ़ाई डी. ए. वी. कॉलेज-हाल के ऊपरी कोठे पर हुआ करती थी। हम लोग वैदिक-आश्रम जाते वक्त या तो देवसमाज की तरफ़ से जाते, या सेक्रेटरियट के भीतर से। वैदिक-आश्रम के फाटक से कुछ कदम पर ही अनारकली की कब्र थी। उसके इकहरे ईंट-चूने के गुम्बद को हम रोज देखते थे, और शायद यह भी सुना था, कि यहीं अपने समय की एक अद्वितीय सुन्दरी का बलात् जीवन से वंचित शरीर सो रहा है; उसका कसूर यही था, कि अकबर का युवराज सलीम अपनी आँखों से उसे निकाल नहीं सकता था। तो भी अनारकली की समाधि ने हमारे तरुण हृदयों में कोई आकर्षण नहीं पैदा किया। कारण सिर्फ रसज्ञता से अनभिज्ञ होना ही नहीं हो सकता, बल्कि उस समाधि का सरकारी दफ्तर के एक अंग के रूप में परिणत होना भी हो सकता है। इसी समाधि के पीछे दोपहर को सेक्रेटरियट के कितने ही छोटे-छोटे नौकर नमाज पढ़ने आया करते थे।

शार्टकट से चलने पर हम देवसमाज से दूर तक फैले घरों से होकर गुजरते थे। शाम के वक्त उधर से जाने पर कितनी ही बार देवगुरु भगवान् (श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री) को हम ताँगे पर टहलने के लिए जाते देखते, कभी-कभी उनके साथ उनकी पत्नी भी होतीं, दोनों की उम्रों में काफी अन्तर था। देवसमाज-सम्बन्धी दो-चार पुस्तकें भी मैंने पढ़ी थीं, उनके साप्ताहिक 'जीवनतत्' को कभी-कभी देखने का भी मौका मिला था; किन्तु देवसमाज और देवगुरु मेरे लिए मुअम्मा ही बने रहे। सुनता था, देवसमाज ईश्वर को नहीं मानता, इल्हाम को नहीं मानता, विज्ञान को मानता है, विकासवाद को मानता है, योग को नहीं मानता, ध्यान को नहीं मानता, देवगुरु को विकास की सर्वोच्च विभूति मानता है; आचार-सम्बन्धी भूलों के लिए अपराध स्वीकार करने पर जोर देता है—इत्यादि। ये सब बातें मुझे परस्पर-विरोधी ही नहीं मालूम होती थीं, बल्कि बाज वक्त मुझे मनुष्य की बुद्धि पर तरस आने लगता था। मुझे वह कुछ व्यक्तियों के मौज से जीवन-निर्वाह की खुली दूकान मालूम होती थी।

रविवार के दिन हम लोग जलपान करके अनारकली समाज पहुँचते, और हवन में खास तौर से हाथ बँटाते थे। हर सप्ताह किसी न किसी प्रोफ़ेसर, पंडित या प्रभावशाली वक्ता का व्याख्यान होता। महात्मा हंसराज के उपदेश जोशीले न होते थे, किन्तु उनके सीधे-सादे शब्दों के पीछे पचीसों वर्षों के अद्भुत त्याग और तपस्या की जीवनी थी, जिसके कारण वे सीधे हमारे अन्तस्तल में पहुँच जाते थे। प्रोफ़ेसर दीवानचन्द कभी-कभी पौर्वात्य-पाश्चात्य दर्शनों की तुलना करते, जिनसे हमारी जानकारी बढ़ती। पंडित राजाराम शास्त्री के व्याख्यानों में वेद और उपनिषद् के वाक्य बहुत होते, किन्तु उसका मेरे जैसों पर कोई असर नहीं होता, जिन्हें मालूम था, कि उन्होंने वृद्धावस्था में अल्पवयस्का कुमारी बालिका से शादी की है। जाति-पाँत के खिलाफ़ जो मनोभाव मुसाफ़िर विद्यालय में मेरे हृदय में पैदा हुआ, वह स्थायी हो गया था। पंडित राजाराम के विचार इस विषय में बहुत पिछड़े थे, यह मुझे मालूम था। पंडित भक्तरामजी तो कभी-कभी चिढ़ जाते, जब मैं जाति-पाँत का बुरी तरह से खंडन करने लगता। वे कह उठते—'कुल-कलंक',—वह जानते थे मैं ब्राह्मणवंश का हूँ।

आरम्भिक दिनों में जिनके उपदेशों की मैं बहुत सराहना करता, उनमें स्वामी सत्यानन्दजी भी थे। आगरे में एक बार वह मुसाफ़िर विद्यालय में भी आये थे। लाहौर जाने पर एक दिन मैं उनसे मिलने 'अमृतधारा' गया था, राय ठाकुरदत्त धवन उनके पास बैठे थे। गुरुकुलपार्टी-आर्यसमाज के दो पक्षों में उस वक्त जोर का वैमनस्य चल रहा था, जिसमें अल्पमत पक्ष के नेता राय ठाकुरदत्त थे। मुझे याद है, किसी प्रकरण में उन्होंने कहा था—

'बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा।'

स्वामीजी ने पढ़ने-लिखने के बारे में पूछा, चलते वक्त मेरे ना करने पर भी उन्होंने कुछ रुपये देते हुए कहा—"विद्यार्थियों को जरूरत रहती है।"

लाहौर की गर्मी आगरे से बढ़-चढ़कर ही थी, किन्तु अभी तक गर्मी में ठंडे रहनेवाले मुल्कों की हवा मुझे नहीं लगी थी, इसलिए वह उतनी असह्य नहीं मालूम होती थी। प्यास लगती थी, किन्तु बर्फ-बताशा डालकर बनी दही की लस्सी (ल्हस्सी) दुनिया का बेहतर पेय वहाँ मौजूद था, और उसके खरीदने के लिए मेरे पास पैसे भी थे। गन्ने की गडेरियाँ, नमक डाले छिले खीरे, फ़ाल्सा और जामुन गर्मी की सख्ती को बहुत नरम कर देते थे। कितनी ही बार हम अपनी किताबों को लेकर नहरों से सीराब हरे-भरे बागों में चले जाते थे। सबेरे के वक्त कितनी ही बार बरगद के नीचे अपने अखाड़े में गामा को लड़ते देखा करते थे।

पंजाब के अधिकांश नर-नारियों के लम्बे-चौड़े शरीर को देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। मेरे पिता और नाना के घरों में नाटे कद के आदमियों का अस्तित्व न था, शायद इसलिए भी यह पक्षपात दिल में पैदा हुआ हो। पुरुषों के शिर के पट्टेदार बाल, और उस पर मेंहदी-रँगी कटी-छटी दाढ़ी नई चीज होते भी आँखों को खटकती न थी। किन्तु तरुण स्त्रियों की अमित घिरावेवाली जर्क-बर्क सलवार, ओढ़नी और शिर के पिछले भाग की नुकीली खोंप को मैं युक्तप्रान्त के भद्दे ओढ़नी-घाघरे का विस्तार समझता था। खासकर, रस्सी की तरह बट-बटकर बालों का गूँथना तो मैं, बालिकाओं के लिए सासत समझता था। दूध लेकर आनेवाले लम्बी तहमद, बड़ी पगड़ी बाँधे चौड़ी छाती के गूजरों से भी बढ़कर मैं पुरुषों ही की तरह चौड़ी बाँह के कुर्तों-तहमदों को पहिने कद्दावर गूजरिनों को देखकर प्रसन्न होता और कहा करता—ऐसे ही स्त्री-पुरुषों को हिन्दुस्तान में बच्चे पैदा करने का अधिकार होना चाहिए।

मई का महीना था, अभिलाष लाहौर आये। मुसाफ़िर-परिवार के भाइयों को एक दूसरे से मिलने पर असाधारण प्रसन्नता के बहुत से कारण थे। और फिर अभिलाष के पास उड़ने के पर मुझे साफ़ दीखते थे। मैं चाहता था कि वह खूब उड़े, हाँ, अपनी दिशा में; मेरी उड़ने की एक खास दिशा थी, मैं नहीं चाहता था कि सभी उसी दिशा में उड़ें—साहस को मैं जीवन का सार समझता था। अभिलाष का कल-पुर्जों में बहुत मन लगता था। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब उसने बतलाया कि मैं मोटर ड्राइवरी सीखने आया हूँ। मोटर ड्राइवरी कोई बड़ी विद्या न थी, किन्तु उसे मैं आगे बढ़ने की सीढ़ी समझता था। उस वक्त अभी मोटरें और मोटर-ड्राइवर वैसे कम भी थे।

जून का, शायद, अन्त आ रहा था, जब कालेज गर्मी की लम्बी छुट्टियों के लिए बन्द होने लगा। छुट्टियों में लाहौर की गर्मी में सती होना मैंने पसन्द न किया। किसी साथी ने काँगड़ा चलने को कहा, किसी ने पंजाब के किसी गाँव में। ईशानन्दजी का प्रस्ताव हुआ, बिरालसी चलने का। मुझको उनका प्रस्ताव सबसे अच्छा जँचा, वहाँ मैं आमों का आनन्द ले सकता और पढ़ाई को भी जारी रख सकता था।

5

रास्ते की भूलभुलैया

ईशानन्द और मैं जब सहारनपुर में उतरे, तो वहाँ एकाध फुहारे पड़ चुके थे, और सहारनपुर में पके आम आ गये थे। सहारनपुर में एकाध दिन ठहरने की बात याद नहीं, यह भी याद नहीं कि बिरालसी हम किस स्टेशन से उतरकर गये। शायद थानाभवन कस्बा हमारे रास्ते में पड़ा था, पंडित भोजदत्त यहीं पैदा हुए थे। ईशानन्दजी के पिता का नाम याद नहीं। और ठाकुरों से उनकी एक विशेषता यह थी, कि उनकी आँखें बिलकुल मंगोलों-जैसी थीं, वैसी ही जैसी कि ईशानन्द की थीं। लम्बे-चौड़े कद्दावर जवान थे। वह ऊँचे तबके के खेतिहर-जमींदार थे। काफ़ी खेती होती थी, गायों-भैंसों का दूध इफरात था, बड़ी जाति की घोड़ी घर में पोसी हुई थी, जिसके ऊपर

रिसाले का नम्बर लगा हुआ था, और वह अच्छे डील-डौल के बछड़े पैदा करती थी। उनके पास एक अच्छा आमों का बाग था–शायद अनार-नासपाती का भी–किन्तु उस वक्त मुझे आमों से वास्ता था। आमों की फ़सल तक हमारी पढ़ाई-लिखाई ताक पर ही रखी रही। बाग में चले जाते, पककर गिरे हुए फलों के ढेर से चुनकर कुछ दर्जन आम पानी भरी बाल्टी में डाल दिये जाते, और मैं, ईशानन्द तथा एक-दो नये बने तरुण साथी भी चारों ओर घेरकर बैठ जाते, किसी को यह परवाह नहीं थी, कि घर में हाथ जलाकर रोटियाँ भी पकाई जा रही हैं। ठाकुर साहेब जोर देते–आम खाकर दूध जरूर पीना चाहिए, फिर एक गिलास दूध किसी तरह गले से नीचे उतार लेता। रोटी खाना तो सिर्फ़ दिखाने के लिए था। ईशानन्द के घर में मैं उनके परिवार के एक व्यक्ति की भाँति था। उनके ही साथ चौके में खाने जाता। लड़कियों का पायजामा पहना देखकर, मैंने समझा, युक्तप्रान्त के हिन्दुओं में भी यह प्रथा सिर्फ़ मुसल्मानों तक ही सीमित नहीं है। ईशानन्द के कुटुम्बियों में कुछ शिक्षा भी थी। ठाकुर रघुवीर सिंह (!) ग्रेजुएट थे और सरकारी नौकरी की तलाश में थे। उनके छोटे भाई एफ. एस्-सी. करके लखनऊ में डाक्टरी पढ़ रहे थे, इस प्रकार गाँव में रहते भी शिक्षितों की संगति से वंचित होने की सम्भावना नहीं थी।

बिरालसी गुरुकुल, बिरालसी गाँव से थोड़ा हटकर था। स्वामी दर्शनानन्द को बिना नींव की संस्थाएँ खोल डालने का मर्ज था। बिरालसी, सिकन्दराबाद, ज्वालापुर, चोयाभक्ताँ (रावलपिंडी) के गुरुकुलों को–'मूँड दिया माँग खाओ' के सूत्रानुसार वह खोलते गये। एक बार संस्था खुल जाने पर आसपास के लोगों को लाज-शर्म होती है–शायद इस तत्त्व को वह जानते थे; इसी खयाल से बिरालसी का गुरुकुल भी लष्टम-पष्टम चल रहा था। विद्यार्थियों की संख्या चौदह-पंद्रह थी। एक अध्यापक थे, जो भाषा टीका के सहारे अष्टाध्यायी पढ़ा दिया करते थे। एक रसोइया थे, जिन्हें रोज शाम को फ़िक्र पड़ती, कि आज तो किसी तरह एक शाम सूखी-पाखी रोटी मिल गई, किन्तु कल क्या होगा। आमों की फ़सल खतम होने या उनके आकर्षण के कम होने तथा पढ़ने पर ध्यान जाने से मैं गुरुकुल में चला गया। गुरुकुल के सीधे-सादे मकान उतने आदमियों के रहने लायक काफ़ी थे। उसके पास इतने खेत थे, कि कूएँ के इन्तिजाम के साथ यदि ठीक से खेती की जाती, तो गुरुकुल को अनाज के लिए किसी के सामने हाथ पसारना न पड़ता। पास में बहुत-सा गैर आबाद जंगल था, जिसमें से भी कुछ गुरुकुल के लिए मिल सकता था। दो-चार गायें थीं, किन्तु शायद 'दुग्धदोहा'। मैंने एक दिन गाय-बैलों के बड़े झुंड को जंगल में दौड़ते देखा, एक बार वह झुंड गुरुकुल के पास भी आया। 'जंगली गाय' सुनकर मेरी जिज्ञासा और बढ़ी, इस पर बतलाया–एक-दो गायें जंगल में छूट गईं, उन्हीं की सन्तान बढ़कर इतनी हो गई हैं। वह बढ़ी स्वस्थ, स्वच्छ, और दर्शनीय थीं।

धार्मिक बातों में 'विचार-स्वातन्त्र्य' के अभिमान के साथ आर्यसामाजिक संकीर्णता होते हुए भी सामाजिक सुधारों में मेरे विचार सुधार की सीमा से बाहर जा रहे थे। मैं उन विचारों को बड़ी निर्भीकता से प्रकट करता था। धीरे-धीरे मेरे विचारों का असर अध्यापक और क्लर्क–रसोइया भी थे–पर भी पड़ने लगा। वह भी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रश्नोत्तर करने लगे। मैं उनका आदर करता था, क्योंकि तनख्वाह का तो सवाल ही क्या, वहाँ तो पेट के लाले पड़ने पर भी वह गुरुकुल में डँटे हुए थे। वह भी मेरी बातों में कुछ विशेषता जरूर पाते होंगे, तभी तो इतने प्रभावित थे। बात करने में इतना जरूर मुझे खयाल रहता कि वह दूसरे को चिढ़ाने, नीचा दिखाने के लिए न हो। विचार-परिवर्तन के लिए होती रोज-रोज की बैठकों का परिशेष एक दिन अन्तस्तल की घुंडी के खोलने के रूप में था।

पंडितजी ने कहा–क्या करें, समाज बहुत अक्षन्तव्य अपराधों, महापापों का कारण है। एक आदमी उसकी अपारशक्ति का सामना कैसे करे ? मेरी तरुणी विधवा पुत्री है। मैं अपने से जानता हूँ, कि उस अवस्था में उससे ब्रह्मचर्य पालन करने की आशा रखना जबर्दस्त आत्मवंचना है, किन्तु कुछ आर्यसामाजिक विचारों को रखते भी बिरादरी तोड़ने की मेरी हिम्मत नहीं, और पुत्री का विधवा-विवाह नहीं कर सकता। नतीजा ? –कुछ न पूछिए, पिछले चार-पाँच वर्षों में तीन-चार गर्भ गिराये जा चुके हैं। मेरी पुत्री है, कामवासना स्वाभाविक चीज है, उसके लिए उसे प्राण-दंड देने की हिम्मत पिता होने के कारण, हृदय रखने के कारण मुझमें नहीं है। सोचता हूँ, सर्वशक्तिमान्

समाज जब मुझे ऐसा करने के लिए मजबूर करता है, तो न्यायकर्त्ता भगवान् इस पाप को भी उसी के खाते में लिखेगा।

रसोइया-क्लर्क ब्राह्मण ने अपनी बात शुरू की–हम तीन भाई हैं। हम लोग जवान थे, जब कि बूढ़े पिता एक छोटी-सी कन्या से ब्याह करने पर उतारू हुए। लोगों ने मना किया, हमने भी मना किया, जिसका अर्थ पिताजी ने हमारी मंशा से बिलकुल उल्टा लगाया। आखिर किसी की एक भी न मानकर उन्होंने उस अबोध बालिका से ब्याह कर ही डाला। वह जवानी में अभी अच्छी तरह पैर भी रखने न पाई थी, कि पिता परलोक सिधारे। मेरी सौतेली माँ जवानी का हिसाब काट देने पर भी सुन्दरी है। कुछ वर्षों बाद मालूम हुआ, कि पड़ोस के आदमी से उनकी घनिष्ठता हो गई है। यही नहीं, डर लगने लगा, कि कहीं वह निकल न भागे। निकल भागने पर समाज यह नहीं कहता, 'चलो सड़ते अंग को काट फेंका अच्छा हुआ', बल्कि वह हमारे परिवार को हमेशा के लिए लांछित करता–'इस घर की औरत निकल गई है।' आपसे छिपाने की जरूरत क्या? अन्त में मैंने सोचा–इसकी एक ही दवा है। जिसके लिए सौतेली माँ को भागकर कुल में कलंक लगाना पड़ेगा, उस कामना की पूर्त्ति मैं ही क्यों न करूँ। दो गर्भ गिराये जा चुके हैं। बतलाइए, मैं क्या करूँ?

पंडितजी को तो मैंने सलाह दी थी, यदि अपने जिले में हिम्मत नहीं होती, तो दूर के किसी जिले में लड़की का ब्याह कर आयें। दूसरे सज्जन की समस्या का क्या हल मैंने पेश किया, मुझे याद नहीं।

गुरुकुल के पास जंगल था, और झूठ या साँच लोग कह रहे थे, कि इसमें कभी-कभी बघेरा आ जाता है। मुजफ्फरनगर के एक स्थान में भेड़ियों के प्रकोप से गाँव उजड़ जाने की बात भी बतला रहे थे। कहते थे शाम होते ही उनका झुंड गाँव में आ जाता। घर में बन्द हो जाने पर किवाड़ के चौखटों को खोदकर वे भीतर घुस आते थे।

बरसात के महीने दिन पर दिन खतम होने लगे। अब हमें अपनी पढ़ाई का खयाल आने लगा। ईशानन्दजी से सलाह हुई, कि मुजफ्फ़रनगर चला जावे, और वहीं पंडित परमानन्द (?) से पढ़ा जाये।

मुजफ्फ़रनगर में हम लोग आर्यसमाज-मन्दिर में ठहरे। वह शहर से बाहर किसी बाग जैसे स्थान में था। शाम को पंडितजी के यहाँ हम पढ़ने जाते। आर्यसमाज मन्दिर में एक और तरुण प्रज्ञाचक्षु रहते थे। वह पहिले ईसाई थे, हाल में शुद्ध करके उन्हें आर्य बनाया गया था। अजमेर और कहाँ-कहाँ रह आये थे। अन्धों के लिए लिखी पुस्तकें पढ़ लेते थे।

मुजफ्फ़रनगर में रहते कोई विशेष घटना नहीं घटी। गड्डी (गाड़ी), रोट्टी (रोटी), जाग्गी (जायेगी) से हम बिरालसी में काफ़ी परिचित हो गये थे, यहाँ के शिक्षित लोग ऐसे उच्चारणों से परहेज करते थे। तो भी मुझे यहाँ के देहात की वह हिन्दी ज्यादा सजीव मालूम होती थी।

मुजफ्फ़रनगर में हम लाहौर लौटने की सोच रहे थे। पढ़ाई कैसे होगी, दोस्तों से कैसे मिलेंगे, अगले साल के लिए विशारद परीक्षा में बैठने के अतिरिक्त क्या प्रोग्राम है। इसी वक्त भाई साहेब का पत्र आगरा से आया। उन्होंने तुरन्त आने को लिखा था।

मैंने पुस्तक-पत्र सँभाला, और सीधे आगरा का रास्ता पकड़ा। शायद भाई साहेब ने काम के बारे में भी कुछ इशारा कर दिया था, यदि ऐसा था, तो मैंने ईशानन्दजी से अपने लाहौर आने के बारे में सन्देह भी प्रकट कर दिया होगा।

मेरे लाहौर पहुँचने के बाद भाई साहेब भी लाहौर पहुँच गये थे। उन्होंने गवर्नमेंट ओरियंटल कालेज में अरबी की मौलवी-आलम श्रेणी में नाम लिखाया था। छुट्टियों में वह भी लाहौर छोड़, आगरा नामनेर में ठहरे थे। भाई साहेब ने प्रस्ताव रखा–अब समय आ गया है कि हम वैदिक मिश्नरी तैयार करने के लिए कोई गम्भीर कदम बढ़ायें। मुसाफ़िर विद्यालय से वह काम होने का नहीं। किन्तु हर एक काम रुपये से साध्य होता है, इसलिए चन्दा जमा करने के लिए नहीं बल्कि उसकी सम्भावना को देखने के लिए तुम्हें युक्तप्रान्त के कुछ स्थानों में घूमना होगा। हमारी इस योजना में मुसाफ़िर विद्यालय के संचालकों के साथ कुछ असहकार की-सी गन्ध थी। विद्यालय के संचालन में त्रुटियाँ रहते हुए भी वे लोग कितनी कठिनाई से उसे चला रहे थे; रुपयों और योग्य

विद्यार्थियों के मिलने में कितनी दिक्कत थी—इसका हमें अभी खुद तो अनुभव नहीं था, इसलिए हम उसकी कद्र नहीं कर सकते थे। पढ़ाई को बीच से छोड़ना मुझे तो पसन्द नहीं हो सकता था, किन्तु भाई साहेब की बात कैसे टाली जाती।

आगरे से यशवन्तनगर, इटावा के आर्यसमाजों में होते मैं कानुपर पहुँचा। वहाँ से फिर लखनऊ आर्यसमाज में। हर जगह आर्यसमाज में ठहरता, खास-खास आदमियों से बातचीत करता, कहीं-कहीं व्याख्यान भी देता। बातचीत में वैदिक धर्म-प्रचार की आवश्यकता और उसके लिए योग्य मिश्नरी तैयार करने की समस्या सामने रखता। लखनऊ आर्यसमाज में उस वक्त अजमेर के एक तरुण रामसहायजी ठहरे हुए थे। उनका गोरा, नाटा, पतला बदन, भीतर की तरफ़ ज्यादा घुसी आँखें और जरा-जरा-सी निकल रही मूँछें आयु को वास्तविकता से कम बतलाती थीं। वह बड़े उत्साही नवयुवक मालूम हुए। संस्कृत पढ़ने के लिए निकले थे, किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक तरीके से पढ़ानेवाला अध्यापक उन्हें नहीं मिला था। वहाँ किसी से मुझे मालूम हुआ, कि यहाँ एक बौद्ध विहार है, जिसमें एक बौद्ध भिक्षु रहते हैं। बौद्ध-भिक्षुओं जैसी धर्मप्रचार की लगन को बहुत बार व्याख्यानों में मैं सुन चुका था। नालन्दा जैसे धर्मप्रचारक पैदा करने के केन्द्र होने चाहिए, इस विचार का अंकुर बड़ी मजबूती के साथ हमारे हृदयों में उग चुका था, इसलिए जब बौद्धभिक्षु का रहना मालूम हुआ, तो एक दिन शाम को मैं बिहार में पहुँचा। अँधेरा हो चुका था, बाहरी रोशनी काफ़ी नहीं थी या स्मृति का ही दोष है, मंदिर और उस समय के स्वामी बोधानन्द के आकार-प्रकार का कुछ खयाल नहीं। उनसे मुख्य तौर पर ईश्वर, वेद आदि विषयों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य, त्रिपिटक आदि के बारे में बातचीत हुई। ईश्वर का उन्होंने साफ़ शब्दों में निषेध नहीं किया। शायद वह पुरानी विचारधारा पर धीरे-धीरे प्रहार करने के पक्षपाती थे। बौद्ध-साहित्य में बंगला में छपी बुद्ध पुस्तकों तथा वंगीय बौद्धों की मासिक-पत्रिका 'जगज्ज्योति' का पता दिया। पाली त्रिपिटक के पते के बारे में अनागरिक धर्मपाल से लिखा-पढ़ी करने के लिए कहा। उस संक्षिप्त साक्षात्कार के वक्त यह नहीं पता लगता था, कि मेरे जीवन के विकास में इस साक्षात्कार द्वारा ज्ञात बातें खास पार्ट अदा करनेवाली हैं।

लखनऊ से मलीहाबाद, फिर बिलग्राम, जायस और संडीला गया। संडीला में तहसीली स्कूल के हेडमास्टर के यहाँ ठहरा था। शाम को नदी किनारे किले की ऊँची जगह पर बैठे रंग-बिरंगे बादलों में ईश्वरीय-रचना के चमत्कार को देखते हुए सन्ध्या करता था। संडीला से हरदोई पहुँचा। आर्यसमाज में 25-30 आदमियों के सामने व्याख्यान दिया। थमरावाँ के रायसाहेब केदारनाथ मुसाफ़िर विद्यालय के प्रधान पृष्ठपोषकों में थे, इसलिए उनके यहाँ जाना जरूरी था। अभी वर्षा बिलकुल समाप्त नहीं हुई थी। मैं पैदल ही थमरावाँ पहुँचा। बड़े आदमियों के यहाँ आने-जाने के लिए विशेष संभ्रान्त वेष-रचना, तथा सवारी आदि की जरूरत होती है, किन्तु वह मुझे उपहासास्पद-सी बात जँचती थी, इसीलिए मैंने कभी भी अमीरों को अपनी ओर खींचने का न प्रयत्न किया और न उसमें सफलता प्राप्त की।

थमरावाँ के रायसाहेब एक बड़े जमींदार तथा पुराने रईस थे। गरीबों की झोंपड़ियों के साथ-साथ वहाँ उनके पक्के महल थे, जिनमें दर्जनों नौकर-चाकर घूमते रहते थे। उनके अस्तबल में कई अच्छी जाति के घोड़े बँधे थे। शायद हाथी और घोड़ागाड़ी भी थी।

मैं जिस बे-सरोसामानी से गया था, उससे तो कहीं भी टिकाये जाने पर मुझे शिकायत करने का हक न था; किन्तु रायसाहेब में अपनी श्रेणी के दूसरे रईसों से कुछ विशेषता थी—विशेषता न होती तो आर्यसमाज की ओर क्यों झुके होते। उन्होंने जब सुना कि मैं आगरे का 'आर्यमुसाफ़िर' हूँ, तो मेरे ठहरने के लिए कोठे का वह कमरा खुलवा दिया, जिसमें किसी समय पंडित अखिलानन्द शर्मा रहकर उनके ज्येष्ठ पुत्र को संस्कृत पढ़ाया करते थे। कायस्थ रईस होकर संस्कृत की ओर उनका ध्यान जाना बतलाता था उनकी धार्मिक अभिरुचि को। लड़का अच्छा पढ़ गया था, किन्तु मृत्यु ने उसे छीनकर बाप के मंसूबे को पस्त कर दिया। रायसाहेब के चेहरे पर अब भी अपने ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु का शोकचिह्न मौजूद रहता था। मैं वहाँ दो-चार दिन रहा, अपने उद्देश्य पर बातचीत की। तत्काल कुछ माँगना था नहीं, इसलिए मेरी जबान स्वतंत्रतापूर्वक अपना काम कर सकती थी। चन्दा माँगना हो या भीख, ऐसे समय मुझे रहीम के इस दोहे की सत्यता साफ़ झलकती है—

'रहिमन वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।' एक दिन रायसाहेब और मैं कुर्सी पर बैठा था, उनका छः-सात वर्ष का लड़का–अब यही एक मात्र लड़का बच रहा था, इसलिए बहुत लाड़-प्यार से पाला जा रहा था–आया। उसके काले वार्निशवाले जूतों पर थोड़ी-सी धूल लग गई थी। अभी रायसाहेब की उधर नजर भी न पड़ी थी, कि वहाँ उपस्थित एक ब्राह्मण-पुरोहित ने झट से अपनी चादर के कोने से जूते को पोंछना शुरू किया। रायसाहेब ने खड़े होकर उनके हाथ को हटा दिया, और उनके इस काम से असन्तोष प्रकट किया। कह नहीं सकता, मेरी उपस्थिति से उनको संकोच हुआ, और इसीलिए उन्होंने पुरोहितजी के आचरण पर असन्तोष प्रकट किया, या वह स्वभावतः इस बात को पसन्द नहीं करते थे। मेरी बातों से उनको यह तो मालूम होने में दिक्कत नहीं हुई होगी, कि यह खुशामदकला से बिलकुल अनभिज्ञ व्यक्ति है। पुरोहित के इस आचरण ने ब्राह्मण धर्म को मेरी नजर में और भी नीचे गिरा दिया।

थमरावाँ से चलते वक्त रायसाहेब ने सवारी देने के लिए कहा। घोड़े का जिक्र आने पर मैंने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उसे पसन्द किया, किन्तु अन्त में बड़े घोड़ों में से किसी को न पा जब एक टटुआनी आई, तो गाँव से कुछ दूर तक मैं उस पर चढ़कर आया, फिर सईस को उसके साथ लौटा दिया। अच्छे घोड़े पर चढ़ने के मेरे स्वाभाविक शौक को इससे धक्का लगा; लेकिन रायसाहेब क्या जानते थे, कि मैं घुड़सवारी का इतना शौकीन हूँ।

लौटते वक्त फिर लखनऊ आया। स्वामी बोधानन्द से फिर भेंट हुई या नहीं–मालूम नहीं। लखनऊ से रायबरेली। वहाँ आर्यसमाज के मंत्री या सभापति कोई ब्राह्मण वकील थे, जिनके घर मैं ठहरा। व्याख्यान के लिए खास प्रबन्ध की जरूरत नहीं पड़ी। किसी दिन के उपलक्ष्य में कोआपरेटिव बैंक के मकान में हिन्दी भाषा पर व्याख्यान होनेवाला था, जिसमें सनातन धर्म के एक प्रसिद्ध महोपदेशक वाणीभूषण पंडित नन्दकिशोरजी बोलनेवाले थे। वहीं मेरा व्याख्यान भी रख दिया गया। तैयार करके व्याख्यान देनेवाले को कुछ सुभीते भी रहते हैं, और कुछ मुश्किलें भी। रामगोपाल भाई को तैयार करके व्याख्यान देने की आदत थी। उनको कुछ व्याख्यान बिलकुल कंठस्थ थे, जिन्हें वह बड़े जोश के साथ भाषणमंच पर हाथ पटकते हुए अदा करते थे। मैं व्याख्यानों के लिए लिखे संकेत-नोटों तक को इस्तेमाल नहीं कर सकता था। सुभीता यह था, कि नये से नये विषय पर भी दस-बीस मिनट कुछ बोल सकता था। वाणीभूषणजी ने अपना तैयार भाषण सुनाया, जिसमें हिन्दी भाषा और साहित्य से न सम्बन्ध रखनेवाली ही बातें अधिक थीं। वह देर तक बोलते भी रहे। मैं पन्द्रह-बीस मिनट से ज्यादा नहीं बोला, सिर्फ हिन्दी-भाषा-साहित्य पर बोला, और ऐसी बातें जिनमें संस्कृत-शास्त्रों की दुहाई कम और नई रोशनी की पुट कुछ अधिक थी। शिक्षितों को मेरा भाषण ज्यादा पसन्द आया–यह मेरे मेजबान वकील साहेब की राय थी।

रायबरेली से अमेठी पहुँचा। नाना के मुँह से अमेठी के दवनसिंह नामक बलिष्ठ सिपाही की बातें कई बार सुन चुका था, किन्तु मैं वहाँ दवनसिंह या उनके परिवार की खोज करने नहीं आया था। मुसाफिर विद्यालय के उद्देश्य के साथ बहुत सहानुभूति रखनेवाले अमेठी के द्वितीय राजकुमार रणवीर सिंह से मुझे मिलना था। किसी क्लर्क के यहाँ उस दिन तो ठहर गया, शाम को कुमार साहेब से उनके महल के आँगन में बातचीत हुई, शायद उस दिन पुरानी चाल की कविताओं का पाठ भी हो रहा था। कुमार रणवीर विद्या, व्यायाम, और उदार विचारों के प्रेमी थे। उनका शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट था, पूरे जवान हो जाने पर भी अभी उन्होंने शादी न की थी। पाँच मिनट में अपना परिचय दे देने की कला मैं नहीं जानता, और वहाँ डटकर कुछ दिन मुसाहिबी करने के लिए मैं गया नहीं था। कुमार रणवीर अपने आसपास सदा बने रहनेवाले खुशामदियों से चिढ़ते थे, किन्तु उनका शिकार न होते हों, यह बात नहीं। वह मुझसे मेरे वेश-भूषा के अनुसार नहीं बल्कि एक प्रगतिशील तरुण समझकर मिले। नौकरों से किसी अतिथिशाला में ठहराने के लिए कहा। उसके पास कुत्ता घर था–यहाँ कितने ही भिन्न-भिन्न जाति के कुत्ते चारपाइयों पर पड़े रहते थे। आर्यसमाज को मैंने गम्भीरता से ग्रहण किया था, वैरागीपंथ की तरह उसे 'ग्रामं गच्छन् तृणान् स्पृशति' के हल्के हृदय से नहीं स्वीकार किया था, इसीलिए यथाशक्ति आर्यसामाजिक विचारों के अनुसार चलने की कोशिश करता था। मांस-भक्षण और बलिदान को एक कट्टर आर्यसमाजी के तौर पर बुरा समझता था, और जब मालूम हुआ, कि देवी का बलिदान बन्द हो जाने पर भी बाघ को बकरा मारकर

खिलाया जाता है, तो मैंने इसकी शिकायत कुमार रणवीर से की। किन्तु मुश्किल यह थी, कि बाघ देवी की तरह पत्थर का न था। कुमार के बड़े भाई बड़े सीधे-सादे, ढीले-ढाले आदमी थे, सौभाग्य बँटते वक्त वह जरूर ब्रह्मा के पास पहिले पहुँच गये थे, किन्तु समझ और शक्ति के वितरण के वक्त अपने तीनों भाइयों से पिछड़ गये थे। कुमार रणवीर का अपने दो छोटे भाइयों पर बड़ा प्रभाव था। शाम को वह उनके साथ घुड़सवारी के लिए निकलते थे, उनके शरीर से मध्यकालीन राजपूत प्रभा झलकती थी।

अगली मंजिल प्रतापगढ़ था। यहाँ एक तरुण विद्यार्थी के घर ठहरा। उनके पिता कचहरी में कोई साधारण कर्मचारी थे। वहाँ का आर्यसमाज भी अवध के अन्य आर्यसमाजों की भाँति कमजोर था, किन्तु कुछ नौजवानों में जोश था। उन्होंने सड़क के किनारे टाट बिछा दिया। शाम के वक्त कुछ लोग आ गये, और मैंने आर्यसमाज के किसी सिद्धान्त पर व्याख्यान दिया। रात को तरुण के घर खाना खाने गया, कायथ-भाई थे, आर्यसमाज के फेर में पड़कर गोश्त छोड़ चुके थे, लेकिन वह दिल से उतना जल्दी थोड़े ही छूट सकता है। खाने में बेसन की कोई तरकारी इस तरह की बनी थी, कि उसमें बिलकुल मांस का-सा स्वाद आता था। मुझे भारी भ्रम हो गया था, किन्तु आर्यसमाजी घर में गोश्त नहीं बन सकता, इस खयाल से मैंने अपने भ्रम को दबा दिया और संकोचवश पूछा भी नहीं।

बनारस के लिए रवाना होते वक्त मैंने यागेश के पास एक पत्र लिख दिया था। यागेश गर्मियों में पंडित भोजदत्त के साथ मसूरी या देहरादून गये थे; उनके देहान्त के बाद घर चले आये थे। उस वक्त स्वामी वेदानन्द बनारस में पढ़ते थे, साक्षात्कार नहीं हुआ था, किन्तु हम एक-दूसरे से परिचित थे। उनके ही यहाँ ठहरे। एक वक्त भोजन गोपाल-मन्दिर से मँगवा लेते—वहाँ सस्ते में कई तरह के अच्छे भोजन मिल जाते थे। हाँ, इस बात में पीछे आनेवाले हिन्दू-भोजनालयों तथा हिन्दू-होटलों का गोपालमन्दिर पथ-प्रदर्शक था। श्रद्धालु भक्तजन तथा मन्दिर की सम्पत्ति से प्रतिदिन भोग लगने के लिए चावल, आटा, घी, दूध, मिठाई, केसर, चन्दन हर चीज की मात्रा वहाँ नियत है, और प्रतिदिन के भोग में कई सौ रुपये लगते हैं। मन्दिर के हर एक कर्मचारी को वेतन के एक हिस्से में एक या अधिक पत्तलें भी मिलती थीं, जिसे बहुत से छूत-छात के खयाल से या पैसे बनाने के खयाल से बेंच दिया करते। कनैला के—रिश्ते में मेरे दादा—रामाधीन पांडे गोपालमन्दिर में परवाडजी थे, और बनारस में पढ़ते वक्त कभी-कभी उनके यहाँ मैं गया था। रामाधीनजी छूत-छात के खयाल से अपनी पत्तल को नहीं खाते थे इतना मुझे मालूम था, किन्तु उस वक्त मुझे यह नहीं पता था, कि ये पत्तलें बाकायदा बिकती हैं।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ बहुत बातों में मुझसे समानधर्मता रखते थे। उनको भी मेरी ही तरह विद्या की उग्र प्यास थी, वह भी वेद के उच्च तत्त्वज्ञान के विश्वासी, और वहाँ तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील थे, और सारा समय संस्कृत के अध्ययन में लगा रहे थे। उच्च योग्यता और काफ़ी तैयारी के साथ देशान्तरों में वैदिक धर्म के प्रचार के वह भी मेरी ही तरह प्रबल प्रक्षपाती थे। 'खूब निबहैगी जो मिल बैठेंगे दिवाने दो' वाली बात थी, इसलिए हमारे बीच चिरस्थायी मित्रता क्यों न स्थापित होती।

बनारस आर्यसमाज में मेरा एक व्याख्यान भी हुआ। अभी मैं वहीं था कि श्यामलाल (मेरे छोटे भाई) को लिये यागेश आ धमके। श्यामलाल को देखकर मैं यागेश पर कुछ नाराज हुआ, किन्तु उन्होंने कोई बहाना बना दिया। दोनों ने आग्रह किया, कि चन्द दिनों के लिए कनैला जरूर चलें। मुझे मानना पड़ा। कनैला पहुँचने पर कई बार प्रयत्न करके असफल होते हुए भी पिताजी ने फिर नजरबन्दी का हथियार इस्तेमाल किया। क्षणिक वैराग्य अब स्थायी आदर्शवाद का रूप धारण कर रहा था, इससे वह ज्यादा शंकित हो गये थे। मुँह पर मैं 'नहीं रहूँगा'—दो टूक कहने की मुझमें हिम्मत न थी, क्योंकि उसमें गाँव-भर के बड़े-बूढ़े जमा हो जाते और वे मेरी बेवकूफी का मजाक उड़ाते हुए पिता की आज्ञा मानना आदि का उपदेश झाड़ने लगते। मैंने थोड़े दिनों के लिए अपने भागने के खयाल को छिपा लिया और तै किया कि यदि अब एक बार मुक्ति मिली तो आजमगढ़ जिले में आने का नाम न लूँगा। जिगरसंडी में श्री मर्याद दूबे के नाम से जो जमींदारी खरीदी गई थी, उसके वसूल-तहसील में मैंने भी हाथ बँटाना शुरू किया। सप्ताह बीतते-बीतते एक दिन मुझे अकेले जिगरसंडी जाने का मौका मिला। अब कौन लौटकर कनैला जाता है। सीधे जखनिया या सादात स्टेशन जाने से अब भी डरता था, इसलिए मैं

वहाँ से वीरपुर में पंडित मुखराम पांडे के यहाँ चला गया। वह व्याकरणतीर्थ, काव्यतीर्थ होकर अब घर ही पर रहते थे। बड़हल बाजार में कह-सुनकर संस्कृत पाठशाला खुलवाने का इन्तिजाम कर रहे थे, आज पाठशालारम्भ का मुहूर्त था। पाठशालारम्भ में एक क्षण के लिए पुराने गुरु का फिर से मैं विद्यार्थी बन गया। उपनिषद् की गुटका मेरे पास थी, उसी से पाठ शुरू हुआ। मालूम नहीं, बड़हल से लौटकर रात को मैं वीरपुर में ठहरा, या वहाँ से सीधे दूलहपुर स्टेशन गया। खैर, कैसे ही मैं फिर बनारस पहुँच गया।

बनारस में ज्यादा रहना खतरे से खाली नहीं था, पिताजी किसी वक्त वहाँ पहुँच सकते थे। स्वामी वेदानन्दजी मेरी राय से सहमत थे। वह अभी हाल ही में अहरौरा (मिर्जापुर) से लौटकर आये थे, वहाँ के कितने ही तरुण आर्यसमाजी उन्हें आकर कुछ दिन रहने के लिए बहुत आग्रह कर रहे थे, उन्होंने मुझे वहाँ जाने के लिए कहा। रेल से कोसों दूर विन्ध्याचल की इस खोह में पिताजी कहाँ आ पायेंगे इस पर हम दोनों को पूरा विश्वास था। किन्तु इस रहस्य को एक दूसरे गुजराती विद्यार्थी—जिन पर मुसाफ़िर विद्यालय का छात्र होने से हम विश्वास रख सकते थे—जानते थे। उन्होंने पिताजी को यह बात बतला दी। अहरौरा में पहुँचकर निश्चिन्त हो मैंने तरुणों के सामने धर्मप्रचार शुरू कर दिया था, जब कि दो-तीन दिन बाद, एक शाम को देखा, पिताजी विकराल काल की तरह मेरे सामने खड़े हैं। खैर, उन्होंने उसी वक्त लोगों के सामने निबटना नहीं चाहा, शायद वे मेरे इस निर्बल स्थान को नहीं समझते थे। अलग में मुझसे मिले। मैंने कहा—अभी मैं यहाँ एक मास रहूँगा, आप कहीं रहें, और अभी मुझे दिक न करें। अपने प्रयत्नों की असफलता पर उनका विश्वास हो चला था, तो भी स्नेह उन्हें निश्चेष्ट नहीं रहने देता था। उन्होंने एक बार फिर हृदय खोलकर अपनी व्यथा सामने रखने की कोशिश की। भोजन-वस्त्र के सम्बन्ध में ग्रामीण जीवन को कुछ और सरस करने का प्रस्ताव किया। मैंने बतलाया—मेरे लिए अब सबसे ज्यादा आकर्षण ज्ञान की ओर से है, वह कनैला या बछवल में नहीं मिल सकता। बातें थोड़ी ही हुईं, और मुझे खुशी हुई, जब पिताजी ने एक साधु की कुटिया में रहते दूर-दूर से सिर्फ़ मेरे ऊपर निगरानी रखने तक ही अपने काम को सीमित रखा।

अहरौरा में जिनके घर में मैं रहता था वह पहरी जाति के थे, मुझे इस जाति का नाम पहिले-पहल सुनने में आया था, और इसे मैंने संस्कृत के प्रहरी शब्द से निकला समझा। वह उत्साही आर्यसमाजी तरुण थे। किसी वक्त उनका घर बहुत समृद्ध था। विन्ध्याचल के जंगलों से जमा की गई सूखी बेरों तथा तम्बाकू को ढेंकी में कूटकर उनके यहाँ अच्छी किस्म की तम्बाकू बनती थी; जब लाख का रोजगार बढ़ा हुआ था, उससे भी काफ़ी आमदनी होती, और कई हजार रुपये सूद पर चलते थे। इस प्रकार एक वक्त एक समृद्ध नागरिक की भाँति उनके घरवालों का जीवन व्यतीत होता था। अब लाख का रोजगार चौपट हो चुका था, लेन-देन का रुपया कर्ज खानेवालों के यहाँ से आता न था, इसलिए वह भी रास्ता बन्द, बाकी बचा था सिर्फ तम्बाकू। तम्बाकू के रोजगार में गुंजाइश रहते भी वह नये व्यापारिक तरीकों से वाक़िफ़ न थे, और न देसावर में तम्बाकू भेजने के लिए सम्बन्ध स्थापित करने की ओर खयाल रखते थे। कूट-काटकर पुराने ढंग से पुरानी आवश्यकता के अनुसार तम्बाकू बनाकर रखा; अहरौरा में जितना बिक गया, बस उसी पर उनके परिवार का गुजारा था। वह अपने पिता के अकेले लड़के थे। घर में माँ और स्त्री के अतिरिक्त दो छोटे-छोटे बच्चे थे, जिनका खर्च तम्बाकू की उस साधारण दैनिक आय से भी चलाया जा सकता था; किन्तु उनके पिता के वक्त ही से कुछ सम्बन्धी परिवारों का भी भरण-पोषण उन्हीं के घर पर होता चला आता था; आज आमदनी के बड़े रास्तों के बन्द हो जाने के बाद भी उस तरुण का हृदय हिम्मत नहीं रखता था कि अपने आश्रित सम्बन्धियों को अलग करे। जीर्ण-शीर्ण कमजोर नौका, सवारियों के बोझ से किसी नदी में स्वयं डूबना चाहती हो। कुछ सवारियों को हटा देने से नौका बचाई जा सकती है—यह जानते हुए भी जैसे मृदु-हृदय नौका-स्वामी नौका से साथियों को हटाने की अपेक्षा उनके साथ डूब जाना पसन्द करता हो—ठीक यही मनोभाव उस तरुण का था। मेरी उनके साथ बड़ी सहानुभूति थी, और उनकी कठिनाइयों को खयाल करके कभी-कभी मेरा चित्त उद्विग्न हो उठता था—उन्हीं के घर में ठहरा रहने से ऐसे मौके बहुत मिलते थे। बकाया पड़े रुपयों को वसूल करने के लिए अदालत में नालिश करने की जरूरत थी। नालिश करना, कचहरी में मुकदमा लड़ना—गांधी युग से बहुत पहिले उस समय भी उन्हें पसन्द न था; और पसन्द होने पर भी

इसके लिए बहुत रुपयों की आवश्यकता होती।

शाम को व्याख्यान के तौर पर ही नहीं कुछ क्लास के तौर पर हमारी कार्रवाई होती थी। मेरे भाषणों पर धार्मिकता के साथ-साथ राष्ट्रीयता का रंग भी चढ़ने लगा था। कई जगह की खुफ़िया पुलिस ने रिपोर्टें की थीं, जिनकी जाँच आगरा में हुई थी, जिसे भगवती भाई को एक पुलिस अफ़सर ने मित्रतावश बतलाया था। महीने भर तक मेरी बातों को सुनते रहने पर भी अहरौरा के तरुण यदि उकताये नहीं तो सामयिकता ही इसमें कारण थी।

खाना बराबर मैं अपने मेजबान तरुण के यहाँ ही खाता. किन्तु एकाध बार तहसीली स्कूल के हेडमास्टर,–एक आर्यसमाजप्रेमी–किन्तु बिरादरी के डर के मारे काँपनेवाले–के यहाँ भी खाने गया। जिस कमरे में मैं रहता, वह कोठे पर सफ़ेद चूने से पुता हवादार कमरा था, उसमें कई तस्वीरें और शीशे टँगे थे। तरुण उपन्यासों के शौकीन थे। 'जासूस' की तो फ़ाइल की फाइल वहाँ मौजूद थी। यहीं श्री गोपालराम गहमरी की लंका की यात्रा पर एक किताब पढ़ी, जो मेरे लंका जाने से पहिले भूल-सी गई थी। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्तासन्तति तथा इस तरह के और भी कितने ही तत्कालीन उपन्यास वहाँ मौजूद थे। मेरे पास पढ़ने के लिए गम्भीर पुस्तकें न थीं, काफ़ी समय और एकान्त मिला था, इसलिए उस सारी राशि का मैं एक बार पारायण कर गया। हिन्दी उपन्यासों को तल्लीन हो पढ़ने का मेरे लिए वही आदिम और अन्तिम मौका था।

अहरौरा विन्ध्याटवी के मुँह पर है। यहाँ से एक रास्ता सर्गुजा होते दक्षिणापथ को गया है। पहाड़ और जंगल पास ही शुरू हो जाते हैं, जिनमें बाघ और चीते रहते हैं। सर्गुजा और दक्षिणी मिर्जापुर से अब भी सौदा लादे हुए सैकड़ों बैल जाते थे। मुझे उस वक्त परसा में सुनी शोभनायक (नयका) बंजारे की गीतमय कहानी याद आती। ऐतिहासिक समाज का मानसचित्र तैयार करना अब कुछ-कुछ मुझे आने लगा था। इस चित्र की तैयारी में अहरौरा के दक्खिन से आनेवाले ये लदनी के बैल सहायक हुए। जंगलों में आबनूस और खैर के हजारों दरख्त थे। खैर की लकड़ी के रस से कत्था तो तैयार किया जाता था, किन्तु आबनूस का वहाँ कोई काम न होता था। अहरौरा में लकड़ी के बने तथा लाह के रंग से रँगे सिंदूरदान, खिलौन आदि बहुत बनते थे। यह ज्यादातर साधारण गीली लकड़ी को खरादकर बनते थे, और सूखने पर फट जाते थे। मैंने लकड़ी का एक कमंडलू बनवाया था, जो महीने भर के भीतर ही पानी छानने लायक हो गया।

दो-चार बार मैं पहाड़ों में कुछ भीतर तक पहुँचा, एक बार महाराजा बनारस की शिकारगाह में गया था। पक्की दीवारों के भीतर सुरक्षित बैठकर, खतरे की जरा भी सम्भावना के बिना शेर के शिकार में क्या आनन्द आता होगा–यह मुझे समझ में नहीं आता था। इन शिकारगाहों को देखकर मुझे जंगल के गोपालों के गोष्ठ याद आते थे। एक बार हम अहरौरा की नहर जिस जलाशय को घेरकर निकाली गई है, उसे भी देखने गये थे।

धीरे-धीरे दिसम्बर का महीना बीत चला, जनवरी के साथ 1917 सन् आनेवाला हुआ। अहरौरा में स्वामी वेदानन्द की चिट्ठियाँ हर सप्ताह आती थीं, वह सभी संस्कृत में होतीं। मेरा भी उत्तर संस्कृत में जाता। मुझे उनके सुन्दर अक्षरों को देखकर ईर्ष्या होती। दिसम्बर के अन्त में साधुजी (भाई महेशप्रसाद) का एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि महेशपुरा के एक वैश्य आर्यसमाजी धर्म प्रचारक तैयार करने के लिए एक विद्यालय स्थापित करने के वास्ते कुछ हजार रुपये देना चाहते हैं, तुम जाकर वहाँ काम शुरू करो। मैं जिस विद्यालय का स्वप्न देखता था, वह महेशपुरा के अल्प धन से, और मेरे अपने अल्प ज्ञान-साधन से स्थापित नहीं हो सकता था, किन्तु मैं जानता था कि नई दुनिया की ओर मेरी आँख खोलनेवाले भाई साहेब ही थे, इसलिए उनके किसी निर्णय को मैं सहसा टालने की हिम्मत नहीं रखता था। मैं तैयार हो गया महेशपुरा जाने के लिए।

नये दोस्तों में सौगात बाँटने के लिए मैंने जंगली बाँस की दस-बारह लाठियाँ साथ ले ली थीं। मैंने अपने प्रस्थान को बिलकुल गुप्त रखा था, क्योंकि मैं जानता था, कि यदि पिताजी को खबर लग गई, तो भारी विघ्न उपस्थित होगा। एक दिन मैं चुपचाप एक्के पर बैठ अहरौरा-रोड स्टेशन के लिए भाग चला। स्टेशन पर पहुँचने के बाद मालूम हुआ कि गाड़ी के आने में अभी देर है। मेरा हृदय शंका से काँपने लगा–कहीं तब तक पिताजी न आ पहुँचे। दिल कहता था–यदि कहीं एक बार मैं यहाँ से निकल पाता, फिर तो किसकी मजाल थी ढूँढ़ निकालने

की ? मैं कभी यागेश को दोष देता और कभी बनारस के गुजराती विद्यार्थी मित्र को।

जिसका डर था, आखिर वही बात हुई। अभी टिकट बँटने न पाया था, कि पिताजी प्लेटफ़ार्म पर पहुँच गये। वह हाँप रहे थे। उन्होंने 9, 10 मील की यात्रा बिना साँस लिये दौड़ते या तेजी से चलते तै की थी, नहीं तो इतनी जल्दी कैसे पहुँच सकते थे ? मुझे कभी गुमान भी न था, कि मेरे मेजबान की माँ पिताजी के लिए अवैतनिक खुफ़िया का काम कर रही हैं। वह मुझे देखते ही फूट-फूटकर रोने तथा उलाहना देने लगे। प्लेटफ़ार्म पर लोग जमा हो गये। वह चिल्ला रहे थे—क्यों मुझे मार रहे हो ? मुझे भी अपने साथ ले चलो आदि। उनकी बातों में पिछले साल की अर्धविक्षिप्तता का भी हल्का-सा असर था, नहीं तो रोने और चिल्लाने में अपनी स्वाभाविक गम्भीरता का परित्याग कर वह उतने अधीर और कातर न बनते। मैंने एक बार हिम्मत बाँधकर कहा—आखिर, कब तक आप मुझे इस प्रकार बाँधकर रखेंगे। किन्तु वहाँ सारी जनता मेरे खिलाफ़ थी; उसकी चलती तो पथराव कर मेरा काम वहीं तमाम कर देती। सब मुझे थू-थू करने लगे। मैंने महेशपुरा की ओर की यात्रा स्थगित की, और दो टिकट लेकर बनारस की ओर रवाना हुआ। ट्रेन में और उससे भी ज्यादा बनारस स्टेशन पर मैंने ठंडे दिल से उन्हें समझाना शुरू किया—मैं आपके भावों को, आपकी बेकरारी को समझता हूँ; किन्तु साथ ही मेरा जीवन भी किसी भविष्य की लालसा रखता है, जिसकी जो अस्फुट झाँकी मुझे मिल रही है, उसके कारण जबर्दस्त से जबर्दस्त खतरे, मृत्यु के साक्षात्-दर्शन तक भी अब मुझको अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। मैं कनैला के अयोग्य हूँ, मैं आपके काम का नहीं रहा। यदि ऐसा ही करना था, तो मुझे गाय-भैंस की चरवाही में लगा दिये होते, मेरी दुनिया कनैला की सीमा से परिसीमित हो जाती। अब जोर देने का भयंकर परिणाम होगा, आपको मेरे जीवन से हाथ धोना होगा।

मैंने इन बातों को धीरे-धीरे उन्हें बोलने का मौका देते हुए कहा। इसका उनके दिल पर असर हुआ। अन्तिम उत्तर जिस तरह उनके मुख से यकायक निकला, उसकी मुझे आशा नहीं हो सकती थी। उन्होंने कहा—अब मैं तुम्हारे रास्ते में बाधक नहीं होऊँगा, किन्तु साथ ही मैं भी कनैला न जाकर यहीं बनारस ही में अपने जीवन को बिता दूँगा।

अपने वचन के पूर्वार्द्ध को उन्होंने ठीक से पालन किया। यही उनका अन्तिम दर्शन था।

मैंने प्रतिज्ञा की—अब से पचास वर्ष की उम्र खतम होने तक फिर आजमगढ़ जिले की सीमा के भीतर भी कदम न रखूँगा।

6

मिश्नरी तैयार करने का एक प्रयास (1917 ई.)

बनारस-छावनी स्टेशन पर जिस वक्त टिकट लेने गया, उस वक्त छोटी लाइन के जंगले पर टिकट लेनेवाले कुछ यात्रियों को छपरा की बोली बोलते सुना। घर का पता पूछने पर उन्होंने एकमा-मुइली बतलाया। मुझे परसा याद आ गया। किस तरह मैं वहाँ बड़े-बड़े अरमानों को लेकर गया था। किस तरह परसा के निवास और उसके सम्बन्ध ने भारत के हर स्थान में मेरे लिए भोजन और आवास की निश्चिन्तता पैदा की। किस तरह सब दोषों के रहते भी महन्तजी मुझे बहुत मानते थे, मुझे पाकर अपने भविष्य के लिए निश्चिन्त हो गये थे। अभी भी मेरा साथी वरदराज—जो मेरे ही लिए वहाँ जाकर साधु बना—परसा के सम्बन्ध को छोड़े नहीं होगा। इन विचारों के आते ही थोड़ी देर के लिए अपने विचार सम्बन्धी जबर्दस्त परिवर्तनों को मैं भूल गया, परसा की ओर से आती एक सुनहली रस्सी मेरे हृदय को बाँधती-सी मालूम हुई, धीरे-धीरे उसका खिंचाव साफ़ मालूम होने लगा। पैर् बी. एन्.-डब्ल्यू. आर. के जंगले की ओर बढ़ना चाहते थे, इसी वक्त हवा का रुख फिर बदला—महन्ती मुझसे नहीं हो सकेगी, जीवन की धारा को उल्टी बहाने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैं अपनी जेब में भाई साहेब के

पत्र को अनुभन करने लगा। मेरी आँखों के सामने मोटे-मोटे अक्षर नजर से आने लगे—महेशपुरा जाकर काम सँभालना है, भगवती भाई पिछली सारी गर्मियों से घूम-घूमकर वहाँ प्रचार कर रहे हैं।

मैंने महेशपुरा जाने के लिए कोंच का टिकट खरीदा।

कानपुर, काल्पी, उरई, एटा के स्टेशनों-भर को ही देखते मैं कोंच स्टेशन पर उतरा। भाई साहेब की चिट्ठी में पंडित कृष्णगोपालजी का पता दिया हुआ था। कुँअर बहादुर सिंह ने महेशपुरा के स्वामी ब्रह्मानन्दजी का पत्र-द्वारा भाई साहेब से परिचय कराया था। एक तरफ़ इस तरह की संस्था को अस्तित्व में लाने के लिए कुछ शिक्षित तरुण बेकरार थे, दूसरी तरफ़ ऐसे काम के लिए कुछ रुपये मौजूद थे, फिर दोनों का गठबन्धन हो जाना कोई मुश्किल बात नहीं थी। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, और उनके पुत्र श्री पन्नालालजी ने मेरे आने की खबर पंडित कृष्णगोपाल को दे रखी थी, इसलिए कोंच . ठहरने के लिए इधर-उधर भटकने की जरूरत नहीं पड़ी।

कोंच से महेशपुरा के पास तक कच्ची सड़क गई है। मैं पैदल ही आदमी के ऊपर सामान लादे महेशपुरा की ओर चल पड़ा। जनवरी (1917 ई.) के महीने में ज्वार-बाजरे के फले हुए बड़े-बड़े पौधे खेतों में खड़े थे। नई फ़सल बोई जा चुकी थी। महेशपुरा के पास पहुँचने पर हाथों कटी जमीन की स्वाभाविक खन्दकों से होकर उतरना-चढ़ना पड़ा। मकानों की खपड़ैल चौड़ी थी, उनकी दीवारें कच्ची, तथा दरवाजे साफ़ लिपे-पुते थे। स्त्रियों के पैर के चीन्हेदार कड़े, मोटी मजबूत बँधी साड़ियाँ और ठोस शरीर देखकर मुझे बजरे के संस्कृत प्रतिशब्द वज्रान्न का अर्थ याद आ रहा था।

रामदीन पहाड़िया (स्वामी ब्रह्मानन्द का गृहस्थाश्रमी नाम) के घर का पता लगाना, अपनी प्रसिद्धि के कारण शहर में भी मुश्किल न होता, फिर यहाँ तो गाँव था। स्वामी ब्रह्मानन्दजी, उनके ज्येष्ठ पुत्र पन्नालाल, और शायद कनिष्ठ पुत्र श्यामलाल भी घर ही पर मिले। जनाना मकान से फ़र्क एक साफ़-सुथरी हवेली थी, जिसका अगला भाग पक्का था। दरवाजे पर भीतर से बन्दूक का निशाना लगाने के लिए सूराख बने हुए थे, जिन्हें मैंने रास्ते के भी कुछ घरों में देखा था, किन्तु यह नहीं सुन पाया था, कि अब भी इस इलाके में कभी-कभी सशस्त्र डाकू आ पहुँचते हैं, और उस वक्त गृहपति पुलिस के ऊपर अपनी रक्षा का भार सौंपकर चुप नहीं रह सकता। महेशपुरा ग्वालियर रियासत की बिलकुल सीमा पर था, गाँव से थोड़ी दूर पच्छिम जिस नदी में हम रोज नहाने जाया करते थे, उसका एक तट ग्वालियर रियासत में था। जहाँ एक किनारे पर बन्दूक रखने से साल-भर की गोलघर की हवाखोरी मुफ्त धरी थी, वहाँ दूसरी ओर टोपीदार बन्दूक और लाठी एक श्रेणी में समझी जाती थी। महेशपुरा से थोड़ी दूर पर नदी-गाँव था, जो दतिया रियासत में था और दक्षिण का एक गाँव था समथर की रियासत में।

हम लोगों के राजनीतिक विचार भी थे। देश की स्वतन्त्रता के लिए शस्त्र का प्रयोग करने तथा उसके लिए फाँसी के तख्ते पर लटक जानेवाले वीरों के हम प्रबल प्रशंसक थे, तो भी हमने किसी ऐसी मंशा से महेशपुरा को पसन्द नहीं किया था। हमने जान-बूझकर महेशपुरा के एक धनिक वैश्य को स्वार्थत्याग के लिए तैयार नहीं किया था। श्री रामदीन पहाड़िया अपने पिता की एकमात्र सन्तान, मामूली बही-खाता लिखना-पढ़ना जाननेवाले एक ग्रामीण महाजन थे। स्वामी दयानन्द के सुधारों और धर्म-प्रचार की गूँज युक्तप्रान्त और पंजाब के बहुत से हिस्सों में पहुँची थी। विचारों के पर बहुत तेज होते हैं, और किसी तरह वह महेशपुरा के तरुण वैश्य रामदीन के पास भी पहुँचे। उनके पास बाप का कमाया कुछ धन था। कुछ कपड़े का रोजगार था, और कुछ गिरवीं रखने तथा सूद पर रुपया देने का कारबार होता था। वे आर्यसमाज की किताबों को पढ़ने लगे, उसकी ओर से एकाध जहाँ-तहाँ निकलनेवाले अखबारों को मँगाने लगे। आर्यसमाज में उन्हें रोशनी दिखलाई देने लगी। मूर्त्तिपूजा, श्राद्ध, पुराणों की गप्पों से उनकी श्रद्धा उठ गई। किन्तु सिर्फ़ अभावात्मक कर्म-धर्म पर वह सन्तोष करनेवाले न थे। उन्होंने बाकायदा सन्ध्या शुरू की, हवन भी उसमें शामिल किया; फिर अपनी पत्नी को अक्षर-परिचय करा अपनी यथार्थ सहधर्मिणी बनाया। यही नहीं, लोकाचार की परवाह न कर स्त्री को भी जनेऊ पहनवाया। इन वाह्य आचारों को आर्यसमाज प्रधानता नहीं देता था, उसका जोर मानसिक आचारों पर भी था। झूठ बोलने से बढ़कर पाप नहीं, सच से बढ़कर धर्म नहीं—इसे वह बहुत पढ़ चुके थे। उन्होंने उसकी पाबन्दी का निश्चय किया। व्यापारी के लिए यह बड़ी मुश्किल बात थी, किन्तु रामदीनजी अटल रहे। गाहक कपड़े का दाम पूछते। जवाब

मिलता–'ग्यारह पैसा गज।'

'कुछ कम कीजिए भैयाजी !'

'एक दाम।'

'अरे ऐसी क्या ?'

'नहीं एक दाम बोलते हैं।'

शुरू में कुछ कठिनाई तो हुई किन्तु पीछे लोगों ने देखा, कि रामदीन की दूकान में चीजें कोंच के भाव से भी सस्ती मिलती हैं, और मोल-तोल में ठगे जाने का डर नहीं। परिणाम यह हुआ, कि महेशपुरा की दूकान खूब चल निकली। सूद और व्यापार का नफ़ा पाप की कमाई है, यह तो रामदीनजी को मालूम नहीं था, इसलिए उनकी श्रीवृद्धि धर्म की कमाई से ही हुई कहना चाहिए।

रामदीनजी के दो लड़के, तीन या चार लड़कियाँ हुईं। लड़कियों की शिक्षा के बारे में आर्यसमाज जोर तो देता था, लेकिन महेशपुरा जैसे गाँव में इसका इन्तिजाम करना मुश्किल था। पुत्रों की शिक्षा–विशेषकर संस्कृत शिक्षा–की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने फर्रुखाबाद के एक पंडित को अपने यहाँ बुलाकर रखा। गाँव से बाहर अपने बाग में आश्रम बनवा वहीं लड़कों की पढ़ाई शुरू कराई। बड़े लड़के श्री पन्नालाल की संस्कृत में अच्छी गति हुई, और यदि पढ़ाई कुछ दिन और वैसे ही चलती, तो वह अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से अच्छे पंडित होते। छोटे ने पढ़ाई पीछे शुरू की, और उसमें बड़े भाई जैसी प्रतिभा भी नहीं थी।

लड़कों की पढ़ाई समाप्त करा उन्हें ब्याहा जा चुका था, एक को छोड़ बाकी कन्याओं का भी ब्याह हो गया था। घर का काम-काज लड़कों ने सँभाल लिया था, तब रामदीन पहाड़िया को खयाल आया–'गृह कारज नाना जंजाला' को छोड़कर संन्यास ग्रहण किया जाये, और उन्होंने संन्यासी हो स्वामी ब्रह्मानन्द नाम धारण किया। स्वामी ब्रह्मानन्द को घर से बाहर घूमने का मौका नहीं मिला था। किसी के सामने उन्होंने हाथ पसारा नहीं था, इसलिए संन्यासी होने पर भी वह भोजन-वस्त्र के लिए अपने परिवार के ही परतन्त्र रहना चाहते थे। उनकी ही प्रेरणा से लड़कों ने चार हजार रुपये विद्यालय के लिए देने स्वीकार किये थे–रुपये एकमुश्त न दे उसके सूद के तौर पर प्रति मास चालीस-पैंतालीस रुपया देना तै हुआ था।

इतने रुपये से विद्यालय का काम नहीं चल सकता, इसलिए महेशपुरा पहुँचने पर मेरी और स्वामी ब्रह्मानन्दजी की सलाह हुई, कि विद्यालय के लिए एक डेढ़ महीने घूमकर चन्दे का वचन लिया जावे। अयोध्या के तजर्बे के अनुसार मैं समझता था, काफ़ी पैसों का वचन मिल जाने ही पर हमें विद्यालय खोलने का साहस करना चाहिए।

महेशपुरा से राव साहेब के बंगरा, जालौन, आदि घूमते हम पैदल ही महेशपुरा लौट आये। स्वामी ब्रह्मानन्दजी अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के लिए काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, जगह-जगह उनके जान-पहिचान के लोग भी थे, इसलिए चन्दे का वचन हर जगह हमें आसानी से मिलता गया। हम दिन में तीन-चार गाँव में जाते। विद्यालय किस तरह धर्म, विद्याप्रसार, और देशोन्नति के लिए प्रयत्नशील होगा, इसे हम समझाते, इसके बाद चन्दा लिखवाने के लिए अपील करते। लोग नकद या अनाज की तौल में चन्दा लिखाते। स्वामीजी अपनी बुंदेलखंडी भाषा में बोलते, और भाषण प्रभावशाली रहता। चन्दे की सूची पर जिस तरह गाँव के पीछे गाँव और नाम के पीछे नाम दर्ज होते जा रहे थे, उन्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई–कम से कम खाने-कपड़े के लिए तो हम अब निश्चिन्त रहेंगे।

मेरे आने से पहिले भगवती भाई यहाँ पहुँचे थे, और उन्होंने जिले तथा ग्वालियर रियासत के बहुत-से गाँवों में घूमकर खूब प्रचार किया था। मेरी तरह वह परिवार के बोझ से मुक्त न थे, इसलिए अब वह रह नहीं सकते थे, और विद्यार्थियों के साथ एक और अध्यापक की भी जरूरत थी। पत्रों में विज्ञापन देने पर पानीपत के मुकुन्दलाल, अजमेर के रामसहाय, मथुरा के यशवन्त, एक संन्यासी तथा पुराने परिचितों में महादेवप्रसादजी, यागेश, माणिक महेशपुरा पहुँच गये। गर्मियों से पहिले ही महेशपुरा में वैदिक-विद्यालय आरम्भ हो गया। पढ़ाई बैठक में होती, और भोजन बनाने-खाने का इन्तिजाम था श्री पन्नालालजी की गोशाला में। किसी को वेतन देना नहीं था, सिर्फ़ आठ-दस आदमियों के खाने-कपड़े का इन्तिजाम करना था। फ़सल कटने पर जब हमने चन्दा वसूल करना चाहा,

तो पता लग गया कि सूची पर नाम लिखने से चन्दे की रकम का वसूल करना कितना मुश्किल है। वचन देनेवाले लोगों में से बहुत कम ने चन्दे दिये, और वसूली में जो समय लगता था, उससे वसूल हुए चन्दे की मात्रा को देखने पर हर चन्दादाता के यहाँ जाने का खयाल ही हमने छोड़ दिया। चैत-वैशाख में महेशपुरा के ही आसपास हम लोगों ने कुछ घूम दिया, खाने के लिए काफ़ी अनाज मिल गया।

यहाँ भी पढ़ाई करीब-करीब मुसाफ़िर विद्यालय जैसी थी। अरबी, संस्कृत मुख्य तौर से पढ़ाई जाती थी। व्याख्यान और शास्त्रार्थ होते। तीन-चार हिन्दी-उर्दू के आर्यसमाजी पत्र आते, 'प्रताप' तो उस वक्त के राष्ट्रीय विचारवाले तरुणों के लिए अनिवार्य चीज थी। रामसहायजी पहिले आनेवाले विद्यार्थियों में थे। उनको संस्कृत पढ़ने की बहुत इच्छा थी, किन्तु दो-तीन बार प्रयत्न करने के बाद वह हताश हो चुके थे। लखनऊ में उन्होंने मुझसे अपनी चिन्ता बतलाई थी, मैंने उन्हें प्रोत्साहन देते हुए कहा था, यदि कहीं एक जगह मुझे रहने का मौका मिला तो लिखूँगा। रामसहायजी बच्चे नहीं थे। बचपन में रमशा बादशाह के नाम से अजमेर का वह मुहल्ला काँपता था, जिसमें वह रहते थे। मुहल्ले की सारी बालसेना रमशा बादशाह की अवैतनिक सेवा के लिए तैयार थी। उस वक्त भी कोई अध्यापक भय दिखलाकर रमशा बादशाह को नहीं पढ़ा सकता था। खैर, मैंने उन्हें स्वाभाविक ढंग से संस्कृत पढ़ाना शुरू किया। कथा में आये हुए सजीव शब्दों से परिचय कराया। इसमें पंडित सातवलेकर का 'संस्कृत स्वयंशिक्षक' बड़ा सहायक साबित हुआ। रामसहायजी का आत्मविश्वास बढ़ चला, किन्तु उन्हें पूरा सन्तोष तब हुआ, जब ग्वालियर जिले के एक गाँव में उन्होंने पाणिनीय व्याकरण (सिद्धान्त कौमुदी) पढ़नेवाले एक पंडित को संस्कृत बोलने में परास्त कर दिया।

वह महायुद्ध का जमाना था। चीजों का भाव बहुत चढ़ गया था, तो भी लोगों को विश्वास नहीं था, कि ब्रिटिश साम्राज्य को कोई भारी क्षति होगी या कम से कम भारत के भाग्य में पलटा खाने की बात को तो कोई सोचता ही नहीं था। राजनीतिक चेतना शिक्षितों में से भी बहुत कम में थी। सौ वर्ष से अधिक हो गया, अंग्रेजी शासन अपने हर एक विरोध को दबाते हुए जिस तरह दृढ़ होता गया, उससे स्वतन्त्रता का स्वप्न देखना लोगों के लिए असम्भव मालूम होता था। महेशपुरा रहते वक्त 'प्रताप' से राष्ट्रीय प्रगति का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। रूस की फ़रवरी की क्रान्ति की बहुत क्षीण खबरें भारत में पहुँचीं। वस्तुतः हमें खबरें भी तो उतनी ही मिलने पाती थीं, जिनके आने की हमारे अंग्रेज प्रभु इजाजत देते थे। अंग्रेज हार रहे हैं—हमारी यह धारणा समाचारों के आधार पर उतनी नहीं थी, जितनी कि मनोकामना पर।

1917 ई. में कोंच के मन्नू महाराज के डाकू गिरोह का आसपास के इलाके पर भारी आतंक था। वह कई जगह खबर देकर डाका मारने जाता था। कोई गिरोह और उसके सरदार की बहादुरी और गरीबपरवरी की तारीफ़ करते थे, कोई उन्हें अत्याचारी बतलाते थे। जाड़ों में कितने ही दिनों तक तो महेशपुरा में बहुत आतंक छा गया था, यद्यपि महेशपुरा उतना निहत्था न था। रियासत की सरहद पर रहने के कारण गैरकानूनी टोपीदार बन्दूकें वहाँ दर्जनों थीं, किन्तु चुरा-छिपाकर रखी दर्जनों बन्दूकों को जमा कर मरने-मारने के लिए तैयार होकर आये डाकुओं का मुकाबिला करना आसान काम न था। खैर, महेशपुरा में डाका पड़ने की नौबत नहीं आई।

गाँव के एक ठाकुर के लड़के का ब्याह ग्वालियर रियासत के एक गाँव में होनेवाला था। बारात में ऊँट और बहली की सवारी थी। मैं एक साँडनी (ऊँटनी) पर चढ़कर गया था। बारात बाग में ठहरी थी, नाच नहीं था, नहीं तो मैं न गया होता। बारातियों के पास काफ़ी बन्दूकें थीं। ब्याह दिन में हो रहा था, जो मेरे लिए नई-सी बात थी। लड़की की बात नहीं कह सकता, लड़का 9, 10 वर्ष से ज्यादा का न था, और दोपहर के वक्त, जिस वक्त कि ब्याहमन्त्र पढ़े जा रहे थे, नींद से उसकी आँखें झँपी जाती थीं। दोपहर बाद बारात खाने के लिए चली तो गाँव के शरारती लड़कों ने रास्ते के एक महुवे के दरख्त पर, बड़े बीहड़ स्थानों में मिट्टी की कुल्हिया, लाल मिर्चें और क्या-क्या चीजें टाँग रखी थीं। बिना इन लक्ष्यों को बेधे खाने जाना बारातियों के लिए शरम की बात थी। लोगों ने अपनी-अपनी बन्दूकें उठाईं, और निशाना दागना शुरू किया। और सब तो गिर गये, किन्तु एक कुल्हिया दरख्त के शिखर पर ऐसी जगह टँगी हुई थी, कि किसी का निशाना ही नहीं लग रहा था। भोजन

के लिए पंगत बैठने में देर हो रही थी। शाम आती देख बारातियों ने बेईमानी से लक्ष्यबेध करना चाहा, और एक आदमी अपनी बन्दूक की नली में गोली की जगह रस्सी भरने लगा था। मैं सब देख रहा था, मैंने कहा–जरा-सा बन्दूक मुझे तो दो। एक भरी हुई बन्दूक मेरे हाथ में थमाई गई, और लोग पंडितजी की ढिठाई देखने को खड़े हो गये। मैंने निशाना लिया, बन्दूक की कन्नी, कौये को कुल्हिया की सीध में मिलाया, और घोड़ा दाब दिया। धड़ाके की आवाज हुई, और कुल्हिया चकनाचूर। यदि किसी राजकन्या का स्वयंवर होता, तो जयमाला मेरे गले में पड़ती। खैर, लोगों की वाह-वाह से जयमाला पड़ने से कम खुशी मुझे नहीं हुई, वहाँ वह बात संयोग से भी हुई हो, किन्तु निशाना मेरा वैसे अच्छा लगता था। आसपास बन्दूकों की इफरात देखकर निशाना लगाने का मुझे शौक लग गया था। यदि किसी खुफ़िया पुलिसवाले को पता लगा होता, तो मुझे बम्ब-पार्टी का आदमी समझता। इसी बारात की एक और घटना है। एक साँडनी का एक छोटा-सा बच्चा था। कुछ शरारती लड़के थे, वे उस बच्चे तथा उसकी माँ–जिसका भी कद छोटा था–की पीठ पर चढ़ा करते, और वे माँ-बेटे बैठने नहीं पाते। पास में एक बड़ी ऊँटनी थी, जिस पर मैं चढ़कर आया था। वह बड़ी शैतान ऊँटनी थी। वह पास बँधी हुई थी, और लड़कों की गुस्ताखी से मन ही मन कुढ़ रही थी। घुमाते-घुमाते एक बार उसने अपनी नकेल छुड़ा पाई, फिर एक शैतान लड़के के पीछे लपकी। बाग के दरख्तों में चक्कर काटता आगे-आगे वह बारह-तेरह वर्ष का लड़का दौड़ रहा था, और पीछे-पीछे ऊँटनी। बाराती अधिकांश खाना खाने गये थे। मेरी ओर दूसरे जो चन्द आदमी थे, उनकी अकल काम नहीं करती थी। यदि दरख्त न होते तो ऊँटनी ने कब न लड़के को पकड़ लिया होता, किन्तु लड़का दरख्तों में फुरती से घूम पड़ता, ऊँटनी को वैसा करने में देर लगती। लड़का बदहवास था, और किसी वक्त भी गिर जानेवाला था, इसी समय हमारे पास खड़े एक लड़के ने ईंट का टुकड़ा साधकर मारा। ऊँटनी रुक गई, देखा उसकी एक आँख से खून की धार बह रही है।

अपनी ऊँटनी को कानी देखकर मालिक लड़के पर बहुत नाराज होने लगा। मैंने समझाया–आज यह एक आँख न जाती, तो इस लड़के का प्राण जाना निश्चित था। बेचारे शान्त हुए। ऊँटनी का क्रोध देखने का मुझे वहाँ मौका मिला था।

महेशपुरा अच्छा खासा बड़ा गाँव है। जमींदार ठाकुर (राजपूत) लोग हैं, और मारपीट तथा राजपूती शान भी कुछ रखते हैं। उनमें से किसी-किसी का पन्नालालजी के घर से कुछ वैमनस्य भी कभी रहता, किन्तु हम लोग सबसे अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते थे, और उसमें काफ़ी सफलता भी मिली थी। गाँव के आसपास अब बड़े जंगल नहीं थे, किन्तु बुंदेलखंड की ओर नदियों की भाँति महेशपुरा के पास की नदी भी बहुत नीचे बहती थी, जिससे आसपास की कड़ी जमीन सदियों से कटते-कटते बड़े-बड़े कगारों और खड्डों के रूप में परिणत हो गई थी; जिनमें भेड़िये, लकड़बग्घे रहा करते थे। मैं अक्सर शाम को नदी पर शौच आदि के लिए जाता, लौटते हुए किसी मिट्टी की पहाड़ी के शिखर पर बैठकर सन्ध्या करता, चाँदनी में खासकर अधिक देर लगती। इस प्रकार मैं अपनी वाचनिक आस्तिकता को वास्तविक रूप देने के प्रयत्न में था। आर्यसमाज के गर्म-पक्ष का समर्थक होने से अक्सर मैं जाति-पाँत की कड़ी आलोचना करते हुए स्वामी ब्रह्मानन्द आदि को भी लताड़ देता। वे कह देते–यदि आपको लड़की-लड़के ब्याहने होते, तब न मालूम होता।

बरसात के दिनों में महेशपुरा से बहुत कम लोग कोंच आते-जाते हैं। काली मिट्टी पानी पड़ते ही जोर से सट जानेवाली लेई की गहरी तह के रूप में परिणत हो जाती, और फिर उसमें जूता भी पहिनकर चलना असम्भव होता। कीचड़ की मोटी तह में लिपटे पहियोंवाली गाड़ी को बैल खींच न सकते थे। साँडनी तो बरसात में सिर्फ़ रेगिस्तान ही में चल सकती है, इसलिए पन्नालालजी की साँडनी भी बेकार थी। बरसात के चार महीनों में कैलिया से हमें अपनी डाक मिल जाया करती थी। कैलिया के दारोगा उस वक्त भूत-प्रेत झाड़ने में बड़ी ख्याति प्राप्त कर रहे थे। जुमा के दिन (?) वहाँ मेला-सा लगने लगा था। दारोगा साहेब को पुलिस के काम के लिए फ़ुर्सत कहाँ थी ? ऊपरवाले अफ़सरों को मालूम हुआ, तो उन्होंने उन्हें लाईन हाजिर करा लिया। दारोगाजी की दुआ से फ़ायदा उठानेवाले स्त्री-पुरुषों को बहुत असन्तोष हुआ, किन्तु सरकार उनकी कब सुननेवाली थी ?

महेशपुरा में रहते ही वक्त अखबारों से रूसी-क्रान्ति की खबरों ने मेरे ऊपर एक नया प्रभाव जमाना शुरू

किया। इन खबरों से मालूम होता था, कि वहाँ गरीबों-मजदूरों, किसानों–की भी एक पार्टी है, जो गरीबों के हक के लिए लड़ रही है, वह भोग और श्रम के समान विभाजन का प्रचार करती है। मुझे ये खयाल अखबारों के बहुत से अंकों को पढ़ते हुए सिर्फ़ बीज रूप में मालूम हुए। मैंने उस वक्त तक हिन्दी या उर्दू में साम्यवाद पर कोई पुस्तक पढ़ी न थी, शायद वह मौजूद भी न थी। किसी जानकार से इस बारे में वार्तालाप भी नहीं किया था, तो भी भोग-श्रम-साम्य का सिद्धान्त बहुत जल्दी से मेरे स्वभाव का एक अंग बन गया। मालूम होता है–कोई आदमी अनजान किसी ऐसी चीज की खोज में हो जिसकी आकृति और नाम को भी वह भूल गया हो, और वह चीज एक दिन अकस्मात् उसे मिल जावे। मैंने उस बीज को अपने आप सोचकर विकसित किया। आसपास के लोगों को मैं उसके गुणों को समझाता, और साथ ही आर्य-सामाजिक सिद्धान्तों तथा साम्यवाद में समन्वय करने की कोशिश करता।

स्वामी बोधानन्द ने मुझे पाली त्रिपिटक के बारे में अनागरिक धर्मपाल का पता दिया था। उनको लिखने पर उन्होंने वर्मी, सिंहली, स्यामी अक्षरों में छपे त्रिपिटक ग्रंथों के प्राप्तिस्थान लिखे, जिनमें से सिंहल और वर्मी लिपि में छपे कुछ पालि ग्रंथ मैंने मँगा भी लिये। महाबोधि-सोसाइटी से डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अंग्रेजी-अनुवाद-सहित नागरी अक्षरों में छपा 'कच्चान' व्याकरण मैंने मँगाया, जिससे सिंहली, स्यामी, वर्मी लिपियाँ सीखना आसान हो गया। वहाँ पढ़ानेवाला तो कोई था नहीं, किन्तु फ़ुरसत के वक्त मैं स्वयं कुछ पत्रों को पढ़ता।

बरसात (1917) के अन्त होते-होते यह पता लग गया, कि यदि विद्यालय को चलाना है, तो उसे गाँव से हटाकर रेल के किनारे किसी बड़े स्थान पर ले जाना चाहिए। मैं अभी तक इस बात पर जोर नहीं देता था, क्योंकि इससे पन्नालालजी आदि को कष्ट होता। लेकिन धीरे-धीरे यह बात उन्हें भी स्पष्ट होने लगी, खासकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी को। एक बार शायद भगवती प्रसाद या किसी और के साथ वह काल्पी गये, वहाँ से लौटने पर उन्होंने कहा–विद्यालय के लिए उपयुक्त स्थान, बस, काल्पी ही है।

बरसात के बाद बचे-खुचे अनाज को हमने गदहों पर लादा, और कोंच के लिए रवाना हुए। महेशपुरावालों को और हमें भी एक दूसरे से अलग होने का रंज हुआ, किन्तु यदि वियोग न हो तो नये स्नेहसूत्र भी तो पैदा नहीं हो सकते।

रेल से हम काल्पी पहुँचे। हमारे साथी पहिले ही आकर वहाँ की ठाकुरानी की एक लम्बी-चौड़ी हवेली–नीचे-ऊपर के मकान तथा अलग बैठके के साथ किराया कर लिया था। मकान काफ़ी हवादार, पक्का, साफ़-सुथरा था। हम लोग रोज सबेरे यमुनाजी स्नान करने जाते, शाम को दो-ढाई मील टहलते–कभी रेल की सड़क के साथ पुल पार तक, कभी काल्पी के वीराने की ओर। काल्पी में एक पुराना आर्यसमाज था, जिसका अपना मन्दिर था, और उसके कुछ उत्साही सदस्य थे। पंडित शिवचरणलाल 'आर्यपुरोहित' बहुत पुराने आर्यसमाजी थे, और हम लोगों की तरह सामाजिक सुधार में उग्रतावादी न होते हुए भी आर्यसमाज के प्रबल पक्षपाती थे। वह सारस्वत ब्राह्मण थे, इसलिए खत्री यजमानों के बिना काल्पी में उनका आना हो ही नहीं सकता था।

काल्पी आने के पहिले महेशपुरा में जमा हुई जमाअत में से भगवती भाई अब घर जा रहे थे। यागेश अपने साथ मेरे सबसे छोटे भाई श्रीनाथ को भी लेते आये थे। मैंने सोचा था, अभी उसकी पढ़ने की उम्र है, इसलिए कुछ पढ़ जाये तो अच्छा; किन्तु उसका मन पढ़ाई में लग नहीं रहा था; दूसरे मैं विद्यालय पर उन्हीं लोगों का भार देने के लिए तैयार था, जो मिश्नरी काम के लिए तैयार होनेवाले थे; श्रीनाथ की सिर्फ़ इतनी ही योग्यता थी, कि वह मेरा भाई था। उसे भगवती भाई के साथ सिकन्दराबाद भेजते हुए मैंने रास्ते के खर्च के लिए उसके हाथ के चाँदी के कड़े बेंचवा दिये, जिस पर मेरे कुछ साथियों ने टिप्पणी भी की–"छोटे लड़के के हाथ का जेवर नहीं बेंचवाना चाहिए था।' किन्तु मैं कोई वेतन तो लेता नहीं था, फिर किस फ़ंड से उसे सफ़र-खर्च देता। श्रीनाथ सिकन्दराबाद भी नहीं ठहरा, और पढ़ने-लिखने, खाने-पीने का ठीक प्रबन्ध हो जाने पर भी झूठी तकलीफ़ों को लिखकर उसने श्यामलाल को बुलवाया और घर लौट गया।

काल्पी में बाजार के दिन हम लोग धर्मप्रचार करने जाते। मुकुन्दलाल और यशवन्त के हारमोनियम पर

भजन होते, तथा हम लोगों में से कितनों के व्याख्यान—व्याख्यान आर्यसमाजी ढंग के, जिसमें बीच-बीच में राष्ट्रीयता की पुट भी रहती। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कभी बाहर घूमने जाते, नहीं तो वहीं रहते। 1917 के आखिरी महीनों में होमरूल का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा था। ऐनी बेसंट, और आरुंडल की नजरबन्दी से सनसनी फैली हुई थी, और लोकमान्य तिलक की मुक्ति से गर्मदली अंश मुल्क में जोर पकड़ रहा था। होमरूल आन्दोलन को जनता में फैलाने के लिए पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी के सम्पादकत्व में कितनी ही छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ निकली थीं, जिनमें जालौन जिले के एक राष्ट्रीय कर्मी का आल्हा भी था। 'भारत-भारती' पहिले ही से हिन्दीभाषी जनता में प्रिय हो रही थी, किन्तु अब उसने राष्ट्रीय संगीत-पुस्तक का रूप धारण कर लिया था। मेरे कोंच के एक ब्राह्मण मित्र ने तो अपने बच्चों तक को उसके बहुत से अंश कंठस्थ करा दिये थे। 'प्रताप' को मैं उसके आरंभिक समय से ही पढ़ने लगा था, किन्तु पहिले-पहिल काल्पी में ही वहाँ की एक धर्मशाला में मैंने श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का व्याख्यान सुना। उनके निर्मासल मुख पर चश्मे लगी आँखें असाधारण तौर से चमकीली मालूम होती थीं।

जाड़े में कुछ समय बीतने पर मालूम हुआ, पोखरायाँ (कानपुर-जिले) में प्लेग जोर पकड़े हुए है, लोग बहुत मर रहे हैं। आरम्भिक युग के आर्यसमाजियों में निर्भय हो बीमारों, अनाथों, गरीबों की सेवा करनेवाले वीरों की कितनी ही कहानियाँ मुझे सुनने को मिली थीं। पंडित रलाराम बेजवाडिया—रेलवे के साधारण पैटमेन—अपनी ऐसी ही सेवाओं से आर्यसमाज के एक श्रद्धेय पुरुष बन गये थे। अपनी सात-आठ रुपये की तनख्वाह में से भी बचाकर वह कुछ पुस्तकें बाँटते, कुछ दवाइयाँ ले प्लेग के दिनों में—और उस समय सारे उत्तरीय भारत में प्लेग का भारी प्रकोप था—रोगियों की सेवा करते। एक जैन-परिवार के बारे में कहा जाता है, वह आर्यसमाजियों से बहुत चिढ़ता था। एक बार उसके घर के सभी लोग बीमार पड़ गये, कुछ मर गये, बाकी को पानी तक देनेवाला कोई न था। पंडित रलाराम वहाँ पहुँचे। एक-दो दिन वे लोग पतित समझकर उनके हाथ की दवा नहीं पीते। घर के तरुण लड़के की गिल्टी पक गई थी। उस वक्त डाक्टर कहाँ मिलते। पंडित रलाराम ने चीरने के लिए अपना चाकू निकाला, किन्तु उसमें मोर्चा लगा था। उन्होंने गिल्टी में मुँह लगाकर पीव को चूसकर फेंक दिया। घरवालों पर असाधारण प्रभाव पड़ा, और तब से वह पंडित रलाराम को देवता-सा मानने लगे। राजपूताने के अकाल में सेवा करते, बाँटने के लिए झोले में डाल चने के बोझ से कैसे एक बार महात्मा हंसराज गिर गये थे, यह कथा भी मैंने सुनी थी। मेरे रहने से कुछ ही वर्ष पहिले आगरे में प्लेग में मरे तीन दिन के सड़े मुर्दे को निकालकर फूँकने का साहस कर कैसे एक आर्यसमाजी ने जान-बूझकर मृत्यु को निमन्त्रण दिया था, यह मेरे लिए ताजी घटना थी। इस प्रकार आर्यसमाज ने सिर्फ़ जवानी जमाख़र्च ही नहीं प्राणों की आहुति और पीड़ितों की सेवा करके अपने लिए एक आकर्षक इतिहास तैयार किया था। मैं कितने दिनों से लालसा रखता था, ऐसी सेवा के लिए।

मैं और यागेश पोखरायाँ गये। हमने अपने दोस्तों से चन्द रुपये माँग लिये थे। पोखरायाँ के डिस्पेन्सरी के डाक्टर बड़े सज्जन थे। वह स्वयं तो मरीजों के घर नहीं जा सकते थे, किन्तु उन्होंने हमसे कह दिया कि जितनी दवा की जरूरत हो हमसे ले जावें। दूध-साबूदाने का इन्तिजाम हमने अपने रुपयों से कर लिया। बाजार के बहुत लोग घर छोड़ गये थे, और बहुत से किस्मत पर सब कुछ छोड़ घर में ही पड़े हुए थे। हम लोग एक खाली गोले में ठहरे। मरीजों का ट्रेम्परेचर लेना, दवा देना, और बैठकर कुछ सेवा-सुश्रूषा करना हमारा काम था। किसी-किसी की गम्भीर बीमारी के बारे में डाक्टर से भी सलाह लेते। हम लोग नंगे पैर थे, प्लेग का कोई टीका-वीका नहीं लिया था, मौत हमारे लिए डर की बात न थी, इसलिए हम लोग निधड़क रात-दिन घूमते थे। एक दिन—पता लगा, कि सराय में एक भठिहारा बीमार पड़ा है। देखा, घर के कच्चे ओसारे में नीचे धँसी खाट पर एक 24, 25 साल का साँवला नौजवान पड़ा है। घर में क्या सराय में भी कोई नहीं था। शायद दो दिन से उसे पानी भी देने कोई नहीं आया। जब धनियों को भी उस बीमारी में पानी देने वाले दुर्लभ थे, तो हाथ-पैर चलाकर शाम की रोजी चलानेवाले भठिहारे की कौन सुध लेता ? शायद हमने अन्त तक उसे बेहोश ही देखा। हमने उसके पास रहने की अपनी ड्युटी बाँध ली। रात को लालटेन लिये उसके पास पड़े रहते। डाक्टर साहेब के थर्मामीटर को लालटेन के पास से देखते हुए मैंने उसे गर्मशीशे से सटा दिया, और देखा पारा थर्मामीटर तोड़कर उड़ गया।

डाक्टर साहेब ने उसके लिए कुछ नहीं कहा। दो या तीन दिन की लगातार सेवाओं के बाद भी भठिहारा बचा नहीं। हमें इस बात का सन्तोष रहा, कि हमने हिन्दू-मुसल्मान का जरा भी खयाल किये बगैर उस गरीब की सेवा की। एक और शोचनीय मृत्यु, एक खाते-पीते अच्छे घर के नौजवान लड़के की हुई, जिसकी तरुण स्त्री हमेशा के लिए विधवा बनने को मौजूद थी। जब हम उस घर में जाते, तो घरवालों को बड़ी सान्त्वना होती। हम कुछ आशा और ढारस दिलाते। वह देखते थे, हम जान की परवाह न कर उस आग में रात-दिन विचर रहे हैं। दूध-साबूदाने के पैसों की हमें कमी नहीं थी। हमारे भीतर एक तरह का अजीब उत्साह था।

लड़ाई और गम्भीर हो चली थी। काल्पी के मारवाड़ी सेठ की गिरनी-फ़ैक्टरी (रुई की गाँठ बाँधने का कारखाना) अब भुस की गाँठें बाँधकर लड़ाई के मैदान में भेज रही थी। काल्पी के तहसीलदार साहेब आर्यसमाज से कुछ सहानुभूति रखते थे, और हमारे साथ भी उनका सम्बन्ध अच्छा था। गिरनी-फ़ैक्टरी में एक से अधिक बार ब्रिटिश विजयकामना के लिए भगवान से प्रार्थना की गई थी, जिसमें एकाध प्रार्थना कराने का भार मेरे ऊपर पड़ा। मेरी प्रार्थना में ब्रिटिश का नाम भी नहीं आता, और मैं सत्य और न्याय पर आरूढ़ शक्तियों की विजय की कामना करता—कुछ लोगों ने इस बात को खासतौर से मार्क किया था।

जाड़े के दिनों में कभी-कभी जिले के भिन्न-भिन्न भागों में मुझे व्याख्यान देने के लिए जाना पड़ता। उरई के तरुण आर्यसमाजियों ने पोखरे पर के एक शिवालय को ही आर्यसमाज और उसके पुस्तकालय के रूप में परिणत कर दिया था। वहाँ मैं अक्सर व्याख्यान देने जाता। राय साहेब पंडित गोपालदास आर्यसमाज के एक श्रद्धालु भक्त थे, किन्तु उनकी सरकारपरस्ती के कारण मैं उनसे नफ़रत करता। जालोन की डिस्पेन्सरी के डाक्टर वहाँ के आर्यसमाज के कामों में बहुत भाग लेते, सरकारी नौकर होने से उनकी मजबूरी को हम जानते थे, और इसलिए उनसे हमारी पटरी अच्छी जमती। वहाँ के आर्यसमाज के जल्सों में स्थानीय पादरी जानसन (दर्यावसिंह) बराबर शंका-समाधान करने आते, और शंका-समाधान के लिए मुझमें एक खास प्रतिभा थी, जिसका लोहा सबको मानना पड़ता। कई साल बाद पादरी जानसन का तबादला एकमा में हो गया। मैं उनसे बड़े प्रेम से मिलता, और हमारा बरताव गहरे दोस्त की तरह का होता; हालाँकि राजनीतिक क्षेत्र में काफ़ी ख्याति प्राप्त हो जाने तथा हिन्दूसभा के जोर के जमाने में ईसाई बनानेवाले आदमी के प्रति सहानुभूति की उस समय आशा नहीं रखी जाती थी। मिशन के पास पीछे पैसा नहीं रह गया, और पादरी जानसन को होमियोपैथी की दवा करके बड़ी गरीबी से दिन गुजारा करना पड़ता। उनकी उस अवस्था को भी जब मैं जालौनवाली पोशाक से मुकाबिला करता, तो मुझे बहुत दुःख होता। काल्पी में भी मेथोडिस्ट मिशन के एक पादरी रहते थे। उनसे हमारी बड़ी दोस्ती हो गई थी। बहस के वक्त कड़ी से कड़ी आलोचना करनेवाले हम लोगों को जब वे अपने साथ बिना शुद्धि के बिठलाकर रोटी-दाल खिलाते देखते, तो उनको पहिले तो इसका अर्थ समझना मुश्किल था।

धौलपुर में आर्यसमाज के मन्दिर को तोड़कर राज्य ने घोड़साल बनाई थी। इसकी खबर जब बाहर के आर्यसमाजियों को लगी, तो हल्ला मचा। सत्याग्रह की तैयारी शुरू हुई। कितने ही आर्यसमाजी धौलपुर पहुँचे, जिनमें मैं और भाई साहेब भी थे। पीछे स्वामी श्रद्धानन्द के बीच में पड़ने से मामला तै हो गया।

1917 समाप्त हो रहा था, जबकि एक दिन स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने प्रस्ताव किया, और मैंने भी हल्के दिल से एक पोस्टकार्ड लिखकर परसा भेज दिया। तीसरे ही चौथे दिन महन्तजी का तार पहुँचा, कि सर्वे के काम में मठ की जमींदारी की देखभाल करने के लिए तुम्हारी बड़ी जरूरत है, तुरन्त चले आओ। शायद तार के साथ कुछ रुपये भी थे। मैंने तो साधारण कुशल-प्रसन्न तथा वरदराज के बारे में कुछ जानने के लिए पत्र लिखा था, मैं इसकी आशा नहीं रखता था। स्वामीजी जोर देने लगे—जाओ। मैंने कहा—मैं आर्यसमाजी हूँ, अब वैष्णव-मठ से मेरा सम्बन्ध क्या ? वह जोर देते ही रहे, मैं हिला नहीं। इसी बीच में महन्तजी का विस्तृत पत्र पहुँचा। इतने दिनों से मेरी कोई खबर न पाने से वे कितने चिन्तित थे। वृद्धावस्था के कारण वह कैसे कुछ दिनों के मेहमान हैं। यदि मठ की सम्पत्ति को अब न सँभाला, तो इसका खसारा पीछे तुम्हें भी भोगना पड़ेगा आदि। वह पत्र उनकी असमर्थता और सहायता के लिए दयनीय पुकार से भरा हुआ था। अब की बार स्वामी ब्रह्मानन्दजी का जोर लगाना व्यर्थ नहीं गया। मठ की सम्पत्ति की रक्षा तथा बूढ़े महन्तजी की थोड़ी-सी सहायता कर देने में क्या

हर्ज है—सोचकर मैं परसा जाने के लिए तैयार हो गया।

रेल पर सवार होने पर दिमाग में आया, कि वैरागी बाने में चलना होगा। मन में हिचकिचाहट होने लगी, लेकिन अब तो कदम उठ चुका था। रास्ते में कहीं से कंठी ले गले में बाँधी, शिर-मुँह के बाल साफ किये और बनारस होते परसा पहुँचा। उस वक्त परसा, बहरौली, और जानकीनगर में सर्वे का काम चल रहा था—कहीं खाना-पूरी हो रही थी, कहीं तसदीक। सर्वे के अमीन अलग अपनी कमाई के लिए कागज पर झूठे इन्दराज कर रहे थे, और मठ के दीवान-पटवारी अलग। मठ के सबसे बड़े गाँव बहरौली में बहुत से तनाजे पड़े थे। किसान डटे हुए थे, और महन्तजी भी घबराये हुए थे। मेरे आने पर उन्हें बड़ी खुशी हुई। जाड़ा शुरू हो रहा था। महन्तजी ने फ़लालैन की चौबन्दी बनाने का प्रस्ताव किया। मैंने मोटिया (खद्दर) की मिर्जई के लिए कहा। महन्तजी ने कहा—ऐसा करने से मेरी बदनामी होगी, लोग कहेंगे कंजूसी के खयाल से अपने पट्टशिष्य को महन्तजी मोटिया का कपड़ा पहनाते हैं। अन्त में स्वदेशी ऊनी कपड़े पर समझौता हुआ। मोटिया की मिर्जई को भी मैंने अलग से बनवा ही लिया। शौकीनी, नौकर-चाकरों के साथ बरताव सबमें मेरा तरीका बदला हुआ था। जब जमींदारी के गाँव में पहुँचा, और मैंने कह दिया कि न एक छटाँक तरकारी मुफ्त ली जावेगी, न चुल्लूभर दूध; तो नौकरों से बढ़कर आश्चर्य और आपत्ति असामियों ने की। कहने लगे—आप साधु महात्मा हैं। मैं उत्तर देता—ठीक, किन्तु जब मैं साधु महात्मा के तौर पर आऊँ, तो मुझे खाने-पीने की चीजें मुफ्त लेने में उज्र न होगा। इस वक्त तो मैं तुम्हारे जमींदार की तरह आया हूँ।

सर्वे के कागज जब मेरे सामने आये, तो पहिले तो बिलकुल नई चीज तथा झगड़ों और सर्वे नम्बरों की भारी संख्या होने से मेरी अक्ल चकराई। लेकिन अब दूसरा चारा न था। कागज देखने लगा। मठ के दीवान, और गाँव के पटवारी मुझे कागज का रास्ता बतलाने की जगह उस जंगल में उल्झा देने के लिए ज्यादा मुस्तैद थे। पुराने सर्वे के कागजों से नये कागजों का मुकाबिला शुरू किया। झगड़ालू खेतों पर पूछ-ताछ शुरू की। और फिर जब मठ की तरफ़ से दिये गये झूठे तनाजों को हटाना शुरू किया, तो मठ के अम्ला-लोग महन्तजी तक दौड़ गये—पुजारीजी तो हजारों की जायदाद को पानी में फेंक देना चाहते हैं। लेकिन मेरे तनाजों के हटाने पर असामियों की ओर से भी झूठे तनाजे हटाये जाने लगे। मैंने उन्हें दिखलाकर बतलाया, कि झूठे तनाजों से हम ज्यादा लाभ में न रहेंगे। महन्तजी ने अम्लों को मुझसे ही आकर भुगतने के लिए कहा। मैंने दीवान की दी हुई कितनी ही रसीदें पकड़ीं, जो रिश्वत लेकर खेत पर असामी का कब्जा साबित करने के लिए लिखी गई थीं। ऐसी एक रसीद को एक जुलाहे ने डिप्टी के सामने पेश किया। दीवान ने उसे पहिले के पटवारी के नाम से लिखी थी। मैंने जाली बतलाकर रसीद को रख रखने के लिए कहा। डिप्टी मेरे बरताव से समझ गये थे, कि मैं सारी शक्ति लगाकर सच्चाई तक पहुँचने की उनसे भी ज्यादा कोशिश करता हूँ, इसलिए वह मेरी बातों का बहुत यकीन करते थे। जब रसीद रख ली गई, और जाली रसीद पर मुकदमा चल जाने का डौल मालूम होने लगा, तो बूढ़ा असामी मेरे पास दौड़ा आया, और अपने जवान लड़के को लानत-मलामत करते हुए बहुत विनती करने लगा। मैंने उसे छुड़वा दिया। दूसरी घटना बहरौली के पलक ओझा की है। उन्होंने सर्वे में रुपया देकर मालिक के गैरमजरूआ जमीन की सिसवानी (शीशम के झुर्मुट) को अपने नाम लिखवा लिया था। शीशम खुदरो दरख्त होते हैं, और जमीन मालिक की थी ही, फिर वह पलक ओझा का कैसे हो सकता था। मैंने उज्र किया। डिप्टी ने मेरी बात के औचित्य को देखा, किन्तु इधर कई उज्रदारियों में मेरे पक्ष में फ़ैसला देते-देते अब वह एकाध फ़ैसला असामी के पक्ष में करना चाहते थे, वह उन तनाजों का खयाल नहीं कर रहे थे, जिन्हें कि मैंने वापस ले लिया था। खैर, उन्होंने मालिक की गैरमजरूआ जमीन में भी खुदरो दरख्त की लकड़ी का आधा असामी को लिख दिया। मैंने पलक ओझा को बहुत समझाने की कोशिश की, किन्तु वह 'घर आई लच्छिमी' को लौटाने को तैयार न हुए। मैंने उनके कागजों को फिर से देखना शुरू किया। देखा पुरानी ही मालगुजारी पर पुराने रकबे से आधा एकड़ अधिक जमीन हाल के सर्वे में उनके नाम दर्ज है। मैंने उस बड़े रकबे की जमीन को पुरानी जमाबन्दी से अलग कर नई लगान बाँधने का दावा किया। डिप्टी उसे मानने के लिए तैयार थे, क्योंकि पलक ओझा के पास कागज न था। इस प्रकार शीशम की लकड़ी उन्हें उतनी नहीं मिली, जितनी कि सालाना मालगुजारी उनके

शिर पर बँध गई। वस्तुतः आधा एकड़ अधिक जमीन मालिक ने उससे बेहतर जमीन लेकर बदले में दिया था, किन्तु यह सब खानगी हुआ था, जिसका पलक ओझा के पास कोई सबूत न था। बहरौली के हजार एकड़ से अधिक की जमीन में सैकड़ों असामियों से वास्ता पड़ा, लेकिन यही सिर्फ़ एक मामला था, जिसमें मैंने पलक ओझा के साथ अन्याय किया, लेकिन इसके कारण खुद वही थे। यदि शीशमों पर झूठा दावा न किये होते, तो मुझे जिद न होती।

जिन दिनों बहरौली में सर्वे का काम हो रहा था, उसी वक्त जोर का इन्फ्लुयेंजा भी चल रहा था। मुझे याद है, एक कोइरी भगत का। वह अनपढ़ मेहनती किसान था, किसी की संगत से राधास्वामी मत का अनुयायी बन गया था। मुझे मालूम हुआ। मैं उससे राधास्वामी मत पर बातें करता। आगरा और लाहौर में रहते मुझे उसके बारे में जितनी जानकारी थी, उतनी कोइरी भगत को कहाँ होती ? वह बड़ी दिलचस्पी से मेरी बातें सुनता, और मैं भी उससे राधास्वामी मत के कुछ भजन सुनता। एक शनिवार को सर्वे-कैम्प में मैंने उसे देखा था, और सोमवार को मालूम हुआ वह तो मर गया। तेज आँधी में जैसे आम गिरकर जमीन पर पट जाते हैं, इन्फ्लुयेंजा की बीमारी ने भी उसी तरह आदमियों की लाशों से धरती को पाट दिया था। कितनी ही नदियों के बारे में, तो लोग कहते थे, कि आदमी की लाशें इतनी अधिक थीं, कि उन्हें नभचर-जलचर भी नहीं खा सकते, और पानी पर आदमी के बदन की चर्बी तेल की तरह तैरती थी।

परसा में महन्तजी जोतिसियों से पत्रे दिखला रहे थे–'अब मेरी जिन्दगी का कौन ठिकाना है। रामउदार के नाम लिख-पढ़ देना चाहिए।' मैंने महन्तजी को साफ़ तौर से समझाने की कोशिश की, कि मैं महन्त हर्गिज नहीं बनूँगा। मैं मठ की सम्पत्ति की रक्षा के लिए आ गया हूँ। मुझे पढ़ना है, और देश का काम करना है। आपको महन्त बनाना है, तो वरदराज को बनावें, वह बाकी शिष्यों में सबसे काबिल भी हैं।

बहरौली का काम खतम होते ही मैंने जाने की इजाजत माँगी। कलकत्ता वेद-मध्यमा परीक्षा का फ़ार्म मैं काल्पी से भर चुका था, यह वह जान गये थे, और मेरी पढ़ाई में बाधा नहीं डालना चाहते थे; इसलिए उन्होंने रुकावट नहीं की। वेद-मध्यमा परीक्षा देने के लिए मैंने काल्पी के एक विद्यार्थी हरदत्त–जो कितने ही वर्षों तक गुरुकुल काँगड़ी में पढ़ते रहे थे–को उत्साहित किया था। उनके पढ़ाते वक्त अपने लिए भी तैयारी हो ही जाती थी, इसलिए मैंने किसी दूसरे गुरु के नाम से और हरदत्तजी ने मेरे नाम से जबलपुर-केन्द्र से परीक्षा का फ़ार्म भरा। जबलपुर रवाना होते वक्त एक दिन पहिले मीठी पावराटी पाथेय के लिए बनाई जाने लगी। पावरोटी तो नहीं बन सकी; हाँ, उसका मीठा परावठा बन गया। हम लोगों ने जबलपुर में जा परीक्षा दी। दोनों ही पास हुए, मैं प्रथम श्रेणी में और शायद हरदत्तजी भी प्रथम ही श्रेणी में।

परसा फिर भूल गया। मैं काल्पी में पढ़ने-पढ़ाने के काम में लग गया। 1918 के प्रथम पाद तक छन-छुनकर काफ़ी खबरें रूसी मजदूर क्रान्ति की मेरे कानों तक पहुँची थीं। काल्पी में उर्दू-हिन्दी-अंग्रेजी के अखबार मिल जाया करते थे, और तीन पंक्ति की रूस-सम्बन्धी खबर भी मुझे काफ़ी चिन्तन का मसाला दे देती। मैंने इन उड़ती खबरों, और जब-तब समाचारों से सुन लिये साम्यवाद के विकृत आकार को अपनी समझ से सुलझाकर एक साम्यवादी जगत् की कल्पना करने लगा। 1918 के आदिम महीनों ही में मैंने इस विषय पर एक पुस्तक लिखनी चाही थी, और उसका खाका बना लिया था, किन्तु विद्यालय बन्द करने के बाद वह खाका मेरी नोटबुक के साथ यागेश के पास रहा, और पीछे गुम हो गया। उस पुस्तक को एक दूसरे ढंग से संस्कृत पद्यों में 1922 में मैंने लिखना चाहा, किन्तु वह भी कुछ सर्गों तक ही रह गई, और अन्त में वह काम 'बाईसवीं सदी' के नाम से 1923-24 ई. में हजारीबाग जेल में पूरा हुआ।

महेशपुरा में ही विद्यालय का रंग होनहार जैसा नहीं मालूम होता था। काल्पी में हम अच्छे दिनों की आशा से आये थे, किन्तु यहाँ भी अवस्था सुधरी नहीं। आर्थिक अवस्था दिन पर दिन गिरती गई। श्री पन्नालाल का ही दान स्थायी था, बाकी दिशाओं से हमें प्रोत्साहन नहीं मिला। मकान में हमने पहिले बैठक को छोड़ा, पीछे कोठे के आधे भाग को भी छोड़ दिया। रसोइया हटाया गया, और हम लोग खुद बारी बाँधकर रसोई बनाने लगे। खाने में कमी होते-होते जौ-चने की रोटी और दाल या आलू की तरकारी में से एक बनाते, दोपहर के

भोजन में ही से थोड़ा शाम के लिए रख दिया जाता। मुझे अपने लिए तो खयाल न था, क्योंकि भ्रमण में कितनी ही बार इससे भी खराब खाने को खाता रहा; किन्तु अपने साथियों मुकन्दराम और यशवन्त को रोटी का टुकड़ा गिलास के पानी के सहारे गले से नीचे उतारते देख कभी-कभी दिल में ठेस लगती, यद्यपि मैं बराबर हर बात में समभाग लेकर उन्हें उत्साहित करता रहता। रामसहायजी काल्पी आने से थोड़े ही समय पहिले चले गये थे, और तरुण संन्यासी स्वामी उनसे भी पहिले। यशवन्त के लिए चिट्ठी पर चिट्ठी आ रही थी और वह लौटने के पक्के इरादे से घर गया, किन्तु वह फिर नहीं लौट सका। अब वहाँ तीन ही चार मूर्त्तियाँ रह गई थीं।

पढ़ाने के अतिरिक्त मुझे कभी-कभी प्रचारार्थ बाहर भी (ज्यादातर जालौन जिले के भीतर ही) जाना पड़ता। दाताओं को प्रसन्न करने के लिए कभी-कभी बारातों में भी जाता। एक बार का किस्सा याद है। बारात कई मील दूर गई थी। हम लोगों को बैलगाड़ियों में जाना पड़ा। मेरे साथ विद्यालय की भजनमंडली भी थी। वहाँ जाने पर मालूम हुआ, लड़कीवालों ने वेश्या (बेड़िनी) की नाच अलग से कर रखी है। संयमवादी हम लोगों के लिए वहाँ रहना मुश्किल था, किन्तु चले आने का मतलब था भजनमंडली को मिलनेवाले रुपये की हानि। भजनमंडली को हर महीने हमें चालीस रुपये देने पड़ते थे। मैं नाच में जा ही कैसे सकता था, किन्तु जहाँ ठहरा था वहाँ से भी वेश्या का गाना सुनाई पड़ता था। वह एक स्थानीय भजन (शायद लेद) गा रही थी, जिसका राग मुझे पसन्द आ रहा था। जन-संगीत की ओर मेरा स्नेह बढ़ता जा रहा था, यह शायद राजनीतिक चेतना और साम्यवाद की ओर बढ़ती हुई रुचि के कारण हो रहा था। उसी गाँव में आजमगढ़ जिले का एक तरुण रहा करता था। यद्यपि मैं अपने ही जन्मप्रान्त में था, किन्तु जन्म-जिला उससे भी नजदीक का सम्बन्ध रखता है, इसलिए तरुण से जब उसका गाँव मंदुरी के पास सुना, तो मुझे एक अजब तरह का खिंचाव मालूम हुआ। वह भी सैलानी तबियत का अल्हड़ जवान था। जोतिस से उसे कुछ पैसे मिल जाते थे। बढ़िया साफ़ा, जोधपुरी बिरजिस, कोट, बूट पहिनकर ठाटबाट से रहता था, कुछ थोड़ा संगीत का भी शौक था, और घर में हारमोनियम रखे हुए था। कमाना और उड़ाना यही उसका आदर्श-वाक्य था।

जालौन आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में इन्द्रवर्मा भी शामिल हुए थे। इन्द्रवर्मा का साल ही दो साल से मेरा परिचय हुआ था, किन्तु मैं उन्हें स्वाभाविक वक्ता मानता था। विशालकाय के साथ, उनकी गम्भीर गर्जना खास चीज थी ही, किन्तु जिस वक्त वह अपने विषय का सजीव चित्र खींचते, उस वक्त जनता को रुलाना, हँसाना उनके बायें हाथ का खेल होता। अभी हाल में उन्होंने महोबा में कई व्याख्यान दिये थे, जिनमें सनातनियों और ईसाइयों का कुछ खंडन भी हुआ था। सनातनी शास्त्रार्थ पर तुले हुए थे। नियम तै करने के लिए लिखा-पढ़ी हो रही थी। इन्द्रवर्मा मेरी बहस-मुबाहिसा तथा संस्कृत की योग्यता से वाकिफ़ थे, इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैं उनके साथ जरूर महोबा चलूँ। महोबा का ऐतिहासिक नाम कुछ आकर्षक था, और उससे भी आकर्षक था, पादरी ज्वालासिंह के साथ बहस करने का मौका। मैं भी उनके साथ महोबा गया।

सनातनधर्मी शास्त्रार्थ के लिए हुज्जत कर रहे थे—'संस्कृत में ही शास्त्रार्थ होना चाहिए।' हमने कहा—'फिर जनता क्या मल्लू बनकर बैठी रहेगी ? संस्कृत और हिन्दी दोनों में शास्त्रार्थ हो।' आदि-आदि। ईसाइयों पर जो प्रहार हुआ था, उसका जवाब देने के लिए उन्होंने पादरी ज्वालासिंह को बुलाया था। शाम के वक्त चिराग जलने के बाद खुली जगह में उनका व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के बाद प्रश्न पूछने की उन्होंने घोषणा की। मैंने प्रश्न पूछने शुरू किये। प्रश्न करने के समय मुसाफ़िर विद्यालय में सुने स्वामी दर्शनानन्द के प्रतिद्वन्द्वी पादरी ज्वालासिंह का काफ़ी रोब मुझ पर गालिब था। किन्तु वह रोब एक ही दो बार के प्रश्नोत्तर में जाता रहा। मैंने छिद्रान्वेषण की दृष्टि से बाइबिल का अच्छी तरह अध्ययन किया था, उसके पुराने भाग पर मेरे पास खतरनाक नोट थे। मैंने एतराज शुरू किये। पादरी साहेब एक का जवाब नहीं देने पाते, कि मैं तीन नये सवाल जड़ देता। धीरे-धीरे जनता पर विदित होने लगा, कि पादरी जवाब नहीं दे पा रहे हैं। पादरी ज्वालासिंह अपनी मन्तिक (तर्क) के लिए ही ईसाई सम्प्रदाय में सम्मानित तथा काफ़ी वेतन पा रहे थे। एक छोकरे को इस प्रकार प्रहार कर अपनी प्रतिष्ठा को धूल में मिलाते देखना उनको सह्य नहीं मालूम हुआ, और सचमुच मेरे कानों को विश्वास नहीं हुआ, जब कि पादरी साहेब तैश में आ अपनी सच्चाई पर जोर देते हुए बोल उठे—'यदि मैं गलती कर रहा हूँ, तो

हुक्के का पानी पिलाकर पाँच जूता मारें।' पादरी ज्वालासिंह का जो चित्र मेरे स्मृतिपटल पर अंकित था, वह अब चकनाचूर हो गया था। दूसरे दिन फिर मुबाहिसा का समय घोषित करके सभा समाप्त हुई।

सबेरे इन्द्रवर्मा को मिशन अस्पताल से दवा लेनी थी, उसी सिलसिले में हम दोनों अमेरिकन पादरी के बँगले पर भी चले गये। पादरी ज्वालासिंह भी वहीं पर ठहरे हुए थे। वह बड़े प्रेम से मिले, और मालूम नहीं होता था, कि रात को हम दोनों उस तरह एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। मैंने तो खैर, अपने लिए धार्मिक वाद-विवाद तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध का एक मैयार मुकर्रर कर लिया था, किन्तु बूढ़े पादरी ज्वालासिंह के शिष्टाचार को देखकर मुझे बहुत खुशी हुई। अमेरिकन पादरी की मेम डाक्टर थीं, उन्होंने इन्द्रवर्मा के लिए दवा लिखकर पुर्जी को कम्पोंडर को देने के लिए हमारे हाथ में दे दी। दरवाजे से निकलते ही इन्द्रवर्मा ने कौतूहलवश कहा–जरा पढ़िए तो। मैंने खत को खोला। मेम देख रही थी, उसने डाँटकर कहा–यह चिट्ठी तुम्हारे लिए नहीं है। मैं लज्जित हो गया, यूरोपीय शिष्टाचार से अनभिज्ञ रहते भी साधारण बुद्धि से भी मैं अपनी चेष्टा के अनौचित्य को समझता था। इन्द्रवर्मा को यह बात ठीक नहीं जँची। दवा के लिए लिखे गये पुर्जे में कौन-सी गोप्य बात हो सकती है ? उस दिन रात को वर्षा होने लगी, इसलिए मुबाहिसा का स्थान महोबा का विशाल गिरिजा हाल रखा गया। सारा हाल लोगों से भरा हुआ था, जिसमें काफ़ी संख्या ईसाई महिलाओं की थी। कार्रवाई शुरू करते वक्त पादरी ज्वालासिंह ने महिलाओं की ओर लक्ष्य करके कहा–'बहस-मुबाहिसे में किसी के मुँह से कोई अनुचित शब्द भी निकल सकता है; इसलिए, मैं समझता हूँ, अच्छा हो यदि महिलायें यहाँ रहना नापसन्द करें।'

धार्मिक साम्प्रदायिकता का ही पहिले मुझे पाठ ज्यादा मिला था, किन्तु इधर के दो-तीन साल की आदर्शवादी शिक्षा ने भीतर ही भीतर अपना काफ़ी असर डाला था। पादरी साहेब के ये वाक्य मेरे कान में वाण की तरह लगे, इसलिए नहीं कि वह झूठे थे–आर्यसमाजी उपदेशकों में ऐसों की संख्या काफ़ी थी, जिनके लिए अश्लीलता की मर्यादा को अतिक्रमण करना साधारण बात थी; किन्तु मुझसे ऐसी आशा रखी जावे, यह बात असह्य थी। मैंने दिमाग को ठंडा रखते हुए कहा–हमारे लिए यह बड़े शर्म की बात होगी, यदि हम अपनी माँ-बहिनों के सामने भी अपनी जबान पर संयम नहीं रख सकते। मैं आशा रखता हूँ, कि महिलाओं को सभा से जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। तरुण प्रतिद्वन्द्वी दिल की लगी कह रहा था। शास्त्रार्थ सुनने का अवसर पा महिलायें सबसे ज्यादा खुश हुईं। दो-तीन घंटे हम दोनों में बहस होती रही। यद्यपि कल की तरह के 'हुक्के के पानी और पाँच जूते' की आज जरूरत नहीं पड़ी, तो भी मैंने कल की अपनी सफलता को आज भी कायम रखा।

दो-तीन दिन बाद सनातनियों से भी शास्त्रार्थ हुआ। सनातन धर्म की ओर से शायद पंडित अखिलानन्द और आर्यसमाज की तरफ़ से युक्तप्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के कोई उपदेशक थे। शास्त्रार्थ के पत्र-व्यवहार में मेरा खास हाथ था, और शास्त्रार्थ को पुस्तकाकार छपवाने का सारा सम्पादन कार्य, झाँसी में लाला लद्धाराम के घर पर रहकर मुझे ही करना पड़ा था।

काल्पी में लौटकर फिर विद्यालय की निर्बल तरी को खेने की कोशिश करने लगा। इसी समय मैंने साल भर के लिए संस्कृत में ही बोलने की प्रतिज्ञा की–बाकायदा हवनयज्ञ करने के साथ। यदि इस प्रतिज्ञा से मतलब (360x24) घंटे निद्रा था, तो जरूर पूरी हुई, नहीं तो यह उन प्रतिज्ञाओं में थीं, जिन्हें आदमी तोड़ने के लिए ही किया करता है।

तीन आदमियों को लेकर विद्यालय के नाम पर अपने समय को बरबाद करना अब मुझे पसन्द न था। धीरे-धीरे भाई साहेब भी मेरी राय से सहमत हुए। तै हुआ कि विद्यालय को स्थगित करके मैं फिर अपनी पढ़ाई शुरू कर दूँ। स्वामी ब्रह्मानन्द और श्री पन्नालाल को यह बात दुःखद मालूम हुई–सचमुच ही काल्पी स्टेशन पर विदाई लेते वक्त हमारे हृदय भारी हो गये थे।

7
दुहरा धर्म (1918-19 ई.)

अब के साल मैंने शास्त्रि-परीक्षा में बैठने का निश्चय किया था। कानपुर में एक संस्कृत पाठशाला में गया, जिसमें उस वक्त पंडित शशिनाथ झा पढ़ा रहे थे, किन्तु वहाँ शास्त्रि-परीक्षा के सभी पाठ्य-ग्रंथों के पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं हो सकता था; बनारस में कनैला के किसी आदमी से भेंट हो जाने पर डर था; इस प्रकार अन्त में मुझे अयोध्या जाने का निश्चय करना पड़ा। फिर आर्यसमाज के निराकारी बाने की जगह वैरागी साकार-बाना सजाना पड़ा। पंडित वल्लभाशरण ने मेरा आना सुनकर बड़ी खुशी से अपने स्थान में जगह दी। न्याय-वात्स्यायन-भाष्य, निरुक्त, ऋग्वेद-सायण-भाष्य की भूमिका, नैषध और सिद्धान्तकौमुदी के अंत के कुछ अंशों को विशेष तौर से पढ़ना था। नैषध पढ़ाने के लिए पंडित सूर्यनारायण शुक्ल मिल गये, उस वक्त वह व्याकरणाचार्य हो राजगोपाल पाठशाला में पढ़ाते तथा न्यायाचार्य-परीक्षा में बैठ रहे थे। तरुण होने पर भी उनकी प्रतिभा की अयोध्या में ख्याति थी। वह उस समय पतले-दुबले और लम्बे मालूम होते थे। ऋग्वेद सायणभाष्य की भूमिका बहुत कुछ मीमांसाशास्त्र से सम्बन्ध रखती है, उसके लिए मैसूर के एक द्रविड़-वेदान्ती-पंडित मिल गये, जो हमारी उसी प्राचीन वेदान्त-पाठशाला में अध्यापक होकर आये थे, जो अब बड़ी जगह के हाथ में चली गई थी। वह भी अपने विषय के अच्छे विद्वान् थे, और चाव से पढ़ाते थे। सिद्धान्त कौमुदी के लिए पंडित सरयूदासजी मौजूद ही थे; किन्तु निरुक्त और न्यायभाष्य के लिए बड़ी दिक्कत पेश आई। बहुत खोज-खाज करने पर गोलाघाट पर एक ब्रह्मचारी मिले, जो थे तो काशी के न्यायोपाध्याय (न्यायाचार्य), किन्तु नव्यन्याय के और वह भी बहुत दिनों से पठन-पाठन छोड़ चुके थे। प्राचीन न्याय की पठन-पाठन प्रणाली सदियों से छूट चुकी है, इसलिए उस समय तो उसके पढ़ानेवाले बनारस में भी नहीं मिलते थे, अयोध्या जैसी छोटी जगह की तो बात ही क्या ? ब्रह्मचारीजी उतना ही बतला सकते थे, जितना कि मैं खुद भी पुस्तक के सहारे जान सकता था। ब्रह्मचारी अब गृहस्थ थे, उनके गुरु एक बहुत वृद्ध ब्रह्मचारी थे, जिनसे किसी समय स्वामी दयानन्द से साक्षात्कार, और कुछ दिनों की सहयात्रा भी हुई थी। उस वक्त स्वामी दयानन्द अभी उतने प्रख्यात नहीं हुए थे। ब्रह्मचारीजी मतभेद रखते भी स्वामी दयानन्द की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। निरुक्त पढ़ानेवाला मिलना और भी मुश्किल हुआ। बहुत पीछे—जब मैं अयोध्या छोड़नेवाला था, तब—ब्रह्मचारी भगवद्दास का नाम मालूम हुआ। वह वेदतीर्थ हो चुके थे और अब बड़ी जगह के महन्त के शिष्य हो इसी नाम से वहाँ रहते थे। ब्रह्मचारी भगवद्दासजी की वह पतली-दुबली साँवली सूरत मुझे याद थी, जो 1914 में पहिले-पहिल दिव्य-देश की वेदान्त पाठशाला में दृष्टिगोचर हुई थी। कैसे उन्होंने मँगनी की कंठी, और नौसिखिये हाथों से सफ़ेद रेखाओं में एक-सौ-एक नम्बर शिर में अंकित कर दाढ़ी नदारद मूँछों के साथ वैरागी बाना बना अपने को पंजाब का एक वैरागी बतलाया था, जिस पर मेरे सहपाठियों ने प्रश्नों की बौछार शुरू कर दी, और मैं ही था, जिसने कि देश-काल आदि के नाम पर व्याख्या कर उनका समर्थन करना चाहा। उस वक्त आर्यसमाज से मेरा कोई स्पर्श भी न था, तो भी कोई बात थी, जिससे मेरी सहानुभूति उस अजनबी तरुण के प्रति हो गई थी। ब्रह्मचारी भगवद्दास अब पंडित, बड़े महन्त के चेले तथा आचार-व्यवहार में निष्णात वैरागी साधु थे। मुझे उड़ती खबर मिल चुकी थी, कि उनके विचार भीतर से आर्यसमाजी हैं, इसीलिए बड़ी जगह के महन्त के उत्तराधिकारी होकर भी उस बाने में उनका रहना मुझे नापसन्द मालूम होता था। निरुक्त के पाठ के लिए दो ही चार बार मैं उनके यहाँ जा सका।

अयोध्या से किसी ने परसा लिख दिया, कि मैं आजकल वहाँ पंडित वल्लभाशरण के स्थान में ठहरा हूँ। फिर क्या था, महन्तजी का एक पत्र मेरे पास, दूसरा बड़ा-सा पत्र पंडित वल्लभाशरण के पास पहुँचा। सर्वे का संकट था। मठ की सम्पत्ति के नाश की दुहाई दे पंडित वल्लभाशरण को मुझे समझाकर भेजने के लिए कहा गया था। पढ़ने की दिक्कतें भी बतला रही थीं, कि परीक्षा की तैयारी लाहौर ही में ठीक से हो सकेगी, फिर परसा जा वहाँ का काम खतम कर क्यों न उधर बढ़ा जाये—यह खयाल करके मैंने परसा जाना स्वीकार किया।

लकड़मंडी घाट में गाड़ी पर चढ़ते वक्त देखा, पंडित सरयूदासजी भी उसी ट्रेन से चल रहे हैं। उनकी माता का देहान्त हो गया था, श्राद्ध में जा रहे हैं। मनकापुर में गाड़ी आने में देर थी, इसलिए उन्होंने कुछ पद्य बना देने के लिए कहा—मैंने 'माता मानकरी गता हतसुखा हा हन्त ! वर्तामहे।' आदि कई तुकबंदियाँ बनाकर दे दीं। परसा पहुँचने पर संस्कृत-भाषण की प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ी।

अब की मामला जानकी नगर का था। महन्तजी ने अपने मामले की पैरवी के लिए गोरखपुर के एक तरुण ब्राह्मण को अमीन रखा था। उसने झूठे-सच्चे दो-तीन सौ तनाजे दे डाले थे। असामी इस अन्याय को कैसे बर्दाश्त करते ? पहिले उन्होंने महन्तजी के पास फ़रयाद की, किन्तु वहाँ कागज समझने की शक्ति कहाँ ? चौकी तोड़ते, दो-चार ख़री-खोटी सुना उन्हें भगा दिया गया। नतीजा यह हुआ, कि रियाया ने भी जमींदार के दरख्तों, खेतों, और परती तक पर तनाजे दे दिये। मैंने आकर कागज-पत्र देखा। बहरौली के भारी जंगल को जब पिछले साल सर कर चुका था, तो उसके सामने जानकी नगर का छोटा-सा गाँव क्या था ? कागज देखकर, मैंने रैयतों को बुलाकर पता लगाया, और सौ में पचहत्तर तनाजे झूठे मालूम हुए। मैंने डिप्टी साहेब से कहकर उन तनाजों को हटा लिया। उनको बल्कि तअज्जुब हुआ, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने बतलाया, कि मठ के अम्ला लोग किसानों से रुपया वसूल करने के लिए ये झूठे तनाज़े दे रहे हैं। अमीन साहेब दौड़े-दौड़े परसा गये। महन्तजी ने उन्हें खूब फटकारा, और वहीं काम से जवाब भी दे दिया। मेरे तनाजों के उठाते ही, गाँव के सारे तनाजे उठ गये। मुझे याद नहीं कि बहरौली की भाँति यहाँ एक भी तनाजे में कोई परेशानी हुई हो। डिप्टी साहेब के लिए मेरा वाक्य सच्चाई की कसौटी था।

यह वह वक्त था, जब कि चम्पारन में गाँधीजी के काम की चारों ओर धूम थी। जानकी नगर के किसान भी जब-तब गाड़ी में शकरकन्द भर धान से बदलने के लिए चम्पारन जाया करते थे। उन्हें यह खबरें खूब मालूम थीं। वह बतलाते थे, कि कैसे चम्पारन में निलहे गोरों की इज्जत कौड़ी की तीन हो गई है ? कैसे अब वहाँ बैलगाड़ी को बीच सड़क से चलाने में कोई रोक-टोक नहीं डाल सकता ? कैसे हरी-बेगारी गाँधी साहेब ने उठा दी—तब न आज की भाँति वह महात्मा गाँधी थे, न उस समय के अर्धशिक्षितों में प्रसिद्ध कर्मवीर गाँधी, बल्कि गाँधी साहेब के ही नाम से चम्पारन और सारन के किसान उन्हें जानते थे। जानकी नगर के किसान, 'कचहरी' (जमींदार की छावनी) में बराबर ही आते-जाते रहते। रात को तो खास तौर से भीड़ रहती। पुजारीजी की (मेरी) न्यायप्रियता, ईमानदारी की धाक थी—वह दूध और तरकारी तक बिना पैसे दिये नहीं लेते; किसी से एक पैसा भी भेंट-पूजा लेना हराम समझते हैं; मिलनसार इतने कि छोटे-छोटे बच्चों से बातें करते हैं; उन्होंने रैयतों के हक में हजारों रुपयों के घाटे की कुछ भी परवाह न कर सारे तनाजों को उठा लिया।

रात को जानकी नगर के पँवारा गानेवाले बुलाये जाते थे। कभी 'कुँअर-विजयी' होती, कभी 'सोभनयका', कभी 'सोरठी' तो कभी 'लोरकाइन'। 'पुजारीजी' की इस ग्रामीण-रुचि का 'शिक्षितों' पर तो, जरूर बुरा प्रभाव पड़ता, किन्तु सौभाग्य से जानकी नगर में एक भी शिक्षित न था। साधारण जनता को विचित्रता जरूर मालूम होती थी, किन्तु इसे वह अनुचित कहने के लिए तैयार न थी। मैंने एकाध अच्छे गानेवालों को गाँधीजी की जीवनी सुनाकर उसे पद्यबद्ध कर 'सोरठी' की तरह गाने की प्रेरणा की, किन्तु उसमें मुझे सफलता नहीं हुई, शायद यह समय-साध्य बात थी, और मेरे पास उतना समय न था।

परसा-मठ की थोड़ी-सी जमीन मुन्नीपुर गाँव में पड़ती थी। किसी ने उस थोड़ी-सी जमीन का खयाल नहीं किया था, इसलिए पिछले सर्वे ही में वह हथुआ-राज में लिख दी गई थी। मठवालों ने हाकिम-हुकुम सबको मेरी बात मानने के लिए तैयार देखकर उस गड़े मुर्दे को भी उखाड़ा। मैं उस इलाके के असिस्टेंट सेटलमेंट आफिसर के पास गया। वह मुन्सिफ़ थे, सर्वे का काम सीखने आये थे—नाम शायद अंजनी कुमार था। मेरी हिन्दी साफ़ शुद्ध युक्तप्रान्तीय हिन्दी थी, बोलचाल में कहीं झिझक का नाम न था। ऊपर से शायद गुरुकुल हरपुरजान के किसी उपदेशक की मार्फ़त उन्हें पता लग गया था, कि मेरे विचार आर्यसमाजी हैं। वह और उनके मुसल्मान पेशकार अब्दुर्रहीम दोनों आर्यसमाज के अनुरागी थे। मेरी बड़ी खातिर हुई। गड़े मुर्दे के बारे में मालूम हुआ कि यदि हथुआ-राज के अम्ले को स्वीकार हो, तो पिछले सर्वे के इन्दराज को ऊपर से हुक्म मँगाकर दुरुस्त किया

जा सकता है। हथुआ-राज के अम्लों ने खुशी-खुशी स्वीकार किया कि यह ज़मीन परसा मठ की है, और गलती से राज के नाम दर्ज हुई है। एक दिन बा. अंजनी कुमार के आग्रह पर उन्हीं की अध्यक्षता में समाज-सुधार पर मैंने वहीं कैम्प में व्याख्यान भी दिया।

सर्वे का काम खतम हो रहा था, लेकिन महन्तजी ने अब फिर महन्ती की लिखा-पढ़ी का सवाल उठाया। मैंने फिर अपनी बात दुहराई—मैं महन्ती कभी नहीं लूँगा, यदि वरदराज को महन्त बनावें, तो वह अपने को उसके योग्य साबित करेंगे। नौकर-चाकर घेरे रहते थे, इसलिए निकल भागने में फिर दिक्कतें होने लगीं। एक दिन सिर्फ़ एक नौकर के साथ मैं छपरा आया। किसी काम के बहाने नौकर को परसा भेजा, और उसी दिन प्रयाग और लाहौर का टिकट कटा वहाँ जा पहुँचा।

छपरा छोड़ते ही संस्कृत-भाषण की प्रतिज्ञा फिर जारी हो गई।

डी. ए. वी. कालेज का संस्कृत-विभाग अब (1919 के आरम्भ में) वैदिक आश्रम में चला आया था, यहीं पढ़ाई के भी कमरे बन गये थे। प्रधानाध्यापक अब भी पंडित भक्तराम थे, किन्तु पंडित नृसिंहदेव ओरियंटल कालेज में चले गये थे, और उनकी जगह युक्तप्रान्त के एक पंडित थे, जो वर्ण-व्यवस्था तथा जातिवाद पर तीखे प्रहारों को सुनकर तिलमिला उठते थे। शास्त्री श्रेणी में भरती हो गया, और परीक्षा का फ़ार्म भी भरकर चला गया। अन्य विषय साध्य मालूम होते थे, किन्तु न्यायभाष्य और व्याकरण—कक्षा में सबसे तीव्र होने पर भी—मुझे असाध्य मालूम होने लगे। न्यायभाष्य तो पढ़ानेवाले अध्यापक के अभाव में और व्याकरण कंठस्थ करने के समय और रुचि के अभाव में। पंडित नृसिंहदेव शास्त्री को दर्शन-ज्ञान का बहुत अभिमान था, किन्तु जब मैंने उनसे पढ़ने की इच्छा प्रकट की, तो एक-दो बार बुलाया, और कुछ शुरू भी किया, किन्तु पीछे समयाभाव कहकर टाल दिया। मुझे मालूम हो गया, कि इसमें पढ़ाने की असमर्थता ही कारण है।

मेरे विशारदवाले साथी अब शास्त्री के साथी थे। वर्षों बाद सारी टीम को एक जगह देखकर विद्यार्थी को सन्तोष होता है, और उनमें से यदि कुछ आगे बढ़ गये हों, तो उसे कष्ट भी बहुत होता है। रामप्रताप की चुटकियाँ अब भी वैसी ही सजीव थीं। देवदत्त-द्वय अब भी वैसे ही मनोरंजक थे। सत्यपाल अब भी वैसा ही बेफ़िक्र तरुण शाहज़ादा था। कक्षा से बाहर के साथियों में 'खुर्सन्द'जी अब भी 'आर्यगजट' की कुर्सी पर थे। भाई साहेब 'मौलवी-आलिम' होकर 'मौलवी-फ़ाज़िल' की तैयारी कर रहे थे। भाई रामगोपाल ट्यूशन और, भाई साहेब की सहायता करते कुछ पढ़ रहे थे। मुंशी मुरारीलाल यहीं प्रतिनिधि सभा की उपदेशकी करते थे, इसलिए समय-समय पर मिल जाया करते थे। बलदेवजी और सोमयाजुलू वंशीलाल के मन्दिर में अब भी डटे हुए थे, और दोनों क्रमशः एफ़. ए. और बी. ए. की अन्तिम परीक्षाओं की तैयारी कर रहे थे।

रहने का स्थान ढूँढ़ने पर सत्थाँ-बाजार में जगह मिली। कुछ तरुणों ने वहाँ एक छोटा-सा आर्यसमाज खोला था। सादगी रखते हुए भी कुछ कीमती स्वदेशी कपड़े परसा में मेरे पास आ गये थे, जो यहाँ भी मौजूद थे। रेशमी चादरें, अधिक कीमत के पट्टू की बगलबन्दियाँ, बेशकीमती सफ़ेद आलवान, और रेशमी साफ़े बाँधना परसा ही में किसी वक्त क्षम्य हो सकते थे, मैंने उनमें से कुछ को बाँट दिया, कुछ के पैसे कर लिये, और कुछ ऐसे ही पास में रख रखे।

अखबारों को पढ़ना, देश-विदेश की राजनीतिक खबरों को गौर से देखना, भारत में राजनीतिक क्रान्ति की चाह, रूसी क्रान्ति और साम्यवाद—ये मेरे प्रिय विषय थे। साम्यवाद पर किसी ग्रंथ के पढ़ने का अब भी अवसर न मिला था, किन्तु उस पर काफ़ी चिन्तन और तर्क-वितर्क किया करता था, तो भी अभी मेरा साम्यवाद आर्यसमाज के धर्म की एक उदार व्याख्या में सम्मिलित होने लायक था। कुछ सालों तक अच्छी तरह पढ़ाई करके पूर्वीय देशों—चीन या जापान—में वैदिक धर्म प्रचार के लिए जाना, बस यही धुन थी। अपने इस प्रोग्राम में जब मुझी को सन्देह नहीं था, तो दूसरे को सन्देह कैसे होता। नये तजर्बों के बिना पर आदमी बदलता रहता है—इस तत्त्व पर मेरा विचार अभी नहीं गया था।

महायुद्ध के आखिरी दो वर्षों में होम-रूल के लिए आन्दोलन शुरू हुआ था, यद्यपि अभी वह साधारण जनता तक नहीं पहुँचा था, तो भी वह नरमदली कांग्रेस की तरह उच्च मध्यम श्रेणी के पठितों तक ही सीमित नहीं

रहा। लड़ाई के समय लोगों को अखबारों की चाट लगी, अखबारों की संख्या बढ़ी, साथ ही उनमें गर्मी भी आई। लोगों में कुछ निर्भीकता-सी आती दिखाई पड़ी। अंग्रेजी सरकार ने स्वायत्तशासन की घोषणा की, और भारतमंत्री मिस्टर माण्टेगु स्वयं भारत की राजनीतिक अवस्था के अध्ययन के लिए आये। लड़ाई की खबरों से मालूम होने लगा, कि संसार में अंग्रेज ही सर्वशक्तिमान नहीं हैं, जर्मनी भी इनके मुकाबिले की शक्ति है, और अमेरिका के मुँह की तो बाट जोही जाती है।

1918 के अन्त के साथ लड़ाई का भी अन्त हुआ, किन्तु लड़ाई ने लोगों के मनोभाव में जो परिवर्तन किये, उनका अन्त नहीं हुआ। जब तक शिर पर संकट था, अंग्रेज-शासक तरह-तरह की चिकनी-चुपड़ी बातें करते थे, किन्तु लड़ाई समाप्त होते ही नवभारत के रुख से उनके मन में तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं। लड़ाई के समय के लिए तो भारत-रक्षा कानून बनाकर उन्होंने अपने विरुद्ध किसी भी हलचल को दबा देने का बन्दोबस्त कर लिया था, किन्तु लड़ाई के बाद भारत-रक्षा कानून हट जाता। उधर लड़ाई के दिनों में भी आतंकवादी क्रान्तिकारियों का काम बन्द नहीं हुआ था, बल्कि जहाँ पहिले उसका क्षेत्र सिर्फ़ बंगाल तक था, वहाँ अब वह युक्तप्रान्त और पंजाब तक पहुँच गया था। सरकार ने जस्टिस रोलट की अध्यक्षता में आतंकवाद के जाँच के लिए कमेटी बनाई, जिसकी रिपोर्ट पर भारत की हर स्वतंत्र आवाज को दबाने के लिए, हर उग्र राजनीतिक संगठन को कुचलने के लिए रोलट-कानून तैयार किया। जनता के प्रतिनिधियों ने विरोध किया, किन्तु विजय के नशे में उन्मत्त सरकार उसकी क्या परवाह करने लगी ? कानून पास हो गया।

अपनी भीतरी-बाहरी पढ़ाई के साथ राजनीतिक घटनाओं पर मेरी खूब नजर रहती थी। जब हम लोग वंशीधर के मन्दिर या लाहौरी-दरवाजे के बगल के बाग में जमा होते तो राजनीतिक परिस्थिति पर भी घंटों बातें होतीं।—हाँ, मेरी संस्कृत बोलने की प्रतिज्ञा चल रही थी। पंडित भगवद्दत्त के अन्वेषण-विभाग में कभी-कभी जाता, और अन्वेषण-सम्बन्धी पत्रिकाओं और पुस्तकों से अन्वेषकों की विस्तृत दुनिया से भी परिचित हो रहा था। पंडित भगवद्दत्तजी सभी विज्ञानों और आविष्कारों को वेद से निकालकर दिखलाते तो नहीं थे, किन्तु उन्हें स्वामी दयानन्द के इस सिद्धान्त पर सन्देह नहीं था; बहुतों को वह निश्चित तौर पर वेद में प्राप्त कर चुके थे, और बाकी भी पूरी गवेषणा करने में जरूर वेदों में से निकल आयेंगे—यह उन्हें विश्वास था। लाहौर में मुझे याद नहीं, पहिले किसी सभा में व्याख्यान दिया था। अब के कालेज (अंग्रेजी-विभाग) की संस्कृत-परिषद् में व्याख्यान देने के लिए कहा गया, और मुझे उसमें कोई हिचक तो थी नहीं। उर्दू लेख तो लाहौर की पहिली ही यात्रा में 'आर्यगजट' में ही लिखता रहता था।

बहिन महादेवी को पढ़ने के लिए कानपुर लाने का निश्चय मेरी सम्मति के अनुसार हुआ था। अब कानपुर की उस संस्था में जितना पढ़ना हो सकता था, वह समाप्त हो चुका था, और बहिनजी आगे पढ़ना चाहती थीं। इसी बीच पंडित सन्तरामजी आ गये। वह उस वक्त कन्या महाविद्यालय जालन्धर में हिन्दी के अध्यापक थे। उन्होंने कहा—भेज दीजिए, वहाँ कोई छात्रवृत्ति भी मिल जावेगी। बलदेवजी के बड़े भाई जो पहिले सिंगापुर में काम करते थे, लड़ाई में ड्राइवर होकर मेसोपोतामिया चले गये थे और बलदेवजी को समय-समय पर रुपया भेजते रहते थे, इसलिए उन्हें इतमीनान था, कि जरूरत पड़ने पर वह बहिनजी की भी मदद कर सकेंगे। रामगोपालजी ने अपनी स्त्री को शिक्षा के लिए ही हमीरपुर आर्यसमाज के प्राण पंडित रामप्रसाद के यहाँ रखा था, और उनको भी लाहौर बुलाकर आगे पढ़ाने की हम लोगों की सलाह थी। तै हुआ, कि परीक्षापत्र समाप्त होते ही मैं कानपुर-हमीरपुर चला जाऊँ और बहिनजी तथा भाभी (रामगोपालजी की स्त्री) को लिवा लाऊँ।

गृह-परीक्षा में सभी विद्यार्थियों में मैं प्रथम रहा, यद्यपि व्याकरण कमजोर था, तो भी पास होने में कोई दिक्कत न हुई। यही आशा युनिवर्सिटी की परीक्षा से भी हो सकती थी। जैसे-जैसे अप्रेल का महीना और परीक्षा-दिन नजदीक आता जाता था, वैसे ही वैसे देश का राजनीतिक वायुमंडल भी गर्म होता जा रहा था। चम्पारन और खेड़ा के आन्दोलनों से दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह-विजेता कर्मवीर गाँधी का यश और प्रभाव भारत में भी बढ़ रहा था। जब तक कौंसिल-मंच पर रोलट बिल का विरोध मंच-शूर नेता कर रहे थे, तब तक लोगों में कोई खास

जागृति नहीं आई; किन्तु जैसे ही मालूम हुआ कि गांधीजी स्वयं रोलट-एक्ट का विरोध संगठित करने जा रहे हैं, तो अवस्था बहुत शीघ्रता से बदलने लगी। लाहौर में कालेज के विद्यार्थी, शिक्षित मध्यमवर्ग ही नहीं दूकानदार तक भी इधर दिलचस्पी लेने लगे। 'पैसा-अखबार' वाली सड़क पर अनारकली के पास के होटल में उस वक्त मैं खाना खाया करता था। उसी वक्त मैंने पहिले-पहिल उस श्रेणी के होटल में भी मालिक की ओर से दैनिक अखबार रखने का आयोजन देखा।–अखबार के पढ़ने के लालच से कितने ही लोग उस होटल में खाना खाना पसन्द करते।

मेरी परीक्षा 31 मार्च को शुरू हुई और 5 अप्रेल (शनिवार) को समाप्त हुई। पर्चे उतने बुरे नहीं किये थे, किन्तु जब होड़ लगाकर परीक्षक विद्यार्थियों को फ़ेल करने को तुले बैठे थे, तो इसका क्या जवाब। उस साल डी. ए. वी. कालेज से शास्त्री में एक भी विद्यार्थी पास नहीं हुआ।

छः अप्रेल (1919 ई.) को रविवार था, इसी दिन सारे भारत में रोलट-एक्ट विरोधी-दिवस मनाने की गाँधीजी ने घोषणा की थी। उस दिन के लाहौर के नजारे के बारे में क्या कहना है। सारी अनारकली सड़क ओर से छोर तक नंगे काले शिरों से भरी हुई थी। लोग तरह-तरह के नारे लगा रहे थे। जुलूस घूमते-घूमते चार बजे के बाद ब्रेडला-हॉल पहुँचा। गर्मी काफ़ी थी। लोगों को पानी पिलाने के लिए बहुत-सी सबीलें लगी हुई थीं। वहाँ, हिन्दू-मुसल्मान का कोई फ़र्क न था। एक ही गिलास से दोनों पानी पी रहे थे। राष्ट्रीयता की पहिली बाढ़ ने छूआछूत को बहा फेंका–यद्यपि वह बहा-फेंकना स्थायी नहीं था, तो भी उसमें कितनी ताकत है, इसका तो पता लग सकता था। ब्रेडला-हॉल के विशाल हॉल में सारी जनता नहीं आ सकती थी, इसलिए बाहर हाते में भी चार-पाँच जगह सभाएँ की गईं। उस वक्त अभी लाउड-स्पीकर का युग आरम्भ नहीं हुआ था, तो भी वक्ताओं ने किसी तरह अपने शब्दों को जनता तक पहुँचाया ही।

छः अप्रेल के स्मरणीय दिवस की उस स्मृति को लिये सात अप्रेल को मैं लाहौर से रवाना हुआ। माणिकचन्द (भगवती प्रसाद के भाई) ज्वालापुर महाविद्यालय में संस्कृत पढ़ रहे थे, भाई भगवती भी कोई काम लेकर हरद्वार में रहते थे। पहिले मैं हरिद्वार गया, फिर ज्वालापुर, और फिर गुरुकुलकाँगड़ी भी (उसके पुराने स्थान में)। बढ़ती हुई गर्मी, गंगा का बर्फ़ीला पानी दो ही चीजें उस समय की याद हैं। हरिद्वार से रवाना हो तिलहर-स्टेशन उतर ढकिया-बरा, अभिलाषचन्द्र के घर गया। अभिलाषचन्द्र से मिलकर मुझे हमेशा खुशी होती, उसमें कुछ ऐसी सजीवता, ऐसी साहसिकता थी, जिसकी मैं बड़ी कद्र करता था। अभिलाष ने मोटर-ड्राइवरी पास कर ली थी। फ़ोटोग्राफी भी अच्छी तरह जानता था। उसने बैठके में बहुत से देवी-देवताओं की तसवीरें लगा रखी थीं, वहाँ शराब की बोतलें और गिलास भी जमा थे। मालूम हुआ–हजरत आगे बढ़ते-बढ़ते खुफ़िया-विभाग के आँख के काँटे बन गये थे, और अब अपने पतन को प्रकट करने, तथा इसके द्वारा खुफ़िया-विभाग की आँखों में धूल झोंकने के लिए यह ढोंग रचा गया था। लेकिन कोई भी पार्ट जब निर्लाग होता है, तभी असर पैदा करता है। यहाँ अभी भी छः गोलियों का रिवाल्वर उनके पास था, आतकवादियों से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें मौजूद थीं। गर्म राजनीतिक विचार रखने पर भी मेरी इच्छा अभी आतंकवाद में जाने की न थी। शायद भीतर से साम्यवाद का असर इसका कारण हो, शायद विदेश में धर्मप्रचार की लालसा उसमें बाधक हो। अभिलाष ने हाल में शादी की थी, और उसने बतलाया किस तरह पिस्तौल के सहारे मैं स्त्री को निष्ठुरों की कैद से निकाल लाया। उनकी स्त्री ज्यादा पर्दा नहीं करती थीं, और मुझे भाभी का रिश्ता लगाने में देर न लगी। ढकिया-बरा की जिस चीज ने सबसे ज्यादा प्रभाव डाला, वह था अभिलाष की माँ का वात्सल्यपूर्ण बर्ताव। माँ के स्नेह से मैं बचपन ही में वंचित हो गया था, एक तरह बल्कि माँ का स्नेह क्या होता है, इसे देखने का मुझे मौका ही नहीं मिला। अभिलाष की माँ हमारे आपस के स्नेह को जानती थीं, इसलिए खिलाने-पिलाने, बातचीत करने में मुझे उनमें माँ का हृदय झलकता था। थीं वह गाँव की अनपढ़ स्त्री, और यद्यपि अभिलाष के दादा साधारण चौकीदार से तरक्की करके इन्स्पेक्टर-पुलिस हुए थे, तो भी पिता की ओर नजर डालने पर माँ में उस तरह के विनीत, गम्भीर, परिष्कृत व्यवहार की आशा नहीं हो सकती थी। यागेश की माँ भी अपने पुत्र के सम्बन्ध से मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन करती थीं, किन्तु वह अधिकतर भय के कारण होता था–कहीं यह मेरे बेटे को दुनिया के दूसरे छोर पर न ले भागे; किन्तु यहाँ भय कारण न

था, बल्कि कारण थे परिष्कृत हृदय और मस्तिष्क। बेटे की बातों का उन्हें पता था—वह सरकार के खिलाफ़ बातें करता है, वह पिस्तौल और बम्ब का मसाला लिये फिरता है, वह ऐसी जमात का साथ दे रहा है, जो पकड़ी जाने पर यदि फाँसी से बची, तो कालापानी ही की सजा पायेगी; हो सकता है, एक दिन वह हमेशा के लिए घर से गायब भी हो जावे। उनको अभिलाष के विवाहित जीवन से बड़ी प्रसन्नता थी, और समझती थीं कि हवा के हिलोरे में उड़ती-फिरती सूखी पत्ती पर थोड़ा भार रख दिया गया है। मुझे अभिलाष का ब्याह पसन्द नहीं आया। मैं चाहता था, अभिलाष सूखी पत्तियों की भाँति ही हलका रहे, जिसमें उसकी उड़ान में कोई बाधा न हो। अभिलाष का ब्याह के बाद का वह मधुमास था—तरुण नागरिक सुन्दरी के समागम का मधुमास। उस समय उसे कहाँ खयाल था, कि वह कितनी कीमत पर इन सुनहली बेड़ियों को खरीद रहा है ? अब कुछ समझाना बेकार था। मैंने उसके सामने प्रस्ताव रखा, कि धीरे-धीरे युक्तप्रान्तीय सरकार की मेकेनिकल इंजीनियरिंग परीक्षा पास कर लो, उसने इसे स्वीकार किया, और माँ ने भी समर्थन किया। आखिर, कमाई का कोई उपाय किये बिना अभिलाष और उनकी पत्नी का जीवन भी तो चल नहीं सकता था।

ढकिया-बराह स्टेशन से काफ़ी दूर है, फिर एक से अधिक नदी-नालों को पार कर जाना पड़ता है, गाँव के पास भी नदी है। हम लोग ठंडा होने पर शाम को नदी के किनारे दूर तक टहलने जाया करते थे। मेरा स्वप्नाना तो ओज पर था, और अभिलाष भी अभी अपने को पहिले ही जैसा समझते थे। अब भी हमारी बातें लम्बी उड़ान के बारे में ही हुआ करती थीं। शाम के वक्त लाल चकवा-चकई नदी के किनारे चर रहे थे, मैंने नाम सुना था, किन्तु उन्हें देखा न था। अभिलाष ने जब इसे बतलाया, तो मैंने गम्भीर हो पूछा—'क्या सचमुच रात को यह जोड़ा अलग-अलग हो जाता है ? एक नदी के उस पार और एक नदी के इस पार ?' मालूम नहीं अभिलाष ने इसका क्या उत्तर दिया।

दो-चार दिन बाद (12 अप्रेल को) मैं स्टेशन को लौटा। अभिलाष भी मेरे साथ तिलहर आये। कस्बे से थोड़ा पहिले ही अभिलाष के एक परिचित बहली पर जा रहे थे, उन्होंने बतलाया, कि अमृतसर में गोली चल गई। जलियाँवाला का भीषण हत्याकांड उन शब्दों से प्रकट नहीं हो रहा था, क्योंकि उन्होंने खबर को ताजे अखबार में पढ़ा था। तो भी खबर काफ़ी संगीन मालूम हुई।

खरवा के रावसाहेब उस समय तिलहर के डाकबँगले में नजरबन्द थे। अभिलाष उनसे एकाध बार मिले थे। मुझे मालूम होने पर मैं भी मुलाकात करने का इच्छुक हो गया। हम दोनों रावसाहेब के बँगले पर गये। अभिलाष ने अपना साथी नौजवान कहकर मेरा परिचय दिया। रावसाहेब ने हिम्मत की परीक्षा करने के लिए पूछा—"आपको कोई उज्र तो नहीं होगा, यदि मैं पुलिस को बतलाने के लिए आपका नाम नोट कर लूँ। नजरबन्द होने से मेरे लिए यह पाबन्दी है।" मैंने स्वाभाविक तौर से कहा—"नहीं, कोई उज्र नहीं, आप जरूर नोट कर लें, केदारनाथ।" रावसाहेब की बातों में अंग्रेजों के प्रति भयंकर विद्वेष भरा था। उन्होंने कुछ स्वरचित कविताएँ सुनाईं, जिनमें से एक का एक अंश अब भी याद है—"गौरांगगण के रक्त से निज पितृगण तर्पण करूँ।"

तिलहर से कानपुर आया। अखबारों से अमृतसर गोलीकांड की कुछ और खबरें मालूम हुईं। किन्तु, अव्वल तो 'एसोशियेटेड प्रेस' जैसी अर्द्धसरकारी समाचार-एजेन्सी छोड़ खबर पाने का दूसरा कोई जरिया नहीं था; होने पर भी सरकार के डर से उन्हें छापने की कितनों की हिम्मत होती। कानपुर में छोटेलाल-गयाप्रसाद ट्रस्ट के महिलाश्रम में मैं बहिन महादेवी से मिला। तै पाया, कि हमीरपुर से रामगोपालजी की पत्नी जानकीदेवी को भी लाकर यहाँ से पंजाब चला जावे।

13 अप्रेल को हमीरपुर स्टेशन पर पहुँचा। हमीरपुर-रोड से हमीरपुर काफ़ी दूर है। शायद मैं ऊँटगाड़ी से गया था। शहर के पास नावों के पुल से यमुना पार करनी पड़ी। उस साल फ़सल मारी गई थी, अकाल* था और लोग पशुओं को दरख्तों के पत्ते खिला रहे थे। जानकीदेवी गाँव से निकलकर पहिले-पहिल शहर में आई थीं। पति के लिखने पर आने के लिए 'हूँ' तो कर दिया था, किन्तु अब मेरे पहुँचने पर लज्जा ने उन पर फिर

---

* गेहूँ रुपये का 5 सेर और चना 6।। सेर था।

जोर मारा। यद्यपि अपने पति से मेरे और उनके भ्रातृत्व को वह अच्छी तरह सुन चुकी थीं, तो भी लज्जा पर विजय पाना उनके लिए असम्भव मालूम हुआ, और उन्होंने चलने से इन्कार कर दिया।

8
मार्शल-लॉ के दिन (अप्रेल-मई 1919 ई.)

कानपुर लौटा। बहिनजी के चलने का तो सब इन्तिजाम हो गया, किन्तु स्टेशन में पूछने पर मालूम हुआ, जलन्धर का टिकट ही नहीं मिल रहा है, पंजाब में मार्शल-ला जारी हो गया है। इस अनिश्चित स्थिति में कानपुर में रहना, खासकर मेरी जैसी तबियत के आदमी के लिए मुश्किल था। पंजाब के नर-नारियों पर—जिनमें लाहौर के मेरे कितने ही साथी भी थे—जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें देखने और हो सके तो उसमें से कुछ को अपने शिर पर भी लेने के लिए मैं उत्सुक हो गया। बहिनजी भी आश्रम से विदा हो आई थीं। पूछने पर वह भी साथ ही चलना चाहती थीं। पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ, पंजाब में चलनेवाली ट्रेनों के टाइमटेबुल रद्द हो चुके हैं, कानपुर से गाजियाबाद तक का टिकट मिल सकता है। (16 अप्रेल को) मैंने गाजियाबाद के दो टिकट लिये। शायद ट्रेन में ज्यादा भीड़ न थी।

जिस वक्त हमारी ट्रेन गाजियाबाद पहुँची, उस वक्त अभी रात का अँधेरा था। स्टेशन पर सशस्त्र पहरा था, और बालू की बोरियों को रखकर मोर्चाबन्दी की गई थी। साहेब-साहेबिन शंकित-से एक जगह खड़े या बैठे थे। महायुद्ध के समय हमें ऐसा दृश्य देखने में नहीं आया था।

पता लगाने पर मालूम हुआ, सहारनपुर के रास्ते अम्बाला-छावनी का टिकट अब भी मिल रहा है। बिना जरा भी देरी किये (17 अप्रेल को) फिर दो टिकट कटाये, और अम्बाला के लिए रवाना हुआ। सहारनपुर से हमारी गाड़ी में बड़ी भीड़ थी। हरिद्वार से वैशाखी स्नान कर बहुत से नर-नारी लौट रहे थे।

अम्बाला-छावनी में मालूम हुआ—आगे का टिकट बन्द है। बहिनजी को साथ लिये अम्बाला-छावनी के आर्यसमाज में पहुँचा। रहने के लिए ठीक जगह मिल गई। दस-पन्द्रह दिन भी रहना होता, तो खाने-रहने की हमें कोई तकलीफ़ न होती; किन्तु इस प्रकार रास्ते में—और फिर लाहौर के अपने साथियों से दूर रहना मुझे असह्य मालूम होता था। लाहौर में भी गोली चली है, इसकी भी खबर मिल चुकी थी, और पंजाब में होने से यहाँ अफ़वाहें भी बहुत ज्यादा उड़ रही थीं। मैं दिन में कई बार स्टेशन जा जलन्धर की ट्रेन के बारे में पूछता रहा। (18 अप्रेल ही को) मालूम हुआ, कि पहिले-दूसरे दर्जे के डाकवाले टिकट जलन्धर के लिए मिल रहे हैं। भीड़ का मत पूछिए। बहिनजी को तो गठरी-मोटरी दे जनाने दूसरे दर्जे में किसी तरह बैठा दिया, और मैं अपने डब्बे में घुसने में इसीलिए सफल हुआ, कि मेरे पास कोई सामान न था, मैं अभी छब्बीस साल का छरहरा जवान था। अप्रेल की दोपहर की गर्मी में, बैठे और खड़े आदमियों से खचाखच उस भरी गाड़ी में हवा के बिना दम घुट रहा था। तो भी गाड़ी में जगह मिल जाने को मैं गनीमत समझ रहा था। निःशस्त्र साधारण-सा आन्दोलन, जलियाँवाला-बाग का रोमांचक नर-संहार, मार्शल-ला, और रेलों तथा यातायात के साधनों की यह अव्यवस्था—इन्हें देख मैं युद्ध के दिनों के यूरोपीय जीवन का कुछ अनुभव कर रहा था। सदियों से चले जाते देश के निर्जीव शान्त जीवन को मैं बिलकुल पसन्द नहीं करता था। अशान्त जीवन में मेरा पार्ट क्या होना चाहिए, इसे मैं निश्चय नहीं कर पाया था; तो भी मैं उसे पसन्द करता था। उसी से परिवर्तन की आशा थी, और ऐसे जीवन के लिए कीमत चुकाने को मैं तैयार था।

जलन्धर-छावनी पर उतर जाने पर मालूम हुआ, कन्या महाविद्यालय जलन्धर शहर से नजदीक है। खैर दूसरी ट्रेन के लिए चौबीस घंटे की प्रतीक्षा और गाड़ी में घुसने की वह यन्त्रणा अब सोचने की भी बात न थी। मैंने आर्यसमाज (गुरुकुल-विभाग) के लिए एक ताँगा किया, और बहिनजी को लिये चल पड़ा। कानपुर

से ही मैं अपनी मानसिक उत्तेजनाओं में व्यस्त था। एकाध बार जब आगे के टिकट के बारे में मैं बहिनजी से कुछ पूछता, तो वह 'हाँ' कर देतीं। मैंने उनके मानसिक भावों के जानने की कभी कोशिश न की। मार्शल-ला के दिनों में, गोरों और सैनिकों के राज्य में इस तरह चलना मेरे अपने लिए कोई परवाह की बात न थी, किन्तु जिस तरह बहिनजी को लिये मैं बेतक़ल्लुफ़ी से सैर-सपाटे के भाव में यात्रा कर रहा था, वह कभी वांछनीय नहीं समझा जा सकता था। तो भी बहिनजी जरा भी भयभीत नहीं थीं, शायद ख़तरे का उन्हें उतना ज्ञान न था।

ताँगेवाला पूरबिया निकला। बलिया या आरा जिले से उसके बाप-दादा यहाँ छावनी में साईसी करने आये थे, और एक तरह से यहीं बस गये थे। मुझे मालूम था, कि इन पूरबियों में शिवनारायणीपन्थ का बहुत प्रचार है। मैंने उससे जमात के 'लिखनीचंद', 'प्रधान' आदि के बारे में पूछा। ताँगेवाला समझ गया मैं भी शिवनारायणी हूँ, क्योंकि बिना शिवनारायणी हुए कोई उन गुप्त शब्दों को जान नहीं सकता। उसने अपने यहाँ आने का आग्रह किया। मुझे उस वक्त खयाल आ रहा था, कनैला की बूढ़ी चमारिन गरिबिया का। सन् चार के अकाल में उसका घर उजड़ गया। सिर्फ़ एक लड़की बची थी, जिसका ब्याह पंजाब की ऐसी ही किसी छावनी के आदमी से हुआ था, जिसे कभी-कभी मैंने कनैला में देखा था।

हम आर्यसमाज में ठहरे। सन्तरामजी से मुलाकात हुई, और बहिनजी के आश्रम में दाखिल होने में कोई दिक्कत नहीं हुई। लाहौर का रास्ता बन्द था। मार्शल-ला चल रहा था, किन्तु अब गोलियाँ नहीं चल रही थीं। अमृतसर नजदीक होने से वहाँ के बारे में लोग बतला रहे थे–डायर ओडायर की गोली के निशाना कुछ सौ नहीं, हजार से कहीं ज्यादा स्त्री-पुरुष-बच्चे बने। डाक्टर सत्यपाल, डाक्टर किचलू के नेतृत्व में अमृतसर की जनता ने कितनी निर्भीकता प्रदर्शित की, इसकी बहुत-सी अतिरंजित खबरें हमें मिलने लगीं।

लाहौर अब दूर की बात थी। बलदेवजी या रामगोपालजी के पत्र से यह खबर मिली, कि हमारे सभी परिचित बच गये हैं। अब जलन्धर में किसी तरह दिन काटना था। सन्तरामजी से पहिले कई बार बातचीत करने का मौका मिला था, किन्तु साथ रहने का यह पहिला मौका था। हमारी तबियतें कुछ एक दूसरे-सी मिलती हैं, इसका भी हमें आभास था। सन्तरामजी ने रहने के लिए मकान तो ले लिया था, किन्तु अभी खाना पकाने का कोई इन्तिजाम न था। शाम के वक्त रोज हम स्टेशन पर तन्दूर की रोटी खाने जाते थे। तन्दूर से निकलती गरमा-गरम करारी रोटी, प्याज की चटनी के साथ कितनी मीठी लगती है, इसका अनुमान खानेवाले ही लगा सकते हैं। स्वाद और स्वास्थ्य दोनों की दृष्टि से ऐसा अच्छा भोजन संसार में मिलना मुश्किल है।

जलन्धर के अस्थायी निवास में कई नये परिचित बने। हमारे लाहौर के पुराने दोस्त रामदेवजी इस वक्त यहाँ के नये खुले डी. ए. वी. इंटरमीजियट कालेज में प्रोफ़ेसर थे, और अपने दूसरे साथी प्रोफ़ेसर ज्ञानचन्द के साथ एक ही मकान में रहते थे। वहाँ प्याज डालकर तन्दूर में पकी रोटियाँ मक्खन-सहित मट्ठे के साथ खाने में ही 'मन्ना' नहीं मालूम होती थी, बल्कि प्रोफ़ेसर-द्वय के योग-ध्यान-सम्बन्धी नये एड्वेंचर की कथा बड़े मनोरंजन की बात रही। योग, मन्त्र, देवता के आकर्षणों से मैं पहिले ही गुजर चुका था, इसलिए मेरे लिए उनमें कोई खिंचाव न था; किन्तु मैं देखता था, बिना स्वयं भुक्तभोगी बने लोग इन आकर्षणों के खिलाफ़ कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं होते। प्रोफ़ेसर रामदेव बी. ए. (आनर्स, पीछे एम. ए. भी) और प्रोफ़ेसर ज्ञानचन्द एम. ए. होकर स्वामी दयानन्द के ग्रंथों में योग की महिमा पढ़ उस महान् साधना की ओर प्रेरित हुए। कानों-कान उड़ती खबर उन तक पहुँची–'आजकल स्वामी सियाराम नाम के एक महान् योगी हृषिकेश के आसपास रहते हैं। वह सिद्ध-पुरुष हैं, विरले ही वैसे महापुरुष संसार में पैदा होकर माता की कोख को पवित्र करते हैं। वह एम. ए. हैं, प्रोफ़ेसर रह चुके हैं।'

दोनों तरुण चुम्बक से खिंचे लोहे की भाँति दौड़कर स्वामी सियाराम के पास पहुँचे। स्वामी सियाराम ने पहिले तो कितने ही दिनों तक शिष्यों की श्रद्धा की परीक्षा की। अधिकारी पा, योग प्रारम्भ करने से पहिले की साधनाएँ शुरू कराईं। महीनों मूँग के रस और निराहार का सेवन कराया। और भी क्या-क्या व्रत रखवाये। और योगध्यान क्या बतलाते, दोनों प्रोफ़ेसरों के कथनानुसार–अपने में अटल श्रद्धा का उपदेश करते,

योग की जगह वह यमराज के समीप हमें पहुँचाना चाहते थे। खैर ! समय से पहिले दोनों जने की आँखें खुल गईं। सियाराम और योग के फंदे से बचकर वे सही-सलामत लौट आये, और अब वे कालेज में प्रोफ़ेसरी कर रहे थे।

लाला देवराज के पास भी हम अक्सर जाते थे, उनकी बातें मनोरंजक होती थीं; किन्तु हमारी आयुओं में युगों का अन्तर था, इसलिए वहाँ वह मनोरंजन नहीं होता था, जो कि प्रोफ़ेसर-द्वय के यहाँ। हाँ, उस वक्त हमारी ही समवयस्का एक और मूर्त्ति जलन्धर में विद्यमान थी, जिसने यौवन के सरोवर को सुखाकर, सजीवता के उद्यान को जलाकर, ब्रह्मचर्य के कठोर पुरातन-पथ को अपनाया था। मैं भी ऋषि दयानन्द का भक्त था, विदेश में धर्मप्रचार के लिए ही अपने को तैयार कर रहा था, किन्तु जिन्दगी भर मन की ताजियादारी करना मुझे पसन्द नहीं था। सन्तरामजी भी मजाकपसन्द आदमी थे। हमें ब्रह्मचारीजी का व्यवहार उपहासास्पद-सा मालूम होता था, यद्यपि हम उनकी नीयत पर हमला करने के लिए विलकुल तैयार न थे; बल्कि उनके त्याग की दाद देते थे। ब्रह्मचारीजी मुजफ्फ़रनगर जिले के रहनेवाले तरुण थे। वह स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की पुस्तकों को पढ़कर आर्यसमाजी हो गए फिर आर्यसमाज के आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करने तथा स्वामी दयानन्द की शिक्षा के अनुसार वेदविद्या पढ़ने के लिए वह घर से निकल पड़े। घर से निकलने से पहिले अपनी सारी सम्पत्ति को—जो कि उनके जीवन के लिए काफ़ी थी—दान कर दिया। जहाँ-तहाँ घूमते-घामते वह जलन्धर पहुँचे। वह दस आर्यसमाजी गृहस्थों के घरों से मधुकरी माँगकर भोजन किया करते, ब्रह्मचारियों जैसा तहमद और लँगोट पहनते, लकड़ी के खड़ाऊँ पर चलते। पढ़ने में भी ऋषि दयानन्द के बताये अनुसार ही पढ़ते, सिद्धान्तकौमुदी आदि सभी अनार्षग्रंथों की छाया से भी परहेज करते। उस समय अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे आर्ष-ग्रंथों के पढ़ानेवाले पंडित दुर्लभ थे, इसलिए वह स्वयं ग्रंथों का स्वाध्याय करते। कन्या-महाविद्यालय के धर्मशिक्षक भक्त रैमलजी आर्यसमाज के मंत्री, तथा बहुत से श्रद्धालु आर्यसमाजी ब्रह्मचारीजी को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। हम भी उनसे सर्वथा वीतश्रद्ध न थे, तो भी कुछ बातें हमें अवश्य बहुत पुरानी मालूम होतीं, और यदि गाँव-भर की स्त्रियाँ 'भवेह' (अनुजवधू) मान ली जाये, तो आखिर मजाक किनसे किया जावे ?

ब्रह्मचारीजी गर्मियों में काँगड़ा-पहाड़ के लिए रवाना होनेवाले थे। सन्तरामजी और मेरी सलाह हुई कि ब्रह्मचारीजी को एक विदाई-भोज, तथा अभिनन्दन पत्र दिया जावे। भक्त रैमल को शामिल नहीं किया था। आर्यसमाज के मन्त्री को सिर्फ़ संख्या बढ़ाने के खयाल से शामिल किया। हम दोनों ने मिलकर एक अभिनन्दन पत्र तैयार किया। भोज के लिए तेल में तली सिर्फ़ प्याज की पकौड़ियाँ दोनों में रखी गईं। ब्रह्मचारीजी खड़ाऊँ पर, अँचला पहने, चादर ओढ़े, नंगे शिर आकर कुर्सी पर बैठे। सब मिलाकर पाँच से ज्यादा आदमी वहाँ मौजूद न थे। कार्रवाई शुरू करते हुए मैंने कहा—इस सभा में मुझसे योग्य कोई व्यक्ति इस पद के लिए नहीं है, इसलिए मैं सभापति के आसन को शोभित करता हूँ। चार कान कुछ खड़े तो जरूर हुए, किन्तु अभी वह उतनी दूर तक सोचने के लिए तैयार न थे। फिर पंडित सन्तरामजी ने अभिनन्दन पत्र पढ़ना शुरू किया—

"... हम याद करके तड़प-तड़पकर मरेंगे, जब आपकी खड़ाऊँ पर खट-खट करती सूरत स्मरण होगी।... जब आपकी गगनचुम्बिनी शिखा..."

ब्रह्मचारीजी कुर्सी से उठकर भागने लगे। सभापति और अभिनन्दन-वाचक ने मिन्नतें कर-करके ब्रह्मचारी को तो रोका, किन्तु मन्त्रीजी अलग आँखें लाल-पीली कर रहे थे—'ब्रह्मचारी को तेल की पकौड़ी खिलाना किस शास्त्र में लिखा है ?'

फिर अभिनन्दन पत्र शुरू हुआ, फिर अनुप्रासों की छटा और नखशिख-वर्णन। फिर ब्रह्मचारी भागने लगे। याद नहीं, तीसरी बार हम लोग ब्रह्मचारी को लौटाने में समर्थ हुए या नहीं। अभिनन्दन पत्र शायद ही समाप्त हुआ हो। मन्त्रीजी तो पहिले ही सटक गये।

उस दिन बड़ा मजा रहा। दूसरे दिन भक्त रैमलजी को जब यह खबर मिली, तो उन्होंने हमें फटकारना शुरू किया—'ब्रह्मचारी से मजाक ? 'मजाक नहीं बेसरो-सामानी के साथ भोज-अभिनन्दन पत्र का दान था।' 'तेल

की पकौड़ी ब्रह्मचारी को ?" 'किस शास्त्र में ?' हम लोग ज्यादातर शिर नीचे गाड़कर सुनते ही रहे। इस घटना के बाद मन्त्रीजी और भक्त रैमलजी ने निश्चित कर लिया, कि मैं विदेश में क्या देश में भी धर्मप्रचार करने लायक नहीं हूँ।

कई दिन के इन्तिजार के बाद भी जब लाहौर का रास्ता न खुला, तो सन्तरामजी की सलाह हुई घर हो आने की। हम लोग रेल से जा होशियारपुर में उतरे। पुरानी बस्ती वहाँ से बहुत दूर नहीं है। सन्तरामजी गाँव में न रह अपने बागवाले मकान में रहा करते थे। बाग में आड़ू, लुकाट आदि के कितने ही दरख्त थे, जिनमें एक यारकन्दी तुर्क माली काम कर रहा था। सन्तरामजी की स्त्री (पहिली पत्नी) घर का काम-काज करने में असाधारण क्षमता रखनेवाली स्त्रियों में थीं। वह रोज हमें नाश्ता, मध्याह्न भोजन, सायं भोजन बनाकर खिलातीं। एक दिन सबेरे बरतन ले दूध दूहने गईं, दोपहर को मालूम हुआ–लड़की पैदा हुई है। मुझे विश्वास नहीं हुआ, किन्तु बात सच थी। हवन कराने में व्यास मैं था, और बच्ची का गार्गी जैसा वैदिक नाम चुनना भी मेरा ही काम था। उसके बाद हम खाना खाने गाँव में जाया करते।

सन्तराम के भाई-बन्द पचासों बरसों से चीनी तुर्किस्तान के व्यापारी हैं। उनके परिवार में दर्जनों ऐसे थे, जो यारकन्द, खोतन, लदाख में बरसों रह आये थे, और फिर जाने के लिए तैयार बैठे थे; वे तुर्की और तिब्बती भाषाएँ फरफर बोलते थे। दूर देश का नाम, वहाँ के घर, गाँव, शहर, वहाँ के रीति-रवाज की कथा चल रही हो और 'सैर कर दुनिया की' ऋचा मेरे कानों में न गूँजने लगे। रायसाहेब (सन्तरामजी के चचा) ने बतलाया–जाना मुश्किल नहीं, पासपोर्ट (?) लेना होगा, उसके बाद का इन्तिजाम हम लोग कर देंगे। खाने में वहाँ का काला किन्तु मिश्री के दानों की तरह चमकते दानोंवाला गुड़ दही के साथ खाने में बड़ा स्वादिष्ट मालूम होता था। और सरसों का सूखा साग इतना स्वादिष्ट हो सकता है, इसका मुझे कभी खयाल भी न आया था। मुझे उस वक्त हलायुध का यह श्लोक बार-बार याद आता था–

"नूतनसर्षपशाकं पिच्छलीनि च दधीनि।
अल्पव्ययेन स्वादु ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति।"

सन्तरामजी के दो या तीन भतीजे और भतीजियों के गोरे गुलाबी रंग को देखकर मुझे यही खयाल आया, कि यूरोपीय जातियों का-सा सुन्दर रंग भारत में भी देखा जा सकता है। अभी तक कश्मीर के पंडितों को मैंने नहीं देखा था।

पुरानी बस्ती से हम लोग होशियारपुर पैदल आये, और फिर ताँगा बदलते जलन्धर शहर आ गये। थोड़े ही दिनों बाद टिकट मिलने लगा, और मैं लाहौर पहुँच गया।

लाहौर में भी लाहौरी दरवाजे पर गोली चली थी, जहाँ मरनेवालों में मुंशीराम शास्त्री एक तरुण विद्यार्थी था। इसी साल उसने शास्त्री परीक्षा दी थी, और परिणाम के इतना खराब निकलने पर भी वह पास देखा गया, यद्यपि उस वक्त वह उसे सुनने के लिए मौजूद न था। मुंशीराम अनाथालय में पला था, और एक होनहार नौजवान था।–'हसरत उन गुंचों पै है, जो बिन खिले मुर्झा गये।' उसे कई गोलियाँ लगी थीं, देखनेवाले साथियों ने बतलाया, कि सभी गोलियाँ सामने से उसकी छाती, बाँहों और जाँघों में घुसी थीं। मुंशीराम जैसे कितने बहादुरों ने मार्शल-ला के हाथों–क्रोधान्ध ब्रिटिश शासकों के हाथों–अपनी जानें गँवाईं।

अभी मार्शल-ला जारी ही था, जब कि मैं लाहौर पहुँचा। अखबार पढ़ने को बहुत कम मिलते थे। जगह-जगह फौजी आज्ञाएँ चस्पाँ थीं–लोगों को कब चलना चाहिए, कब सोना चाहिए, दूकानदारों को चीजें किस भाव बेंचनी चाहिए··· नहीं तो क्या दंड होगा। इस वक्त पंजाब के लेफ्टिनेंट-गवर्नर ओडायर को अपनी हृदयहीनता का पूरा परिचय देने का मौका मिला था। सेना ने निहत्थे स्त्री-पुरुषों, बाल-वृद्धों पर जो अत्याचार किये थे, उनकी कथाएँ सुनकर खून खौलने लगता था। म्युजियम की ओर मार्शल-ला की अदालतें बैठती थीं। पकड़े हुए लोगों के भाग्य का निबटारा देखने के लिए उनके सम्बन्धी सहस्रों नर-नारी जमा रहते थे, और बेगुनाहों की फाँसी, लम्बी-लम्बी सजाएँ सुन-सुनकर हमारे जैसों को अपनी बेबसी पर गुस्सा और ग्लानि होती थी। भगवान में मेरा

विश्वास अभी टूटा नहीं था, तो भी सोचता—उनका न्याय आज क्यों नहीं होता ? आज इन अदालतों पर बिजली क्यों नहीं गिरती ? पहिले गोले-गोलियों, हवाई-जहाजों से नन्हें-नन्हें बच्चों के खून से हाथ रँग के पीछे फाँसी-डामिल का हुक्म सुनानेवाले इन आततातियों की जीभ कट हजार टुकड़े हो क्यों नहीं गिरती ? ऐसी अत्याचारी कौम का बेड़ा महायुद्ध में क्यों नहीं हमेशा के लिए गर्क हो गया ?

गर्मियों में पंजाब में ल्हस्सी (मट्ठा) पीने का बहुत रवाज था, किन्तु दही नौ बजते-बजते साफ़ हो जाती थी। फ़ौजी अफ़सर ने दर मुकर्रर कर दी थी, उससे बेशी दाम पर बेंचने पर कड़ी सजा और जुरमाना होता। लोग सबेरे ही दही की दूकान पर भीड़ लगा देते थे। हाँ, केसरीदास का लेमनेड, लाइम-जूस इसी वक्त सारे नगर में प्रसिद्ध हुआ था। यह दूकान वंशीधर के मन्दिर से बिलकुल पास थी, इसलिए हम लोग अक्सर वहाँ पहुँच जाते थे।

रोलट-एक्ट के विरुद्ध जो भारी विद्रोह की यह भावना पैदा हुई थी, उसने बहुत से मुर्दों में रूह डाल दी थी, किन्तु मार्शल-ला के दिनों ने इनमें से कितनों को सड़ी लाशों में परिणत कर दिया। कल के रँगे सिंह आज अपने असली रूप में दिखलाई देने लगे। कल जिनके नाम जोशीली नोटिसों पर छपते थे, आज वह सरकार की फ़रमाबरदारी के लिए नोटिसें निकाल रहे थे। वे ओडायरशाही की खुशामद के लिए रास्ते में पड़ी अपने शहीदों की लाशों पर से पैर रखकर जाने में जरा भी आनाकानी नहीं करते थे। पंजाब ने इन्हें 'कुत्ते', 'झोली-चुक्क' के खिताब दिये, जिसकी चोट से उन्हें बचाने में मार्शल-ला भी असमर्थ रहा। उस वक्त के इन 'झोली-चुक्कों' पर पीछे सरकार की पूरी कृपा होना स्वाभाविक था, और उसने उन्हें सर, मिनिस्टर और क्या-क्या नहीं बनाये। किन्तु देश क्या उनके गुनाहों को भुला देगा ? जो देश अपने विश्वासघातियों को उनके किये का मजा नहीं चखाता, वह अपनी इज्जत और स्वतन्त्रता को कभी नहीं कायम रख सकता।

मार्शल-ला का लोगों पर आतंक छा गया था, किन्तु उस आतंक का जरा भी असर हमारे जैसों पर नहीं था। जासूसों का जाल बिछा रहने पर भी मित्रमंडली में अंग्रेजी शासन के खिलाफ़ हमारी टिप्पणियाँ उसी तरह होती थीं। अंग्रेजी शासन के प्रति हमारी घृणा कई गुना बढ़ गई थी, और 'झोली-चुक्क' हमारे मानसिक कोप की आग में बुरी तरह भस्म हो रहे थे। पंजाब के अखबार करीब-करीब बन्द थे, हम खबरों के लिए दूसरे प्रान्तों के पत्रों का इन्तिजार करते। दिल्ली के 'विजय' (सम्पादक, इन्द्रजी) की कापियाँ आते के साथ बिक जाती थीं। कुछ ही दिनों बाद जब मालूम हुआ, कि दिल्ली के एक संस्कृत के पंडित—खुशामद के बल पर महामहोपाध्याय—विजय की खबरों और लेखों को जाँचने के लिए सेन्सर बने हैं, तो वैसे पंडितों के खिलाफ़ हमारी घृणा की सीमा नहीं रह गई। मैं सोचा करता—आखिर किस स्थायी लाभ के लिए ये लोग इतने नीचे गिरते हैं ? पेट तब भी उनका चल रहा था। कुछ पैसे ज्यादा मिल गये, किन्तु वह तो सदा के लिए नहीं मिलते रहेंगे। उस वक्त देशद्रोह से हजारों रुपये पैदा करनेवाले कुछ तो पीछे दाने-दाने को तरसते देखे गये।

मार्शल-ला हटा, किन्तु इसी समय अफ़गानिस्तान-अंग्रेज युद्ध की खबरें आने लगीं। सारे बेल्जियम, आधे फ्रांस, तथा उनके दोस्तों की बहुत-सी भूमि पर बढ़ते चले जाने पर भी जब अंग्रेज दुनिया-भर में अपनी ही जीत की खबरें फैला रहे थे, तो अफ़गानिस्तान के युद्ध के बारे में हमें सच्ची खबरें मिलने पायेंगी, इसकी तो सम्भावना ही न थी। तो भी हम लोगों का दिया फ़ैसला सदा अंग्रेजों के खिलाफ़ रहता।

घटनाओं की गर्मी के बीच से हमें लाहौर की उस साल की गर्मी बीतते मालूम न हुई। बलदेव और सोमयाजुलू घर चले गये थे, और परीक्षा-परिणाम की खबर देने को कह गये थे। क्रमशः परिणाम निकले। मैं अपनी सारी शास्त्री-जमाअत के साथ अनुत्तीर्ण, बलदेव पास, सोमयाजुलू फ़ेल। बरसात शुरू होना चाहती थी, पढ़ाई के शुरू होने में अभी दो महीने की देर थी। पसीनों के बाद बदन में छोटी-छोटी फुन्सियाँ शुरू हुईं, मुझे लाहौर में उदासी मालूम होने लगी। उसी समय पंडित गोविन्ददास को मैंने एक पत्र लिखा, उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक चले आने के लिए लिख भेजा।

9
चित्रकूट की छाया में (1919-20 ई.)

जूही से जब मैं बाँदा की लाइन पर चल रहा था, तो देखा ताल-तलैया भरी हुई हैं। ढाई मास पहिले यहीं मैंने लोगों को दरख्तों के पत्तों से पशुओं की प्राण-रक्षा करते देखा था। महोबा-स्टेशन पार होते वक्त मुझे पादरी ज्वालासिंह के मुबाहिसे की बात याद आई; किन्तु इस बार मैं वहाँ के किसी परिचित आर्यसमाजी से भेंट करने की चाह नहीं रखता था। कर्वी में स्टेशन से उतरकर–महन्त जयदेवदास के मठ में पहुँचा। अयोध्या के परिचित मित्रों में मिले सिर्फ़ व्याकरणाचार्य पंडित गोविन्ददास पाठशाला के प्रधानाध्यापक।

महन्त जयदेवदास चित्रकूट-मंडल के वैरागी महन्तों में सबसे अधिक धनी और प्रतिष्ठित महन्त थे। धनी होने पर भी उनको अभिमान न छू गया था। वेष-भूषा से तो मालूम होता, कि कोई मामूली रमता साधु हैं। खाने-पीने का भी उन्हें शौक न था। यद्यपि वह मामूली हिन्दी-भर जानते थे, किन्तु विद्या के प्रति उनका स्नेह था, इसीलिए तो उन्होंने संस्कृत की एक बड़ी पाठशाला खोल रखी थी। श्रावण में रासलीला और संस्कृत पाठशाला ये दो उनके शौक की चीजें थीं। दोनों के लिए उन्होंने कुछ जायदाद अलग कर दी थी। रासलीला के लिए पत्थर के खम्भों की एक खुली बारादरी बनवाई थी, जो पाठशाला के क्लास-रूम का भी काम देती थी। विद्यार्थियों के रहने के लिए मठ के बाहरी ओर भी बरांडेसहित कितनी ही कोठरियाँ थीं, जिनमें मठ और आवासों में न आ सकनेवाले साधुविद्यार्थी रहते थे, इन्हीं कोठरियों में बारादरी से तीसरी या चौथी कोठरी में मेरा आसन था। गृहस्थ (ब्राह्मण) विद्यार्थियों के रहने के लिए बारादरी से दक्खिन एक मकान था। उस वक्त पंडित गोविन्ददास के अतिरिक्त पंडित जगदीश त्रिपाठी और पंडित शिवनारायण शुक्ल दो और अध्यापक थे।

मेरा इरादा कलकत्ता की किसी परीक्षा में बैठने का था। वेदमध्यमा पास हो गया था, इसलिए वेदतीर्थ में मैं बैठ सकता था, किन्तु यहाँ उसके किसी ग्रंथ का कोई अध्यापक न था। पाठशाला के विद्यार्थी अधिकतर काशी की सरकारी परीक्षा देते थे। पंडितजी की राय हुई, कि मैं सम्पूर्ण न्यायमध्यमा में बैठूँ। स्मरणशक्ति अब भी मेरी क्षीण न थी; किन्तु रटने को मैं बड़ी नफ़रत की निगाह से देखता था, इसलिए सफलता में सन्देह था। आगे चलकर सांख्य-मध्यमा (बिहार), साधारण दर्शन-मध्यमा (कलकत्ता), मीमांसा-प्रथमा (कलकत्ता) के लिए भी फ़ार्म भरे; जिनमें बिहार की परीक्षा में तो दूसरी परीक्षा के उसी समय पड़ जाने से बैठ नहीं सका। उसी विषय की प्रथमा जिसने पास नहीं की है, वह मध्यमा में नहीं बैठ सकता, इस नियम के अनुसार साधारणदर्शन मध्यमा में मुझे बैठने की इजाजत नहीं मिली।

सावन में रासलीला शुरू होने से पहिले ही मैं कर्वी पहुँच गया था। रामलीला तो पहिले भी कितनी ही बार देख चुका था, किन्तु रासलीला देखने का यह पहिला मौका था। रात को दर्शक नर-नारियों की बड़ी भीड़ लगती थी। मथुरा की मंडली थी, और 'पारखी' लोग बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। मुझे तो उनके संलाप अस्वाभाविक, वेष बेहूदे, गान अश्लील मालूम होते थे। मैं तो इस बात के लिए तअज्जुब करता था, कि मंडली का अध्यक्ष अपने बेटे-भतीजे में से एक को राधा और दूसरे को कृष्ण का वह प्रेमाभिनय नाट्य करने की इजाजत कैसे देता है ? किन्तु ऐसा भाव प्रकट करते हुए मैं यह भूल जाता, कि मैं वैरागी ऊपर से दिखलाने-भर के लिए था, और भीतर से आर्यसमाज के विचार उन बातों का विरोध कर रहे थे।

न्याय के दो-एक ग्रंथों को मैंने पंडित गोविन्ददासजी के पास पढ़ा, और योग सूत्र, सांख्यकारिका को याद किया। शास्त्री में फ़ेल होकर आया था, किन्तु पाठशाला में विद्यार्थियों और साधुओं की ओर से मुझे शास्त्री की आनरेरी उपाधि मिली थी। महन्तजी को अंग्रेजी का कागज-पत्र जब पढ़ाना होता, तो मेरी खोज करते, और सिर्फ़ उसी वक्त मैं उनके पास जाता; बाकी वक्त उनके उत्तर कोने के दोमहलावाली बैठके पर मुझे जाते किसी ने कभी नहीं देखा। महन्तजी शायद इसे विद्या तथा परसा जैसे बड़े मठ के उत्तराधिकारी होने के कारण मेरा अभिमान समझते हों; किन्तु सहवासी विद्यार्थी, अध्यापक और साधारण साधु भी वैसा समझने की गलती

नहीं कर सकते थे। मैं सबसे मिलता, सबसे बात-चीत करता, काम पड़ने पर सबकी सेवा के लिए तैयार रहता। क्वार का महीना था, दोपहर को हरिनारायणदास–एक तरुण साधु–का शिर बहुत जोर से दर्द करने लगा। लोग उसे पकड़े हुए थे, और वह पक्के फ़र्श पर अपना शिर पटकने की कोशिश करता था। लोग जिस किसी की दवा का उपचार करना चाहते थे। मैंने कहा–डाक्टर बुलाना चाहिए। डाक्टर बुलाने कौन जावे ? मैं तैयार हो गया, इस पर फ़र्रुखाबाद जिले का एक तरुण साधु भी मेरे साथ हो लिया। कर्वी में एक बंगाली डाक्टर प्राइवेट प्रेक्टिस करते थे, उन्हें हम बुला लाये। उन्होंने कई घड़ा ठंडा पानी हरिनारायण के शिर पर उड़ेलवाया। धीरे-धीरे दर्द जाता रहा। उस वक्त मुझे यह नहीं मालूम था, कि क्वार की वह कड़कती धूप इतनी भयंकर साबित होगी। उसी दिन अयोध्या से मीमांसकजी (मैसूरवाले तामिल पंडित) आ गये, और उनके साथ मैं तो भरतकूप आदि की ओर उन्हें दर्शन कराने चला गया, किन्तु इधर फ़र्रुखाबादी साथी सख्त बीमार हो गया। तीसरे या चौथे दिन 9 बजे दोपहर को मैं जब लौटकर आया, तो यह बात मालूम हुई। उसकी कोठरी की ओर जाने पर यह देखकर मुझे खुशी हुई, कि उस दिन के बाद आज बिछौने से उठकर वह बाहर दातुवन कर रहा है। मैंने जाकर ललाट पर हाथ रखा, वह बर्फ़ की तरह ठंडा था, हाथ भी शीतल। खैर, उठकर बाहर बैठे दातुवन करते देख, तथा 'बड़े जोर की भूख लगी है'–कहते सुन मैंने उसके बदन के ठंडे होने की कोई चिन्ता न की। लौटकर अभी अपनी कोठरी में पहुँचा ही था कि, खिचड़ी पकाने में लगा साथी दौड़ा हुआ आया–'देखिए वह तो गिर गए।' जाकर देखा, हमारा वह निर्भीक साथी बिछौने पर मुँह के बल गिरा है, उसके मुँह से निकले रक्तमिश्रित कफ़ से दो अंगुल कपड़ा भींग गया है; उसका शरीर ठंडा हो गया है, नाड़ी और हृदय की गति बन्द हो गई है। क्वार की उस खतरनाक दोपहरी में मैं उसे क्यों लिवा गया–इस पछतावे से अब होनेवाला ही क्या था ? जिस वक्त सभी सहवासी साधुओं में से एक भी डाक्टर को बुलाने के वास्ते मेरे साथ जाने के लिए तैयार न हुआ था, उस वक्त वह स्वयं तैयार हुआ। उसने अपने छोटे-से स्थान में महन्त होकर सार्वजनिक काम करने के बारे में मुझसे कितनी ही बार बातें की थीं–ये सब बातें जल्दी भूल जानेवाली न थीं। अब उस साथी के शव के जलाने का प्रश्न था। मुझे वहाँ के साधुओं के व्यवहार को देखकर क्रोध और घृणा पैदा हो गई। त्याग और वैराग्य के ये ठीकेदार, भक्त और भगवान के ये इश्तिहारी-सेवक अपने एक साथी के शव को मठ के पीछे नदी पर ले जाकर फूँक आने के लिए भी तैयार नहीं थे। लकड़ी तो खैर, मठ से मिल गई। बहुत कहने-सुनने पर एक-दो साथी मिले। शव को ले जा, नौसिखिये हाथों से मैंने चिता चुनी, और उस पर अन्तर्लीन नई उमंगवाले उस तरुण निश्चेतन शरीर को रखकर जला दिया।

कर्वी से चित्रकूट, तथा आसपास के पहाड़ और साधुओं के आश्रम नजदीक हैं। मैं कई बार चित्रकूट-पर्वत की परिक्रमा करने गया।–तीर्थ का भाव तो आर्यसमाज ने हृदय से हटा दिया था। वाल्मीकि काल के एक ऐतिहासिक स्थान के तौर पर अभी उसके प्रति सम्मान नहीं पैदा हुआ था, किन्तु प्रकृति देवी की एक विचित्रता का आकर्षण जरूर था, यद्यपि हिमालय के दर्शन के कारण वह परिमित सीमा ही तक हो सकता था। चित्रकूट पहाड़ की परिक्रमा में बने सैकड़ों मन्दिर, मठ और उनकी दूकानदारी, उनका वाह्य योग और अन्तर भोग मुझे अब उतना विकल नहीं करते थे, क्योंकि मैं धार्मिक जगत के 'खाने के दाँत और दिखाने के और' से पूरा वाकिफ़ था। चित्रकूट के शिखर पर चढ़ने में मुझे आनन्द आता था। परिक्रमा के बहुत से स्थान परिचित हो गये थे, इसलिए कहीं दो गिलास पानी पीते, कहीं मध्याह्न-भोजन करते, कहीं आध घंटा गप करते परिक्रमा सबेरे से शाम तक पूरी हो जाती थी।

यद्यपि यहाँ भी वही नदी थी, जो कर्वी में हमारी पाठशाला की बगल से बहती थी, किन्तु वहाँ हमें 'चित्रकूट के घाट पर भई सन्तन की भीड़' याद न आती थी। नदी के और ऊपर चित्रकूट से कुछ मील पर जानकीकुंड था। यहाँ नदी पथरीली जमीन पर कल-कल करती बह रही थी। पानी स्वच्छ, जिसमें झुंड की झुंड मछलियाँ तैरती थीं। साधुओं ने यहाँ एक अपना गाँव ही बसा लिया था। कुटियाँ अधिकतर मिट्टी के भिंडों को खोदकर बनाई गई थीं, जो भीतर से ठंडी मालूम होती थीं। ऐसी ही कुटियों को देखकर तुलसीदास ने अपने ऋषि-आश्रमों

का चित्रण किया होगा। जानकीकुंड के 'ऋषि' कितनी ही बातों में भेद रखते हुए भी, बहुत-सी बातों में अपने पूर्वजों से समानता रखते थे। पहिले के ऋषियों की भाँति ये सकलत्र न थे, किन्तु ये उन्हीं की भाँति सपरिग्रह थे। पहिले के ऋषियों की भाँति ये सिर्फ़ वन्य कन्दमूल पर गुजारा नहीं करते थे, किन्तु थे ये उन्हीं की तरह यूथ बाँध अरण्य में बसे। इंगुदी के तेल को यहाँ कोई नहीं पूछता था, यहाँ तो हमारे रसिक सन्तों (सखी लोगों) के दीर्घ केशों से चमेली और गुलरोगन चुआ करते थे। आखिर जिस सगुण पूजा को एक मात्र ये पूजा मानते थे, उसमें तारुण्य का आनन्द लेनेवाले सीताराम को उनके अनुरूप ही तो भोग-सामग्री जुटानी चाहिए थी। जानकी घाट में जब-तब सीतारामदास नामक एक युवक से मिलकर बड़ी प्रसन्नता होती। वह अच्छे प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। सिद्धान्तकौमुदी प्रायः समाप्त कर चुके थे। पढ़ाई से वैराग्य हुआ था, किन्तु अब आसपास के जंगलों, राजापुर, बाँदा आदि स्थानों में पैदल बे-सरोसामान घूमने में उन्हें आनन्द आता था। सगुण-उपासना और सखीमार्ग से उन्हें भी मेरी ही तरह बहुत घृणा थी; सन्तों-महन्तों की मुसाहिबी से उन्हें भी विरक्ति थी। कर्वी के गोले में (किराना-बाजार) एक रसिक साधु आये हुए थे, रसिक होते हुए भी वह कुछ पढ़े-लिखे थे, इसलिए पढ़े-लिखे साधुओं का सम्मान करते थे। सीतारामजी के साथ मुझे भी कई बार वहाँ जाना पड़ा। क्या सत्संग होता था, याद नहीं, हाँ, जाने पर भोजन वहीं करके आते थे। सीतारामजी के साथ एक बार राजापुर भी गया। यमुना का स्नान तथा "गोस्वामीजी के हाथ" की लिखी रामायण का दर्शन किया। कई पर्त कपड़ों को हटाकर पुजारी ने हाथ के कागज पर लिखी खुले पन्ने की पुस्तक को दिखलाकर बतलाया–'कोई साधु इसे चुराये लिये जाता था। पकड़े जाने के डर से उसने नदी में फेंक दिया, उसी से ये पानी के दाग हैं।' मुझे उस वक्त कनैला की कैथी में लिखी रामायण-पोथी याद आ रही थी, जो मेरे बचपन में ज्यादा नहीं तो सौ-डेढ़ सौ वर्ष पुरानी तो जरूर रही होगी, और जिस पर ही लोग 'गोविन्द-साहेब' के नीचे रामायण गाया करते थे।

कर्वी के पूरब कुछ दूर पर एक गाँव में एक ब्रह्मचारी की कुटिया थी। एक दिन सीतारामदासजी के साथ हम लोग वहाँ गये। कुटिया की दीवार और फ़र्श कच्चे थे, किन्तु वह बहुत साफ़-सुथरी गेरू से रँगी हुई थी। कुछ फूल के पौधे, स्वच्छ छोटा-सा आँगन बहुत सुन्दर मालूम होते थे। वैष्णव वैरागियों के मुल्क में यह गेरुआधारी ब्रह्मचारी कहाँ से ? ब्रह्मचारी, सीतारामजी के दोस्त थे, शायद उस दिन हम उनसे मिल न सके। रास्ते में हमने बाजरे का होला खाया और आगे पहाड़ की किसी गुफ़ा में गये। बतलाते थे, रात को यहाँ बाघ आया करता है। पहाड़ ही पहाड़ से हम जानकीकुंड की ओर गये। रास्ते में इंगुदी, चिरौंजी और दूसरे कई प्रकार के जंगली फलदार दरख्त मिले। शायद पहाड़ के अन्त पर एक कुटी मिली, जिसे किसी एकान्तप्रिय योगी ने बनवाई थी। योगी के विचार ने पलटा खाया, और वह राम के जमाने के ऋषियों की तरह सहयोगी बन गया, किन्तु आज दूसरी या तीसरी पीढ़ी के गृहवासियों ने उसे साधारण दरिद्र गृहस्थ का घर बना दिया था, जिसके आँगन में नंगे बच्चों तथा फटे कपड़ोंवाली स्त्रियों के साथ दारिद्र्य और दैन्य डोलते-फिरते दीख रहे थे।

चित्रकूट से दंडकारण्य के रास्ते की ओर जाने का आकर्षण मेरे लिए बहुत था, किन्तु इतनी बड़ी मुहिम के लिए वहाँ समय कहाँ था ? अनुसूया के आश्रम पर हम एक बार गये थे। पहाड़ और घना जंगल, जंगली जानवरों की हर जगह सम्भावना थी, तो भी इन जंगली गाँवों में गायें-भैंसें बहुत दिखाई पड़ती थीं–चरागाह काफ़ी रहे, तो बाघ-बघेरे गायों की संख्या को कम नहीं कर सकते। विंध्याटवी में घुसने पर बाण के हर्षचरित में बहिन की खोज में भटकते हर्ष और दिवाकर मित्र का आश्रम स्मरण आने लगता, और जंगल में किसी कृष्णकाय ब्राह्मण को देखकर कादम्बरी का जरद्-द्रविड़ धार्मिक याद हो आता। 'आश्रम' नदी के बायें किनारे था। वहाँ एक धर्मशाला थी। हम लोग खाना बनाने की तैयारी करने लगे, धूआँ आसमान में मेघ चित्र बनाने लगा, तब हमें पिछवारे के पहाड़ के पाषाण पार्श्व पर काले-काले बड़े-बड़े मधुच्छत्र लटकते दिखलाई पड़े। समय से पहिले हम सजग हो गये, और आग को दूसरी ओर ले गये, नहीं तो वह लम्बी मधुमक्खियाँ यदि एक बार हमारी गुस्ताखी को अपनी शान के खिलाफ़ समझ जातीं, तो हमारा वहाँ से बचकर निकलना मुश्किल था। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ, कि ग्रामीण लोग रात को मशाल बाले, बाँस या रस्से के सहारे सैकड़ों हाथ

ऊँची आगे की ओर लटकती हुई इन चट्टानों पर पहुँच मधु जमा करते हैं। मेरे दिल में तो यही खयाल आने पर तलवा पसीजने लगता था। भालू भी इन छत्तों की मधु को खाता है, यह मेरे लिए नई जानकारी हुई, जिससे पीछे उसका रूसी नाम मेद्वेद (मधु-अर) के समझने में आसानी हुई।

कर्वी में रहते ही वक्त जानकीघाट (अयोध्या) के एक साधु एक हस्तलिखित पुस्तक लाये। कह रहे थे, इसके ग्रन्थ के परिचयवाले अंश को छोड़कर उतारें, हम लोग इसे वेदान्तसूत्रों पर रामानन्दभाष्य कहकर इसे प्रकाशित करेंगे। मैंने उसके कितने ही अंशों को पढ़ा। वह किसी महात्मा तुलसीदास का बनाया वेदान्तभाष्य था, जिसमें अद्वैत वेदान्त का खंडन करते हुए द्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया था। आर्यसामाजिक विचारों के ग्रहण के साथ मैं शंकर के अद्वैत वेदान्त को छोड़ द्वैतवादी हो गया था, इस दृष्टि से मुझे इस भाष्य या टीका की बातें पसन्द थीं, किन्तु तुलसीदास का नाम हटाकर उसे रामानन्द के नाम से प्रकाशित करना मुझे अनुचित मालूम हुआ, इसलिए मैंने वैसा करने से इनकार कर दिया। पीछे मालूम हुआ, कि वह काम किसी दूसरे ने किया।

कर्वी के साथियों में पंडित इन्दिरारमण की ओर मेरा विशेष ध्यान आकर्षित हुआ था। व्यवहार-बुद्धि में उनकी कमियों को जानते हुए भी उनकी अध्ययन सम्बन्धी प्रतिभा का मैं कायल था। इसके अतिरिक्त एक और बात थी, जिसने मुझे उनका अज्ञात पक्षपाती बना दिया था। इन्दिरारमणजी छपरा जिले के एक गोसाईं-वंश में पैदा हुए थे। गोसाईं-वंश का हिन्दुओं में कितना ऊँचा स्थान है, वह इसी से स्पष्ट है, कि बड़ी से बड़ी उम्र का ब्राह्मण भी एक छोटे-से गोसाईं-लड़के के सामने शिर नवाता है। पन्दहा में मेरे नाना के एक दोस्त गोसाईं आया करते थे, उनका काला बड़ा-बड़ा गलगुच्छा तथा गले में रेशम में पिरोया एकहरा रुद्राक्ष मुझे अब भी याद आता था। उनको देखते ही नानाजी के सिखाये अनुसार मैं 'नम्मो नरायन' (नमो नारायण) कह उठता। मेरे लिए बहुत पहिले भी यह विश्वास करना असम्भव बात थी, कि गोसाईं छोटी जाति है। और अब तो मैं भीतर से पक्का आर्यसमाजी था। साधुओं को गुसाईं कहकर उनको नीची दृष्टि से देखने की बात मेरे लिए असह्य थी। शायद, वैरागी वैष्णवों का जन्मजात शंकर-मतानुयायी होने से भी गोस्वामी गृहस्थों के साथ इस तरह का विरोध हो। इन्दिरारमणजी के दोस्त उन्हें ब्राह्मणवंशिक कहते थे, मैं भी ब्राह्मण कहकर उनके प्रतिद्वन्द्वियों को फटकारता। मैं चूँकि स्वयं छपरा जिले के एक प्रतिष्ठित मठ का 'उत्तराधिकारी' था, इसलिए मेरी बात का उनके पास जवाब न होता। यह देखकर मुझे कभी-कभी चिन्ता होती थी, कि इन्दिरारमणजी को जब-तब उनकी बातें चुभती हैं, लेकिन उस वक्त यह खयाल न आया था, कि यह अपमान उन्हें साधु का स्वतन्त्र जीवन–जो कि साधकावस्था में अपने को तैयार करने के लिए बहुत सहायक हो सकता है–छुड़ा गृहस्थी के जंजाल में फँसा देगा। छपरा में राजनीतिक कार्य करते वक्त जब पहिले-पहिल मुझे यह खबर लगी, तो मुझे बहुत भारी धक्का-सा लगा। गृहस्थ होने पर आदमी को नोन-तेल-लकड़ी से ही छुट्टी नहीं मिलती, वह अपने जीवन को विशेष कार्य के योग्य कैसे बना सकता है ?

कर्वी के साथियों में एक और सीतारामदास (मिथिलावासी) थे। वह पढ़ने में दुर्बल थे, किन्तु उनका हृदय बहुत मृदुल था। सार्वजनिक सेवा के बारे में उनसे बराबर बातें होती थीं। बीमार साधुओं को कैसे अनाथ छोड़ दिया जाता है, इसका अनुभव मुझसे भी ज्यादा उन्हें था। मैंने उनसे कहा–आप कोई ऐसा स्थान बनावें जहाँ बीमार साधुओं की पूरी तौर से सेवा-सुश्रूषा होवे। उन्होंने उसके लिए योजना बनानी और तैयारी करनी भी शुरू की। अपने हृदय से मैं उनके बारे में भी समझ सकता था, कि देशाटन की साध पहिले न पूरी करने पर शायद पीछे उन्हें अपना काम बन्द करके निकलना पड़े, इसलिए पहिले इस साध को पूरा कर लेने के लिए मैंने सलाह दी। एकाध बार प्रयाग, बनारस और शायद जबलपुर तक हम साथ घूम भी आये। कर्वी के आखिरी दिनों में मेरे पास दो लँगोटी, एक अँचला (जो पीछे एक कम्बल की अल्फी के रूप में परिणत हो गया), एक अँगोछी और एक लौकी का कमंडलू मात्र रहता था। मैंने अपने साथी को कहा–बस यही बाना लो, और बिना एक भी पैसा-कौड़ी के 'चारो मुल्क जागीरी में' समझो। पीछे की यात्राओं में एक जगह सीतारामदासजी का सिर्फ़ एक बार पता लगा था, किन्तु भेंट फिर कभी नहीं हुई।

न्यायमध्यमा परीक्षा में सिद्धान्तलक्षण और 'सिंहव्याघ्रलक्षण' पर जागदीशी टीका भी थी। उसके पढ़ने के लिए मुझे बनारस जाना पड़ा। स्वामी वेदानन्दजी के यहाँ नन्दनसाहु की गली में ठहरा, और पढ़ने के लिए रणवीर-पाठशाला (हिन्दू विश्वविद्यालय) में उत्कल पंडित श्रीकर शास्त्री के यहाँ जाया करते थे। श्रीकर शास्त्री पुरानी पीढ़ी के उन पंडितों के अवशेष थे, जिन्हें पुत्र और शिष्य के स्नेह में भारी अन्तर नहीं मालूम होता था। पाठ हो जाने के बाद बातें शुरू होतीं। वे काशी पढ़ने आये थे, शिक्षा समाप्ति के बाद यहीं रह गए। काशी का कोई भी प्रकांड पंडित पैसों के लोभ से काशी छोड़ बाहर नहीं जाना चाहता। श्रीकर शास्त्री की भाँति ही मेरे मोतीराम के बगीचे में रहने के समय अस्सी पर एक वैयाकरण पंडित रहा करते थे। उन्हें रोज भाँग का गोला छानने के लिए चाहिए था। व्याकरण के अच्छे पंडितों में से थे, और नगवा में 10 या 12 रुपया महीने पर पढ़ाते थे। एक बार एक रानी ने उन्हें साठ या सत्तर रुपया मासिक तथा खाना-कपड़ा पर अपनी राजधानी की पाठशाला में पढ़ाने के लिए भेजा। पंडितजी महीने के भीतर ही लौटकर फिर अस्सी संगम पर भंग छानते दिखाई पड़े। कह रहे थे–साठ रुपल्लियों के लिए क्या मैं सारी पढ़ी-पढ़ाई विद्या को भुलवा देने के लिए वहाँ रहता ? वहाँ तो लघुकौमुदी के ऊपर के विद्यार्थी ही नहीं मिलते; फिर मेरे 'परिष्कार', और फक्किका-विमर्श तो धरे ही रह जाते। श्रीकर शास्त्री की इसके सिवा और कोई कामना न थी, कि काशी में अपना एक मकान हो जाये। मैं एक-दो महीने उनके पास पढ़ता रहा, किन्तु इतने ही में मैं उनके प्रिय शिष्यों में हो गया था।

काशी में आने से भी मैं डरता था, फिर रहने की तो बात ही क्या ? क्योंकि, वहाँ कनैला के आस-पास के किसी आदमी से भेंट हो जाने का डर था। एक दिन टाउनहाल के हाते में आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में गया। देखा, मेरे पीछे की पाँती की एक कुर्सी पर रामाधीन पांडे बैठे हुए हैं। मेरी नजर उधर फिरते ही हमारी चार आँखें हुईं। उन्होंने पूछा–'घर नहीं चलोगे ?' क्या जवाब दिया, मालूम नहीं; किन्तु खतरे का डंका बज गया, यह समझने में तो कोई सन्देह नहीं रह गया। सौभाग्य से मेरी पाठ्यपुस्तकें समाप्त हो चुकी थीं।

कर्वी में लौटकर फिर परीक्षा की तैयारी करने लगा, लेकिन सम्पूर्ण न्यायमध्यमा में जितने ग्रंथों को रटना था, वह उतने थोड़े समय में साध्य नहीं था।

जाड़ों में कर्वी के ज्वायंट-मजिस्ट्रेट मिस्टर खरेघाट शादी करके लौटे थे। उस समय के बड़े आदमी किसी उपलक्ष्य में बड़े हाकिमों को दावत देना अपना फ़र्ज समझते थे; इन बातों की परम्परा और कायदा बन चुका था। इधर महन्त जयदेवदासजी हाल ही में अनारी-मजिस्ट्रेट बने थे। अभिज्ञों ने सलाह दी, ज्वायंट-मजिस्ट्रेट तथा कलेक्टर साहेब को दावत देनी चाहिए। दावत की तैयारियाँ होने लगीं। छपरा आने-जानेवाले एक साधु महन्तजी के मुसाहिबों में थे। जब उनसे मालूम हुआ, कि प्रयाग की एक अंग्रेज-कम्पनी (किल्नर ?) को दावत की चीजों के इन्तिजाम का भार दिया जा रहा है, तो मैंने समझ लिया, उसमें गोमांस भी आयेगा। उधर बगल के मठ रामबाग के महन्त के साथ हमारे महन्त की बहुत चल रही थी। मैंने सोचा, इसकी खबर उन्हें लग के रहेगी, फिर यह बात वह समाचार पत्रों में छपवा देंगे। यद्यपि अब मैं सोलहों आने गरम राष्ट्रीयतावादी था, और इस प्रकार अंग्रेजों तथा उनके खुशामदियों से चिढ़-सी रखता था, किन्तु महन्त जयदेवदासजी में बहुत से गुण थे, जिनके कारण मैं उनकी इस एक कमजोरी का खयाल नहीं रखता था; इसलिए मैंने सद्भावना से ही प्रेरित होकर उनके मुसाहिब से कहा–'अंग्रेज लोग गोमांस को अनिवार्य भोजन नहीं समझते। खासकर महन्तजी जैसे धार्मिक व्यक्ति की ओर से उसके प्रस्तुत होने पर तो भीतर ही भीतर वह घृणा करेंगे, इसलिए खाद्यसामग्री में उसे छोड़ देना चाहिए।' महन्तजी को दुविधा में पड़े देख, उनके 'राजभक्त' दोस्तों ने–जिन्हें खुद ऐसी दावतें करके धन्य-धन्य होने का मौका मिल चुका था–उन्हें यह कहकर डरा दिया, कि वैसा करने पर तो कलेक्टर साहेब अपनी तौहीनी समझेंगे। फिर जिस देवता के मृदुहास की प्रतीक्षा हो, उसी की आँखें लाल कराने कौन जावे। महन्तजी ने कह दिया–'हम जमींदार हैं, हमें सरकार-दरबार से भी काम पड़ता है, इसलिए दावत में जो चीजें लगती हैं, वह आवेंगी।' मेरे मन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं में गो-भक्ति कितनी मौखिक है, इसका यह एक ज्वलन्त उदाहरण था।

दावत यद्यपि खरेघाट साहेब के ब्याह के उपलक्ष्य में हो रही थी, किन्तु उसमें निहित था बांदा के कलेक्टर (अंग्रेज) को अनारी-मजिस्ट्रेटी देने के लिए धन्यवाद देना। तो भी खरेघाट-दम्पत्ति के नाम से ही अभिनन्दन आदि तैयार करना था। पंडित गोविन्ददास और पंडित जगदीश त्रिपाठी की राय हुई, कि इस समय कुछ संस्कृत-पद्य खरेघाट साहेब को प्रदान किये जावें। महन्तजी ने इसमें अपनी पाठशाला की भी सार्थकता समझी, और पंडितों के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए, उस पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। और लोगों ने पद्य बाँधना शुरू किया, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं दीख पड़ी। फिर वह भार 'शास्त्री'जी (मुझ) पर डाला गया। याद नहीं कितने पद्य बनाये, लेकिन वे पाँच-छै पत्रों से कम पर नहीं लिखे गये थे। सुलेखक होने से कवि और लेखक दोनों का काम मुझे ही करना पड़ा। संस्कृत कविताओं में गोमूत्रिका, मृदंग, पद्य आदि कई बन्ध आये थे, एक गीतिका भी थी, और एक शब्दालंकार तथा अर्थालंकार मिश्रित कोई रचना। एक हिन्दी की भी तुकबन्दी किसी संस्कृत छन्द में थी, जिसमें खरेघाट के पारसी-वंश की प्रशंसा करते हुए मैंने दादाभाई नौरोजी, सर फ़ीरोजशाह मेहता, और सर दीनशा वाचा का गुणानुवाद किया था। लाल-काली स्याही में सफ़ेद चिकने मोटे कागज पर लिखकर तैयार हो जाने पर, बिना अर्थ समझे भी देखनेवाले को वे पत्र अच्छे लगते थे। इसी वक्त किसी ने महन्तजी से जाकर कह दिया, कि एक कविता में दादाभाई नौरोजी आदि सरकार-विरोधियों का नाम आया है। 'झोली-चुक्कों' की गुट ने महन्तजी को सलाह दी–तब तो 'पूत माँगने गईं पति खा आईं,' की मिसाल होगी। महन्तजी ने पंडित जगदीश तिवारी से कहा कि कविता में से वह अंश निकाल दिया जावे। मुझे यह सुनकर बड़ा क्षोभ हुआ, क्योंकि मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध सिर्फ़ महन्तजी की लालसा पूरी करने के खयाल से यह सब कर रहा था। मैंने त्रिपाठीजी को कह दिया, कि महन्तजी नाहक इन खुशामदी टट्टुओं के फेर में पड़े हैं, यदि स्वयं खरेघाट साहेब से आप पूछेंगे, तो वह अपने सम्बन्ध में दादाभाई आदि का नाम गौरव की चीज समझेंगे। उस कविता के छोड़ देने का रुख देखकर मैंने कह दिया–'फिर मैं अपने एक भी पत्रे को नहीं दूँगा।' उन्हें मालूम था, कि मैं कर्वी में अपने मित्र पंडित गोविन्ददासजी के बुलाने से आया हूँ, मैं किसी की प्रसन्नता के लिए इतनी दूर तक न जाऊँगा। दावत के दिन खरेघाट-दम्पत्ति एक-डेढ़ घंटे पहिले आये। जगदीश पंडित उन्हें मठ के कितने ही भागों को दिखलाने ले गये। उसी समय उन्होंने दादाभाई शब्दवाली कविता का जिक्र कर दिया। खरेघाट ने बड़े उत्साह से कहा–'कोई हर्ज नहीं है। कलेक्टर क्या नाराज होगा ?'

कविताएँ पढ़ी गईं। दूसरे दिन हमें उसका अर्थ समझाने के लिए खरेघाट ने अपने बँगले पर बुलवाया।

काशी न्यायमध्यमा की परीक्षा देने प्रयाग जाना पड़ा और कलकत्ता की मीमांसा प्रथमा के लिए जबलपुर। मध्यमा में अनुत्तीर्ण, मीमांसाप्रथमा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण।

मार्च के अन्त में हम जंगल की सैर के लिए गये थे, वहाँ से लौटने पर बुखार आने लगा। इधर भाई साहेब ने लाहौर में शास्त्री की फ़ीस दाखिल करा दी थी। साल-भर पुस्तकों के पढ़ने का मौका ही नहीं मिला था, फिर फ़ार्म भर देने भर से परीक्षा कैसे पास की जा सकती है ? किन्तु, अब के एक लम्बी यात्रा पर निकलने का इरादा था, साथ ही लाहौर के दोस्तों से भेंट का अवसर भी था।

10

फिर घुमक्कड़ी का भूत (1920 ई.)

कर्वी छोड़ते वक्त भी अभी बुखार ने मुझे छोड़ा न था। पैसा पास न था, इसलिए सारी यात्रा 'दस-आने-छै-आने' में करनी थी। 'दस-आना-छै-आना' बिना टिकट की रेलयात्रा का नाम था; समझा जाता है हर सम्पत्ति में छै आना शाही-अंश होता है, और रेल में सफ़र करते वक्त हम उसी अपने छै आनेवाले हक को ले रहे हैं। सारी यात्रा में किसी स्टेशन पर भी मैंने छिपकर जाने की कोशिश नहीं की, और न टिकटचेकर से ही कहीं बचना

चाहा। दिल्ली में लाहौरवाली डाक पर जाने से रोका, लेकिन फिर क्या समझकर टिकट कलेक्टर ने छोड़ दिया।

बुखार रहते भी परीक्षा में बैठा, बस परीक्षा के बारे में इतना ही याद है। बलदेव, रामगोपाल, भाई साहेब से मुलाकात हुई। कई सालों से जमा होते भावों ने बुद्ध के प्रति मेरे दिल में परम श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। इधर उनकी जीवनियों के पढ़ने से बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों के दर्शन के लिए उत्सुकता बढ़ी थी, अब के तै किया उन्हें देखने का। लौटते वक्त जलन्धर उतरा। सन्तरामजी ने इरादे को सुना तो कहा–स्थानों के बारे में 'भारती' (कन्या महाविद्यालय की मुखपत्रिका) के लिए लेख लिख देंगे–'भास्कर' के बाद यही हिन्दी में मेरे प्रथम लेख थे, और यात्रा सम्बन्धी तो सबसे पहिले लेख।

मुझे खयाल नहीं, जलन्धर के बाद और कहीं रास्ते में उतरा या नहीं। बनारस पहुँचने पर अब भी बुखार ने पिंड नहीं छोड़ा था। स्वामी वेदानन्दजी पंडित छन्नूलाल वैद्य के यहाँ ले गये, और उनकी दवा ने फ़ायदा जरूर किया, क्योंकि आगे ज्वर की याद नहीं।

सारनाथ एक बार फिर गया। उस वक्त पुराने ध्वंस, अशोकस्तम्भ ही वहाँ की मुख्य दर्शनीय चीजें थीं। महाबोधिसभा का एक छोटा-सा मकान और उसमें छोटी-सी पाठशाला थी। सारनाथ से सीधे तहसील-देवरिया होकर कसया जाने में आजमगढ़ का जिला पड़ता है, इसलिए मुझे छपरा का रास्ता लेना पड़ा, और मार्ग में होने से एक-दो दिन के लिए परसा में ठहरा। महन्तजी ने मुझसे निराश हो उत्तराधिकार देने के लिए अपने भतीजे को चेला बना लिया था; यह सिर्फ़ इतने ही अंश में मुझे बुरा लगा, कि वरदराज और वीरराघव जैसे महन्त के योग्य उनके दो शिष्य पहिले ही से मौजूद थे, मेरे अस्वीकार करने पर उनमें से किसी को उत्तराधिकारी बनाना वाजिब था। किन्तु, जिस राजनीतिक आदर्शवाद की ओर मैंने कदम बढ़ाया था, उसमें परसा मठ के कुप्रबन्ध या सुप्रबन्ध से बहुत अन्तर पढ़नेवाला नहीं था।

शाम के वक्त मैं तहसील-देवरिया स्टेशन पर उतरा। रात को बाजार से बाहर किसी मन्दिर में ठहरा, सबेरे वहाँ से कसया की सड़क पकड़ी। अप्रेल का अन्त या मई का शुरू था। धूप और बोझ यात्रा में मेरे सबसे जबर्दस्त शत्रु हैं।–बोझ से तो मैं निश्चिन्त था; एक पतले कम्बल की घुटने से थोड़ा नीचे तक की अल्फी, दो लँगोटियों के अतिरिक्त एक गमछा–बस इतने ही कपड़े थे। पानी पीने के लिए लौका का एक कमंडलू था। पैर और शिर नंगे। शायद एक या दो किताबें थीं। हाँ, धूप का डर जरूर था, और उसकी दवा एक ही थी, कि नौ बजे से चार बजे शाम तक चला ही फिरा न जावे। दोपहर को मैं रास्ते के किसी मदरसे में ठहरा। वहाँ गोरखपुर जिले का नक्शा देखने गया, पीछे अध्यापक ने खाने का निमन्त्रण दे दिया। शाम को सड़क की बाईं ओर एक नया आमों का बगीचा मिला। कूआँ था और शायद एक पक्का चबूतरा भी। जमींदार का पक्का घर और गांव थोड़ा हटकर था, मुझे खाने की इच्छा न थी, इसलिए गाँव में जाने की जरूरत नहीं थी। वहाँ चबूतरे पर पड़े मुझे शाम की ठंडी हवा के झोंके बहुत अच्छे मालूम होते थे।

सबेरे चलते वक्त भूख नजदीक मालूम होती थी, इसलिए सड़क पर बाईं ओर के गाँव में जब एक वैरागी मठ का पता लगा, तो मैंने वहाँ जाकर पहिले भोजन से निवृत्त हो लेना जरूरी समझा।

गाँव से रामाभार ('मुकुटबन्धन'–बुद्ध-शवदाह) का ताल नजदीक ही था, शायद मठ के कुछ मकानों में किसी पुराने ध्वंस की ईंटें भी लगी हुई थीं। साधु बतला रहे थे, कि माथाकुँअर राजकुमार थे, उनकी बहिन का नाम रामा था। कुशीनगर में काले पत्थर की बुद्धमूर्त्ति राजकुमार माथाकुँअर थे, और बुद्ध का चितास्तूप राजकन्या (रामाभार) का स्थान। 'मुझे माथाकुँअर (कुशीनगर) जाना है'–कहने पर बोल उठे–क्या वर्मावालों के देवता का दर्शन करने जाओगे।

कसया में भी किसी वैरागी मठ में ठहरा। उसमें तहसीली स्कूल के मिडल क्लास के कुछ लड़के भी रहते थे। मैंने मनोरंजन के लिए कुछ प्रश्न पूछे, जिससे उन्होंने समझ लिया, मैं स्कूल का पढ़ा-लिखा हूँ, और इससे मेरी कद्र बढ़ गई।

शाम को पाँच बजे बाद मैं बुद्ध के निर्वाणस्थान (माथाकुँअर) पर गया। दिन की दहकती धूप अपनी तेजी से वंचित हो सुनहले रंग में परिणत हो गई थी, और भूमि मेरे नंगे पैरों के लिए सह्य थी। नये निकले

कोमल पत्तोंवाले शीशम दूर तक भूमि को अपनी छाया से ढाँक रहे थे। मैंने बुद्ध की जीवनियाँ पढ़ी थीं, यद्यपि मूल प्राचीन भाषा में नहीं। उस भूमि के भीतर प्रविष्ट होते वक्त मेरा हृदय ढाई-हजार वर्ष पहिले के उस महान् भारतीय की ओर खिंचा हुआ था, जिसने अपनी जन्मभूमि का नाम संसार-भर में फैला दिया, और संसार के एक तृतीयांश के मनुष्यों के लिए भारत को पुण्यभूमि बना दिया।

ध्वंस के बाहर शीशमों के पास एक चिता की सफ़ेद-सफ़ेद राख, बिना छूई-छाई देखी। पूछने पर मालूम हुआ, महावीर महास्थविर अभी-अभी मरे हैं, उन्हीं का यहाँ दाहसंस्कार हुआ है। मुझे महावीर स्वामी से न मिल पाने का अफ़सोस हुआ। सदियों बाद वही पहिले उत्तर भारतीय थे, जो कि भिक्षुसंघ में प्रविष्ट हुए थे। महावीरसिंह, कुँअरसिंह के रिश्तेदारों में पड़ते थे, और 1857 के स्वातन्त्र्य युद्ध में उन्होंने भी कुँअरसिंह का साथ दिया था। पीछे अपने जैसे दूसरे वीरों की तरह उन्हें भी भेष बदलकर मारा-मारा फिरना पड़ा। वह पहलवान थे, इसलिए राजाओं के यहाँ कुश्ती का कर्तब दिखलाते थे। इसी तरह भटकते-भटकते वह लंका (सीलोन) पहुँचे। बीमार पड़ जाने पर एक भिक्षु ने उनकी सेवा-सुश्रूषा की, और उसी के सम्पर्क से उनका बौद्धधर्म से परिचय हुआ। वर्मा के पतन से पहिले ही वह वहाँ जाकर भिक्षु बन गये थे। बौद्धधर्म की शिक्षा ने महावीर स्वामी को अपना भक्त बना लिया, और वह उसके भव्य इतिहास को सुनकर एक बार फिर इस भूले देश में बुद्ध की स्मृति लाने के लिए उत्सुक हो गये। उन्होंने इसी अभिप्राय से कुशीनगर में मठ की स्थापना की, और अपने शेष जीवन को यहीं बिताया।

महास्थविर चन्द्रमणि अभी उतने बूढ़े नहीं हुए थे। महावीर बाबा के वह सहायक और उत्तराधिकारी थे। उनसे मिलकर मुझे बुद्ध की जीवनी, तथा कुसीनारा के मल्लों के बारे में और भी कितनी ही बातें मालूम हुईं। उन्होंने द्वार खोलकर सोई हुई विशाल मूर्त्ति को दिखलाया, जिसको पूजने से मेरे शिर, हृदय और हाथों को आर्यसमाजी विचार भी नहीं रोक सके। मैंने व्याख्या कर दी–मैं ईश्वर की मूर्त्ति की तो पूजा नहीं कर रहा हूँ, यह एक ऋषि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करनी है।

कसया में रात को रहकर सबेरे फिर मैं देवरिया के लिए रवाना हुआ। दोपहर तरकुलहवा में बीता। कर्वीवाले मेरे एक दोस्त का जन्मस्थान इसी के आसपास किसी गाँव में था। मैं उन्हें चिढ़ाया करता–रामसुन्दरदास, तरकुलहिया भवानी के बनाये ब्राह्मण हैं। आसपास के कितने लोग जिनके पास घर में यज्ञोपवीत-संस्कार कराने के लिए न पैसा है, और जो न विन्ध्याचल ही जा सकते हैं, तथा माँ-बाप ने जिनके लिए मानता मान दी है, वे तरकुलहिया भवानी के नाबदान में ही डुबोकर जनेऊ पहिन लेते हैं। रामसुन्दरदास को क्या मालूम था, कि जो उनके जनेऊ के लिए मजाक करता है, उसे खुद विन्ध्यवासिनी के नाबदान में डुबोकर जनेऊ पहनाया गया था। रामसुन्दरदास के लिए मेरे दिल में अच्छा स्थान था, क्योंकि कर्वी में वही थे, जो कि इन्दिरारमणजी के पक्ष का खुल्लमखुल्ला समर्थन करते थे।

देवरिया से गोरखपुर स्टेशन पर उतरकर जब मैं बाहर निकलने लगा, तो टिकट-कलेक्टर ने टिकट के बारे में तो कोई खासतौर से नहीं पूछा, किन्तु उसने निवास-स्थान के बारे में पूछना चाहा। मैंने जब 'रमता साधु' कहा, तो उसे और दृढ़ हो गया कि मैं खुफ़िया पुलिस का कोई अफ़सर हूँ। उसने बड़ी नर्मी से कहा–नहीं, मैं आपको दिक नहीं करना चाहता, किन्तु आप यह न समझें कि मैं आपको पहिचानता नहीं। शायद मेरा लम्बा-चौड़ा कद तथा शुद्ध साहित्यिक भाषा इस भ्रम का कारण हुई हो।

गोरखपुर में किसी वैष्णवमठ में ठहरा। दूसरे दिन जब नवगढ़रोड स्टेशन पर उतरा, तो गर्मी दूर हो चुकी थी, किन्तु साथ ही दिन भी बहुत कम रह गया था। पूछने पर रुम्मिनदेई (लुम्बिनी) बहुत दूर मालूम हुई। ककरहवा बाजार की ओर घूमनेवाली सड़क पर न जा मैं थोड़ी दूर और आगे सड़क के बाईं ओर के गाँव में गया। शायद कुर्मी लोगों का गांव था। रात को अनिच्छा प्रकट करने पर भी उन्होंने कुछ खिलाया। ककरहवा बाजार पहुँचा, तो अभी बहुत सबेरा था। लोगों ने भगवानपुर होते रुम्मिनदेई जाने का रास्ता बतलाया।

भगवानपुर नेपाल की सीमा के भीतर शायद पहिला ही गाँव था। नेपाल का अभी तक सिर्फ मैंने नाम और गुणगान तक सुन रखा था, अब साक्षात् उसकी शासित भूमि में पैर रख रहा था। भगवानपुर कुछ वर्षों

पहिले गोर्खा-अफ़सरों का हेडक्वार्टर था। अब भी वहाँ नेपाली ढंग के बने कितने ही घर मौजूद थे, लेकिन अफ़सरों के चले जाने से गाँव श्रीहीन तथा बनिये आश्रयविहीन बन गये थे। पूछने पर उत्तर ओर के आमों के बाग में एक साधुनी की कुटिया का पता लगा। छोटी-सी कुटिया थी, और दरख्तों की घनी छाया। अब धूप तेज हो चली थी, इस वक्त लुम्बिनी जाने का सवाल नहीं था। साधुनी प्रौढ़ा थीं। उनका लम्बा कद, गोरा शरीर, दीर्घ कृष्ण केश यौवन के अपराह्न को बहुत देर से गिरा नहीं बतलाते थे, और चेहरे की रेखाएँ तो साक्षी दे रही थीं, कि यह सौन्दर्य तरुणाई में अनाकर्षक नहीं रहा होगा। प्रौढ़ा योगिनी आचारी वैष्णव थीं, तो भी किसी काम से वहाँ ठहरे नेपाली ब्राह्मण के हाथ का बनाया खाने में आनाकानी नहीं करती थीं। मुझसे पूछने पर मैंने भी अपने को परमहंस कह दिया। उस गर्मी में चूल्हा फूँकने के लिए कोई भारी बेवकूफ ही तैयार हो सकता था।

दिन जब खूब ठंढा हो गया; तो मैं लुम्बिनी पहुँचा। एक छोटी पोखरी के भिंडों पर बहुत-सी कँटीली झाड़ियाँ, तथा बेल और दूसरे वृक्ष थे। एक छोटा-सा मन्दिर था, जिसके आँगन में बकरा, मुर्गा आदि बलि-प्राणियों के खून का रंग लगा हुआ था। मन्दिर के भीतर की मूर्त्ति अस्पष्ट थी। मन्दिर के पिछवाड़े कुछ पंक्तियों के लेख के साथ अशोक का शिलास्तम्भ था। जीवदया पर इतना जोर देनेवाले गौतम बुद्ध के जन्म-स्थान पर यह पशु-बलि, रुधिर-रक्त-प्रांगण—सचमुच इससे दिल पर एक धक्का लगा। वहाँ कोई न था। कुछ देर बैठकर इस स्थान के अतीत पर सोचता रहा। वहाँ से उत्तर दूर दिखाई देते हिमालय के श्वेत शृंगों पर नजर पड़ते ही, वह मुझे 'आओ' 'आओ' कहकर बुलाते-से जान पड़े। एक बार खयाल आया, यहाँ से उधर ही बुटवल को चल दूँ, किन्तु अब सूर्यास्त नज़दीक था, बुटवल पहुँचने-भर के लिए समय न था। शाम को फिर योगिनी की कुटिया पर चला आया। नेपाली ब्राह्मण थोड़ा बहुत संस्कृत भी जानते थे, इसलिए उन्होंने मेरी कद्र की। उनसे नेपाल और हिमालय के तीर्थों, बस्तियों, रास्तों के बारे में पूछता रहा।

कपिलवस्तु का दर्शन बाकी था, इसलिए मुझे बुटवल की यात्रा स्थगित करनी पड़ी। सबेरे तिलौराकोट (कपिलवस्तु) की ओर चला। बदन पर बोझ नहीं था, तो भी मन्द-मन्द चल रहा था। नौ से ऊपर बज रहे थे, एक छोटे से गाँव को पार हो, एक पीपल की छाया में मैं सुस्ताने लगा। कुछ ही देर बाद एक मुसलमान किसान आ गया। उससे दो-चार बातें हुईं। उसने कहा—धूप बहुत हो गई, चलें आज इसी बस्ती में दोपहर बितावें। अपनी गोशाला में उसने चारपाई बिछा दी। मालूम हुआ, गाँव के अधिकांश बाशिन्दे मुसलमान हैं। रसोई बनाने के लिए उन्होंने एक हिन्दू बुला दिया। रसोई उधर बनती रही, और हमारी बातचीत भी जारी रही। कुछ बेला ढलने पर एक 'मौलवी' साहेब भी आ गये। वह गाँववालों को नमाज-रोजा सिखलाते थे। कुरान कुछ टो-टाकर पढ़ लेते थे। मेरे सामने जब कुरान रखी गई, तो मैं फरफर पढ़ने ही नहीं लगा, बल्कि आयतों के अर्थ भी करने लगा। मौलवी साहेब पर खूब धाक जमी, और गाँव के साधारण अनपढ़ मुसलमान तो साधु-बाबा की अल्फी-कमंडलू से पहिले ही से प्रभावित थे।

पिपरहवा के नज़दीक होने की बात सुन मैंने तिलौराकोट से पहिले वहां जाना पसन्द किया। वहाँ की खुदाई में निकली डिबिया, पत्थर का सन्दूक और दूसरी चीजों का फ़ोटो जितना सुन्दर मालूम होता था, उतना वहाँ का ध्वंस नहीं था। ध्वंस तो पहिले से पढ़ा-सुना न होता, तो मालूम ही नहीं होता। नेपाल की सीमा से थोड़ा-सा हटकर खेतों और दरख्तों के किनारे जरा-सी ऊँची जमीन थी, जिसमें कुछ टूटी-फूटी ईंटें और छोटे से गड़हे की सूरत में खुदाई का निशान था। शाक्यों ने अपने वंश के श्रेष्ठ पुरुष (बुद्ध) की धातुओं (हड्डियों) के ऊपर यहाँ कोई स्मृतिचिह्न बनाया था, जिसके अभिलेख को भारत की ब्राह्मी लिपि का सबसे पुरातन नमूना होने का सौभाग्य प्राप्त है, यह बात स्थान देखने से नहीं झलकती थी।

अभी दिन था, इसलिए मैंने तौलिहवा बाजार की ओर तिलौराकोट के रास्ते में कुछ और चलना पसन्द किया। शाम को एक समृद्ध ब्राह्मण के घर पर पहुँचा। उसके पास काफ़ी गायें, कितने ही धान के 'बखार' (ठेक) तथा बड़ा सारा घर था। ब्राह्मण देवता ने भोजन कराया। आसपास पुरानी ईंटोंवाले भिंडों के स्थानों के बारे में बतलाते रहे, और सबेरे ले जाकर अपने गाँव में ही कुछ प्राचीन ध्वस्त कोठरियों की नीवें दिखलाईं,

जिन्हें शायद पुरातत्त्व विभाग ने खुदवाया था।

तौलिहवा बाजार में बड़ा-अफ़सर और उनकी कचहरी है, लेकिन मैं अफ़सर और उनकी कचहरी को देखने नहीं गया था। दोपहर को किसी जगह भोजन विश्राम कर जब तिलौराकोट पहुँचा, तो पाँच से ज्यादा नहीं बजा था। दूर तक फैले उस गढ़—जहाँ बहुत पीछे तक के बस्ती के चिह्न ईंटों, तालाबों, खाइयों, भींटों के रूप में मौजूद थे—में बुद्ध के बाल्य-गृह और शुद्धोधन का प्रासाद ढूँढ़ना सम्भव न था। मेरे लिए इतना ही सन्तोष देने के लिए काफ़ी था, कि इन रजकणों में बुद्ध की चरणधूलि भी है।

उसी शाम को निगलिहवा के तालाब पर खंडित अशोकस्तम्भ और उसके अभिलेख को देखा। रात को पास के गाँव में ठहर गया। अब मेरा ध्यान हिमालय की सफ़ेद चोटियों की ओर लगा था, लेकिन उधर जाने से पहिले रास्ते के बारे में और जानकारी पैदा करने की जरूरत थी।—नेपाल के पहाड़ों के भीतर मनमाना नहीं घुसा जा सकता। वहाँ हर जगह टोकनेवाले मौजूद हैं।

सबेरे सात-आठ बजे वाणगंगा (तिलौराकोट के पास भी यही नदी है) के किनारे बस्ती से दूर आम के बागों में एक पक्का बिना-शिखरवाला मन्दिर दिखलाई पड़ा। वहाँ गया। वह एक वैरागी का स्थान था। मन्दिर में शायद राम-लक्ष्मण सीता की मूर्त्तियाँ थीं। बाहर छोटा बरांडा या जगमोहन था। मन्दिर के पूरब एक मकान और पश्चिम एक फूस की झोपड़ी थी। मन्दिर के अध्यक्ष एक वृद्ध वैरागी थे, जिनकी आँखें, चेहरा बिना पूछे ही उनके गोर्खा होने की गवाही दे रहे थे। उन्होंने स्थान-आदि के बारे में पूछा, फिर पच्छिमवाली झोपड़ी में—धुनी के पास—आसन लगवाया। आते वक्त पूजा-पाठ के लिए आये हुए कई और व्यक्ति भी थे, जिनमें से एक पाली पटवारी ने उर्दू पढ़वाकर देखा और फिर मेरी विद्वत्ता का जबर्दस्त सर्टीफ़िकेट महन्त के सामने पेश किया। भक्तों, दर्शकों के चले जाने पर मालूम हुआ, कि स्थान में वृद्ध महन्तजी के अतिरिक्त उनकी अतिप्रौढ़ा योगिनी तथा एक गूँगी वृद्धा दासी तीन व्यक्ति रहते हैं। योगिनी के हाथ का बनाया मैं खा लेता हूँ—महन्त के यह कहने पर, मैंने भी उसके पक्ष में अपनी सम्मति दी। योगिनी के हाथ की भाजी बहुत स्वादिष्ट थी, यह तो पहिली ही बार मालूम हो गया, किन्तु इसका कारण पीछे मालूम हुआ जब मिट्टी में दबाकर सड़ाये-सुखाये कटहल तथा मूली के टुकड़ों को देखा। तौलिहवा के छोटे-बड़े सभी ही नेपाली महन्तजी को मानते थे, और जब वह वहाँ जाते तो हफ्ते-भर की खर्ची उठा लाते। महन्तजी भारत के बड़े-बड़े तीर्थों में हो आये थे, इस बात में मैं भी उनसे बहुत पीछे नहीं था, किन्तु जिस वक्त वह उत्तराखंड और नेपाल की बात करते, तो मुझे शिर झुका लेना पड़ता।

धीरे-धीरे महन्तजी का अभ्यागत के प्रति स्नेह उत्तराधिकारी के स्नेह में परिणत होने लगा। उनके कोई शिष्य न था, मैं भी उनका शिष्य न था, किन्तु एक सम्प्रदाय का होने से उत्तराधिकारी हो सकता था, मठ को डूबने से बचा सकता था। उन्होंने अपने पचासों आमों के दरख्त, कुछ हटकर धान के कितने ही एकड़ खेत दिखलाये। मठ की और भी स्थावर सम्पत्ति बतलाई, जो सब मिलकर दस-पन्द्रह एकड़ से ज्यादा नहीं रही होगी, जंगम सम्पत्ति तो थी ही नहीं। वह बड़े अभिमान से कह रहे थे—मेरे गुरु ने आकर यहाँ यह स्थान बनाया। पहले चोर-बदमाश लोग नहीं चाहते थे, कि साधु यहाँ बसने पावें, और उनके अपने व्यवसाय में बाधा पड़े; किन्तु गुरुजी बड़े लम्बे-तगड़े जवान थे, साथ में और साधु रखते थे, यह मन्दिर के भीतर रखी बन्दूक और तलवार तभी की है। रात को महन्तजी मन्दिर की छत पर सोया करते, जहाँ बन्दूक और भाले के अतिरिक्त काफ़ी ईंटों का ढेर रहता। उनकी योगिनी और दासी पूरबवाले रसोई के घर में ताला-बन्द हो सोतीं, और मैं पच्छिमवाली झोपड़ी में खुला ही, आखिर डाकू आकर मेरा लेते ही क्या ?

धीरे-धीरे अपने विश्वास को बढ़ाते अपनी विवशता को दिखलाते, जब कोई व्यक्ति स्नेह का फंदा फैलाता है, तो उसे तोड़कर निकलना—साफ नहीं कह देना—बहुत मुश्किल होता है। महन्तजी ने धीरे-धीरे 'यही मुश्किल' मेरे सामने पेश की। महन्ती लेना यह तो उपहास की बात थी। 'अर्धजरती योगिनी को राँड बाभनी टूटा पीपल इनमें हक फ़कीरों का है' के नियमानुसार उन्होंने अपनाया था—ब्राह्मणी न होने पर भी अतिथिनी होने से वह एक दर्जा ऊपर ही थी। वह भी मेरे खाने-पीने का बहुत ध्यान रखती थीं। भाँग-गाँजों पर यहाँ कोई रुकावट

न थी, इसलिए ये वहाँ घास के मोल थे, और पढ़ने-लिखने से मुक्त होने के कारण महन्तजी की गोष्ठी में सम्मिलित हो समय काटने में मेरे भी ये बड़े सहायक बन गये थे। एक दिन घास काटने के लिए एक प्रौढ़ा ब्राह्मण-विधवा आई। अर्धजरती योगिनी ने, उसके बारे में बतलाया—महन्तजी ने एक नौजवान साधु को अपना उत्तराधिकारी बनाकर रखा था, इस कलमुखी की सनीचर-दृष्टि उस पर बस गई, और आज वह इसके घर सानी-पानी करता है।

साफ़ इनकार करते न देख महन्तजी की लालसा दृढ़ होती जा रही थी, उस वक्त मैंने कहा—आपका स्थान मुझे पसन्द आया है सही, किन्तु अभी मुझे उत्तराखंड जाना है, मैं भोटियों के मुल्क तक जाना चाहता हूँ। वहाँ तक हो आने दीजिए, तब फिर आपके साथ रहूँगा। इस उत्तर से उन्हें सन्तोष तो नहीं हुआ, किन्तु साथ ही आशा भी बिलकुल विच्छिन्न नहीं हुई। उनसे पूछकर मैंने रास्ते के पते लिखे। पहिले मुझे तराई पार कर डाँग-देवखुर जाना होगा। वहाँ के किसी सिद्ध महात्मा का उन्होंने नाम बतलाया। फिर किन-किन गाँवों और नदियों से होते मैं भोटिया लोगों की आबादी में पहुँचूँगा। 'हला डोगो ?' (ग-ला डो-गी ?—कहाँ जाना ?) जैसे बिलकुल अशुद्ध चालीस-पचास भोटिया शब्द भी उन्होंने लिखवा दिये।

एक दिन सबेरे उठकर मैं नदी पार हो उत्तर की ओर चल दिया। मील-दो मील गया होऊँगा, खरबूजों का खेत आया। कुछ लड़के रखवाली कर रहे थे। दो-चार पैसे दे उनसे कुछ खरबूजे लिये। खाते वक्त मेरा दिमाग आगे की योजना पर विचार करने में तन्मय था।—'यह बिलकुल ऊटपटाँग-सा रास्ता है। रास्ता बतलानेवाला शायद कोई आदमी भी नहीं मिलेगा—पता मिल जाने पर नेपाल-सरकार पकड़ लेगी। इधर से जाना अच्छा नहीं। जेतवनविहार और लौरिया नन्दनगढ़ का अशोकस्तम्भ भी नहीं देखा है, उसे देखकर रक्सौल के रास्ते जाने की कोशिश करनी चाहिए।' मैं वहीं से लौट पड़ा।

महन्तजी का स्थान बचाते हुए तौलिहवा बाजार के पास के एक दूसरे स्थान में कुछ देर विश्राम किया। यहाँ भी साधु के साथ योगिनी ! हिन्दू राज्य होने से, मैं समझता था, कि वहाँ धर्म-पालन में ज्यादा कड़ाई होगी; किन्तु हर जगह योगी-योगिनी को संयुक्त आश्रम चलाते देख, मुझे यह कुछ अजीब-सी बात मालूम हुई। रात को शोहरतगंज में आसन पड़ा।

सबेरे जानेवाली गाड़ी से मैं बलरामपुर पहुँचा। कुशीनारा में ही वहाँ रहनेवाले भिक्षु वरसम्बोधि का पता लग गया था। उस वक्त वह धर्मशाला बनवा रहे थे। अभी दीवारें-भर खड़ी हो पाई थीं और वह काम की देख-भाल कर रहे थे। एक अर्द्धनिर्मित कोठरी में ईंटों पर बैठे हम बात करते रहे। वरसम्बोधिजी अपना पाइप खींचते जा रहे थे। इसी बीच उनका नौकर आकर बोला—'मछली आध सेर ले ली।'

'ठीक से देख लिया न ?'

'हाँ, कोई जिन्दा नहीं।'

जिन्दा होने पर मछली को तालाब में डलवाना पड़ता, और यह पैसे का नुकसान था।

वहाँ से रेल की दूसरी तरफ़ एक उदासी मठ में गया। महन्त ने रसोई बनाने के लिए कहा। मैंने रोटी बनाई, उन्होंने दूध दिया, जब रसोई अपनी हो और अपने मत्थे पड़े, तो मैं कम से कम श्रम और समय का पक्षपाती हूँ।

सहेट-महेट के लिए ठंडे में ही चला। उस वक्त देवीपाटन के मेले के लिए बहुत से नर-नारी पैदल जा रहे थे, यात्री सड़क पर सभी जगह मिलते थे। शाम आती देख सड़क से दाहिने थोड़ा हटकर एक गाँव दिखलाई पड़ा। वहाँ पहुँचने पर घर ब्राह्मणों के मालूम हुए। उनके यहाँ एक अवधूतिनी रहती थी, जो बहुत तीर्थाटन कर चुकी थी। उससे तीर्थों के बारे में बातचीत हुई, और संस्कृत का क-ख जाननेवाले एक व्यक्ति से संस्कृत के बारे में। फिर अल्फी-कमंडलूधारी महात्यागी साधु की आवभगत क्यों न बढ़ जाये।

सबेरे ही मैं सहेट-महेट पहुँचा। जेतवन श्रावस्ती का कोई बहुत ऐतिहासिक ज्ञान तो उस वक्त मुझे था नहीं। सरसरी तौर से जेतवन की कुटियों-कुओं को देख श्रावस्ती के ध्वंस में गया, और जंगल की खाक छान उत्तर तरफ़ के एक गाँव में पहुँचा। वहाँ प्राइमरी स्कूल था, वहीं मास्टर साहेब का बनाया भोजन और दोपहर

का विश्राम हुआ।

दिन ढलने पर जब मैं बलरामपुर को लौट रहा था, तो एक वैरागी साधु रास्ते में मिले। वेशभूषा से—लेकिन ललाट में चन्दन शायद ही कभी लगाता था, क्योंकि वैरागी, आर्यसमाजी कई पार्ट मुझे एक साथ अदा करने थे—उन्हें वैष्णव साधु होने का सन्देह हुआ। दंडवत्-प्रणाम किया, और आज अपनी कुटिया पर विश्राम करने के लिए बहुत आग्रहपूर्वक वचन लिया। वह, किसी दूसरे काम से जा रहे थे, उन्होंने गाँव और कुटिया का पता दिया। वहाँ जा कुछ प्रतीक्षा के बाद स्थानधारी महात्मा आये। गाँव में जितना अच्छा आतिथ्य-सत्कार होता है, किया।

दूसरे दिन बलरामपुर से रेल पकड़ी। गोरखपुर से नरकटियागंज जरूर गया, किन्तु जहाँ तक स्मरण है, छितौनी घाट में पैदल नहीं चलना पड़ा था, अर्थात् रेल का पुल मौजूद था। नरकटियागंज की संस्कृत पाठशाला के संस्थापक ब्रह्मचारीजी ने बहुत रुकने के लिए कहा, जब कि अपने अध्यापक से उन्होंने मेरी संस्कृत के बारे में सुना, किन्तु मैं लौरिया-नन्दनगढ़ के लिए चल पड़ा। जब धूप नहीं होती तो खाली हाथों पैदल चलने में बहुत मजा आता है। सड़क से दीखते विशाल शिलास्तम्भ और उसके सिंह को देखते ही, बिना किसी से पूछे मुझे अशोकस्तम्भ मालूम हो गया। इस यात्रा से पहिलें मैंने इस सम्बन्ध के कुछ ग्रंथ पढ़े जरूर थे, तभी तो 'लौरिया' (यष्टी-पाषाणयष्टी) देखकर ही नहीं लौट पड़ा, बल्कि नन्दनगढ़ भी देखने गया। गढ़ के पास ही एक छोटा-सा वैरागी मठ है। संन्यासियों से कई शताब्दी बाद पैदा होने पर भी वैरागी मठ इतने अधिक क्यों हैं ? इस पर सोचने पर मुझे तो मालूम होता है, इसमें कारण उनकी सगुणोपासना (साकार ईश्वर की पूजा) ही है। वेदान्तप्रेमी संन्यासी का बिना मूर्त्ति की पूजा के भी काम चल सकता है, किन्तु वैरागी के लिए मूर्त्ति चाहिए, महावीरजी चाहिए, और नहीं तो शालिग्राम ही चाहिए। फिर उनकी पूजा के लिए कुछ धूप-दीप, कुछ बालभोग (नाश्ता), राजभोग (मध्याह्न-भोजन) और ब्यालू भी चाहिए। पूजा की पूजा खाद्य-भोज्य-पेय-चोष्य का संचय। इस संचय में से थोड़ा-सा उपस्थित भक्तों को दिया जा सकता है, जिसे देखकर मुझे बचपन में रानी की सराय के लड़कों की होशियारी याद आती। आम पकने के समय लड़के आम की गुठली किसी बन्दर के पास फेंक देते, बन्दर चाटता, फिर डालियों पर चढ़कर हिलाता, कई पके आम जमीन पर आ पड़ते। वैरागियों की पूजा, उनके राग-भोग साधारण जनता की समझ की बातें थीं, इसीलिए उन्हें अधिक सफलता मिली।

नन्दनगढ़ के उस मठ में शायद एक-दो साधु थे। 'दर्शनीय त्यागी' महात्मा का उन्होंने सत्कार किया। नेपाली बाबा ने लत लगा दी थी, और अब 'नवाजिन्दा' मुझ पर सवार था, इसलिए भाँग-गाँजे का स्वागत हो रहा था। स्थानीय साधु ने जब गाँजे की चिलम चढ़ाकर आदर के साथ मेरी ओर बढ़ाई, तो मैं उसका तिरस्कार नहीं कर सकता था। 'दम' (पीना) अभी खतम नहीं हुआ था, कि एक प्रौढ़ा वैरागिन आ पहुँची। बहुत घूमी-फिरी मालूम होती थी, वह निस्संकोच बात करने लगी। उसने दो चिलम गाँजे के फेंके। चिलम तैयार होने लगी और गप जारी रही। मालूम हुआ, वह नेपाल की तराई में वीरगंज के पास कहीं रहती है। तौलिहवा के आसपास मैंने योग-भोग का संग्रह कई मठों में देखा था, इसलिए इस अवधूतिनी की बातों और उसके स्थान की समृद्धि के बारे में कोई सन्देह नहीं हुआ। मुझे तो अब नेपाल का ही तरीका अच्छा मालूम होने लगा—योगियों को योगिनियों के साथ रहने की इजाजत देकर वहाँ का समाज साधुओं को कई खतरों से बचा लेता है, यदि उसमें कहीं सन्तति-निग्रह भी शामिल होता, तो सोने में सुगन्ध; मठ में कच्चों-बच्चों के बढ़ने से उसका महत्त्व नष्ट हो जाता है। अवधूतिनी दम लगाने में खुर्राट वैरागियों का भी कान काटती थी।

चला तो था मैं बौद्ध पुनीत स्थानों को देखने, किन्तु नवाजिन्दा जब सीधे रास्ते चलने दे तब न ? नन्दनगढ़ से मुझे स्टेशन हो रक्सौल जाना था, किन्तु नहीं समझता मैं दो दिन से कम में किसी स्टेशन पर पहुँचा। एक दिन तो सूर्यास्त के समय एक कबीरपंथी कुटी पर पहुँचा। बाहर महुआ के वृक्ष के नीचे चटाई ले आसन जमाया। कुटी में एक अधेड़ महात्मा और उनकी अर्धजरती योगिनी रहती थीं। मैं शायद कुछ ज्यादा चल के आया था, और थककर लेट गया था। योगिनी मुझे देख सारे वैरागियों पर टिप्पणी कर रही थीं—'इन लोगों का बहुत मोटा ज्ञान है। पाथर पूजते-पूजते बुद्धि ही पथरा गई है।' उनको कबीर साहेब के निर्गुण का अभिमान था।

में थकावट के मारे उनके 'शब्द' 'सुरत' के सत्संग में शामिल नहीं हुआ, इसीलिए उस टिप्पणी की जरूरत पड़ी।

रक्सौल उतरने पर मालूम हुआ, वीरगंज के रास्ते पर नेपाली पुलिस रहती है, बाहरी आदमी को भीतर जाने नहीं देती। मैं पुल पार हो सड़क से पूरब, नदी तट पर अवस्थित वैरागी-स्थान में चला गया। घर तो काफ़ी थे, किन्तु एक पुजारी और एक रमता साधु के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। पुजारी ने कहा–यदि आप दो दिन पहिले आये होते, तो थापाथल्ली के महन्त ऊपर गये, उन्हीं के साथ चले गये होते; अब तो कोई वैसा ही प्रभावशाली आदमी हो तभी राहदारी (पास) मिल सकती है। रमता साधु बहुत घूमा-फिरा था। उसकी और बातें तो मैं बड़ी दिलचस्पी से सुनता था, किन्तु जब वह रूस देश की ज्वालामाई के बारे में कहने लगा, तो मुझे बुखार चढ़ आया–"ज्वालामाई, आपरूपी ज्वालाई। भोग-राग रख दिया जाता है, माई स्वयं अपनी जीभ से उन्हें ग्रहण करती हैं।" वह बतला रहा था कि मैं उसी ज्वालामाई से कश्मीर के रास्ते पहाड़ ही पहाड़ नेपाल आया। मुझे उसकी यह सारी बातें झूठ मालूम होती थीं। यद्यपि वह असम्भव न थीं, रूस से बोलशेविक क्रान्ति के बाद चलते गृहयुद्ध के समय वह बाकू से मध्य-एसिया और वहां से चीनी तुर्किस्तान के रास्ते या सीधे ही कश्मीर हो जम्मू, चम्बा, कुल्लू होते अथवा लदाख से मानसरोवर होते नेपाल पहुँच सकता था।

दो-चार दिन की प्रतीक्षा से नेपाल जाने का कोई रास्ता निकलता नहीं दीख पड़ा, इसलिए मैं वहाँ से पूरब की ओर चला। कुछ दूर पगडंडी, फिर रेल की सड़क पकड़ी और अन्त में रेल से घोड़ासाहन उतरा। पैसा एक भी पास में नहीं रहता था, तो भी कभी खाने-पीने का कष्ट नहीं हुआ, और प्रशंसा तथा सन्मान टोकरी के टोकरी प्रायः रोज ही मिलते रहते।

नेपाल के अन्तिम नेवार-राजाओं के पूर्वज कभी सेमरौनगढ़ में राज्य करते थे, पहिले वे कर्नाटक से भागकर यहाँ आये थे, यह बात मुझे मालूम थी। इतिहास का अध्ययन और ऐतिहासिक चीजों का प्रेम मुझे धीरे-धीरे आर्यसमाज से आगे ले जा रहा है, इसका उस वक्त मुझे भी पता नहीं था, लेकिन बात ऐसी ही थी। डी. ए. वी. कालेज के पुस्तकालय में मैं अक्सर ऐसी पुस्तकें पढ़ता, और पुरातन वस्तुओं की वैज्ञानिक खोजों पर वहाँ काफ़ी पुस्तकें आया करती थीं। पंडित भगवद्दत्त के सम्पर्क से मेरा उधर झुकाव हुआ था, किन्तु वह ले जा रहा था बिलकुल उलटी दिशा की ओर। जहाँ पंडित भगवद्दतजी इतिहास की अपेक्षा साइंस को वेद की विभूति समझने का प्रयत्न कर रहे थे, वहाँ मैं ऐसे रास्ते पर आरूढ़ था, जो मुझे 'नैरुक्त' से ऐतिहासिक ही बनाकर छोड़नेवाला था।

घोड़ासाहन से मैं पैदल ही खेतों से होते सेमरोनगढ़ की ओर चला, उसी वक्त कोई बनिया भी एक घोड़े पर सौदा लादे चल रहा था। दिमाग में ख़याल आया इसीलिए तो घोड़ासाहन कहते हैं !

सेमरोनगढ़ में तालाब पर देवीस्थान में ठहरा। मठ वहाँ से पच्छिम था। आम अब एकाध पकने लगे थे, शायद मई का उत्तरार्द्ध चल रहा था। देवीस्थान में कुछ मूर्तियाँ थीं, किन्तु मूर्त्ति-विद्या और मूर्ति कला से मेरा अभी परिचय नहीं हुआ था। मठ के बड़े आँगन में नेपाली ढंग का एक मन्दिर खड़ा था, आँगन के चारों ओर बरांडे और शायद बहुत से मकान और कोठरियाँ थीं। पहिले थापाथल्ली (नेपाल) और सेमरोनगढ़ के एक ही महन्त होते थे, किन्तु किसी शिकायत के कारण बूढ़े महन्त निकाल दिये गये, उन्हें मैंने 1913 ई. में शोलापुर में और उसके एक साल बाद अयोध्या में देखा था। इस वक्त सेमरोनगढ़ में उनके शिष्य महन्त थे। बड़ी-बड़ी जटा और लम्बे-चौड़े शरीर का भक्तों पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। मठ की आमदनी का ठीक से व्यय हो, इसके लिए नेपाल-सरकार का एक अफ़सर–डीठा (द्रष्टा)–वहाँ बराबर रहता था। खाने-पीने का अच्छा इन्तिजाम था। साधुओं की संख्या अधिक न थी। डीठा साहेब से बातचीत हुई। उन्होंने रहने के लिए बहुत आग्रह किया। उनकी इच्छा थी, कि मैं उनके लड़के को पढ़ाऊँ। मन्दिर में राणा जंगबहादुर या उनके पुत्र गोरा जर्नेल में से एक वा दोनों की मूर्त्तियाँ भी थीं।

दो-चार मील दूर एक गाँव से शिष्य बनाने के लिए महन्तजी के पास, एक सोनारभगत का निमन्त्रण आया। लोग बतला रहे थे, यह चौथी या पाँचवीं बार बूढ़ा कंठीमन्त्र ले रहा है। बेचारा कंठी-मन्त्र लेता, मछली का दिन आता और जब घरवाले तेल में भून हल्दी सरसों डाल मछली पकाते, उसकी सुगन्ध घर के हर एक

कोने में व्याप्त हो स्वर्ग के देवताओं तक को अपने पास खींच लाने में समर्थ होती, तो दरवाजे पर बैठे ठुकुच-ठुकुच करते बूढ़े सोनार का मन कैसे अपने हाथ में रहता ? वह कंठी को गले से निकालकर खूँटी पर रखते हुए बोल उठता—"लाओ, आज तो मनछरी (मन हरनेवाली) खा लें।" मुझे इस वक्त जानकीनगर (परसा मठ के गाँव) के प्रदीपसाहु की बात याद आई। 1857 के गदर में वह और रेखा महतो पूरे जवान थे, और प्रदीप के मोटे-तगड़े शरीर को देखकर तो एक बार उसे 'बागी' सेना में ले जाने की बात तै पाई थी। परसा के तत्कालीन बूढ़े अधिकारी (मैनेजर) ने प्रदीप को कंठीमन्त्र दिया था। एक से अधिक बार मनछरी के आकर्षण में पड़ प्रदीप ने कंठी तोड़ डाली थी। अबकी बार जब किसी ने इसकी खबर अधिकारीजी को दी, तो उन्होंने तुरन्त दोहा कहा—

'कंठीमाला तोरिके, गंग दियो दहवाय।
अधिकारीजी के··· से, परदिपवा मछरी खाय।।'

सोनारभगत को फिर कंठी-मन्तर दिया गया। महन्तजी को पूजा और साधुओं को भी कुछ बिदाई मिली। और लोग तो मठ में चले गये, किन्तु एक जटाधारी साधु के साथ पर्यटन की योजना बनाते तथा गाँजा पीते मैं दो-तीन दिन इधर-उधर घूमता रहा। जिस दिन मैं सेमरोनगढ़ लौट रहा था, उस दिन देखा, पोखरे से थोड़ा पूरब एक गाँव में आग लग गई है। यहाँ गाँव फूस की छतवाले घरों का होता है; हवा न भी बहे, तो भी एक छत से सटी हुई दूसरी छत में आग लग जाना आसान है। देख रहा था, कुछ लोग अपनी-अपनी छतों पर घड़े में पानी लेकर बैठे थे, और कुछ लोग—जिनमें स्त्रियां अधिक थीं—चिल्लाती हुई पशुओं, पिटारियों तथा दूसरी चीजों को घर से निकाल गाँव के बाहर रख रही थीं। सौभाग्य से हवा उस दिन बन्द थी।

घोड़ासाहन से मैं सीतामढ़ी गया। शायद उसी दिन, मेरी उमर का एक घुमक्कड़ साधु भी स्टेशन से उतरकर वहाँ पहुँचा। अब मारवाड़ी भक्तों का पूड़ी-हलवे का भोजन किसको अच्छा लगता। तरुण आसाम से तुरन्त आ रहा था। उसने अपनी झोली से निकालकर गाँजे की पीली पत्तियाँ दिखलाईं। भीतर से 'नवाजिन्दा' बोलने लगा। कहीं यह जवान तौलिहवा बाजार में मिला होता, तो हम अब तक डांग-देवखुर से बहुत आगे भोटियों के देश में पहुँच गये होते। हमारी सलाह हुई, जनकपुर चलने की।

पुपरी रोड पर जब उतरे तो अभी दिन बाकी था। शाम तक हम लोग चोरउत मठ में पहुँचे। काशी में विद्यार्थी-अवस्था में मैंने चोरउत के महन्त को बड़े विशाल श्वेतच्छत्र (मेघडंबर) के नीचे गंगा में अर्घ देते देखा था, उनकी अन्यत्र बात करती तथा अन्यत्र देखती आँखें मुझे याद थीं। हम दोनों ही टकसाली साधु थे, अर्थात् पन्थ के कायदा-कानून से पूरे वाकिफ़ तथा देश देखे। हमारे पास कम से कम सामान था। तिरहुत के मठों में खवासों (खिदमतगारों) का राज होता है। महन्तों के उत्तराधिकारी उनके भतीजे हुआ करते हैं, इस प्रकार मठ की सम्पत्ति का अधिक भाग एक परिवार की सम्पत्ति-सा बन जाता है। गद्दी निश्चित रहने से महन्त होने से पहिले उन्हें तीर्थाटन आदि का तजरबा नहीं रहता, वे बड़े ही कूप-मंडूक तथा अभिमानी होते हैं। भेष और मठ की आमदनी देख वे आदमी की इज्जत करते हैं। हम दोनों को जहाँ आसन के लिए जगह दी गई, वह महन्तजी के अस्तबल से बेहतर न थी। रात के ब्यालू को देखकर तो हमारा मुँहफट साधु कड़ी नुक्ताचीनी कर बैठा। हमने खयाल किया, ऐसे नालायक महन्त के हाथ से मटिहानी की सत्तर-पचहत्तर हजार की आमदनी को छीनकर नेपाल-सरकार ने अच्छा ही किया।

चोरउत ब्रिटिश इलाके में मुजफ्फ़रपुर जिले में है, और मटिहानी नेपाल राज्य में। दोनों में तीन-चार कोस से ज्यादा का फ़र्क नहीं है। दूसरे दिन हम मटिहानी पहुँचे। यहाँ साधुओं की संख्या पचास-साठ से ऊपर थी। मुझे देखकर प्रसन्नता हुई, कि उनमें कुछ पढ़ने-लिखनेवाले भी हैं। नेपाल-सरकार ने पिछले महन्तों की बदचलनी और कुन्बापरवरी की शिकायतें सुनकर मठ से महन्त को निकाल दिया था। एक नये महन्त थे, जिनके ऊपर देख-भाल के लिए एक 'डीठा' रहता था। इन्तिजाम अच्छा करने की पूरी कोशिश की गई थी। चार या पाँच अच्छे-अच्छे पंडित पाठशाला में पढ़ाते थे। विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति, साधु-विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्र-पुस्तक मिलने

का प्रबन्ध किया गया था। दिन को कच्ची रसोई और रात को पक्की रसोई–खीर-पूरी–की व्यवस्था थी। चोरउत जैसा साधुओं को अपमान भी सहना नहीं पड़ता था। तो भी विद्यार्थी सन्तुष्ट न थे। उनमें से एक कर्वी के 'शास्त्री'जी के बारे में सुन चुका था, इसलिए सबने शास्त्रीजी का गहरा स्वागत किया। अपनी शिकायतों को मेरे सामने रखा। शाम के ब्यालू में मैंने खुद देखा कि उन पूरियों को खाने के लिए लोहे के दाँत चाहिए। भोजन-सामग्री से महन्त, डीठा और रसोइयों का काम बनता था, और साधुओं तथा दूसरों के पास यह पथरीली पूरियाँ पहुँचती थीं। पूरी में कम से कम घी डालने का परिणाम ही यह पत्थर की पूरियाँ थीं। खीर में कम से कम दूध-चीनी डालने का परिणाम वह गीला फीका भात था। महन्तजी पैसे जमा करके ब्रिटिश भारत में एक स्थान बनाने की तैयारी में थे। 'नेपाल में महन्ती का क्या ठिकाना। वहाँ के अधिकारियों के पास तो आँख हैं नहीं, वह तो सिर्फ़ कान से सुनते हैं'–यह बात आमतौर से कही जाती थी। मटिहानी की आमदनी काफ़ी थी, इसलिए उसकी लूट में डीठा और स्थानीय अफ़सर तक शामिल बतलाये जाते थे। मैंने विद्यार्थियों से इतना ही कहा, कि यदि नेपाल जाने का मौका मिला, तो मैं इन शिकायतों को उच्च-अधिकारियों के सामने रखूँगा।

जनकपुर में हम टीकमगढ़ की किलानुमा ठाकुरबाड़ी–जानकीभवन या जानकीमन्दिर–में ठहरे। यहाँ के महन्त के शिष्य कर्वी में मिल चुके थे, इसलिए हमें बड़े सम्मान के साथ रखा गया। शायद यहाँ स्थान में गाँजा-चिलम नहीं चलती थी, इसलिए हमारे साथी को गाँजा का बहुत आदी होने से दूसरे मठों में आना-जाना पड़ता था। मेरे लिए गाँजा अनिवार्य चीज न थी, किन्तु टीम के भाव को तो दृढ़ से दृढ़तर बनाना जरूरी था।

जनकपुर में बहुत से मठ हैं और जानकी से सम्बन्ध रहने से उनमें अधिकांश वैरागियों के हैं। सिर्फ़ राममन्दिर संन्यासी-मठ है, उसकी भी आमदनी काफ़ी है, और महन्त को निकालकर नेपाल-राज्य की ओर से वहाँ एक अच्छी पाठशाला और छात्रावास बनाया गया है। यहाँ के विद्यार्थियों के साथ नजदीक से मिलने का मौका नहीं मिला, इसलिए वहाँ की शिकायतों के बारे में नहीं जान सका।

दो-तीन दिन के बाद हम 'धनुषा' की ओर चले। जंगल में वृक्षों की मोटी जड़ों की तरह की कोई पथरीली चीज है, इसी को लोग रामजी द्वारा तोड़ा गया सीता स्वयंवरवाला धनुष कहते हैं। धनुषा से अब हमने पहाड़ ही पहाड़ नेपाल पहुँचने का इरादा किया। इधर जंगल क़ाटकर नई बसाई आबादियाँ ज्यादा थीं, जिनमें ज्यादातर थारू लोग बसते थे। उनकी मुखमुद्रा मंगोल थी। जंगल में धोबी के अभाव में भी स्त्रियों के साफ़ धुले कपड़े उनकी सुरुचि को प्रकट कर रहे थे। उस रात को हम एक साधु की कुटिया में ठहरे। पहाड़ की जड़ में कितने दिनों में पहुँचे, यह मुझे याद नहीं। हम सिर्फ़ शाम-सबेरे ठंडे में कुछ घंटे चला करते थे। गाँजे की इफरात थी, इसलिए 'दम' बराबर ही लगती रहती थी। कमला पार होने से पहिले सबेरे आठ-नौ बजे हम गोर्खों के एक गाँव में गये। ये नये आकर बसे थे। खाने के लिए हमें मक्के का भात मिला। मेरी संगत से या पहिले ही से सीखा-समझा होने से मेरे साथी ने भी गोर्खा के हाथ के भात में कोई एतराज नहीं किया। कमला का पानी ठंडा था और उस गर्मी में अच्छा लगता था। धार गहरी न थी। उस दिन खड़ी दोपहरी में हम चलते ही चले गये, इसलिए बहुत तकलीफ़ हुई। पहाड़ की जड़ में एक कुटिया है, यह हमें पहिले से मालूम था। लिपी-पुती खूब साफ़ कुटिया, धूप से बचाव फिर हल्की बहती बयार–थके-मांदे आदमियों को और दूसरी बात ही क्या याद आती ? हम लोग लेटे और जल्दी ही नींद में गर्क हो गये।

नींद खुली तो देखा, एक अधेड़ साधु, कमर में अँगोछे का तहमद लपेटे आँगन बहार रहे हैं। हमें जगा देखकर वह पास आये, बोले–'यहाँ तो सब चीज पड़ी थी। मैं तो किसी घर में ताला नहीं लगाता; इसीलिए कि कोई साधु-अभ्यागत आवें, तो बनावें खावें। मैं गायों की सेवा में बाहर चला जाता हूँ, कभी-कभी देर से आना होता है। आपने क्यों नहीं भोजन बनाया-खाया ?'

हमने सच्ची-सच्ची बात कह सुनाई–"उस अवस्था में हमारे लिए फिर लेटने से प्यारी कोई चीज न थी।"

सबेरे भी साथी को मक्के का भात अच्छा न लगा था, और अब भी उसी को पकाकर खाने के लिए पेश किया गया। साथी आनाकानी कर रहा था, किन्तु मक्के का भात पकाना भी एक नई चीज है, समझकर

मैंने उसका स्वागत किया। महात्मा ने इतना ही बतलाया था, कि पानी गर्म करके उसमें मक्के की दलिया को डालना। कितने पानी में कितनी दलिया डालनी चाहिए, इसका न हमें पता था, न महात्मा ने ही बताया। हमने दलिया डाल दी। फूलकर उसने सारे बरतन को भर दिया, और अभी वह पकी न थी। कुछ निकालकर तसले में रखा। पानी डाला। कुछ देर में फिर बरतन भर गया। फिर कुछ तसले में निकाला, और अपने जान काफ़ी, किन्तु पानी डालकर पकाने पर फिर बरतन भर गया। अभी भी 'चावल' पका नहीं था। अन्त में भूख से उकताकर हमने अधपका ही उसे नीचे उतारा। दूध या दही में उसे मैंने तो पेट भर खाया, किन्तु साथी आधा पेट भी न खा सका।

हमने कुटी से नीचे गोशाला में रसोई बनाई थी। हम लोगों के खाना खा चुकते ही गायें आ गईं, और सभी घरों में भर गईं। गोशाला की छतों और दीवारों में नजदीक-नजदीक मजबूत लकड़ियों की डाट बँधी हुई थी। गोपालों ने बतलाया, यहां बाघ के आने का डर रहता है; इसीलिए उससे बचाने का यह प्रबन्ध है। रात को गोशाला ही में किसी मचान पर सो गये। साथी के रुख से मालूम तो हो रहा था, कि वह हिम्मत हार रहा है, किन्तु यात्रा बन्द करने का निर्णय उसने रात को नहीं सुनाया।

सबेरे साथी के निर्णय को सुनकर मैंने भी कदम को पीछे हटाना ही पसन्द किया, क्योंकि लोग बतला रहे थे, आगे पहाड़ में पहरा है, बिना राहदारी के आगे बढ़ने नहीं दिया जाता।

फिर धनुषा और फिर जनकपुर! जनकपुर से साथी तो स्टेशन की ओर गया, और मैं एकाध-दिन रहकर बराही (जि. मुजफ्फ़रपुर) मठ की ओर चला।

यहाँ के महन्त यद्यपि तिरहुत के दूसरे महन्तों की भाँति चचा-भतीजे की परम्परा में पले थे, किन्तु उनके विचार कुछ उन्नत थे। उन्होंने अपनी सारी आय को खवासों और खवासिनों पर खर्च करने की जगह उसे अविद्या और साधु सेवा पर खर्च करना पसन्द किया था। स्थान में एक अच्छी संस्कृत पाठशाला थी, जिसमें तीन-चार अच्छे-अच्छे पंडित पढ़ाते थे। पढ़नेवाले साधुओं की अच्छी कद्र थी। महन्तजी स्वयं सबके साथ पंक्ति में बैठकर भोजन करते, और साधुओं की आवश्यकताओं का ध्यान रखते थे। वह खुद कोई पढ़े-लिखे विद्वान् व्यक्ति नहीं थे, और न उनके आसपास के तिरहुत के स्थानों में ही कोई ऐसी परम्परा थी, ऐसी अवस्था में उनके कार्य को मैंने बहुत प्रशंसनीय समझा था।

यहाँ के भी किसी विद्यार्थी को मेरा नाम मालूम था, इसलिए आने के साथ ही महन्तजी जान गये, और मेरा आसन एक अच्छे कमरे में लगवाया गया, जिसमें नेवार की पलंग, पंखा और कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। भोजन के बाद महन्तजी पाठशाला, मठों के सुधार आदि के बारे में बातचीत करते रहे। समय की गति कुछ-कुछ उन्हें मालूम होने लगी थी, इसलिए वह उसके अनुसार कुछ चलना चाहते थे, किन्तु अपने लिए उत्तराधिकारी उन्होंने भतीजे को ही चुना था। कुछ ही सालों बाद महन्तजी जब मर गये तो, एक कांग्रेसी नेता जाति-बिरादरी की दोहाई दे उसके संरक्षक बन गये।

चलते वक्त महन्तजी ने बीस या पच्चीस रुपये और स्टेशन तक के लिए हाथी की सवारी दी। हाथी पर बैठने में मैंने एक गलती भी की, और दुम की तरफ़ मुँह कर रस्से को उलटे हाथों पकड़ा, जिससे धम-से जमीन पर आ पड़ा। खैर, चोट नहीं लगी। लोगों ने समझा होगा, हाथी पर बैठना नहीं जानते।

सुरसंड का गढ़ रास्ते से दूर न था, तो भी मेरा वहाँ कोई काम न था। शाम को विडरख में ठहर गया, और हाथी को लौटा दिया। अब आमों की फ़सल जोर-शोर से शुरू हो गई थी।

विडरख तक मुझे मालूम हो गया था, कि मेरी यात्रा का अन्त तिरुमिशी में होगा, इसीलिए पुपरी रोड से मैंने अपनी पुस्तकों—जो 3, 4 छोटी पुस्तकों से ज्यादा न थीं—को तिरुमिशी में हरिप्रपन्न स्वामी के पास भेज दिया।

अब मेरे पास रुपया था, इसलिए "दस-आना-छै-आना" में चलना पाप था। मैंने टिकट खरीदा, और दरभंगा गया। राज-लाइब्रेरी देखी और शहर के कुछ हिस्से को भी। रात को किसी मठ में न ठहर स्टेशन पर चला आया।

रास्ते में पातेपुर-जैतपूरा स्थानों में एक-दो दिन मैंने बिताये। परसा मठ से इनका नजदीक का सम्बन्ध था, और रामानन्द स्वामी से अब तक की परम्परा पर मैं कुछ थोड़ा-सा मसाला जमा कर रहा था, इसीलिए मैं इन स्थानों में गया। किन्तु वहाँ कोई नई चीज नहीं मिली, और चैनपुरा मठ के धरनीदास की परम्परा में होने की धारणा पर भी धक्का लगा।

पातेपुर से मैंने बसाढ़ का रास्ता लिया। बसाढ़ पहुँचने से पहिले एक बुढ़िया भक्तिन ने खाने-पीने का इन्तिजाम किया था। दोपहर को सड़क पर अवस्थित एक अंग्रेजी स्कूल के अध्यापक ने—जो शायद पोस्टमास्टर भी थे—भोजन के लिए बहुत आग्रह किया। कर्वी छोड़ने पर अब कभी-कभी दिन-रात सिर्फ़ संस्कृत बोलने की सनक चढ़ जाया करती। इस दिन मैं उसी सनक में था। अध्यापक पर संस्कृत भाषण की धाक भी रही होगी। उनसे बसाढ़ के किले के बारे में तो पता लगा, किन्तु अशोक-स्तम्भ के बारे में शायद मैंने पूछा ही नहीं या क्या, ठीक से मालूम न हो सका।

बसाढ़ के गढ़ को देखा। वज्जी-गणतन्त्र का जो अपूर्ण स्वरूप चित्त पर अंकित था, उस पर एक दृष्टि डाली। अशोक स्तम्भ के बारे में कई तरह की बातें सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया। रात को गढ़ से पच्छिम एक ठाकुरबाड़ी में ठहरा, जिसमें कितनी ही पुरातन खंडित मूर्त्तियाँ भी मौजूद थीं। मन्दिर के पुजारी एक वृद्ध राजपूत थे। अयोध्या के बारे में बात करते वक्त उन्होंने अपने को पंडित रघुबरदास का पिता बतलाया। मैंने कुछ आश्चर्य-सा प्रकट किया। उन्होंने बड़े करुण स्वर में कहा—यदि उन्हें इस सम्बन्ध को प्रकट करने में लज्जा मालूम होती है, तो खोलने की क्या आवश्यकता, यह तो मैंने प्रसंगवश कह दिया।

बसाढ़ से मुझे पटना आना था। मैंने रास्ते को नकशे से देखकर नहीं निश्चित किया था। रास्ते से दस-पाँच मील इधर-उधर हो जाने की कोई परवाह नहीं थी, क्योंकि किसी जगह पहुँचने की कोई खास तिथि तो निश्चित कर नहीं रखी थी।

गंडक का घाट पार हो मकेर, परसा (थाना) होते शीतलपुर से रेल द्वारा दिघवारा आया। पटना कभी आया न था, और न जाने कौन से संस्कारवश मैंने समझा कि दिघवारा से नदी पार होने पर पटना पहुँच जाते हैं। स्टेशन से सामनेवाले हलवाई से चटाई लेकर रात को वहीं सो रहा। इधर जो गाँजा-चिलम की कुछ मश्क हुई थी, तो देखा-देखी सिगरेट का डब्बा खरीदकर सीखने के लिए सिरहाने रखा हुआ था। सबेरे किसी धार्मिक आदमी की उस पर नजर पड़ी, तो उसने फटकारा—'कैसे साधु हो, सिगरेट पीते हो ?' सचमुच ही साधु के लिए शंकर की बूटी गाँजा-भाँग ही शोभा देती है, सिगरेट को छूकर मैं धर्ममर्यादा तोड़ रहा था। सिगरेट पीने की एकाध बार मैंने कोशिश जरूर की, किन्तु उसके धुएँ से मुँह का स्वाद और शिर की अवस्था जैसी हो जाती है, उसे बर्दाश्त नहीं कर सका। बिना शागिर्दी की सटक बर्दाश्त किये कोई उस्ताद थोड़े ही होता है ?

नाव से जब मैं गंगा पार हुआ, तो काफ़ी धूप थी। अभी दियारा ही दियारा था, दानापुर बहुत दूर था। अन्तिम रेती में पहुँचते वक्त वह खूब तप गई थी, और मैंने दौड़कर जलते तलवों से बड़े कष्ट के साथ उसे पार किया। छाले पड़ने का पूरा अन्देशा था, किन्तु बच गया।

दानापुर में किसी उदासी साधु की कुटिया में ठहरा। दूसरे दिन बाँकीपुर में भीखमदास की ठाकुरबाड़ी में रुका। उस समय ठाकुरबाड़ी में रोज माल्दा आम आते थे। यह आमों का राजा पटना की ख़ास चीज है, यह मुझे नहीं मालूम था। मैं दो या तीन दिन पटना में रहा। साधुओं को जहाँ तक हो सके पायखाने का बायकाट कर शहर के आसपास के खेतों में खुली हवा—खुली जमीन को इस्तेमाल करना चाहिए—इस शास्त्र के अनुसार वह बगीची के आसपास के उन खेतों में डोल-डाल (पायखाने) जाया करते थे, जहाँ अब नया कदमकुँआ बसा हुआ है।

पटना से बख्तियारपुर होते बिहारशरीफ़ कचहरी उतरा। डाकबँगले के हाते में गुप्तकालीन पाषाणस्तम्भ और उसके शिलालेख को देखते-पढ़ते नहीं, क्योंकि अभी पुरालिपि का परिचय नहीं था—कस्बे में किसी ठाकुरबाड़ी में रात को ठहरा।

आगे नालन्दा पैदल ही गया। उस वक्त खुदाई तो हुई थी, किन्तु इतने अधिक बिहार उद्घाटित नहीं हुए थे। चीनी यात्रियों—फ़ाहियान, ह्वेनचांग, इत्सिंग को मैंने ध्यान से पढ़ा था—काल्पी में रहते फ़ाहियान की यात्रा का आधा बल्कि अनुवाद कर डाला था, जिसे कि ओंकार प्रेस (प्रयाग) वालों ने लेकर कहीं गुम कर दिया—इसी से बौद्ध स्थानों की मेरी यात्रा बड़ी अन्तर्दृष्टि के साथ हो रही थी। अब तक एक से अधिक लेख मैं 'भारती' को लिख चुका था। उस वक्त नालन्दा के पास के विशाल ह्रद लाल कमलों से बिछे सचमुच ही पद्मक्षेत्र से दीखते थे। म्युजियम देखने के लिए गया। उस वक्त पंडित (डाक्टर) हीरानन्द शास्त्री नालन्दा में खुदाई कर रहे थे। म्युजियम देखने के इच्छुक एक साधु आये हैं—सुनते ही वे चले आये, और खुदाई से निकली चीजों को दिखलाते रहे। मैंने स्थान की गर्मी के बारे में पूछा, उन्होंने बतलाया—गर्मी तो है, किन्तु स्वास्थ्य के लिए कोई हानि नहीं करती। मैं एकाध साल कश्मीर में रहकर आया हूं, किन्तु यहां आने पर मेरे बच्चों को कोई खास शिकायत नहीं।

नालन्दा से राजगिर गया। (ब्रह्मकुंड-बैभार पर्वत) के पास की वैष्णव मठिया में ठहरा। उस वक्त वहाँ एक बूढ़े साधु रहते थे। राजगिर में इतने मकान या धर्मशालाएं नहीं बनी थीं। न वर्मी (?), जापानी विहार ही थे। मठ में एक और तरुण साधु थे, जो कुछ पढ़े-लिखे भी थे। मेरे पहाड़ों पर घूमने और दर्शनीय स्थानों के देखने में उन्होंने बड़ी सहायता की। मैं फ़ाहियान-ह्वेनचांग की यात्राओं को पढ़कर निकला था, यह अब खूब याद आ रहा है, इसीलिए यात्रा में मजा आ रहा था।

गया जाने के लिए मैंने सीधा रास्ता पूछा। यदि बुद्ध की बोधगया से राजगिर आने की यात्रा का पता होता—जिसे कि मैंने अपनी 'बुद्धचर्या' में दिया है—तो मैं उसी रास्ते चलता। मुझे पहाड़ का वह रास्ता बतलाया गया, जो कि राजगिर से नबादा की ओर जाता है। पहाड़ में एक जगह रास्ता भूलने पर जैन मन्दिरों के एक पुजारी ने बतलाया—पहाड़ों पर जहाँ-तहाँ बिखरे हुए जैनमन्दिरों की पूजा के लिए ऐसे कुछ पुजारी गाँव के पंडों में से रखे गये हैं। पहाड़ों को पार कर, और कितनी ही दूर चलकर शाम को मैं किसी स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ से गया, गोलपत्थर के पास एक वैरागी स्थान में ठहरा।

बोधगया जाने के लिए दो-एक वैरागी साथी भी मिले। हम लोगों ने पैदल ही उस रास्ते को तै किया। पीछे दर्जनों बार गया जाने का मौका मिला, इसलिए उस आरम्भिक साक्षात्कार की छाप बहुत कुछ मिट गई है। तो भी बुद्ध के प्रति मेरी भक्ति दयानन्द से भी बढ़कर थी—हाँ उस वक्त मैं यह समझने की भी गलती कर रहा था, कि बुद्ध दयानन्द ही की भांति वैदिक धर्मप्रचारक ईश्वरविश्वासी ऋषि थे। गर्मी के दिन थे, इसलिए उस वक्त वहाँ कोई विदेशी बौद्ध नहीं मिला। मेरे साथियों ने बोधगया महन्त के यहाँ से सदावर्त ली, निरंजना के किनारे की ओर एक धर्मशाला में रसोई बनाई, और दोपहर का भोजन वहीं हुआ।

गया से रेल द्वारा मैं भागलपुर पहुँचा। कालेज की पुरानी इमारत के पास एक वैरागी-स्थान में ठहरा। महन्त पतले-दुबले बूढ़े ब्रजवासी थे। अब एकाध झोंके वर्षा के आ चुके थे। आम खाने को खूब मिल रहे थे। महन्तजी का रहने का आग्रह हुआ, और मैंने भी सोचा, आमों की फ़सल बिताकर यहाँ से आगे चलना चाहिए। मठ के बाहर की फुलवारी में कई हरे-भरे नारियल थे, जिनको देखकर मुझे भ्रम होने लगा था, कि मैं बंगाल की भूमि में पहुँच गया हूँ। मठ की एक शाखा चम्पानगर नाले के उस पार गंगा के किनारे के किसी गाँव में थी। उस वक्त गंगा की धार गाँव को काट रही थी, इसलिए लोगों ने लकड़ी के लोभ से कितने ही आम के दरख्तों को कटवा लिया था। वर्षा से गाँववालों को कुछ आशा बँधी थी, कि शायद घर बच जावें। महन्तजी गाँजा-भाँग का नियम से सेवन करते थे, और अब मैं भी उसमें शामिल था। नाच-नाचकर 'हरे राम' कहते हरिकीर्तन करना मुझे यहीं देखने में आया। भागलपुर के (तथा बिहार के भी) विख्यात कीर्तनाचार्य क्रिस्टो बाबू कीर्तन के लिए आये हुए थे। दर्शकों की बड़ी भीड़ थी। कीर्तन का समय रात को था। महन्तजी ने गोली कुछ बढ़ाकर शर्बत में घोली थी, इसलिए मुझे नशा ज्यादा चढ़ गया, और क्रिस्टो बाबू के कीर्तन का मजा नहीं उठा सका।

भागलपुर के मठ में महीने-भर से कुछ ही कम दिन रहा हूँगा। यहाँ, मठ के दरवाजे पर सड़क की दूसरी

ओर एक पुस्तकालय था, जहाँ पुस्तक और अखबार पढ़ने का भी कुछ सुभीता था।

भागलपुर से मेरा इरादा हुआ मुर्शिदाबाद चलने का। पैसा खतम हो जाने से अब "दस-आने-छै-आने" में चलना था। रात की गाड़ी में सवार हुआ। सो गया, जब नींद खुली तो देखा सबेरा हो रहा है, और मैं मुर्शिदाबादवाले जंक्शन से बहुत आगे चला आया हूँ। बंगाल में कुछ पैदल चलने का इरादा था, इसलिए वहीं उतर पड़ा। पास का गाँव कासिम-बाजार के राजा साहेब का था, वहाँ उनकी ओर से एक हाई स्कूल भी था। मुझे भूख लगी थी। एक ब्राह्मण की कुटिया में जाकर पूछा—माई, कुछ खाना देगी ? ब्राह्मणी ने फूस के सुन्दर छतवाले साधारण किन्तु स्वच्छ घर के लटकते ओसारे के नीचे सीमेंट के फ़र्श पर चटाई दे बैठा दिया। खाना बनाने में देर होती, इसलिए मैंने गुड़ की मूरी (लाई) को ही पसन्द किया। घर में कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति पैदा हुआ था, उसने अभी-अभी कमाई शुरू की थी, और सीमेंट के फ़र्श तथा कुछ और सुधार घर में किये थे, कि मौत ने आ घेरा। अब घर में दो प्रौढ़ा और वृद्धा विधवाएँ रह गई थीं।

भागीरथी की किसी धारा को पार कर फिर सड़क पकड़ी। अब मैं ठेठ बंगाल में था। लोगों के तेल चूते सँवारे हुए केश, पान से काले पड़ गये दाँत, मलेरिया का मारा स्वास्थ्य। कितनी ही जगह गृहस्थ धान के खेतों की निराई करते थे। शाम से पहिले ही मैं पलासी या उसके पास के स्टेशन पर पहुँचा। मालूम हुआ मुर्शिदाबाद दूर छूट गया, आगे थोड़ी ही दूर पर रानाघाट आयेगा। मैंने सोचा, अच्छा है, आसाम भी हो आवें। स्टेशन के छोटे-छोटे नौकरों में कुछ बिहारी थे। उन्होंने रात को भोजन कराया।

सबेरे सात या आठ बजे मैं रानाघाट उतरा। किसी से पूछ-ताछ नहीं की, स्वयं तै कर लिया कि रानाघाट ब्रह्मपुत्र के किनारे है, और ब्रह्मपुत्र पार से आसामवाली रेल को पकड़ना अच्छा होगा। अभी मुँह-हाथ धोना भी था, इसलिए मैंने 'गंगाधारे' का रास्ता पूछा। लोगों ने एक सड़क बतला दी। आगे जाने पर देखा वहाँ ब्रह्मपुत्र कहाँ, वहाँ तो एक छोटी-सी नदी है, जिस पर नावों का पुल बँधा है। सड़क शान्तिपुर को जा रही थी। कहा—चलो, इधर भी यजमानी है। नदी किनारे मुँह-हाथ धो आगे बढ़ा। धूप नहीं थी। आसमान में बादल घिरे हुए थे। चारों ओर हरे-भरे खेत या वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। शस्य-श्यामला बंगभूमि की मनोहारिनी छवि वर्षा के कारण अपने यौवन पर थी। बंगला तो कुछ पढ़ लेता था, किन्तु अभी तक बंकिमचन्द्र या किसी दूसरे महान् उपन्यासकार के बँगला ग्रन्थ पढ़े नहीं थे, नहीं तो शायद उस प्रकृति-अवलोकन में और भी मजा आता।

दस या ग्यारह बजे भूख मालूम हुई। एक पक्के किन्तु बेमरम्मत घर में गया तो मालूम हुआ उसमें उपस्थित पुरुष कुछ पागल-सा है। वहाँ से आगे शायद उसी गाँव में एक दूसरा बँगलानुमा घर मिला। भिखमंगे से बिलकुल उलटे स्वर में मैंने वृद्ध गृहपति से पूछा—'क्या कुछ भोजन देंगे ?' वृद्ध ने तुरन्त उत्तर दिया—'हाँ, जरूर, आइए।'

उन्होंने बैठक में एक आरामकुर्सी पर बैठाया। वहाँ कुर्सी-मेज काफ़ी थे। दीवारों पर तसवीरें भी थीं, किन्तु उनकी अवस्था से मालूम होता था, कोई उनकी कदर करनेवाला नहीं है। रसोई तैयार होने में जरा-सी देर थी। वृद्ध ने एक आठ-दस वर्ष के बच्चे को बुलाकर प्रणाम करवाया। फिर एक बड़े फोटो को दिखलाकर कहा—"यही इसके बाप थे, मेरे एक मात्र पुत्र; वकील हुए थे, अभी काम चल ही निकला था, कि भगवान् ने बुला लिया। अब यही एक पौत्र हमारे वंश का अवलम्ब है। मैं स्टेशन मास्टर था, इससे कुछ पेंशन (?) मिलती है। कुछ खेत-पात भी हैं। खाने का भगवान् की दया से कोई दुःख नहीं। किन्तु पुत्र-वियोग, पुत्रवधू का वैधव्य बराबर सताता रहता है।" मालूम नहीं, मैंने कुछ वैराग्य का उपदेश दे, उन्हें सान्त्वना दी, या किसी दूसरी तरह से। गृहस्थ के घर में बंगाली-भोजन का शायद पहिला मौका था। कटहल के कोये जो सेर-सेर, डेढ़-डेढ़ सेर बगैर हिचकिचाहट के खा जाये, उसके सामने यहाँ पर डरते-डरते दो-तीन कोये का रस गारकर कटोरी में रखना क्या मजाक नहीं था ? भोजन स्वादिष्ट मालूम हुआ, उसमें नारंगी रंग का एक अचार तो और भी, जिसे दो-तीन बार काटकर खा लेने के बाद मैं जान सका कि यह बड़ा झींगा है। खैर, "हरेरिच्छाबलीयसी", वही मत्स्यावतार धारण कर यदि हर जगह पहुँचे रहते हैं, तो मैं निर्बल मनुष्य क्या कर सकता।

भोजन के बाद जब मैं चलने लगा, तो गृहपति ने एकाध दिन रहने का बहुत आग्रह किया, किन्तु अकृत्रिम ढंग से उसे अस्वीकृत कर मैं आगे चलता बना। शायद उसी दिन शाम को शान्तिपुर पहुँचा। साधु का स्थान

पूछने पर कस्बे से बाहर तालाब के भींटे पर एक साधु का पता लगा। वह एक पंजाबी उदासी थे। लाल लँगोटा, पीली खुली जटायें, गले में काले ऊन की माला, तरुण दीर्घ देह में अखंड भभूती। भाषा से अनजान तथा बहुत कुछ निरक्षर होते हुए भी साधु ने हाल ही में आकर वहाँ अच्छा सिलसिला जमा लिया था। गांजे की कमी नहीं रहती थी, और गांजे की महक पर तो गृहस्थ भी मधुमक्खियों की तरह टूटते हैं। मछली-मांस के कारण महात्मा छूत-छात का बहुत खयाल करते थे। बस, धुनी पर ही एक बड़ा-सा टिक्कर लगा लेते, तथा बराबर के घी-चीनी-दूध से भोजन होता। धोती के शान्तिपुरी पाढ़ को मैं बहुत सुन चुका था, किन्तु यह जानकर अफ़सोस हुआ, कि अब वह पाढ़ अधिकतर माञ्चेस्टर से बनकर आते हैं।

रात को मैं स्टेशन पर जा रहा था, उस वक्त कुछ मनचले गाना गाते जा रहे थे। सुर गजल का किन्तु भाषा बेगला थी, मैंने कहा—चलो एक बात में तो बंगालियों ने कुछ हमसे लिया। रेल से रवाना तो हुआ, किन्तु कितनी दूर इसका खयाल नहीं। एक रात कृष्णनगंर में ठहरा था, शहर से बाहर सड़क पर के एक पान-सिगरेट वाले तरुण की दूकान पर। रात को उसने मछली-भात खिलाया। बचपन के मत्स्यप्रेम को आज के झींगा के अचार ने जगा दिया था।

गंगा पार उतरने पर जब मैंने पैसा देना चाहा, तो घटवार ने छपरा की बोली में बोलते हुए कहा—'नहीं, बाबा, हम तुमसे पैसा नहीं लेंगे।' यहाँ, इतनी दूर छपरा के लोगों का घाट का ठीका !

नदिया (नवद्वीप) में एक गौड़िया साधु के स्थान में आसन रखा। न्यायशास्त्र में नदिया की कीर्ति काशी और दूर तक पहुँची हुई थी। वहाँ कुछ बिहारी संस्कृत छात्र भी मिले। उनसे संस्कृत में बातचीत हुई। मैंने हाल में ही नव्यन्याय के कुछ ग्रंथ पढ़े थे। इसलिए न्याय के उन विद्यार्थियों को भी अपना परिचय देने में मुझे दिक्कत न हुई। हिन्दी भाषाभाषी छात्रों की संख्या बहुत कम थी, उन्होंने मुझे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, और वहीं रहकर पढ़ने के लिए आग्रह किया। महामहोपाध्याय कामाख्यानाथ तर्कवागीश के बारे में मैं काफ़ी सुन चुका था। न्यायवात्स्यायनभाष्य पढ़ने की जब दिक्कत हो रही थी, तो उनका नाम कई बार मेरे सामने आया था। उनके चेहरे की बहुत क्षीण स्मृति रह गई है, शायद वह महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य की भाँति दुबले-पतले मझोले कद के वृद्ध थे। उनके हाथ में नारियल और मुँह से निकलता धुँआ मुझे अब भी याद है। वह चारपाई या कुर्सी पर नहीं बैठे थे। विद्यार्थियों ने मेरा परिचय उत्तर-भारत के नये विद्यार्थी के तौर पर कराया। मैंने श्रवण से सुने हुए विद्या वैभव को आँखों से देखकर अपने को धन्य-धन्य समझा। शायद नदिया में विद्यार्थियों की कमी रहती है, इसीलिए महामहोपाध्यायजी ने मुझे आग्रहपूर्वक रहने के लिए कहा। बनारस में निश्चय ही मध्यमा और आचार्य के एकाध खंडवाले विद्यार्थी को कामाख्यानाथ की कोटि के पंडित उतना आग्रह नहीं करते, विशेषकर प्रथम दर्शन में। आखिर, काशी के लिए सारे भारत से विद्यार्थी-धाराएँ आती हैं, और नदिया में सिर्फ़ बंगाल से, जहाँ भी कलकत्ता में एक प्रतिद्वन्द्वी संस्था संस्कृत कालेज है। संस्कृत के विद्वानों की कठिनाइयाँ छात्रावस्था के साथ खतम नहीं हो जातीं। पंडितावस्था में भी यदि योग्य विद्यार्थी नहीं मिले, तो पढ़ी-पढ़ाई विद्या भूल-भुलाकर साफ़ होने का डर रहता है।

नवद्वीप के कई मन्दिरों को देखा। उस मठ को भी देखा, जिसका सम्बन्ध गौरांग महाप्रभु (चैतन्य) से है ? एक भजनाश्रम में पचासों विधवा-स्त्रियों को आधसेर चावल के लिए घंटों 'हरे राम' 'हरे राम' करते देखा। भजनाश्रम की लोग बड़ी शिकायत कर रहे थे। जैसे उत्तर भारत की कुलीन तरुण विधवाओं का निस्तार काशी में होता है, वैसे ही बंगाल का नवद्वीप में, फिर भजनाश्रम बेचारा बदनामी से क्यों बचता ? शाम को ढूंढ़ने पर उत्तर भारतीय वैरागी स्थान भी मिला। मैंने तो तै किया—दक्षिण में पढ़ने जाने की जगह यहीं पढ़ा जावे, न्याय-मीमांसा ही सही।

रात को जब मच्छरों की फौज ने हमला शुरू किया, तो शाम का निश्चय जवाब देने लगा। किसी तरह रात काटी। सबेरे सारे बदन में मच्छरों की चोट के दाग थे, दाहिने हाथ की तर्जनी के मध्य में तो खूब खुजली हो रही थी।

सबेरे उठते ही मैंने स्टेशन का रास्ता लिया, किसी से विदाई भी लेने नहीं गया।

कलकत्ता में अब के जगन्नाथ मन्दिर (जगन्नाथ घाट) में ठहरा। कलकत्ता महीनों रह चुका था, इसलिए देखने-सुनने की कोई खास चीज बाकी बची न थी।

सोचा, समय की बचत का भी खयाल रखना जरूरी है, तो भी अधिक से अधिक स्थानों और प्रान्तों को देखते चलना चाहिए।

हवड़ा से मैंने बी. एन. आर. की लाइन पकड़ी। पहिली रात एक गाँव में ठहरा, जहाँ यात्रा (रासलीला) हो रही थी। खड्गपुर कितने दिनों में पहुँचा, याद नहीं। आखिरी दिन दोपहर को एक गाँव में एक ब्राह्मण ने छोटी मछली के साथ भात खिलाया। खड्गपुर से खुर्दा रेल से गया, और आगे पुरी तक पैदल। उड़िया दीहात की दरिद्रता देखी। एक बड़े जमींदार के यहाँ सदावर्त मिलती थी। कई साधुओं के साथ मैं भी वहाँ गया। उनके यहाँ एक अच्छा शिखरदार मन्दिर था। जिस वक्त साधुओं को सदावर्त दिलवा रहे थे, उसी वक्त किसी रैयत ने कई जीती माँगुर मछलियाँ भेंट में पेश कीं। मुझे याद आया—'माँगुर माछेर झोल। तरुणी मेयेर कोल। बोल हरी बोल।' रामकृष्ण परमहंस भी रंगीला रहा होगा।

साखी गोपाल में रात को ठहरा था, किन्तु अब उसका नाम-भर याद रह गया, सो भी पीछे हजारीबाग जेल में पंडित गोपबन्धुदास के दर्शन करने तथा उनके द्वारा स्थापित विद्यालय के बारे में सुनने पर। पुरी में अब के डांडिया जगन्नाथदास के स्थान में ठहरा। डांडिया जगन्नाथ की हजारों की जमात मद्रास, महाराष्ट्र छोड़ बाकी सारे भारत में, धूमधाम से घूमने के लिए मशहूर थी। वह बराबर चलती ही रहती, सिर्फ़ बरसात के तीन महीने किसी बड़े शहर को देख चातुर्मासा करती। जगन्नाथदास इस जमात के बड़े महन्त थे, और उनके नीचे ग्यारह और महन्त—जिससे उन्हें बारह भाई डांडिया कहा जाता था। हर कुम्भ पर डांडियों की जमात जाती, और उस वक्त इनकी संख्या कई हजार पहुँच जाती थी। जमात में कपड़े के चलते-फिरते मन्दिर (तम्बू), साधुओं के रहने के लिए बड़े-बड़े छाते, छोलदारियां और शामियाने रहते। इतनी बड़ी जमात में व्यवस्था कायम रखना, तथा बिना पैसे के सारा खाने-पीने का प्रबन्ध करना आसान काम न था। महन्त जगन्नाथदास 'चेताने' में बहुत सिद्धहस्त थे। उनकी मीठी बातों, विशाल जटाओं को देखकर कौन प्रभावित हुए बिना न रहता। उनकी जमात पैदल चलती थी। एक-दो दिन पहिले अगले मुकाम पर खबर चली जाती—कि जमाअत आ रही है; फिर उस कस्बे या शहर के गृहस्थ घी, आटा, चीनी, रुपया जमा करने में लग जाते। एक साथ हजार-हजार जटा-भभूत-धारी सन्तों को देखकर गृहस्थ गद्गद हो जाते, फिर खाने-पीने की तकलीफ़ कैसे हो सकती थी ? पूजा के रुपये में महन्तों का भाग काफ़ी रहता। महन्त जगन्नाथदास ने अपने उन्हीं रुपयों से यह स्थान बनवाया था, जो अभी पूरा नहीं हो पाया था। वैरागी लोग वैसे छूआछूत, और जूठ-मीठ का बहुत विचार रखते हैं, किन्तु जिस तरह जगन्नाथजी (पुरी) में एकादशी को उलटी बाँधकर टाँग दिया गया है, उसी तरह छूआछूत को भी। मठ में जगन्नाथजी के चढ़े कुछ हटके भी आया करते थे। परोसनेवाले साधु परोसते हुए, बीच से गफ्फा भी लगाते जाते थे। मुझे खयाल आता था—सारा भारत ही पुरी हो जाता, तो कैसा अच्छा रहता।

पुरी में नदिया के मच्छरों की सताई अँगुली कुछ पक आई, किन्तु मैंने उसकी परवाह नहीं की। आंध्र में दो या तीन जगह दीहात के स्टेशनों में उतर कुछ पैदल चला था। राजमहेन्द्री में गोदावरी तीर पर उस वक्त एक भारी मेला लगा हुआ था। गृहस्थों के अतिरिक्त ज्यादातर दक्षिण के साधु थे, और उत्तर के साधुओं से तुलना करने पर वे निरे भिखमंगे जँचते थे। उत्तरीय साधुओं में आचार-विचार के कितने ही अलिखित नियम हैं, वेषधारी साधु उनकी अवहेलना खुल्लम-खुल्ला करने की हिम्मत नहीं रखता; किन्तु यहाँ सभी अपने आप अपने आचार्य। मेले में कुछ उत्तर भारतीय साधु भी थे, जिनके यहाँ मैं ठहर गया। दो-एक दिन अस्पताल में अँगुली धुलाने गया किन्तु अभी वह अच्छी नहीं हुई थी। विजाग में भी दो-एक दिन रहकर अँगुली धुलवाई, फिर तिरुपती पहुँच गया।

तिरुपती मठ में अब के कुछ नये नियम बर्ते जा रहे थे। साधु को मठ से बाहर रहना पड़ता, जब वह बालाजी से हो आता, तो मठ के भीतर आसन दिया जाता। मैं भी पिछवारे के एक बरांडे में ठहरा। संयोग से दारागंज (प्रयाग) के तुलसीदास के स्थान के बाबा रामटहलदास (सितारची) भीतर ठहरे हुए थे, उन्होंने मुझे

देख लिया–'शास्त्रीजी ! आप कहाँ ?' फिर मठ के किसी अधिकारी से कहकर मुझे भीतर लिवा गया। उस वक्त जलगोविन्द (?) स्थान में एक परमहंस वैरागी साधु–जो जन्म से बंगाली थे–ठहरे हुए थे, उनके साथ चन्द्रनगर (फ्रेंच) का एक लड़का था। महन्तजी ने चेला बनाने के लिए एक लड़का खोज लाने के लिए कहा था, इसीलिए परमहंसजी इस लड़के को लाये थे। लड़का मिडल तक पढ़ा हुआ था। हमारे पुराने परिचितों में अब कोई न था। तिरुपती संस्था ने एक संस्कृत-कालेज खोला है, सुनकर मैं उसे देखने गया। प्रधानाचार्य श्री देशिकाचार्य से मिला। देशिकाचार्य दक्षिण के प्रकांड पंडित थे, उनके पांडित्य के बारे में मैं पहिले ही से सुन चुका था। उन्होंने पाठशाला दिखलाई, और वेदान्त मीमांसा की पढ़ाई की बात चलने पर वहीं रहकर पढ़ने के लिए कहा। वह सब तरह से सहायता देने को तैयार थे। ऐसे गुरु से पढ़ने के लिए मैं कम लालायित न था, और बालाजी से लौटने पर पढ़ाई आरम्भ करने की बात कहकर चला आया। यहीं लोकमान्य तिलक की मृत्यु की खबर मिली, और शोकसभा देखी।

बालाजी में अब के वह मस्ताना बाबा 'कृष्ण कन्हैया तुम्हीं तो हो' नहीं मिले। बतास-पंछी कहीं एक जगह रहा करते हैं ? रघुबरदास (?) पिछली बार जो लघुकौमुदी के कुछ पन्ने घोखते मिले थे, अब वह बड़े हो गये थे, और योग्यता से भी अधिक अपने पांडित्य का अभियान रखते थे। छपरा जिला में उनका जन्म हुआ था, इस खयाल से तथा पहिले के परिचय के कारण भी मैंने कुछ अधिक नजदीकीपन से बात शुरू की; किन्तु तुरन्त ही मालूम हो गया, कि हमारे दोस्त कई ताड़ ऊँचे से बात कर रहे हैं। इसे सहन करना मेरी प्रकृति के विरुद्ध था, किन्तु साथ ही उसके लिए झगड़ा मोल लेने को भी मैं भारी मूर्खता समझता था। रघुबरदासजी (या जो उनका नाम रहा हो) को हाल में कुछ बुखार-सा आया था, और महन्तजी ने डाक्टर बुला दिया था। कह रहे थे–"बड़ी गर्मी थी, सोडावाटर और बर्फ कितना ही पीता, कुछ असर नहीं होता।" सोडावाटर और बर्फ को ऐसे ढंग से कहते, मानो वह इन्द्रपुरी का दुर्लभ अमृत-कलश है। उनके बदन पर साधुओं का साधारण अँचला नहीं बल्कि अच्छे कपड़ों का किन्तु जगह-जगह सिकुड़ा हुआ कमीज था। अपने उस सम्भ्रान्त वेष के सामने मेरी कम्बल की अल्फी की वह क्या गिनती करते ? संस्कृत कालेज की बात चलाने पर, वह इस तरह बातें करने लगे, मानों उसके कर्ता-धर्ता सब कुछ वे ही हैं। मैंने यह तो देखा, कि पिछले सात वर्षों को इस पुरुष ने खोया नहीं है, किन्तु उसका विद्याभिमान 'जस थोरे धन··· बौराई' वाली बात थी। मैंने वहीं तै किया, कि तिरुपती में रहने पर इन्हें अपनी इन्द्रगद्दी छिन जाने का डर रहेगा, इसलिए सीधे तिरुमिशी चलना ही अच्छा है।

पहाड़ से उतरकर मैं सीधे स्टेशन पर पहुँचा। मठ में जाने की जरूरत न थी, फिर जलगोविन्द के परमहंस से भेंट होती, और महन्त के आये होने पर उनसे बातचीत करनी पड़ती।

अब न मुझे दिव्य देशों के देखने की इच्छा थी, न पर्यटन की लालसा। तिरुपती में अँगुली धुलवाने अस्पताल जाना पड़ा था। बीच में कई दिन न धोने से वह ज्यादा पक गई थी। मैंने तो डाक्टर की कैंची के सामने भीतर से शंकित रहते भी बाहर से मुस्कराते अँगुली बढ़ा दी, किन्तु रामटहलदास वहाँ से भाग गये। बालाजी में दो-तीन दिन अँगुली न धुली, उसी से मवाद फिर बढ़ गया था। अब कहीं भी बिना ठहरे मैं सीधा तिरुमिशी पहुँचा।

11
दुबारा तिरुमिशी में (1920-21 ई.)

स्वामी हरिप्रपन्नाचार्य अब कुछ ज्यादा मोटे हो गये थे, और बाहर से स्वस्थ दीखते हुए भी भीतर से अधिक जीने की आशा नहीं रखते थे। कर्वी से भेजे एक पत्र के उत्तर में उन्होंने जीवन की अस्थिरता के साथ मुझे

शीघ्र आने के लिए लिखा था। मैं स्थान से पढ़ने में सहायता जरूर चाहता था, किन्तु महन्त बनने के लिए तैयार न था। आषाढ़ महीने में अपने नये मन्दिर में उन्होंने नई मूर्त्तियों की स्थापना की, और उसी वक्त उत्तराधिकारी भी घोषित कर देना चाहते थे, मेरे न आने पर उन्होंने बदायूँ या बिजनौर जिले के एक ब्राह्मण-लड़के को उत्तराधिकारी शिष्य बनाया। उन्होंने देर से आने के कारण उक्त व्यवस्था कर डालने के लिए अफ़सोस जाहिर किया। मैंने उसके लिए प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महन्त दूसरा हो, यही तो मुझे पसन्द है। मैं चाहता हूँ विद्या पढ़ना, बस इसी में आपके आतिथ्य को चाहता हूँ।" उन्होंने बड़े प्रेम से मेरे रहने का अच्छा प्रबन्ध कर दिया। पहिले का एकमहला पच्छिमवाला मकान अब दोमहला हो गया था। ऊपर सफ़ेद सीमेंट के फ़र्श और दीवारों की कई पक्की कोठरियाँ थीं, उन्हीं में से एक में मेरे लिए स्थान दिया गया। देवराजजी अब भी हरिप्रपन्नाचार्य के विश्वासपात्र तथा भगवान की पूजा-रसोई में निरत थे। उनके रीवाँवाले गुरुभाई मद्रास में किसी वेश्या के फन्दे में पड़े, और अब सदा के लिए आतशक लेकर बैठे हुए थे, उनकी जबान ऐंठ गई थी—अक्षरों को ऐंठकर बोलते थे।

पिछले सात वर्षों में मठ की काफ़ी उन्नति हुई थी। सिर्फ़ दोनों घर ही अच्छे नहीं बन गये थे, बल्कि मद्रास में मासिक चन्दे की आमदनी भी प्रतिमास डेढ़ सौ से ऊपर हो गई थी। उगाहने के तरद्दुद से बचने के लिए हरिप्रपन्न स्वामी उसे और बढ़ा नहीं रहे थे, नहीं तो और दाता भी मिलने को तैयार थे। पचीस-तीस हजार से अधिक रुपया सूद पर दिया हुआ था, और कितने ही धान के खेत भी खरीद लिये गये थे। मठ की सारी सम्पत्ति साठ हजार से ऊपर की थी।

महन्ती का उम्मीदवार दूसरा है, इसे जानते भी मैंने जिस तरह अपना भाव दिखलाया, उससे हरिप्रपन्न स्वामी भी प्रभावित हुए। दूसरे दिन से बंड (बैल-ताँगे) पर मैं पुन्नमले अँगुली धुलाने जाता। और आठ-दस दिन बाद नदिया के मच्छरों की चोट चंगी हुई, निशान तो खैर सारी जिन्दगी के लिए वे दे गये।

मेरी इच्छा वेदान्त और मीमांसा पढ़ने की थी। स्वामी हरिप्रपन्न की इच्छा हुई कि, 'अष्टादशरहस्य' ग्रंथों को भी द्रविड़ भाषा में पढ़ूँ। वेदान्त पढ़ाना मेरे पुराने सहपाठी भक्ति—अब टी. वेंकटाचार्य—के पिता श्री निवासाचार्य ने स्वीकार किया। भक्ति स्वयं अब 'मीमांसाशिरोमणि' हो गये थे, इसलिए उनके साथ शास्त्रदीपिका आदि का पढ़ना तै हुआ। मैं रोज 'भक्ति' के घर पढ़ने जाया करता। ब्याह का कुछ विरोधी होने के कारण 'भक्ति' के ब्याह की खबर मुझे कुछ प्रसन्नतादायक नहीं मालूम हुई—इस ब्याह में उनकी अपनी सगी फूफी ही सास हुई थीं। पंडित भागवताचार्य को मेरे आने की खबर लगी, तो बहुत खुश हुए, और उन्होंने श्री निवासाचार्य के पास मेरे लिए पत्र लिखा। मैं मन लगाकर पढ़ने लगा। रामानुजभाष्य—श्रुतप्रकाशिका के कुछ अंशों को देखते हुए,—तथा शास्त्र-दीपिका का पाठ खूब जोर से चलने लगा। 'भक्ति' वेदान्त, मीमांसा अच्छी तरह पढ़े थे। पिछले वर्षों में इसके लिए वह अधिकतर मेलापुर-विद्यालय में रहे थे। किन्तु, आर्यसमाज—और बाहर की हवा लगने से मेरे तर्क सिर्फ़ पुस्तकों के सुझाव तक ही महदूद न रहते थे। कितनी ही बार हम दोनों साथ रामानुजभाष्य पढ़ते। पहिले रामानुज से श्रीनिवास तक की गुरु-परम्परा के श्लोकों को पढ़कर दंडवत् करते फिर पाठारम्भ होता। रामानुज का द्वैत-सिद्धान्त इस वक्त मेरा अपना सिद्धान्त था, क्योंकि वह आर्यसमाजी सिद्धान्तों से मिलता-जुलता था, तो भी और बातों में मैं कितनी ही बार रामानुज पर आक्षेप कर बैठता। एक बार भक्ति उत्तर देते-देते अन्त में निरुत्तर हो गये। मुझे बड़ा आश्चर्य और करुणा आई, जब मैंने देखा कि उनकी आँखों में आँसू भर आये हैं और वह भर्राई आवाज में कह रहे थे—"आचार्य का प्रश्न कमजोर नहीं हो सकता, नहीं हो सकता"। मेरी उम्र के जवान को इतनी धर्मभीरुता ! तब से मैं प्रश्नों को एकाध कोटि तक ही ले जाता। कितने ही प्रश्नों को सिर्फ़ पुस्तक पर लिख लेता। हाँ, तर्कपाद (शास्त्रदीपिका) के तर्क को हम दोनों निर्दयता से प्रश्नोत्तर का विषय बनाते।

सितम्बर के शुरू में ही मैं तिरुमिशी पहुँचा था। जाड़े के आने से उसका असर क्या होता, वहाँ तो कोठे पर की कोठरी में पसीने के मारे मेरी गत बनने लगी। इसी बीच हरिप्रपन्नाचार्य का मन नये उत्तराधिकारी से ऊब गया, और वे फिर अस्पष्ट रूप से मेरी ओर रुजू होने लगे। पहिले मेरे चौके में खाने के लिए पंडित

भागवताचार्य से कहा गया। उन्होंने पढ़ने में विघ्न समझ पहिले मना किया, पीछे स्वामी हरिप्रपन्न के कहने पर आज्ञा दे दी। फिर मन्दिर के पीछे की कोठरी में दो बड़े-बड़े जंगले बनवा उस हवादार घर में मुझे उतर आने के लिए कहा गया, इसका तो खैर, मैंने हृदय से स्वागत किया। हरिप्रपन्न स्वामी अब मुझे अपने उत्तराधिकारी की भावना से मानने लगे। मैंने रूसी क्रान्ति की उड़ती खबरों के बल पर क्रान्तिप्रसूत संसार का एक नकशा अपने मन पर अंकित किया था, कभी-कभी महन्तों, जमींदारों की सम्पत्ति का क्या हसर होगा, इसे मैं महन्तजी के सामने चित्रित कर देता–इसका ध्यान रखते हुए कि अपने विचारों को नहीं बल्कि वस्तुस्थिति को रख रहा हूं–तो बेचारे हरिप्रपन्नाचार्य घबरा उठते। आखिर, पैसा-पैसा जोड़कर उन्होंने यह सम्पत्ति और नई ठाकुरवाड़ी बनाई थी।

तिरुमिशी का संस्कृत विद्यालय अब उत्तरार्द्धि मठ से दो घर पूरब अपने घर में आ गया था। वहाँ के बूढ़े अध्यापक से मैं 'अष्ददश रहस्य' पढ़ने जाता। रामानुज-सम्प्रदाय की दो शाखाओं–तिंगलों और बळहलों–में से तिंगल-शाखा के 'अष्टादश रहस्य' पुस्तिकाओं के निर्माता पिल्ले लोकाचार्य थे जो रामानुजीयों के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् वेदान्ताचार्य के प्रतिद्वन्द्वी थे। ये रहस्य-ग्रंथ सूत्र-रूप में 'मणिप्रवाल' भाषा में लिखे गये हैं। 'मणि-प्रवाल' (मणि-मूँगा) ऐसी तमिल-भाषा का नाम है जिसमें सत्तर-अस्सी फ़ीसदी तक शुद्ध संस्कृत के शब्द हों। रहस्यों में ऐसी ही भाषा का प्रयोग है। मैं रहस्यों को शुरू करने से पूर्व तीन-चार तमिल-रीडरों को समाप्त कर चुका था, इसलिए भाषा समझने में आसानी थी। बीच-बीच में आये तमिल शब्दों को ही समझना पड़ता था। रहस्य के अध्यापक को साधारण अध्यापक से अधिक धर्मगुरु की तरह माना जाता है। मेरी योग्यता को जानते हुए, गुरुजी खुश हो तत्परता से पढ़ाते थे। 'रहस्य' गोप्य ग्रंथ हैं–यद्यपि सब ही तमिल और तेलगू अक्षरों में छपे मिलते हैं–इसलिए बहुत देख-सुनकर पढ़ाने का विधान है, तो भी तमिल प्रान्त के ब्राह्मण उस पर उतना ध्यान नहीं देते। मेरी वे पुस्तकें उत्तर-भारत में आते ही गुम हो गईं, इसलिए फिर एक दृष्टि से देखने का अवसर नहीं मिला, किन्तु दो बातें अब भी याद हैं। रामानुज-सम्प्रदाय के कितने ही परमपूज्य आळवार (ऋषि) और महात्मा तथा स्वयं रामानुज के गुरु शूद्र और महाशूद्र ज्गतियों में पैदा हुए थे। इस पर वर्णाश्रमियों का आक्षेप होता था और पीछे के रामानुजीय ब्राह्मण भी जाति-पाँत में दूसरों से दस कदम आगे हो गये, इसलिए उनके मन में सन्देह होता था। इसके समाधान में कहा गया था–गुरु की जाति का खोज-खाज करना मातृ-योनि-परीक्षा जैसी है, इसी तरह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् ब्रज' (सारे धर्मों को छोड़ अकेले मेरी शरण में चले आओ। मैं तुझे सारे पापों से छुड़ाऊँगा, शोक मत कर।) इस भगवद्गीता के वाक्य में धर्म-कर्म की आशा छोड़ सिर्फ भगवान् की शरण में जाने मात्र से मुक्ति बतलाई है; इस बात को अति तक ले जाते हुए रहस्यों में भक्ति से भी बढ़कर प्रपत्ति (निश्चेष्ट हो इष्टदेव की दया पर एक मात्र भरोसा) पर जोर दिया गया है। इससे वर्णाश्रम-धर्म तथा ब्राह्मणों की सभी धार्मिक रूढ़ियों का प्रत्याख्यान हो जाता है, तो भी हिन्दुओं के सम्प्रदाय 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' में तो एक दूसरे का कान काटते हैं। शंकराचार्य ने भी 'न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः' कहा, किन्तु अन्त में 'व्यवहारे भाट्टनय' से सारे ढोंगों को रहने दिया। रामानुजानुयायी शंकर मतानुयायियों से भी अपने को ज्यादा आस्तिक साबित करते हैं।

("वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः।।")

खैर ! शंकरवेदान्त के साधारण ग्रंथ ही मैंने पढ़े थे, किन्तु रामानुजभाष्य और उसकी टीका श्रुतिप्रकाशिका के पढ़ते वक्त शंकरवेदान्त के और ग्रंथों को देखने का मौका मिला। आर्यसमाज का प्रभाव रहने से सिद्धान्त में मैं द्वैतवादी हो रामानुज का समर्थक रहा। उसके कितने ही महीनों बाद कुर्ग से मैंने गुरुकुल कांगड़ी से निकलनेवाली अंग्रेजी पत्रिका 'वैदिक मेगजीन' में व्यास और उपनिषद् को शंकरीय अद्वैत के विरुद्ध साबित करते हुए दो लेख लिखे। इसी दार्शनिक ऊहापोह में बौद्धदर्शन के लिए अधिक जिज्ञासा उत्पन्न हो गई, रामानुज

और शंकर की ओर से, अन्ततः वर्णाश्रम धर्म का श्राद्ध करके दार्शनिक खंडन द्वारा ही बौद्धों का विरोध किया जाता था। और दार्शनिक सिद्धान्तों में रामानुजीय शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे, फिर बौद्धदर्शन क्या है, इधर ध्यान जाना जरूरी था, और पूर्वपक्ष के तौर पर उद्धृत कुछ वाक्यों से मेरी तृप्ति नहीं हो सकती थी। किन्तु और कामों—विशेषकर राजनीतिक परिस्थिति—ने जो मेरा ध्यान आकर्षित किया था, उसके कारण मैं ज्यादा समय इधर दे नहीं सकता था।

तिरुमिशी से महीने में एकाध बार मद्रास जाता था। मेरे साथी वेंकटाचार्य और दूसरे तरुण दोस्त वहाँ के उत्तर भारतीय होटल आनन्दभवन की मिठाइयों को छिपकर चख आये थे, और उन्हीं से मालूम हुआ कि मद्रास में एक नास्तिक समाज—आर्यसमाज—का प्रचार हो रहा है। मद्रास में पता लगाने पर मालूम हुआ कि वहां आर्यसमाज के प्रचारक मेरे परिचित मित्र पंडित ऋषिरामजी (लाहौर) हैं। अब तो जब भी मद्रास जाता, उनसे भेंट होती। वह प्रचार का काम हाथ में लेने पर जोर देते, मैंने भी अभी वैदिक-प्रचारक बनने के मंसूबे को छोड़ा नहीं था, तो भी आज-कल करता रहा। पंडित ऋषिरामजी के यहां से आर्यसमाज सम्बन्धी अंग्रेजी पुस्तकों—गुरुदत्त-ग्रंथावली आदि—को ले जाता, और एक तीर्थवासी दीवालिया बूढ़े सेठ (चेट्टी) के साथ उन्हें पढ़ता। सेठजी उसके तर्कों की दाद देते।

माघ महीने के आस-पास तिरुमिशी दिव्य-देश का वार्षिक महोत्सव आया। स्वामी हरिप्रपन्न का कैंकर्य (सेवा) अब बहुत आगे बढ़ चुका था। उत्सव के तीन-चार दिनों के लिए उनका मठ एक बड़ी अतिथिशाला का रूप धारण करता। सभी घर, कोठरियाँ, मद्रास और दूसरी जगहों के यात्रियों से भर जातीं, यात्रियों में अधिकांश अब्राह्मण होते। यह दोनों के लिए अच्छा था, उत्तरभारत के भुक्तभोगी होने से हरिप्रपन्न स्वामी सभी अब्राह्मणों को खान-पान में बिलकुल अछूत जैसा नहीं मान सकते थे और उधर अब्राह्मण चेट्टी, नायडू, मुदलियार आदि ही तो धनिक तथा धर्मविश्वासी होते हैं, इसलिए धन की आय के रास्ते भी वही हैं। जो गृहस्थ उत्सव के दिनों में एक बार हरिप्रपन्न स्वामी के मठ के 'भुज्यतां' 'पीयतां' को देख गया, वह भला हरिप्रपन्न स्वामी को क्या कभी खाली हाथ लौटा सकता था ?

उत्सव से एक-दो सप्ताह पहिले हरिप्रपन्न स्वामी मद्रास डट जाते। अब के अपने सेवकों को दिखलाने के लिए वह मुझे ले गये। बड़ी सख्त मेहनत थी। धूप में मद्रास के दूर-दूर के मुहल्लों में दौड़ते फिरना भारी मेहनत की बात थी। हरिप्रपन्न स्वामी रिक्शा या बंडी पर एक भी पैसा खर्च करना पसन्द न करते थे। सुबह से शाम तक घूमते-घूमते मैं तो थक जाता। कहीं से दो बोरा नीलौरी चावल मिलता, कहीं से एक टीन घी, कोई कुछ हजार पत्तलें देता, और कोई इमली और मिर्च। तेलगू भाषाभाषिणी चेटियाइनों का इस विषय में अनुराग मारवाड़ी सेठानियों की तरह था। मुझे चिढ़ यही थी कि हरिप्रपन्न स्वामी उनके सामने अपने भाषण को छोटा क्यों नहीं करते। खाने के इतने पदार्थ जमा करते भी भूख-प्यास के मारे हम मरे जाते थे, क्योंकि अब्राह्मण घर का अन्न-जल तो छू भी नहीं सकते थे। हरिप्रपन्न स्वामी के दायकों में एक वेश्या भी थी। वह हर साल बड़ी श्रद्धा से, अपनी शक्ति से अधिक मिर्च-मसाला या कोई और चीज देती थी। वह तिरुमिशी के भगवान् की देवदासी थी; उत्सवों पर वहाँ पहुँचती, किन्तु बाकी समय व्यवसाय के सुभीते के लिए मद्रास में रहती। वेश्यावृत्ति एक व्यवसाय था, इसीलिए उसकी धार्मिक भावना क्षीण नहीं हुई थी।

उत्सव के वक्त आनेवालों में कितने ही उत्तरभारतीय तीर्थवासी आचारी तथा आचारिनें भी थीं, और एक मद्रास का गृहस्थ परिवार भी। हरिप्रपन्न स्वामी के एक शिष्य उस घर में आते-जाते थे। सैकड़ों वर्षों से उत्तरभारतीय पुरुषों ने इधर की स्त्रियों से शादी करके अपने अलग परिवार बना लिये हैं, जो हिन्दुओं के पारम्परिक धर्म के अनुसार एक स्वतन्त्र जाति में परिणत हो गये हैं। ये परिवार बराबर कोशिश में रहते हैं कि उनकी सन्तानों की शादी हिन्दी-भाषाभाषियों में ही हो। हमारे आचारी भी इसी फेर में पड़कर उस घर में शादी कर बैठे और अब घर-जमाई बने हुए थे। स्त्री के सामने रूप और आयु दोनों में वे जँचते नहीं थे, किन्तु कुल का खयाल कर माँ-बाप ने लड़की दे दी थी। घुमक्कड़ तरुण साधुओं के रास्ते में एक नहीं सैकड़ों बाधाएँ हैं। जब कभी मैं अपने अतीत जीवन पर नजर डालता हूँ, तो एक बात साफ़ मालूम होती है—मेरी जीवन की

सफलताएँ निर्भर थीं मेरे विवाह-बन्धन-मुक्त, स्त्री-स्नेह से स्वतन्त्र रहने पर। मैंने यही एक नहीं, पचीसों उदाहरण देखे, जिसमें स्त्री-स्नेह ने तरुणों की उमंगों पर पानी फेर दिया। तिरुपती में कानपुर की एक प्रौढ़ा सेठानी आई थीं, वह एक साधु को अपना 'पुजारी' बनाकर ले गईं। हमारे एक साथी ने प्रेमिका के पाने में आल्हा-ऊदल-सा पराक्रम दिखलाया, किन्तु अन्त में उसकी उन्नति वहीं खतम हो गई। लंका में एक जम्मू-वासी को देखा, एक काली तमिल स्त्री के लिए उसने अपने पर कटा लिये। जब तक उड़ान की चाह है, जब तक अपने आदर्श के सहायक साधनों को आदमी जमा नहीं कर सका है, तब तक उसका दोपाया रहना सबसे जरूरी चीज है, इस तत्त्व को मैं कुछ समझ गया था जरूर; किन्तु सिर्फ़ इतने के बल पर मैं दोपाया रहने में सफल न होता। आखिर, मैं स्वस्थ तरुण था, देखने-सुनने में कुरूप नहीं था, बल्कि लोला के कथनानुसार सुन्दर था। मेरे पढ़ने-लिखने, सैर-तजर्बे का प्रभाव भी आदमी पर पड़ जाता था। धन का उपयोग तत्कालीन आवश्यकताओं तक ही मैं परिमित समझता था, इसलिए धनिक होने के फन्दे से बचना कुछ आसान था, किन्तु सबसे ज्यादा जिस बात ने मुझे मुक्त रहने में मदद दी, वह थी लज्जा और संकोच। यदि लोगों की दृष्टि में गिरने का मुझे डर न होता, यदि स्त्रियों के सामने बोलने-चालने में–विशेषकर प्रेमालाप की दिशा में ले जानेवाले वार्तालाप में–संकोच न होता, तो सिर्फ़ आदर्श के लिए द्विपाद रहने की अनिवार्यता, या सिर्फ़ ज्ञान से मैं बच न सकता; क्योंकि काम-वेग खास-खास अवस्था में ज्ञान-विवेक को तिनके के तौर पर बहा ले जाता है। जीवन की दो-चार घटनाएँ हैं, जिनसे मैं इसलिए बच गया कि काम की सांकेतिक भाषा के प्रयोग से अपरिचित और समझने में मैं सन्देहयुक्त था। इस जीवनी में जीवन के इस अंश पर भी मैं और लिखता, क्योंकि व्यक्ति-पूजा को तोड़ने के लिए मेरा दिल बाज वक्त वैसे ही चुलबुला उठता है, जैसे हाथ में पत्थर लिये छोटे लड़कों को मिट्टी के बरतनों को देखकर खन-खन चर-चर करके टूटते बरतन अच्छे मालूम होते हैं। समाज के ढोंग मुझे क्रोधान्ध बना देते हैं। मेरा विश्वास है–या तो ये ढोंग ही रहेंगे या समाज का अस्तित्व ही। इसलिए समाज के ढोंगों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व को भी चूर-चूर करने में मुझे प्रसन्नता होती। इसके लिए आज के कितने ही लोग मेरे साथ अन्याय भी करते, किन्तु भविष्य के कद्रदानों की संख्या के सामने वह नगण्य-से होते। तो भी इस विषय में कलम रोकने में मुझे अपने मित्रों और स्नेहियों के आग्रह को भी पालन करना पड़ता है। संक्षेप में पिछले 30 साल के स्वच्छन्द जीवन में मुझे सिर्फ़ एक स्त्री के साथ घनिष्ठता पैदा करने का मौका आया, कुछ घटनाएँ रेत के पद-चिह्न के तौर पर उस वक्त भी घटित हुई थीं, और उनको यदि उन सिद्धों और महात्माओं के जीवन-घटनाओं से मुकाबिला किया जावे, जिनके भीतरी जीवन को जानने का मुझे मौका मिला था, तो वह नगण्य साबित होंगी। मद्रास, पंजाब, बुंदेलखंड के चिरनिवासियों में ऐसे खतरे आये थे, किन्तु आदर्श प्रेम के साथ लज्जा और संकोच ने मुझे उनसे बचाया।

तिरुमिशी में सारा समय पढ़ने में लगता था। टी. वेंकटाचार्य, उनके पिता टी. श्री निवासाचार्य तथा 'रहस्य'-अध्यापक बिना संकोच के अपना समय देने में बड़ी उदारता दिखलाते थे। भाई साहेब, रामगोपाल और बलदेवजी के पत्र समय-समय पर आते रहते थे। 'प्रताप' (कानपुर) और एकाध दूसरे उत्तरभारतीय अखबार भी मैं मँगाया करता था। पुस्तक के अतिरिक्त देश-विदेश की बातों, भारत की राजनीतिक प्रगति के साथ-साथ साम्यवाद द्वारा संसार की उलट-फेर के संबंध में मेरी बातें अक्सर हुआ करती थीं। सुनते-सुनते जमींदारों और महन्तों की सम्पत्ति निकल जाने का तो स्वामी हरिप्रपन्न को इतना विश्वास हो गया था कि वह कलियुग की भाँति इसे भी अवश्यंभावी समझ आँख मूँदकर सन्तोष कर लेना चाहते थे। आर्यसमाज के बारे में 'अन्यपुरुष' के तौर पर उनसे बातें करता, क्योंकि आर्यसमाज को वह नास्तिकवाद कह बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते, और मेरे आर्यसमाजीपन को सुनकर उनके दिल पर भारी धक्का लगता। वेंकटाचार्य तथा दूसरे जवान एनी बेसेंट के होमरूल तथा हाल की राजनीतिक प्रगति का धुँधला-सा ज्ञान रखते थे, जिससे उन्हें मालूम था कि समाज में कोई क्रान्ति होना चाहती है, और आर्यसमाज के उदार विचारों को उसी का एक अंग समझकर वे विशेष क्षुब्ध नहीं होते थे।

मीमांसा, वेदान्त और रहस्यग्रंथ अब समाप्ति पर आ रहे थे। स्वामी हरिप्रपन्नजी को भी मैं बतला रहा

था कि इस मठ का संचालन मेरे वश की बात नहीं है। उन्हें मैं यह भी समझाने में सफल हुआ कि मैं यह बात परसा की महन्ती के लालच से नहीं कर रहा हूँ। मेरे राजनीतिक उग्र विचारों का उन्हें पता लग गया था, इसलिए वह समझने लगे थे—यह जेलखानों और कालापानी में ठूसा जानेवाला आदमी है। इस तरह शनैः-शनैः जब विदाई की बात उनके सामने रखी गई तो उन्हें इतना दुःख न हुआ। 'भक्ति' के साथ मेरा 'नर्मसचिव' का सम्बन्ध था। 1913 ही में हम मित्र बन गये थे, जब कि हमने एक साथ न जाने कितने काव्य, नाटक और चम्पू समाप्त किये। 'मालती माधव' में वातायनस्था मालती द्वारा रथ्या में घूमते माधव के अवलोकन को हम बड़े राग से पढ़ा करते, सात वर्ष बाद अब हम 19-20 के वे नवतरुण नहीं रह गये थे, तो भी हमारा स्नेह प्ररूढ़ हो चुका था। सबसे ज्यादा अफ़सोस मुझे 'भक्ति' (टी. वेंकटाचार्य) से विदाई लेते वक्त हुआ।

12

कुर्ग में चार मास (1921 ई.)

तिरुमिशी छोड़ने से पहिले ही पंडित ऋषिराम कुर्ग में जाने के लिए मुझे तैयार कर चुके थे। कर्वी में एक बार 'मिस्टर' सोमयाजुलू का पत्र मुझे मलबार से मिला था। उसमें उन्होंने केरल के नारियल-सोपारी की सुन्दर वृक्ष-पंक्तियों से छायाकृत तथा पुष्करिणियों और जलाशयों से आच्छादित केरल-भूमि का सुन्दर वर्णन किया था। सोमयाजुलू वैदिक-मिश्नरी बनकर कुछ दिनों कुर्ग में रह चुके थे, और अब वहां के नौजवान किसी उपदेशक को भेजने का लगातार आग्रह कर रहे थे। मित्र की तैयार की गई भूमि पर जाने का भी एक आकर्षण था, और दूसरा आकर्षण था नये देश के देखने का। ऋषिरामजी ने मडिकेरि (मर्कारा, कुर्ग) पत्र लिख दिया, और एक दिन मैं मद्रास से रवाना हो गया।

बंगलोर में स्नातक सत्यव्रत और उनके साथी एक दूसरे स्नातक गुरुकुल पार्टी की ओर से आर्यसमाज का प्रचार कर रहे थे, कालेज-पार्टी ने जब मद्रास में ऋषिरामजी को भेजा, तो गुरुकुल पार्टी क्यों पीछे रहती ? वे लोग बंगलोर शहर में एक किराये के मकान में रहते थे। सत्यव्रतजी के सहकारी विदेश जाने के लिए अत्यन्त लालायित थे। उनसे मैसूर के कुछ आर्यसमाजियों का पता लगा। तिलक के देहान्त के बाद गाँधी भारत के सर्वमान्य नेता बन चुके थे। नागपुर-कांग्रेस ने, असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था। मैसूर में आर्यसमाज ने धर्मप्रचार के साथ हिन्दी प्रचार को भी अपने हाथ में लिया था। स्वामी पूर्णानन्द (यदि मेरी स्मृति गलती नहीं करती तो यही उनका नाम था) और युक्तप्रान्तीय एक काव्यतीर्थ पंडित वहाँ आर्यसमाज की ओर से काम करते थे। स्वामीजी तो सिर्फ़ हिन्दी-भर जानते थे, किन्तु उनके साथी संस्कृतज्ञ थे। मैसूर की भाषा कन्नड़ (कर्नाटकी) है, जिसमें पचास-साठ सैकड़े संस्कृत के शब्द हैं, इसलिए वहाँ के लोगों को संस्कृत-मिश्रित हिन्दी पढ़ने में बहुत सुभीता था। कालेजों, स्कूलों के कितने ही विद्यार्थी हिन्दी सीखते तथा हिन्दी प्रचार कर रहे थे, वह इसे राजनीतिक आन्दोलन का एक अंग समझते थे। मैसूर शहर में हिन्दी भाषा-भाषी बहुत से हिन्दू-परिवार थे, जो या तो उत्तरभारत से आये थे, या मिश्रित ब्याह से पैदा हुए थे। युक्तप्रान्त के एक अच्छे व्यापारी थे, जिन्होंने यहीं की दो बहिनों से शादी कर ली थी। उनकी जेठी औरत नागपुर जाकर गाँधीजी का दर्शन कर आई थीं, और राजनीतिक कार्यों के लिए उनमें बड़ा उत्साह था।

मैसूर टाउनहाल में तीन-चार दिन के लिए एक व्याख्यानमाला रखी गई, जिसमें भिन्न-भिन्न आर्यसामाजिक विचारों पर मुझे हिन्दी में और काव्यतीर्थजी को संस्कृत में बोलना था। पहिला व्याख्यान तो समाप्त हुआ, किन्तु दूसरे के वक्त मेरे साथी बीमार हो गये, इसलिए मुझे ही संस्कृत में बोलना पड़ा। सभापति एक संस्कृतज्ञ इंजीनियर थे। उन्हें मेरे संस्कृत-भाषण की स्वाभाविकता और शब्दकोष ज्यादा पसन्द आये, और कहा—कल भी आपने ही क्यों नहीं संस्कृत में भाषण दिया ? वैसे भी संस्कृत भाषण-लेखन में मेरी कुछ अच्छी प्रगति

थी, किन्तु एक वर्ष की भाषण-प्रतिज्ञा, तथा दो बार के दीर्घ मद्रास-प्रवासों के अनवरत संस्कृत भाषण ने बहुत सुभीता पैदा कर दिया था। मैसूर की राजकीय पाठशाला के पंडितों से भी विचार-विनिमय करता रहा, किन्तु उनके लिए आर्यसमाज के पास कोई आकर्षक साहित्य–दार्शनिक या शुद्ध साहित्यिक–मौजूद न था। उसकी समाज-सुधार की बातों को वह अतिलौकिक, स्थूल, शिष्टाचार-बहिष्कृत कहकर टाल देते, और उसके द्वैतवादी वेदान्त को माध्वों और रामानुजीयों की कच्ची नकल बतलाते।

मैसूर से मडिकेरि के लिए मोटर-लारी मिली। पहिले तो दक्षिण-भारतीय साधारण पाण्डु भूमि रही, किन्तु जब पहाड़ की चढ़ाई शुरू हुई तो दृश्य मेरे मन को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। कहीं छायादार रौप्यवृक्षों (सिल्वर ट्री) के नीचे बेले जैसी चाय की झाड़ियाँ दूर तक चली गई थीं। कहीं दीर्घकाय वृक्षों पर काली मिर्च की हरी लताएँ चढ़ी हुई थीं। कहीं-कहीं स्वाभाविक आरण्य गिरिवक्ष को घेरे हुए थे। पानी के झरने जगह-जगह थे। ऊँचाई के साथ-साथ हवा शीतल होती जा रही थी। अब तक जितने पहाड़ पार किये थे, सभी को पैदल चलकर किया था। लड़ाई के बाद मोटरलारियां चलने लगी थीं, और तिरुमिशी से मद्रास जाते वक्त पुन्नमली से स्टेशन तक कितनी ही बार मोटरबस में मैं गया था; किन्तु अब यह पहिला मौका था जब कि मुझे पर्वत यात्रा में बस की सवारी मिली थी।

शाम के वक्त हमारी बस मडिकेरि पहुँची। पुवैय्या, उत्तप्पा, मन्डन्ना की लॉज का पता लगाने में दिक्कत न हुई।

लॉज (वासा) एक बँगला में थी, जिसे चार-पाँच तरुणों ने किराये पर ले रखा था। बँगले की चारों ओर कॉफ़ी और चाय का बाग था। यहाँ खुली हवा में ही नहीं बल्कि खुले समाज में भी सांस लेते ताजगी, एक अजीब तरह की प्रसन्नता मालूम होती थी। लॉजवाले सभी कुर्ग तरुण थे, उनमें छुआछूत का नाम नहीं था। आर्यसमाजी उपदेशक होने से मेरा निरामिषाहारी होना जरूरी था, लॉज के तरुणों में भी अधिकांश निरामिषाहारी थे, और रसोई खाने में तो मांस-मछली पकती नहीं थी। प्याज-लहसुन के लिए कोई रुकावट न थी। खाना मेज पर हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी मिले-जुले ढंग से खाया जाता। मडिकेरि में बरफ नहीं पड़ती, किन्तु वह दक्षिण के दार्जिलिंग और नैनीताल जैसे सुन्दर पार्वत्य शीत निवासों में से है। ऐसे स्थानों पर चाय-कॉफ़ी पीने में आनन्द आता है। यहाँ आकर मैंने पहिले-पहिल कॉफ़ी देखी। कॉफ़ी का पौधा बढ़कर ऊँचा हो जाने पर फल तोड़ने में दिक्कत तथा फलों की संख्या और आकार की कमी होती है, इसलिए हाथ-डेढ़ हाथ पर उसे छाँटकर झाड़ी की शकल में रखा जाता है। उसके बेले जैसे सफ़ेद फूल और डाली में लाल बेरों जैसे गोल-गोल फलों की लम्बी लड़ी देखने में बहुत सुन्दर मालूम होती है। हमारे पीने के लिए अक्सर कॉफ़ी के फल अधजले करके भूने, फिर पीसकर चूर्ण बनाये जाते थे।

लॉज (वासा) के साथियों में पी. एम. उत्तप्पा ग्रेजुएट थे, बाकी सभी प्रायः मैट्रिक पास थे, और सरकारी कचहरी में क्लर्क का काम करते थे। उनके चेहरों के देखने ही से मालूम होता था कि मद्रासियों से भिन्न हम एक दूसरी जाति के देश में आ गये हैं। जहाँ पहाड़ से नीचे तथा यहाँ के प्रवासियों में अस्सी-अस्सी, नब्बे-नब्बे फ़ीसदी स्त्री-पुरुष काले और नाटे होते थे, वहां ये सभी गेहुँआ रंग के अपेक्षाकृत लम्बे पुरुष थे। पोशाक अंग्रेजी भी पहनते थे, किन्तु आफ़िस जाते वक्त या विशेष समय पर वे उसके ऊपर अपना जातीय चोगा, कमरबन्द और उसमें बँधी पेशकब्ज लगाते थे। वे हिन्दुत्व के लिए चोटी की अनिवार्यता को कबूल नहीं करते थे। उनकी स्त्रियों को पहिले-पहिल जब मैंने गढ़वाली स्त्रियों की भाँति दाहिने कन्धे पर सूई के सहारे नत्थी करके चादर को पहनते देखा, तो मुझे मालूम हुआ, हिमालय का एक टुकड़ा सिर्फ़ अपने वनपर्वतों के साथ ही उठकर नहीं चला आया है, बल्कि वहाँ के समाज के आधे अंग को भी लेता आया है। आसपास से भिन्नता रखते हुए भी कुर्गी भाषा द्रविड़-वंश से सम्बन्ध रखती है तो भी कुर्ग लोग अपने को उत्तर भारत से आया बतलाते हैं। उनका रंग, डील-डौल, स्त्रियों का साड़ी पहिनने का ढंग, शिर में बँधी रूमाल, घर के इस्तेमाल के बरतन तथा मकानों की बनावट तो जरूर उन्हें हिमालय–विशेषकर गढ़वाल या कुल्लू–से सम्बद्ध करते हैं। मडिकेरि हाई स्कूल के हाते में छात्रों को ड्रिल की तरह बाजे पर नाचते देख मैंने उस वक्त तो उतना

पसन्द नहीं किया, किन्तु कुछ ही वर्षों बाद मुझे वह भारतीय स्कूलों के लिए एक अनुकरणीय चीज जँचने लगी।

सोमयाजुलू ने यहाँ के कुछ नौजवानों में आर्यसमाज के विचारों का प्रचार किया था। इनके अतिरिक्त शहर के एक वकील कोई पिल्ले पहिले से ही कुछ आर्यसमाजी विचार रखते थे, यद्यपि अब वे विचार कुछ बूढ़े होते जा रहे थे। पिल्ले महाशय के हाते में ही सड़क पर एक कमरा हमने संस्कृत-क्लास और आर्यसमाज के व्याख्यान के लिए ले रखा था। उस वक्त तिलक स्वराज्य फ़ंड के चन्दों तथा असहयोग की तैयारी की मुल्क में इतनी धूम थी कि मुझे व्याख्यानों की जरूरत नहीं महसूस हुई। हाँ, संस्कृत क्लास और सत्संग नियमपूर्वक लगता है। मंडन्ना आदि 4, 5, तरुण पढ़ने आते। आर्यसामाजिक विचारों पर चर्चा यहाँ और लॉज में भी बराबर रहती। मडिकेरि में रामकृष्ण-मिशन की एक शाखा थी। मद्रास में रामकृष्ण-मिशन ने एक अच्छा छात्रावास ही नहीं खोल रखा था; बल्कि वहाँ से 'वेदान्तकेसरी' नामक एक अंग्रेजी मासिक पत्र भी निकलता था। इस तरह जिन तरुणों को स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की 'अमेरिका विजय' और वेदान्त की बारीकी का कुछ पता लग गया हो, उन्हें आर्यसमाज में लाना मुश्किल था। यहीं मैंने स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द के सारे ग्रंथों को पढ़ा। मुझे रामतीर्थ ठीक वेदान्ती किन्तु पागल मालूम पड़े, और विवेकानन्द गलत-वेदान्ती किन्तु चालाक। लॉज के एक सदस्य श्री पुवैय्या रामकृष्ण-विवेकानन्द के बड़े भक्त थे, और उनसे अक्सर गर्मागर्म बहस हो जाती, तो भी वह हमारे स्नेह-सम्बन्ध पर बुरा असर नहीं डाल सकती थी। यहीं मैंने शंकर के वेदान्त को व्यास और उपनिषद् के मत से विरुद्ध साबित करने के लिए 'वैदिक मैगजीन' में दो लेख लिखे।

मडिकेरि में एक अच्छा बाजार है। कुर्ग लोगों में शिक्षा बहुत है, लड़कों ही में नहीं लड़कियों में भी। रोमन कैथलिक साधुनियों ने उनके लिए कान्वेंट कायम किये हैं; अपने भीतर छुआछूत का खयाल न होने के कारण कुर्ग लड़कियाँ वहाँ बहुत पढ़ने जाती थीं, यद्यपि उनमें से किसी के ईसाई होने की बात मैंने नहीं सुनी। पास में कालेज न रहने से भी लड़कियों को ग्रेजुएट होने का कम मौका था। उस वक्त एक ही कुर्ग तरुणी ग्रेजुएट थीं कुमारी पुवय्या, जो कि कन्या-महाविद्यालय जलन्धर में पढ़ाती थीं, उनके बारे में मेरे मित्र सन्तरामजी ने लिखा था।

इतनी शिक्षा होने पर भी कुर्ग लोगों का ध्यान सिर्फ़ क्लर्की की ओर था। वे सरकारी दफ्तरों या चाय के प्लांटरों के यहाँ लिखने-पढ़ने का काम करते थे। व्यापार सारा कुर्ग से बाहर के लोगों—कोंकणी मुसल्मानों, कर्नाटक जंगमों तथा दूसरों के हाथ में था। वहाँ के एक अच्छे दूकानदार एक कोंकणी मुसल्मान से मेरी घनिष्ठता बहुत बढ़ गइ थी। उन्होंने मुझसे हिन्दी पढ़नी सीखी थी, और उनकी दूकान तो मेरे राजनीतिक क्लास का एक मजबूत अड्डा बन गई थी। अब तक के अर्जित अपने प्रगतिशील ज्ञान का मैं वहाँ खुलकर प्रचार करता था। जबानी जमाखर्च से बढ़कर जब वे मुझे अपने साथ रोटी-तरकारी एक दस्तरख्वान पर खाते देखते तो उनका मेरे प्रति खास भाव पैदा होना जरूरी था। चलते वक्त जीवन में पहिला अभिनन्दनपत्र इन्हीं मुसल्मान दोस्तों ने मुझे दिया था।

मडिकेरि में आते ही मैंने कन्नड़ सीखनी शुरू की। तेलुगु अक्षरों से परिचित होने से अक्षर-परिचय आसान था। भाषा में मैंने देख लिया था कि संस्कृत के शब्द अधिक हैं, इसलिए वहाँ पहुँचने के दूसरे या तीसरे ही दिन मैं अपने कुर्ग-अध्यापक के साथ होड़ लगा बैठा—'लैंड होल्डर' एसोसियेशन (जमींदार सभा) की कान्फ्रेंस के कन्नड़ भाषणों का मैं आपको सारांश सुना दूँगा। कान्फ्रेंस बीस-बाईस दिन बाद हुई और मैंने वैसा करके दिखाया, वस्तुतः इसका अधिक श्रेय मेरे भाषाध्ययनपाटव को नहीं, बल्कि कन्नड़ के 'मणिप्रवालत्व' को है। कान्फ्रेंस में कितने ही कुर्ग और कन्नड़ नेताओं के भाषण हुए, भाषण देनेवालों में एक अंग्रेज प्लान्टर मिस्टर ग्रीनूप्राइस भी थे। कान्फ्रेंस ने कुर्ग के लिए एक निर्वाचित कौंसिल की स्थापना का 'गर्म प्रस्ताव'—उस वक्त के कुर्गियों के लिए यह दरअसल गर्म प्रस्ताव था—पास किया। गाँधीजी की भी दुहाई दी गई—और यह पहिला समय था, जब मुझे उसके सुनने का मौका मिला। 6 अप्रेल 1919 में ब्रेड-ला हाल की सभाओं में उनके नाम के साथ वह प्रभामंडल न था, क्योंकि उस वक्त भारत के बूढ़े चाणक्य बाल गंगाधर तिलक जीवित थे।

वैसे तो सारा कुर्ग पार्वत्य दृश्यों से भरा है, किन्तु दोदाबेटा तथा कावेरी-स्रोत दर्शनीय स्थान हैं।

कावेरी दक्षिण की गंगा है। गंगोत्री यमुनोत्री की भाँति इसके स्रोत को भी पवित्र माना जा सकता है। यद्यपि कावेरी-स्रोत कुर्ग का सबसे ऊँचा पहाड़ नहीं है, तो भी वह ऊँचे पर्वतों में है। लेकिन, हिमालय की नदियों के स्रोतों की बहार यहाँ कहाँ ? हिमालय की सनातन श्वेत हिमनियाँ शुरू ही में उन्हें पिघली रौप्यधार प्रदान करती हैं, और यहाँ नदियों के उद्‌गम हैं, जहाँ-तहाँ के झरने और कुंड। हरे-हरे जंगलों और विशाल वृक्षों से आच्छादित होने पर भी सदा हरित वृक्षराज देवदार के अभाव में ये पहाड़ नगाधिराज हिमालय का मुकाबिला नहीं कर सकते। कावेरी-स्रोत पर्वत के पास छोटी इलायची के 'जंगल' मिले। इलायची के पौधे कचूर या हल्दी की तरह के होते हैं। पौधे से निकली पतली जड़ या प्ररोह (बरोह) में इलायचियाँ गुँथी-सी रहती हैं। कुर्ग में एक वक्त कॉफ़ी बहुत होती थी, किन्तु किसी बीमारी ने जब उसके बगीचों को नष्ट कर दिया, तो उन्हें चाय के बगीचों में परिणत कर दिया गया। प्रायः सारे चाय के बगीचे अंग्रेजों के हाथ में हैं। चन्दन यहां राजवृक्ष है। आमतौर से चन्दन जंगल में होते हैं, किन्तु यदि किसी के खेत में भी कोई दरख्त उग आये तो मालिक न उसे काट सकता है, न पीछे उसकी लकड़ी पा सकता है। इलायची के बगीचों पर भी कुर्ग लोगों का कम ही अधिकार है। जंगल-विभाग सरकार के हाथ में है ही, इस प्रकार कुर्गवासियों का इस सारी प्राकृतिक सम्पत्ति से वास्ता नहीं, उन्हें तो गुजारे के लिए वही पहाड़ी खेती मिली है।

दोदाबेटा कुर्ग का और शायद सारे मद्रास प्रान्त का सबसे ऊँचा पर्वत-शिखर है। एक तरुण के साथ मैं उसे देखने गया। ऊँचाई पर लाल फूलों की वही कँटीली झाड़ियाँ मिलीं जो हिमालय में तीन-चार हजार फीट के ऊपर मिलती हैं। जाते हुए एक दिन साथी के घर में ठहरा। यहाँ खेती चावल की ही होती है, तो भी कुर्ग लोगों को रोटी से बहुत प्रेम है, हमें चाय के साथ चावल की रोटी जरूर मिलती थी। दोदाबेटा सात हजार फ़ीट से अधिक ऊँचा है। ऊपरी जंगलों में, बड़ी जोंकें रहती हैं। आदमी के पैर की आहट पाते ही ये हजारों अन्धे प्राणी अपने सुई जैसे पतले मुंह को उस दिशा में हिलाने लगते हैं। हमने इसके लिए बहुत से नींबू ले लिये थे, और बीच-बीच में उसके रस से पैरों को चुपड़ लेते थे। खैरियत यह थी कि उस दिन वर्षा नहीं हुई, नहीं तो जोंकें कई गुना बढ़ जातीं, और नींबू का रस भी धुलता जाता। दोदाबेटा कोई विचित्र शिखर नहीं है, वह समरस पर्वत पर एक मामूली चट्टान-सी है। हमने उस पर चढ़कर दूसरी तरफ़ की निम्न विस्तृत वनस्थली को देखा।

कुर्ग-प्रान्त, वहाँ के लोग, पर्वत और वन की ठीक समानता पीछे मुझे लंका के कांडी प्रान्त से मिली,—जहाँ कांडीवाले सिंहल हिन्दी-आर्य भाषा बोलते हैं, वहाँ ये एक द्राविड़ी भाषा को।

कुर्ग को अंग्रेजों के हाथ में आये सौ ही वर्ष के करीब हुए हैं। अपने राजवंश की भ्रातृ-हत्याओं तथा कुप्रबन्ध से तंग आकर यहाँ के लोगों ने स्वयं अपने शासन को कम्पनी के हाथों में सौंपा था। इसके पारितोषिक-स्वरूप कुर्गवालों से हथियार छीने नहीं गये, और लंका की तरह वहाँ भी बन्दूक रखने में रोक-टोक नहीं है। राजा का प्रासाद मडिकेरि में है, किन्तु उसका एक उद्यानप्रासाद मडिकेरि से कुछ हटकर भी है। दोनों प्रासादों के अब सिर्फ़ मन्दिर आबाद हैं, बाकी को सरकार ने मरम्मत करके देखने के लिए रख छोड़ा है। कुर्ग लोग जहाँ हिन्दू होते हुए भी उदार विचार के हैं, वहाँ पुराना राजवंश लिंगायत (बीरशैव) था, जो अपनी कट्टरता के लिए विख्यात है। सम्भव है, कुर्ग के लोगों ने लिंगायतों को अन्य जातीय समझकर भी शासन-परिवर्तन स्वीकार किया हो।

कुर्ग (कोड़गु) लोगों में दो शाखाएँ हैं—'अमा' कोड़गु और साधारण कोड़गु। अपने दूसरे भाइयों के विरुद्ध अमा कोड़गु लोगों में विधवा ब्याह नहीं होता, वह सुअर नहीं पालते, और परिणामतः उन्हें ऊँचा माना जाता है। उस वक्त मानव तत्त्व मेरे अध्ययन का विषय नहीं हुआ था, किन्तु मैं समझता हूं, कोड़गु लोगों के आचार-व्यवहार आसपास के लोगों से प्रभावित होते हुए भी बहुत-सी अपनी पुरानी विशेषताओं को रखे हुए हैं।

मेरे देखते-देखते असहयोग-आन्दोलन का असर धीरे-धीरे कुर्ग पर पड़ना शुरू हुआ। सभाएँ होने लगीं,

जिनमें कोड़गु लोग भी सम्मिलित होने लगे। मेरे ही सामने उन्होंने 'कोड़गु' नाम से एक साप्ताहिक पत्र कन्नड़ (?) भाषा में निकाला।

बलदेवजी का पत्र बराबर आता रहता था। अब के उनका और मोहनलालजी का पत्र आया कि अब हम असहयोग करने जा रहे हैं। मैंने जल्दी-जल्दी दो पत्र लिखे, और कहा—आप लोगों की बी. ए. की परीक्षा के दो-तीन महीने रहते हैं, परीक्षा खतम करके असहयोग कीजिए। किन्तु, वहाँ कौन माननेवाला था, गाँधीजी ने जो 'साल-भर में स्वराज' देने का ठीका ले लिया था। स्कूलों-कालेजों को शैतानी शिक्षणालय समझ उनसे असहयोग, तथा साल-भर में स्वराज—इन दो बातों का शुरू से ही मैं विरोधी रहा, यद्यपि दूसरे तौर से राजनीतिक जागृति और संघर्ष का मैं जबर्दस्त पक्षपाती था। कुर्ग में अपने साथियों से मेरे वार्तालाप का काफ़ी समय राजनीतिक चर्चा में बीतता था।

धर्म प्रचार की भावना के साथ-साथ अब मेरी अन्तर्निहित राजनीतिक भावनाएँ बाहरी वायुमंडल की अनुकूलता पा उभड़ने लगीं। यद्यपि कुर्ग में गाँधी की आँधी उतनी जबर्दस्त नहीं आई थी, तो भी वह उससे अछूता न था, और फिर मैं तो दैनिक 'हिन्दू' और दूसरे अखबारों का नियमपूर्वक रोज पारायण करता रहता था। तो भी कुर्ग को तुरन्त छोड़कर चल देना मैं उचित नहीं समझता था, क्योंकि पंडित ऋषिरामजी को मैंने इसके लिए वचन दिया था। इसी वक्त यागेश की चिट्ठी आई, जिसमें पिताजी के मरने की खबर थी। मैं कुछ स्तब्ध-सा हो गया, किन्तु मेरी आँखों में आँसू का पता न था। लॉज के साथी वहाँ बैठे थे। जब मैंने साधारण तौर से पिता की मृत्यु की बात उनसे कही, तो दूसरे तो नहीं किन्तु मिस्टर पुवैया ने फटकारा—'कैसा हृदय है, बाप की मृत्यु के लिए तो आँसू भी नहीं हैं।'—वे मुझे पंडितजी कहते थे, मैं वहाँ साधु-संन्यासी के वेष में न था, नहीं तो शायद ऐसा न कहते।

पिताजी की मृत्यु सुन छुट्टी लेने का बहाना मिला, और मैंने राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने का निश्चय कर लिया।

राजनीति-प्रवेश : 1921-27 ई.

1
छपरा के लिए प्रस्थान (जून 1921 ई.)

उस वक्त तक असहयोग-आन्दोलन कार्यरूप में परिणत हो चुका था। हजारों हजार विद्यार्थी कालेज-स्कूल छोड़ चुके थे। कितने ही वकील, बैरिस्टर अपनी प्रेक्टिस बन्द कर चुके थे। गाँधीजी तिलक-स्वराजफ़ंड के एक करोड़ रुपये जमा कर चुके थे। राजनीति में प्रवेश करना यह तो तै कर लिया, किन्तु कहाँ का प्रश्न हल करने में दो-चार दिन लगे। आजमगढ़ में जा नहीं सकता था। बाकी स्थानों में जालोन जिला और छपरा दो ही मेरे सामने थे, मैंने छपरा के पक्ष में फ़ैसला किया।

मेरी किताबें मद्रास में पंडित ऋषिरामजी के पास थीं, उन्हें बंगलोर भेजने के लिए लिख दिया और मडिकेरि के मित्रों से शोकपूर्ण हृदय के साथ विदाई ली। पुस्तकों को बंगलोर से कोंच श्री पन्नालालजी के पास भेज दिया और पत्र छपरा जिला-कांग्रेस-कमेटी के मंत्री के पास अपने आने तथा योग्य सेवा करने के बारे में लिख दिया।

असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप शोलापुर में अभी हाल ही में गोली चली थी, इसलिए गोली चलने के स्थान को देखने के लिए मैं वहाँ उतरा। उस वक्त गाँधीजी महात्मा गाँधी तो बन गये थे, किन्तु अभी वह गाँधी टोपी तथा एक-बटन-खुले-गले के कुर्त्ते में रहते थे। बम्बई में उनके इस वेष के फ़ोटो बहुत प्रचलित थे। बम्बई में मैं दो-तीन दिन ठहरा। चौपाटी की कुछ सभाओं में सम्मिलित हुआ। एक सभा में कोटगढ़ के स्टोक साहेब बोल रहे थे—हिमालय से कुमारी तक की सारी भारत भूमि को हिमशुभ्र खादी से ढांक देना चाहिए। लोगों ने गम्भीर करतल ध्वनि से वक्ता का स्वागत किया था।

खंडुआ में एक गोशाला में ठहरा। लोगों ने बाजार-चौक में मेरा व्याख्यान रखा। यह था मेरा पहिला राजनीतिक व्याख्यान। क्या कहा यह मुझे याद नहीं, किन्तु कहने के लिए तब तक मेरे पास काफ़ी सामग्री थी, इसमें सन्देह नहीं।

कोंच (जालौन) में श्री पन्नालालजी के यहाँ ठहरा। अब उनका परिवार महेशपुरा छोड़ यहाँ चला आया था, और स्त्रियों के झगड़े के मारे दोनों भाई दो घरों में रहते थे। चार सालों के अन्तर की छाप तो चेहरे-चेहरे पर होनी ही चाहिए थी। यहाँ चौरस्ते पर एक राजनीतिक व्याख्यानमाला ही शुरू हो गई, जो तीन या चार रातों चलती रही। मैंने मडिकेरि में खद्दर का कुर्त्ता सिलवाया था, यहां मैंने खद्दर का अँचला (साधुओं की धोती) प्राप्त किया।

बनारस में स्वामी वेदानन्दजी अभी मौजूद थे। उनसे मिलता सीधा छपरा पहुँचा।

सलेमपुर का वह पक्का मकान अब भी मौजूद है, जिसमें उस वक्त जिला कांग्रेस कमेटी का दफ्तर था। मैं अपने उसी अंचल में एक कमंडलू लिये नंगे शिर, नंगे पैर दफ्तर में पहुँचा, वहाँ भरतमिश्र ही मेरे परिचित थे। सब लोग दरी पर बैठे थे, मैं भी एक ओर बैठ गया। मेरा पत्र पहुँच गया था, किन्तु कुछ दोस्तों ने इसे एक गुमनाम साधु की गुस्ताखी समझा—वह पत्र द्वारा अपनी विशेषता को सूचित करना चाहता है। मुझे राजनीतिक कार्यों के बारे में कुछ पूछ-ताछ करनी थी। जिले में तिलक-स्वराजफ़ंड के संग्रह का काम खतम हो चुका था। मालूम हुआ इस वक्त चर्खा-खद्दर और मादक-द्रव्य-निषेध पर जोर लगाया जा रहा है। अपने काम को गांव के छोटे से स्थान से शुरू करने के बारे में मैंने तै कर लिया था, और इसके लिए परसा से बढ़कर दूसरी जगह मेरे लिए कौन होती ? पूछने पर मैंने परसा जाने का अपना निश्चय सुनाया। कुछ साथियों को सन्तोष हुआ कि साधु ने जिला केन्द्र में काम करने की गुस्ताखी नहीं की। मेरी अनिच्छा पर भी एकमा थाना कांग्रेस कमेटी के मन्त्री बाबू प्रभुनाथ सिंह को आफ़िस की ओर से एक परिचय पत्र लिख दिया गया। रात के वक्त मैं एकमा स्टेशन पर उतरा। उस वक्त आश्रम में जाकर लोगों को उठाना अच्छा न समझ पत्र को तो मैंने आदमी के हाथ वहां भेज दिया, और खुद सीधे परसा मठ गया।

भादों की कृष्ण जन्माष्टमी नजदीक थी, इसलिए तब तक परसा से बाहर जाने का सवाल ही नहीं था। मठ में ठहरना छोड़ कोई दिलचस्पी न थी। मालूम हुआ, वरदराज कुछ मास पहिले यहाँ थे, उस वक्त उन्होंने आन्दोलन में कुछ काम किया था। परसा के कुछ नौजवान सेवासमिति में शामिल हुए थे, और आदिम महीनों में उन्होंने लालटेन हाथ में ले पहरा देने का भी काम किया था, किन्तु अब वह उत्साह मन्द हो चुका था। छः ही महीने पहिले गुजरी बातें युगबीती-सी मालूम होती थीं। बारात के लौट जाने के बाद जैसा अवसाद मालूम होता है, वैसा ही उस वक्त मालूम हो रहा था, किन्तु अभी भी चेतना बिलकुल खतम नहीं हुई थी। स्वराज और गाँधी बाबा की चारों ओर धूम थी। परसा का एक तरुण बड़े उत्साह के साथ कह रहा था—गांजा-शराब-बलिदान-लोग छोड़ नहीं रहे थे। मैंने एक दिन देवता आने का नाट्य किया, देवता ने मेरे शिर पर आकर घोषित किया—"हम सभी देवता गाँधी बाबा के साथ हैं, न हमें बलि चाहिए, न गाँजा, न शराब; गांधी बाबा के हुक्म के खिलाफ़ जो इन चीजों को चढ़ावेगा, उसका हम नाश कर देंगे।" और इसका बहुत अच्छा असर हुआ।

जन्माष्टमी के दूसरे या तीसरे दिन परसा में बाबूलाल के नये बने गोले में गाँववालों की सभा हुई। थाना के तरुण कार्यकर्त्ता भी आये, और रामउदार बाबा के (मेरे) सभापतित्व में व्याख्यान हुआ। परसावालों को 'पुजारीजी' का व्याख्यान यह पहिले पहिल सुनने को मिला। महन्त के प्रमुख शिष्य होने के कारण परसा में मेरी धाक थी। भाषण सुनकर थाना के तरुण कार्यकर्ताओं पर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने एकमा में ही रहने का आग्रह किया। यह अभी नीचे से ही काम करने के ढंग में शामिल था, इसलिए मैंने इनकार नहीं किया। एकमा में उस वक्त शराब-गाँजे की दूकान पर धरना चल रहा था। कुछ निर्लज्ज ही लोग दूकान पर खरीदने जाते थे। ठीकेदार शराब को पीनेवालों के पास पहुँचाने की कोशिश करता था।

एकमा में स्कूल छोड़कर आये तरुणों की एक अच्छी जमात के साथ मुझे काम करने का मौका मिला। प्रभुनाथ और लक्ष्मीनारायण मैट्रिक से असहयोग करके आये थे। गिरीश अपने स्कूल के तेज विद्यार्थी थे, और मैट्रिक पास कर उन्होंने स्कूल छोड़ा था। फुलनदेव ने कालेज के प्रथम वर्ष से पढ़ाई छोड़ी थी। हरिहर, रामबहादुर, और वासुदेव भी हाई स्कूल से निकल आये थे। साठ-सत्तर हजार आबादी के थाने के लिए ऐसे आधे दर्जन से अधिक तरुण कार्यकर्त्ताओं का मिलना सौभाग्य की बात थी। पढ़ाई छोड़कर आये विद्यार्थियों के अतिरिक्त पंडित नगनारायण तिवारी (रसूलपुर), पंडित ऋषिदेव ओझा (हूसेपुर), रामनरेशसिंह (अतरसन) उस समय अपने सारे समय को राजनीतिक कार्य में लगाते थे। अभी साथियों से परिचय प्राप्त करने तथा दो-चार सभाओं में—जिनमें अतरसन की सभा भी थी—बोलने ही का मौका मिला था कि एक गाँव की सभा में भरतजी आये। जिले के नेताओं में प्रोग्राम तोड़ने में वह भी काफ़ी ख्याति पा चुके थे; इसलिए उनके आ जाने से कार्यकर्त्ताओं को सन्तोष हुआ। वे पकड़कर मुझे छपरा ले गये। शराब की दूकानों पर धरना दिया जा रहा था, मैं भी एक

दूकान पर जा खड़ा हुआ, एक शराबी मेरे अनुनय-विनय की कोई परवाह न कर भीतर चला गया। उसके दूसरे दिन बाढ़ में वह घर गिर गया, लोगों ने अफ़वाह उड़ाई, साधु-महात्मा को धक्का देकर जाने का यही फल होता है।

भरतमिश्र ने सोनपुर में सभा का प्रोग्राम दिया था, अपने वह जाना नहीं चाहते थे, इसलिए काम का बहाना बना मुझे वहाँ भेजा, शायद इसीलिए वह मुझे पकड़ भी लाये थे।

शाम को थाने के एक गाँव··· में मही के रेल के पुल के पास छोटी-सी सभा· हुई। दूसरे दिन की सभा के लिए मैं स्वराज्य आश्रम में प्रतीक्षा कर रहा था–स्वराज्य आश्रम इसी जगह उस समय भी था, किन्तु उसका मुंह सड़क की ओर न था। सबेरे आठ या नौ बजे किसी ने आकर कहा–भारी बाढ़ आ गई है, छपरा तो डूबना चाहता है। ऐसे वक्त में चुस्त सेवकों की कितनी आवश्यकता होती है, इसे मैं जानता था। साथियों से इजाजत ले मैं तुरन्त छपरा की ओर रवाना हुआ।

2
बाढ़-पीड़ितों की सेवा (सितम्बर 1921 ई.)

लोग प्लेटफ़ार्म और रेलवे सड़क पर थोड़ा-बहुत सामान लिये बैठे थे। कचहरी स्टेशन से भगवान बाजार (छपरा) स्टेशन तक रेलवे सड़क की एक ओर पानी ऊपर तक पहुँच चुका था, कुछ अंगुल और बढ़ने पर वह सड़क की दूसरी तरफ़ गिरने लगता, और फिर छपरा शहर के लिए कोई आशा न रह जाती। भगवान बाजार स्टेशन पर भी घर से भागकर आये नर-नारियों की भीड़ थी। मैंने बाढ़ की भीषणता का कुछ नजारा तो देख लिया, अब सहायता कैसे की जावे, इसकी जानकारी के लिए कांग्रेस आफ़िस का रास्ता लिया। स्टेशन से भगवान बाजारवाली सड़क पकड़, जेलखाना, जिलास्कूल, इलियट तालाब, म्युनिसिपैलिटी होता आफ़िस में पहुँचा। छपरा की सड़कों ने छोटी-मोटी नदियों का रूप धारण किया था। जेल के आस-पास तो मुझे कमर-भर पानी से चलना पड़ा। कच्ची दीवारोंवाले मकान गिर गये थे। पक्की दीवारों के मकानों में भी पानी घुस गया था, और लोग भाग गये थे। जनशून्य महल्लों की निस्तब्धता डरावनी-सी मालूम होती थी। मकानों की खपरैलों पर एकाध बिल्लियाँ और कहीं-कहीं भूखे कुत्तों का करुण क्रन्दन हो रहा था।

आफ़िस में उस वक्त एक या दो आदमी थे। शाम को बरांडे के बाहर सीढ़ियों पर हमारी नजर थी। दो सीढ़ियां डूब चुकी थीं, चाँदनी रात में हम धड़कते दिल से तीसरी की ओर शनैः-शनैः पानी को बढ़ते देख रहे थे। पानी का जब बढ़ना रुक गया तो हमारी जान में जान आई।

मैं अभी बिलकुल अपरिचित-सा आदमी था, इसलिए उस वक्त पीड़ितों की सहायता के लिए क्या विशेष प्रबन्ध करता, तो भी चुप बैठना मेरे बस की बात न थी। कांग्रेसवालों को कुछ नावें मिल गई थीं। हमें मालूम हुआ, कचहरी-स्टेशन के पच्छिम के कितने ही गांव डूब रहे हैं। एक नाव ले मैं उधर रवाना हुआ। एक गाँव में जाने पर मालूम हुआ, लोग पोखरे के भींटे पर पशुप्राणी लेकर चले आये हैं, और अभी उन्हें खतरा नहीं। दूसरे कुछ गाँवों के आदमियों को ढो-ढोकर हम रेलवे लाइन पर पहुँचाने लगे। एक आदमी को गाँव के लोगों को निकाल लाने के लिए एक नाव सुपुर्द कर दी थी। उसने उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझ ली, और घर के आदमियों और पेटी सन्दूक को ढोने के बाद अब वह भुस ढोने लगा था। गाँव के कितने स्त्री-बच्चे-बूढ़े अपनी खपरैलों पर भयभीत बैठे हैं, छत के नीचे तीन-तीन चार-चार हाथ पानी है, और अभी वह बढ़ रहा है। दीवार किसी वक्त भी बैठ जानेवाली है, और उस रात को डूबने से बचने की बहुत कम को आशा है, ऐसी भीषण अवस्था में एक आदमी जान बचाने के लिए मिली नाव से अपना भुस ढो रहा है !! मुझे बड़ा गुस्सा आया, और जैसे ही स्टेशन से आती नाव को देखा, अपनी नाव ले जा उस पर कूद पड़ा। उस हृदयहीन

आदमी को बुरा-भला कह उससे नाव छीनी। दूसरे साथी के जिम्मे पहिली नाव लगाई। काम काम को सिखलाता है, चार-पाँच घंटे मेरे साथ काम करते साथी को भी ढंग मालूम हो गया, आखिर मैं भी तो यहीं काम और उसके तजरबे को सीख रहा था। गाँव में पहुँचकर मैंने लोगों को नाव पर चढ़ने के लिए कहा। जितने लोग आ सकते थे उतने बैठे। एक स्त्री को लोग आने के लिए कह रहे थे, किन्तु वह छत पर से कहती थी—घर के भीतर से सन्दूक बिना लिये मैं नाव में नहीं चढ़ने की। छतों पर बैठे लोगों की जान अभी भी खतरे में थी, रेलवे लाइन पर उतारकर उन्हें लेने के लिए हमें फिर आना था, और यह औरत छाती-भर पानी में जा घर के भीतर से सन्दूक लाने के लिए कह रही थी। यदि कहीं इसी बीच में दीवार भसक गई, तो सन्दूक लानेवाला भी भीतर ही रह जायेगा, इसकी भी उसे परवाह नहीं। लेकिन क्या करते ? उसका देवर या जेठ कन्धे-भर पानी में घुसकर गया। सन्दूक लाकर नाव में रखी गई, तब हम रवाना हुए।

बाढ़ की खबर सुनकर दीहात से कार्यकर्त्ता आने लगे। एकमा की तो सारी जमात पहुँच गई। सहायता के लिए सत्तू, चना, चूरा, चावल आदि चारों ओर से आने लगा। कितनी जगह से लोग पूड़ी भी भेजते थे। इलियट तालाब के पास रेलवे लाइन की बगल में कांग्रेस-सहायता-केम्प खुला, जो कि छपरा क्या बिहार के इतिहास में अपनी तरह का पहिला प्रयत्न था। कार्यकर्त्ता जरूरत से अधिक थे, किन्तु उनका कोई संगठन नहीं, गैरजिम्मेवार लोगों की संख्या अधिक थी। मौलवी सालेह, सर्वश्री मथुराप्रसाद, नारायणप्रसाद, हरिनन्दन सहाय, गोरखनाथ, जलेश्वरप्रसाद, विन्ध्येश्वरीप्रसाद आदि जिले के प्रधान कार्यकर्त्ता मौजूद थे, और इनमें जो वहां मौजूद थे, वह काम में डटे हुए थे। मैं रात-दिन नाव लेकर दौड़-धूप में लगा था। शायद दूसरे दिन की बात है, आधी रात को मालूम हुआ मसरख लाइन के बगल के एक गाँव में लोग दरख्तों पर भूखे बैठे हैं। मैं एकमा के अपने एक या दो साथियों (जिनमें रामबहादुरलाल भी थे) के साथ कुछ सत्तू, भूँजा, चावल ले रवाना हुआ। कमता, 'सखीजी' एक और साधु के साथ दो वृक्षों पर रखे बाँसों के ठाट पर बैठी थीं। सत्तू-भूँजा लेने के लिए कहने पर उन्होंने अपने साथी साधु को पूछकर दे देने के लिए कहा। मसरखवाली रेलवे लाइन टूट चुकी थी। पानी के गिरने की आवाज दाहिनी ओर जोर से सुनाई दे रही थी। नजदीक से जाने पर नाव के उधर खिंच जाने का डर था, किन्तु हम एक दूसरी ही नशा में थे। सावधानी रखते थे, किन्तु मृत्यु से भयभीत होकर नहीं। उस गाँव में पहुँचे। लोग रेलवे लाइन पर गुमटी के नजदीक पड़े थे। दो-चार प्रतिष्ठित आदमियों को बुलवाया, और उनके समर्थन के अनुसार खाने-पीने की चीजें बांटीं।

वहीं मालूम हुआ, सड़क की दूसरी ओर का गाँव सड़क के टूटने से खतरे में पड़ गया है। लेकिन नाव तो हमारी इस पार थी ? उन लोगों ने केले के स्तम्भों का ठाट बनाया था। एक पथप्रदर्शक ले मैं उसी पर बैठ गया। गाँव कुछ ऊँचे पर था, और लोगों ने पानी के भीतर घुसने के रास्तों पर मिट्टी डाल रखी थी। पानी के लिए आगे का रास्ता रुका हुआ था, इसलिए तुरन्त कोई उतना खतरा नहीं था। किसी को खाने की जरूरत हो तो, आओ—कहकर कुछ आदमियों को लिये मैं फिर नाव की जगह पहुँचा। उस दिन रात के तीन बजे के बाद कचहरी स्टेशन से पश्चिम एक ताड़ के दरख्त में नाव को बाँधकर हम सोये।

काम के वक्त सुस्ती मुझे असह्य मालूम होती है। अनिच्छावश भी मैं ऐसे वक्त आगे आ जाता हूँ, और हो सकता है, ऐसे समय मेरे साथियों को गलतफ़हमी हो जावे। इस बाढ़-सहायता काल में भी ऐसे मौके आये, किन्तु मुझे खुशी रही कि किसी साथी को गलतफ़हमी नहीं हुई। कचहरी स्टेशन के पास चार-पाँच हाथ पानी के बाद एक नाव खड़ी थी। सभी बाबू लोग कह रहे थे—नाव आनी चाहिए; किन्तु नाव तो मानव-भाषाभिज्ञ प्राणी नहीं है। मैं कपड़ों की बिना परवाह किये कूद पड़ा। नाव पकड़ लाया। बाबू लोग शर्मिन्दा हुए, एक ने साधुवाद दिया।

आफ़िस में काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं में कौडिया के एक तरुण कायस्थ की मुस्तैदी का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। यदि वैसे आधे दर्जन भी लोग होते, तो कितना सुव्यवस्थित रूप से काम चलता। वह सरकारी कचहरी की कोई नौकरी छोड़कर आये थे। पीछे बी. एन. डब्ल्यू. आर. में गार्ड हो गये थे। उनसे कभी-कभी फिर मिलने का मौका मिला, और उस वक्त खयाल आता—कभी फिर उसी तरह तन्मय हो हमें साथ काम

करने का मौका मिलता।

बाढ़ का पानी बढ़ना रुक गया, रेलवे लाइन के टूटने से पानी भी कम होने लगा, इस प्रकार डूबने का खतरा जाता रहा; किन्तु लोगों के कष्टों की कमी नहीं हुई थी। शहर में गोलेदारों के गल्ले बोरों में ही सड़ गये थे। भगवान बाजार के माल गोदाम के पास से गुजरने में नाक फटती थी, सड़े हुए अनाज से सख्त बदबू निकल रही थी। सिवाय मसरख के सभी लाइनें चल रही थीं, इसलिए बाहर से खाने-पीने का सामान आ रहा था। शहर में काम करनेवालों की कमी न थी, इसलिए मैंने गांवों की सहायता का भार अपने जिम्मे लिया। लोगों ने भूगोल पढ़े थे, नकशे देखे थे, किन्तु उससे फ़ायदा उठाने की बात अभी नहीं सीखी थी। एक रात जब मैं नकशा उतार रहा था, तो कितने साथी उसे फ़जूल की सनक समझते थे। गाँवों में चावल-दाल, सत्तू-भूँजा, चना के अतिरिक्त मिट्टी का तेल, नमक भी बाँटना पड़ता था। कितने लोग जरूरत होने पर भी लज्जावश मुफ्त लेना स्वीकार नहीं करते थे।

इस बाढ़ का असर एकमा, सिसवन और रघुनाथपुर थानों के कुछ भागों पर भी पड़ा था। वहाँ की खड़ी फ़सल मारी गई थी, और काम न मिलने से गरीबों की हालत खराब थी। छपरा में और कार्यकर्त्ताओं के आ जाने पर मैं एकमा चला आया। इधर के थानों में बाँटने के लिए दो-एक बोरा लाई-भूँजा ले रात को हम एकमा उतरे। आदतवश साथी कुली की प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से लाई का बोरा शिर पर रखा। प्रभुनाथ ने कहा—बाबा ठीक साम्यवादी हैं। किन्तु, दिन में इस बेतकल्लुफ़ी से 'बाबा' बोरे को शिर पर नहीं रख सकते थे, यह मैं जानता था। किसी काम में सैनिक स्पिरिट के साथ काम करने में मजा आता है। एकमा के सभी साथी मेरा आदर ही नहीं करते थे, बल्कि साथ काम करने के लिए तैयार थे। सिसवन थाने में पीड़ित-सहायता की ज्यादा आवश्यकता थी, इसलिए मैंने गिरीश को वहाँ जाने के लिए कहा। उसी सिलसिले में वासुदेवसिंह ने रघुनाथपुर थाने में जाना स्वीकार किया। एकमा के लिए प्रभुनाथ, लक्ष्मीनारायण तथा दूसरे सभी कार्यकर्त्ता मौजूद थे। मैंने खुद नाव पर खाने-पीने की चीजें रख बहुत से गाँवों का दौरा किया।

पहिली सहायता का काम समाप्त हुआ। देश के नेताओं की अपील पर प्रान्त और मुल्क की जनता ने अन्न और पैसे से खूब सहायता की, और अब रबी की फ़सल के लिए बीज, मलेरिया की औषध, और भूखों के लिए अन्न-वस्त्र की जरूरत थी; तो भी अब उस काम में घंटों और मिनटों की जल्दी न थी।

कातिक के महीने में उधार पर देने के लिए बीज एकमा भी आया। मलेरिया का जोर बढ़ा, और मलेरिया मिक्सचर की दर्जनों बोतलें हम बाँटते थे। जाड़े के लिए मारवाड़ी रिलीफ़ सोसाइटी की ओर से कम्बल-कपड़े ले एक गढ़वाली तरुण जोशी आये। लोगों का कष्ट फाल्गुन तक के लिये है, और सब घरों में हम सहायता नहीं पहुँचा सकते, इसलिए मैंने सोचा, इस वक्त चर्खे और करघे सहायक हो सकते हैं। हमारे एकमा के गाँधी-स्कूल में करघा था, किन्तु अब वह 4X4 हाथ जमीन घेरने के लिए रह गया था। मैंने सोचा, यदि चर्खे बाँटकर लोगों से सूत कतवाया जावे, और साथ ही जुलाहों को दे कपड़ा बुनवाया जाये तो लोगों को ज्यादा सहायता मिल सकती है। गिरीश ने मेरे लिखने पर चार सौ टकुए बनवाकर चैनपुर से भेजे। बढ़ई को चर्खा बनाने का काम दे दिया। रामपुर (बिन्दालाल के) में एक पुरानी हवेली में पुरानी साखू की लकड़ियाँ देख मैंने दस-बारह रुपये में सौ करघों के बनाने-भर की लकड़ियाँ खरीदकर परसा पहुँचाई, उनमें से कुछ तो बढ़ई को जमीन पर बैठकर चलानेवाले फ्लाई-शटल करघा बनाने को दे दिया, और कुछ पुराने भट्ठीवान के घर में अमानत छोड़ दिया। सैकड़ों चर्खे बने, और बाँटे गये, तीसों करघे बने और उनमें से भी कितने ही बांटे गये। कुछ रुपये लगाकर एक खद्दर डिपो खोला, जिसके इन्चार्ज फूलनदेव बने। कुछ सूत आया, उसका कुछ कपड़ा भी बना। आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय की लिखी 'रंग' पुस्तक से मैंने कुछ रंगों का भी तजरबा किया। किन्तु डिपो में आये कपड़े की बिक्री बहुत कम होती। फिर नये चर्खों और करघों को बांटने से फ़ायदा ? करघे, चर्खे और सैकड़ों टकुए वैसे ही पड़े रहे। अमानत पड़ी लकड़ी को परसा के भट्ठीवाले ने अपनी सम्पत्ति समझ ली। खद्दर-अर्थशास्त्र यहीं समाप्त हो गया।

सहायता के लिए मिली चीजों में से कुछ का दुरुपयोग भी हुआ, और कार्यकर्त्ताओं में से कुछ का ईमान

डिग गया, किन्तु ऐसों की संख्या बहुत कम थी और दुरुपयुक्त सामग्री का परिमाण भी बहुत कम था, तो भी जनता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा, और उनसे भी ज्यादा बुरा असर पड़ा लगनवाले ईमानदार कार्यकर्त्ताओं पर। ऐसा विचारते वक्त अक्सर हम भूल जाते हैं कि हम जिस पूँजीवादी व्यवस्था में जी रहे हैं, उसकी बुनियाद ही अपहरण और बेईमानी पर है, जब तक मूल का उच्छेद नहीं होगा, तब तक इन त्रुटियों के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। मेरे जिम्मेवार साथियों में सबने अपने कर्त्तव्य को बड़ी तत्परता और ईमानदारी के साथ निबाहा।

3

सत्याग्रह की तैयारी (1921 ई.)

जलियाँवाला बाग और मार्शल-ला के अत्याचारों को सुनकर सारे भारत में रोष का तूफ़ान फूट निकला। जलियाँवाला बाग की महती सभा और 6 अप्रेल 1919 के प्रदर्शन ने बतला दिया कि देश महायुद्ध के बाद कहाँ चला गया है। आत्मग्लानि और प्रतिशोध की भावना देश में इतनी उग्र हो गई थी कि यदि कोई विश्वासपात्र नेता आगे बढ़ता, तो जनता उसका साथ देने के लिए तैयार थी। दक्षिण-अफ्रीका के आन्दोलन के बारे में सुनकर गाँधीजी को भारत की शिक्षित जनता जानती थी। चम्पारन और खेड़ा के आन्दोलनों ने उन्हें भारत की साधारण जनता में प्रसिद्धि और सर्वप्रियता प्रदान की। रोलट-एक्ट के विरोध को लेकर गाँधीजी का आगे आना ठीक समय पर हुआ। जनता–विशेषकर किसान और निम्न मध्यम शिक्षित जनता–को अपनी ओर आकर्षित करने का तरीका गाँधीजी अपने समय के सभी भारतीय नेताओं से–तिलक को लेते हुए–अधिक जानते थे। इस प्रकार भारतव्यापी आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए उन्होंने अपने को योग्य साबित कर दिया। अमृतसर (1920), कलकत्ता (1921), नागपुर (1921) कांग्रेसों में गाँधी का सितारा ऊँचे से ऊँचा उठता ही गया, और विदेशी सरकार के साथ संघर्ष लेने में उन्हीं को आगे बढ़े देख जनता ने असहयोग और सत्याग्रह का स्वागत किया। छः महीने के भीतर तिलक-स्वराजफ़ंड के लिए एक करोड़ की भारी रकम जमा कर देना, भारतीय जनता के लिए पहिली बात थी।

'साल-भर में स्वराज' की बात पर विश्वास तो जादू-मन्तर पर विश्वास रखनेवाली अशिक्षित ग्रामीण जनता के लिए कोई मुश्किल न था; किन्तु मुझे तो आश्चर्य आता था उन शिक्षितों की अकल पर, जिनमें से जेल में पड़े कितने ही 31 दिसम्बर 1921 की आधी रात को स्वराज सरकार द्वारा जेल के फाटक के खुल जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

जुलाई (1921) में जब मैं बिहार में आया, तो उस वक्त जोश ढीला पढ़ने लगा था, किन्तु यह सिर्फ़ इसी अर्थ में कि लोगों ने अतिरिक्त प्रोग्रामों–रात को पहरा देना, हुक्का-तम्बाकू-मछली-मांस छोड़ देना, पंचायत द्वारा मुकदमों का फ़ैसला कराना, मुठिया (प्रतिदिन मुट्ठीभर अन्न) निकालना, आदि–को भूलना शुरू किया था।

एकमा में सौभाग्य से मुझे बहुत अच्छे साथी मिले। मुझे जीवन के वे दिन बड़े मधुर मालूम होते हैं, जब कि प्रभुनाथ, गिरीश, लक्ष्मीनारायण, हरिहर मधुसूदन, रामबहादुर, छबीला, वासुदेव जैसे एक दर्जन शिक्षित तरुण कष्टों और कठिनाइयों की बिलकुल परवाह न कर चौबीसों घंटे राष्ट्रीय काम के लिए दे रहे थे। हमने एकमा थाने के कोने-कोने को छान डाला था। जिले के और स्थानों में आन्दोलन शिथिल-सा पड़ गया था, मुठिया बन्द हो गई थी, किन्तु एकमा में जागृति थी। यहाँ मुठिया निकालने में लोगों को उज्र न था। (उज्र तो शायद कहीं नहीं होता)–और हम उसी को जमा करा स्वराज-आश्रम एकमा का खर्च चलाते। एकमा में एक गाँधी विद्यालय खोला गया था। करघा और चर्खे भी रखे गये थे। पढ़ाने में रामउदारराय, रामबहादुर और हममें से भी जो समय पाता, पढ़ाते। विद्यालय के लिए हम इतने ही पर सन्तोष कर सकते थे कि विद्यार्थियों

का समय बरबाद नहीं होने पाता था। विद्यालय में रामदास गौड़ की हिन्दी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, जो कि उस समय की सरकारी पाठ्य-पुस्तकों से कहीं अच्छी थीं। अंग्रेजी पढ़ने के लिए लड़कों को पहिले दूर जाना पड़ता था, किन्तु यहाँ हमारे विद्यालय में उसका भी प्रबन्ध था। रामदास गौड़ की पुस्तकों और खलीलदास के भजन "भारत जननि तेरी जय तेरी जय हो" के अतिरिक्त और पाठ्य-विषयों में दूसरे सरकारी स्कूलों से कोई अन्तर नहीं था, तो भी हम 'बागियों' के स्कूल में पढ़ते हैं, इसका असर लड़कों पर होना जरूरी था। एक बार हमारे विद्यालय के दो छोटे-छोटे लड़के रामचन्द्र और मंगल अपने गाँव (एकमा) में झुंड के साथ 'गाँधी महात्मा की जय', 'भारत माता की जय' आदि नारों के साथ जुलूस निकालकर 6 से 12 वर्ष के लड़कों की सभा कर रहे थे। सभापति रामचन्द्र बने और मंगल ने व्याख्यान देना शुरू किया। सामने पन्द्रह-बीस की 'जनता' बैठी थी। अभी व्याख्यान शुरू ही हुआ था कि रामचन्द्र की माँ की नजर उधर गई। वह सुन चुकी थी, पुलिस इसके लिए धर-पकड़ करती है। दौड़कर आईं, और मुँह से बात निकालने के पहिले ही सभापति रामचन्द्र की पीठ पर दो-तीन थप्पड़ लगे। सभा तितर-बितर हो गई। बच्चों तक में इस तरह के जोश लाने में गाँधी विद्यालय जैसे विद्यालयों का हाथ कम न था।

मुझे एक दिन की बात याद है। हम लोग शायद अतरसन की सभा से रात को लौट रहे थे। खेत में हरे-हरे धान खड़े थे। चांदनी रात के निरभ्र आकाश में बिखरे तारे और क्षितिज पर कजली पुते से वृक्ष-बगीचे दिखाई पड़ रहे थे। हमें जल्दी नहीं थी, इसलिए एक अकेले पीपल के पास बैठे या खड़े हमारे वार्त्तालाप का रुख भूतों की ओर चला गया। साथ कौन-कौन थे, सो तो याद नहीं, किन्तु गिरीश जरूर थे। आर्यसमाज के प्रभाव के कारण भूतप्रेत से मेरा विश्वास उठ गया था, किन्तु भूतों की कथाओं को कहने-सुनने में मुझे बड़ा मजा आता था। कथा मैंने शुरू की, किन्तु गिरीश ने अपने कथा द्वारा मुझे भी मात कर दिया। उन्होंने राकस (राक्षस), ब्रह्मपिशाच, जिन्न, हँडकसवा (गर्भगिरा), चुड़ैल, बूड़ा (पानी में डूबकर मरा), तेलिया-मशान, सैयद, दैत (दैत्य) आदि कितनी ही भूतों की किस्में गिनाईं, फिर उनमें से कुछ की कथा भी कही। बहुत रात गये हम एकमा पहुँचे। एक ऐसी ही रात्रि-यात्रा बलिया (चैनपुर के रास्ते में) से एकमा के लिए हुई थी। सभा समाप्त कर भोजन करते-करते काफ़ी देर हो गई थी, किन्तु अगले दिन के प्रोग्राम के ख्याल से हम रात को वहाँ रह न सकते थे। उस दिन कथा तो नहीं हुई, किन्तु मुझे तो मालूम होता था, सोता हुआ चल रहा हूँ। बाढ़ के बाद मेरे साथियों ने एकमा के अतिरिक्त रघुनाथपुर, सिसवन थानों का भी काम सँभाला था, तथा एकमा के पासवाले मांझी थाने के गाँव में काम करना भी हमने अपने ऊपर लिया था। वस्तुतः, मेरी दृष्टि तो सारे जिले पर थी, किन्तु संगठन टूट चुके थे। तजरबे से मुझे यही समझ में आता था कि एक शिक्षित चतुर तरुण जिस थाने में चौबीस घंटे काम करने को नहीं मिलेगा, वहाँ काम स्थायी नहीं हो सकेगा। इसी खयाल से गिरीश और वासुदेव को मैंने दो थानों में भेजा था। एक थाना से दूसरे थाने के गाँवों में पैदल पहुँचना मुश्किल था, इसलिए एक एक्का-घोड़ा रखना पड़ा। कितनी ही बार मेरे साथ पंडित नगनारायण तिवारी भी रहते। वह हमारी थाना कांग्रेस कमेटी के सभापति ही नहीं थे, बल्कि अच्छे वक्ता, गायक और जनभाषा के कवि थे। मैंने छपरा में पहुँचते ही नियम कर लिया था कि छपरा की भाषा (मल्ली या भोजपुरी) में ही भाषण दूँगा। इसका असर मेरे साथियों पर भी पड़ा था। पंडित नगनारायण की आवाज भी बहुत तेज थी, और बोलने का ढंग भी अच्छा। कुछ वर्षों पहिले उनकी आँखें जाती रही थीं, किन्तु वे किसी आँखवाले कर्मी से काम करने में कम न थे। भोजपुरी (मल्ली) भाषा की बहुत-सी गीतें उन्होंने बनाई थीं, जिनमें कुछ; स्त्रियों की भी थीं, इन्हें वे सभाओं में गाया करते। दिन में दो सभाएँ—शाम और रात को होतीं, कभी-कभी तीन भी। हम लोग सिसवन थाने में होते रघुनाथपुर निकल गये थे। इसी थाने के ब्राह्मणों के एक गाँव में कार्तिक बदी छठ की रात को हम ठहरे थे। रात को छठ-पूजा के लिए स्त्रियाँ पोखरे पर जमा हुई थीं। नगनारायणजी ऐसे मौके को क्यों खाली जाने देते ? उन्होंने अपनी गीतों द्वारा विदेशी माल और शासन के बहिष्कार की बातें समझाईं। रात में अक्सर स्त्रियों की पर्दा सभाएँ होती थीं। छपरा की भाषा में बोलने के कारण मेरे शब्द को तो समझ जाती होंगी, किन्तु वे इसे किस लोक की बात समझती होंगी, जब मैं कहता—'तुम्हें राज-काज चलाना होगा। मर्दों के जूते खाना

छोड़, अपने बराबर हक के लिए लड़ना होगा। तुमको जज और मजिस्ट्रेट बनना होगा।' मेरे व्याख्यान में चर्खा-करघा-प्रचार मादक-द्रव्य-निषेध का अंश बहुत कम रहता। मैं तो विदेशी शासन के शोषण-अत्याचार, और देश के लिए संगठन और कुरबानी पर ज्यादा जोर देता।

बाढ़ के बाद जिला के अन्य नेताओं ने मुझे भी अपनी बिरादरी में शामिल कर लिया, और तीन-चार थानों के संगठन का काम मैंने अपने जिम्मे लिया। गाँधीजी ने सत्याग्रह की तैयारी शुरू की थी। बिहार प्रान्त में स्वयंसेवक-बोर्ड बना था; और सत्याग्रही स्वयंसेवकों की भरती का आदेश मिला था। हमने तै किया एकमा, सिसवन, रघुनाथपुर में चार-चार सौ वर्दीधारी स्वयंसेवक तैयार होने चाहिए। एकमा में तो हम सभी थे। सिसवन में गिरीश ने तैयारी की। बाढ़ की सेवाओं, तथा अपनी कार्यक्षमता के कारण गिरीश का वहाँ बहुत प्रभाव था। आश्रम (हेड-क्वार्टर) उन्होंने चैनपुर में रखा था। थाने भर के वर्दीधारी स्वयंसेवकों और जनता की एक बड़ी सभा बुलाई गई, जिसमें मेरे अतिरिक्त जिला के भी कितने ही नेता आये। पहिला मौका था, इसलिए मन का शंकित होना स्वाभाविक था, किन्तु जब हमने खद्दर की जाँघिया, खद्दर के कुर्त्ते, गाँधी टोपी, झोले और लाठी के साथ चार सौ से अधिक स्वयंसेवकों को पाँती से खड़े देखा, तो प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। कई हजार की जनता में बिना लाउडस्पीकर के बोलना असम्भव होता, यदि लोग स्वयं शान्त रह सुनने के लिए तैयार न होते। शायद वर्दी का रंग पीले रामरज का था।

मुरारपट्टी के बाग में रघुनाथपुर की बड़ी सभा और चार सौ स्वयंसेवकों का जत्था जमा हुआ था।—वासुदेव भी काम में सफल साबित हुए, और मेरी खुशी के लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि जिन्दगी भर में सिर्फ़ इसी सभा में मैंने भावावेश में आ स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ जोशीला व्याख्यान दिया था। मुझे छपरा की भाषा में बोलते देख, बाबू मथुराप्रसाद ने भी कोशिश की, किन्तु बीच-बीच में उर्दू के शब्दों को डालने से वह बाज न आ सके। चार सौ से अधिक रंगीन वर्दीधारी स्वयंसेवकों को देखकर इन थानों की और जिला के नेताओं का ध्यान विशेष तौर से आकर्षित होना जरूरी था।

एकमा का स्वयंसेवक सम्मेलन और भी जबर्दस्त रहा। एकमा में आकर मिलनेवाली चार सड़कों से गाँव-गाँव के जुलूस आये। फिर एक विराट् जुलूस की शकल में बीस-पच्चीस हाथियों, सैकड़ों-हजारों झंडों-पताकों के साथ वह पाँचवीं सड़क से माधवपुर को गया। एक विशाल जनप्रवाह हजारों पैरों से चलता, हजारों कंठों से गगनभेदी नारे लगाता जनशक्ति का परिचय दे रहा था। निर्दिष्ट स्थान पर बीस हजार मुंड एकत्रित दिखाई पड़ रहे थे। जलेश्वर बाबू जिले से खास तौर से व्याख्यान देने आये थे। उन्होंने थाने के कार्यकर्त्ताओं और जनता के उत्साह की सराहना की। चार सौ से अधिक वर्दीधारी स्वयंसेवकों को उन्होंने शायद पहिले-पहिल देखा था, इसलिए उन पर इसका खास प्रभाव पड़ा; किन्तु मैंने सिसवन और रघुनाथपुर के रंगीन वर्दीवाले स्वयंसेवकों को देखा था, इसलिए गिरीश और वासुदेव की स्वयंसेवक-सेना से अपनी सफ़ेद वर्दीवाली यह सेना कुछ कम जँची, तो भी और बातों में एकमा बढ़ा-चढ़ा था।

स्वयंसेवक दल को सरकार ने क्रिमिनल-ला-सुधार कानून द्वारा गैरकानूनी करार दे दिया। उसकी अवहेलना में जिला कमेटी की बैठक के वक्त छपरा में रामलीला की मठिया (जेलखाने के पास) में एक सभा हुई, जिला के प्रमुख कर्मियों ने स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाना शुरू किया, और पुलिस ने गिरफ्तारी शुरू की। भरतमिश्र गिरफ्तार हुए, बा. माधवसिंह वकील, और कितने ही और नेता तथा कार्यकर्त्ता गिरफ्तार हुए; किन्तु छपरा के तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर लुइस होशियार आदमी थे, उन्होंने मुजफ्फ़रपुर के कलेक्टर की भांति सैकड़ों को पकड़कर जेल में भेजना पसन्द नहीं किया। आठ-दस आदमियों की गिरफ्तारी के बाद स्वयंसेवक घोषित करनेवालों का नाम भर पुलिस नोट करने लगी। घोषित करनेवालों में मैं और बाबू नारायण प्रसाद भी थे।

दिसम्बर (1921) में जिले के कितने ही प्रतिनिधि अहमदाबाद-कांग्रेस में गये। मैंने गिरफ्तारी से पहिले जिले में घूमकर जागृति पैदा करने में अपना समय देना पसन्द किया—आखिर मेरे लिए अहमदाबाद और दूसरे शहर कोई आकर्षण नहीं रखते थे, कांग्रेस देखने के और भी अवसर आनेवाले थे। अपना एक्का-टमटम ले मैं एकमा से निकला। पचरुखी में उस वक्त चीनी की मिल नहीं बनी थी, बाजार में भाषण दिया। सीवान,

मीरगंज में व्याख्यान देते हथुआ पहुँचा। वहां कॉलेज छोड़कर आये एक तरुण–जगतनारायण–बड़ी लगन से काम कर रहे थे। भोरे थाना में भी स्कूल त्यागी एक ब्राह्मण तरुण काम करता था, इसलिए वहाँ भी छोटे-मोटे कार्यकर्त्ताओं को लेकर वह थाने की जागृति को सँभाले हुए था। कटया में महेन्द्रसिंह के चले जाने से कुछ शिथिलता थी, किन्तु कार्यकर्त्ता वहाँ भी थे। कुचायकोट में जलालपुर का आश्रम काम कर रहा था, और वहाँ भी एक उत्साही नवयुवक तथा थाना के प्रधान बाबू भूलनशाही उत्साहपूर्वक काम कर रहे थे। बाबू भूलनशाही के सीधे-सादे अशिक्षित, किन्तु भावुकतापूर्ण हृदय के लिए स्वराज-आन्दोलन धार्मिक साधना-सा मालूम होता था। स्वराज-आश्रम पर आते वक्त वह कभी खाली हाथ नहीं आते थे। कई साल बाद जब मैं हजारीबाग से छूटकर वहाँ गया, तो भूलनशाही की सौम्य वृद्धमूर्त्ति न देखकर मैंने उनके बारे में पूछा, और उनकी मृत्यु की खबर सुनकर एक स्थायी शोक हुआ। जब कभी मैं जलालपुर जाता, या उधर से गुजरता, भूलनशाही का स्मरण बिना आये नहीं रहता। उसी यात्रा में मैं गोपालगंज, बरौली, रेवतिथ, बसन्तपुर भी गया। बरौली में कालेज के विद्यार्थी बा. शिवप्रसाद सिंह बहुत अच्छी तरह काम सँभाले हुए थे। मीरगंज, भोरे, कुचायकोट, गोपालगंज, बरौली के सिवाय बाकी थानों में ज्यादा शिथिलता थी।

एकमा आने पर मालूम हुआ, मेरी गिरफ्तारी का वारंट निकला है। रामउदारराय नाम के सादृश्य से गिरफ्तार कर लिये गये थे। लोगों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि रामउदारराय ने स्वयंसेवकों में नाम नहीं लिखाया था। पुलिस को भी गलती का सन्देह हुआ, इस प्रकार उन्हें छोड़ दिया, और वारंट रामउदारदास के नाम से दुरुस्त हुआ। पटना (प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग) से मैं उसी दिन छपरा पहुँचा, और जिला कांग्रेस कमेटी की बैठक 31 जनवरी, 1922 को मेरे सभापतित्व में हो रही थी, जब कि पुलिस मुझे गिरफ्तार करने आई।

जेल के फाटक को बाहर से मैं बराबर देखता था, जब कभी साहेबगंज से भगवान बाजार (छपरा) स्टेशन जाता; किन्तु, उस फाटक के भीतर एक दूसरी दुनिया बसती है, इसका तजरबा मुझे पहिली ही बार हुआ। डर और झिझक की बात नहीं थी। 1915 ही में मैं क्रान्तिकारियों की जीवनियाँ, उनकी जेलयातनाओं के बारे में काफ़ी पढ़-सुन चुका था, और मुझे उनमें भय नहीं प्रलोभ मालूम होता था।

एकमा में काम शुरू करने से थोड़े ही दिनों बाद मैंने अपने अँचलेवाले भेष को बदलकर फिर कम्बल की अल्फी पसन्द की। सोनपुर के मेले से एक सहारनपुरी काला कम्बल ले, बीच में शिर डालने के लिए छेद बना उसे अल्फी में परिणत कर दिया। गिरफ्तारी के वक्त भी मैं उसी काली अल्फी में था। दिन-भर हवालात में रखने के बाद शाम को मुझे जेल में और कैदियों से अलग जेल में रखा गया। छपरा के कई कर्मी सजा पाकर बक्सर सेंट्रल-जेल भेज दिये गये थे। नारायण बाबू अहमदाबाद कांग्रेस चले गये थे, लौटकर आने पर मुझसे दस दिन बाद (9 फरवरी को) वह भी तारीख पर गिरफ्तार होकर आये। याद नहीं, मुझे एक-दो दिन बालू भरे आटे, बाल और छिलके भरी दाल तथा आधी घास के साथ उबाले साग को खाना पड़ा या नहीं। नारायण बाबू के आने पर हम दोनों को अपने हाथ से रसोई बनाने के लिए खाने का सामान मिलता था। मैंने परसा में पकवान पकाने के एकाध हाथ नारायण बाबू को भी सिखलाये। अकेला रहते भी मैं पढ़ने-लिखने में लगा रहता था। यहीं त्रोत्स्की की 'बोल्शेविकी और संसार-शान्ति' अंग्रेजी में पढ़ने को मिली। किसी वोल्शेविक ग्रंथकर्त्ता की यह पहिली पुस्तक थी। मैंने कुछ समय संस्कृत की तुकबन्दी में लगाये, जिनमें एक भजन शुरू होता था–"शृणु शृणु रे पान्थ, अहमिह न ह्येका की।" नारायण बाबू उन नेताओं में से थे, जिनका सार्वजनिक जीवन असहयोग और गांधी-युग के साथ नहीं आरम्भ होता था। उन्होंने अंग्रेजी की शिक्षा न पाई थी, और न देश-भ्रमण का अवसर पाया था, तो भी मनुष्य का कर्त्तव्य खाने-पीने-सोने से उसे ऊपर ले जाता है, इसे वह भली-भाँति समझ गये थे। वे मध्यमवित्त के एक समृद्ध परिवार के मुखिया थे। बाप ने उनके लिए जमींदारी के अतिरिक्त कितना ही नकद रुपया भी छोड़ा था। यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुत्व उनके पास मौजूद थे, यदि अविवेक भी साथ रहता, तो दूसरे बाबुओं की भाँति वह भी ऐश की जिन्दगी बिता सकते थे। किन्तु, इसकी जगह उन्होंने अपने जीवन को एक दूसरी ही ओर ढाला, और सो भी बहुत कुछ सिर्फ़ अपनी सूझ के भरोसे। स्टेशन से बारह मील पर, शहर बाजार से बहुत दूर एक अटट दीहाती गाँव गोरयाकोठी में उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल

स्थापित किया, और उस समय की प्रतिकूल तथा बहुव्ययसाध्य परिस्थिति में उसे हाई स्कूल तक पहुँचाया। छपरा ही नहीं, सारे बिहार में उस वक्त अपने ढंग का वह अकेला स्कूल था। नारायण बाबू हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों को बहुत पढ़ते थे, और लोकमान्य तिलक के बड़े भक्त थे। इस राष्ट्रीय तूफ़ान से बच रहते, ऐसा हृदय उन्होंने नहीं पाया था, इसीलिए अत्यन्त परिश्रम से रोग और बढ़ाकर हाई स्कूल तक पहुँचाये अपने स्कूल को उन्होंने विश्वविद्यालय से सम्बन्ध-विच्छिन्न कर राष्ट्रीय बनाने में भी आनाकानी नहीं की। ऐसे आदमी के प्रति मेरी श्रद्धा शुरू से ही हो जावे, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। और अब संयोग से हमें साथ रहना पड़ा। वह उस समय जिला कांग्रेस के मंत्री थे।

दूसरे दिन (11 फ़रवरी को) हमारे मुकदमे का फैसला हुआ। हमने सरकारी इल्जाम को स्वीकार किया। मिस्टर लुई ने हम दोनों को छः मास की सादी सजा सुनाई। मैंने उन्हें 'धन्यवाद' कहा। तेरह दिन छपरा जेल में रहने के बाद, अब (12 फ़रवरी को) हम लोग दो कान्स्टेबलों के साथ बक्सर के लिए रवाना किये गये। कान्स्टेबलों के पास हथकड़ियाँ थीं, किन्तु उन्होंने हमारे हाथों में नहीं लगाया। क्रान्तिकारियों की कथाओं में हथकड़ियों और बेड़ियों की बातें सुनकर क्षण-भर के लिए भी हाथों में हथकड़ी डलवाने की मुझे लालसा हो आई। बहुत हिचकिचाहट के बाद सिपाही ने जरा देर के लिए उसे हाथ में डाला। मैंने लोहे के उन कंकणों को देखकर कहा--नाना ने चाँदी के खडुवे जो लड़कपन में हाथों में डाले थे, उनसे यह बुरे तो नहीं मालूम होते, फर्क इतना ही है कि सिर्फ़ दोनों हाथ नजदीक-नजदीक बँधे रहने से इनसे काम नहीं किया जा सकता।

रात को हम पटना होते दूसरे दिन चार बजे रात ही को बक्सर पहुँच गये थे। रामरेखाघाट पर गंगा में स्नान कर दस बजे के करीब बक्सर जेल में दाखिल हुए। छपरा जेल से यह कई गुना बड़ा था, किन्तु हमें जेल दिखलाने के लिए थोड़े ही लाया गया था। आफ़िस की मामूली कार्रवाई को समाप्त करने के बाद हमें एक वार्ड में ले जाया गया। उस वक्त साढ़े तीन सौ के करीब स्वराजी कैदी बक्सर में रखे गये थे। कमरों से बाहर धूप और छाया में वहां सौ से ऊपर आदमी मौजूद थे। दरवाजा खुलते ही उनकी नजर हम पर पड़ी। नये आगन्तुक को परलोक से लौटे आदमी की भाँति समझ स्वतन्त्रतावंचित राजबन्दी आकर हमारे इर्द-गिर्द जमा हो गये। घनिष्ट परिचयवालों ने आलिंगन किया, दूसरों ने अभिवादन। बाहर की आन्दोलन-सम्बन्धी खबर पूछी। हम लोग स्वयं तीन हफ्ते से बन्द रखे गये थे, तो भी जो कुछ मालूम था, उसे बतलाया। हम छपरावालों को इस बात का क्षोभ था कि राष्ट्रीय संघर्ष में इतना आगे बढ़े हुए होने पर भी हमारे जिले की अपेक्षा ज्यादा बन्दी दूसरे गुमनाम जिलों ने दिये थे। लेकिन हमारे जिले का क्या कसूर ? मुजफ्फ़रपुर जिले को बहुत नाज था कि उसके कैदी वहाँ सबसे ज्यादा थे। किन्तु इसमें नाज की जरूरत क्या ? यदि मुजफ्फ़रपुर के कलेक्टर जैसा औढरदानी कलेक्टर किसी भी जिले को मिल जाता, तो दो सौ चार सौ बहादुरों को जेल में भेज देना मुश्किल न था।

मुजफ्फ़रपुर जिले तथा एकाध और जिलों से कुछ साधारण स्वयंसेवक आये थे, नहीं तो सभी राजबन्दी अपने जिले या थाने के प्रमुख नेता थे। मेरे साथियों में प्रभुनाथ यहाँ आ पहुँचे थे। माँझी की सभा में मेरी जगह वह व्याख्यान देने गये थे, वहीं रंगेश और बूढ़े विरजानन्द पंडित के साथ पकड़ लिये गये। प्रान्त के प्रमुख नेताओं में राजेन्द्र बाबू इसलिए बच गये थे, कि गवर्नर की कार्यकारिणी के भारतीय सदस्य श्री सच्चिदानन्दसिंह उनकी गिरफ्तारी से असहमत थे। मौलवी शफ़ी मुजफ्फ़रपुर के एक नामी वकील तथा प्रमुख नेता वहाँ मौजूद थे। उनके साथ मौलवी वदूद, तरुण मंजूर, गंगया के बाबू मथुराप्रसाद, वरुराज के राजमंगलशाही और ब्रजनन्दनशाही, ठाकुर रामनन्दनसिंह और दूसरे अनेक होनहार तरुण भविष्य की महत्त्वाकांक्षाओं को कालेज-स्कूल की पढ़ाई के साथ विसर्जित करके पहुँचे हुए थे। वहाँ चम्पारन के बाबू देवीप्रसाद साहू, दरभंगा के मौलाना वहाब, और दूसरे जिलों के भी प्रमुख नेता थे।

4

बक्सर जेल में छः मास (13 फरवरी–9 अगस्त 1922 ई.)

इसमें तो शक नहीं कि इन राजबन्दियों में से अधिकांश ने राजबन्दी जीवन के लिए अपेक्षित मानसिक शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, इसलिए उन्हें एकान्तता कुछ असह्य-सी मालूम होती थी, किन्तु सौभाग्य से सभी लोग एक जगह रख दिये गये थे। दिन में बाहर हाते में वृक्षों के नीचे या धूप में साथ रहते, रात को कमरों में सत्ताईस-सत्ताईस की संख्या में (इकट्ठा बन्द होते) ताश-शतरंज खेलना, पढ़ना, बातें करना। यही नहीं मथुरा बाबू (गंगया) ने अपना अखाड़ा भी तैयार कर लिया था, और सबेरे रोज दो-तीन घंटे कुश्ती होती थी। वही हमारे सबसे बड़े पहलवान और अखाड़े के खलीफ़ा थे, और लोगों को दाव-पेच बहुत करके जवानी और हाथ के इशारे से बतलाया करते थे। कुछ ही दिनों बाद हम लोगों ने सहभोजी दावतों का तरीका जारी कर दिया। जेल से मिली चीजों के अतिरिक्त घर से आई चीजों तथा पैसे से भी लोग मदद करते थे। मथुरा बाबू खिलाने-पिलाने के प्रबन्ध में भी सिद्धहस्त साबित हुए। मथुरा बाबू हमारे कमरे में रहते थे। मैत्री को अक्षुण्ण रखते हुए उन्हें चिढ़ाने के लिए कभी-कभी मैं उनके संगीत के विवेचनों पर आक्षेप कर बैठता, और जब उनके शीतल मस्तिष्क पर कुछ गर्मी आ जाती, तो अपनी सफलता पर बड़ा प्रसन्न होता। इसमें शक नहीं, यह मेरी अनधिकार चेष्टा थी। मैंने संगीत का क-ख भी नहीं सीखा था, और न गवैयों को अपना कर्त्तब दिखाते ही सुना था। राग-रागिनियों के नाम तक मुझे याद नहीं, उनकी सुर-तान-गति की तो बात ही दूर ? इसके विरुद्ध मथुरा बाबू स्वयं गायक न थे, किन्तु गुनियों की उन्होंने अच्छी संगति की थी, उन्हें संगीत की खूब परख थी। एक दिन मीठे मनोरंजक गानों को छोकरों-छोकरियों का गाना कहकर वह बूढ़े उस्तादों की तारीफ़ कर रहे थे। कई और व्यक्तियों के साथ नारायण बाबू भी श्रोताओं में थे। मैंने खूब जोर की चुटकी ली–"मथुरा बाबू, मैं आपकी सब बातों को मानने के लिए तैयार हूँ, किन्तु उस व्यक्ति को मैं गायक कहने के लिए तैयार नहीं, जिसके अलाप को असह्य समझ पास के पेड़ पर शान्त बैठी चिड़िया भी उड़ जाने के लिए मजबूर हो। मैं उसे संगीत-शास्त्रज्ञ कह सकता हूँ, संगीत-शास्त्राचार्य मानने में भी मुझे उज्र नहीं, किन्तु गायक तो उसे ही मानूँगा, जिसके गाने को सुनकर अनभिज्ञ व्यक्ति भी मुग्ध हो जाये।" मथुरा बाबू का बौखलाना स्वाभाविक था। मैं अनाड़ी की तरह बात कर रहा था। नारायण बाबू भी चुपचाप मेरे साथ मथुरा बाबू की चिड़चिड़ाहट का मजा ले रहे थे। रसोई-अखाड़े के अतिरिक्त मथुरा बाबू को ब्रजभाषा कविता के रस-अलंकारों के सुनने-पढ़ने का भी शौक था। उनके सौभाग्य से कुछ ही दिनों बाद गया के पंडित बजरंगदत्त शर्मा पहुँच गये, फिर तो 'भानु' कवि के साहित्य ग्रंथ का पारायण उनका काफ़ी समय लेता रहा।

मनोरंजन के लिए हमने कई तरीके अख्तियार किये थे। शायद प्रतिदिन या सप्ताह में कुछ दिन शाम के वक्त स्नानवाली फ़ाइल के सीमेंट की गच पर कविसम्मेलन होता। लोग अपनी-अपनी कविताएँ सुनाते। बाबा नरसिंहदास तो ब्रजभाषा-भाषी ही थे, फिर ब्रजभाषा कविताओं में वह दिलचस्पी क्यों न लेते। एक दिन हम दोनों ने मिलकर 'फ़ाइल' (File) और 'कारो' पर कवित्तें बनाईं, जिसका कुछ अंश इस प्रकार था–

'फ़ाइल में बैठि रोटी फ़ाइल-भर माँगतु हैं,
फ़ाइल - भर भात लाग करत काज कूरो हैं।
कपड़े को फ़ाइल कुर्त्ते-कम्बल को फ़ाइल होत,
आप फेरि जेलर फ़ाइल देख लेत पूरो है।।
फ़ाइल में पानी अन्हाइबे को आवतु है,
फाटक फटकारि फ़ाइल बोल देत फूरो है।
भनत नरसिंह फक्त फाइलहिं सम्हारि लेहु,
फ़ाइल बिनु फ़ेल सारे फ़ाइल को अधूरो हैं।।

कारो करीन में है कुलतार औ कारोइ कम्बल चारि बिछावें।
कोयला कारो औ कारोहि साग, औ कारी कढ़ाई में दारि सिझावें।
कारोहि खान औ कारोहि पान केवारन में रंग कारो लगावें।
कारो हि कारागार नृसिंह यो कारो को जन्म-स्थान कहावे।।

फ़ाइल जेलखाने का बह्वर्थक शब्द है, जिसके पाँती, निर्दिष्ट परिमाण, कायदा आदि कितने ही अर्थ होते हैं।

एक दिन रात को अपने कमरे में हम लोगों ने पुलिस की धर-पकड़, और असहयोगियों के मुकदमे के फ़ैसले का अभिनय किया। कुछ मनोरंजन होता देख, दो-चार दिन की तैयारी के बाद (8 जून को) भारतेन्दु की 'अन्धेर नगरी' का अभिनय दिन में ही किया गया। मैं उसके प्रबन्धकों ही में न था, बल्कि उसमें मैंने पार्ट भी लिया था। हमारे छपरा के मुन्मुन (देवनाथसहाय), और जगदीशपुर (शाहाबाद) के सोमेश्वरसिंह का पार्ट बहुत अच्छा रहा। सोमेश्वरसिंह में अभिनय की कुछ स्वाभाविक-सी प्रवृत्ति थी, वह कुँअरसिंह के वंशज थे, और रजिस्ट्रार पिता के रोने-कलपने की कोई परवाह न कर कालेज छोड़ जेल में पहुँचे थे।

बाबू ब्रजनन्दनशाही ने एम. ए. से असहयोग किया था। वह वरुराज के पुराने जमींदार घराने से सम्बन्ध रखते थे। लड़कपन में ऐसे घरों में फ़ारसी पढ़ाने का रवाज बादशाही जमाने से चला आता है, उसी के अनुसार उन्होंने भी फ़ारसी पढ़ी थी। मुझे भी फ़ारसी का शौक हुआ, और ब्रजनन्दन बाबू ने शेख सादी के गुलिस्तां के बहुत से भाग को पढ़ाया। बरसात के दिनों में बाहर के पक्के चबूतरों पर काई जम जाती थी। पाखाने के पास के चबूतरे पर वह और भी ज्यादा थी। उस पर फिसलकर रोज ही एक-दो आदमी गिरते थे, और उनका धोती-कुर्त्ता गन्दा होता, तथा लोग हँसकर निहाल होते। एक दिन ब्रजनन्दन बाबू के ऊपर भी बीती। वह अपेक्षाकृत ज्यादा मोटे थे, इसलिए लोगों का मनोरंजन भी ज्यादा हुआ।

फागुन के महीने में फाग गाने का उत्तरी बिहार में बहुत रवाज हुआ। और इसमें शक नहीं, बहुत जगह गाँव के लोग पागल की भांति शिर-हाथ हिलाते गला फाड़ने में होड़ लगाना ही फाग गाना समझते हैं। तो भी यदि उनका उसी से मनोरंजन होता है, तो हमें बुरा मानने का क्या हक है ? हमें नहीं पसन्द है, तो हम शामिल होने के लिए मजबूर नहीं किये जाते। एक दिन मुजफ्फ़रपुर के कुछ स्वयंसेवकों को फागुन का गांव याद आया। उन्होंने 'महरेवा (मैरवा) में हो-ो-हो-ो...' शुरू ही किया था, कि पास के चबूतरे पर लेटे एक सज्जन ने डांट दिया। मुझे यह बात बुरी लगी। उन बेचारों के लिए मनोरंजन की सामग्री हमसे भी कम थी, फिर उनको इस साधारण मनोरंजन के तरीके से भी वंचित रखना क्या कभी उचित कहा जा सकता है ? घोड़ासाहन के निरसूलाल एक साधारण दीहाती कार्यकर्त्ता थे। बाहर से चीजें मँगाने का हमें हक था, किन्तु सब तो मँगाने की सामर्थ्य नहीं रखते थे; इसलिए जेल की चीजों में अधिक से अधिक पाने की लालसा कितनों को होती थी। निरसूलाल ने एक दिन कमी-बेशी की शिकायत की। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब मैंने देखा, एक सम्भ्रान्त बी. ए. पठित व्यक्ति ने गुस्से में निरसू के कन्धे में हाथ डाल ऐसा झटका दिया, कि वह गेंद की तरह लुढ़कता दस-बारह हाथ तक चला गया। सन्तोष यही हुआ, कि शरीर हलका होने से चोट नहीं लगी। मुझे ढकेलनेवाले व्यक्ति की बुद्धि पर तरस आया।

वहाँ पढ़ने के लिए काफ़ी किताबें थीं, क्योंकि पढ़े-लिखे बहुत थे, और सभी अपने साथ कुछ न कुछ किताबें लाये तथा मँगाते रहते थे। साधारण मनोरंजन के अतिरिक्त मैं अपने समय को पढ़ने-लिखने में लगाता था। और जब जमात में पढ़ने-लिखने का समय कम मिलते देखा, तो जेलर से माँगकर (26 फ़रवरी को) सेल में चला गया। उस वक्त गर्मी आ गई थी, और वार्ड के खुले कमरों, तथा जगह-जगह वृक्ष लगे हाते की अपेक्षा वह सेल बहुत गरम था। उस वक्त भी पहिनने के लिए मेरे पास वही काले क़म्बल की अल्फी थी। गर्मी को मैं तितिक्षा की चीज समझता था। काल्पी में रहते (1918 ई. में) मैंने साम्यवादी समाज को चित्रित करते हुए एक पुस्तक लिखनी चाही थी। उसका खाका जिस नोटबुक में था, उसे मैंने यागेश को दे दिया था, उनसे

वह नोटबुक गुम हो गई। अब फिर वैसी पुस्तक लिखने की इच्छा हुई, और संस्कृत में। इस बेवकूफी के लिए आश्चर्य करने की जरूरत नहीं। आदमी में ज्ञान से अज्ञान लाखों-क़रोड़ों गुना ज्यादा है। यद्यपि नई बात सीखने के लिए मेरा दिल हर वक्त तैयार रहता था, किन्तु सीखने के साधन हर वक्त सुलभ तो नहीं रहते। मैं पुस्तक को साम्यवाद के प्रचार के लिए लिखना चाहता था, और यह निश्चय ही था, कि संस्कृत-पद्य में लिखी वैसी पुस्तक का कोई उपयोग न होता। मैंने अब तक साम्यवाद के विषय में 'प्रताप' आदि हिन्दी पत्रों में छपे कुछ लेखों–विशेषकर रूसी क्रान्ति के सम्बन्ध में जब तब निकली कुछ पंक्तियों की खबरों–के सिवाय, एक तरह नहीं-सा पढ़ा था। 'बोल्शेविकी और संसार-शान्ति' से क्या ज्ञान प्राप्त किया था, यह भी नहीं कह सकता। किसी 'उटोपिया' (Utopia) का तो नाम तक न सुना था। किन्तु 1917 ई. के आखीर में रूसी क्रान्ति की खबरें मैंने जो "प्रताप" में पढ़ीं और आगे जो बातें मालूम होती गईं, उनके आधार पर मैंने एक समाज की कल्पना की थी, उसी को मैं इस पुस्तक में चित्रित करने जा रहा था। खयाल आया, आज के समाज से उस समाज तक पहुँचने के रास्ते के साथ उसका चित्रण किया जावे। और इसी के अनुसार एक युवा तपस्वी विश्वबन्धु को हिमालय की ओर भेजा। उसकी आकृति और निःस्पृहता मैंने स्वामी रामतीर्थ से ली थी। 'विश्वबन्धुप्रदीप' को छन्दोबद्ध काव्य के रूप में लिखना शुरू किया, उसके पाँच-छः सर्ग समाप्त भी किये। सन्धि की गड़बड़ियों और दूसरी त्रुटियों को दूसरे वक्त सुधारने के लिए छोड़ मैं आगे बढ़ता गया। दूसरी जेलयात्रा में संस्कृत की अव्यवहार्यता का ज्ञान हुआ, और आज के समाज से साम्यवादी संसार के मिलाने से ग्रंथ-विस्तार का डर हुआ, इसलिए मैंने उसे 'बाईसवीं सदी' के रूप में लिखा। 'विश्वबन्धुप्रदीप' की भाँति एक और ग्रंथ 'कुरान-सार' यहीं संस्कृत में लिखना आरम्भ किया, जो करीब-करीब पूरा हो गया था, उसे भी दूसरी जेल यात्रा में हिन्दी में किया। तीसरा हिन्दी ग्रंथ वेदान्त-सूत्रों की हिन्दी टीका मैंने पढ़ाते वक्त लिखवाई थी। विन्दा बाबू आदि कई साथी वेदान्त प्रेमी थे, वेदान्त ग्रंथ पढ़ना चाहते थे। मैंने कहा, तो उपनिषद् और* वेदान्तसूत्रों ही को क्यों न पढ़ो, पढ़ाते वक्त हिन्दी में टीका लिखवाता गया–यह टीका लिखनेवालों के पास रही। बक्सर जेल में संक्षेप में लिखने-पढ़ने का कार्यक्रम मेरा इतना ही रहा :

हम लोग राजनीतिक कैदी थे, किन्तु जेल में हममें से अधिकांश की जो दिनचर्या थी, उससे मालूम नहीं होता था, कि वे राजनीति में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं। दंड-कसरत, कबड्डी खेलना स्वास्थ्य के लिए अच्छा है, और इनमें बूढ़े भी यदि लड़के बनते थे, तो यह स्वास्थ्य के लिए बड़ी अच्छी चीज थी; किन्तु अधिकांश शिक्षित लोगों का पूजा-पाठ और धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन में लगाना, यह बतलाता था, कि हमारे साथी राजनीति को कितनी हल्की दृष्टि से देख रहे थे। वे शायद समझते थे कि स्वराज तो आ ही जायेगा, फिर इस लोक की चिन्ता समाप्त हो ज़ावेगी, इसलिए हम परलोक के लिए भी कुछ सम्बल क्यों न तैयार कर लें। गोपालगंज के बाबू महेन्द्रसिंह का हाथ सदा (माला रखने की) गोमुखी में रहता था। वह समझते थे कि हम हनुमत् निवास (अयोध्या) के गुरुद्वारे ही में चले आये हैं। बा. जगतनारायणलाल अभी नौजवान थे और अर्थशास्त्र के अध्यापक रह चुके थे, वह रामतीर्थ और रामकृष्ण परमहंस बनना चाहते थे। मौलाना शफ़ी दाऊदी कुरान की तलावत (पाठ) और नमाज के बड़े पाबन्द हो गये थे। कुछ रात रहते ही, जब कि सभी लोग खूब मीठी नींद सोते रहते, मौलाना वहाब अपनी दूरगामिनी आवाज में अजान देते "अस्सलातो खैरून् मिनन्नौम्' (नमाज नींद से अच्छी है); यह बात सोनेवाले ही बतला सकते थे; लेकिन अल्ला के भय और दुनिया के संकोच से कितनों को अनिच्छुक होते भी उस सबेरे की कड़वी नमाज में शामिल होना पड़ता। राजनीतिक साहित्य के अध्ययन की ओर दिलचस्पी रखनेवाला तो वहाँ मुझे कोई नहीं दीख पड़ता था।

जेल-अधिकारियों से एकाध बार खटपट भी हुई। गाँधी-टोपी गैरकानूनी थी, जहाँ तक जेल के भीतर का सम्बन्ध था। 24 मई को बिहार के जेलों के इन्स्पेक्टर जेनरल कर्नल बनातवाला जेल के मुआयने के लिए आये। जेल के अधिकारियों ने हमारे साथियों की गाँधी-टोपी छीन लीं। जिस वक्त बनातवाला आये, लोगों

* उपनिषद् आरम्भ, 20 जून, वेदान्त-सूत्र आरम्भ, 10 जुलाई।

ने अँगोछे फाड़-फाड़कर बिना सिली गाँधी-टोपियाँ बना उन्हें लगा लीं और शायद उनके सामने हम लोग खड़े भी न हुए। बनातवाले ने एक लेक्चर दिया, इन्स्पेक्टर-जेनरल हो जाने से, सरकार के इतने वर्षों के नमकख्वार होने से उन्हें अधिकार हो गया था, कि हमें सच्ची राजनीति का रास्ता बतलावें। मुझे तो वह आदमी बिलकुल ही रद्दी-सा जँचा। भारतीय होते हुए, उसे अपनी बेबसी को देखते जबान को रोककर बोलना चाहिए था, किन्तु वह 'एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्यविजयी भवेत्' का ऩाट्य कर रहा था।

चम्पारन जिला के एक मलंग (कबीरपंथी मुसल्मान साधु कविलास) उसी जुर्म में कैद हुए थे। किन्तु दूसरे स्वयंसेवकों के साथ से उन्हें अलग रखा गया था। वहाँ भी खटपट हुई। मलंग को खड़ी हथकड़ी (छः फ़ीट ऊपर टँगी हथकड़ी में दोनों हाथों को बाँध खड़ा रहना) की सजा हुई। और बढ़ते-बढ़ते मामला यहाँ तक पहुँचा कि उन पर खूब मार पड़ी। हम लोगों को खबर मालूम हो गई। मौलाना मजहरुलूहक ने पटना से अपना दैनिक 'मदरलैंड' निकाला था। हमारे साथियों में से कोई छूटकर गया। उसने हक साहेब से कहा, और सारी खबर 'मदरलैंड' में निकल गई। बड़ा तहलका मचा। 'मदरलैंड' पर मुकदमा चलाया गया, और हक साहेब को सजा हुई। लेकिन साथ ही, अस्थायी जेलर सन्तोष कुमार की भी बदनामी हुई। उसके बाद तो उनका भविष्य ही खतम हो गया। कहाँ वह प्रथम श्रेणी के जेलर हो रहे थे, और कहाँ तीसरी या सबसे निचली श्रेणी में कर दिये गये। सन्तोष बाबू का मिजाज कड़ा था, कैदियों के साथ जैसा बरताव जेलों में बरता जाता है, उससे किसी जेल-अधिकारी की मनोवृत्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। सन्तोष बाबू को पीछे हजारीबाग में भी मुझे देखने का मौका मिला। उनकी अब की अवस्था देखकर मेरी सहानुभूति उनकी ओर थी।

जेल चोरों को भलेमानुष बनाने के लिए बना बतलाया जाता है, यदि वह नहीं तो कम से कम जेल के कर्मचारियों को तो चोरों से बेहतर होना चाहिए; किन्तु यहाँ के छोटे-बड़े कर्मचारी सभी चोर थे। कैदियों के खाने की चीजों के साथ उनका वैसा ही बरताव था, जैसा राजा लोगों के पालतू पशुओं के साथ उनके नौकरों का। तरकारी में से अच्छी-अच्छी चीज सुपरिंटेंडेंट के पास डाली में, जेलर, असिस्टेंट जेलर, डाक्टर-जमादार और मिल सका तो सिंपाही के पास भी पहुँचती थी, फिर कैदियों को क्यों न बालू मिला आटा, कंकड़-छिलका मिली दाल-चावल, साग की जगह लकड़ी-घास मिले। बक्सर में एक बूढ़े डाक्टर थे। अस्पताल की चीजों को वह अपनी समझते थे। मरीजों के लिए आई एक मुर्गी को पाकेट में लिये वह बाहर जा रहे थे। फाटक पर पहुँचे, तो सुपरिंटेंडेंट आ गया। बात करने के लिए ठहरना पड़ा, उसी वक्त मुर्गी ने पाकिट के भीतर से कुड़-कुड़ किया। सुपरिंटेंडेंट ने मजाक करते हुए कहा–'डाक्टर बाबू के पाकिट में मुर्गी बोलती है।'

10 अगस्त को पूरे छः महीने की सजा भुगतकर मैं और नारायण बाबू साथ ही छूटे।

5

जिला-कांग्रेस का मंत्री (1922 ई.)

छपरा में आने पर देखा चारों ओर शिथिलता है। इसका अनुमान हमें जेल के भीतर ही से था, जब सुना, कि चौरीचौरा कांड के बहाने से गाँधीजी ने बारडोली में सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इतने बड़े देश में कहीं भी कोई–पक्षी या विपक्षी भी–यदि हिंसा कर बैठे, तो सत्याग्रह बन्द कर दिया जावेगा, इस शर्त पर क्या कभी सत्याग्रह हो सकता है ? दूसरे जिलों की भाँति सारन (छपरा) जिले पर भी सत्याग्रह स्थगित होने का बुरा प्रभाव पड़ा। अब लोग किसके लिए तैयारी करें। गाँधीजी जेल के भीतर जाते वक्त कह गये–चर्खा-करघा चलाओ, मादक द्रव्य-सेवन बन्द करो, पंचायतों से फ़ैसला करवाओ, सरकारी शिक्षण-संस्थाओं का बायकाट करो। इन सबको सरकार के साथ मोर्चा लेने की तैयारी समझकर लोगों ने बहुत कुछ किया था, किन्तु अब तो उस मोर्चे की आशा भी न थी, गाँधीजी जेल में चले गये थे, फिर लोगों का उस प्रोग्राम पर मन क्यों लगे ? लेकिन

राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारा स्थायी ध्येय था, हम गाँधीजी के चले जाने पर भी उसे छोड़ नहीं सकते थे, इस ध्येय के लिए संघर्ष करना अनिवार्य था। संघर्ष जनजागृति तथा संगठन बिना हो नहीं सकता था, इसलिए हमने उधर ध्यान दिया। जेल से आते ही उसी बरसात में बाबू माधवसिंह और मेरा प्रोग्राम कुआड़ी परगने (मीरगंज, भोरे, कटया, कुचायकोट के थानों) के लिए बना। मीरगंज, भोरे खतम कर हम (7 सितम्बर को) कटया की ओर चले। हम दोनों को दफ़ा 144 के अनुसार भाषण-निषेध की आज्ञा निकली है, यह हमें मालूम हो गया था। हमने तै किया था कि नोटिस मिलने से पहिले लोगों को कुछ कह दें। नोटिस की अवहेलना हम अभी नहीं करना चाहते थे। उपस्थित जनता को लिये-दिये कटया से पूरब एक तालाब के भींटे पर पहुँचे, और जो कहना था उसे संक्षेप में कह चुके, तो थाने के सब-इन्स्पेक्टर नन्दी पहुँचे। उन्होंने नोटिस तामील की। नंदी ने पंचायत, मादकद्रव्य-निषेध, खद्दर के पक्ष में एक छोटी-सी तकरीर की, यह कहते हुए कि सरकार इसका कहां विरोध करती है ? आप इन्हें कीजिए न। दारोगा नन्दी उन पुलिस के नौकरों में थे, जिन पर काजल की कोठरी में भी कालिख नहीं लगता। पुलिस में रहकर रिश्वत से बच जाये, यह नामुमकिन-सी बात है, किन्तु नन्दी ने इस नामुमकिन बात को मुमकिन कर दिया था। भोरे, कटया के थाने गोरखपुर जिले के सरहद पर पड़ते हैं। जिले के पुलिस हेड-क्वार्टर की रिपोर्टों को देखेंगे तो मालूम होगा, कि ये ही इस जिले के सबसे ज्यादा चोर-बदमाश थाने हैं। यहाँ जो कोई नया दारोगा आता, वह इसकी पुष्टि करता, और दस-बीस नये दफ़ा 110 वाले बना जाता। इसका परिणाम और दूसरा तो देखा नहीं गया, सिवाय इसके कि जिला-पुलिस का हर एक सब-इन्स्पेक्टर इन दोनों थानों मे जाने के लिए उत्सुक रहता। जिसे कटया या भोरे की थानेदारी मिल गई, उसके भाग खुले समझिए। दो-तीन साल में दस-बीस हजार जमा करके रख देना उसके लिए बिलकुल आसान काम था। ऐसे थाने में इतने बड़े आकर्षण के बीच रहते रिश्वत न लेने की प्रतिज्ञा कितनी मुश्किल है, इसे आसानी से समझा जा सकता है; और नन्दी ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरी तौर से निबाहा। इसीलिए सब तरह से योग्य होते हुए भी, नन्दी कोर्ट-सब-इन्स्पेक्टर से ऊपर नहीं बढ़ सके। यदि प्रथम श्रेणी की प्रतिभा के साथ वह प्रथम श्रेणी के रिश्वतखोर और बेईमान होते, तो डिप्टी सुपरिंटेंडेंट नहीं सुपरिंटेंडेंट होकर पेंशनर बनते।

नये चुनाव में 29 अक्तूबर को छपरा मे मैं जिला-कांग्रेस का मन्त्री चुना गया, मुझे कुछ कहने का भी अवसर न दिया गया। सवा साल पहिले जब मेरी चिट्ठी दक्षिण से आई, तथा मैं स्वयं कांग्रेस आफ़िस में पहुँचा, तो उस वक्त किसी को गुमान भी नहीं हो सकता था कि यह बुद्धू-सा साधु थाने का भी प्रमुख कार्यकर्त्ता हो सकता है, किन्तु अब लोगों ने मन्त्री बनाया। किन्तु, मैंने मन्त्रित्व इसीलिए स्वीकार किया कि जिलाकांग्रेस कमेटी को मजबूत करने के लिए पूरे परिश्रम की जरूरत थी। जिला कांग्रेस कमेटी के पास आफ़िस के पत्र-व्यवहार के लिए भी पैसे नहीं रह गये थे। भाड़ा न दे सकने के कारण मकान छोड़ दिया गया था, और कांग्रेस आफिस राष्ट्रीय बनाये किन्तु अब बन्द कालेजियट स्कूल के मकान में चला आया था। मैंने खूब घूमना शुरू किया। सिसवन और एकमा का संगठन मजबूत था और कार्यकर्त्ता कार्यपरायण थे। भोरे की हालत अच्छी थी। कुचायकोट के मन्त्री चले गये थे, और वहाँ के लिए मैंने रुद्रनारायण—मेट्रिक छोड़कर चले आये—एक उत्साही तरुण को रेवतिथ से भेजा। महाराजगंज में महेन्द्रनाथ सिंह—कालेज के असहयोगी विद्यार्थी को और मसरख में भी एक तरुण को भेजा। इसी तरह कुछ थानों में नये कार्यकर्त्ताओं के जाने से जनता में स्फूर्त्ति आने लगी। वास्तविक अवस्था यह थी कि कितनी ही जगहों पर लोग तैयार थे, किन्तु वहाँ मार्ग-दर्शक कार्यकर्त्ता मौजूद न थे, और कितने कार्यकर्त्ता काम करने के लिए तैयार थे, किन्तु उनके लिए उपयुक्त कार्यक्षेत्र और परामर्शदाता मौजूद न थे। मैंने इसका ध्यान रखते हुए काम शुरू किया, और उसका फल दिखलाई पड़ने लगा। जिला कांग्रेस के पास पैसे आने लगे। गाँवों में सभाएँ होने लगीं, सब नहीं किन्तु बहुत से थानों में फिर से जागृति हो गई, जिनमें कुआड़ी के चार थाने तथा बरौली, एकमा, सिसवन, महाराजगंज प्रमुख थे।

अब के साल कांग्रेस गया में होनेवाली थी। 16 दिसम्बर को मैंने प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में प्रस्ताव रक्खा—बोधगया का महाबोधि मन्दिर बौद्धों का है, और उन्हें मिलना चाहिए। बहुत बहस के बाद गया की

बैठक में प्रान्तीय कांग्रेस ने प्रस्ताव को स्वीकार करके गया कांग्रेस के पास भेजना मंजूर किया। बौद्धधर्म के साथ मेरी सहानुभूति एक कदम और आगे बढ़ी।

गया कांग्रेस के लिए खूब धूमधाम से तैयारी होने लगी। मथुरा बाबू, गोरखनाथ त्रिवेदी, हरिनन्दन सहाय आदि हमारे जिले के कितने ही प्रमुख कर्मी स्वागतकारिणी के काम में योग देने के लिए गया चले गये। जिले में कांग्रेस के काम को आगे बढ़ाना बाकी लोगों के ऊपर था।

गाँधीजी के सत्याग्रह के स्थगित करके जेल चले जाने पर जो शिथिलता आई, उससे कांग्रेस में दो दल हो गये। अपने को गाँधीजी का पक्का अनुयायी कहनेवाले अपरिवर्त्तनवादी लोग कह रहे थे–"महात्माजी ने जो रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने रखा है, उसी को हमें करते हुए महात्माजी के आने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।" इस दल के नेता श्री राजगोपालाचारी थे, जिन्हें गया कांग्रेस में डिपुटी-महात्मा की पदवी मिली थी। दूसरा दल परिस्थिति के अनुसार प्रोग्राम में परिवर्त्तन चाहता था, और कहता था,–"यदि हम बाहर से संघर्ष नहीं कर सकते, तो नये सुधारों के अनुसार स्थापित एसेंबली और कौंसिलों पर हमें अधिकार करना चाहिए, और गवर्नमेंट के काम में बाधा तथा जनता को अपने पक्ष में जागृत करना चाहिए। हम छः वर्ष तक महात्माजी के बाहर आने की प्रतीक्षा में चुपचाप नहीं बैठे रह सकते।" इस परिवर्तनवादी दल या स्वराज पार्टी के नेता थे, पंडित मोतीलाल नेहरू, बिट्ठलभाई पटेल और देशबन्धु चित्तरंजनदास। देशबन्धुदास ही गया-कांग्रेस के प्रेसिडेंट चुने गये थे। गया कांग्रेस में दोनों दलों के संघर्ष के पूर्वलक्षण दिखलाई दे रहे थे। सारन जिले में मैं और नारायण बाबू परिवर्त्तनवादी पक्ष के समर्थक थे। नारायण बाबू तो तिलकवाद से प्रभावित हो वैसा कर रहे थे, किन्तु मैं तिलकवादी नहीं था। मुझे यदि कोई वाद पसन्द था, तो वह साम्यवाद, किन्तु अभी तक मुझे उसका बिलकुल अस्पष्ट-सा ज्ञान था।

आर्यसमाज के प्रभाव में आते ही छुआछूत और जाति-पाँत का मैं विरोधी हो गया था। यद्यपि मैं अब रामउदार बाबा के तौर पर वैष्णव साधु समझा जाता था, किन्तु परसा से एकमा हेडक्वार्टर बदलते ही मैंने खाने की छुआछूत छोड़ दी थी। परसा मठवाले वैष्णव ब्राह्मण के हाथ की भी कच्ची रसोई नहीं खाते, मुझे इस तरह करते देख महन्तजी को बुरा लगा। और लोगों ने तो 'परमहंस' हैं कहकर व्याख्या कर डाली। आश्रम में, यह देखकर मुझे प्रसन्नता होती थी, सभी जाति के लोग–मुसल्मान तक एक पाँत में खाते, यद्यपि एक दूसरे का छुआ खानेवाले बहुत कम हैं।

सोनपुर मेले में पिछले साल तो वेल्स राजकुमार के स्वागत-विरोध में हम लोगों ने काफ़ी प्रदर्शन किया था। स्वयंसेवकों का भारी जुलूस निकाला था। अब के मेले में एक दूसरी ही चहल-पहल रही। कराँची में महम्मदअली शौकतअली के साथ शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ पर भी मुकदमा चला था, और उस समय राजनीति में भाग लेनेवाले धार्मिक नेताओं में उनका नाम भी प्रसिद्ध हो गया था। अब की बार वह हरिहर क्षेत्र (सोनपुर) के मेले में आये। जरी का छत्र, स्वर्ण-जटित रुद्राक्ष माला, चाँदी का खड़ाऊँ, और चाँदी-सोने की कितनी ही और चीजों के साथ कितने ही शिष्य और सेवक उनके पास थे। सेकंड क्लास से उतरने पर उनका जबर्दस्त स्वागत किया गया। 3 नवम्बर (1922) को खूब अच्छी अंग्रेजी में उनका घंटे भर राजनीतिक व्याख्यान हुआ। लोगों पर भारी असर पड़ा। उनके आने से पहिले ही एक महाराष्ट्र ब्राह्मण बढेजी गोरक्षा का भार लेकर सोनपुर में पहुँचे हुए थे। खिलाफ़त के आन्दोलन में हिन्दुओं के शरीक होने से हिन्दू-मुसलिम सम्बन्ध बहुत अच्छा हो गया था, इसलिए यह गोरक्षा ज्यादातर दानापुर के गोरों के लिए खरीदी जानेवाली गायों के खिलाफ़ थी। महुरापार के बाग में बढेजी ने गोबर्धनाश्रम खोला। कलकत्ता से एक दो अच्छी जाति के साँड़ मँगवाये। शंकराचार्य भी उसमें आनेवाले थे, इसलिए गोबर्धनाश्रम में बड़ी तैयारी हुई। जिला के हम सभी राष्ट्रकर्मियों ने इसमें भाग लिया। मैं और बाबू हरिनन्दनसहाय एक दिन बिहार-सरकार के एक मन्त्री बाबू मधुसूदन दास के पास गोरक्षा का डेपुटेशन लेकर गये। वे बहुत भद्रता से हमें मिले, और गोरक्षा पर बातचीत करते रहे। उनका कहना था, गोरक्षा का असली मतलब अन्धी-लूली गायों को जमा करना नहीं बल्कि बेहतर नसल की वृद्धि करना होना चाहिए। हम लोग इससे सहमत थे, किन्तु सभी गोरक्षावादी उससे सहमत

थोड़े ही होते।

गोबर्धनाश्रम में स्वयंसेवकों और कार्यकर्त्ताओं के लिए जो भोजनालय बना था, उसमें छुआछूत हटाने का हमने प्रयत्न किया। रसोई के प्रबन्धक कई जातियों के लोग थे, जिनमें धर्म परसा के एक ब्राह्मण तरुण भी थे, किन्तु किसी के पूछने पर हम उन्हें श्रीवास्तव ब्राह्मण कहते। लोग अकचका जाते; जब श्रीवास्तव (कायस्थ) ब्राह्मण का नाम सुनते, किन्तु भोजनालय का बायकाट करनेवाले हमें कोई दिखलाई नहीं पड़े। शंकराचार्य का ठाट शाहाना था, पद और प्रतिष्ठा के कम होने के डर से वह और दूसरा कर ही क्या सकते थे ?

सोनपुर के भोजनालय के तजरबे से मैंने सोचा, छुआछूत हटाने के लिए होटल की बड़ी जरूरत है। मांझी के सभापतिसिंह को सलाह दी कि अब की बार गया में तुम्हारा 'सुदामा भोजनालय' चले। सभापतिसिंह एक असाधारण तरुण था। असहयोग से पहिले की बात है। उस वक्त छपरा में एक गोरा पुलिस इन्स्पेक्टर आया था। उसका दिमाग बहुत चढ़ा हुआ था, सामने से आते जिसको नहीं तिसको ठोकर लगा देता। सभापति उस वक्त हाई स्कूल का विद्यार्थी था। वह अपने बड़े भाई की तरह पहलवान तो नहीं था, किन्तु उसका बदन अच्छा मजबूत गठीला था। उससे इन्स्पेक्टर का यह अत्याचार देखा नहीं गया। बरसात के दिन थे। एक दिन इन्स्पेक्टर साइकिल से आ रहा था, सभापति उसके सामने चल रहा था। इन्स्पेक्टर ने गाली निकाली। सभापति ने भी डाँटा, और वहीं साइकिल से गिरा उसे पीटना शुरू किया। उसकी साइकिल तोड़कर पानी भरी खंदक में फेंक दी, और उसे मारते-मारते बेहोश कर छोड़ दिया। उस वक्त गोरे का मारना स्वयं इंग्लैंड के सम्राट् पर हाथ छोड़ना था। सभापति भाग गया, और किसी के परामर्श पर चम्पारन में जाँच करते महात्मा गाँधी के पास पहुँचा। मुकदमा में कुछ हुआ होवाया नहीं। सभापति ने अब दुष्टों के दलन के लिए छपरा में एक 'रपटपार्टी' कायम की। इस पार्टी में सिर्फ़ हट्टे-कट्टे तरुण भर्ती होते थे, जिनमें से कुछ का नाम किसी हाई स्कूल के रजिस्टर में भी होता। पैसे के लिए सन्देश जाने पर छपरा का कोई धनी 'रपटपार्टी को' 'नहीं' नहीं कर सकता था। ऐसे अत्याचारियों और अन्यायियों को दंड देना पार्टी का काम था, जो सरकार के कानून से बचकर निकल जाया करते थे। 'रपटपार्टी' के पास अपना भोजनालय और अपना विश्रामगृह था, जहाँ पार्टी के मेम्बर पड़े रहा करते। उसकी इतनी धाक थी कि पुलिस को 'रपटपार्टी' से छेड़खानी की हिम्मत नहीं होती थी। 'रपटपार्टी' का कृष्णपक्ष नहीं था यह बात नहीं। असहयोग और गांधीयुग के प्रारम्भ के समय पार्टी के संस्थापक और नेता सभापति पर प्रभाव पड़ा, और उन्होंने पार्टी को तोड़ दिया, और वह स्वयं भी राष्ट्रीय कार्य में लग गये, किन्तु उनको वह काम कभी नहीं मिला, जिसके कि वे योग्य थे। वह जो किसी सेना का निडर संचालक बनता, आज एक दीहाती पाठशाले का अध्यापक है। खैर, बाबू सभापतिसिंह का 'सुदामा भोजनालय' गया-कांग्रेस में गया। बाबू माधवसिंह ने अपने रसोइये को वहाँ भोजन बनाने के लिए दिया था, और तजरबे से देखा गया कि समाज-सुधार के साथ भोजनालय घाटे का सौदा नहीं। मैंने सभापति से इस भोजनालय को प्रतिवर्ष सोनपुर मेले में ले जाने के लिए कहा था; और अगले साल—जब कि मैं जेल में था—वह वहाँ गया भी था। छपरा जिले में वह पहिला हिन्दू-भोजनालय था। इसी साल सोनपुर में हमने एक बिहार प्रान्तीय किसान सभा कायम की।

गया-कांग्रेस में दो बातों पर मेरी दिलचस्पी थी, एक स्वराजपार्टी का प्रचार और दूसरी बोधगया मन्दिर को बौद्धों के देने के बारे में कांग्रेस का स्वीकार। पहिले के लिए मैंने भी बिहार प्रान्त के केम्प में काफ़ी काम किया, व्याख्यान दिये, दूसरे बड़े नेताओं के व्याख्यान तो होते ही रहते थे। बोधगया मन्दिर के बारे में तो मेरा ही प्रस्ताव था, इसलिए उसके बारे में खूब प्रचार करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य था। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी से प्रस्ताव की मंजूरी कराते वक्त मैंने कुछ बौद्ध-भिक्षुओं को बुलाया था। उनके पाली के व्याख्यानों का अनुवाद मुझे ही करना पड़ा था। कांग्रेस के समय महाबोधि सभा के संस्थापक अनागरिक धर्मपाल ने भिक्षु श्रीनिवास के अतिरिक्त भिक्षु धर्मपाल को भी भेजा था, बर्मा के भी कई भिक्षु आये थे। आर्यसमाज के पंडाल में इस विषय में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें मेरे और कई अन्य बौद्ध तथा हिन्दू साधुओं के व्याख्यान हुए थे। पाली, अंग्रेजी, संस्कृत के कितने ही व्याख्यानों के अनुवाद करने का भार मुझ पर पड़ा, जिसे देखकर लोगों ने मुझे

'अनन्तभाषाज्ञ' बना डाला।

एक दिन ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबू सभापति देशबन्धुदास के निवास स्थान से लौटकर आये। उन्होंने जोर देकर कहा—हमने दास साहेब से आपके बोधगया के प्रस्ताव के बारे में कहा है, आपके विषय में भी कह आये हैं, इसलिए उनसे जाकर मिलिए। कहीं ऐसा न हो कि परिवर्त्तनवाद-अपरिवर्त्तनवाद के झगड़े में यह प्रस्ताव ऐसे ही खटाई में पड़ा रहे।

22 दिसम्बर को मैं उस बँगले में गया, जहाँ दास साहेब ठहरे हुए थे। सूचना देने पर बैठने का हुक्म हुआ। बाहर बरांडे में बैठ गया। आध घंटे बाद फिर सूचना दी, फिर बैठने का हुक्म। तीस-चालीस मिनट बाद फिर सूचना दी, फिर बैठने का हुक्म। भीतर कितने ही स्त्री-पुरुष बैठे हाहा-हीही कर रहे थे, और 'कार्य में व्यस्त' का बहाना करके मुझे बैठने की आज्ञा होती रही। मैं जल-भुनकर खाक हो गया, और वहां से सीधा चला आया।

22 दिसम्बर 1922 की डायरी में मैंने लिखा—"ब्रजकिशोरप्रेषितोऽगच्छं चित्तरंजनदासमहाशयसमीपे। महता कृच्छ्रेण पद्मय्यामगच्छम्, किन्तु, हन्त ! धनिकसम्प्रदाय एव दोषी न काचिद् व्यक्तिः। चिरमतिष्ठम्। पश्चात् 'न सयम' इत्युक्तम्। ··· धनिकेषु श्रेष्ठानामियं दशा। मनस्यतीवानुतापः। कथं स्वसिद्धान्तमुज्झित्य तत्रागच्छम् !··· आढ्यसम्प्रदाय एवातीव हानिकरः येन चितरंजनसदृशो जना अपि तथा कर्तुं समर्था भवन्ति। कदापि न अनिर्धनः अश्रमजीवी वा श्रमजीविनां पक्षं ग्रहीतुं समर्थः। बहुधा तत्र वञ्चनैव स्यात् !" बड़े आदमियों से अलग रहना, तथा दूसरों के दिल की ओर भी खयाल करने की मुझे इस घटना से बड़ी शिक्षा हुई, और एक तरह बड़े आदमियों से हमेशा के लिए घृणा हो गई।

गया कांग्रेस में परिवर्त्तनवाद और अपरिवर्त्तनवाद का झगड़ा जोरों से रहा, इसलिए बोधगया मन्दिर का प्रस्ताव आने ही नहीं पाया। उस सम्बन्ध में मुझे जो बौद्ध भिक्षुओं के साथ काम करने का मौका मिला, उससे मैंने अपने को बौद्ध धर्म के नजदीक पाया।

20 जनवरी (1923 ई.) में जिला कांग्रेस कमेटी की बैठक जलालपुर (स्टेशन) में होनेवाली थी। गया कांग्रेस के बाद परिवर्त्तनवादी होने से मैं जिला कांग्रेस कमेटी के मंत्रित्व से इस्तीफ़ा देनेवाला था, किन्तु काम तो मुझे वैसे ही करना था। कुआड़ी के चार थानों के संगठन में कुछ प्रगति हुई थी। रुद्रनारायण ने कुचायकोट में खूब काम किया था, और उन्हीं के उत्साह से जिला सभा की बैठक जलालपुर में बुलाई गई थी। 13 जनवरी को अभी कुछ समय था, इसलिए मैं मकर-संक्रान्ति को त्रिवेणी (नेपाल) चला गया। गोरखपुर जिले के सिसवा स्टेशन से उतरकर कुछ दूर बैलगाड़ी पर जा हम—मेरे साथी दर्पनारायण और मैं—पैदल त्रिवेणी पहुँचे। त्रिवेणी गंगाद्वार (हरिद्वार) की भाँति गंडक द्वार है। गंडक यहीं पहाड़ों से नीचे उतरती है। रास्ते में तराई के जंगल बहुत से कटकर आबाद हो गये हैं। त्रिवेणी में चारों ओर जंगल है। इसी जंगल में, तथा गंडक के दोनों तटों पर मेला लगता है, जिसमें गोरखपुर चम्पारन के जिलों तथा नेपाल के पहाड़ों के बहुत से नरनारी आते हैं। मेले का प्रधान भाग गंडक के दाहिने तट पर रहता है। बायें तट पर एक छोटी-सी पहाड़ी नदी आकर मिलती है जिसके कारण इसे त्रिवेणी (त्रिधारा) कहते हैं। छोटी नदी नेपाल और ब्रिटिश सीमा को अलग करती है, और ब्रिटिश सीमा के भीतर की सारी भूमि बेतियाराज की जमींदारी है।

मेले में बेंचने के लिए आई चीजों में नेपाली नारंगी और केले बहुत मीठे और सस्ते थे। नेपाली टांघन, कम्बल, खुकड़ी तथा कुछ और चीजें बिक रही थीं। गंडक का पानी यहाँ बहुत स्वच्छ और नीला था। मैं किनारे-किनारे दो-तीन मील तक ऊपर की ओर गया, किन्तु मुझे तो जलालपुर लौटना था, इसलिए बहुत आगे कैसे बढ़ सकता था। बायें तट पर बेतिया के जंगल में कई मील तक गया। एक-दो साधुओं के स्थान मिले, और घोर जंगल में होने के कारण मुझे बड़े आकर्षक मालूम हुए। एक पुराने मन्दिर में बेतिया के किसी पुराने महाराज का शिलालेख देखा।

लौटते वक्त पैदल चलकर स्टेशन आने की जगह हमने नाव से बगहा तक आना पसन्द किया। नीचे का माल लेकर बहुत-सी नावें त्रिवेणी पहुँची थीं। सस्ते में ही हमें जगह मिल गई। (17 जनवरी को) दोपहर

बाद हमारी नाव रवाना हुई। हम गंडक की तेज धार से नीचे की ओर जा रहे थे, इसलिए मल्लाहों को बहुत मेहनत नहीं करनी थी; हाँ, जहाँ भेड़िया (उठती लहरें) लग रही थीं, वहां उन्हें नाव को सावधानी से बढ़ाना पड़ता था। त्रिवेणी से थोड़े ही नीचे बाईं तरफ़ से बेतिया की नहर निकली थी; इस पानी का सुन्दर उपयोग हो रहा था। उधर मेले की जगह मैंने एक उजड़ा हुआ लकड़ी चीरने का कारखाना और उसकी परित्यक्त मशीनें देखीं जिन्हें काफ़ी रुपया लगाकर किसी समय नेपाल-सरकार ने खड़ा किया होगा। रात को नदी-तट पर बालू की रेती में हम लोग उतरे। वहीं किसी कँवरथू (महादेव के ऊपर चढ़ाने के लिए गंगाजल भरकर कांवर में लानेवाले) ने हमारे लिए भी खाना बना दिया। तराई का जंगल बहुत दूर नहीं था, किन्तु दो-तीन नावों के आदमियों तथा जलती आग के सामने हमला करना होशियार बाघ का काम न था—रेती में ऊपर से बहकर आये सूखे वृक्षों और लकड़ियों की कमी न थी। शायद दूसरे या तीसरे दिन हम बगहा पहुँचे। यात्रा बड़ी मनोरंजक रही। कभी हम आसपास के तटों पर लहराते खेतों को देखते, कभी रेती में धूप लेते नाकों और घड़ियालों को सोया देखते। कँवरथू लोग पुराने-पुराने गीत शंकर और भैरवलाल की प्रशंसा में गा रहे थे। जाड़ों का दिन था, इसलिए धूप असह्य न मालूम होती थी।

बगहा से रेल पकड़कर (19 जनवरी को) हम जलालपुर चले आये। जिला कांग्रेस-कमेटी की बैठक के साथ एक जुलूस और बड़ी सार्वजनिक सभा का प्रबन्ध किया गया था। जुलूस में पच्चीस-तीस हाथी और भारी जनता शामिल थी। सभा भी शानदार हुई। जिले के कोने-कोने से आये सदस्यों का बड़ी अच्छी तरह स्वागत हुआ। कुआड़ी के लिए विशेष अपनपौ रखने के कारण मुझे इस सफलता पर प्रसन्नता होनी ही चाहिए थी। जिला सभा में परिवर्त्तनवादी होने के कारण मैंने इस्तीफ़ा दे दिया, पहिले लोग मंजूर करने को तैयार नहीं थे, मगर जोर देकर मैंने इस्तीफ़ा मंजूर कराया।

26 जनवरी को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में मैं भी पटना गया था। उस वक्त प्रान्तीय कांग्रेस का आफ़िस गुलाबबाग में था। बैठक के बाद एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें राजेन्द्र बाबू और दूसरे नेता बोले, मुझे भी कुछ बोलने के लिए कहा गया। हाल ही में चौरीचौरा के मामले को लेकर कितने ही राष्ट्रीय कर्मियों को फाँसी की सजा सुनाई गई थी। मुझे अपने व्याख्यान की बातें याद नहीं; किन्तु उस वक्त एक बात जरूर कही थी—देश की आजादी के लिए इस तरह के शहीदों का खून देश-माता के लिए चन्दन होगा।

एकमा, सिसवन आदि में साथी अच्छी तरह काम कर रहे थे, मैं मन्त्रिपद के बोझे से मुक्त था, और उधर समय-समय पर 'नवाजिन्दा' के तकाजे को पूरा करना भी मेरा फ़र्ज था, इसलिए सहकारियों से नेपाल जाने के लिए डेढ़ महीने की छुट्टी ली।

6

नेपाल में डेढ़ मास (मार्च-अप्रेल 1923 ई.)

यात्रा में दो साथी हों तो अच्छा है, बशर्ते कि दोनों का मन मिलता हो। नेपाल यात्रा के लिए मैंने महेन्द्रनाथ सिंह को साथी चुना। वह कालेज छोड़कर आये एक उत्साही तरुण थे, मेरे कहने पर महाराजगंज थाने में काम करने गये थे। 7 फ़रवरी को रक्सौल पहुँचकर खाना बनाने के लिए हमने कुछ बरतन खरीदे। उस वक्त रेल यहीं समाप्त होती थी, और आगे पैदल जाना पड़ता था। शिवरात्रि मेले के वक्त राहदारी (पास) मिलना आसान होता है। यही समय है, जब कि नेपाल से बाहर के हिन्दुओं को बेरोकटोक राजधानी में जाने का मौका मिलता है, इसलिए भारी तादाद में लोग भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आते हैं। बीरगंज में एक डाक्टर नब्ज देखता जाता था, फिर नेपाली हाकिम के सामने से यात्री गुजरते और उन्हें कागज की एक छोटी-सी चिट—राहदारी—मिल जाती। लोटा-तसला और एकाध दूसरे बरतनों के अतिरिक्त हमारे पास और ज्यादा सामान

नहीं था, इसलिए चलने में कोई दिक्कत न थी। पहिले ही दिन हम जंगल में पहुँच गये। दूसरे दिन चुरियाघाटी को पार कर बहुत आगे बढ़े। चुरियाघाटी की चढ़ाई कुछ मुश्किल थी। सारा मेला ही साथ चल रहा था, इसलिए उस जंगली पहाड़ी रास्ते में हम अकेले चलनेवाले नहीं थे।

भीमफेरी में खासी भीड़ थी। सारी धर्मशालाएँ और दूकानें भी भरी हुई थीं। सीसागढ़ी (चीसापानी) के लिए उस वक्त आज ऐसी अच्छी सड़क न बनी थी। और जो थी उसे भी न ले हमने पगडंडी का रास्ता पकड़ा था। महेन्द्रनाथ चलने में मुझसे ज्यादा मजबूत निकले। उसी रात को जब हम शिङ्-तिङ् में ठहरे तो महेन्द्रनाथ के गाँव (सिताबदियर) के एक साधु कृष्णदास मिले। रसोई बनाना हमारे लिए बड़ी कवाहट की बात थी, कृष्णदास के साथी बनने से हमारी वह दिक्कत जाती रही। मैं तो वही कालीकमलीवाला था, और कृष्णदास थे भूरी, किन्तु छोटी-छोटी जटा और भभूतवाले तपसी।

चन्दागढ़ी की चढ़ाई उतनी कठिन नहीं मालूम हुई, और सबेरे 9 बजे के करीब हम नीचे उतर गये। हम रास्ते से जा रहे थे, तो एक आदमी ने आकर मालपूए की सदावर्त लेकर जाने के लिए कहा। जलपान करके हम वैरागी साधुओं के स्थान थापाथल्ली में पहुँचे। आसन बगलवाले चौक के बरांडे में लगा। कृष्णदास ने लकड़ी लेकर धुनी लगा दी, और नेपाल के माघ के जाड़े में भी हम आराम से उसके गिर्द जम गये।

मुझे यह विश्वास नहीं था कि यहाँ भी परिचित निकल आवेंगे। गया में कांग्रेस के वक्त आर्यसमाज के पंडाल में मेरे व्याख्यान तथा पाली, संस्कृत, अंग्रेजी के भाषान्तरों को सुननेवाले साधुओं में दो चलते-पुर्जे साधु यहाँ पहुँचे हुए थे, उनमें से एक तो स्थान ही में महन्तजी पर प्रभाव जमाए ठहरे थे, दूसरे तत्कालीन तीन सरकार के साले एक राजकुमार के मेहमान थे। उन्होंने बढ़ा-चढ़ाकर मेरी प्रशंसा करनी शुरू की। थापाथल्ली मठ पहिले सेमरोनगढ़ के महन्त के हाथ में था, महन्त के निकालने पर सेमरोनगढ़ की भाँति यहाँ भी डीठा बैठा दिया गया, और ऐसे ही एक रमता साधु को महन्त बना दिया गया था। किसी वक्त शिकायत हो जाने पर वह भी निकाले जा सकते थे, इसलिए उन्हें बहुत फूँक-फूँककर कदम रखना पड़ता था। उन्होंने मेरे बारे में जो सुना, तो बिना माँगे ही घी, आटा, चीनी तथा दूसरी खाने की चीजें जरूरत से अधिक हमारे ठहरने की जगह पर भिजवाना शुरू किया; और इस प्रकार हमें वैरागियों की पंगत (भोजन-पंक्ति) के इंतजार करने की जरूरत न थी। कृष्णदास भोजन बना दिया करते, और खाना खा घूमकर हम पशुपतिनाथ, गुह्येश्वरी, महाबोधा ही नहीं काठमांडो और पाटन के अनेक दर्शनीय स्थानों को देखने जाते। एक दिन (16 फ़रवरी) हम उपत्यका के पश्चिम बूढ़ा नीलकंठ देखने जा रहे थे, जहाँ कुंड में विष्णु की बड़ी-सी शिलामूर्त्ति पड़ी हुई थी, और जहां से पानी का नल काठमांडो-शहर में आया था। रास्ते में नदी के किनारे एक जगह से लोग काली-सी कोई चीज उठा-उठाकर खेतों में डालने के लिए ले जा रहे थे। उसे देखकर मुझे नर्म पत्थर के कोयले का शक हुआ, दो-चार टुकड़े पास में रख लिये। लौटकर धुनी में रखने पर मेरा शक दुरुस्त निकला—वह वस्तुतः नरम कोयला (Peat) था। उसी शाम को राजपुत्र एक और राजवंशिक के साथ मिलने आये—दूसरे संन्यासी ने अनन्त भाषाविद् कहकर मेरी प्रसिद्धि वहाँ कर दी थी। मैंने वार्त्तालाप में जब नेपाल-उपत्यका में कोयले की बात कही, तो उन्होंने कहा—हमें तो इसका पता नहीं। मैंने एक टुकड़ा धुनी में जलाकर दिखलाया, और वह बहुत विस्मित हुए। उस वक्त तक लोग इसे खेतों की प्राकृतिक खाद मात्र समझते थे।

शिवरात्रि-मेले में भारत से आये विद्वान् तपस्वी योगी साधु-महात्माओं के दर्शन के लिए नगर के सभी श्रेणी के व्यक्ति मठों में आया-जाया करते हैं। सरकारी अधिकारी, विशेष व्यक्तियों के लिए खास प्रबन्ध करते हैं। उस वक्त स्वामी सच्चिदानन्द एक विद्वान् संन्यासी आये थे, जिन्हें राज के अतिथिभवन में ठहराया गया था। मेरे बारे में तो एक जगह ठहर जाने पर मालूम हुआ था, तो भी अन्यत्र रहने के लिए जोर दिया गया, किन्तु मैंने वहीं रहना पसन्द किया। मिलनेवाले व्यक्तियों में राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा भी थे। वह (15 फ़रवरी को) शाम को आये थे, और हमारा वार्त्तालाप शास्त्रीय विषय था। सन्ध्योपासन का समय होने पर जब राजगुरु ने उसका संकेत किया, तो मैंने उदयनाचार्य का यह श्लोक (कुसुमांजलि में) 'उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता' कहा। उस वक्त मैंने राजगुरु को एक अच्छे पंडित के रूप में देखा, किन्तु नेपाल की राजनीति में उनके स्थान,

तथा धन-वैभव के बारे में नहीं जान पाया था।

शिवरात्रि में पशुपति दर्शन की भीड़, सेना-प्रदर्शन आदि के बारे में मैंने अपनी दूसरी नेपाल यात्रा* (1929 ई.) में लिखा है, इसलिए मैं कुछ खास बातों को ही यहाँ लिखना चाहता हूँ। शिवरात्रि के दिन (13 फ़रवरी को) प्रधान-मन्त्री महाराजा चन्द्रशम्सेर की घोड़ागाड़ी घूमते-घामते थापाथल्ली भी पहुँची। उन्हें अपने सम्बन्धी से मेरे बारे में मालूम हुआ था। गाड़ी दरवाजे पर खड़ी हुई, और मुझे बुलाने के लिए आदमी गया। एक बूढ़ा किन्तु स्वस्थ आदमी सफ़ेद दाढ़ी और साफ़ा बाँधे गाड़ी में बैठा हुआ था। गाड़ी के आगे-पीछे कितने ही सशस्त्र पुलिस और सैनिक अफ़सर थे। उन्होंने प्रणाम करते हुए रहने-वहने के बारे में पूछा। फिर उस समय के जबर्दस्त भारतीय उथल-पुथल असहयोग के बारे में पूछा, और अन्त में हमें क्या करना चाहिए इसके बारे में भी कहा। वहाँ खड़े-खड़े इन बातों पर अपने विचार प्रकट करना मुझे उचित मालूम नहीं हुआ, और न उसकी मेरे मन में चाह ही थी—इसीलिए कई बार कहने पर भी मैं महाराजा के यहाँ जाने को तैयार नहीं हुआ था। मैंने दो-चार शब्दों में जवाब देकर छुट्टी ले ली। मैं अपने आसन पर चला आया, और सवारी आगे बढ़ गई।

मुझे मालूम था कि शिवरात्रि के बाद आगन्तुकों को लौट जाने के लिए पुलिस पीछे पड़ जाती है, और मुझे एक डेढ़ महीना रहना था, इसलिए मैंने पहिले ही से दस-पांच मील दूर के कई स्थानों के बारे में पूछ ताछ कर ली थी, और देवकाली स्थान को रहने के लिए उपयुक्त समझा था। शिवरात्रि के सप्ताह भर बाद 20 फ़रवरी को मैं और महेन्द्र दक्षिण-काली की ओर चले—कृष्णदास मेले के साथ भारत की ओर लौट गये थे। दक्षिण-काली के आसपास की पार्वत्य भूमि तो अच्छी थी—चारों ओर हरा-भरा जंगल, कलकल करके बहती नदी, पक्षियों का कर्ण-मधुर कलरव। किन्तु, जब हमने पाँच मिनट में पाँच भेड़ों के शिर को धड़ से अलग हो काली देवी पर चढ़ते देखा, और भेड़ों, बकरों, मुर्गों के रक्त से रंजित सारा आँगन हमारी नजरों के सामने पड़ा, तो हमारा विचार बदल गया। पूछने पर फर्पिङ् के पास शिखरनारायण का पता लगा। हम वहाँ पहुँचे।

यह स्थान हमें रमणीय जँचा। नीचे से ऊपर तक जंगल से लदा था एक बड़ा पहाड़। इसकी लकड़ी काटनी मना थी, इसलिए आसपास के कितने ही और पहाड़ों की भाँति यह चटियल नहीं पड़ गया था। पर्वतपाद से स्वच्छ शीतल जल का एक मोटा झरना निकला था। यह पानी नल के जरिये फर्पिङ, पावर-स्टेशन के लिए ले जाया जा रहा था, जंगल काटने से झरने के सूखने का डर रहता है, शायद इसीलिए इस पर्वत के वृक्षों को काटने की सख्त मनाही थी। महन्तजी को आगन्तुक साधुओं की सेवा के लिए जहाँ पाँच-सात हँडिया (एक व्यक्ति की खाद्यसामग्री) का राज की ओर से बंधान था, वहाँ उपयुक्त लकड़ी काटने का भी अधिकार था। पर्वत-वृक्ष में आगे की ओर झुकी एक चट्टान थी, जिसकी आकृति सर्पाकार है, इसीलिए यहाँ की विष्णु-मूर्त्ति को शिखरनारायण कहा जाता है। उक्त चट्टान की एक ओर एक छोटी-सी गुफा थी, सामने पत्थर का फ़र्श। चन्द सीढ़ियाँ नीचे उतरकर पुल से झरने के जल को पार कर धर्मशाला—एक दोतल्ला नेपाली ढंग की इमारत—थी। मैंने गुफा में रहना पसन्द किया, और महेन्द्र को धर्मशाला के कोठे में रहने को कहा। भोजन की समस्या पास के गाँव के एक ब्राह्मण गृहस्थ ने हल कर दी। वह बना बनाया भोजन रोज हमारे पास पहुँचाने लगा। मैंने कुछ दिनों तक एक दिन छोड़कर अन्न खाने का नियम किया था, किन्तु जब उसे प्रसिद्ध होते देखा, तो रोज खाने लगा।

हम लोग इस स्थान पर दो सप्ताह ठहरे। छपरा से संस्कृत और अंग्रेजी की पाँच-सात पुस्तकें ले गये थे, उन्हें पढ़ना, आपस में बातचीत करना और इससे जो बचता था उस समय को मैं चिन्तन और मनन में लगाता था। लोग बतला रहे थे कि आँगन में कभी-कभी भालू आता है, किन्तु मैंने उसे किसी दिन नहीं देखा, हाँ, रात को जानवरों की कुछ अपरिचित आवाजें जरूर सुनने में आती थीं। यदि कोई जानवर मेरी गुफा की ओर आता तो वहाँ मेरे पास रक्षा का कोई साधन नहीं था, धुआँ के डर से उस छोटी-सी गुफा में मैं आग भी बहुत कम जलाता था। महेन्द्र के पास एक कम्बल था, सर्दी ज्यादा लग रही थी, ब्राह्मण ने रजाई-बिछौना

---

* 'तिब्बत में सवा वर्ष'।

भेज दिया। एक दिन लकड़ी जलाकर सो गये, कहीं से कपड़े पर आग पड़ गई, सब जल गया, समय पर नींद खुल गई इसलिए खुद तथा वह लकड़ी का घर भी बच गया।

शिखरनारायण हिन्दुओं और बौद्धों का सम्मिलित तीर्थ है, इसलिए कभी-कभी वहाँ तिब्बती लामा भी आते थे। एक दो नेवार बौद्ध तो रोज ही पूजा के लिए आते। उनसे मैंने किसी बौद्ध पंडित का नाम पूछा, तो उन्होंने पाटन के वज्रदत्त वैद्य का नाम बतलाया। शिखरनारायण में काफ़ी देवोत्तर सम्पत्ति लगी मालूम होती है। सबेरे ही बाजा लेकर कुछ गानेवाले चले आया करते, और अधिकतर विनय-पत्रिका से, पराती (प्रातः गान) गाया करते।

शिखरनारायण का पानी पावर-स्टेशन पर जाता है, एक बार वहाँ काम करनेवाले दो पंजाबी सज्जन (पं. प्यारेलाल और ठाकुर लालसिंह) हमारे यहाँ तक पहुँचे, और अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दे गये। 6 मार्च को स्थान छोड़ने पर हम पावर-स्टेशन गये। इसके ऊपरवाले गांवों की हालत बहुत बुरी थी। खेत बनाने के लिए लोगों ने चोटी तक पर वृक्ष नहीं रहने दिये। झरनों का वृक्षों और उनकी जड़ों से खास सम्बन्ध होता है, इसलिए वृक्षों के अभाव में वैसे ही झरने बहुत से सूख गये थे। अब रहा-सहा पानी पावर-स्टेशन में बिजली तैयार करने के लिए जा रहा था, जिससे खेती सिर्फ़ वर्षा के भरोसे ही हो सकती थी, और इन गाँवों की अवस्था बदतर हो गई थी। पावर-स्टेशन में हम लोग दोपहर तक रहे। दोनों परिचित सज्जन ओवरसियर थे, बड़ा इंजीनियर एक अंग्रेज था, जिसे मुफ्त में एक हजार रुपया दिया जाता था, यद्यपि उससे कम पर भारतीय इंजीनियर मिल सकता था। वहां एक कप्तान साहेब भी रहते थे, जो शायद पुलिस का काम करने के लिए।

वहाँ से हम पाटन पहुँचे। वज्रदत्त वैद्य का पता आसानी से लग गया। वह एक 'विहार' (गृहसमूह में) में कई और गुभाजू-परिवारों के साथ रहते थे, उम्र साठ से ऊपर होगी। नेपाली बौद्धों की परम्परा तथा पूजापाठ के बारे में उनको कुछ ज्ञान था, किन्तु संस्कृत सिर्फ़ पढ़ लेना-भर जानते थे, और बौद्ध-धर्म के परिचय में वे सहायक न हो सके। उन्होंने नेवार और रंजन-अंक्षर में लिखी कुछ पुस्तकें दिखलाईं। खैर, मेरे ज्ञान में तो वह वृद्धि नहीं करा सके, किन्तु उनका बर्ताव बहुत अच्छा रहा। रात को अपने यहाँ ही रखा। शाम को जब पुलिस का आदमी हम लोगों का नाम-धाम लिखने आया, तब हमें नेपाली पुलिस की तत्परता का पता लगा। वज्रदत्तजी पाटन के एक अच्छे वैद्य थे, वैद्यक उनका खान्दानी पेशा था। उनका लड़का भी वैद्य था। पहिली स्त्री के मरने पर पिता ने नई शादी की थी, इसलिए पिता-पुत्र में बनती न थी। नेपाल के बौद्धों में आम तौर से विधवा विवाह हो जाता है, और प्रौढ़ या वुद्ध विधुर को शादी करने में कोई दिक्कत नहीं होती। यहीं मुझे एक दूसरे बौद्ध पंडित रत्नबहादुर से भेंट हुई। वह सिद्धान्तकौमुदी कुछ पढ़े हुए थे, किन्तु साहित्य में प्रगति न होने से संस्कृत भाषा समझने-बोलने में दिक्कत अनुभव करते थे। बौद्ध-साहित्य के कुछ ग्रंथों को उन्होंने दिखलाया, और कुछ बातें भी बतलाईं। तिब्बत में वह रह चुके थे, और तिब्बती कन्जुर के कुछ ग्रंथों की सूची भी उन्होंने बनाई थी। मैं ज्यादा रह नहीं सकता था, इसलिए भी रत्नबहादुर पंडित के ज्ञान से ज्यादा फ़ायदा नहीं उठा सका। दोपहर का भोजन उनके मित्र एक बड़े सौदागर ने कराया, इनकी कई कोठियां तिब्बत में हैं, और कह रहे थे—यदि आप चलना चाहें तो हम आपको तिब्बत भेज सकते हैं। महेन्द्र की तबियत तो हो गई थी, किन्तु मैं डेढ़ मास बाद छपरा लौटने की बात कहकर आया था।

हम थापाथल्ली में फिर तीन-चार दिन ठहरे। एक दिन (10 मार्च) राजगुरु हेमराज शर्मा के यहाँ गये—पुस्तकागार के वही प्रधानाधिकारी थे। बड़ा महल, ड्योढ़ी-पहरेदार सभी, बाकायदा राजसी इन्तजाम था। उस दिन शाम को ऊनी चद्दर, नेपाली पायजामा और सादी टोपी पहिने हुए व्यक्ति को देखकर उसके इस वैभव का अनुमान नहीं हो सकता था। सूचना देने पर उन्होंने भीतर बुलाया, और दरवाजे तक स्वागतार्थ आये। देखा एक बड़े सजे हुए हाल में फ़र्श के कालीन पर बहुत-सी संस्कृत पुस्तकें पड़ी हुई हैं, कितने ही और पंडित बैठे हुए हैं। वज्रदत्त वैद्य से मुझे मालूम हो गया था कि मध्यदेश से आये स्वामी सच्चिदानन्द पशुबलि का बड़े जोर-शोर से खंडन कर रहे हैं, और कह रहे हैं कि यह वेद-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध है; जिसके मारे ब्राह्मण पंडित परेशान हैं, महाराज भी पशुबलि के विरुद्ध होते जा रहे हैं। यहाँ इन किताबों को देखने से वैद्य की

बात स्मरण हो आई, और गुरुजी से बात करने पर तो वह और स्पष्ट हो गई। पशुबलि के लिए यहाँ शास्त्रीय प्रमाण ढूँढ़े जा रहे थे। स्वामी सच्चिदानन्द अपने पक्ष की पुष्टि में बुद्ध-वाक्य भी उद्धृत किया करते थे। मुझे उस वक्त कुमारिल (श्लोकवार्तिक) का एक श्लोक याद आया जिसमें कहा गया है कि बुद्ध आदि वेदवाह्यों का वाक्य उचित होने पर भी 'कुत्ते के चमड़े में रखे गाय के दूध' ('गौक्षीरं श्वदृतौ धृतं) की तरह त्याज्य है। गुरुजी ने श्लोक का पता पूछा। मैंने निकालकर दिखला दिया। उन्होंने आग्रह किया कि मैं भी इस विवाद में स्वामी सच्चिदानन्द के विरुद्ध भाग लूँ, किन्तु भीतर से तो मैं अभी आर्यसमाजी विचारों को मानता था, जिसमें स्वामी सच्चिदानन्द के पक्ष ही की पुष्टि की गई है।

एक बार फिर हम महाबोधा गये। वहाँ चीनिया लामा से मिले। चीनिया लामा उस वक्त हवन में लगे हुए थे, तो भी उन्होंने बैठाकर थोड़ी देर तक बातचीत की। उस वक्त उनके लड़कों को मैंने नहीं देखा था, हाँ उनकी एक लड़की वहाँ जरूर थी, जिसके कानों के बीच में सोने का बड़ा-सा कर्णफूल था। चीनिया लामा बूढ़े थे, उनके गले में घेघ था।

नेपाल से लौटने के लिए राहदारी की जरूरत होती है, और हमें उसे मिलने में दिक्कत नहीं हुई। पावर-स्टेशन के पंजाबी भाइयों ने उधर ही से जाने के लिए आग्रह किया था। इस प्रकार हम चन्द्रागिरि की चढ़ाई से भी बच सकते थे, इसलिए हम उसी रास्ते लौटे। तीन दिन वहाँ रहे। वहीं से भीमफेरी तक के लिए एक भरिया (भारवाहक) और पाथेय मिल गया, और 18 मार्च को हम भारत के लिए रवाना हुए। हमारे रास्ते के पास से बिजली के खम्भे गये हुए थे, किन्तु अभी उन पर तार नहीं लगे थे। भीमफेरी से काठमांडो तक रोप-लाइन तैयार की जा रही थी, उसी के लिए यहाँ से बिजली जानेवाली थी।

भीमफेरी से आगे के पड़ाव तक हम दोनों साथ थे। अब मुझे कुछ बुखार-सा हो आया, और चलना मुश्किल मालूम होने लगा, उधर इस बात से अपरिचित महेन्द्र आगे निकल गये। मेरे पास एक पैसा भी नहीं था, (सिर्फ एक-दो बरतन रह गये थे)। एक खाली गाड़ी आ रही थी, कहने पर गाड़ीवान ने बैठा लिया। रात को हम चुरियाघाटी से और नीचे जंगल में ठहरे। इधर बाघ, हाथी रहते हैं। खतरे से बचने के लिए पचीस-तीस गाड़ीवानों ने अपनी गाड़ियों की चारों ओर से किलाबन्दी कर ली, बीच में ही बैल रखे गये, और वहीं बड़े-बड़े कुन्दों की आग जला दी गई। आग के पास बाघ नहीं फटकता, इसका उन्हें पूरा विश्वास था।

बैलगाड़ी सीमान्त के पासवाली नदी के तट पर उस कुटिया के सामने से गुजरी, जिसमें मैंने बड़ी ज्वालामाई से आये साधु को देखा था, किन्तु मैं वहाँ ठहरा नहीं। मुझे क्या मालूम महेन्द्रनाथ वहाँ बैठे मेरा इन्तिजार कर रहे हैं। रक्सौल में उसी दूकानदार को बरतन लौटा मैंने दो रुपये तेरह आने पाये, और (22 मार्च को) सीधा छपरा के लिए रवाना हो गया।

7

हजारीबाग जेल में (1923 अप्रेल से 1925 ई.)

बाबू माधवसिंह के घर पर पहुँचते ही मालूम हुआ कि घटना के भाषण के सम्बन्ध में मेरे ऊपर वारंट निकला है। साथियों ने परामर्श दिया—बैठे-बिठलाये दो-तीन वर्ष के लिए जेल में चले जाने की जगह अच्छा है कि मैं इस वक्त हट जाऊँ। किसी ने वारंट के बारे में मेरे पास नेपाल में चिट्ठी भी भेजी थी, किन्तु वह मुझे मिल न सकी। यदि मिल गई होती तो तिब्बत की ओर जाने का मुझे इतना आकर्षण था, और महेन्द्र भी इतना जोर दे रहे थे कि हम उधर को ही चल दिये होते; किन्तु अब छपरा आकर इस तरह छिपकर चला जाना मैंने पसन्द नहीं किया। मैंने गिरफ्तार होने का निश्चय किया, और अगले दिन पुलिस को सूचना दे दी—श्री राजगोपालाचारी के व्याख्यान के समय उसी सभा में मैं मौजूद रहूँगा, आप वहाँ मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं।

कालेजियट स्कूल (वर्तमान विश्वेश्वर-सेमिनरी) के हाते में बड़ी सभा थी, हजारों लोग जमा थे; इसलिए पुलिस ने उतने बड़े मजमे में मुझे गिरफ्तार करना पसन्द नहीं किया। पहिली जेलयात्रा से आने के बाद छपरा में बाबू माधवसिंह का घर ही मेरा निवासस्थान बना था। शाम को पुलिस-आफ़िसर ने आकर कहा—पटना जाना होगा, और जिस वक्त आपको सुभीता हो, हम उसी वक्त गिरफ्तार करेंगे। मैंने अपने को तैयार बतलाया, और उसी रात को दो सिपाही मुझे ले पटना पहुँचे। रात को बाँकीपुर कोतवाली की हवालात में बन्द रहा। दूसरे दिन रविवार था, इसलिए वे घूमते-घामते एस. डी. ओ. के बँगले पर ले गये। धूप तेज मालूम होती थी, ऊपर से ज्वर की कमजोरी भी थी, इसलिए एक्के पर भी इतनी दौड़-धूप मुझे पसन्द न लग रही थी। दोपहर को बाँकीपुर (पटना) जेल के तनहाई-सेल में पहुँचा दिया गया।

जाड़े ही जाड़े में मैं नेपाल चला गया, और अभी तुरन्त ठंडी जगह से गर्म जगह में आने के कारण मुझे गर्मी और भी असह्य हो रही थी। उसके ऊपर सेल में बन्द किया गया, जहां हवा का रास्ता ही न था, और पटना के मच्छरों के आक्रमण की तो बात ही न पूछिए। पंडित वासुदेव पांडे उस वक्त जेलर थे। उनका बरताव अच्छा था। उन्होंने स्कूलों के लिए एक वर्णमाला की पुस्तक लिखी थी। मेरे बारे में विशेष जानने पर उनका आग्रह हुआ कि मैं उनके लिए भारत का एक इतिहास लिख दूँ। मैंने शुरू भी किया, किन्तु आधी दूर तक पहुँचने से पहिले ही सजा हो गई। हफ्ते या अधिक की सासत के बाद मुझे एक वार्ड में तबदील किया गया। यहाँ रात को कुछ हवा आती थी, किन्तु जमीन पर कम्बल बिछाकर लेटे-लेटे मच्छरों के मारे सोना हराम था।

मुझ पर भारतीय दंडविधान की धारा 124 (ए) के अनुसार राजद्रोह का मुकदमा चला था। पुलिस को दो या तीन रिपोर्टें—जो शार्टहैंड में नहीं थीं—तथा कुछ गवाह सरकार की ओर से मेरे विरुद्ध पेश किये गये थे। सरकार मुकदमा चलावे और सरकार के ही प्रबन्ध-विभाग का एक नौकर—सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट—न्यायाधीश बने, फिर वहाँ दंड छोड़ दूसरे फ़ैसले की उम्मीद ही क्या हो सकती है ? सफ़ाई मैंने नहीं दी, सिर्फ़ एक लिखित वक्तव्य दिया, जिसमें भाषण को रिपोर्ट से भी ज्यादा कड़ा कह, इलजाम को स्वीकार किया, शायद भाषण 'देश' (पटना) में छपा था। मजिस्ट्रेट ने दो साल की सादी कैद दी। धन्यवाद दे मैं जेल चला आया, और दो साल जेल में बन्द होने के लिए मुझे जरा भी अफ़सोस नहीं हुआ। उसका कारण था। राजनीति में भाग लेने पर बाहर काम में फँसे रहने के कारण कोई गम्भीर अध्ययन हो नहीं सकता था, इधर देश में भी राजनीतिक शिथिलता आ गई थी, जिससे बाहर रहकर ज्यादा काम करने की आशा तो थी नहीं, जेल में पढ़ना-लिखना तो अच्छी तरह होगा, यही खयाल मेरे दिमाग में उस वक्त काम कर रहा था।

सजा के एक या दो ही दिन बाद मुझे बक्सर जेल भेज दिया गया। स्टेशन पर मैंने कई पोस्टकार्ड लिखे, जिनमें एक नेपाल के अल्प परिचित उस राजकुमार को भी लिखा था। जेल में पुस्तकों की आवश्यकता होगी, और उसके लिए कुछ रुपये भी चाहिए—यह सोचना ठीक था, किन्तु उसके लिए एक साधारण से परिचय के बल पर किसी से रुपये माँग बैठना बुद्धिमानी नहीं समझी जा सकती। किन्तु, यह खयाल चिट्ठी डाल देने पर आया। पछताने से क्या फ़ायदा ? आदमी में, आखिर बुद्धिमानी से बेवकूफ़ी का माद्दा ज्यादा होता है।

जेल में हम पिछली बार जिस वार्ड में थे, उसी की एक कोठरी में—कमरे में नहीं—रखा गया। मालूम हुआ, शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ भी यहीं अपने मुंगेर के भाषण के लिए साल-भर की सजा भुगत रहे हैं, किन्तु वह अलग रखे गये थे। सुपरिंटेंडेंट कप्तान बर्क जब मेरी कोठरी के सामने आया, तो मैं खड़ा तो हो गया, किन्तु 'सरकार सलाम' की आवाज पर मैंने सलाम नहीं किया। बर्क आग-बगूला हो गया, और सजा देने की धमकी देकर चला गया। मुझे उसकी परवाह नहीं थी। पीछे जेलर ने आकर समझाना शुरू किया। मैंने सलाम करने से जब बिलकुल इनकार किया, तो उन्होंने कहा—किन्तु शंकराचार्यजी भी तो सलाम करते हैं, यदि वह कह दें तब तो एतराज नहीं होगा ? और उन्होंने शंकराचार्यजी की राय मँगवा दी। मुझे अब झगड़ा मोल लेना पसन्द नहीं आया।

पिछली जेलयात्रा में मैंने 'कुरानसार' को संस्कृत में लिखा था। अब के, पटना ही में उसका हिन्दी-अनुवाद

शुरू किया, और यहाँ आने पर पहिले उसी काम को खतम किया। मुश्किल से हफ्ते-भर बीते थे कि सरकारी हुकुम आया कि सभी सादी कैदवाले राजनीतिक कैदियों को हजारीबाग भेज दिया जावे, और इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य, मेरा—और शायद मदनलाल जोशी तथा रासबिहारीलाल भी तब तक बक्सर पहुँचे हुए थे—हजारीबाग के लिए तबादला हो गया।

पटना जंकशन पर आने पर मालूम हुआ कि गया की ट्रेन में बहुत देर है। शंकराचार्यजी ने गंगास्नान का प्रस्ताव रखा। सिपाही भी राजी हो गये, सामान स्टेशन पर छोड़ा, सिपाहियों ने वर्दी-पेटी उतार धोती-अँगोछा हाथ में लिया; हम बाँकीपुर मैदान होते गंगा की तरफ़ जा रहे थे; इसी समय किसी परिचित आदमी ने उस तरह मुक्त हो साथियों के साथ जाते देख, इतनी जल्दी छूट जाने के लिए मुझे बधाई दी। उन्हें आश्चर्य हुआ, जब मैंने असली बात बतलाई।

गया में भी हजारीबाग-रोड की गाड़ी के लिए हमें काफ़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। स्वामी शंकराचार्य का कोई आदमी बाहर से उनके फलाहार आदि का इंतिजाम करने के लिए बक्सर में रहता था, वह यहां भी साथ था, इसलिए हमें सरकार की दी हुई ढाई आने रोज की भारी रकम पर गुज़ारे करने की नौबत न आई।

हमारी मोटरबस सबेरे हजारीबाग-जेल के फाटक पर पहुँची। फाटक पर हमारी सब चीजों की जाँच हुई। मेरी पुस्तकों में सिंहाली अक्षर में पाली मज्झिमनिकाय था, जिसे मैं उस वक्त रोज नियम से एक घंटा पढ़ता था। जेलर ने लिपि, भाषा और विषय का पता न पाने से उसे नहीं दिया। मैंने इस पर अनशन कर दिया। बक्सर जेल में पहिली यात्रा के वक्त भी एक या दो दिन अनशन करना पड़ा था, किन्तु उस वक्त जेलवालों के दुर्व्यवहार के विरुद्ध सारी जमाअत ने अनशन शुरू किया था। अबके मैं अकेले था। जेल के गोरे जेलर मिस्टर मीक की सख्तियों के बारे में मैं काफ़ी सुन चुका था। उसने आकर धमकी दी, और अनशन छोड़ने के लिए कहा, किन्तु मैंने उसे नहीं माना। स्वामी शंकराचार्य से कहने पर उन्होंने कह दिया—उनकी बौद्धधर्म पर श्रद्धा है, यह उनकी धार्मिक पुस्तक है, इसलिए हम मजबूर नहीं कर सकते। थोड़ी देर में मज्झिम निकाय मेरे पास चला आया। कुछ दूसरी पाली पुस्तकों को सेंसर के पास भेजने का मैंने विरोध नहीं किया।

जेल-लाइब्रेरी में पुस्तकें नहीं के बराबर थीं। हमारे पास भी गिनी-चुनी पुस्तकें थीं। कागज, कलम, पेंसिल रखने का हमें अधिकार न था। तो भी दिन काटना मुश्किल नहीं था। रोज डेढ़-दो घंटे स्वामीजी का अंग्रेजी में भिन्न-भिन्न राजनैतिक विषयों पर व्याख्यान होता। उनके फलाहार की ठीक व्यवस्था तथा पूजापाठ का सरंजाम करने की जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर ली थी, इसलिए मुझे उनसे बातचीत करने का और भी ज्यादा मौका था। पहिले हमें दो नम्बर में रखा गया। उस वक्त हमारी कोठरियों से सटी पिछली पंक्ति—वार्ड नम्बर एक—में उड़ीसा के पंडित गोपबन्धुदास, भगीरथ महापात्र आदि रहते थे। हमें एक दूसरे से मिलने की इजाजत नहीं थी, और दीवार के ठोस रहने से आवाज का पहुँचना मुश्किल था, तो भी हमने बातचीत का रास्ता निकाल लिया था। स्वामीजी रोज कुछ संस्कृत पद्यों की रचना करते और इसके लिए उन्हें भी रद्दी कागज के टुकड़ों तथा पेंसिल का 'जोगाड़' करना पड़ता था। शायद एक और दो वार्डों के बीच सम्बन्ध स्थापित होने की बात मालूम हो गई या क्या, थोड़े ही समय बाद, हमें 'पंजाबी' सेल में भेज दिया गया। इस वक्त तक भागलपुरवाले साथी छूट चुके थे। युद्ध के समय लाहौर षड्यन्त्र में सजा पाये कैदियों को, सबसे सुरक्षित समझ, हजारीबाग जेल में भेजा गया था—स्टेशन से चालीस मील दूर, शहर से बिलकुल अलग-थलग, राजनीतिक जागृति से वंचित यह स्थान उस वक्त इसके लिए उपयुक्त भी था। उन्हीं पंजाबी कैदियों को दंड देने के लिए ये सेल बनाये गये थे, इसीलिए इन्हें पंजाबी-सेल कहा जाता था। चार सेल थे, सामने हर सेल का 4, 5 हाथ लम्बा-चौड़ा आँगन, फिर 4 हाथ चौड़ा एक लम्बा-सा सम्मिलित आँगन था। शाम होते ही हम सेल में बन्द कर दिये जाते, दिन में सम्मिलित आँगन तक और पेशाब-पाखाने के लिए उसके बाहर के लोहे के सींखचों के घेरे में आ सकते थे। दूसरे कैदियों को हमारे सामने तक आने नहीं दिया जाता था।

जेलर मिस्टर मीक से पहिले ही चख-चुख हो गई थी, इसलिए पहिले तो वह नाराज रहा, पीछे उसे यह मालूम हो गया कि मैं पढ़ने-लिखने में लगा रहनेवाला आदमी हूँ, इसे खामखाह अपने हैरान होना और दूसरों

को हैरान करना पसन्द नहीं। फिर वह नर्म पड़ गया। पहिले उसने अपनी निजी पुस्तकों में से कितनी ही मुझे पढ़ने को दीं। पंजाबी सेल में मुझे खयाल हुआ—पढ़ने-लिखने का और साधन तो है नहीं, क्यों न इस समय को गणित के अध्ययन में बिताया जाये। लड़कपन में मैं गणित में बहुत तेज था, दयानन्द–स्कूल (बनारस) में सातवीं क्लास में जिनता अल्जबरा पढ़ा था, उससे आगे नहीं बढ़ सका। स्वामी शंकराचार्य जहाँ संस्कृत भाषा, साहित्य, दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् थे, वहाँ अंग्रेजी और गणित के भी चतुर पंडित थे। उन्होंने इस राय को पसन्द किया। मीक से कहने पर उसने तुरन्त स्लेट-पेंसिल मुझे दे दी। अब मैं गणित में लग गया। बीजगणित, त्रिकोणमिति, क्वार्डिनेट ज्यामिति मुझे तो बहुत दिलचस्प मालूम होती थीं। महीने पर महीने बीतते गये ओर मैं सारा समय गणित में लगाने लगा; यह सिलसिला तभी टूटता, जब मुझे पेचिश हो जाती, और उसके लिए अस्पताल जाना पड़ता। प्रारम्भिक तीन-चार महीनों में मुझे बराबर पेचिश हो जाया करती। अस्पताल से रेंड़ी का तेल पी-पीकर चंगा हो लौटता और चन्द दिनों बाद फिर वही बात। तब सुपरिंटेंडेंट मेजर ली—जो हजारीबाग के सिविल सर्जन भी थे—ने दो पावरोटी, दही और चीनी हमेशा के लिए बाँध दी। सबेरे मैं उसे खाता, दोपहर को रसोइया डेढ़ पाव आटे का एक मोटा-सा टिक्कर बनाकर लाता, और उसके बाद मैं खाना नहीं खाता। हजारीबाग जेल के सारे निवास में खाने का यही नियम रहा।

मेरे कुछ रुपये जमा थे, मैंने उनसे अपने लिए कुछ पुस्तकें मँगवाईं। पीछे मीक साहेब ने कागज, कलम, स्याही की भी सुपरिंटेंडेंट से इजाजत दिलवा दी, किन्तु यह स्वामीजी के छूटने से थोड़ा ही पहिले। उच्च बीजगणित, सरल त्रिकोणमिति, औपटिक्स (दृष्टिशास्त्र) आदि को समाप्त कर मैं गोल-त्रिकोणमिति पढ़ रहा था, और ज्योतिष-शास्त्र का आरम्भ हो गया था, जब स्वामी शंकराचार्य छूटकर चले गये। मुझे उनके जाने का बड़ा अफ़सोस हुआ, किन्तु उनका जेल में रहना भी तो वांछनीय नहीं समझा जा सकता। मैंने उनके संग का पूरा फ़ायदा उठाया। और कोई काम न रहने से, पाठ-पूजा से बचा समय—जो दिन में कई घंटा होता—वह मुझे देते। वह बड़े प्रेम से पढ़ाते, उनके पढ़ाने का ढंग बड़ा आकर्षक था। बीजगणित के सूत्रों को कंठस्थ करवाने की जगह उन्हें वह मुझसे सिद्ध करवाते। बीजगणित में अंकगणित अन्तर्हित है, इसे उन्होंने शुरू के ही पाठों में बतला दिया। पढ़ाते वक्त पश्चिम के कितने ही प्रकांड गणितज्ञों, दार्शनिकों की कथाएँ सुनाते। कभी-कभी हम भारत की राजनीतिक, सामाजिक अवस्थाओं पर भी बहस करते। सामाजिक बातों में वह बहुत अनुदार थे। मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणों के छोटे पुत्रों का जाति में विवाह-अधिकार से वंचित हो, नायर-कन्याओं के साथ 'मुंडू सम्बन्ध' (चार-हाथ की चादर डाल कन्या को अपनी एक मात्र रक्षिता बनाना) करने पर जब मैं आक्षेप करता, तो वह उत्तेजित हो कह उठते—तुम्हें वास्तविकता मालूम नहीं, इस प्रथा को, वहाँ जाकर देखो, वे कितना पसन्द करते हैं। वह यह समझने की तकलीफ़ गवारा नहीं करते थे, कि स्त्री तो ब्राह्मणपुत्र को पति मानने के लिए बाध्य की जावे, और पुरुष अपने को सर्वबन्धनमुक्त समझे, वह स्त्री को नीच समझ उसके हाथ का पानी तक न स्वीकार करे। मैं इसे मलाबार के ब्राह्मणों की पर-वंचना का उदाहरण देते हुए कहता—"कनिष्ट पुत्रों को तो इन नम्बूदरीपादों ने दायभाग का अनधिकारी बनाया, साथ ही नायरों में सम्पत्ति की स्वामिनी सिर्फ़ कन्याओं को माना, जिसमें उनके कनिष्ट पुत्र जामाता के सुख को भी भोगें और स्त्री के भरण-पोषण की उन्हें चिन्ता भी न करनी पड़े।" उस समय उनके कान लाल हो जाते। किन्तु यह सब कोप उनका बहुत ही वात्सल्यपूर्ण होता। एक बार मैंने उलटा पक्ष ले वर्णव्यवस्था को जन्मगत साबित करते हुए सत्यकाम जाबाल को जबाला ब्राह्मणी तथा एक ब्रह्मर्षि की सन्तान बनाने की खींचातानी शुरू की। स्वामीजी हँसते हुए बोले—क्यों मुझे चकमा देते हो, मैं जानता हूँ, तुम्हारा क्या विचार है। उनका स्नेहपूर्ण बर्ताव, उनका विद्या के प्रति अनुराग पैदा करने का तरीका ऐसा था, जिसे भूलना मेरे लिए असम्भव था।

स्वामीजी के जाने के बाद, मैं अस्पताल में शायद पेचिश लेकर चला गया था, जब कि 'बाईसवीं सदी' को लिख डालने का खयाल आया, और लिखने में इतना तन्मय रहता, कि कई रातों तो भिनसार हो जाने, या पौ फट जाने पर ही कलम रुकती थी। दिन को लिखने का काम कम, पढ़ने का ज्यादा करता था। दिन में कभी-कभी कैदियों के आत्मचरितों को भी सुनता। अमृतसर जिले का एक डाकू बूढ़सिंह पाँच साल की सजा

लेकर आया था। वह अपनी डकैतियों, अपनी प्रणयलीलाओं, तथा उदारताओं के बारे में बतलाता था। उसका छोटा भाई—वह सिक्ख नहीं था—तातानगर में काम करता था, उसका अभी ब्याह नहीं हुआ था। बूढ़सिंह कह रहा था—भावे (चाहे) चूड़ी (मेहतरानी) ही क्यों न मिले, उसका ब्याह करके छोड़ूँगा। बूढ़सिंह के कोई सन्तान न थी। शाहाबाद का देवनन्दन एक गँवार अहीर था, जब कि पहिले-पहिल कलकत्ता पहुँचा था। किन्तु वहां गुंडों का संसर्ग हुआ। उसने डंडा और छुरी चलाना, चोरी और बहुत करके धमकाकर पैसा ऐंठने की विद्या सीखी, अच्छे कपड़े-खाने की आदत डाली, और वह गँवार देवनन्दन की जगह एक नागरिक आदमी बन गया। वह दो सालों के लिए आया था।

अस्पताल से छूटने पर मुझे पहिले नम्बर में रखा गया। इस वक्त तक पंडित पारसनाथ त्रिपाठी 'देश' के सम्पादक दो साल की सजा भुगतने के लिए चले आये थे। वह हिन्दी के दर्जनों ग्रंथों के लेखक और अनुवादक थे, और अंग्रेजी से अनभिज्ञ होना उन्हें खटकता था। उन्होंने अंग्रेजी सीखने की इच्छा के साथ उसकी कष्टसाध्यता पर भय प्रकट किया। मैंने कहा—मैं आपको ऐसे ढंग से अंग्रेजी पढ़ाऊँगा, कि दो-तीन घंटा रोज देने पर आठ मास में आप साधारण अंग्रेजी पुस्तकों को समझने लगेंगे, किन्तु साथ ही पहिले-पहिल शुद्ध अंग्रेजी लिखने-बोलने का खयाल छोड़कर सिर्फ़ अर्थ समझने की ओर ही आपको ध्यान देना होगा—शुद्ध बोलना-लिखना तो हमारे यहाँ के पन्द्रह-पन्द्रह, सत्रह-सत्रह वर्ष लगानेवाले अधिकांश एम. ए., बी. ए. लोगों को नहीं आता, तो आपको उसके लिए चिन्तित होने की क्या आवश्यकता ? मिस्टर मीक ने अपनी लड़की की पढ़ी हुई बाल-कहानियों को भेज दिया, और व्याकरण पर बिना इशारा किये मैं उन्हीं को पढ़ाता रहा। पढ़ने के बाद और पाठारंभ से पहिले एक बार पाठ देख जाने की हिदायत थी। आठ महीना बीतते-बीतते त्रिपाठीजी ने दक्षिण-अफ्रीका और रूसो-जापानी युद्ध के सम्बन्ध में 'टाइम्स' (लन्दन) के विशेष संवाददाताओं की पुस्तकें जब समझकर समाप्त कर लीं, तो उन्हें भी रमशा बादशाह के संस्कृत काठिन्य की भांति अंग्रेजी भाषा का काठिन्य—जहां तक पढ़ने समझ लेने का सम्बन्ध है—असत्य मालूम होने लगा।

एक नम्बर की एक घटना है। दिन को तो मैं पढ़ लेता था, किन्तु रात को चिराग के बिना पढ़ना नहीं होता था, और समय की बरबादी मुझे अखर रही थी। चकिया (भोरेथाना, सारन) के पंचानन तिवारी पाँच साल की सजा काट रहे थे, और साधारण रसोईघर में रसोइया थे। उनको मेरी दिक्कत मालूम हुई, तो एक दिन बिना पूछे ही सेर-भर कड़ुवा तेल लेकर मेरे सेल* में आये। सिपाही ने देखते ही चुपके से जाकर हेडवार्डर (बड़े जमादार) सरदार कृपासिंह को खबर दी। वह पहुँच आये। मेरे लिए पंचानन दंडित हों, यह खयाल आते ही मेरा मन विचलित होने लगा। मैंने कृपासिंह से कह दिया—तेल मैंने मंगाया है, रात को चिराग बालने के लिए। मुझे दंड होना चाहिए। खैर, बात वहीं की वहीं रह गई।

युद्ध के दिनों में जब कि हजारीबाग में लाहौर षड्यन्त्र-केस के कैदी आये, उसी वक्त एक एंग्लो-इंडियन पुलिस इन्स्पेक्टर मीक को जेलर बनाकर भेजा गया। जेल में वह कैसा इन्तिजाम कर सके, इसका तो यही उदाहरण है, कि सब पहरा-चौकी रहते भी एक दर्जन से अधिक राजनीतिक कैदी जेल से निकल भागने में समर्थ हुए। हजारीबाग जेल में हजारों आदमियों के खाने-कपड़े घर-दवा का इन्तिजाम करना पड़ता है, जिसमें लाखों रुपया सालाना का खर्च होता है। कैदियों के लिए खर्च होनेवाले पैसे में से जितना हड़प किया जा सके, उतना हड़प किया जावे, यह जेल का सनातन धर्म बहुत पहिले से चला आया था। मिस्टर मीक भी इस प्रलोभन से न बच सके, और आगे तो गोरा होने से वह निर्भीक हो बड़े-बड़े खुर्राट जेलरों का कान काटने लगे। साधारण हड़प तो उन्होंने जारी ही रखी, मेरे हजारीबाग में रहते वक्त उनकी कोठी बन रही थी। जेलखाने के भीतर ईंटें बनती थीं, सुर्खी कूटी जाती थी, लकड़ी-लोहे का सामान तैयार होता था। दो-दो तीन-तीन हजार के गर्डर, दरवाजे, ईंट, पत्थर, दो-दो तीन-तीन सौ में नीलाम कराकर अपने दोस्त के नाम ले लेते। हर दूसरे-तीसरे महीने

* हजारीबाग जेल के अधिकांश वार्डों के कमरे बीच में दीवारें दे सेल में परिणत कर दिये गये हैं। यह बंगाल और पंजाब के क्रान्तिकारियों के लिए किया गया था।

पुरानी मोटर लेते। जेल के कैदी मिस्त्री और मैकेनिक से मदद ले मरम्मत करके उसे ठीक कर लेते। फिर दुगुना-तिगुना दाम पर बेंच देते। उस वक्त हजारीबाग के सिविल सर्जन ही जेल के भी सुपरिंटेंडेंट होते थे। उन्हें जेल में ज्यादा समय देने की फुरसत ही कहाँ थी। एकाध घंटे के लिए आने पर मीक साहेब जो दिखलाना चाहते, वही देखते। हिन्दुस्तानी सिविल सर्जन गोरा होने से उनसे डरते, अंग्रेज सिविल सर्जन की दृष्टि में मीक जैसा निर्मल आदमी कोई और जँचता ही नहीं था। धनवान कैदियों की बुरी दशा थी। उन्हें कोल्हू या चक्की में दिया जाता। अपने खींचकर कोल्हू में तेल पेलना सिर्फ़ जोर का काम ही नहीं, बल्कि थोड़े से घेरे में घूमने के कारण अस्वास्थ्यकर भी है। कैदी इस आफ़त से बचने के लिए घर से रुपया मँगाकर जमादार और दूसरों को देते। भागलपुर के कुछ अहीर मारपीट में कैद होकर आये थे। उनमें एक बहुत हट्टा-कट्टा पहलवान जैसा आदमी था। हम लोग उस वक्त (सितम्बर-अक्तूबर 1924 ई. में) मलेरिया में बीमार हो अस्पताल गये थे। वह आदमी अस्पताल के बरांडे में बैठा हुआ था, उठते वक्त जब उसने दोनों हाथों से जमीन का सहारा लिया, तो हमें सन्देह हुआ। पूछने पर मालूम हुआ कि उसे तेल के कोल्हू में काम दिया गया था; वहीं उस पर मार पड़ी है। मारते वक्त जेल-अधिकारी इस बात का खयाल रखते कि, कोई निशान न पड़ने पाये, इसके लिए कम्बल ओढ़ाकर, भोथी चीजों से मारा जाता था, ऐसी मार मारी जाती, जिसमें पीड़ा ज्यादा होती, किन्तु घाव भीतर लगती। दूसरे ही दिन सुना कि वह अहीर मर गया। चाईवासा की तरफ़ से एक बंगाली बाबू गबन के मामले में सजा पाकर आये थे। तोंद निकली थी। बेचारों का बहुत दूर तक चलना फिरना भी आसान न था, इस पर से उन्हें भी कोल्हू दे दिया गया। काम क्या होता ? मार पड़ती। वह भी दो-तीन बार अस्पताल में आ चुके थे। पीछे क्या हालत हुई, इसका मुझे पता नहीं।

खून, रिश्वत, अत्याचार में उस वक्त का हजारीबाग जेल अपना सानी नहीं रखता था। एक गुजराती तरुण जमशेदपुर से मजदूर-आन्दोलन के सम्बन्ध में कैद होकर आया था। उस पर न जाने कितनी बार बेंत पड़े, हथकड़ी-बेड़ी जैसी सजाओं की तो बात ही क्या ? अन्त में वह पागल हो गया था।

हजारीबाग में आने पर मैंने सबसे पहिले एक अंग्रेजी पुस्तक के आधार पर ज्योतिष (जोतिस नहीं) पर बच्चों के लिए कहानी के रूप में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी; जिसे, जब शाहाबाद जिले के पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र छूटकर जाने लगे, तो लेते गये; किन्तु वह पुस्तक मुझे फिर नहीं मिली। 'बाईसवीं सदी' के बाद मैंने अपने समय को ज्योतिष के एक बड़े ग्रंथ और खगोल-चित्र बनाने में लगाया। मैंने संस्कृत ज्योतिष के कई ग्रंथ मँगाये, और अंग्रेजी के भी। पारिभाषिक शब्द कुछ पुराने लिये, कुछ नये बनाये, और ग्रंथ लिखना शुरू किया। इसमें ग्रहगणित, नक्षत्र, नीहारिका, धूमकेतु आदि पर काफ़ी लिखा गया था। साथ में तीन बड़े-बड़े खगोल चित्र दिये। दो में तो उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध में नक्षत्रमंडल के हजारों तारों के साथ दिये गये; और तीसरे में पटना के अक्षांश पर दिखलाई देनेवाले तारे थे। 90 से ऊपर के नक्षत्रमंडलों में चालीस के आसपास ही तक के नाम संस्कृत में मिल सके थे। बहुत से नक्षत्र—जो भारत के दक्षिणान्त से भी नहीं दिखाई देते, उनका नाम वहां कैसे मिलता ? मैंने सबके नाम गढ़े। अंग्रेजी में छोटे-बड़े आकारवाले तारों के गिनने में अंक के अतिरिक्त यूनानी और दूसरे अक्षर व्यवहार किये जाते हैं। मैंने उनकी जगह ब्राह्मी आदि अक्षरों का प्रयोग किया। ग्रंथ का बहुत-सा अंश अनुवाद मात्र था, प्रथम प्रयास होने से लिखने के ढंग में भी ज्यादा त्रुटि रही होगी, किन्तु मुझे उसके लिखने से नकद फ़ायदा हो रहा था—मालूम ही नहीं पड़ता था, कि मैं जेल में हूँ। पेंसिल परकाल ले चित्र बनाते देख लोग जान गये कि मैं ज्योतिष पर कोई ग्रंथ लिख रहा हूँ। सिपाही बेचारे जोतिस (गणित ज्योतिष) और जोतिस (फलित ज्योतिष) का अन्तर क्या समझें ? वह समझते थे, जोतिस ही लिख रहे हैं। हिन्दुओं की ऊँची जातियों में जहां धनियों के बच्चों को छोटी ही उम्र में शादी करने के लिए लोग दौड़ पड़ते हैं, वहां गरीब लोग मुश्किल से घर-जमीन बेंच रुपये से छोटी बच्ची को खरीद ब्याह करते हैं। उनमें कितने बिन ब्याहे ही रह जाते हैं, इसे देखना हो तो पुलिस और जेल के सिपाहियों को जाकर देखो। एक दिन शाम को एक अस्थायी जमादार आकर बड़ी नम्रतापूर्वक पूछने लगे—"बाबा, ये दो तारे जो इकट्ठा दिखलाई दे रहे हैं, इसका क्या फल है ?" मैंने जब अपना अज्ञान प्रकट किया, तो उनको विश्वास नहीं हुआ, और कहा—"लोग

तो कहते हैं, अबके बड़े जोर की लगन है, ब्याह बहुत ज्यादा होंगे।' धरती पर ब्याह की कोशिश करते-करते बेचारे हार गये थे, इसलिए उनकी नजर अब आकाश के तारों की ओर गई थी।

मिस्टर मीक ने मेरे पढ़ने के लिए कुछ उपन्यास दिये थे। शायद उस वक्त ज्योतिष ग्रंथ लिखने का काम खतम हो चुका था। मैंने समय काटने के लिए साहस यात्रा-सम्बन्धी चार उपन्यासों का हिन्दी में स्वतन्त्र परिवर्त्तन कर डाला, जो पीछे 'सोने की ढाल' आदि के नाम से छपे।

1924 ई. के किसी महीने में 'तरुण भारत' (हिन्दी साप्ताहिक, पटना) के स्वामी लालबाबू और उसके मुद्रक हनुमान पंडित भी किसी लेख के लिए सजा पाकर चले आये। बाहर लालबाबू को कई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों में देखा था, किन्तु यहाँ एक साथ रहने का मौका मिला। वह चौधुरी-टोला (पटना) के एक धनिक परिवार के व्यक्ति थे, और राष्ट्रीय कामों में रुपया खर्च करने में किसी तरह का संकोच नहीं करते थे। उनके सरल उदार हृदय का लोग अनुचित फ़ायदा उठाते थे, यह बात उन्हें मालूम नहीं होने पाती थी, और इसलिए पिछले तजरबे से कोई फ़ायदा नहीं उठा सकते थे। मुझसे वह अपनी उमंगों और कठिनाइयों के बारे में कहते, और मैं भी उन्हें वास्तविकता से परिचय कराने की कोशिश करता था। किन्तु इसमें सन्देह था, कि बाहर फिर खुशामदियों—वंचकों के घेरे में पड़ने पर, रोज-रोज मेरे साथ के वार्त्तालाप से नोट की हुई हिदायतों को वह याद रखते। लेकिन एक बात उन्होंने मन में ठान ली थी—अपने लड़के मदनमोहन को विदेश में इंजीनियर या इस तरह की किसी दूसरी उत्पादक और देश के लिए उपयोगी विद्या को सीखने के लिए भेजूँगा। उनके साथी बेचारे हनुमान पंडित तो पछताते थे; खुशामद आदमी करता है, दूसरे को फाँसकर कुछ ऐंठने के लिए, और यहाँ बेचारे खुद ही फँस गये थे। पुरोहितजी को क्या पता था 'तरुण भारत' पर मुद्रक में उनका नाम छपना इतना जोखिम का काम है। तो भी लालबाबू खाने-पीने में उनका खयाल रखते, वह घर की चिन्ता में न पड़े रहें इसके लिए उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करते थे।

क्वार-कार्तिक के महीने में, मैं, पंडित पारसनाथ त्रिपाठी, लालबाबू, हनुमान पंडित चारों जने मलेरिया से बीमार होकर अस्पताल गये। हम लोगों का बुखार अच्छा हो गया, और हमें नीमू डालकर परवल का सूप मिलने लगा। लालबाबू का बुखार अभी भी वैसा ही था, किन्तु वह जीभ को रोक न सकते थे। अच्छे हो जाने पर हमें तो वार्ड नम्बर-एक में भेज दिया गया। किन्तु लालबाबू अस्पताल ही में रहे। यदि मैं साथ रहता तो खान-पान की बदपरहेजी से रोकता, किन्तु अस्पताल में रहना अपने हाथ की तो बात नहीं थी। अस्पताल आने-जानेवाले आदमी से मैं बराबर खबर लेता रहता था, लेकिन कभी यह खयाल भी नहीं आया था, कि वह लम्बा-चौड़ा स्वस्थ बलिष्ट भव्य तरुण शरीर फिर देखने को नहीं मिलेगा। लालबाबू चले गये, और साथ ही बहुत से मधुर मनोरथों को लिए हुए।

पंडित पारसनाथ त्रिपाठी को मैंने बड़ा भाई बनाया था, 'बाबा' को छोटा भाई बनाने के लिए वे तैयार थे। कहाँ वह पूजा-पाठ, बात-बात पर भगवती के नाम की दुहाई के आदी थे, और कहां मैं इन चीजों का कट्टर विरोधी। मैं खूब मीठी चुटकियां लेता, उनके भगतपन का परिहास उड़ाता, किन्तु वह इसे कभी बुरा न मानते। बरस-भर के करीब हम साथ रहे, किन्तु मुझे कोई दिन याद नहीं, जब हममें कभी मुंहफुलाव हुआ हो। उनके घर पर बड़े भाई परिवार का काम सँभालते थे, और वही अवलम्ब थे। बड़े भाई के कोई सन्तान न थी, और छोटे भाई (पारसनाथ) पर उनका असाधारण स्नेह था। मुलाकात का समय होने पर शाहपुर पट्टी (आरा जिला) से हजारीबाग जेल पहुँचते; साथ में अचार, मिठाई और हफ्ते-भर के लिए ठकुआ, पकौड़ी और क्या-क्या लिवाये आते। भाभी के हाथ की मीठी चीजें पारसनाथ के मीठे शब्दों के साथ और भी मीठी हो जाती थीं। हमें सिर्के में डाली प्याज बहुत अच्छी लगती थी, और पारसनाथ पाव-पावभर की दो शीशियों को बराबर इसके लिए फँसाये रहते। लिखने-पढ़ने के हमारे समय नियत थे, उसके बाद हमारा समय वार्त्तालाप और मनोविनोद में बीतता; वह अच्छे बात करनेवाले थे।

मुझे हजारीबाग जेल में आये साल-भर से अधिक हो गया था, जब कि जेल के लिए एक अलग स्थायी सुपरिंटेंडेंट रखने की बात सरकार ने तै कर कप्तान अंगर को सुपरिंटेंडेंट बनाकर भेजा। साप्ताहिक परेड में

एक बार उनको देखता, किन्तु किसी वक्त कोई बातचीत का काम नहीं पड़ा। उनके आने पर जेल के कैदियों को बहुत खुशी हुई, खासकर यह सुनकर कि वह मीक के परामर्श से स्वतन्त्र बुद्धि रखते हैं। कैदियों का चावल अच्छा बनने लगा, तरकारियों में से घास अन्तर्धान हो गई, रोटी का रंग-रूप और परिमाण बढ़ गया। अपनी धाक कायम रखने के लिए मीक साहेब और उनके अनुचर हर सप्ताह जो दो-तीन को बेंत की सजा दिलवाते, उसमें भी कमी हुई। कई बार अंगर साहेब चुपके से और यकायक भीतर आ जेल के काम की देखभाल करते। मीक साहेब भी बहुत जागरूक रहने लगे। तीन-चार महीने बीतते-बीतते अंगर साहेब की पहिलेवाली तन्देही कम हो गई। कैदी कहने लगे—अंगर साहेब की मेम अंग्रेज है, मीक साहेब की मेम और लड़की (पत्नी की लड़की) अंगर की पत्नी की खुशामद में पहुँचने लगी हैं, मीक के मायाजाल से कौन निकल सकता है ? जेल से छूटते वक्त सचमुच ही मुझे विश्वास न था, कि अंगर साहेब जेल के रहस्य को समझकर समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं, और कुछ ही महीनों में मीक को ऐसा पकड़ेंगे, कि उन्हें गोली मारकर आत्महत्या करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

हजारीबाग जेल में मेरे कुछ दिन कम दो वर्ष इतनी जल्दी बीत गये कि मुझे मालूम न हुआ। उससे पहिले जिन्दगी के किन्हीं दो वर्षों में दत्तचित्त हो पढ़ने-लिखने में इतना व्यस्त नहीं रहा। लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त कुछ फ्रेंच और अवेस्ता का भी मैंने अभ्यास किया। वैज्ञानिक दृष्टि और विस्तृत हुई। आर्यसमाज के विचारों की कट्टरता कम होने लगी, और बौद्ध धर्म की ओर झुकाव बढ़ा। वेद की निर्भ्रान्तता पर सन्देह होने लगा, किन्तु ईश्वर पर विश्वास अब भी था। भाई रामगोपाल के पत्र आते रहते थे, और जेल से छूटते वक्त मैंने बड़े उत्साह से उनके पास लाहौर में एक पत्र लिखा, कुछ दिनों बाद जब वह खत—रामगोपालजी मर गये—लिखा हुआ लौट आया, तो कई दिनों तक मेरा किसी काम में मन न लगता था।

18 अप्रेल (1925 ई.) को दो वर्ष की सारी सजा भुगतने के बाद हजारीबाग जेल से मैं छोड़ दिया गया।

8

राजनीतिक शिथिलता (1925 ई.)

छपरा में मैं दो साल बाद पहुँचा। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, जिला कांग्रेस कमेटी के मानपत्रों से मुझे प्रसन्नता नहीं हुई; जब देखा, कि चारों ओर राजनीतिक शिथिलता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड कांग्रेस के हाथ में था, मौलाना मजहरुलहक जैसा उसका चेयरमैन था, और इसमें शक नहीं कि हक साहेब की प्रेरणा तथा डिप्टी इन्स्पेक्टर बाबू राधिकाप्रसाद के सहयोग से शिक्षा में सारन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड बहुत आगे बढ़ा। मातृभाषा की शिक्षा सारे जिले में निःशुल्क कर दी गई थी, और जिले में शायद ही कोई जगह थी, जहाँ के लड़कों को पाठशाला में जाने के लिए एक मील से अधिक जाने की जरूरत पड़ती हो। इतना होते भी वैयक्तिक स्वार्थ के लिए—अपने सम्बन्धियों और पिट्ठुओं को ठीकेदारी या दूसरा आर्थिक सुभीता दिलाने के लिए मेम्बर लोग आपस में झगड़ते थे। (28 अप्रिल को) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मानपत्र के उत्तर में मैंने सदस्यों की इस मनोवृत्ति के लिए फटकारा और कुछ धमकी-सी भी दी; जो हक साहेब जैसे वयोवृद्ध के सामने उचित न था। उन्होंने बहुत मीठे शब्दों में इस अनधिकार चेष्टा की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। साधारण अज्ञान के अतिरिक्त इसमें दो वर्ष का जेल का एकान्तवास भी कारण था।

पुराने कार्यकर्त्ताओं में बहुत से काम छोड़कर बैठ गये थे। पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी जैसे वकालत की पढ़ाई छोड़कर चले आये कितने ही लोगों ने परीक्षा पास कर वकालत शुरू की थी। बा. विश्वेश्वरप्रसाद, शिवप्रसाद सिंह, महेन्द्रनाथ जैसे कितने ही असहयोगी विद्यार्थियों ने फिर से कालेज की पढ़ाई शुरू कर दी थी। देश में जहां-तहां हिन्दू-मुस्लिम झगड़े शुरू हो गये थे, और मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर हटते जा रहे थे। जहाँ-तहाँ

हिन्दू सभाएँ कायम होने लगी थीं। सारन जिला हिन्दूसभा भी मुझे मानपत्र देनेवाली संस्थाओं में थी, किन्तु मैंने उसे निराश किया। मेरे दोस्तों ने प्रान्तीय हिन्दूसभा का मुझे उपसभापति चुन दिया था, किन्तु मैं शायद एकाध ही बार उसकी बैठकों में गया होऊँगा।

पहिले जिले का दौरा करना जरूरी था, इसलिए गर्मी की कोई परवाह न कर मैं निकल पड़ा। एकमा, सिसवन में अब भी कार्यकर्त्ता मौजूद थे और काम चला जा रहा था। मीरगंज, भोरे थानों की कई सभाओं में व्याख्यान देते मैं कटया पहुँचा। वैशाख पूर्णिमा नजदीक थी, इसलिए बुद्धनिर्वाण के दिन बुद्ध-निर्वाण-स्थान कसया जाने की इच्छा हुई। खुरहुरिया के बाबू महादेव राय ने अपना हाथी दिया, और 13 मई की रात को मैं कसया के लिए रवाना हुआ। अभी दो घंटा रात बाकी थी, कि चाँदनी रात में कुछ दूर पर हमें एक हाथी आता दिखाई पड़ा। उस पर हाथीवान तो दिखलाई नहीं पड़ रहा था, किन्तु हाथी का आकार असाधारण और गति तीव्र थी। हमारा हाथीवान डरने लगा,–यदि कहीं उसने देख लिया, तो हम यदि उतरकर भागने में समर्थ भी हुए, तो भी हाथी को मारकर तो वह जरूर खराब कर देगा। थोड़ी देर हमारी ओर आकर हाथी दूसरी ओर मुड़ गया, उस वक्त उस पर चढ़े हुए सवार भी दिखलाई पड़े, तब हमारी जान में जान आई। कसया में एक ही दो वर्ष से वैशाख-पूर्णिमा (बुद्ध-निर्वाण दिन) को मेला लगने लगा था। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि जहाँ 1920 ई. में लोग यहाँ की बुद्धमूर्त्ति को वर्मावालों का देवता समझ किसी तरह की श्रद्धा की तो बात ही क्या एक प्रकार की घृणा प्रदर्शित करते थे, वहाँ अब पूजार्थियों की भीड़ के मारे मन्दिर में घुसना मुश्किल था। मन्दिर के द्वार के बाहर दो कतार में माली फूल-बताशा बेंच रहे थे। महास्थविर चन्द्रमणि से भेंट हुई। पाँच वर्ष बाद अब वह ज्यादा वृद्ध मालूम होते थे। वहाँ एक तरुण बर्मीभिक्षु (वासव) ठहरा हुआ था। मैंने चन्दा बाबा (महाचन्द्रमणि) से कहा, कि इन्हें संस्कृत पढ़कर भारत में बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहिए, तो उन्होंने उसे संस्कृत पढ़ने का इन्तिजाम कर देने के लिए मेरे साथ कर दिया। कटया से हम जलालपुर (कुचायकोट) आये। रुद्रनारायण खूब तत्परता से काम कर रहे थे, और थाने ने चुनकर उन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में भेजा था। बरौली में पहुँचे, तो यहाँ अभी शिवप्रसाद बाबू काम पर डटे हुए थे, यद्यपि कालेज की पढ़ाई पूरी कर आने की उनकी इच्छा थी, और राष्ट्रकर्मी को ऐसा जरूर कर देना चाहिए–इस धारणा के कारण मैंने भी उन्हें उत्साहित किया। रेवतिथ से आगे दिघवा में मैंने गुर्जर-प्रतिहारों के प्रसिद्ध ताम्रपत्र को मँगाकर पढ़ने की कोशिश की। ब्राह्मी लिपि का अभ्यास तो मैंने जेल में नक्षत्रचित्र बनाते वक्त कर लिया, किन्तु यह ताम्र लेख दूसरी लिपि में था। गुरुकुल हरपुरजन में गुरुकुल भैंसपाल के आचार्य स्नातक युधिष्ठिर ठहरे हुए थे, वे बड़े आग्रहपूर्वक बर्मीभिक्षु को अपने साथ संस्कृत पढ़ाने के लिए ले गये। वासव ने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास कर ली थी, और हिन्दी अच्छी तरह पढ़ने-बोलने लगा, उसी वक्त संग्रहणी ने आ घेरा, जिससे बेचारे तरुण के प्राण न बचे।

'हसरत उन गुंचोंप है जो बिन खिले मुर्झा गये।'

15 अगस्त को मैं एकमा से रेल पर चढ़कर कुआड़ी की ओर जा रहा था। उसी ट्रेन से पंचानन तिवारी हजारीबाग जेल से छूटकर आ रहे थे। उन्हीं से मीक की आत्म-हत्या का पता लगा। मीरगंज (हथुआ) स्टेशन पर उतरने पर मालूम हुआ, कि यहाँ महावीरी झंडा निकल रहा है। बाजार में होकर जब सीवान से आनेवाली सड़क पर पहुँचा, तो झंडे का जुलूस नजदीक आता दिखलाई पड़ा। कस्बे में बड़ी सनसनी थी कि आज हिन्दू-मुसल्मानों का झगड़ा होगा। 'मस्जिद' के सामने बाजा न बजना चाहिए–यह मुसल्मानों की माँग थी, उधर हिन्दू इसे अपने धर्म की तौहीनी समझते थे। महावीरी झंडा का सार्वजनिक प्रचार अभी नया-नया होने लगा था, और उसमें बहुत कुछ मुसल्मानों को अपनी शक्ति दिखलाने का भाव काम कर रहा था। जुलूस में देखा, आगे-आगे मेरे परिचित एक पंजाबी उदासी साधु गेरुआ कपड़ा पहने चल रहे हैं। उन्होंने ही झंडा निकालने की प्रेरणा दी और उसका संगठन किया था। सड़क से एक छोटी सड़क जहाँ बाजार की ओर घूमती है, और फिर आगे मस्जिद पर पहुँचती है, वहाँ आकर उत्तेजित जनता में से कुछ लोग बाजार की ओर मुड़ पड़े। मैं

जब उधर चलने लगा, तो स्वामीजी ने मेरा हाथ पकड़कर उधर जाने से मना किया। मैंने कहा—इस वक्त उत्तेजित भीड़ को शान्त रखने की आवश्यकता है। किन्तु स्वामीजी ने आग तो लगा दी, अब मार खाने के डर से थर-थर काँपते थे। हाथ न छोड़ने पर मुझे उनकी कायरता पर बहुत क्रोध और घृणा आई, और जबर्दस्ती हाथ को खींचकर इधर चल पड़ा। भीड़ के कुछ आदमी आगे चले गये थे। सामने से जब वे गुजरे, तो मस्जिद से ईंटें बरसने लगीं। फिर क्रुद्ध हो जुलूस के लठधरों ने लाठी चलानी शुरू की। हिन्दू ज्यादा थे, और मुसल्मान कम, इसलिए उन्हें भागना पड़ा। अब लोगों ने खदेड़कर मारना शुरू किया। कस्बे के हर हिस्से में मैं अकेला कैसे पहुँचता, किन्तु मैंने कई मुसल्मानों के शरीर को अपने शरीर से ढाँककर बचाया। उत्तेजित लठधारी हिन्दू दाँत पीसते हुए मुझे हट जाने के लिए कहते, किन्तु मुझ पर एक नशा चढ़ा हुआ था और मरने-पिटने का जरा भी भय दिल में न रखते हुए मैं निःशस्त्र मुसल्मानों को बचा रहा था। मेरी काली अल्फी, मेरा नाम, और मेरा राष्ट्रीय-कार्य लोगों को मालूम था, इसलिए किसी ने मेरे शरीर में हाथ लगाने की हिम्मत न की। जहां-तहां छिपे मुसल्मानों को पकड़कर सुरक्षित स्थान में ले जाना, उनकी रक्षा और गाँव की शान्ति के लिए भी बहुत जरूरी था। पुलिस को डर था कि किसी मुसल्मान को पकड़कर थाने में भेजने से बीच ही में हिन्दू छीनकर मारने लगेंगे। उसी वक्त उन्हें मेरी उपस्थिति और बचाव के काम का पता लगा। दारोगा ने खतरनाक स्थानों—विशेषकर मस्जिद के पास के घरों से निकालकर मुसल्मानों को थाने में भेजने में मेरी सहायता चाही। आगे-आगे मुझे चलते देख, किसी हिन्दू ने मारपीट करने का साहस नहीं किया। शाम तक मार-पीट शान्त हो गई, किन्तु अभी भी उत्तेजना दूर न हुई थी। तब तक प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर सीवान के मौलवी गनी भी पहुँचे। हिन्दुओं को झगड़ा के लिए तैयार करने में उन स्वामीजी का जितना हाथ था, उतना ही, लोग कह रहे थे, मुसल्मानों को तैयार करने में इनका हाथ है; किन्तु मुझे इस पर विश्वास न था। गनी साहेब मेरे पहिले के कांग्रेस के सहकारी थे, और इधर के दो वर्षों के तूफान का मुझे कोई पता न था। मैं उन्हें साथ ले घूमते हुए बाजार के उस तिरस्ते पर पहुँचा, जहाँ से सड़क उक्त मस्जिद की ओर गई है। हम दोनों चारपाई पर बैठे लोगों को समझा रहे थे, और मुझे उस वक्त पता नहीं था, कि कुछ हिन्दू मौलवी गनी पर अपना क्रोध उतारना चाहते हैं। खैर, मुझे साथ में देख उन्होंने वैसा करना पसन्द न किया। चाहे मौलवी गनी मुसल्मानों को झगड़े के लिए तैयार करनेवाले न हों, किन्तु पृथक् निर्वाचन में कौंसिल चुनाव की सफलता के लिए अपने को सबसे भारी मुस्लिम-हितैषी साबित करना जरूरी था; और शायद इसीलिए वैसा सोचा जाता था।

हिन्दूपन की बू उस वक्त तक मुझसे निकल गई थी, यह तो नहीं कह सकता, किन्तु हिन्दू-मुसल्मानों की एक रोटी-बेटी, एक जातीयता का पक्षपाती तो मैं इससे पहिले ही 'बाईसवीं सदी' लिखते वक्त हो गया था। इस प्रकार मीरगंज में मैंने जो कुछ देखा, उससे मुझे लड़ानेवाले हिन्दू, मुसल्मान अगुओं से घृणा हो गई। एक ओर यदि मैं उस कायर स्वामी को देखता था, तो दूसरी ओर मस्जिद के पास के घर में भागकर छिपे एक हट्टे-कट्टे मुसल्मान लड़ाके की सूरत को देख रहा था, जो ललकारकर मारपीट कराने में आगे था, और जब घर से निकालकर सुरक्षित स्थान पर चलने के लिए कहा गया, तो संत्रस्त पशु की भांति पीठ गड़ाये न भेजने के लिए गिड़गिड़ा रहा था।

असहयोग और राष्ट्रीय आन्दोलन की तेजी के समय भोरे-कटया की पुलिस कुछ नर्म पड़ गई थी, किन्तु अब राजनीतिक शिथिलता के समय उसने फिर जुल्म ढाना शुरू किया था। नये चुनाव में मैंने जिला कांग्रेस के उपसभापति का पद स्वीकार किया, और हमने हाल ही में छपरा में प्रेक्टिस शुरू किये हुए डाक्टर महमूद को सभापति बनाया। असहयोगी पुलिस सब-इन्स्पेक्टर बाबू रामानन्दनसिंह हमारे मन्त्री थे। जिला कांग्रेस का सारा काम रामानन्द बाबू और मुझ पर आ पड़ा था। पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी अब वकालत कर रहे थे। छपरा में पहिले-पहिल जिस दिन मैं राजनीतिक कार्य में भाग लेने आया, उसी दिन से हम दोनों में घनिष्ठता बढ़ती ही गई; और अब वकील होकर यहाँ बस जाने पर तो उनका घर मेरे लिए छपरा का स्थायी निवास बन गया। त्रिवेदीजी ने हजारीबाग में गणित की पुस्तकें भिजवाने में बड़ी मदद की थी। वह खुद गणित के एक अच्छे विद्यार्थी थे, और यदि भारत परतन्त्र न होता, तो विज्ञान या राष्ट्रीय उद्योग निर्माण के किसी क्षेत्र के एक

प्रमुख कार्यकर्त्ता होते। किसी चीज को स्थायी और पवित्र न मानते हुए उसकी कड़ी से कड़ी आलोचना और निर्माण में हम दोनों एक-सी प्रवृत्ति रखते थे। रातों हमने राजनीतिक, सामाजिक विषयों पर बहस की, और कभी-कभी तो सुननेवालों को संदेह हो सकता था, कि हम वस्तुतः झगड़ रहे हैं, किन्तु हमारा दिमाग कभी गरम नहीं होने पाता। हम लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध सदा सगे भाई से भी बढ़कर प्रेम का रहा, और यह सम्बन्ध उनकी माता और स्त्री को भी इतना मालूम हो गया था, कि मैं हमेशा उनके परिवार का एक व्यक्ति समझा जाता रहा।

भोरे के दारोगा के अत्याचारों को सुनकर जिला कांग्रेस की ओर से मैं और बाबू रामानन्दसिंह जाँच करने गये। रिश्वत लेने के लिए पुलिस ने क्या-क्या नहीं अत्याचार किये थे। किसी की हथेली पर खाट का पावा रख आदमी बैठाये गये थे, किसी को थाने पर बुलाकर पीटा गया था, किसी पर झूठे गवाह तैयार कर मारपीट के मुकदमे तैयार किये गये थे, किसी को झूठमूठ दफ़ा 110 में फँसाने का उद्योग किया गया था। वर्षा के दिनों में पानी-बूँदी में, और कहीं-कहीं जाँघ-भर पानी में चलकर 27-31 अगस्त के पाँच दिनों में हमने हस्ताक्षर या अँगूठे की निशानी के साथ पुलिस की रिश्वतें, उसके अत्याचारों के सम्बन्ध में वक्तव्य जमा किये। लोग पहिले कुछ कहने से डरते थे, किन्तु हम लोगों पर विश्वास था, इसलिए उन्हें वक्तव्य देने की हिम्मत हुई। हमने रिपोर्ट लिखी, और हमारे सभापति डाक्टर महमूद ने जिला मजिस्ट्रेट से स्वयं बातचीत की, और रिपोर्ट दे दी। मजिस्ट्रेट ने कार्रवाई करने के लिए वचन दिया, किन्तु वह आज तक हो रही है। इससे पता लगता है कि ब्रिटिश सरकार का एक पैर पुलिस—जिसके अवलम्ब पर वह भारत में कायम है—कितना गन्दा, कितना अपराधपूर्ण है; और उसके दोषों को किस तरह सरकार और उसके उच्च अधिकारी ढांक देते हैं।

मेरे जेल में रहते मुजफ्फरपुर में हिन्दू-महासभा हुई, जिसने बोधगया मन्दिर के बारे में एक कमेटी बनाई। उधर कांग्रेस ने भी उसके बारे में एक कमेटी बनाई, दोनों ने उन्हीं सातों सदस्यों को रखा। सदस्यों में मैं, बा. राजेन्द्रप्रसाद और जायसवालजी भी थे; राजेन्द्र बाबू सभापति थे। जाड़ों में (नवम्बर-दिसम्बर 1925 ई.) कमेटी की बैठक गया, पटना में हुई। बोधगया भी हम गये। महन्त ने सीधे कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहा, किन्तु अपने एक वकील को कार्रवाई को देखते रहने के लिए भेजा। बहुत से गवाह गुजरे। महाबोधि मन्दिर के बारे में पुराने और नये साहित्य को देखा। जिस जगह बुद्ध ने अपने मूल सिद्धान्त-अनात्मवाद (आत्मा—ईश्वर या जीव जैसी दुनिया में कोई चीज नहीं) और मध्यम-मार्ग (भोग और विराग की पराकाष्टा का रास्ता छोड़ना)—खोज निकाले थे; जो स्थान ढाई हजार वर्षों से दुनिया के बौद्धों के लिए परम पुनीत है, जिसके प्रति उनका उससे भी अधिक सम्मान है, जितना कि ईसाई-यहूदियों का योरोशिलम से, मुसल्मानों का मक्का से; आज वह स्थान ऐसे सम्प्रदाय के महन्त के हाथ में है जो बड़े अभिमानपूर्वक कहता है—हमारे आचार्य शंकराचार्य ने बौद्धों को भारत से निकाल भगाया।

लेकिन महाबोधि मन्दिर को बौद्धों के हाथ में न जाने देने में सबसे बड़ा हाथ अंग्रेजी सरकार का है। उसी ने टेकारी के गाँव से निकालकर उसे महन्त बोधगया के गाँव में डलवाया—सर्वे के कागजों और नकशे में जालसाजी की गई। बर्मा के राजा ने मन्दिर की मरम्मत शुरू करवाई, पूजा के लिए भिक्षु रक्खे। बर्मी युद्ध में जब राजवंश का खात्मा हो गया, और बर्मा ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया, तो उसने खुद एक लाख रुपये लगाकर उसकी मरम्मत करवाई। जब देश-विदेश के बौद्ध और उनसे सहानुभूति रखनेवाले महाबोधि-मन्दिर का प्रश्न उठाने लगे, तो एक दिन सरकार के स्थानीय बड़े अफ़सर, गया के जिला मजिस्ट्रेट ने मन्दिर को महन्त के हाथ सौंप दिया। अब वही सरकार वैयक्तिक सम्पत्ति, दूसरे का चिर से चला आता अधिकार कहकर उसमें अड़ंगा लगाती है। कितने ही बौद्ध देश अब भी स्वतन्त्र हैं। वहाँ के लोगों का बोधगया अड्डा बन जावेगा, जो कि भारत में ब्रिटिश-शासन के लिए खतरनाक साबित होगा—असल तो यह बात है, जिसने ब्रिटिश सरकार को बौद्धों के साथ न्याय करने नहीं दिया।

कमेटी के एक सदस्य श्री काशीप्रसाद जायसवाल भी थे, किन्तु वह गया और बोधगया नहीं जा सके, रिपोर्ट तैयार हो जाने पर उसमें उन्होंने कुछ परामर्श दिया। इसी वक्त पहिले-पहिल मुझे उनको देखने का मौका

मिला। अनागरिक धर्मपाल भी एक सदस्य थे, उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में ब्रह्मचारी देवप्रिय वलीसिंह को भेजा था। कमेटी के अधिकांश सदस्यों की राय हुई, कि मन्दिर का प्रबन्ध बौद्धों और हिन्दुओं की एक संयुक्त कमेटी को दे दिया जावे, जिसमें महन्त और एक सरकारी मन्त्री रहे। मेरी राय थी, मन्दिर बौद्धों के सुपुर्द कर दिया जाये, किन्तु एक मत के खयाल से मैंने रिपोर्ट में अपने विचारों को पृथक् नहीं दर्ज किया।

रिपोर्ट का काम खतम होने के बाद कानपुर कांग्रेस का समय भी नजदीक आ गया। मैं शायद पटना ही से सीधे कानपुर गया। राष्ट्रीय आन्दोलन बिलकुल शिथिल था। कोई खास काम नहीं हो रहा था, इसलिए कानपुर कांग्रेस के बाद मैंने कुछ महीनों के भ्रमण का भी निश्चय कर लिया।

9

फिर हिमालय में (1926 ई.)

मैं कानपुर कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि तथा आल इंडिया कांग्रेस कमेटी का सदस्य था। वहाँ विषय-निर्वाचनी और खुले अधिवेशन के निर्जीव व्याख्यानों को सुनता रहा। बलदेव चौबे भी आये थे, और एक युग बाद मिले थे। अधिवेशन के समाप्त होते ही हम दोनों भाई रामगोपाल की विधवा पत्नी श्री जानकीदेवी से मिलने उनके नैहर हमीरपुर जिले में गये। जिस वक्त लाहौर में रामगोपालजी प्लेग के शिकार हुए, उस वक्त बलदेवजी लाहौर में थे, और उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की थी। जानकीदेवी की भी खोज-खबर वह और भाई महेशप्रसादजी बराबर लिया करते थे। हम चाहते थे, जानकीदेवी कहीं शहर में पढ़ावें और कुछ स्वयं भी आगे पढ़ें, बलदेवजी ने दिल्ली में उनके लिए स्थान भी ठीक कर रखा था, किन्तु छोटे से बेटे को ले रुपये-पैसे के व्यवहार को समेटकर वह उस वक्त जाने को तैयार नहीं हुईं।

बलदेवजी ने मेरे लिखने पर भी बी. ए. की परीक्षा नहीं दी, और कालेज छोड़ दिया, यह मैं पहिले ही लिख चुका हूँ। मेरा उनका प्रथम परिचय मुसाफ़िर विद्यालय आगरा में 1915 के अन्त में हुआ था, जो लाहौर में 1916 में मिलने के बाद और घनिष्ट होता गया। अपने आदर्शों को मजबूत करने और उन पर चलने के लिए हमारे संकल्प को दृढ़ करने में उस समय के हमारे पारस्परिक विचार-विमर्श बहुत सहायक हुए। बलदेवजी का मुझ पर बहुत स्नेह और विश्वास था, और मैं उन्हें कुछ थोड़े-से घनिष्ट मित्रों में समझता रहा। बलदेवजी असहयोग करके अहमदाबाद साबरमती आश्रम को चले गये। पहिली जेलयात्रा के बाद लाहौर के कौमी विद्यालय से उन्होंने बी. ए. परीक्षा पास की। जब लाला लाजपतराय ने अपनी लोकसेवक समिति कायम की, तो बलदेवजी उसके सदस्य बन गये; और आजकल मेरठ में अछूतोद्धार तथा राष्ट्रीय कार्य कर रहे थे।

बलदेवजी के साथ मैं भी मेरठ चला आया। शहर के बाहर उनका 'कुमार आश्रम' था, जिसमें अछूत जाति के कुछ लड़कों के रहने का इन्तिजाम था। बहिन महादेवीजी आर्यसमाज की कन्या पाठशाला में पढ़ाती थीं। मेरठ जिला उस क्षेत्र में है, जहाँ की ग्रामीण भाषा ही साहित्यिक हिन्दी और उर्दू की बुनियाद है, किन्तु अभी भाषा तत्त्व से उस पर विवेचन करने के लिए मैंने अपने को तैयार नहीं किया था। हाँ, बलदेवजी के साथ बैलगाड़ी पर मवाना, हस्तिनापुर, परीक्षितगढ़ और कितने ही स्थानों को देखने का मुझे अवसर मिला। हस्तिनापुर में दूर तक फैली गंगा की कछार और कुछ ऊँचे-ऊँचे टीले देखने को मिले; परीक्षितगढ़ एक अच्छा-खासा गांव था। सबसे अधिक प्रभाव मेरे मन पर ईसाई मिश्नरियों के एक कन्या विद्यालय को देखकर पड़ा, जिसमें अछूत जाति की लड़कियों को पढ़ाने का इन्तिजाम था। पढ़ाई के साथ-साथ उन्हें वैयक्तिक सफ़ाई, घर के कामकाज को सिखलाया जाता था। मुझे तो हिन्दू होते मनुष्यता के अधिकार से वंचित रहने की जगह उनका यह जीवन अधिक अच्छा मालूम होता था।

मेरठ में ही पहिले-पहिल श्री हरिनामदास—आज के भिक्षु आनन्द कौसल्यायन—से भेंट हुई। दो-तीन दिन

साथ रहने से बातचीत का भी मौका मिला, किन्तु उस वक्त मालूम नहीं हुआ था, कि यह बातचीत हममें चिर-भ्रातृत्व कायम करने जा रही है। उनका शरीर उस वक्त भी दुबला-पतला था, मानसिक-शारीरिक स्वच्छन्दता का उस वक्त भी आभास मिलता था। उन्होंने कोई आदर्श वाक्य बनाने के लिए मुझसे कहा था, जिस पर मैंने लिख दिया था–'असिना गीतया चैव जयिष्ये भुवनत्रयम्'। अभी ईश्वर-विश्वास डिगा नहीं था, किसी वक्त पढ़े तिलक के गीतारहस्य का भी असर नहीं गया था। असि (तलवार) के सिद्धान्त पर आस्था रहने से ही मालूम होगा, कि सारे गाँधी युग ने मेरे ऊपर कितना कम असर किया था।

भाई भगवती और अभिलाषचन्द्र आजकल इसी जिले में रहते थे। अभिलाष ने मेकनिकल इंजीनियरिंग की परीक्षा पास कर ली थी; किन्तु उसका सारा समय एक धनिक की मोटरलारियों की देखभाल में लगता था। जिस स्त्री के लिए उसने 'नैनागढ़' जीता था, वह अब उसके पैरों की बेड़ी हो गई थी, अब अपनी अगली उमंगों को पूरा करने के लिए उसके पर कट गये थे। उसकी बड़ी इच्छा थी, वायुयान-संचालक बनने की, और उसके लिए वह सबसे योग्य आदमी था, किन्तु उसके वास्ते मौका निकालना अब उसके वश से बाहर की बात थी। यदि स्वच्छन्द एकाकी होता, तो उसी के फेर में आवारागर्दी करता, देश-विदेश की खाक छानते कहीं-न-कहीं अवसर मिल ही जाता; किन्तु स्त्री और छोटी-सी बच्ची को कैसे छोड़ता ? उसका दाम्पत्य जीवन भी सुखमय नहीं था। स्त्री से बहुत खटपट रहती थी, तो भी वह सदा पत्नी के साथ एक थाली में भोजन करता। मुझे अभिलाष की इस अवस्था और उसके भीतर निहित शक्ति को देखकर बहुत अफ़सोस हुआ। मैंने इसका जिक्र बलदेवजी से किया। उस वक्त उनकी धर्मपत्नी और बहिनजी भी मौजूद थीं। मुझे यह मालूम नहीं था, कि वह इस बिना पर दूसरे दिन आनेवाली अभिलाष की स्त्री को उपदेश देने लगेंगी। उपदेश को सुनकर स्त्री अभिलाष पर बहुत नाराज हुई। अभिलाष को इसके लिए मुझे कड़े शब्दों में उलाहना देना मेरे लिए उतना दुःखकर नहीं हुआ, जितना यह खयाल कर कि अभिलाष को मेरी सहानुभूति से सांत्वना मिलनी तो दूर, मैं उलटा उसके चित्त की व्यथा को बढ़ाने में कारण बना।

बलदेवजी का गृहस्थ-जीवन भी सुखमय न था। ब्याह करना तो माँ-बाप का कर्त्तव्य था, और उन्होंने दस ही बारह की अवस्था में उस कर्त्तव्य को पूरा कर दिया था। अब उसके परिणाम को सारे जीवन-भर भोगना था, सन्तान को। उनकी पत्नी बुद्धिहीन और कलहप्रिय थीं, और पति से झगड़ने के किसी उचित-अनुचित अवसर को हाथ से जाने नहीं देती थीं। बलदेवजी का स्वभाव गम्भीर, उनका मन शान्त था, किन्तु चौबीस घंटे के किचकिच का असर न पड़े, यह हो ही नहीं सकता था। मैं उन्हें रात-दिन की जलती भट्ठी में तपनेवाला तपस्वी समझता था, किन्तु मानसिक सहानुभूति–जिसे शब्दों द्वारा प्रकट करने में भी मैं हिचकिचाता था–के सिवाय और मैं कर ही क्या सकता था।

मेरठ से जनवरी (1926 ई.) के अन्त में दिल्ली पहुँचा। मस्तानापन फिर सिर पर सवार था। दिन में शहर में घूमता, और एक-दो रात जमुना के किनारे बिता दिये। एक कम्बल था, जाड़े को भी काट-छाँटकर उसी के बराबर कर लिया था। लाल-किला, जामा-मस्जिद, तुगलकों के किले पर अशोक की लाट, नई दिल्ली, कुतुबमीनार आदि दर्शनीय स्थानों को देखता रहा। उस वक्त तक फ़ीरोजशाह का किला सैरगाह के रूप में परिणत नहीं किया गया था। कुतुबमीनार को देखकर रात को वहीं धर्मशाला में ठहर गया। एसेम्बली के अधिवेशन में शामिल होने के लिए मुजफ्फ़रपुर के मौलाना शफ़ी दाऊदी आजकल दिल्ली ही में थे। एक दिन उनका भी मेहमान रहा और एसेम्बली के उद्घाटन के समय वाइसराय लार्ड रीडिंग के छत्रचँवर के अभिनय को भी देखा। एक दिन शहर से गुजरते वक्त देखा एक जुलूस आ रहा है, फिर घोड़ागाड़ी पर शंकराचार्य श्री भारती कृष्णतीर्थ स्वामी को देखा। जाकर चरण छू प्रणाम किया। उन्होंने मिलकर बहुत प्रसन्नता प्रकट की, और निवास-स्थान पर आने के लिए कहा। अब हिन्दू-संगठन, मुस्लिम-तन्जीम का जमाना शुरू हो चुका था, इसलिए उनका समय इसी काम में लग रहा था। आजकल वह नई दिल्ली की सनातन-धर्मसभा के वार्षिकोत्सव में आये हुए थे। अधिवेशन में उनके साथ मैं भी गया, किन्तु व्याख्यान देना स्वीकार नहीं किया, भीतर से आर्यसमाजी विचार रखते, सिर्फ़ चुप्पी से ही मैं सनातनधर्मित्व का मूक नाट्य कर सकता था।

स्वामी वेदानन्दजी बनारस छोड़ अब लाहौर चले आये थे, और गुरुदत्तभवन में दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय में अध्यापक थे, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द उसके आचार्य थे। मैं भी गुरुदत्तभवन में ठहरा। पुराने दोस्तों के परिचय को फिर जागृत करने का अवसर मिला। पंडित भगवद्दत्तजी ने डी. बी. ए. कालेज की लाइब्रेरी को अब बहुत उन्नत कर लिया था। भारतीय संस्कृति के अनुसंधान-सम्बन्धी छपे हुए देशी-विदेशी साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ जमा कर लिये थे; और जमा करते जा रहे थे। उनका अध्ययन-अध्यापन, उनका दयानन्द के पथ पर अनुराग पहिले ही जैसा दृढ़ था। मेरे शास्त्री के वक्त के प्रतिभाशाली छात्र श्री चिम्मनलाल अब पंडित विश्वबन्धु शास्त्री आजीवन सदस्य हो कालेज की सेवा कर रहे थे। विश्वबन्धुजी ने एम. ए. में विश्वविद्यालय के रिकार्ड को तोड़ा था। उन्हें विदेश में पढ़ने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति मिल रही थी, किन्तु उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। डाक्टर हो लौटने पर वह पंजाब विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर हो जाते, और हजारों रुपये मासिक कमाते हुए आराम का जीवन व्यतीत करते, किन्तु उन्होंने उस सुखमय जीवन पर लात मारा, और तपस्या के जीवन को स्वीकार किया। लाला खुशालचन्द 'खुर्सन्द' का रोजाना 'मिलाप' बड़े जोरशोर से निकल रहा था, और अब वह शहर के सम्मानित प्रभावशाली पत्रकार तथा आर्यसमाज के प्रमुख नेता थे। मेरे लिए अब भी वह वही 'खुर्सन्द' थे, जिन्हें 1916 में मैंने 'आर्यगजट' के मुख्तसर से आफिस में अपने साथ मित्र के तौर पर अकेले बात करते हुए बीसियों बार पाया था। वह अब भी उसी तरह अकृत्रिम रूप से मिले। उस समय वह 'आर्यगजट' के लिए लेख की मांग करते थे, और अब उन्होंने 'मिलाप' के लिए कुछ लिखने को कहा। मैंने 'बाईसवीं सदी' के कुछ अध्याय उर्दू में अनुवाद कर 'मिलाप' को दिये जो उसमें कई दिनों तक छपते रहे।

गुरुदत्तभवन, आर्यसमाज बच्छोवाली तथा दूसरी जगह मैंने कई व्याख्यान दिये जो आर्यसमाजी ढंग के थे, किन्तु उनमें बुद्ध की बहुत अधिक प्रशंसा होती थी। जातिपाँत के विरुद्ध हर व्याख्यान में कुछ जरूर कहा करता था। पिछले लाहौर के निवासों में मैं पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों के देखने की लालसा को पूरा नहीं कर सकता था, इसलिए अबकी बार जब आर्यप्रतिनिधि सभा—जिसका कार्यालय गुरुदत्तभवन में ही था—वालों ने बाहर की आर्यसमाजों में कुछ समय देने के लिए कहा, तो मैंने उसे स्वीकार किया। एक बार—और शायद सबसे पहिले—(उर्दू) 'प्रताप' के सम्पादक महाशय कृष्ण के साथ नई दिल्ली के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में व्याख्यान देने गया। उस समय कन्या गुरुकुल दिल्ली ही में था, महाशय कृष्ण के साथ मैं भी उसे देखने गया। आर्यसमाज की शिक्षा-सम्बन्धी पुराणपन्थिता से मैं पहिले भी सहमत न था, किन्तु उनके उत्साह की तो सराहना ही करनी पड़ती।

पंजाब और सीमान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों के भ्रमण को वहाँ से लिखकर पटना से निकलनेवाले बाबू जगतनारायणलाल के पत्र 'महावीर' में भेजता रहा, जिसमें कुछ को छोड़कर बाकी अप्रकाशित रहे, और पीछे मैंने उन्हें 'मेरी लदाखयात्रा' में संगृहीत कर दिया। यात्रा का अपेक्षित अंश यहाँ दिया ही जा रहा है, किन्तु वहाँ आर्यसमाज के अपने सम्बन्ध को मैंने गुप्त रखा था, क्योंकि बिहार में मुझे लोग वैरागी वैष्णव समझते थे; इसलिए उसी छूटे अंश के बारे में यहाँ कुछ कहता हूँ। केम्बलपुर, रावलपिंडी, मुल्तान से लेकर पुणछतक में बहुत कुछ आर्यसमाज के वार्षिकोत्सवों में व्याख्यान देने गया था। रावलपिंडी के उत्सव के समय शंका-समाधान का काम मुझको दिया गया, और जवाबों से मालूम हुआ, कि महोबा में अन्तिम बार उपयुक्त की गई वाद-विवाद की मेरी प्रतिभा कुंठित नहीं हुई है। आर्यसमाजी ही स्वामी रामोदार—यही नाम वहाँ प्रसिद्ध था—की तर्कशक्ति की दाद नहीं देते थे, बल्कि प्रश्न करनेवाले कादियानी मौलवी ने भी मेरी हाजिरजवाबी की तारीफ़ की।

उस वक्त के लिखे लेखों से मालूम होगा, कि आर्यसमाज का असर और कुछ-कुछ हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष का असर भी मुझ पर पड़ा था।

इस यात्रा में खैबर में लंडीकोतल तक जाने का अवसर मिला, और आर्यसमाज के किसी प्रभावशाली नेता की सिफ़ारिश पर ही। यदि पुलिस को मालूम होता, कि मैं दो-दो बार राजनीतिक अभियोगों में कैद काट चुका हूँ, तो न खैबर के भीतर ही घुसने का मौका मिलता, न लदाख जाने का ही परमिट (आज्ञापत्र) पाता।

रावलपिंडी के कुछ दोस्तों ने तो विश्वास दिलाया, कि पासपोर्ट भी यहाँ से आसानी से मिल सकता है। मैंने उसके लिए दर्ख्वास्त भी दे दी, निकट भविष्य में विदेश जाने की मेरी उत्कट इच्छा थी, किन्तु पासपोर्ट बहुत छान-बीन कर दिया जाता है। पुलिस ने शायद कनैला में जाँच-पड़ताल की होगी, और उसे मेरे बिहार के राजनीतिक जीवन का पता लग गया होगा। कुछ भी हो, पासपोर्ट नहीं मिला।

इस वक्त मैं गेरुआ लुंगी और चद्दर में रहता था। सर्दी के वक्त गर्म चादर ओढ़ता, जैसा कि पेशावर में लिये गये फ़ोटो से मालूम होगा। कर्वी में मुझे पहिले-पहिल पता लगा था, कि मैं दुबला-पतला नहीं हूं, जैसा कि लड़कपन से चला आता था। हजारीबाग में मेरा वजन 151 पौंड तक गया, (आजकल मई 1940 ई. में 183 पौंड है), तो भी उस वक्त मुझे मोटा नहीं कहा जा सकता था।

श्रीनगर में आर्यसमाज-मन्दिर में ठहरा, किन्तु भोजन के लिए अक्सर डाक्टर कुलभूषण के घर जाता। डाक्टर कुलभूषण ही की सहायता से मुझे लदाख का परमिट मिला था, और उन्होंने ही लदाख के इंजीनियर लाला रामरखामल को पत्र लिखकर मेरी आगे की यात्रा का प्रबन्ध कर दिया था।

कर्गिल में लाला रामरखामल मिले। उनके तीन घोड़ों में से एक मेरे लिए रिजर्व हो गया, और वहाँ से लदाख, हेमिस तक की यात्रा उनके साथ बड़े आराम के साथ हुई। डाकबँगलों या खेमे में सोते, घर जैसा पंजाबी पुष्ट भोजन करते—हां उस वक्त मैं निरामिषाहारी था, यद्यपि उस पर से आस्था उठती जा रही थी।

लाला रामरखामल ने राज के तहसीलदार तथा लेह के पंजाबी साहूकारों—जिनमें पंडित सन्तरामजी के चचेरे भाई तथा लेह के बहुत प्रभावशाली व्यापारी लाला शिवराम भी थे—से परिचय करा दिया। मैं स्वामी भी था, इसका भी प्रभाव कम न था, इसलिए आगे का प्रबन्ध उन लोगों ने कर दिया। लेह में होशियारपुर जिले के बहुत से व्यापारियों की दूकानें थीं, इनमें से लाला शिवरामजी जैसे कितनों ही की दूकानें चीनी तुर्किस्तान के काशगार, यारकंद, खोतन शहरों में भी थीं। यहाँ आकर चीनी तुर्किस्तान जाने की मेरी बड़ी इच्छा थी, किन्तु बीच में सवाल था, पासपोर्ट का। यदि उसका झगड़ा न होता, तो मैं सीधे उधर चला जाता, लाला शिवराम यात्रा आदि का पूरा प्रबन्ध करने के लिए तैयार थे।

हेमिस से लाला रामरखामल तो अपने काम से चले गये, और मैं वहाँ कुछ दिनों ठहरा। हेमिस के लामा स्तग्-सङ्-रस-पा को उन्होंने मुझे अच्छी तरह रखने के लिए कह दिया था, और उन्होंने मेरा बड़ा खयाल रखा। तिब्बती लोग (लदाखी लोग भी तिब्बती जाति के हैं) बिना मांस के भोजन को पसन्द नहीं करते, इसलिए निरामिष भोजन को उतना स्वादिष्ट नहीं बना सकते, तो भी मठ से रोटी, शलगम के पत्तों की तरकारी, दूध, मक्खन, दही आदि आ जाते थे।

काल्पी में रहते हुए, मैंने थोड़ा-थोड़ा मेस्मेरिज्म का हथकंडा सीखा था—बहुत कुछ किताब के सहारे अपनी बुद्धि से। एक दिन लामा ने दिखलाने को कहा। मैंने एक दुभाषिया (उर्दू जाननेवाले) को एक छोटे लड़के के साथ लामा के भीतरी कमरे में बुलाया। लड़के के अँगूठे के नाखून पर एक छोटा-सा चमकता हुआ काला काजल-विन्दु लगा दिया। फिर लड़के के अपने प्रतिबिम्ब को साफ़ देख लेने पर सजेशन (परामर्श) दे दे दूसरी चीजों, स्थानों, व्यक्तियों का शब्द-चित्र बना देखने की प्रेरणा की। लड़का, बम्बई शहर, समुद्र, जहाज, बोधगया मन्दिर—जैसे-जैसे मैं बतलाता—देखता गया। अन्त में हेमिस गुम्बा (मठ) के लामा के बैठके में लाकर उस वक्त के बैठे आदमियों के बारे में पूछा, तो लडके ने परिचिन आदमियों के नाम अपरिचित आदमियों की आकृति और बैठने के स्थान को बतला दिया। दुभाषिया ने दरवाजे से बाहर निकलकर देखा, तो बात बिलकुल सच थी। लड़का जिस वक्त उस कमरे से भीतर आया था, उस वक्त वहाँ जो लोग बैठे थे, उनमें कितने चले गये थे, और कुछ नये आदमी वहाँ आकर बैठे थे। दुभाषिया से भी ज्यादा इस बात का आश्चर्य लामा को हुआ। यह सब कुछ तब हुआ, जब कि मैं तिब्बती भाषा से अपरिचित होने के कारण सीधे सजेशन नहीं दे सकता, मेरे सजेशन की भाषा को दुभाषिया अनुवाद करके लड़के को समझाता था।

दोपहर बाद लामा ने अपने सामने इस प्रयोग को देखना चाहा। हम लोग इसके लिए मठ से नीचे सफ़ेदे के बाग में लामा (महन्त) के बँगले में गये। वहां भी प्रयोग सफल रहा। काल्पी में भी मैंने इसके तीन-चार

प्रयोग किये थे, और तत्काल परोक्ष स्थान में बैठे आदमियों की पहिचान हर बार ठीक निकली थी, इसलिए सफलता के लिए मुझको अपने पर विश्वास था।

लेह से लौटकर खर्दोङ् पास के पार मैं नुब्रा उपत्यका देखने गया। खर्दोङ् की चढ़ाई और आगे की यात्रा का मैंने एक बड़ा सुन्दर वर्णन लिखा था, जिसे सुनकर राजेन्द्र बाबू इतने प्रभावित हुए, कि उन्होंने मेरी लदाख-यात्रा सम्बन्धी लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए बनारस के अपने एक मित्र को पत्र लिख डाला। वह लेख मैंने किसी पत्र को–शायद 'सरोज' (कलकत्ता) को भेज दिया था, किन्तु मूल या छपा लेख मुझे मिल नहीं सका।

लदाख के तहसीलदार साहेब ने मेहरबानी करके अपने चपरासी गंगाराम (लदाखी होते हुए महाराजा रणवीर सिंह की नीति के अनुसार यह नाम उसे दिया गया था) तथा एक मुहर्रिर को मेरे साथ कर दिया था। हम लोग घोड़े पर चढ़ शाम के वक्त खर्दोङ् की ओर चले। लदाख से चीनी तुर्किस्तान का रास्ता इधर ही से जाता है, इसलिए रास्ते की मरम्मत होती रहती है। जगह-जगह सराएँ भी मुसाफ़िरों के लिए हैं। रास्ते में ब्रिटिश सरकार के चरस-अफ़सर मिल गये–हिन्दुस्तान में खपत होनेवाली चरस या सुल्फ़ा करीब-करीब सारे चीनी तुर्किस्तान से इसी रास्ते आता है, और उस पर निगरानी के लिए सरकार का एक खास अफ़सर यहाँ रहता है। चरस-अफ़सर खाँ साहेब ने रात को साथ ही ठहरने का निमन्त्रण दिया। हम लोग गाँव से बहुत ऊपर जोत (पास) के 3, 4 मील रह जाने पर ठहरे। अब मैं दिल्ली की तरह एक कम्बल से जाड़े को नाप-बाँध नहीं सकता था, इसलिए जाड़े के लिए श्रीनगर से लेकर चले ऊनी कपड़ों में भी यहाँ काफ़ी वृद्धि कर ली थी। पैरों में यारकन्दी पप्पू जूता, और उसके भीतर नम्दे का मोजा सोते वक्त भी पड़ा था, तम्बू के भीतर मैं कनटोप के ऊपर ऊनी चादर से सारे मुँह-कान-शिर को ढाँके, देह पर चुकट्टू, लोई आदि ओढ़े सोया था, तो भी वहाँ जबर्दस्त सर्दी थी।

खाँ साहेब किसी नये रास्ते की टोह में गये थे, इसलिए यहाँ से उन्हें दूसरी जगह जाना था। मैं और दोनों साथी घोड़ों पर चढ़े, बेगारवाले किसानों के साथ दो बजे रात को ही चल पड़े। लदाख में बरफ की जोतों को पार करने का यही उचित समय समझा जाता है, जिसमें कि धूप निकलने से पहिले बरफ का रास्ता खतम हो जावे। धूप चढ़ने पर बरफ के नरम होने से आदमियों और जानवरों के पैर धँसने लगते हैं, और उनके दरार में फँस जाने का डर रहता है, साथ ही आसपास की ऊँची जगहों से लाखों मन की हिमानियों के गिरने का डर रहता है। थोड़ी दूर तक नाले के किनारे से हमें साधारण चढ़ाई चढ़नी थी, किन्तु अब भी हम 14000 फ़ीट से ऊपर चढ़ रहे थे, और यदि घोड़े पर न होते, तो आटा-चावल का भाव मालूम हुआ होता। फिर असली चढ़ाई शुरू हुई। घोड़े अब हर दस-दस कदम पर साँस लेने के लिए रुक जाते। थोड़ी दूर बाद हम श्वेत बर्फ़ के फ़र्श पर चलने लगे, चाँदनी रात में वह खूब चमक रही थी। पतली हवा के कारण साँस लेने और पैरों के उठाने में किसको बात करने की फ़ुरसत थी, और उस सन्नाटे में सिर्फ जानवरों की साँस की आवाज सुनाई देती थी। चढ़ाई के श्रम को हल्का करने के लिए घोड़े गोमूत्रिका बनाते हुए टेढ़े रास्ते से चल रहे थे, हाँफने से उनका पेट फूल-पचक रहा था, और पीछे का सारा शरीर मालूम होता था, मुँह को ढकेलकर पैरों से आगे खींच ले जावेगा। जानवरों के कष्ट को देखकर हम उन्हें अपने मन से चलने देते थे। आमतौर से थोड़ी देर रुकने के बाद वे खुद चल देते थे, नहीं तो जरा-सा लगाम का इशारा कर देना पड़ता था। घोड़े सभी बेगार के थे, इसलिए लाला रामरखामल के मजबूत टाँघनों का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। लदाखियों ने अपने कनटोप के ऊपर उठे हुए कनौटे को नीचे गिरा कानों को ढाँक लिया था। और मैं ?–मैंने तो जो रात को मंकी कैप से आँख-नाक छोड़कर सारे शिर और गर्दन को ढाँका था, और ऊपर से ऊनी चादर बाँधी थी, उसे जरा-सी भी हटाया न था। कश्मीर से आते वक्त तीन जोतों को पार करते हुए मैंने देख लिया था, कैसे इस ऊपरी हवा के कारण चेहरे का रंग झुलसकर काला हो जाता है, इसलिए अब नाक और उसके आसपास का जो थोड़ा-सा भाग खाली था, उस पर वेस्लीन मल ली थी। हाथों में दस्ताने थे, और बाकी सारा शरीर अनेक तह मोटे ऊनी कपड़ों से ढँका था। इतने पर भी सर्दी की शिकायत अनुचित होगी, तो भी मैं अनुमान कर

सकता था, कि यहाँ कितनी ठंडक पड़ रही है।

धीरे-धीरे पैरों से नापते, मालूम होता था, युगों में रास्ता कट रहा है। पन्द्रह हज़ार, सोलह हजार, सत्रह हजार, अठारह हजार फ़ीट पर पहुँचना—कहने में आसान मालूम होता है, लेकिन ये हर एक हजार मनुष्य और पशुओं के फेफड़े, पैरों और पुट्ठों पर कितना असह्य भार, कितनी पीड़ा पैदा करते हैं, इसका आभास भी शब्दों द्वारा चित्रित करना मुश्किल है। खर्दोङ् ला (जोत) अठारह हजार फ़ीट ऊँचा है, और तिब्बत के कठिन जोतों में गिना जाता है। ऊँचे स्थानों पर उषा और सूर्य की किरणें कुछ पहिले पहुँचती हैं, किन्तु हम अभी डांडे से नीचे ही थे, तभी खूब सबेरा हो गया था। आज हवा और बादल नहीं थे, इसलिए यात्रा सुखपूर्वक हुई। लदाखी इसे देवता का प्रताप समझते थे।

जोत पर पहुँचकर हम घोड़ों से उतर गये। एक साथी ने अदरक का एक टुकड़ा देते हुए कहा—जोत पर इसका खाना अच्छा होता है, इससे विषैली भूमि का असर जाता रहता है। वहाँ पतली बीरी की शाखाओं में लाल-पीली झंडियों से अलंकृत खर्दोङ् डांडे के देवता का स्थान था। लदाखी साथियों ने शो-शो कहा। हमने थोड़ा विश्राम किया, और घोड़ों को उनके मालिकों के हाथ में पकड़ा पैदल ही उतरना शुरू किया। मुझे यह पता न था, कि खर्दोङ् की उतराई चढ़ाई से भी मुश्किल है। उतराई में ऐसे भी सवारी पर चलना सवार और पशु दोनों के लिए कष्ट की चीज है। एक-दो फ़र्लांग ही में जानवर की पीठ कट जाने का अन्देशा रहता है। और यहाँ की चढ़ाई क्या, यह तो कहीं-कहीं जरा-सा पीछे की ओर झुकी दीवार से उतरना था। कितनी ही जगह मुझे चतुष्पाद बनना पड़ा। इस तरफ़ कई मील तक—परली तरफ़ से दूनी से भी अधिक दूर तक—बरफ थी। लेकिन सारी जगह सीधी उतराई नहीं थी। खर्दोङ् की ऊपरी बरफ कभी नहीं गलती, वह सनातन हिमानी है। ऊपर की बर्फ़ गल जाने पर जब निचली कड़ी चिकनी चिरन्तन बर्फ़ ऊपर आ जाती है, तो बोझा ले चलनेवाले पशुओं के लिए बहुत खतरा हो जाता है। सीधी उतराई में यदि पैर फिसला, तो बगल में हजारों फ़ीट नीचे अवस्थित सरोवर में गिरकर फिर उनके जीतेजी निकलने की आशा नहीं की जा सकती। खैर, इस वक्त अभी वह बर्फ़ अर्वाचीन बर्फों से ढँकी थी।

नौ-दस बजे के करीब हम राजकीय सराय में पहुँचे। यहीं खाना-पीना हुआ। घंटों के विश्राम के बाद पशु-प्राणी फिर कुछ ताजगी अनुभव करने लगे और दोपहर बाद हमने फिर प्रस्थान किया। यहाँ के पहाड़ों के सानु अधिकतर मिट्टी से ढँके थे, और हल्की होने पर भी शताब्दियों से होती वर्षा के पानी ने उनको काट-काटकर खम्भ, खड्ड और गुफाओं की शकल में परिणत कर दिया था। इधर बस्ती नहीं दीख पड़ती थी। खर्दोङ् से आते नाले के सहारे चलते-चलते बहुत समय बाद हम शियोक नदी की उपत्यका में पहुँचे। शियोक सिन्धुनद की दो प्रधान धाराओं में है, यद्यपि सिन्धु का नाम इसकी दूसरी बहिन को मिला है, जो मानसरोवर की ओर से आ लेह से 5, 6 मील नीचे से गुजरती है। तो भी सिन्धु में समय-समय पर आनेवाली खतरनाक बाढ़ें शियोक के कारण ही होती हैं। अक्षय सनातन शियोक-हिमानी गलकर अपने भीतर से एक मोटी धार इस नदी के आदि-स्रोत के रूप में फेंकती है। जब तक धार के निकलने का रास्ता खुला रहता है, तब तक खैरियत है, किन्तु, जहाँ सर्दी आदि के कारण पानी ने बरफ की चट्टान बन धार का रास्ता रोका, वहाँ फिर पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्त के सिन्धुतटवर्ती गाँवों और शहरों की खैर नहीं। सरकार की ओर से शियोक-हिमानी पर चौकीदार रहते हैं। उनका काम है यह देखते रहना, कि धार का मार्ग मुक्त है या नहीं। बरफ के भीतर से आती धार का रास्ता बन्द होते ही चौकीदार तहसीलदार के पास आदमी दौड़ाता है। अरबों मन पानी के जमा होकर काँच सदृश हिम प्राकार को तोड़ने में कुछ दिनों की देर लगती है, तब तक, सावधानी करने पर खतरे की जगहों पर खबर दी जा सकती है। लेह का तहसीलदार जिस वक्त शियोक-हिमानी के खतरे का तार देगा, बाकी सभी तार रोककर उसे दिल्ली, स्कर्दो और सीमाप्रान्त-पंजाब भेजना होगा। चौकीदार वैसे भी हर सप्ताह नियमपूर्वक धार के पानी की गहराई आदि लिखकर भेजा करता है। एक बाहर गहराई कम होकर हिमानी का छिद्र बन्द होने लगा था। चौकीदार ने रिपोर्ट भेजी, किन्तु तहसीलदार ने उसे हमेशा जैसा कागज समझ रख छोड़ा। एक-दो दिन बाद जब उनकी नजर कागज पर पड़ी, तो परिस्थिति की गम्भीरता उनकी समझ

में आई, किन्तु जिस वक्त वह तार भेज रहे थे, उस वक्त खबर आई कि पानी स्कर्दो के पास तक पहुँच गया है।

शियोक के बाएँ तट पर धार से कुछ ऊपर के गाँव में हम रात को ठहरे। यहाँ सर्दी बहुत कम मालूम हो रही थी, शायद बहुत सर्द स्थान से आने के कारण। किन्तु ऐसे भी शियोक-उपत्यका गर्म है। गाँव में खूबानी आदि के दरख्त हैं।

सबेरे चायपान के बाद हम फिर रवाना हुए, लोहे के झूलेवाले पुल से शियोक नदी पार की, फिर दाहिनी ओर से आती अधिकांश सूखी एक नदी की उपत्यका में बायें से घुसे। हम नुब्रा में रि-जोङ् के लामा सस्-कुशोक के पास जा रहे थे। रिजोङ् लामा लदाख के लामों में सबसे ज्यादा शिक्षित और संस्कृत थे, इसलिए उनसे मिलकर बौद्ध-धर्म के बारे में जानकारी प्राप्त करने की मुझे बड़ी इच्छा थी। लदाख के और स्थानों में मैं 1933 में दुबारा गया था, किन्तु खर्दोङ् पार नुब्रा में 1926 के बाद फिर जाने का मौका नहीं मिला, और मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, वह स्मृति के सहारे ही। शायद नुब्रा से पहिले कुछ झाड़ियाँ-सी मिली थीं। नुब्रा के चारों ओर हरे-हरे गेहूँ के खेत लहरा रहे थे। कितने ही खूबानी, सफेदे और वीरी के वृक्षों के बाग थे। सरल रेखाओं से बने लदाखी गाँव के सफ़ेद घर दूर से बड़े सुन्दर मालूम होते थे।

हम लोग लामा (गुरु महन्त) के निवास-स्थान में गये। दुभाषिया ने मेरा परिचय दिया। लामा ने अपनी बैठक में बुलाया। यह साफ़ हवादार ही नहीं, बल्कि उसके सजाने में काफ़ी सुरुचि प्रदर्शित की गई थी। लामा स्वयं चित्रकार थे, और दीवारों पर उनके चित्रित किये गुलाब के फूल बहुत सुन्दर मालूम होते थे। खाने में छूत-छात का तो सवाल ही न था, किन्तु मेरा निरामिषाहारी होना दूसरों के लिए बला थी। यहां साग-सब्जी, दाल सभी दुर्लभ थे। खैर, दूध के साथ पेटभर रोटी खा लेना मुश्किल नहीं था।

रिजोङ्-लामा की उम्र उस वक्त साठ से ऊपर थी। वह बहुत सफ़ाई-पसन्द आदमी थे। उनका बदन कुछ पतला-सा, रंग पीलापन लिये हुए गोरा, चेहरे पर कम मांस, नाक कम चिपटी—हमारे मान से भी वह जवानी में सुन्दर रहे होंगे। लदाख के पुराने राजवंश में पैदा होने से उन्हें सस्-कुशोक (कुशोक लदाख में मठ के महन्त भिक्षु को कहते हैं, यद्यपि मध्य तिब्बत में उसके लिए रिम्-पो-छे का व्यवहार होता है)—राजकुमार कुशोक—कहा जाता था। तिब्बती भाषा, उसके साहित्य पर घंटों हमारी बातचीत होती रही। उन्होंने कन्जूर में अनुवादित महायान महापरिनिर्वाण सूत्र का कुछ अंश अर्थ के साथ सुनाया—दुभाषिए ने उसका अनुवाद करके बतलाया। मैंने लामा से लदाखियों में कुछ सुधार करने की बातें कहीं, जिन्हें कि हेमिस कुशोक के सामने भी मैं रख चुका था; उनमें मुख्य थीं—सफ़ाई के अभाव में सदा गन्दा रहनेवाले लम्बे-लम्बे बालों को पुरुष कटवा दें। बहुपति-विवाह के कारण पति न मिलने से लदाखी स्त्रियाँ दूसरे धर्मवालों के साथ ब्याह कर लेती हैं, जिनसे लदाख में उनकी संख्या का ह्रास हो रहा है, इसलिए बहुपतिविवाह की प्रथा हटाकर हर भाई की अलग-अलग शादी करने की रीति जारी करें। भिक्षुओं के पढ़ाने का समुचित प्रबन्ध करें। रिजोङ् ने मेरे सुझावों का स्वागत करते हुए कहा, मैं भी इन बातों का अनुभव करता हूं। लामा को संस्कृत से प्रेम था, कह रहे थे, अब तो बूढ़ा हो गया, नहीं तो संस्कृत पढ़ता।

दो या तीन दिन रहने के बाद मैं नुब्रा में लेह की ओर रवाना हुआ। लामा ने अपने बनाये कुछ छोटे-छोटे चित्र तथा लेख दिये। मैं फिर लेह लौट आया।

गये रास्ते से लौटने को मैं बिलकुल पसन्द नहीं करता। किस रास्ते लौटा जावे, इस पर मैं विचार कर चुका था, और मन्-पङ् गोङ् झील देखते हल्के, चुमुर्ति (तिब्बत), कनौर के रास्ते शिमला आने का निश्चय किया था। लाला शिवराम इसके लिए पैसे-कौड़ी का इन्तिजाम करने लगे। हेमिस लामा ने हन्ले के अपने मठ के प्रधान कर्मचारी, तथा कनौर के प्रथम बड़े गांव के मुखिया के नाम परिचयपत्र लिख दिया।

हेमिस में मैं मेले के वक्त गया था। साल में एक बार इस वक्त वहाँ धार्मिक नाट्य और नृत्य होता है, जिसे अंग्रेज डेविल-डेन्स (भूतनृत्य) कहकर पुकारते हैं, तरह-तरह के चेहरे और पोशाक के साथ यह अभिनय होता है, और उस वक्त कितने ही यूरोपीय यात्री भी पहुँच जाते हैं। इन यात्रियों में पेरिस की एक चित्रकयित्री

मदमोजिल् (कुमारी) लाफूजी भी थीं। वह फ्रेंच और इंगलिश जानती थीं, और मेले के खतम हो जाने के बाद मैं ही ऐसा आदमी था, जो अंग्रेजी जानता था, इस प्रकार हेमिस में रहते हमारी घनिष्टता बढ़ गई थी। नुब्रा जाते वक्त लेह में लाफूजी को मैंने एक बाग में तम्बू के भीतर छोड़ा था। लौट के आने पर मालूम हुआ वह डाकबँगले में चली गई हैं। उन्होंने कहा था कि लौटकर नुब्रा के बारे में मुझे जरूर बतलाइएगा, इसलिए एक दिन मैं शाम को डाकबँगले पहुँचा। लाफूजी ने गुड-इव्निङ् (सुसायं) कहते हुए खूब जोर से हाथ मिलाया। फिर अपने नये मित्र मेजर मेसन को मुझसे मिलने के लिए बुलाने गईं। बेचारी को भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की मनोवृत्ति का पता न था। मेजर मेसन आये तो सही, और उन्होंने गुड-इव्निङ् कहकर हाथ भी मिलाया, किन्तु उनकी चेष्टा, तथा उनके चेहरे से साफ़ मालूम हो रहा था, कि वह लाफूजी के दबाव के कारण यह सब यन्त्रवत् कर रहे थे। मेजर मेसन भारत-सरकार के सर्वे विभाग के उच्च कर्मचारी थे। कराकुरम पर्वतमाला में गवेषणा के लिए गये थे। लेह के नायब-तहसीलदार उनके बारे में सुना रहे थे—आगे जोतों पर बरफ ज्यादा होने से रास्ता बन्द है, इसलिए बेगार के घोड़े, याक आदि का हम इन्तिजाम न कर सकते थे। एक दिन मेजर साहेब लाल-पीले होने लगे, तो मैंने कहा—साहेब, इतने जानवर और उनके आदमी जो इन खतरनाक जोतों में जावेंगे, उनकी जान की जिम्मेवारी कौन लेगा ? इस पर साहेब बहुत बिगड़े—"यह गाँधीवाला मालूम होता है।" मेजर मेसन जैसे अंग्रेज कर्मचारी ही हैं, जिन्होंने भारत में अंग्रेजों को वैयक्तिक तौर से हमारे लिए असह्य बना दिया। उससे ज्यादा मुझे उनसे साबिका नहीं पड़ा। मैं इसे सुसंयोग समझता हूँ, जो मुझे किसी अंग्रेज की गुस्ताखी का सामना नहीं करना पड़ा, नहीं तो आत्मसम्मान की जो आग ऐसे वक्त मेरे हृदय में भड़क उठती है, उससे अनर्थ हो सकता था।

लदाख के राजा के प्रासाद, शंकरगुम्बा, पितोक्गुम्बा, फियाङ्-गुम्बा, सेह-प्रासाद आदि लेह के आसपास के दर्शनीय स्थानों को मैं देख चुका था। लाला शिवराम ने रास्ते के लिए सौ रुपये के करीब जमा कर दिये, और मैं आगे की यात्रा के लिए रवाना हुआ। तहसीलदार साहेब ने गंगाराम को हन्ले तक के लिए साथ कर दिया। रास्ते में ठिक्से की गुम्बा को देखता रात को चिमरे से आगे, पुराने राजप्रासाद के ध्वंस के पास सरकारी सराय में ठहरा। गंगाराम चपरासी से लदाख का कोई गाँव बचा न था। उसकी वजह से मुझे कोई तकलीफ न होती थी। वह गोवा (मुखिया) को पकड़ता। जहाँ सराय या ठहरने का सरकारी स्थान—और चाङ्-ला के आगे उसका अभाव था—न होता, वहाँ किसी अच्छे घर के सबसे अच्छे कमरे में ठहरने का इन्तिजाम होता। घोड़े पड़ाव-पड़ाव पर बदलते जाते। खाने का सामान मुखिया मुहैया करता, यद्यपि मैं दाम चुका देता। निरामिषाहार नियम को जो नवद्वीप के रास्ते में अजाने तोड़ा था, अब वस्तुतः वह भार मालूम होता था और दिल से बिलकुल टूट चुका था, किन्तु अभी खुल्लमखुल्ला उसकी अवहेलना नहीं कर रहा था, और इसकी वजह से इधर खाद्यसामग्री जुटानेवालों और मुझे भी तकलीफ़ हो रही थी। सराय में दो-एक लदाखी अरगोन (कश्मीरी मुसल्मान से लदाखी स्त्री का लड़का) मुसल्मान भी ठहरे हुए थे, वह चाङ्-थाङ् (लदाख और उसके पूर्वी सीमान्त मानसरोवर-ब्रह्मपुत्र से उत्तर, मध्य-एसिया तक फैला निर्जन प्रदेश) व्यापार के लिए जा रहे थे। उनके पास चाय, कपड़े, चीनी के बरतन, तथा दूसरी कारखानों की बनी चीजें थीं। चाङ्-थाङ् के खानाबदोशों (घुमन्तू) को वे इन चीजों को अगले साल ऊन, समूर, पट्टू आदि के बदले दे आते थे, दूसरे साल फिर अगले साल के लिए उधार देकर, पिछले साल की वसूली करते। खानाबदोश सीधे-सादे तथा लदाखी ग्रामीणों की भाँति बड़े ईमानदार होते हैं, इसलिए दुगना-तिगुना नफ़ा होना निश्चित था। आजकल (जुलाई या अगस्त 1926 ई.) उनके व्यापार का समय था।

दूसरे दिन हम जोत की तरफ़ बढ़े। इस जोत का नाम चाङ्-ला मैं पुराने स्मरण के सहारे कह रहा हूँ, हो सकता है इसमें गलती हो। यह लेह से पूरब तरफ़ है। यह भी खर्दोङ् की भाँति ही बहुत ऊँचा डाँडा (जोत) है, किन्तु इसकी चढ़ाई-उतराई उतनी तीखी नहीं है। मेरु पर दोनों तरफ़—उतराई की ओर वेशी—दूर तक बरफ़ थी। शाम से बहुत पहिले हम उस पार के गाँव में पहुँचे। उस गाँव का इतना ही स्मरण है, कि दूसरे दिन सवारी के लिए घोड़ा और सामान ले चलने के लिए दो या तीन औरतें मिली थीं। वह सभी एक उम्र की

तरुणियाँ थीं। बूढ़े गंगाराम को छंग (कच्ची शराब) पीने और मजाक करने का बहुत शौक था। वे तिब्बती भाषा में बोल रहे थे, इसलिए मैं तो समझ न पाता था, किन्तु बीच-बीच में ठहाका खूब लगता था। वैसे तो जोजीला पार होते ही वनस्पति विशेषकर वृक्षों का दर्शन दुर्लभ हो जाता है, किन्तु इधर तो उसका बिलकुल ही अभाव था। कारण स्थान की ऊँचाई और सर्दी थी। नदी पतली थी, किन्तु उसकी उपत्यका बहुत चौड़ी थी, और चारों ओर के पहाड़ नंगे थे। पश्चिमी हिमालय के रास्ते के सम्बन्ध में एक अंग्रेजी पुस्तक, सरकारी सर्वे विभाग से प्रकाशित, मुझे रावलपिंडी के एक कबाड़िये की दूकान में मिल गई थी, इसलिए उससे रास्ते की जानकारी में बड़ी मदद मिल रही थी। शायद दूसरे दिन हमें इस नदी को छोड़ दूसरी सूखी-सी उपत्यका पकड़नी पड़ी। रात को एक छोटे-से गांव में ठहरे। वहां के घरों में लकड़ी का नाममात्र उपयोग होने से वे अनगढ़ पत्थरों के ढेर से मालूम पड़ते हैं। लोग मुश्किल से सत्तूभर के लिए कुछ खेती कर लेते हैं, नहीं तो उनका गुजारा भेड़ और याक के दूध, मांस पर होता है। आग के पास बैठे हम चाय पी रहे थे, पास में घर की बूढ़ी दादी घुमौआ मानी (प्रार्थनाचक्र) लिये घुमा रही थीं। मैंने बातचीत में पूछा—'बूढ़ी दादी ! मरकर कहाँ जन्म लेने का मन है ?' झट जवाब मिला—'ग्यगर दोर्जेदन् (भारत बोधगया)।' मैंने कहा—'तो अभी चलो न, मैं उधर ही जा रहा हूँ।' लेकिन जीतेजी दोर्जे-दन् जाने के लिए बूढ़ी दादी तैयार न थीं।

आगे दो उपत्यकाएँ ऊपर उठती किसी पर्वत मेरु पर न मिलकर एक छोटे से तालाब को अपना जलविभाजक बनाती थीं, चढ़ाई-उतराई वहाँ इतनी कम थी, कि मालूम नहीं हुई। तालाब बहुत छोटा था, और उसमें सेवार की तरह की कोई घास फैली हुई थी। पानी स्वच्छ नहीं था। पुस्तक में इसका नाम चकर-तालाब देखकर, हिन्दी नाम मुझे कुछ अजीब-सा मालूम हुआ। गंगाराम ने कहा—कोई साहेब किसी पथ-प्रदर्शक के साथ यहाँ आया। साहेब के प्रत्येक प्रश्न का जवाब तुरन्त न दिया जाये, तो पथ-प्रदर्शक अयोग्य समझा जावे। साहेब ने पूछ दिया—'इस तालाब का नाम क्या है ?' पथ-प्रदर्शक बिना एक मिनट की देरी के बोल उठा—'चकर हुजूर !' चा-कर (पक्षि-श्वेत) का अर्थ सफ़ेद चिड़िया है। पथ-प्रदर्शक की नजर उस पर पड़ी, और उसने वही नाम रख दिया।

मन्-पङ्-गोङ् झील के पास उपत्यका टेढ़ी-मेढ़ी हो गई थी, और हम उसके बहुत पास आ गये जब कि झील पर हमारी नजर पड़ी। मन्-पङ्-गोङ् नीले पानी की पचासों मील तक फैली एक टेढ़ी-मेढ़ी झील है, इसका आधे से अधिक भाग तिब्बत की सीमा के भीतर है। पानी स्वच्छ दीख पड़ता है, किन्तु उसमें कोई मछली नहीं। लोग कहते हैं, पानी में जहर है, इसलिए मछली जी नहीं सकती। जाड़ों में पानी जम जाता है, उस वक्त आदमी उसके ऊपर से रास्ता बना लेते हैं।

हमें उस दिन जिस गाँव में रहना था, वह पच्छिम-उत्तर के कोने पर था। शायद दो या तीन घर थे। जब सभी भाइयों के लिए एक ही स्त्री मिलनेवाली हो, तो एक से दो घर होने की वहाँ सम्भावना कहाँ, इसलिए ये दो घर 'सृष्टि की आदि' से चले आते समझिए। गाँव में पहुँचने के बाद जो हवा शुरू हुई, तो वह रात तक चलती रही, जिसके कारण सर्दी और बढ़ गई थी। गंगाराम ने रोटी बनाई, दूध के साथ भोजन किया। गंगाराम को तो गाँव में पहुँचने के साथ छंग मिलनी जरूरी थी, और लदाख के गाँवों के लिए वह तहसीलदार साहेब से कम न था। पहुँचते के साथ छंग की मटकी उनके सामने आ उपस्थित होती।

दूसरे दिन हम पूरब की तरफ़ झील की ओर मुड़े। कल की उपत्यका का मुँह पार किया। आसपास के पहाड़ बहुत छोटे, टीले-से मालूम होते थे, जिनके सानुओं और कक्षों में भारी बालुका राशि जमा थी। दोपहर की चाय हमने एक छोटे-से गाँव में पी। यहाँ खेतों में सिर्फ़ छोटी मटर दिखलाई पड़ी। चौदह हजार फ़ीट से ऊपर भी खेती हो सकती है, इसका नमूना यहीं देखा। छोटी मटर के अतिरिक्त शायद नंगा जौ ही था, जो यहाँ पक सकता था। आगे भी रास्ता झील के तट के पास से था। वहाँ जमीन से बड़े-बड़े वृक्षों के निम्न भाग खोदकर निकाले जाते थे। आज तो यहाँ वीरी जैसा बेशरम वृक्ष भी दातुवन लायक ही रह जाता है, किन्तु पहिले किसी युग में मालूम होता है, यहाँ की आंबहवा इतनी सर्द न थी; हो सकता है, उस वक्त हिमालय की ऊँचाई भी इतनी न रही हो, जब कि यहाँ इस तरह के विशालकाय वृक्ष होते थे।

एक छोटी-सी मानी के पास से हमारा रास्ता दाहिनी ओर मुड़ा। शायद उधर से कोई छोटी-सी नदी भी आ रही थी। आगे नई उपत्यका जो मिली, वह हरी घास का मैदान-सा मालूम हो रही थी, जिसमें जहाँ-तहाँ हजारों याक (चँवरी गायें) चर रही थीं। उसके किनारे-किनारे हमें घंटों चलना पड़ा, और चार बजे के करीब एक अपेक्षाकृत बड़े गाँव में पहुँचे। यहाँ एक छोटा-सा वीरी का बाग था, जो शायद राज की ओर से लगाया गया था। इसके वृक्ष बहुत छोटे-छोटे थे। आगन्तुकों–विशेषकर सरकारी आदमियों के–ठहरने के लिए वहाँ एक छोटा-सा घर था। चीनी, सूखा फल तो हमारे पास था, किन्तु यहां साग और तरकारी नहीं थी। श्रीनगर में मैंने एक कश्मीरी पंडित के यहाँ छेने (पनीर) की तरकारी खाई थी, जो स्वाद में बिलकुल मछली-सी मालूम होती थी। दूध की वहाँ कमी न थी। मैंने गंगाराम से छेना से तरकारी बनाने के लिए कहा, खुद भी सहायता की, किन्तु छेने की टिकिया को घी में भूनकर बनाने की विधि से परिचय न होने से छेना टूट-टाटकर रबड़ी-सा बन गया। शाम को मैं गाँव की गुम्बा (मठ) देखने गया। बुद्ध की मूर्त्ति के अतिरिक्त वहाँ कितनी ही युगनद्ध (यब्-युम्-मैथुनासक्त) मूर्त्तियाँ थीं। ऐसी मूर्त्तियों को लदाख में पहिले-पहिल देखकर मुझे तिब्बत के बौद्ध-धर्म पर बहुत गुस्सा आता था; क्योंकि उस वक्त मैं यह न समझ पाया था, कि यह भी भारत की देन है।

अगले दिन फिर हमें नये घोड़े मिले। हम एक जोत की ओर बढ़े। रास्ते में दूसरे गाँव का स्मरण नहीं। जोत के देवता के स्थान पर झंडियाँ और सैकड़ों वर्षों से पूजा में चढ़ी याक, हिरन के अतिरिक्त जंगली भेड़े की मोटी-मोटी सींगें भी थीं। चढ़ाई की भाँति उतराई भी आसान थी, और दोपहर को हम याकवालों के काले तम्बुओं में पहुँचे। लदाख के कुत्ते भी बहुत बड़े होते हैं, किन्तु यहाँ के लम्बे-लम्बे काले बालोंवाले विशाल कुत्ते तो बहुत खूँख्वार मालूम होते थे। लेह में ही सुन चुका था कि चाङ्-थाङ् के कुत्ते बहुत खतरनाक होते हैं, दूसरी जगह तो घोड़े के सवार को वे भूँककर ही छोड़ देते हैं, किन्तु यहाँ वे कूदकर हमला कर देते हैं; इसलिए मैं ज्यादा भयभीत रहता था। तम्बुओं के पास पहुँचते ही दो-तीन कुत्ते 'हाँव-हाँव' करके पास दौड़ आये। खैर, तम्बूवालों ने पहुँचकर उन्हें भगाया। गंगाराम से 'जू-ले' (प्रणाम) होने लगा। एक तम्बू में हमारे बैठने के लिए स्थान बनाया गया, और थोड़ी देर में आग पर देगची की चाय खौलने लगी। खूब आड़े हाथ मक्खन डाल चाय तैयार हुई, और मैंने अपनी प्यास बुझाई। गंगाराम के लिए छंग की ठिलिया हाजिर थी।

तम्बुओं से सिन्धु के पारवाले पहाड़ हमें बिलकुल साफ़ दिखलाई पड़ रहे थे, किन्तु चलने पर हमें मालूम हुआ कि यहां के स्वच्छ वायुमंडल में दूरी नापने में दृष्टि बड़ी भ्रामक होती है। दो बजे के करीब हम रवाना हुए। सूर्यास्त हुआ, किन्तु अब भी वे पहाड़ उतनी ही दूर पर थे। अँधेरा हुआ, घंटा-भर रात गई, अँधेरे में साफ़ नहीं दीख रहा था, किन्तु अब भी सिन्धु की धार का पता नहीं था। हमें दूर आग की रोशनी दिखाई पड़ी। उसके पीछे भी घंटे-डेढ़ घंटे चले। आग कभी-कभी बुझ जाती थी। गंगाराम उधर ही जाना चाहते थे, और मैं निराश होकर चाहता था, कहीं विश्राम करना। मैंने गंगाराम से कहा–'अरे, वह आदमी की जलाई आग नहीं है। मालूम होता है, कोई भूत हमें धोखा देना चाहता है।' गंगाराम ने कबूल किया–'इधर भूत बहुत हैं, और कभी-कभी वे मुसाफ़िरों के साथ ऐसी चाल चलते हैं।' उनको भूत की बात सच मालूम हुई, और फिर अन्दाज से नदी की धार की ओर हम बढ़े। नौ बजे के करीब हम पानी के पास पहुँचे। गंगाराम का इरादा था रात ही को नदी पार कर जाना, किन्तु शाम को हिमानियों से गलकर आया पानी कई गुना बढ़ जाता है। घोड़े की पीठ पर चढ़कर गंगाराम थाह लेने गये, पानी ज्यादा था। रात को कहीं पानी और न बढ़ आये, इसलिए जल के किनारे से, कुछ हटकर हमने रात के विश्राम का इन्तिजाम किया। कपड़े हमारे पास काफ़ी थे, इसलिए सर्दी के लिए बेफ़िक्र थे। रात को चाय का इन्तिजाम हो नहीं सकता था, इसलिए हम लोग बिना खाये-पिये ही सो गये।

सबेरे गंगाराम घोड़े की नंगी पीठ पर चढ़कर धार की थाह ले आये। सिन्धु यहाँ गहरी न थी, जाँघ बराबर पानी था। पहिले सामान फिर हम लोग पार उतरे। अब हम नदी के बायें किनारे से चल रहे थे। पहाड़ कहीं नजदीक और कहीं दूर हट जाते थे। इस तरफ़ से भेड़ों (अधिकतर नर) के झुंड पीठ पर नमक और दूसरा सामान लादे चले जा रहे थे। उनके साथ एक-दो गदहे भी थे, जिन पर तम्बू, चा-दुङ् (चाय मथने का

लम्बा फोंका) और दूसरा सामान लदा हुआ था। साथ में कुछ पुरुष और स्त्रियाँ थीं। उस वक्त मेरे दिल में एक जबर्दस्त लालसा पैदा हुई।—क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक-दो गदहों, और एक तिब्बती तरुणी के साथ एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता। जहां मन आता वहां तम्बू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ों से सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीजों की रखवाली करते। तरुणी चाय बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पार्वत्य-उपत्यका में हम दोनों एक निर्द्वन्द विचित्र-सा जीवन बिताते। जीविका के लिए हम कुछ विक्रेय चीजें रखते, जिन्हें एक जगह से दूसरी जगह बदला करते। इस प्रकार कभी लदाख, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्र की उपत्यका में टशील्हुन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् (चीन के पास पूर्वीय तिब्बत का प्रान्त) हमारे पैरों के नीचे रहता। फिर सोचा, मानसरोवर और तिब्बत के डाकुओं से हम दोनों बच कैसे निकलते ? और जीवन की और भी तो बहुत-सी लालसाएँ हैं, जवानी भी चिरस्थायी नहीं है; यह तो तब हो सकता था, जव कि जीवन हजार वर्ष का होता, जिसमें जवानी के नकद पाँच सौ साल होते। क्या लालसा मात्र से जीवन को बढ़ाया जा सकता है ? यह समझने पर भी मेरी लालसा दबी नहीं। उसने एक कोने में स्थायी स्थान ग्रहण किया।

कितने ही मील चलने के बाद हम बाईं ओर के एक नाले में मुड़े, वह हन्ले से आ रहा था। अगला गाँव तीन-चार घरों का था। सभी दरवाजे बन्द थे, किन्तु ताले उनमें न थे। गंगाराम ने आवाज दी, किन्तु वहां जब कोई हो, तब न बोले। पास के जौ के खेतों में हिरन चर रहे थे। गंगाराम को देखकर वह भाग गये। घोड़े यहाँ बदलने थे, और भूख भी जोर की लगी हुई थी। नदी से दो-तीन मील ऊपर जाकर गंगाराम घर के मुखिया को पकड़ लाये। वह वहीं तम्बू में चलने के लिए कह रहा था, किन्तु हम बहुत भूखे थे।

खाना खाने और विश्राम करने के बाद हम फिर नये घोड़ों पर रवाना हुए। आज हन्ले पहुँचने की कम सम्भावना थी। गाँववालों के तम्बुओं को बाईं ओर छोड़ते एक विशाल उपत्यका में चल रहे थे, उस समय कितने ही 'घोड़ों' को मैंने दूर से अपनी ओर घूरकर देखते देखा। गंगाराम ने बतलाया ये घोड़े नहीं क्याङ् (जंगली गदहे) हैं। मैंने कहा, इन्हें पकड़कर लादते क्यों नहीं। गंगाराम ने बतलाया—'क्याङ् का एक तो पकड़ना ही आसान नहीं, यदि पकड़ भी लिया, तो वे पालतू नहीं बनाये जा सकते, मरने से बचने पर वह भाग जाते हैं।' वे मझली राशि के घोड़ों के बराबर थे, पेट कम और छरहरा बदन था। मुँह के कुछ मोटेपन तथा गदहों जैसी दुम को छोड़ देने पर वे बिलकुल घोड़ों जैसे मालूम होते थे। शाम हो गई, अँधेरा छा गया, घड़ी-भर रात भी बीत गई, तब गंगाराम ने आज ही हन्ले पहुँचने के इरादे को छोड़ दिया। हमारी बाईं तरफ़ कुछ तम्बू दिखलाई पड़े। हमने घोड़े उधर को मोड़े। दर्जनों कुत्तों की 'हाँव'-'हाँव' को सुनकर मैं तो ठहर गया, और गंगाराम ने किसी आदमी को कुत्तों को खदेड़ने के लिए कहा। हन्ले के कुत्ते और भी खूँख्वार होते हैं, यह मैं हेमिस लामा से सुन चुका था।

याकों के बाल के एक काले तम्बू में हमें जगह मिली। तम्बू के बीच में आग जल रही थी, धुआँ निकलने के लिए ऊपर तम्बू थोड़ा कटा हुआ था। ग्यगर (भारत)- लामा कहने पर घरवालों पर और भी प्रभाव पड़ा। गृहिणी ने नया पानी नया चाय डालकर देगची को आग पर रखा। मट्ठा से मुझे बहुत प्रेम है, और मेरे कहने पर गाढ़े मट्ठे की एक कठौती भरकर चली आई। तम्बू के भीतर चारों ओर किनारे-किनारे चीजों की छल्ली लगी हुई थी। एक प्रधान स्थान पर चौकी के ऊपर कुछ मूर्त्तियाँ रखी थीं, जिनके सामने पीतल के चिराग में घी की बत्ती जल रही थी। पास के तम्बू में खबर लगने पर पायजामा और कोट पहिने कनटोप उलटकर बनी गोल टोपी दिये एक अधेड़ आदमी आया। उसने 'राम राम' कह हिन्दी में बातचीत शुरू की। वह कनौर (बुशहर-रियासत) से व्यापार के लिए आया हुआ था। देश की चीजों के बदले ऊन खरीदना बस यही उसका व्यापार था। उससे रास्ते के बारे में पूछा, और मालूम हुआ, चलता रास्ता है, तिब्बत के इलाके तक में ही तकलीफ़ है, कनौर पहुँचने पर तो देश-सा मालूम होने लगेगा।

सबेरे एकाध घंटे ही में हम हन्ले गुम्बा (मठ) में पहुँच गये। हन्ले गुम्बा हेमिस गुम्बा की शाखा है। हेमिस लामा ने मेरे बारे में पत्र लिखा था, और ऊपर से तहसीलदार का चपरासी मेरी अर्दली में था, फिर

खातिर के लिए क्या पूछना। गुम्बा एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है, नीचे उसकी दो तरफ़ हरी घासों से ढँकी उपत्यका है। आसमान में घिरे बादल, जमीन पर बिछी हरी घास और स्थान की ऊँचाई ने मिलकर हन्ले को ज्यादा शीतल बना दिया था। लामा के खातिर करने की सबसे अच्छी चीज तो मांस है, किन्तु उसे मैं खा नहीं रहा था, इसलिए उन्होंने दही, घी, दूध से ही सत्कार किया। सबसे सजे हुए कमरे में मुझे ठहराया गया। जम्बू से पैदल चलकर आनेवाले एक तरुण संन्यासी ने श्रीनगर में कुत्तों से बाल-बाल बचने की आपबीती सुनाई थी, इसलिए लदाख पहुँचने से पहिले ही एक बड़ा कुत्ता साथ रखने का मैंने संकल्प कर लिया था। मैंने हेमिस लामा से एक कुत्ता माँगा, तो उन्होंने कहा–'हन्ले के कुत्ते डीलडौल में बड़े और मजबूत होते हैं, मैं वहाँ चिट्ठी लिख देता हूँ, वहाँ से आप कुत्ता ले लेंगे।' चिट्ठी पढ़कर मठ का अधिकारी कुत्ते की तलाश करने लगा। फिर उसने एक पेकिनी (चीनी) कुत्ती मेरे सामने रखकर कहा–'बड़े कुत्ते बेवकूफ़ होते हैं, यह कुत्ती हमारे पास ल्हासा से आई है। आप भारत के लामा हैं, मैं आपको इसे ही भेंट करना चाहता हूं।' कुत्ती छोटी और बहुत सुन्दर थी। उसके बाल लाल थे। बड़ी-बड़ी आँखें, कानों के पास लटकती अलकें बहुत सुन्दर मालूम होती थीं। मालिक के इशारा करने पर कुत्ती अपने अगले दोनों पैरों को ऊपर उठाये चिपटी नाक को और भी चिपटी कर पिछले पैरों पर बैठ गई। मैंने बुलाया, झट मेरी गोद में आ गई। दूसरे दिन तो वह मेरे पीछे-पीछे घूमने लगी। मैंने उसे ही लेना स्वीकार किया।

आगे जोत पार तिब्बत की सीमा में काफ़ी जाने पर गाँव मिलनेवाला था। गंगाराम ने कहा–'यहाँ से चलकर गुम्बा के याक-कैम्प में रात को रहा जावे, सबेरे आप उधर चले जाइयेगा, और मैं लेह को लौट जाऊँगा।' हन्ले से रवाना होते वक्त सेङ्-टुक (यही उस कुत्ती का नाम था) के गले में ऊन की रस्सी डाल मैंने अपने घोड़े पर बैठा लिया। वह बार-बार नीचे उतरने के लिए जोर मार रही थी। मैंने समझा, शायद गुम्बा की ओर भागना चाहती है, इसलिए पहिले तो नहीं उतारा, किन्तु दो-ढाई मील चलने पर जब उसे जमीन पर रख दिया, तो वह हमारे पीछे-पीछे चलने लगी। गर्दन से रस्सी निकाल ली गई, और उसे पैदल ही चलने दिया गया। दोपहर की चाय हमने काले तम्बुओं में पी, और सूर्यास्त से पहिले ही गुम्बा के कैम्प में पहुँच गए। यहाँ गुम्बा की सैकड़ों याकें चर रही थीं। एक बड़े तम्बू में पूजा, खाने-पीने की सामग्री के साथ-साथ चमड़े में बन्द मक्खन की बड़ी-बड़ी चाकियाँ तथा छुरे (सूखे पनीर) की बोरियाँ रखी थीं। कैम्प का प्रधान गुम्बा का एक साधु बड़े रोबदाब से दर्जन से अधिक स्त्री-पुरुषों पर हुकूमत चला रहा था। इन लोगों का काम था, याकों का चराना, दूहना, मक्खन बिलोना, छुरा तैयार करना और उन्हें हन्ले, फिर हेमिस के लिए रवाना करना। जब हम पहुँचे, तो कुछ स्त्रियाँ ढोलकी की तरह के मिट्टी के बरतनों में–जिसका छोटा-सा मुँह, लम्बाई-गोलाई के बीच में था–दही डाले हिलाकर मक्खन बिलो रही थीं। मक्खन के छूट जाने पर वह थोड़ा गरम पानी डालतीं, फिर मक्खन अलग करतीं। सारे मट्ठे को वहाँ कौन पीता ? मट्ठे को फिर आग पर चढ़ाया जाता, और पानी फट जाने पर छानकर गाढ़े भाग को बर्फ़ी की तरह काटकर तथा सूत में पिरो धूप या हवा में डाल दिया जाता, यही सूखकर छुरा होता। छुरा बहुत चिमड़ा, और खाने में कुछ खट्टा-सा होता है। प्यास के मारने में वह बहुत सहायक होता है।

गंगाराम को अब लौटना था। नुब्रा और इधर की सारी यात्रा में उनकी वजह से मुझे बहुत आराम रहा, इसके लिए मैंने उनसे शब्दों में ही नहीं बल्कि कुछ रुपयों के रूप में भी कृतज्ञता प्रकट की। गंगाराम बहुत खुश हुए और तहसीलदार साहेब को एक चिट्ठी लिखने के लिए कहा। मैंने उनकी तारीफ़ के साथ चिट्ठी लिख दी, लाला शिवराम को भी एक पत्र लिखा।

दूसरे दिन दो घोड़ों और एक आदमी के साथ मैं आगे के लिए रवाना हुआ। जोत तक पहुँचने में कई घंटे लगे। चढ़ाई शुरू होने पर मैंने सेङ्-टुक को अपने सामने घोड़े पर रख लिया, लेकिन वह बार-बार उतरकर पैदल चलने के लिए छटपटाती थी, मैंने उसे नीचे उतार दिया। चढ़ाई तीखी और लम्बी थी, जोत 18,000 फ़ीट से कम ऊँची न रही होगी। सेङ्-टुक घोड़ों के ठहरने के साथ ठहरती और चलने के साथ चलती रही। बर्फ़ सब गल गई थी, और मेरु पर से बहुत दूर कुछ हिमाच्छादित चोटियाँ दिखलाई पड़ रही थीं। उतराई

भी काफ़ी थी, और हम उसे पूरा तै किये बिना ही पानी के पास-पास एक-दो तम्बुओं को देखकर रात के विश्राम के लिए ठहर गये।

सेङ्-टुक को सत्तू की गोली दी। उसने नहीं खाया। वह चुपचाप अत्यन्त श्रान्त हो मेरे बिछौने पर पड़ी थी। आदमी ने मट्ठा दिया, उसे भी नहीं पिया। फिर पड़ोसी से गोश्त मांगकर दिया, उसकी एकाध टुकड़ियों को खाकर उसने छोड़ दिया। शाम को उसे खाँसी आने लगी। रात को कितनी ही बार बिछौने से उठ-उठकर वह पाखाना-पेशाब के लिए जाती रही, और मुझे मालूम हो गया उसे बहुत तकलीफ़ हो रही है। सबेरे जब मैं नदी-किनारे हाथ-मुँह धोने गया, तो उसने मेरा अनुगमन किया। चाय पीकर जब मैं चलने के लिए घोड़े पर सवार हुआ, तो सेङ्-टुक खड़ी होकर मेरे मुँह की ओर कातर दृष्टि से देखने लगी। उसकी सुदीर्घ काली-काली आँखों में अपार करुणा भरी हुई थी, मैं समझ गया, अब उसमें पैदल चलने की शक्ति नहीं है। मैंने उसे अपनी गोद में ले लिया। उसके शिथिल होते शरीर को देखकर, मैंने समझा, कल की चढ़ाई और रात की भूख से यह शिथिल पड़ रही है। दो-तीन मील चलने पर पहिला घर मिला, मैंने एक कटोरी दूध लाने के लिए आदमी को भेजा। गृहपति को कलछी-भर दूध लेकर आते देख, मैंने सेङ्-टुक को उठाया। उसका शिर लटक गया। मैंने धड़कते हुए हृदय से उसके शरीर, मुँह, हृदय की गति को टटोला; वह निष्प्राण थी ! मैंने इतनी मात्रा में और अचानक पीड़ा कभी नहीं अनुभव की थी। असली मानी में मैं उस वक्त विचार-शून्य हो गया। मुझे सिर्फ़ एक तीव्र वेदना-मात्र कलेजे में अनुभव हो रही थी। मैंने संज्ञाहीन-सा हो सेङ्-टुक के मृत शरीर को वहीं छोड़ दिया, और घोड़े को आगे बढ़ाया। घोड़ा बदलनेवाले गाँव में पहुँचकर मुझे खयाल आया—मैंने सेङ्-टुक के शव के प्रति श्रद्धा नहीं दिखलाई, उसे एक जगह गाड़ तो देना चाहिए था। मैंने आदमी को कुछ पैसे दिये, और बहुत प्रार्थना करके वचन लिया, कि वह उसे गाड़ देगा। मेरे मन की पीड़ा बढ़ती ही जाती थी। कितनी ही बार मेरी आँखों से आँसू निकल आये। माता और पिता के मरने पर, तथा मेरे लिए प्राण देनेवाले नाना-नानी के मरने पर भी जो आँखें नहीं पसीजीं, उनमें आज छल-छल आँसू उमड़ आ रहे थे। उसी रात को मैंने सेङ्-टुक की मृत्यु के कारण अतिसन्तप्त हृदय से आठ श्लोक (सेङ्-टुकाष्टक) लिखे, जिनका अन्त होता था—'सेङ्-टुके ! त्वत्प्रयाणे'।

मुझे मालूम होता था, उस सुन्दर चीज की हत्या मेरे इन दोनों हाथों ने की।

तिब्बत में—जोत पार कर अब मैं पश्चिमी तिब्बत के छू-मूर्ति इलाके में था। प्राकृतिक दृश्यों में अभी कोई अन्तर नहीं पड़ा था। स्त्री-पुरुषों की पोशाकं में कुछ विशेष तिब्बतीपन झलक रहा था। गांव के मुखिया के घर में छोड़कर घोड़ेवाला चला गया। उस वक्त मुझे यह मालूम नहीं था, कि आगे के लिए सवारी का इन्तिजाम करना यहां इतना मुश्किल होगा। मुखिया कहीं बाहर गया हुआ था। गृहिणी ने बतलाया, कि अभी उसके आने की जल्दी उम्मीद नहीं है। ऊपर के कोठे पर एक अँधेरे से मकान में मुझे ठहराया गया। मैं काफ़ी दिन रहते पहुँचा था। दिन तो छत से विस्तृत उपत्यका को देखते, और अर्धमूक वार्त्तालाप में बीत गया। रात आते पिस्सुओं की पलटन ने जब ताबड़-तोड़ हमले शुरू किये, तो परेशानी बढ़ी। रात के बीतने के साथ उनकी संख्या और चोट बढ़ चली, उस वक्त नींद कहाँ लग सकती थी ? सारे बदन में आग, और काटने की जगहों पर चकत्ते पड़ गये। मुझे वह रात आसपास के पहाड़ों से भी बहुत बड़ी मालूम हुई।

पैसे मेरे पास थे, और खाने की चीजों में कुछ चीनी और सूखे फल थे। सत्तू और आटा गाँव में भी मिलता था, किन्तु तरकारी के स्थान पर दूध-भर का बन्दोबस्त हो सकता था। गृहिणी अधेड़ स्त्री थीं, घर में एक-दो नौकर, एक-दो बच्चों के सिवाय और कोई न था। भाषा की बड़ी दिक्कत थी, तो भी जहाँ तक घर की मालकिन का सम्बन्ध था, उनका बर्ताव रूखा न था। दूसरे दिन को भी किसी तरह बिताया, और पिस्सुओं से बचने के लिए मैंने आँगन में बिस्तरा किया। तीसरे दिन मुखिया का बड़ा लड़का भेड़ों में से आया। उसने बतलाया, घोड़े नहीं मिल सकते। मुझे ठीक से याद नहीं, उस गाँव में कितने दिन रहने पड़े। किन्तु दिक्कतें और आगे चलने की चिन्ता इतनी अधिक थी, कि मालूम होता था, महीनों नहीं तो हफ्तों रहने पड़े।

घोड़ों से निराश होकर मैंने सामान ले चलने के लिए आदमी मांगा, और उसका मिलना भी आसान न

था। लदाख में तो तहसील की सहायता थी, लामा (महन्त) लोग भी परिचित हो गये थे, किन्तु यहाँ मेरे पास कोई सरकारी परिचय-पत्र न था। हेमिस लामा का एक साधारण पत्र था, जिसकी ये लोग उतनी ही कद्र कर सकते थे, जितने में उन्हें कोई तरद्दुद न उठाना पड़े। आखिर एक आदमी दुगुनी-तिगुनी मजदूरी पर मिला, और मैं उन पिस्सुओं को याद करते वहाँ से रवाना हुआ। गांव में ठहरने की तकलीफ़ें इतनी थीं, कि चलते वक्त सेङ्-टुक की मृत्यु का धक्का दिल पर बहुत कम रह गया था।

गाँव से निकलने पर बहुत-सी भेड़ों पर सामान लादे कनौर का एक व्यापारी घोड़े पर चढ़ा आता मिला। उसने रास्ते को अच्छा बतलाया। स्पिती की नदी और रास्ते को पार कर शाम को रारंग (?) जोत से पहिले ही भेड़वालों के एक अड्डे पर पहुँचे। 'दूध का जला मट्ठा फूँककर पीता है'–सोच मैंने उनकी दीवार के भीतर न जा बाहर ही भेड़ों के बैठने की जगह में बिस्तरा बिछाया। लेकिन रात को यहां भी, मालूम होता है, पिस्सुओं के पास उनके भाइयों का तार आ गया था। दो-एक बार जगह बदलने के बाद मैंने भेड़ों की जगह छोड़ दी। मालूम होता है, भेड़ें भी पिस्सुओं को पोसती हैं।

बुशहर-रियासत–रात के स्थान से जोत बहुत दूर न थी। चढ़ाई भी उतनी मुश्किल न थी; हाँ, उतराई कुछ कठिन जरूर थी। अगला गाँव रारंग था, जहाँ हम दोपहर तक पहुँच गये। जोत को लाँघते ही मैं बुशहर-रियासत में आ गया था। रारंग के बड़े गाँव तथा उसके प्रधान के अच्छे साफ़ घर तथा भद्रोचित पोशाक को देखकर मुझे बड़ी आशा बँधी। हेमिस के लामा ने प्रधान के नाम मेरे लिए एक खास पत्र दिया था, किन्तु उसे पढ़कर मुखिया के ऊपर अच्छा असर पड़ने की तो बात ही अलग, चेहरे पर अँधेरा छा गया। उसने कहा–यहाँ घोड़ा कहाँ मिलेगा। मैंने कहा–घोड़ा नहीं आदमी ही दे दो। उत्तर मिला–मुश्किल है।

छत पर बाहर ही मेरा सामान रखवाया गया था। चाय-पानी के इन्तिजाम तक का होना मुश्किल था। मुझे पिछले तिब्बती गाँव का तजरबा भूला न था, इसलिए यहाँ ज्यादा समय उस शशपंज की स्थिति में खोना नहीं चाहता था। खैरियत यह थी, कि भाषा के सम्बन्ध में अब मैं अधिक स्वतन्त्र था, यहाँ के बहुत से आदमी हिन्दी समझते थे। मैंने सामान को वहीं छोड़ा। बोझा ढोनेवाले आदमी और खाने के प्रबन्ध के लिए गाँव में निकल पड़ा। एक जगह तम्बू ताने कुछ स्पितीवाले स्त्री-पुरुष पड़े हुए थे। मैं उनके पास गया। वे लोग अमृतसर, लाहौर घूमे हुए थे। गाना-नाचना उनका व्यवसाय था। मैंने वहाँ एक लड़के को कुछ पैसे दिये, और कहा कि मुझे हरे गेहूँ का होला भूनकर प्रधान के घर पर पहुँचा दो। जब वह होला पहुँचाने आया तो प्रधान के बर्ताव से मालूम हुआ, कि वह इन स्पितीवाले गायक-नर्तकों को नीच जाति का समझता है। खैर, मुझे उसकी क्या परवाह थी, मैंने होला लेकर खाया। दूसरी बार गाँव में घूमने पर एक तरुण व्यापारी से भेंट हुई। वह हिन्दी खूब बोल लेता था। उसने बड़ी खातिर से बैठाया, चाय पिलाई। मैंने अपनी कठिनाई को कहा, तो उसने उत्साहित करते हुए समझाया–इधर के लोग बहुत रूखे होते हैं, किन्तु अब आप नजदीक आ गये हैं। आगे आपको कष्ट नहीं होगा। घोड़े तो आजकल तिब्बत की ओर चले जाते हैं, किन्तु भार ढोनेवाला आदमी मिल जायेगा। मेरा यह गाँव नहीं है, तो भी मैं कोई मजदूर ठीक कर दूँगा। शाम को मैं अपना सामान उठवाकर उस तरुण के ठहरने की जगह में चला आया। यह ऐसी जगह थी, कि यदि एकाध दिन रहना भी पड़ता, तो मुझे बुरा न मालूम होता।

दूसरे दिन तरुण ने मुझे एक नौजवान–जो पहाड़ में नीच समझी जानेवाली लोहार जाति का था–भरिया दे दिया। उसकी पीठ पर सामान रखे मैंने उस स्वागत-शून्य गाँव को छोड़ा। भरिया ने इस इलाके के दूसरे गरीबों की तरह दो-तीन जाड़े शिमले में मजदूरी करने में बिताये थे, इसलिए कहा जा सकता है, कि वह देश देखा हुआ आदमी था। सिन्धु को जब से छोड़ा, तभी से रास्ता खराब मिलने लगा था, तो भी पहिली जोत तक कोई दिक्कत न थी। दूसरी जोत का रास्ता भी कुछ सह्य था, किन्तु अब रास्ता बहुत खराब यद्यपि प्रदेश अपेक्षाकृत गरम था। हम एक कोने की तरफ़ मुड़ रहे थे, मैंने समझा वहाँ, किसी धार को पार करना होगा। किन्तु यकायक हमारे सामने एक दूसरी ही धार आ गई। तीन-चार सौ फ़ीट ऊपर से नीचे हजार फ़ीट तक 80 डिग्री के झुकाव पर–करीब-करीब सीधी–एक धूल और छोटे-छोटे पत्थरों की धार मन्दगति से गिर रही

थी। मैं तो समस्या पर विचार करने लगा, किन्तु नौजवान छलाँग मारते हुए एक पैर को धार से छुआते दूसरे पार चला गया। उस चल धूलि पर पैर रखते मुझे मालूम होता था, कि मैं धार के साथ हजार फ़ीट नीचे खड्ड में चला जाऊँगा। नौजवान समझा रहा था—डरिए मत, हलके से पैर रखते, बिना एक सेकंड की देर किये दूसरे पैर को इस पार रख दीजिए, किन्तु मेरी सारी तर्कशक्ति नौजवान की बात और उसके क्रियात्मक उदाहरण के पक्ष में नहीं हो रही थी। प्रश्न था—आगे चलना है, या फिर इसी प्रधान के गाँव की ओर लौटना है। अन्त में मैंने हिम्मत की। उतनी फुर्ती से तो पैर को मैं उठा न सका हूँगा, किन्तु जब दूसरा पैर सही-सलामत परले पार की ठोस भूमि पर पड़ गया, तो जान में जान आई।

दोपहर को रास्ते में हमने चाय पी। पहाड़ी दृश्य यहाँ भी लदाख ही जैसा था, सिर्फ़ स्थान कुछ गरम मालूम होता था। तरुण व्यापारी का गाँव काफ़ी बड़ा था। उस वक्त वहाँ अभी गेहूँ के खेत बिलकुल हरे थे, इसलिए मालूम होता था, हम अभी काफ़ी ऊँचे हैं। पिछले गाँव से इस गाँव के स्त्री-पुरुषों की पोशाक में कुछ फर्क था, यहाँ के घरों में लकड़ी का व्यवहार कुछ ज्यादा था—यद्यपि छू-मूर्ति की अपेक्षा रारंग में भी लकड़ी का व्यवहार ज्यादा था; तो भी वहाँ सफ़ेदे और वीरी के अतिरिक्त शायद खूबानी के एकाध दरख्त दिखलाई पड़े थे।

तरुण व्यापारी की चिट्ठी ने काम किया और दूसरे दिन आसानी से एक भरिया मुझे अगले गाँव तक पहुँचाने के लिए मिल गया। भरिया ने एक-दो बालिश्त की लकड़ी तथा पाँच-सात हाथ लम्बी रस्सी साथ ले ली थी, मैंने समझा, शायद लौटते वक्त कुछ सामान उसे लाना होगा। रास्ता सारा उतराई ही उतराई का था। नीचे हम घोर गर्जन करती एक नदी के किनारे पहुँचे। देखा, वहाँ परले पार जाने के लिए सिर्फ़ एक इंच मोटा लोहे का तार है, जिसके दोनों सिरे दोनों तटों के चट्टानों पर पाषाण-राशि से दबाये हुए हैं। भरिया ने सामान जमीन पर रख दिया। तार के बराबर गहरी रेखा छिले लकड़ी के टुकड़े को उस पर रखा, फिर रस्सी को लकड़ी की पीठ पर बनी गहरी रेखाओं में लपेटकर नीचे दो फन्दे झुलाये। पीठ पर भार लिये भरिया ने अपने दोनों पैरों को दोनों फन्दों में जाँघ तक डाल दिया, और फिर तार को हाथ से दूहता सरसर आगे बढ़ने लगा। धार काफ़ी चौड़ी थी, और चट्टानों के बीच नीचे की ओर बहुत तेजी से बहते हुए गम्भीर गर्जन और खौलते पानी के रूप में जा रही थी। भरिया जाते वक्त मुझसे कहता गया, कि मैं सामान उस तरफ़ रखकर आता हूं तो आपको भी ले चलता हूं।

मैं कभी उस खौलते गरजते हुए पानी की ओर देखता, कभी उससे कई हाथ ऊपर लटकते उस पतले तार पर नज़र दौड़ाता। धूलि की नदी के पार करने से कुछ हिम्मत बँधी थी, किन्तु वह इतनी न थी, कि इस तार पर की यात्रा को आसान बना देती। भरिया इस तरफ़ लौट आया, उसने मेरे लिए भी एक वैसा ही फन्दा बनाया। जाँघ फँसाते वक्त मेरे कलेजे की धड़कन बहुत बढ़ गई थी, और जब पैरों ने चट्टान को छोड़ दिया तो उसका वेग कई गुना बढ़ गया। किन्तु जब भरिया ने ढकेलकर मुझे चट्टान से आगे धार के ऊपर सरकाया, तो उस डर का कहीं पता न था। मालूम होता था, मैं लचलचाते हुए तार पर झूला झूल रहा हूं। पार पहुँच जाने पर मन कहता था, एक बार फिर इस झूले का मजा लिया जाये, किन्तु भरिया के समय का भी खयाल करना था।

यहां काफ़ी गर्मी मालूम हो रही थी। नदी से कुछ आगे जाने पर खेत मिले, जिनकी फ़सल कट चुकी थी। ऊँचाई के लिहाज से एक ही पहाड़ पर कहीं गेहूँ कट गया, कहीं होले के लिए तैयार, और कहीं बिलकुल कच्चा हरा देखना हिमालय में मामूली बात है, इसलिए दो-तीन घंटे ही बाद हरे गेहुँओं की जगह उन्हें खलिहान में रखा देखना मेरे लिए आश्चर्य की चीज न थी। गाँव के पास बहुत से खूबानी के वृक्ष मिले, जिन पर पीली-पीली खूबानियाँ पककर लटक रही थीं। गाँव बहुत दूर न था, और वहाँ पहुँचने पर जब भरिया ने सामान रखकर आदमी के लिए कहा, तो वहाँवालों को जल्दी-सी पड़ गई। मैंने ढूँढ़कर दो गिलास मट्ठा पिया—दूध पीने से मुझे जितनी चिढ़ है, उतना ही मट्ठे से प्रेम। अब के भार ढोने के लिए एक बुढ़िया मिली।

चढ़ाई कुछ थी, किन्तु रास्ता मुश्किल न था। शायद अगस्त बीत चुका था, कहीं बरफ का नाम तक

न था। सुम्नम्-जोत के पहिले अन्तिम गाँव तक पहुँचते-पहुँचते आसमान में बादल घिर आये थे। गाँव छोटा था, किन्तु लकड़ी के इस्तेमाल में काफ़ी साखर्ची दिखलाई गई थी, और मकान साफ़ और बेहतर किस्म के थे। रहनेवाले ज्यादातर सुम्नम् के लोग थे, जो अब तक के लोगों से ज्यादा साफ़ और संस्कृत थे। गाँव के आसपास के खेतों में हरे-हरे गेहूँ और ग्रिम् (नंगे जौ) लहरा रहे थे। रात को शायद कुछ वर्षा भी हुई थी। यहाँ भी आगे के लिए भरिया मिलने में दिक्कत न हुई।

सुम्नम्–दूसरी चढ़ाई मालूम न हुई। कई दिन पैदल चलते-चलते अब चलने की मुझे आदत भी पड़ गई थी, और खाली बदन चलने में रास्ते का मजा आने लगा था। जोत पार कर उतराई आई, और वह भी आसान थी। अब तक पायजामा पहिने मैली-कुचैली भारी चेहरे गोल, आँख और गाल की हड्डी निकली औरतों को देखते-देखते बहुत दिन हो गये थे, इसलिए जब मैंने पहिले-पहल पानी की नहर मरम्मत करनेवाली ऊनी साड़ी को काँटे के सहारे कन्धे पर बांधे सुम्नम् की स्त्रियों, उनके निर्मांसल गोरे चेहरे, नुकीली नाक और गौर शरीर को देखा, तो मुझे मालूम हुआ कि मैं सौन्दर्य के देश में आ गया हूँ। उनके असाधारण मधुरकंठ से निकले संगीत को सुनकर तो संस्कृत साहित्य की किन्नर-कंठियों की प्रशंसा बहुत ठीक जँची–कनौर वस्तुतः किन्नर का अपभ्रंश है। इधर हमें अब देवदार के दरख्त मिलने लगे। यद्यपि आकार में अभी वे उतने ऊँचे न थे, तो भी हरियाली को देखने के लिए तरसती आँखें अब बहुत तृप्ति अनुभव करने लगीं।

गाँव के मकानों की छतें लकड़ी की पट्टियों की थीं, जब देवदार के वृक्षों की इतनी इफ़रात हो, तो फिर लकड़ी के इस्तेमाल में कंजूसी की जरूरत क्या ? खेत सब कट चुके थे, और खलियानों में उनके गंज को देखकर पता लगता था, कि खेती यहां खूब होती है। कितने ही खेतों में फाफड़ जम आये थे, और शायद पानी की नहर उन्हीं के लिए मरम्मत हो रही थी। मुझे एक बड़े से हवा और रोशनीवाले साफ़ घर में ठहराया गया। लोग सभी बड़े मिलनसार मालूम हुए, और पिछले कई दिनों की तकलीफें भूल गईं। घर की मालकिन से खाने के बारे में कहा, तो मालूम हुआ वहाँ रोटी, साग, भाजी खाने का रवाज है। फाफड़ के साग और गेहूँ की रोटी बिलकुल अपने यहाँ के ढंग से बनी थी, और उसे खाने में बहुत स्वाद मालूम हुआ। गाँव में उर्दू पढ़े-लिखे कितने ही आदमी थे, और पता लगाने पर मालूम हुआ, एक आदमी के पास लाहौर का कोई उर्दू अखबार–शायद 'प्रकाश'–आता है। लेह छोड़ने के बाद मुझे अखबार भेंट न हुई थी, इसलिए चार-पाँच सप्ताहों के अंकों को ले मैं उन पर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ा। संस्कृति की वृद्धि के साथ-साथ शायद आदमी की जिज्ञासा बढ़ जाती है, इसीलिए यहाँ के लोग मुझसे भी अधिक बातचीत के लिए उत्सुक थे। कहीं घूमने कहीं आने-जाने के लिए कोई भी नौजवान पथप्रदर्शक बनने के लिए तैयार था। स्त्रियाँ भी आगन्तुक के साथ बात करने और सहायता करने में पुरुषों से पीछे न थीं। सुम्नम् के लोग खेती के अतिरिक्त तिब्बत के साथ व्यापार का भी काम करते हैं। तिब्बती मुलायम ऊन तथा पशम के कातने, गुदमा, पट्टू, पशमीने की चादर बनाने में यहाँ की स्त्रियाँ बहुत दक्ष हैं–यही सुम्नम् के लोगों की खुशहाली के कारण हैं।

यद्यपि जोत के इधर प्रकृति और मनुष्यों के आकार-प्रकार, वेशभूषा में बिलकुल परिवर्तन था–यहाँवाले जोत पार के लोगों को जाट कहकर नीची निगाह से देखते थे, तो भी धर्म में ये लोग लामा बौद्धधर्म के अनुयायी तथा, ब्याह में सब भाइयों से सम्मिलित ब्याह को (बहुपति विवाह) को मानते थे। कुछ सालों से राजा ने बहुपति-विवाह को वर्जित कर दिया था, तो भी अभी वह बन्द नहीं हुआ था। कनौर में कनौरियों–जो अपने को राजपूत कहते हैं–के अतिरिक्त कहीं-कहीं लोहार भी मिलते हैं, जिन्हें अछूत समझा जाता है। लोहार सोनार का भी काम करते हैं। मैं एक लोहार के घर पर गया, उसकी हथौड़ी बड़ी बारीकी से चल रही थी, और जब मैं जाकर उसके पास बैठ गया, तो मेरे प्रति उसका स्नेहभाव और बढ़ गया–एक बड़ी जाति के आदमी का अछूत के पास बैठना कोई मामूली बात थोड़ी ही है। मेरे साथ गया नौजवान आर्यसमाजी था (बुशहर के पहाड़ों में जहां-तहां आर्यसमाजी मिलते हैं), इसलिए उसको आपत्ति नहीं थी।

सुम्नम् में एक दिन से अधिक रहा। वहाँ से एक गुदमा, एक ऊनी साड़ी (चादर) और एक पशमीने की चादर खरीदी। कनम् के लिए वहाँ से एक सीधा रास्ता सामने के डांडे को पार करना था, किन्तु पैदल

पहाड़ की चढ़ाई पार करने के लिए मुझे उत्साह न था, यद्यपि वहाँ लिप्पे के जोतिसी के लिए हेमिस लामा ने खास तौर से पत्र लिख दिया। दूसरा रास्ता सुम्नम् की धार के साथ नीचे की ओर जाकर सतलज पर तिब्बत-हिन्दुस्तान की प्रधान सड़क से मिल जाता था। मैंने 'बरस दिन' के रास्ते को पसन्द किया। आदमी कनम् तक के लिए मिला था। उतराई में खाली हाथ चलना, सो भी सुधरी सड़क पर, वस्तुतः शौक की चीज थी। रास्ते में एक गाँव में थोड़ी देर के लिए पानी के डर से रुकना पड़ा। यहाँ खूबानी के अतिरिक्त सेब के वृक्ष और अंगूर की लताएँ भी थीं, किन्तु अभी फल तैयार नहीं थे। यहीं पहिले-पहिल दूकानदार देखने को मिला। उसके पास तेल, नमक, सिगरेट, दियासलाई जैसी कुछ चीजें थीं। आगे नदी पर एक पुल मिला, उसके इस पार से ऊपर की ओर एक सड़क जा रही थी, यही शिमला से जानेवाली तिब्बत-हिन्दुस्तान रोड, सैनिक महत्त्व की सड़क है, जिस पर भारत सरकार काफ़ी रुपया खर्च करती है। इस पर हर जगह मजबूत पक्के या लोहे के पुल हैं, थोड़ी-थोड़ी दूर पर डाकबँगले हैं, और सड़क इतनी चौड़ी है कि थोड़ा-सा बढ़ाने या इतने से भी बेबी आस्टिन जैसी कार आ-जा सकती थी।

पुल से थोड़ा आगे चलकर हम साक्षात् सतलज के दाहिने तट पर, किन्तु धार से क़ाफ़ी ऊँचाई पर पहुँच गये। जितना ही हम आगे बढ़ रहे थे, उतने ही देवदार के दरख्त ऊँचे तथा हरियाली घनी होती जाती थी। इन तनकर सीधे खड़े, हाथ की तरह अपनी फैली शाखाओं से शिखर की ओर गावदुम बनते सदा हरित विशाल वृक्षों से ढँके हिमालय को जिसने देख लिया, उसने अपने नेत्रों को सफल कर लिया और जिस जभह मैं उन्हें देख रहा था, उस उपत्यका का एक महत्त्व यह भी है, कि सारे हिमालय में इतना लम्बा देवदार-क्षेत्र कहीं नहीं मिलता; काफ़ी जगहों में वह दस, पन्द्रह या बीस मील तक पहुँचकर रह जाता है, किन्तु यहाँ वह सुम्नम् के सामने से सराहन के करीब तक चला आता है। इस उपत्यका–मध्य सतलज उपत्यका–को प्राकृतिक सौन्दर्यों की रानी कहना चाहिए।

आगे सड़क की मरम्मत में कुछ बल्ती मजदूर लगे हुए थे, वहीं एक नौजवान सड़क के अधिकारी मिले। उन्होंने मेरे सफ़र के बारे में पूछा, और हम परिचित तौर पर वहाँ से कनम् की ओर रवाना हुए। नौजवान का नाम बेलीराम था, और वह सड़क के इन्स्पेक्टर थे। मुझे उस वक्त तिब्बत के इतिहास, उसकी भाषा आदि का कोई परिचय न था, इसलिए बेलीराम के गाँव कनम् और उसके लोचवा रिनूछेन् जङ्पो का महत्त्व मालूम न था। हेमिस लामा ने बतलाया था, कि कनम् में एक पुराना मठ है, जिसका सम्बन्ध एक बड़े लामा लो-छेन्-रिन्-पोछे से है। बेलीराम के घर में न ठहरकर मैंने मठ में ही रहना पसन्द किया, क्योंकि मैं मठ को कोई बड़ा मठ समझकर उसे देखना चाहता था। मठ गाँव के भीतर, आसपास के घरों से बहुत विशाल नहीं, कुछ असाधारण-सा मकान था। वहाँ कनजुर की पुस्तकें रखी थीं। मठ में एक-दो आदमी थे, किन्तु कोई भिक्षु नहीं था। मेरे पहुँचने के बाद बगल की गली से रोशनचौकी की सुरीली आवाज कानों में पड़ी। देखा, लाल कपड़ा पहने कुछ भिक्षु सत्तू के बलिपिंड को पानी में बहाने के लिए ले जा रहे हैं, शायद किसी के घर के भूत को भगाने में वे लगे हुए थे। श्रीनगर का लिया बूट अब जवाब दे रहा था, मैंने गाँव के मोची के पास जाकर उसकी मरम्मत कराई।

कनम् बड़े सुन्दर स्थान में है, उसके चारों ओर विशाल देवदारों का वन है। कई सौ फ़ीट नीचे सतलज–जिसे यहाँ के लोग 'समुन्दर' कहते हैं–की धार बहती है, किन्तु दूर होने के कारण उसकी गम्भीर ध्वनि गांव तक पहुँचने नहीं पाती। गाँव के एक कोने में एक विशाल घर को दिखलाकर बेलीराम ने बतलाया, इस घर में हाल में कई अंग्रेजी और तिब्बती के विद्वान् हो गये हैं, किन्तु वे सभी जवानी में मर गये, अब कुछ बच्चे रह गये हैं।

आगे भार ढोने के लिए बेलीरामजी ने एक या दो स्त्रियों को कर दिया। अब रास्ते के गाँवों में दूकानें थीं। डाकबँगले तो हमें रहने को नहीं मिल सकते थे, क्योंकि उसके लिए पहिले से शिमले से इजाजत मँगानी पड़ती, किन्तु दूकानों, लोगों के घरों और कहीं-कहीं बनी धर्मशालाओं में जगह मिल जाती थी। देवदारुओं की छाया में चलने से मालूम हो रहा था, मैं अपने प्राणों और आयु को बढ़ाता चल रहा हूँ। रास्ते में जहाँ-तहाँ

सुस्ताने, पानी पीने या गप करने के लिए भार ढोनेवाली औरतें बैठ जाती थीं। याद नहीं उसी दिन या दूसरे दिन मैं चिनी पहुँचा।

चिनी—चिनी आखिरी डाकघर है। यहाँ बुशहर-रियासत का तहसीलदार रहता है। यहाँ कई दूकानें, मिडिल स्कूल, देवी का मन्दिर और डाकबँगला हैं। बुशहर-रियासत की वार्षिक आय तीन लाख के करीब है, किन्तु राजा को सबसे ज्यादा आमदनी इन देवदार के जंगलों से होती है, जो सत्रह-अठारह लाख सालाना बतलाई जाती है। जंगलात-विभाग ने डाकबँगले, मुंशीखाने और मजदूरों के लिए दूकानें जगह-जगह बनवाई हैं। बेलीराम ने जंगलात के डाकबँगले के मुंशी के नाम पत्र लिख दिया था। बँगले पर पहुँचने से पहिले रास्ते पर देखा कि कुछ स्त्री-पुरुष नाच रहे हैं। एक तरफ़ छः-सात औरतें हाथ बाँधे खड़ी थीं, दूसरी ओर पाँच-छः पुरुष। वह कुछ गाती थीं। पास में एक आदमी ढोलक पर ताल देता, और उस पर पैर उठाते वे आमने-सामने से एक बार नजदीक आतीं, और दूसरी बार पीछे हटकर चन्द्राकार पंक्ति बनातीं। मैं कुछ देर खड़ा होकर उनके नृत्य को देखता रहा। उनकी शिकायत थी—जब से राजा ने शराब-बंदी का हुक्म दे दिया है तब से नाच में पहिले जैसा रंग नहीं जमता।

डाकबँगले में जंगलात के कन्जर्वेटर एक जवान 'कश्मीरी' पंडित ठहरे हुए थे। मालूम नहीं कैसे उनसे परिचय हो गया, फिर तो उन्हीं की मेहमानदारी स्वीकार करनी पड़ी। बाजार और स्कूल देखने गया, तो मंदिर में एक जटाधारी वैष्णव साधु मिले। बेचारे मानसरोवर जा रहे थे, किन्तु दो दिन ऊपर जाने पर जब सत्तू और मट्ठे से पाला पड़ा, साथ ही मांस, जूठ-मीठ के विचार को हवा होते देखा, तो धर्म बचाकर लौट आये। हो सकता है रास्ते की कठिनाइयाँ भी पस्तहिम्मती पैदा करने में कारण हुई हों। चिनी मुझे आदर्श ग्रीष्म-आवास मालूम हुआ। चारों ओर देवदारों की सुषमा, वृष्टि कम, आकाश अधिकतर स्वच्छ, बाहर की दुनिया और अखबारों से सम्बन्ध रखने के लिए पास डाकखाना, साधारण खाने-पीने की चीजों के लिए दूकानें, खूबानी, अखरोट, सेब आदि के फलदार वृक्ष। लेह और खलचे की भांति चिनी में भी मोरावियन मिशन काम कर रहा था। लेकिन यहाँ के जर्मन पादरी लड़ाई के वक्त चले गये। मिशन के बँगले में आजकल राज की ओर से डिस्पेंसरी ख़ुली है। बगीचे की गूजबरी मुझे भी खाने को मिली थी।

राजकीय दफ्तर में क्लर्क का काम करनेवाले यहाँ कायस्थ कहे जाते हैं, चाहें वह किसी जाति के हों। उर्दू के अतिरिक्त एक और लिपि का भी लोग व्यवहार करते हैं, जो कश्मीर की शारदा या पुरानी गुप्तलिपि से ज्यादा मिलती है। तहसीलदार साहेब बाहर गये हुए थे, इसलिए उनसे चिनी के चलने पर रास्ते में भेंट हुई, और वेष-भूषा से शिक्षित संन्यासी देखकर उन्होंने लौटकर दो-चार दिन रहने के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु चल देने पर लौटना मुझे पसन्द नहीं और वहाँ तो फिर चढ़ाई की ओर लौटना था।

चिनी से सराहन में कितने दिनों में पहुँचा, यह याद नहीं, किन्तु रास्ते में जंगलात मुहकमे के कर्मचारियों से मुझे बहुत मदद मिली। मैं अधिकतर उन्हीं के यहां ठहरता। किन्हीं-किन्हीं गाँवों में सस्ते सिगरेटों के बड़े-बड़े इश्तिहार चिपके हुए थे, पहाड़ी लोग सिगरेट पीने में बड़े बहादुर होते हैं, इसलिए सुदूर हिमालय में इन बड़े-बड़े कागजों का चिपकाना अकारथ नहीं था।

स्पिती की ओर जानेवाले रास्ते के पास पक्के पुल से सतलज पार कर जब मैं हल्की-सी चढ़ाई को पार कर रहा था, तो दो-एक ब्राह्मण-ब्राह्मणी ऊपर की ओर जाते मिले। पूछने पर मालूम हुआ, वे सराहन की ओर से आ रहे हैं, और यजमानी में जा रहे हैं। जब कनौरों ने अपने को राजपूत कहना शुरू किया, तो ब्राह्मणों का स्वीकार करना, और फिर नीच-ऊँच, छूत-छात की भावना की पराकाष्टा पर पहुँचना उनके लिए लाजिमी था—मैं इसे बौद्धधर्म को छोड़कर पतन की ओर जाना-सा समझता था।

जिस दिन मैं सराहन पहुँचनेवाला था, उस दिन जंगलात-विभाग का एक तरुण कनौरी क्लर्क साथ हो गया था। नौजवान मेट्रिक पास और बातचीत में तेज मालूम होता था, नाम शायद प्रतापसिंह था। दूसरी देशी रियासतों की भाँति यहाँ भी वैयक्तिक स्वतंत्रता सिर्फ़ राजा और उनके कृपापात्रों को ही है। रियासत के अत्याचारों पर एकाध लेख लाहौर के उर्दू पत्रों में निकले। अधिकारियों को इसी नौजवान पर सन्देह हुआ, और उसे जेल

में डाल दिया। अपराध स्वीकार कराने की बड़ी कोशिश की गई, उसमें सफलता न मिलने, तथा इसकी भी खबर अखबारों में छपने पर नौजवान को छोड़ दिया गया। प्रजा पर राज की ओर से होनेवाले अत्याचारों के बारे में उसने बहुत-सी बातें बतलाईं, किन्तु इतने लम्बे अरसे के बाद अब वह याद नहीं आते। सराहन के पासवाले घुमाव से पहिले ही देवदार कटिबन्ध खतम हो गया था, और उसका स्थान दूसरे बड़े-बड़े दरख्तों और घने जंगल ने लिया था। इधर गाँव भी काफ़ी थे।

सराहन में मैं जंगलात के ओवसियर के यहाँ ठहरा, जिनके लिए किसी का परिचय-पत्र था। सराहन बहुत कुछ खुले ढलुआँ भूमि में बसा हुआ कस्बा नहीं एक बड़ा गाँव है, जिसमें राज्यश्री के वाह्य प्रदर्शन के रूप में राजमहल, राजोद्यान और दो-एक मंदिर विद्यमान हैं। गर्मियों में राजा साहेब रामपुर से यहाँ चले आते हैं। तत्कालीन महाराज अंग्रेज-अधिकारियों के कृपापात्र होने से गद्दी के मालिक माने गये, नहीं तो उत्तराधिकारी एक दूसरा ही राजकुमार था, जो अपनी शोखी और स्वतंत्रता के कारण राजगद्दी से महरूम कर दिया गया। कितने ही सालों तक वह दुर्गम पहाड़ी, खोहों और जंगलों में छिपकर लड़ता रहा, किन्तु अंग्रेजों की शक्ति का मुकाबिला क्या करता ? इस राजकुमार के बहुत से पँवारे अब भी साधारण जनता में मशहूर थे, जनता की दृष्टि में नवीन राजा वंचक थे।

ओवसियर साहेब एक दिन मुझे भी राजा साहेब के पास ले गये। उनकी अवस्था पचास से ऊपर होगी। देखने और बातचीत करने में वे सीधे-सादे तथा नम्र मालूम होते थे, और सन्देह होता था, कि ऐसे भलेमानुस व्यक्ति के विरुद्ध प्रजा के साथ वे बरताव कैसे ठीक हो सकते हैं। लेकिन वह दोष तो संस्था का है, जिसके ऊपर उठना असाधारण व्यक्ति का ही काम हो सकता है, और अंग्रेज रेजीडेंट की वक्रदृष्टि के सामने वैसा करना भी आसान नहीं है। जन-प्रिय राजा, बुशहर जैसी सीमान्त-रियासत के लिए तो उन्हें और भी खतरनाक मालूम होगा। सराहन से रामपुर तक टेलीफ़ोन लगा हुआ है। राजप्रासाद के हाते में ही एक पागल साधु की कुटिया थी, उसकी सिद्धाई के बारे में तरह-तरह की खबरें प्रसिद्ध थीं। राजा साहेब की उसके ऊपर बड़ी श्रद्धा थी। गाली देने में यह पागल बहुत मुंहफट था, और राजा को भी हजारों सुनाता था, किन्तु शाप के डर से राजा साहेब सबको हँसते हुए सुन जाते थे। राजा साहेब के सिर्फ़ एक पुत्र उस वक्त मौजूद थे, जो राज का काम थोड़ा-बहुत करते थें। कहते थे, पुराने राजकुंमार को वंचित करने, तथा उसे जंगलों की खाक छानते हुए मरने के लिए मजबूर करने के पाप का यह परिणाम है, और उसी से एक बार राजवंश पर महामारी आ गई। एक दूसरे सज्जन ने कुछ साल बाद इसकी कथा इस प्रकार बतलाई।—तिब्बत के लामा टोमो-गेशे-रिन्पो-छे एक बार कनौर गये। उनकी करामात की खबर जनता से होकर राजा तक पहुँची। राजा ने अपने परिवार के ऊपर भूतों की ओर से होती बाधा को शान्त करने के लिए टो-मो-गेशे को बड़े आदर से बुलाया। लामा ने तंत्र-मंत्र किया, उसका शुभ परिणाम राजा ने देखा, और उनकी आस्था लामा पर बहुत बढ़ गई। बिदाई के वक्त लामा ने कन्-जुर, तन्-जुर की एक-एक प्रति राजप्रासाद में रखने के लिए कहा। राजा ने कई हजार रुपये खर्च कर तिब्बत से ये दोनों विशाल ग्रंथ-संग्रह मँगवाये। किन्तु, परिणाम उलटा हुआ। एक को छोड़ सभी राजपुत्र मर गये, वही हालत रानियों की भी हुई। ब्राह्मण लामा के प्रभाव से शंकित थे, उन्होंने इस मौके को गनीमत समझ, झट कहना शुरू किया—नास्तिकों की पुस्तकों के रखने से देवता लोग नाराज हो गये हैं। राजा ने कन्-जुर तन्-जुर को राजप्रासाद से निकालकंर एक दूसरे घर में रखवा दिया, और मैंने शायद उसी घर में उसे देखा था।

राजोद्यान में लाल-लाल सेब खूब फले हुए थे, किन्तु अभी उनके पकने में देर थी। सुम्नम् में बहुत कम वर्षा होती है, कनम् और चिनी भी मानसून के छींटे-भर पाने के अधिकारी हैं, किन्तु सराहन और उसके नीचे के इलाके मानसून के हलके में हैं। इस वक्त (सितम्बर में) पानी खूब बरस रहा था, और कश्मीर से खरीदकर लाई बरसाती का लाभ मुझे अब मिला। वर्षा के कारण रास्ते को कई जगह बरसाती नालों ने तोड़ दिया था। एक ऐसे ही टूटे स्थान पर देखा, पैर फिसलने से एक लदा हुआ खच्चर रास्ते से नीचे उतरकर बैठ गया है, और यदि आगे जरा भी पैर विचलित होता, तो सामान लिये-दिये वह कई सौ फ़ीट नीचे खड्डे में चला जाता।

खच्चरवाला किराये पर किसी व्यापारी का माल शिमले से ला रहा था। खच्चर की काफ़ी कीमत होती है, बेचारा रो रहा था, और खच्चर को बचाने की कोशिश में लगा हुआ था। उसके साथ-साथ मुझे भी बड़ी खुशी हुई, जब कि खच्चर उठकर बाहर निकल आया। खच्चर पहाड़ी दुर्गम मार्गों में चलने में मजबूत ही नहीं बड़े सजग होते हैं, किन्तु उनसे भी खता हो ही जाती है।

रामपुर में राजा के कर्मचारी एक ब्राह्मण के लिए मेरे पास परिचयपत्र था, जिसे सराहन के पंजाबी ओवरसियर ने दिया था। ठहरने के लिए जगह आदि मिलने में दिक्कत न हुई। यहाँ नदी (सतलज) किनारे साधुओं के स्थान थे, वहाँ भी रहने का प्रबन्ध था। मैंने एक या दो दिन रह राजधानी, राजप्रासाद, बाजार आदि को देखा। ऊपर के प्राकृतिक सौन्दर्य के सामने यह प्रदेश मुझे दरिद्र-सा मालूम होता था। हाँ, अब दूकानों और बनियों का जोर सब जगह था।

ब्राह्मण ने राजसीमा के पास शिमला जिले के रास्ते पर के एक गाँव तक के लिए भरिया का इन्तिजाम कर दिया, और उस गाँव के एक साहूकार के नाम एक चिट्ठी लिख दी। मैं कृतज्ञता प्रकट कर रामपुर से रवाना हुआ। नहीं कह सकता उसी दिन या दूसरे दिन उक्त गाँव में पहुँचा। रास्ते में राज की ओर से ठहरने के लिए धर्मशालाएँ थीं, रियासत में सभी जगह नये आदमियों के मिलने में कोई दिक्कत न हुई, किन्तु इस गाँव में आकर सारी कसर निकल गई। साहूकार का मकान अम्बाला जिला में था, और उसने आसपास के भोले-भाले पहाड़ियों को ठगकर काफ़ी सम्पत्ति जमा कर ली थी। कपड़ा, नोन-तेल-सिगरेट के अतिरिक्त वह लेन-देन का भी व्यवसाय करता था। गाहकों को अपनी ओर खींचने की विद्या उसे भली-भाँति मालूम थी। उनके लिए तम्बाकू हुक्का हर वक्त हाजिर रहता था। चिट्ठी और मुझे देखकर साहु का मुँह गिर गया। उसने बैठने के लिए भी नहीं कहा, और मुझे कुछ जवाब देने की जगह घर की एक तरुण स्त्री से उसके लिए लाये नापसन्द बूटों के बारे में बातें करता रहा; स्त्री उस बूट को पसन्द नहीं करती थी, जिसे साहु ने शिमला से उसके लिए मंगवाया था। मुझे उसके इस रूखे बरताव पर रंज तो हुआ, किन्तु यह देखकर कुछ प्रसन्नता हो रही थी, कि इस सूम के धन का सदुपयोग करनेवाली कोई स्त्री भी उसके घर में है।

साथ में आये आदमी के चले जाने पर साहु ने रूखे स्वर में कहा, यहाँ आदमी मिलना बहुत मुश्किल है। मुझे यह बहुत बुरा लगा, यदि यही उत्तर देना था, तो आये हुए आदमी के रहते-रहते क्यों नहीं दिया ? मैं गाँव में किसी दूसरे घर की तलाश में निकला, थोड़ी ही दूर पर एक दूसरा गरीब बनिया रहता था। उसने रहने के लिए जगह दी, और आदमी खोज देने का भी वचन दिया। शायद वह फ़सल कटने का वक्त था, या क्या आदमी मिलना सचमुच ही मुश्किल था। इधर स्टोक साहेब ने जो बेगार के खिलाफ़ आन्दोलन किया था, उससे बेगार बन्द कर दी गई थी। मुझे इस आन्दोलन की खबरों को सहानुभूति के साथ पढ़ते वक्त यह क्या पता था, कि इसका परिणाम एक दिन मुझे खुद भोगना पड़ेगा। उक्त स्थान से कोटद्वार 3, 4 मील की चढ़ाई पर था। कोटद्वार में कुली मिलना आंसान है, यह सभी बतला रहे थे, किन्तु प्रश्न था वहाँ तक जाने का। अन्त में सवा या डेढ़ रुपये मजदूरी–सिर्फ़ 3, 4 मील के लिए–देकर एक आदमी ठीक हुआ और मैंने उस शतवार-संशप्त गाँव को छोड़ा।

रास्ता चढ़ाई का था, और चारों ओर पहाड़ खेतों से ढँका था। कोटद्वार में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से बनी धर्मशाला में ठहरा, अपनी श्रेणी के घरों से वह काफ़ी अच्छी और साफ़ थी। यहाँ से शिमले के लिए भरिया हर वक्त मिल सकता है, यह सुनकर बड़ा इतमीनान हुआ। पके सेबों की खबर पाकर मैंने दो-तीन सेर एक बगीचे से मँगवाये। खाने-पीने से निवृत्त हो स्टोक साहेब के बँगले पर गया। पहाड़ की पीठ पर, सेब आदि फलदार वृक्षों से ढँकी एक विस्तृत भूमि के बीच उनका बँगला और कितने ही और घर थे। स्टोक अपने कुरते-धोती में बड़ी प्रसन्नता से मिले। उनकी स्त्री और एक 3, 4 वर्ष का बच्चा बीमार था–बच्चे को मेरे सामने उन्होंने गोद में उठाकर दूसरे बिस्तरे पर लिटाया–और इसके मारे मन में ज्यादा तरद्दुद होना स्वाभाविक था, तो भी उन्होंने मुझसे बहुत अच्छी तरह बातचीत की। अपने स्कूल के प्रधानाध्यापक एक मद्रासी तरुण को मुझे सब चीज दिखलाने के लिए कह दिया। स्कूल के मकान स्वच्छ, हवादार, और मजबूत थे। यहाँ

बालक-बालिकाएँ एक ही साथ शिक्षा पाती थीं, पढ़ाई निःशुल्क थी।

भरिया पर सामान उठवाये उसी शाम को मैं शिमला पहुँच गया। वहाँ कोई परिचित तो था नहीं, इसलिए पहिले धर्मशाला में ठहरा, लेकिन पीछे देखा तो वह सनातन धर्मसभा भवन से सम्बद्ध थी, और उसके अपरिचित नियम-उपनियम से बचने के लिए मैं वहाँ से आर्यसमाज में चला गया। शिमला में बहुत घूमने-घामने का विचार न था; राजनीतिक क्षेत्र से काफ़ी समय तक अनुपस्थित रहने के कारण अब मुझे छपरा लौटने की जल्दी पड़ रही थी। एकाध दिन में सरसरी तौर से शिमला के बाजारों और सड़कों को देखकर मेरठ के लिए रवाना हो गया। बलदेवजी के पास दो-तीन दिन बिताये, और फिर छपरा चला आया।

10

1926 का कौंसिल चुनाव और बाद

शिमला में ही बाबू महेन्द्रप्रसाद से—जो कि कौंसिल आफ़-स्टेट के अधिवेशन में शामिल होने के लिए गये हुए थे—मालूम हो गया था, कि छपरा के कार्यकर्त्ताओं में कौंसिल के उम्मीदवारों को लेकर मतभेद हो गया है। यह मतभेद मेरे घनिष्ट सहकारियों में पैदा हुआ था, अतः मेरे लिए खास तौर से तरद्दुद का कारण था। गिरीश बाढ़ के बाद सिसवन थाने में काम करने लगे थे, और अब भी एकमा के कार्यकर्त्ताओं पर उनका काफ़ी प्रभाव था। मेरे दो साल के जेल के समय छितौली के बाबू श्रीनन्दनप्रसाद नारायणसिंह कांग्रेस में शामिल हुए और गिरीश की सहायता से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में चुने जाकर वह सीवान लोकलबोर्ड के चेयरमैन भी हो चुके थे। अब वह प्रान्तीय कौंसिल के लिए उत्तरी सारन से उम्मीदवार थे, दूसरे उम्मीदवार बाबू जलेश्वरप्रसाद थे, जो उससे पहिले स्वराज-पार्टी की ओर से कौंसिल में गये थे। जलेश्वर बाबू ने छपरा में वकालत शुरू कर दी थी, और आरम्भिक प्रैक्टिस होने से कार्यकर्त्ताओं के साथ सम्पर्क करने के लिए वह काफ़ी समय दे नहीं सकते थे; उधर श्रीनन्दन बाबू ने अपनी सहानुभूति और मिलनसारी से कार्यकर्त्ताओं पर पूरा असर जमा लिया था। सिसवन, एकमा के ही नहीं मीरगंज आदि के कार्यकर्त्ता भी उन्हीं के पोषक थे, और गिरीश तो उनके जबर्दस्त समर्थक थे। उन्हें पूरी उम्मीद थी कि मैं उनके पक्ष का समर्थन करूँगा, क्योंकि वह जानते थे, कि मैं हमेशा कार्यकर्त्ताओं के साथ रहता हूँ। कार्यकर्त्ताओं ने श्रीनन्दन बाबू की उम्मीदवारी का समर्थन करते हुए प्रान्तीय कांग्रेस के पास अपना प्रस्ताव ही नहीं भेज दिया था, बल्कि उनके पक्ष में उन्होंने कनवासिंग भी शुरू कर दी थी। मेरी स्थिति बड़ी विचित्र थी। कार्यकर्त्ताओं के इतने जबर्दस्त बहुमत की अवहेलना करना मुझे पसन्द न था, उधर प्रान्तीय कांग्रेस के निर्णय के विरुद्ध भी जाना उचित न जँचता था। मैंने एक ओर कार्यकर्त्ताओं को समझाना शुरू किया, कि प्रान्तीय कांग्रेस के निर्णय के विरुद्ध न जावें, दूसरी ओर प्रान्तीय नेताओं पर भी जोर डाला, कि उम्मीदवार चुनने में कार्यकर्त्ताओं की इच्छा का भी खयाल करें। छपरा लौटने पर एक महीने से अधिक तटस्थ रहते मैं कोशिश करता रहा। प्रान्तीय कांग्रेस ने मेरे आने से पहिले ही जलेश्वर बाबू को अपना उम्मीदवार चुन लिया था, किन्तु मुझे विश्वास था, कि सब बातों पर विचार करने के बाद वह अपना निर्णय बदलकर श्रीनन्दन बाबू को अपना उम्मीदवार बनावेंगे। जलेश्वर बाबू से मेरी ज्यादा घनिष्ठता थी, और उधर श्रीनन्दन बाबू जिसके बल पर खड़े हो रहे थे वह गिरीश मेरे प्रिय सहकर्मी थे। मैंने कह दिया था, कि उम्मीदवारी बदलने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु अन्त में मुझे उधर ही रहना होगा, जिधर कांग्रेस का निर्णय होगा। मुझे यह देखकर बड़ा अफ़सोस हुआ, कि प्रान्त के नेता स्थानीय कार्यकर्त्ताओं और स्थिति का बिलकुल न खयाल कर पूर्व निर्णय ही पर कायम रहे।

कनवासिंग जोर-शोर से शुरू हुई। एकमा के प्रायः सारे कार्यकर्त्ताओं ने तो मेरी वजह से श्रीनन्दन बाबू का साथ छोड़ दिया, किन्तु गिरीश और दूसरे कितने ही वचनबद्ध हो चुके थे, इसलिए उन्हें साथ छोड़ना विश्वासघात

मालूम होता था। सारे निर्वाचन क्षेत्र में व्याख्यानों और नोटिसों की धूम थी। कांग्रेस का समर्थन न पा श्रीनन्दन बाबू मालवीयजी की स्वतंत्र कांग्रेस-पार्टी के उम्मीदवार बने। छितौली के बड़े जमींदार होने से उनके पास रुपया और उसके खर्च करने के लिए दिल था। उस क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं की सहायता उन्हें प्राप्त थी, और अपने व्यवहार से वह जनप्रिय भी थे। इस प्रकार उनकी सफलता का आभास शुरू ही से मालूम होता था, तो भी कांग्रेस का साथ देना छोड़ मेरे लिए कोई रास्ता न था। चुनाव की कनवासिंग में बहुत कड़वाहट पैदा हो जाती है, लोग एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में कोई आनाकानी नहीं करते, किन्तु गिरीश के प्रभाव के कारण मेरे प्रति श्रीनन्दन बाबू के सहायकों ने भी सम्मान का भाव रखा। गिरीश से जब मुलाकात होती, तो वह एकमा के उसी पुराने भाव के साथ मिलते। वह सम्बन्ध इतना भीतर तक चला गया था, कि चुनाव की आंधी उस पर चोट पहुँचाने में असमर्थ थी। दक्षिणी सारन की ओर से बाबू निरसूनारायणसिंह कांग्रेस उम्मीदवार थे, और उनके विरोध में खड़े हुए थे हथुआ के दामाद मांझा के बाबू साहेब। इधर के कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में कोई मतभेद न था, और मांझा के बाबू बड़े जमींदार और सरकारपरस्त होने से जनप्रिय भी न थे, इसलिए चुनाव में कांग्रेस की विजय निश्चित थी। महाराजगंज में पक्ष कमजोर देखकर मैंने धूपनाथ को उस थाने में स्थायी तौर से काम करने को भेजा। धूपनाथ अतरसन के मेरे सहकारी बा. रामनरेशसिंह के चचेरे भाई थे, और एकाध बार उनसे भेंट हुई थी, किन्तु तब वह अधिकतर बनेली राज में तहसीलदारी करते थे। इस वक्त उनको वैराग्य आ गया था, नौकरी अपने छोटे भाई को सुपुर्द कर ब्रह्मज्ञान की तलाश में फिर रहे थे, और इसी सिलसिले में वह मुझसे मिले थे। ब्रह्मज्ञान का महत्त्व मेरी नजरों में गिर चुका था, किन्तु सीधे उसकी निंदा न कर मैंने सार्वजनिक काम कराते हुए धीरे-धीरे उस आकर्षण को उनके दिल से हटाना चाहा। इस चुनाव में धूपनाथ के रूप में मुझे एक स्थायी मित्र मिला।

छपरा में मैंने जब से राजनीतिक काम किया, तब से ही सभाओं में मेरा भाषण सदा वहाँ की भाषा (भोजपुरी, मल्ली) में होता था। इस चुनाव के समय उम्मीदवारों के पक्ष में मैंने कई नोटिसें इसी भाषा में निकालीं, जिसको पहिले तो लोगों ने उचित नहीं समझा, किन्तु जनता पर सीधी-सादी दीहाती भाषा का असर देख उन्हें उसके महत्त्व को स्वीकार करना पड़ा। "जे जगदीपा गाँव उजरलीं ठूँठ कइलीं पीपर। से जगदीपा आवतारीं हाथे लेले मूसर" के हेडिंग से निकले नोटिस ने तो निरसू बाबू के विरोधी को 'जगदीपा' नाम दे डाला।

वोट के दिन मैं भोरे और कटया थानों में रहा। स्वामी सहजानन्दजी उस वक्त भूमिहारों के प्रबल समर्थक और सम्माननीय नेता थे, अभी जातीय पक्ष का उनके ऊपर बहुत असर था। श्रीनन्दन बाबू के पक्ष में काम करने के लिए वह भी उस दिन इन दोनों थानों में थे। हम दोनों दो परस्पर-विरोधी केम्पों में काम करते थे, किन्तु उनकी प्रतिभा, उनकी कर्मठता को देखकर इतने संकुचित क्षेत्र में काम करना मुझे पसन्द न लगता था—यह इसलिए कि भीतर से मैं उनका प्रशंसक था। कटया की सभा में किसी विरोधी ने मेरी जाति-पाँत पर आक्षेप किया था, जिसका उत्तर वहीं खड़ा होकर एक वृद्ध ब्राह्मण ने दिया—मैं बनारस जाते हुए इनके घर पर ठहरा हूँ, बड़ी-सी हवेली है, खूब धनी ब्राह्मण-घर है। धनी की अत्युक्ति को तो मैं समझ सकता था, किन्तु बड़ी हवेली पर मुझे विश्वास नहीं पड़ा। मैं समझता था अभी कनैला में मेरे भाई उसी घर में रहते हैं, जिसे मैं छोड़ आया था। वोट की सभा में मेरे पक्ष में कहने की वजह से मैं उसकी बात का खंडन कैसे करता, किन्तु मुझे उस ब्राह्मण के झूठ पर मन-ही-मन बुरा-सा लगा; किन्तु दो-तीन बरस बाद (1930 के अन्त में) यागेश जब मिले, तब उन्होंने बात ही बात में बतलाया, कि मेरे भाइयों ने पुराने मकानों को तोड़कर दीहात के लिए एक अच्छा-सा मकान बनाया है।

वोट देना समाप्त हुआ। कटया में जलेश्वर बाबू का बहुमत रहा और शायद भोरे में भी। अधिकांश थानों में श्रीनन्दन बाबू को ज्यादा वोट मिले, और वह दुगने वोटो से मेम्बर चुने गये। दक्षिणी सारन में निरसू बाबू बहुत अधिक वोटों से विजयी हुए। केन्द्रीय एसेंबली के लिए मेरे मित्र बाबू नारायणप्रसाद कांग्रेस उम्मीदवार थे, जिला कांग्रेस के एक प्रधान कर्मी के तौर पर उनके लिए भी काम करना पड़ा था। उनके प्रतिद्वन्द्वी भी बड़ी बुरी तरह से हारे। नारायण बाबू के बारे में मुझसे कई बार लोगों ने कहा कि वह श्रीनन्दन बाबू का

समर्थन करते हैं, किन्तु मैंने इसे व्यक्तिगत द्वेष से कही गई बात समझी। हाँ, उत्तर सारन में उनके द्वारा कांग्रेस उम्मीदवार का खुल्लम-खुल्ला समर्थन न होना मुझे पसन्द नहीं था।

इस चुनाव के सिलसिले में सारन जिले से बाहर भी मुझे काम करना पड़ा था। दरभंगा के कांग्रेस-उम्मीदवार पंडित शिवशंकर झा और महन्त ईश्वरगिरि के चुनाव क्षेत्रों में मैंने कई व्याख्यान दिये। कांग्रेस-उम्मीदवार बाबू सत्यनारायणसिंह के पक्ष में प्रचार करने के लिए एक ही साथ मैं और राजेन्द्र बाबू दलसिंगसराय पहुँचे। धर्मशाला में सभा रखी गई। सारा आँगन लोगों से खचाखच भरा हुआ था। सभा में गोलमाल करने के लिए प्रतिद्वंद्वी उम्मीदवार एक बड़े जमींदार बाबू महेश्वर प्रसाद नारायणसिंह, नरहन के बाबू तथा कितने ही अनुयायियों के साथ पहुँच गये। उन्होंने झटपट नरहन के बाबू का नाम सभापति के लिए पेश कर दिया। राजेन्द्र बाबू ने कहा–रहने दो, वही सभापति रहें। मालूम नहीं मेरा व्याख्यान राजेन्द्र बाबू से पहिले हुआ या पीछे। मैंने छपरा की बोली में भाषण शुरू किया। दो ही मिनट में किसानों के शिर हिलने लगे, फिर तो सभापति ने यह उज्र पेश कर हिन्दी में भाषण देने के लिए जोर दिया, कि लोग छपरा की बोली नहीं समझते। मैंने जनता से पूछा–'यदि आप लोग मेरी भाषा नहीं समझते तो क्या करूँगा उर्दू-फ़ारसी में बोलने की कोशिश करूँगा।' जनता ने एक स्वर से कहा–'नहीं, हम आपकी भाषा खूब समझते हैं। जिसमें हम समझ न पावें, इसके लिए यह चालाकी चली जा रही है।' सभापति अब क्या बोलते, जनता मेरे साथ थी। मैंने अपने भाषण को जारी रखते हुए कहा–'जमींदारों के स्वार्थ और किसानों के स्वार्थ एक नहीं हैं। किसानों का खयाल करने पर जमींदार कहां रहेंगे ?···' सभापति और महेश्वर बाबू ने राजेन्द्र बाबू से कहा–'आप कहें, कि यह कांग्रेस के मत के विरुद्ध बोल रहे हैं, क्योंकि कांग्रेस में जमींदार भी हैं'।' मैंने कहा–'और कांग्रेस में किसान सबसे ज्यादा हैं।' राजेन्द्र बाबू ने बीच में दखल देने से इनकार कर दिया। सभापति ने मेरे भाषण में कुछ दखल देना चाहा, मैंने जनता से कहा–'यदि आप कहें तो मैं बोलना बन्द कर दूँ।' जनता की ओर से जोर की आवाज आई–'नहीं, हम आपका व्याख्यान सुनना चाहते हैं।' अब यदि सभापतिजी मुझे बोलने से रोकते, तो आँगन में वह, महेश्वर बाबू उनके दस-पांच अनुयायी रह जाते, और जनता मेरे साथ उठकर बाहर अलग व्याख्यान सुनती। मेरे व्याख्यान से जमींदारों और किसानों के परस्पर-विरोधी स्वार्थों का लोगों को इतना खयाल हो गया, कि दूसरे दल का व्याख्यान नहीं जमा।

उसी शाम को हमारा व्याख्यान समस्तीपुर में हुआ। शहर की जनता थी, किन्तु यहाँ भी मैं छपरा की बोली में बोला। तिरहुत की म्युनिस्पैल्टियों से रायबहादुर द्वारिकानाथ कांग्रेस-उम्मीदवार थे। व्याख्यान के बाद उन्होंने कहा–'राजेन्द्र बाबू, आप लोगों का व्याख्यान विद्वानों के लिए ठीक हो सकता है, किन्तु जहाँ तक वोटरों का सम्बन्ध है, वह तो रामउदार बाबा के ही व्याख्यान को समझ सकते हैं।'

सारे प्रान्त के चुनाव का परिणाम निकला। कौंसिल के भीतर सबसे बड़ा दल कांग्रेस पार्टी का था, किन्तु निर्वाचित और मनोनीत सदस्यों को मिला लेने पर उसका बहुमत न था। पार्टी के सदस्यों की पहिली बैठक के दिन मैं भी पटना पहुँचा, और किसानों के हित की कुछ बातों पर मैंने सदस्यों से बातचीत करके उनके हस्ताक्षर लिये। बहुतों ने हस्ताक्षर कर दिये, और कितनों ने बहुत हिचकिचाहट के बाद हस्ताक्षर किये। उस वक्त मुझे पता लगा, कि किसानों के हितों के लिए आधी दूर तक जाने के लिए भी बहुत से कांग्रेसी तैयार नहीं हैं।

उस साल (1926 ई.) कांग्रेस का अधिवेशन गोहाटी में होनेवाला था। पटना से मैं सुल्तानगंज गया। धूपनाथ से सलाह हुई थी, उधर ही से गोहाटी साथ चलने की। रामनरेशसिंह के बड़े भाई बाबू देवनारायणसिंह उस वक्त वहाँ बनैली राज के तहसीलदार थे। वैसे भी अतरसन के सम्बन्ध से मेरा काफ़ी परिचय था, किन्तु अब तो धूपनाथ भी वहीं थे। भागलपुर से गंगापार हो हमने छोटी लाइन की गाड़ी पकड़ी, और एक दिन सबेरे अमीन गाँव पहुँचे। ब्रह्मपुत्र का यह पहिला दर्शन था। दिसम्बर का स्वच्छ जल गम्भीर ब्रह्मपुत्र को और काला

बना रहा था। दूसरे पार कुछ दूर पर कांग्रेस केम्प था। हम लोग अपने एक परिचित मित्र–जो खद्दर-डिपो के कार्यकर्त्ता थे–के साथ प्रदर्शनी में ठहरे।

स्थान दर्शनीय था, और पास का कामख्या-पर्वत, हरे वृक्षों और झाड़ियों से लदा बहुत सुन्दर मालूम होता था। धूपनाथ के साथ एक से अधिक बार मैं वहाँ गया। कँवरू (कामरूप) कमच्छा (कामाख्या) के जादू के बारे में लड़कपन में मैंने बहुत-सी कथाएँ सुनी थीं, किन्तु अब वह बच्चों की कहानी थी। हाँ, वहाँ की सुन्दर तरुण कन्याओं–जिनके चेहरे पर मंगोल मुख-मुद्रा का हल्का-सा असर तथा रंग पांडु था–को देखकर मुझे अपने मित्र इन्दिरारमणजी की बात याद आई। वह एक बार विचरण करते हुए कामाख्या-पर्वत पर पहुँच गये। वहां किसी पंडे ने बड़े स्नेह के साथ उन्हें अपने यहाँ ठहराया। चन्द ही दिनों में उन्हें मालूम हो गया, कि गृहपति उन्हें अपनी तरुण कन्या के प्रेमपाश में बद्ध करना चाहता है। उन्होंने चुपके से भागकर अपनी जान बचाई। उन्होंने यह भी बतलाया था–बस यही कला, कँवरू-कमच्छा का जादू है, इसी को रूपक के तौर पर 'आदमी को भेड़ा बना लेना' कहा जाता है। पहाड़ की स्वच्छ हवा में रहने, निर्द्वन्द्व खाने-पीने और स्वच्छन्द विहरने से उन तरुणियों का रूप और स्वास्थ्य श्लाघनीय जरूर था, किन्तु मुझे तो रूपक के तौर पर भी वहां 'भेड़ा बनानेवाली' कोई बात नहीं दीख पड़ी। पहाड़ पर ही मैंने कई करोड़ के मालिक एक धर्मप्राण धर्मध्वजी महाराजा की रखैली के लिए बना एक बँगला देखा, लेकिन कितने ही 'ऋषियों' और 'महात्माओं' के जीवन को भीतर से देखने और सुनने के कारण मेरे लिए, वह कोई आश्चर्य की चीज न थी।

वरदराज बहुत दिनों से नहीं मिले थे। मैंने सुना था वह आसाम में रहते हैं। किसी ने यह भी बतलाया कि उन पर कँवरू-कमच्छा का जादू चल गया है, और वह अपने को किसी सुन्दरी के हाथ बेंच चुके हैं। अपने बालमित्र से मिलने की मुझे बड़ी उत्सुकता थी। मैंने शहर के वैरागी स्थानों में जाकर कई बार पूछ-ताछ की, किन्तु उनका कोई पता न मिला। मेरठ में मिले बलदेवजी के सहपाठी (हरिनामदास)–जो कालेज जीवन में अपने रुग्ण शरीर के कारण साथियों द्वारा डाक्टर की उपाधि से भूषित किये गये थे–चुनाव के दिनों में ब्रह्मचारी विश्वनाथ के नाम से स्वामी सत्यदेवजी के प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में छपरा पहुँच गये थे। यहां फिर उनसे मुलाकात हुई। राजापुर (कटया थाना) के महन्त ने मुझे एक उत्तराधिकारी ढूँढ़ देने का भार सौंपा था। कुआड़ी में एक योग्य राष्ट्रीय कर्मी की मुझे भी जरूरत थी, इसलिए महन्तजी की बात को मैंने स्वीकार किया। ब्रह्मचारी विश्वनाथ के साथ शुरू हुआ परिचय घनिष्ठता का रूप धारण कर चुका था। मैंने उनके सामने जब दोनों बातों को रखा तो उन्होंने पसन्द किया और तै हुआ कि यहाँ से वह छपरा चलेंगे।

गोहाटी कांग्रेस का कोई खास असर मेरी स्मृति पर नहीं हुआ। अधिवेशन के समय स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की खबर आई। लोगों में कुछ उत्तेजना फैली। मजहब भारी अशान्ति की जड़ है–इस धारणा की ओर मैं एक कदम और बढ़ा। इस वक्त भी मैं आल-इंडिया कांग्रेस कमेटी का मेंबर था, किन्तु बहस-मुबाहिसों में मुझे कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। कानपुर कांग्रेस ने कौंसिल-प्रवेश स्वीकार कर लिया था, इसलिए किसी खास बात का विवाद भी न था।

स्टीमर से ब्रह्मपुत्र पार हो अमीन गाँव में रेल में बैठे। हम लोग डिब्बे के भीतर अभी आये ही थे, कि एक पतले-दुबले नौजवान को अपने साथ देखा। मेरे एक साथी की छाती पर काँटा-सा गड़ता दिखलाई पड़ा, देखा तो उनकी जेब कटी है। हमने उस तरुण को लापता पाया। कितनी ही जगह ढूँढ़ा किन्तु वह कहाँ मिलनेवाला था ? उस जेबकट को तो इस सफ़ाई के लिए इनाम देना चाहिए था। धूपनाथजी ने ब्र. विश्वनाथजी और मेरे किराये के रुपये दिये।

छपरा पहुँचकर (1927 ई.) सबसे जरूरी काम हमें करना था, गाँधीजी के सारन के दौरे का प्रबन्ध करना। सार्वजनिक सभा के स्थानों में एकमा भी था। प्रबन्ध करनेवालों में मैं मुखिया था, किन्तु गाँधीजी के साथ-साथ रहने की मुझे बिलकुल इच्छा न थी। जिन्हें लोग बड़ा आदमी समझते हैं, उनके गिर्द एक प्रभामंडल छा जाता है, उसमें रहते मुझे अपना दम घुटता-सा मालूम होता है। जीरादेई में मुझे राजेन्द्र बाबू गाँधीजी के पास ले गये, उस बार बस वही दो-एक मिनट मेरा उनके साथ साक्षात्कार हुआ। कौंसिल के चुनाव का मुझे अनुभव हो चुका था, अब डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का चुनाव होनेवाला था। कांग्रेस ने इसके लिए भी अपने उम्मीदवार खड़े

किये थे। हक साहेब ने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का तीन साल चेयरमैन रहकर शिक्षा में सारन जिले को प्रान्त में सबसे आगे बढ़ा दिया था। बोर्ड के हर एक विभाग में नई सजीवता दिखलाई पड़ती थी। हम चाहते थे, कि अबकी बार वह फिर बोर्ड में जावें और चेयरमैन बनें, किन्तु उन्होंने निर्विरोध स्थान पर खड़ा होना स्वीकार किया था। हमें बड़ा अफ़सोस हुआ, जब देखा कि उनके स्थान से एक दूसरे आदमी खड़े हो गये, और हक साहेब ने अपना नाम हटा लिया। हक साहेब बड़े आदमी थे असली अर्थ में, तो भी मेरा उनकी ओर बड़ा आकर्षण था। उनके बरताव बातचीत में एक तरह की सादगी अकृत्रिमता होती थी, जो मेरे जैसों पर भारी असर किये बिना नहीं रह सकती थी। पहिली बार हक साहेब के घर पर (फ़रीदपुर में) मैं 1922 में गया था। हक साहेब वहाँ न थे, उनकी बेगम साहब ने चाय पिलायी। चाय बिस्कुट में कोई हर्ज नहीं–बाबू मथुराप्रसाद यह जानकर मुझे समझा रहे थे, कि मैं वैष्णव होने से छूत-छात में अभी संकीर्ण विचार रखता हूं। उसके बाद हक साहेब को कई बार देखा। दूसरी बार जेल से लौटने पर तो अनेक बार उनसे मुलाकात होती। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की उम्मीदवारी के सिलसिले में मैं खास तौर से उन्हें मनाने में (20 मार्च 1927 ई.) फ़रीदपुर गया। उस वक्त मुझे पता न था, कि उस कर्पूर श्वेत दाढ़ी, उस भव्य गौर मुखमंडल–जिस पर बुढ़ापा अपनी छाप सिर्फ़ बालों के रंग तक छोड़ने पाया था,–उस सीधे-सादे किन्तु मनमोहक बात करने के ढंग को मैं अन्तिम बार देख-सुन रहा हूँ। दूसरी बातों के बाद मैं और मेरे साथी बा. रामानन्दसिंह (जिला कांग्रेस के मंत्री) श्रोता बन गये। हक साहेब के सामने दो बड़ी-बड़ी आलमारियों में 'स्प्रिचुअलिज़्म', और दर्शन की अंग्रेजी पुस्तकें भरी थीं, जिनमें से अधिकांश नई थीं, यह उनकी लाल-पीली जिल्दों से मालूम हो रहा था। उन्होंने उन किताबों की ओर इशारा करते हुए कहा–'रामउदार; क्या मारे-मारे फिरते हो, यहाँ आकर बैठ जाओ, इन पुस्तकों को पढ़ो। अध्यात्मवाद कोरी कल्पना की चीज नहीं है। परलोक और मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष सिद्ध होने की चीज है। ··· यूरोप में आत्माओं का लोग साक्षात्कार करते हैं। ··· हमारे यहाँ उतने अच्छे माध्यम नहीं मिलते। ··· मजहबी झगड़े उन्हीं की तरफ़ से होते हैं, जो उन शिक्षाओं की तह में क्रियात्मक रूप से प्रविष्ट नहीं होना चाहते···।'

मैंने क्या उत्तर दिया, यह मालूम नहीं; किन्तु स्प्रिचुअलिज्म पर उस वक्त भी मेरा विश्वास न था। मैं यह भी जानता था, कि जब से उनका बड़ा लड़का बगल की नदी में तैरते हुए डूब गया, तब से उनका ध्यान इस ओर ज्यादा हो गया है। तत्कालीन राजनीतिक नेताओं में जिस व्यक्ति के प्रति मेरी अपार श्रद्धा हुई, वह हक साहेब ही थे। कितनी ही बार मेरी इच्छा थी कि कुछ समय फ़रीदपुर में उनके पास रहूँ, किन्तु मेरा सारा समय कांग्रेस का काम ले लेता था। उनकी मृत्यु की खबर जब मैंने ल्हासा (?) में पढ़ी तो इस लालसा के अपूर्ण रहने का बहुत अफ़सोस हुआ। हक साहेब के व्यक्तित्व का मुझ पर क्या असर हुआ था, इसकी बानगी अपने एक-दो स्वप्नों से देता हूँ।–मैं चाहता था, कि छपरा में हक कालेज खोला जावे–उस वक्त राजेन्द्र कालेज का खयाल भी लोगों को नहीं आया था। छपरा में एक विस्तृत हक हाल बने, जिसमें उनकी मूर्त्ति रखी जावे। उनके प्रिय फ़रीदपुर के बगीचे को एक स्थायी स्मारक उद्यान, पुस्तकालय, कृषिविद्यालय के रूप में परिणत कर दिया जावे। उनका एक विस्तृत जीवन लिखा जावे।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चुनाव में भी काफ़ी कटुता रही। उम्मीदवारों की संख्या, और क्षेत्र अधिक होने से एक तरह इस वक्त झगड़ा और व्यापक बन गया। पिछले कौंसिल चुनाव में जो कुछ कटुसंघर्ष रहा, वह उत्तर सारन में था किन्तु अबकी बार तो सारे जिले में आग लग गई थी। एकमा से लक्ष्मीनारायण खड़े हुए थे। कांग्रेस के नाते ही नहीं, अपने घनिष्ठ सम्बन्ध के नाते भी उनकी सफलता के लिए प्रयत्न करना मेरे लिए जरूरी था। चुनाव के सम्बन्ध में सभा करने के लिए मैं 30 मार्च को परसा पहुँचा। बाजार में कुछ लोग जमा हो गये। लक्ष्मीनारायण के प्रतिद्वन्द्वी बाबू शिवजी (राजदेवप्रसाद नारायणसिंह) परसा के बड़े जमींदार थे। उनके आदमियों ने आकर मेरे व्याख्यान में विघ्न डालना, गाली-गलौज करना शुरू किया। उन आदमियों में मैंने दो-तीन आदमी ऐसे भी देखे, जो कांग्रेस के कामों में भाग लेते थे, और जरूरत पड़ती, तो जेल और मारपीट सहने के लिए सबसे आगे रहते। मेरे दिल को भारी धक्का लगा इन 'अपने' आदमियों की इस चेष्टा से। मैंने सोचा–आखिर ऐसा हो क्यों रहा है ? और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा, कि यदि बा. शिवजी गाँव के बड़े जमींदार

न होते, तो न उन्हें ऐसा करने का मौका मिलता, न ये लोग भय और खुशामद से ऐसा करने के लिए मजबूर होते। 30 मार्च 1927 ई. को वह मेरा अन्तिम बार परसा का दर्शन था। उसी दिन रात को मैंने प्रतिज्ञा की—जब तक जमींदारी-प्रथा रहेगी, मैं फिर परसा में पैर न रखूंगा।

महाराजगंज थाने में कांग्रेस-उम्मीदवार के विरुद्ध एक दूसरे उम्मीदवार खड़े हुए थे। बा. नारायणप्रसाद कांग्रेस-उम्मीदवार के विरुद्ध हो उनके लिए काम कर रहे थे। मुझे इसका अफ़सोस होना स्वाभाविक था, किन्तु जब एक घनिष्ठ मित्र के तौर पर वह (3 अप्रेल को) मिलने आये, तो चुनाव की बात चल जाने पर मैंने उन्हें कुछ कड़े शब्द सुना दिये। चुनाव तो खतम हो गया, किन्तु उन कड़े शब्दों के इस्तेमाल के लिए मेरा अफ़सोस दिन पर दिन बढ़ता गया। मुझमें यह भारी दोष है, कि किसी काम में आधे दिल से पड़ना जानता नहीं। पड़ने पर सारा ध्यान मेरा एकसू हो जाता है। यही कारण था, जो मैं नारायण बाबू जैसे व्यक्ति से बात करते वक्त भी अपने पर काबू न रख सका। किसी व्यक्ति के गुण-दोष को देखते वक्त मैं अक्सर उसकी दृष्टि से देखना चाहता हूँ, जिसमें दोषों को कम से कम आँक सकूँ। मेरी एक स्वाभाविक कमजोरी है कि किसी व्यक्ति से घनिष्ठता हो जाने पर मैं उसे सूद पर लगी एक मानसिक पूँजी मान लेता हूँ, और उस पूँजी पर जरा भी आघात पड़ने से तिलमिला उठता हूँ। नारायण बाबू के प्रति मेरी श्रद्धा और स्नेह उसी तरह की पूँजी थी। उस पर आघात करने के लिए मैं अपने को भी क्षमा नहीं कर सकता था! और यह दिल में लगी आग तब बुझी, जब 1929 ई. में मैंने ल्हासा से अपने उस व्यवहार के लिए पत्र द्वारा अफ़सोस जाहिर किया और नारायण बाबू का सहृदयतापूर्ण पत्र पा लिया।

बोर्ड का चुनाव समाप्त हुआ। कांग्रेस-विरोधी उम्मीदवारों की विजय हुई, और सबसे शोचनीय बात यह हुई, कि बोर्ड की दलबन्दी भूमिहार, राजपूत, कायस्थ आदि जातियों के नाम पर हो गई। मेरे लिए यह सबसे अप्रिय बात थी।

कांग्रेस के सामने कोई नया कार्यक्रम न था। मेरे साम्यवादी विचार 'बाईसवीं सदी' लिखकर रख रखने ही तक सीमित थे, और उनके प्रचार के लिए साथी और अनुकूल वातावरण नहीं था। उधर बौद्धधर्म के विशेष अध्ययन की मेरी इच्छा, जो लदाखयात्रा से जग उठी थी, अब मुझ पर भारी जोर दे रही थी। 22 फ़रवरी को सारनाथ जाने पर मैंने अपना विचार भिक्षु श्रीनिवासजी से कहा, उन्होंने मेरे विचारों का समर्थन करते हुए कहा—इस वक्त अच्छा अवसर भी है। लंका का विद्यालंकार विहार एक संस्कृत-अध्यापक की खोज में है, आप वहां चले जायें, बड़ी अनुकूलता रहेगी।

X X X X

ब्रह्मचारी विश्वनाथ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) राजापुर में तीन मास से अधिक रहे। महंतजी उनको बहुत मानते थे, किन्तु वहाँ उस दीहात में बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन का बिलकुल अभाव था। मैं देख रहा था, स्कूल सबइन्स्पेक्टर चौधरीजी जब राजापुर में आते, तो ब्रह्मचारीजी को कुछ सन्तोष होता, नहीं तो दिन काटना मुश्किल हो जाता। एक बार (6- 8 फ़रवरी 1927) हम दोनों महन्तजी के हाथी पर कसया बुद्ध-निर्वाण स्थान को देखने गये। भोरे से आगे चलने पर हमें हाथी की पूरी करामात मालूम हुई, और हमने उसका नाम समय-संहारक-यंत्र रख दिया। लेकिन महन्तजी के पास वही अकेला वैसा यंत्र न था। एक दिन (9 फ़रवरी) राजापुर से छपरा आना था। खाना खा लेने के बाद मैंने सोचा, बैलगाड़ी में सो रहेंगे और सबेरे तक मीरगंज पहुँच जावेंगे। नौ बजे रात को गाड़ी रवाना हुई। मैं सो गया, बीच-बीच में नींद खुलती, तो देखता गाड़ी चल रही है। सबेरा होते वक्त पूछा, तो मालूम हुआ, सारी रात में हम सिर्फ़ तीन मील आ सके हैं। मैंने गाड़ी को वहीं छोड़ा और पैदल मीरगंज का रास्ता लिया। पहिले उकताने पर, 'नई जगह है, पीछे मन लग जायेगा'—कहकर ब्र. विश्वनाथ को समझाता रहा, किन्तु अन्त में देखा, कि उस वातावरण में उनका रहना मुश्किल है, इसलिए मैं उनके स्थान छोड़ने से सहमत हो गया। 2 मार्च को हमारे साथ ही विश्वनाथजी भी एकमा आये। भविष्य का प्रोग्राम बनाते मैंने उन्हें परामर्श दिया, कि वह कपड़ों को पीले रंग से रँगकर कमंडलू ले कुछ दिन घुमक्कड़ की जिन्दगी बितावें। एकमा से कपड़े रँगकर उन्होंने अपना साधु जीवन शुरू किया।

मई (2 मई) पहुँचते-पहुँचते मैंने भी लंका जाना तै कर लिया।

परिशिष्ट

1. सन् 1922 : डायरी से

सन् 1922 की पहिली जेलयात्रा में 13 फ़रवरी से 9 अगस्त तक मैं बक्सर जेल में रहा। उस समय डायरी में मैंने अपने उलझे-सुलझे विचारों तथा कितनी ही तुकबन्दियों को नोट किया था। उनके कुछ अंशों को यहाँ उद्धृत करता हूँ, जिनसे तत्कालीन परिस्थिति में जीवनयात्रा का पता उसी व्यक्ति के मुँह से मालूम होगा।–यह निश्चय है, कि अपने सदृश उत्तराधिकारी को छोड़कर, वह व्यक्ति मर चुका है। डायरी संस्कृत में लिखी गई है, वह जैसी की तैसी उतारी जा रही है।–

17 मार्च– "अस्मिन्नान्दोलनने मनागपि सफलीभूता जनताऽग्रे भीष्मप्रयत्नेऽपि संकुचितमनस्का न भविष्यति।"

28 मार्च– "धन्या जैत्रवनभूमिर्यत्र प्रभोस्तथागतस्य चरणधूलिः पर्यापतत्। धन्यः कोऽप्यन्यश्च सौराष्ट्रचन्द्रो द्वितीयो बुद्धः परहितकामेन येन सर्वस्वमर्पितम्।"

31 मार्च– "उत्पत्ति-संयमविषयेऽवश्यं चिन्तयितव्यम्। पैतृकरोगिणां सन्तानोत्पत्तिक्रमो न साधुः। नात्र सर्वथा भौतिकनिर्बन्धप्रकार एवाश्रयणीयः। स्त्रीणां कथमपि सन्तानोत्पत्तिशक्तिहरणं स्यात्, परं पुरुषाणां कथं स्यात् ? यदि कृतवन्ध्यासंसर्ग एव तैः कर्त्तव्यः, तदा हीनचारित्र्यं विलासबाहुल्यं, विषयतृष्णावृद्धिश्च स्युः। मनसा संयम्यैव सन्ताननिरोधस्साधुः। परन्न सर्वे योगिनो भवितुमर्हन्तीत्यपि निश्चितमिव। अत्रावश्यं किमपि निर्बन्धनम्।"

6 अप्रेल– "1. सत्यवकाशे तदेव क्षेत्रं द्वितीयर्त्तुकृतेपि सन्नद्धीकर्त्तुं (शक्यम्)। 2. कृषिप्राधान्यहानिरपि स्यादस्य देशस्य। 3. कार्यविराम एव गीतादिकलाभिर्मनोविनोदः। 4. आलस्यपरित्यागवत् जात्यभिमानहानिरपि स्यात्। 5. यन्त्रागाराणि राष्ट्रीयान्यपि भवितुं शक्यन्ते। 6. कर्मकराधिक्यं व्यक्तिसेवां विना, तेन कार्यसमयन्यूनता। 7. यन्त्रगृहाद् दूरस्थेषु गृहेषु यातायातम्। 8. यन्त्रमुक्तपयःप्रक्षालितमूत्रनलिकाः। 9. पुरीषोत्सर्गश्च वहिः मृत्तिकापिधानपूर्वः। 10. रुग्णसेवा त्वन्या। 11. पृथक् पृथग् यन्त्रगृहं नदपरिसरे। 12. स्त्रीपुंसोः कार्यपार्थक्यम्। 13. बालबर्धनशिक्षा रुग्णसुश्रूषाभोजनादि स्त्रीणाम्। 14. बहुपरिश्रमसाध्यं कार्यं पुंसामेव।"

16. अप्रेल– "स्वप्नेऽपश्यं–रूसबोल्शेविकसेना युद्धानन्तरं कृष्णपर्वतमुल्लंध्या गता। यत्र यत्र सेना ब्रजति जनाः साहाय्यपरा भवन्ति। विमानेन सूचनामपि यत्र तत्र निक्षपन्ति–न वयं युष्मान् शासितुमागताः परैः पीडितानां भवतामुद्धार एवास्माकं लक्ष्यम्। सैनिकापेक्षितविशेषाधिकारोऽस्मद्धस्ते तु यावच्छत्रुर्देशे,

अन्यत् प्रबन्धादिकंभ वत्स्वेव तिष्ठतु इति। पञ्चनदाद् विद्राव्य शत्रुं इन्द्रप्रस्थ अगतायां वाहिन्यां लक्षशः पञ्चनदयोद्धारः स्वदेशसेनायां प्रविशन्ति। अन्यप्रान्तीया अपि तूष्णीं न किमपि आङ्ग्लेभ्यः साहाय्यं दातुमुत्सुकाः। गते इन्द्रप्रस्थ आङ्ग्ला उद्घोषयन्ति–भारतीया बान्धवाः युष्मत्सेवां साहाय्यं चोरीकृत्य उपनिवेशस्वराज्यं दीयते, आयान्तु संकटापन्ने देशे धन-जनसाहाय्येन इति।"

22. अप्रेल–

"किंचिन्न मेऽस्ति भगवन् ! त्वयि चार्पणीयम्,
रिक्ताशयः सपदि ते चरणौ वहामि।
दीनार्तिहन् ! प्रभुवरस्य गुणान् विमृश्य,
प्रेमास्पदेन निश्चितं हृदयं ममास्तु।। 1।।
मातः ! सदा वहसि मुञ्चसि वैभवं स्वं,
सन्तान एष यदुवंशसमः प्रयाति।
हा हन्त ! पश्य विपदाविकलां परं ते,
ह्याक्षि प्रमील्य शयनातुरतां नटन्ति।। 2।।

23. अप्रेल–

"कील हुवन्नास मुहिब्बुल्-हैवान्।
कुल्लो मन् यह्य बादे मौतेही।।
तिलकल् अकीलो सार फ़िज्जमां।
बिल्-हुब्बे मख़्लूक व हक्।।"
"दरदिलम् इश्के खुदा वह्रे दुनी पैदा शुद्।
दिलेमन् ख़िद्मत्-ओ हर्-एक् आं वक्फ़ शवद्।।
हैफ़ सद्-हैफ़ ज़िन्दगानी तू।
जुज नफ़्स बेह्न बसर् आयद् हेचू।।
मलिक दर्-खल्क शुदम् बाजबेनवा।
हस्तियेमन् बशवद् गैर-बदल्।।
दर् रहे इश्क्श गर् बेह् बकुनी।
बेः बवद् सम्र हयातक् बदुनी।।"

"मन तू मनको मति करै, मनको मनकौ तोरि।
हिय बिच हितसों हेरि ले, नहि यामें कछु खोरि।।
हा ! थी, हा ! थी सब कहैं, आं कुश काहू दै न।
हाथी हाथी सब कहैं, आंकुश काहू दैन।।
जीते मीते कित गये, जीह्मते अब आंहि।
जीते जीते हित धरहिं, मीते मीच सकाहिं।।
"मनमें तो पैनी छुरी, जिह्वा जिमि रसखानि।
नहिं 'उदार' फल लाभ हो, शुभ इन मित्रन पाहिं।।
दिल खोलत खुलता नहीं, खुलत खुलत रहि जाइ।
कृपा भई जब ईश की, आपुहि ते खुलि जाइ।।

24. अप्रेल–

"दोषा दोषयुता गता, दिवा हितं नाकारि।
अहितहिते जानासि न, किं त्वं प्रिय !भवितासि।।
जननी भूमि प्रभू पिता, भ्राता सब जग जान।
नतरु स्वर्गसम जग सबै, नरक दुःख की खान।।
श्रम करि थकि थकि कोउ मुवै, भोग करै कोउ आन।
को यह जग को न्याय है, करम बिना फलदान।।
रे बबूल ! को काम तुव, थकितं पान्थ दुखदेत।
हरि रसाल भख रस सदा, ना फल मीठो हेत।।
काठ पात फल छाल तउ, जनहितसाधनमोर।
काम बिगारन हितहरन, तुव बिच केतो जोर।।
धूली मग की धन्य तू, सबके चरनन लागु।
कबहुँक तरवर सिर धरे, सहनो ई बड़भागु।।
कारा कारा अब कहाँ, सन्त अंक हैं तासु।
जिनके पदरज परसि के, तीरथराज उजास।।
बहुश्रमते शुभ्रा भई, लोहा थालि परन्तु।
निज सुभाव छाड़त नहीं, बहुरि होत मसिवन्त।।"

25 अप्रेल–

"चन्द्र-चमत्कृत-शोभया, दाई लुमिनस् फ़ेस।
मन चकोर ता मोह में, चूँ मजनूँ दर्वेश।।
नयना नय ना जानहीं, तीखो तिनको गैल।
सयना ते सयना लरैं, हिय पर मेलत मैल।।।
है नदी नहीं जलादि, है समीर ना सुबास।
दुर्शवद् मगर बे-आब्, यौवने तथासि तात।।
तुंग धवल हिमिगिरि शिखर, स्फटिक सरिता माल।
स्नेहतरंगित सिंधुपय, जननी लालित बाल।।
सीत रक्त सित कृष्ण सब, सम प्रिय तव शिशुजात।
शीत-उष्ण निम्नोन्नत, स्नेहमयी तव गात।।
चन्द्र हास इच्छा जलधि, ज्वालागिरि तव द्वेष।
क्रमण यत्न तनु कम्प दुख, हितचिन्तनि तव वेष।।
आर्य अनार्य विभेद नहिं, नहिं वर्णन कोभूत।
देशभेदभेदक कहाँ, सब जननी केपूत।।
अज्ञ सुज्ञ निर्बल सबल, सुन्दर अवरकुरूप।
बन्धु स्नेह में मत्त हो, सजो सकल सुररूप।।"

26 अप्रेल–

"दिले-बेकार की यही आदत। न पकड़ता है यह कभी कामत।।
सैर करता है आँस्माँ की कभी। नूर नज्मुल्-फ़लक दिखाता सभी।।
सदियों में पहुँचती जहाँ से शुआअ। हद्दे-इम्काँ नहीं है जिसकी रफ़ाअ।।

तेज रफ्तार उसकी है ऐसी। दह्र में तेज है न शै वैसी।।
क्या अजब का है रखता फर्राटा। कोना-कौनैन पहुँचे धर्राटा।।
इब्ने-आदम के पास यह दौलत। हैफ़ दारद् न इल्म ई सौलत्।।
दर खलक ताकतैं दुधारी तेग। यूज करना न उनको ला-तद्रीग्।।
ताकत् उसकी में मोजजात् सभी। मल्क ताऊत हो बिगड़ता जभी।।
नेक नेकी में करता इस्तेमाल। बद बदी उसके से हुआ पामाल।।
उसके हाथों में सारी ताकत है। उसकी बातों में सारी बाबत् है।।
सख्त आहनूसा मोम-सा है नरम्। बर्फ़-सा सर्द मिस्ल शम्श गरम्।।
जुज खता (मन्) न जुर्म-ओ बीनम्। मन् नदानम् कि चीस्त रह सिद्कम्।।
दिल है मुहताज तेरे हुक्मों का। न सजावार तल्ख जख्मों का।।
सोच कर ले तो होवे परले पार। वर्न तहकीक डूबना है मँझार।।
न यह समझो कि वह हरीफ़ तेरा। गर् शवद् बाज बह्र हुक्म तेरा।।
तेरे ताबे किया खुदा ने उसे। दर् अदावत बयाफ्तश् न कसे।।
क्या करै चश्मा ऐब-चश्मी को। देना दुश्नाम् है अबस् उसको।।
तू ही फ़ाअेल है वह है इक् आला। तू ही है माह वह फ़कत् हाला।।
फ़ेले बदमे मुतीअ है जैसा। खैर मैं खैरखाह है वैसा।।
दिल की बातों को समझकर यारो। बनो दिलदार ता न तुम हारो।।
कृपा क्रीडा तेरी प्रभु रहै सर्वस्व मेरी।
रहै चिन्ता चित्ते चिर सखे स्नेहार्द्र तेरी।।
धनानन्दाब्धौ ते हृदयमामग्नं भवतु मे।
जलप्लावे गंगा ममं हृदयकुल्यां ग्रसतु ते।।"

27. अप्रेल—

"वह ग्रीष्म की जलती तपन सनसन सनकती लू चलै।
वे अरर-विरहित जंगले नहिं ओट जिनसे कुछ मिलै।।
रज पत्र लेकर उष्ण वायू, धूलिधूसर तन करै।
परितः हरित सस्यालि ग्रीष्माक्रान्त जल बिन संज्वरै।।
पर्याप्त जल पानीय नहिं स्नानीय की वैसिहि दशा।
अति मूत्रगन्ध असह्य जिससे है भरी चारों दिशा।
अधिकारियों के नाज को जो थे न पूर्व उठा सके।
क्षुद्राधिकारीगण यहाँ अब मुग्ध उनको पा सके।।
जिसको समझते थे समुच्चय रत्न का भंडार है।
कहते यथा हैं सर्वजन वैसा नहीं संसार है।।
हाँ, पक्षिगण भी त्रास से इस घर्म के कुम्हला रहे।
विह्वल (विकल-से) लोक भी नहिं वेश्म से हैं आ रहे।।
आधिक्य है ज्वरपीड़ितों का डाक्टर निश्चिन्त हैं।
नहिं पथ्य का कुछ है पता कूनैन कोरी किन्तु है।।
यदि साग आता है कभी नहिं कोयले का है पता।
जब लवण आता तो पुनः अब तेल होता लापता।।
फूटी हुई चिमनी तथा दीपक बेचारा चुप्प है।

गृह भस्ममय अथवा कभी अतिशय भभकता पुष्प है।।
सन्तापयुत गृह है अभी बाहर हुई कुछ शान्ति है।
अब बन्द करने के लिए सरदार का आह्वान है।।
एवमस्य विध्रेर्वाक्यं प्रत्यहं प्रतिवर्त्तते।
निजसिद्धान्तमाश्रित्य जनता नातिवर्त्तते।।"

28 अप्रेल–

"हृदयेश ! तव विरहेऽतिकातर एष एकमना जनः।
ताम्यति तले सीदति शरीरे स्तम्भमेति तथा मनः।।
शुश्रुम न-धन-धन हे प्रभो ! ते प्रेमपूर्णगुणावलीम्।
अर्पितमखिलमात्मीयमित्थं पश्य पुण्यपदावलीम्।।
माधुर्यमाविकसितमुपरितः क्रौर्यमविदितमाहितः।
विकसितसरोजतले यथास्ते कण्टकुलमन्तच्छिदम्।।
निष्करुण ! करुणापूरता निस्पृह ! न ते स्पृहयालुता।
पापाच्यमानं परहृदं परिपश्य ते प्रशयालुताम्।।
निर्घृण ! घृणा मे हृदि सदा जागर्ति तेऽतिसुदुस्सहा।
अक्षम ! क्षमा क्व त्वयि गिरा गौरवधरो नुगैस्सह।।
लाघवसदन ! गौरवगरिम्णा व्यर्थमिह विख्याय से।
क्षुद्रातिक्षुद्रहृदय ! महाशय एष किन्तु विभाव्य से।।
विह्वल-विरह-दग्धं जनं संत्रातुमस्ति न ते मनः।
गुर्वी गुणैर्वद वीरुदेवं क्वाविशीर्य जहौ मनः।।
नहि हृदयहारि त्वद्वचो विश्वासजुष्टं हे सखे।
असकृत् परीक्ष्य कुतः पुनः हृदयेन तत्प्राप्यः सखे।।
हतहृदय ! हा ! दग्धं स्वयं किं क्रूरकर्माणं ब्रजेः।
मृदुफलरसास्वादनमना कण्टकितरुं न मुधा यजेः।।
दत्तं सकृद्धृदयं परावर्त्तितुमहो नालं त्वहम्।
दुर्वृत्तिदुर्गुणापूर्णं तामपि हातुमसि नालं स्वयम्।"

30 अप्रेल–

"खिले प्रसून प्रसन्न ह्वै कूजत विहग न थोर।
अन्य अभ्युदय देखि के, सन्त हृदय सुख शोर।।
जीर्ण पत्र भूषा तजि, पहिरि हरित नव वास।
त्यागु पुनः सुखसम्पदा, याको करत प्रकास।।
वायुवेग अति धर्मते, जग विह्वल करि देत।
शीतल खस टट्टीन ते, गुण-अवगुण सँग हेत।।
उपजि उपजि पुनि मरि गयो, चना बिना ऋतुकाल।
काल पाय निर्बल सबल, जग बिच सबको हाल।।
पुष्पवाटिका साजते, आल बाल खनि दीन।
अस्थिर मन के कारणें, सूखे तोय विहीन।।
बहुत भये बहुशक्ति नहिं, गल्ल एकता सुष्ट।

मेरु भसकि मरुभूमि ह्वै, तृणते रज्जू पुष्ट।।
जनसंग जनसुख में पगे, मुनि मन होत कलेस।
व्यक्तिभेद ते एक ही, वस्तु कृतान्त गणेश।।
जामें कोउ चित ना धरै, दूजो तजत परान।
सबहि कुरूप सुरूप है, मानस विन्दु प्रमान।।
अनुभव ते पंडित कहैं, एकहि वस्तु विभेद।
भाव साँच ही देखनो, शान्ति सोई सोइ खेद।।
जगत निहोरा का करी, अपुन निहोरा साँच।
खुशी भइल जब आपनी, सब जग आपन जाँच।।

1 मई–

"गर सताता है कोई तो जुल्म को सहता रहे।
जुल्म सहने में मजा है जुल्म करने में न है।।
गर बहुत जीना भी होवे तो भी राहत-कल्ब को।
हिल्म में मिलती तुम्हें जो जुल्म में मिलती न है।।
दिल की ख्वाहिश के मुताबिक जब कोई करता नहीं।
है मतानत टूट जाती लुत्फ़ फिर रहता न है।।
बाहरी चीजों में है ना लुत्फ़ हरगिज ऐ जनाब !
लुत्फ़ उसमें क्या भला कि जो पसन्दे-दिल न है।।
रहम जौहर है बनी-आदम का मिस्ले नूर नार।
हो तरस मस्अब् अदू पर गो कि वह मुश्फ़िक न है।।
हेच है दर नज्रे अश्रफ़ नेमतुज्जन्नात् भी।
खैर खादिम के लिए मख्दूम् कस् मुनअम् न है।।
नज्र हो कालिब अनास् है यह फरिश्तों की दुआ।
खल्क की खिदमत में तो बेहतर फरज इससे न है।।
दर्द दिल हो और को पर आह सद् भरता रहूँ।
जिन्दगी का यह मजा मकबूलतर किसको न है।
गैर की जलती में कूदे जिस्म उस्कीकी लिये।
सर्द है आतिश व बादे-सर्द फ़र्हत्देह न है।।
खल्करा दर-हुब्ब बीनी हुब्बरा दर-खल्क बीं।
गर् तुँ लज्जत जीस्त ख्वाही हुब्बरा दर दिल निही।।"
"काँच आँच बहुतै सहै, निर्मल तत तब सोय।
कह 'उदार' किमि आँच बिन, मन मल शोधन होय।।
जामे जेतो श्रम लगै, वाको तेतो दाम।
मानिक मोल अमोल है, गुंजा लहै न काम।।
थिर गुन गुनि को मोल बहु, अथिर थोरही पाय।
पीतल सुन्दर वरन किमि, कंचन भाव बिकाय।।
खेत श्वेत जिन कारणे, तिनको करत न ख्याल।
जिनके धन पीवर भये, तिनहिं विनासत व्याल।।
सूत बहुत सन्तान ते, पटहित करत पुरान।
उपल गंध बरिसान ते, स्वारथ हृदय जुरान।।"

3 मई–

"न्याय सहायक और ह्वै, जहाँ मिलत है न्याय।
झूठ ढिंढोरा न्याय का, तहाँ पिटावत धाय।।
सब पंथन में ऊपरो, धर्माडंबर वेष।
दूरहि ढोल सुहावनी, यही सिद्ध अवशेष।।
धर्म दोहाई देइकरि, लूटि खात संसार।
सब ठगई के जानतेउ, बनत न नर हुसियार।।"

"बहिस्तनवृत्तोपासका लोका नान्तरनिरीक्षकाः। अध्यात्मवादव्याजेन कति नु वञ्चका दृश्यन्ते। अध्यात्ममया अपि जना लोकमायाप्रलोभिताः तद्रागाक्रान्ताश्च।"

4 मई– "धर्ममयं जगत्! अहो वञ्चना! यदि वञ्चनां प्रकाशयेत् कश्चित्, सर्वे तत्पृष्ठलग्नाः तत्प्रतारणपराः। तदनुसरणपरा एव तद्बहुमान्याः, महानुभावाः, योगीश्वराः, विद्वदग्रेसराः, विरागावताराः, काकविष्ठावत्परित्यक्त सर्वपरिग्रहाः, ब्रह्मभूताः, संन्यासिप्रवरा इमे! हन्तःनैभ्यः परे वञ्चकाः, दुःशीला, लम्पटाः, अविद्याग्रस्ताः, रागग्रस्ताः, लिप्तसर्वविषयाः, अज्ञानिनः स्युः।"

5 मई– "लोकाः! किं वो फलमेभिः पाषण्डैः? परस्परं वञ्चयन्तः किं तन्महत्वं···, यत्साधनैकपरा अविगणय्य सर्वमन्यद् एवं सत्यपराङ्मुखाः। अहो! आत्मवञ्चकाः··· उपरि सुधालिप्तप्रासादा अन्तर्मलीमसा एव। सर्वोऽपि व्यवहारो जगति वञ्चनया प्रचलित।"

17 मई– "साम्यधर्मार्थं ग्रामे ग्रामे कृषकसंघाः, श्रमजीविसंघाः स्थापनीयाः। संग्रथनं कांग्रेस क्रमेणैव स्यात्। कांग्रेससंस्थायामपि गच्छेयुः, कांग्रेसाभावे तादृश्यो माण्डलिकप्रान्तीयसंस्थाः स्युः। स्वराज्यस्थापनानन्तरं यावद्बाह्यशत्रुभयं तावन्नास्त्यपेक्षा बृहदान्दोलनस्य।। सुधारेणैव तावत् श्रमजीविनां दशा सुधारणीया। स्वशासने पुष्टे सम्यग् आन्दोलनं प्रचलेत्। धर्मवर्णभेदो न मध्ये स्याद् भिन्नताकारणम्। धनिकनिर्धनभेद एव भेदहेतुः। धनिकान् स्ववंश्यानधुनाऽनुव्रजन्ति निर्धनाः। स्वभावः परिवर्त्तनीयः।।···"

18 जून– "शैशवं धन्यम्। आजन्ममधुरं शैशवं कथं नाभूत्। बृद्धानां तत्कथाश्रावणम्। ···शैशवमेव किं, यद् यत् परोक्षं सर्वं मनोरमं तत्। शिक्षाप्रदाः कथाः कालान्तरे एवं विस्मृताः स्युः। अन्या एव पुस्तकैः प्रचार्यन्ते। स्वतः कालान्तरे प्राचीनानां विनाशो ध्रुवम्। मनः भौतिकसामग्रीविरचितो न (वेति न) वक्तुं सन्नद्धः। असम्भवकथाप्रचारे को लाभः। बुद्धिहीनप्रलापे किंसारे किं सारइति।···"

20 जून– "हन्त! लोके विचित्रा मौर्ख्यपरम्पराः। स्त्रैणाः केचन स्वजघन्यैराचरणैरेव स्वर्गागारलुंठनपरा कृतार्थम्मन्याः। घृणितक्रियाकलापैरन्ये निःश्रेयसमधिजिगांसते। आचारभ्रष्टाः कुटिलहृदयाः साम्प्रतं जनैः पूजिता अवतारपदवीं यावद्भजमानास्तिष्ठन्ति, (तथैव) जीवनचरितेषु प्रकाश्यन्ते। कालान्तरे समसामयिकानामभावे ते तथैव स्वीकृताः स्युः। इदानीमेव यदा ईदृक् ख्यातिः अग्रे को रोद्धमलम्।"

29 जून– "हन्त कीदृशं जीवनम्! क्षणे कटुमरीचिका आस्वादवती प्रतीयते, क्षणे सुमिष्टमोदकाः कटुतां व्रजन्ति। दिनं कदाचिदुल्लासमयं रजनी सुखरजनी, तत्परिवर्त्तनेऽपि न भवति चिरम्। अहो नास्ति वस्तु किमपि स्वादु नीरसं वा, नास्ति कुरूपा सुरूपा वा काचित् सती, यामेव पति रन्विच्छेत् सैव रूपराशिः। यत् स्वमनोनुकूलं तदेव समीचीनं वस्तु।"

30 जून– "(यांत्रिक) व्यवसायः? सहस्राणां दारिद्र्यक्रोडगतानां श्रमजीविनां को महानुपकारः सति महति सुधारेऽपि। न साम्प्रतं आढ्यानां क्षेत्रपानां चोन्मूलनमभिप्रेतं···। कथं तर्हि संजीवनम्? कलाबृद्धौ महानुपकार आढ्यानामेव वाणिज्यवृद्धौ वणिजाम्। शिल्पबृद्धौ न शिल्पिनां वराकाणाम्।···"

5 जुलाई– "अभ्यासायैकान्तवासोऽपेक्ष्यते केषांचिन्मासानाम्। न युक्तमस्मादृशां संर्वथा वसतिवासः। ज्ञानहानिः, आत्महानिः स्वभावहानिरिति सर्वतो हान्याधिक्यं लाभमात्रा स्वल्पीयसी। तथापि जनहितसाधनाय सर्वसहेन मया भवितव्यम्। न कस्य रागः न कस्य दोषः। मदीयं सर्वस्वं अखिलजगत्यै। न साधनापुष्टिर्भवेद् यथा तथा परिवर्त्तितव्यम्।"

14 जुलाई– "... जनहितविघातिका याः का अपि संस्थाः तासां भूतलाद् अत्यन्ताभाव एव वरं जातु ता ईश्वरवादिन्योऽनीश्वरवादिन्यो वा स्युः।"

20 जुलाई– "साहित्य एवं शुद्धहिन्दीभाषाया अपेक्षा। इतिहासादिग्रन्थानामेकैव भाषा। लिपिभेदस्तु तिष्ठतु तावद्। काले स्वैरं राष्ट्रीयतोदये किमपि भविष्यति परिवर्त्तनम्। अन्यत्रापि साहित्यभाषा भिन्ना भवति। एवं उभयोरुर्दूहिन्द्योः साहित्याध्यापनपार्थक्यं स्यात्, अन्यत्सर्वं एकत्रैव भवितुं शक्यते। सर्वधर्मानुयानामेकस्मिन् विद्यालयेऽध्ययनं साधु।"

29 जुलाई–

"मान मिलता है अगर मानकी मानै न कही।
जिन्दगी हेच है जिसके लिए जीता है वही।।
एक मर मर के भी मिट्टी में नहीं मिल जाता।
चमन में सैकड़ों फूलों की शकल खिल जाता।
लुत्फ़ दुनिया की हवस् हो न तो लुत्फ़ उसमें है।
बाग तो बाग रेगिस्तान में हर फूल खिले।।
दमबदम शक्ल शगल खल्क बदलती है मुदाम्।
गैर-अस्बात में अस्बात के फँसने का क्या काम।।
शोर सुनते हैं हम आलिम हैं व आजम हैं मगर।
दिल में देखा तो है कोई नहीं हमसे अहकर।।
चहकती बुलबुलें औ कूकती कोयल हैं कहाँ।
कैसे वाँ ठहरैं दबिस्तान है वीरान जहाँ।।
किसमें लज्जत है नहीं स्वाद है यह किसमें कहैं।
जबकि हर चीज में हर दम न वह लज्जत ही रहै।।
है यह नफ़रत के हटाने को न नफ़रत काफ़ी।
मर्जे दिल के लिए इक हुब्ब है काफी शाफ़ी।।

1 अगस्त (1922)–

"बिम्बाबिम्बोदकजनयने चन्द्रचंक्रान्तहासे।
पद्मच्छद्मोद्धृतनिजकरे शिंशुपुष्पांगयष्टे।।
विश्वम्भूतेऽम्ब ! हृदि कलये सुप्रवालाधरोष्ठाम्।
पादाम्भोजाश्रितमधुकराव्यूहवैवर्ण्यवृत्तः।।"

"चूर्ण करके क्षोद सम उत्तुंग गिरि को इस तरह।
फूत् करके धूलि सम वीभत्स नाटक खेलना।।
सर्वमंगलमयि ! नशा इस रम्य (मृदु) उद्यान को।
क्या कोई इसमें छिपा है भव्य अन्य रहस्य भी।।

(तिलक)–

"साल होता है तेरे जाने में। ख़याल तेरा है दाना दाने में।।
बीज बोया था जिसका तूने यहाँ। खून से सींचे था जिसे तू यहाँ।।
फूल लगने का उस प वक्त आया।- नजरें दौड़ीं न तू नजर आया।।
जिन्दगी से पढ़ाया था जो सबक। कौम के दिल प है जमा वह तबक।।
जाहिरी नजरों में न गो तू है। पर बहक सबका दिलनशीं तू है।
दिल यह कहता है देखूँ फिर वह जमाल। हैफ़ गो है यह मिन् अमूरे महाल।।
तिलक क्या फिर न तू अब आयेगा। मुंतज़िर नजरों में समायेगा।।"

"अब्दौ जातौ ह्य इव मनसि प्रत्यत्ययस्त्वत्प्रयाणे।
आवर्तान्यं पदमु शुशुभे त्वद्वचस्त्वादधानाः।।
दृष्टेर्वृष्टिः शिशुषु पतति क्वास्ति ते विग्रहार्हः।
हन्तात्माते स्थित इत इव प्रार्थयामः शरीरम्।।
आपाद्य स्वायुरखिलरसैः स्वक्षितेरुर्वरात्वम्।
उप्तं बीजं च रुधिरपयोबर्द्धितः पादपस्ते।।
काले पुष्पोद्गम इह विभो ! दृष्टयस्त्वद्दिशीकाः।
आमोदास्त्वद्विरहविधुरा न प्रमोदावहाः स्युः।।
दिव्यावाणी हृदयकुहरान् पावयन्ती सदा ते।
सौम्याचाराः सृतिषु सकलान् माधरीं मादयन्तें।।
निर्भीकास्ते गमनसरणी सारथी सारथीनाम्।
एकैकस्ते गुण उपकृतेस्सक्षमो बाल सूरे।।
कुर्वन्तस्ते हितयुतवचः पालनं प्राञ्जलान्ताः।
धर्मेणैवं जननि सितपादाम्बुजं सेवमानाः।।
क्लेशाश्लेषान् विवृतहृदया आदरादाददानाः।
शत्रुश्रीणां मुखमसितमाधाय चाग्रे सरन्ति।।
वर्षस्यैकं स्मरणनटना त्वन्मता स्यान्न मन्ये।
आजन्मार्च्य प्रणतिविरहा स्वार्चना स्वादिता ते।।
वाणी भाणप्रहितनुतितः पाणिमूकस्तवस्ते।
प्रेयः सर्वात् सरलसुगमः कर्मयोगो यतस्ते।।
दोषादोषे दनुजहृदयाह्लादकल्हारचन्द्रः।
क्षीणाधीनाकुचित जनतापद्मिनी पद्मिनीशः।।
ज्वालामालाऽऽटवि निशिभीः भीष्मनृश्वापदानाम्।
लोकालोकस्तिलक ! जगतो जीवनं जीवनं ते।।"

4 अगस्त– "··· आजन्मनः किलाध्ययनाध्यापनपर्यटनानि हि मे कार्याणि···।"

8 अगस्त– "··· अस्माभिः स्वकर्त्तव्यमेवानुसर्त्तव्यम्। प्रदानेन न क्वचित् केनचित् स्वातन्त्र्यमधिगतम्। जगति स्वार्थान्धा धूर्ता चांगलजातिः, न प्रसन्नतया किमपि सुकृत्यमनुतिष्ठति। अमेरिका स्वयं स्वतंत्रतामध्यगात्, आयर्लैण्डोऽप्येवम्।"

9 अगस्त–

"जाता हूँ तेरी गोद से मुहसिन है विदा। ऐ जेल मेरे गोशये-तस्कीन अल्विदा।।
पाबन्द था आ तुझमें मैं आजाद हुआ। आजाद फ़रिश्तों की जगह-पाक विदा।।

उल्मा व रहीबों के हुए दर्स यहाँ। माजी के वह हाल के सबके ही विदा।।
खस्लत को फ़रिश्तों की यहाँ करते हैं मात। कम है न मगर कांटे भी महरम् है विदा।।
कुछ कम नहीं छः माह तेरी गोद पले। दिल होता है मुज़्तर फ़िराक तेरे विदा।
औरा के कुतुब-दीन रहे तुझमें खुले। औराक़-ख़लक खालिके-ताला भी विदा।।
कुल्फ़त में तेरी था वह हलावत का मजा। एहसास् है होता नहीं इज़हार विदा।।
दीवार व दर तेरे थे महबूब अगर। अहबाब हक़ीकी थे तेरे सब्जा विदा।।
होता हूँ जुदा पर न हमेशा की उमीद। मिलने की रियाजत में रहूँगा ही विदा।।
है हल्कये-एराफ़ अगर खुल्द नहीं। दोजख़ व अदन आते नज़र तुझसे विदा।।"

"शयन भोजन साथ था होता यहाँ पर इस तरह।
भाई भाई बालापन में मातक्रोडे जिस तरह।।
पढ़ने लिखने के लिए मानो सतीर्थ्य समग्र ही।
बैठे हैं आचार्य ऋषियों के चरणतल में सभी।।
युग गये जिनके सुदिव्य पवित्र विग्रह उठ गये।
उनके अनुपम शास्त्रविग्रह-दर्श से दुख मिट गये।।
साथ रह जड़जन्तु का भी, प्रेमपथ होता प्रशस्त।
फिर न प्रेमागार मानवहृदय क्यों हो प्रेम-मस्त।।
सन्त सन्त-वियोग दुख दारुण सहैं बुधजन कहैं।
हम असन्त वियोग-दुख-गम्भीर-धारा में बहैं।
चिर-प्रतीक्षित कर्मपथ आह्वान यद्यपि कर रहा।
स्नेहबन्धन बन्धुओं का मुक्त पर नहिं कर रहा।।
इतने दिन निश्चिन्त हो थे प्रेम से रहते रहे।
हो प्रसन्न विपत्तियों को साथ थे सहते रहे।।
इस नगर से जानेवाले को यद्यपि दर्शन नहीं।
पर भविष्य स्वकर्म से होता अनाश्वासन नहीं।।
बन्धुओ ! आजन्म यह मिलना न भूलेगा कभी।
स्मरण होवेगा जभी स्वर्गीय सुख होगा तभी।।
कर्म में जा अपने-अपने लग्न हो जाना अगर।
भूल जाना अपने इन लघु प्रेमियों को फिर न पर।।"

2. सांकृत्यायन-वंश*
(सरयूपारीण मलाँव-शाखा)

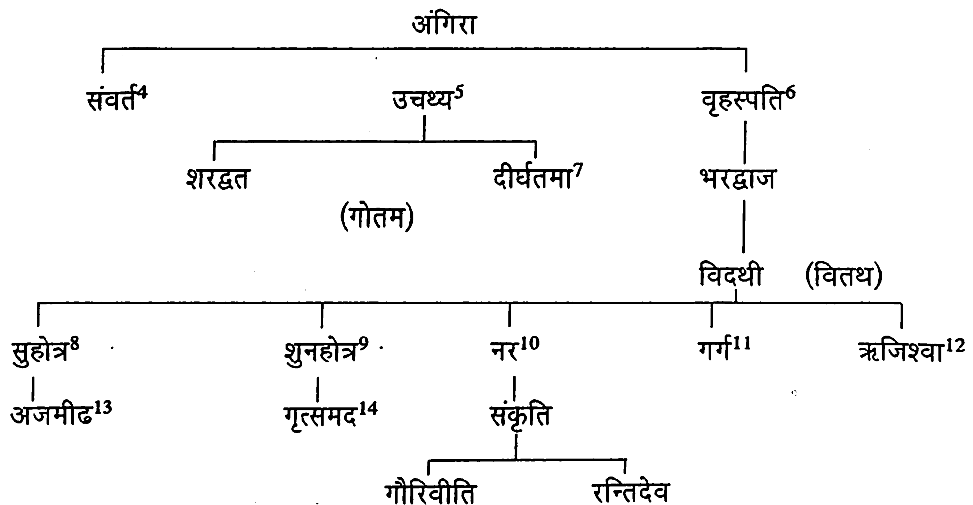
(क) वैदिक काल

उत्तरी भारत के ब्राह्मणों में सरयूपारीण या सरवरिया ब्राह्मणों का एक खास स्थान है। इनकी बस्ती अधिकतर फ़ैजाबाद, बनारस और गोरखपुर की कमिश्नरियों (बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, आजमगढ़, गोरखपुर, बस्ती, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, प्रतापगढ़, सुलतानपुर के जिलों) तथा बिहार के सारन, चम्पारन,

* 1939 में लिखित।

शाहाबाद के जिलों में है। इन जिलों के पड़ोसी जिलों में भी इनकी काफ़ी संख्या है। वैसे विस्तार तो मध्यप्रदेश तक चला गया है। इसी प्रदेश में काशी नगरी जैसा संस्कृत विद्या का केन्द्र होने के कारण इनके भीतर संस्कृत का गंभीर पाण्डित्य होना स्वाभाविक ही है। साथ ही इनमें सामाजिक संकीर्णता यहाँ तक रही है, कि अभी तीन-चार वर्ष पहिले तक कोई भी सरयूपारी किसी विलायती विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट नहीं था। सरवरिया ब्राह्मणों के प्रधान 16 गोत्रों में सांकृत्य गोत्र भी एक है। गोरखपुर जिले का मलाँव गाँव (गोरखपुर से 14 मील दक्खिन अक्षांश 26°/32' उ., देशांतर 83°/25') इनका मूल स्थान है; इसीलिए पदवी के साथ मिलाकर इन्हें मलाँव-पांडे भी कहा जाता है।

भरद्वाज, कश्यप, गोतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वशिष्ट–ये सात वैदिक ऋषि सप्त-ऋषियों के नाम से विख्यात हैं।[1] ऋग्वेद के दो सूक्तों (9/67; 10/137) में इन सातों[2] ऋषियों की बराबर संख्या में कुछ ऋचाएँ एकत्रित की गई हैं। पहिले सूक्त में तीन-तीन और दूसरे में एक-एक ऋचाएँ हैं, और दोनों जगह सर्वप्रथम भरद्वाज की ऋचाएँ हैं, जो अभ्यर्हितं पूर्वं (पूज्य को पहिले) के नियमानुसार भरद्वाज की प्रधानता सिद्ध करती हैं। ऋग्वेद के 1017 सूक्तों में से 36 से अधिक[3] भरद्वाज-रचित हैं, यह भी भरद्वाज की विशेषता को बतलाते हैं। भरद्वाज वार्हस्पत्य का वंश-वृक्ष इस प्रकार है–



1. "विश्वामित्रोऽथ जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गोतमः।
अत्रिर्वशिष्टः कश्यप इत्येते सप्तर्षयः।।" (बोधायन-सूत्र, प्रवराध्याय)
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरगिंरा। वसिष्ठो वामदेवोऽत्रिस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः।।(अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड)
कहीं-कहीं आठ ऋषि भी मिलते हैं–भृगु अंगिरा, मरीचि, अत्रि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु (वायु-पु. 19/68-9, मत्स्य पु. 171/28)
2. बाकी छः ऋषियों के मंत्र ऋक्-संहिता में निम्न प्रकार पाये जाते हैं :–
कश्यप मारीच 1/99; 8/29; 9/64; 9/67/ 4-6; 9/91; 92, 113, 114: 10/137/ 2/ । **गोतम राहूगण** 1/74-93; 9/31; 9/67/7-9; 10/137-3/ । **अत्रि भोम** 5/27. 37-43. 76. 77. 83-86; 9/67/110-12; 9/86/41-45; 10/137, 4/ । **विश्वामित्र गाथिन** 3/1-12, 24, 25, 26 (1-6, 8, 9,), 27-32, 33 (1-3, 5, 7, 9, 11-13), 34, 35, 36 (1-9, 11), 37-53, 57-62; 9/67/13-15; 10/137/ 5; 10/167/ । **जमदग्नि भार्गव** 3/62/16-18; 8/101; 9/62, 65, 67 (16-18), 10/110, 137 (6), 167/ । **वसिष्ठ मैत्रावरुणि** 7/1-32, 33 (1-9), 34-104; 9/67 (19-32), ..), 97 (1_3); 10/137/7/ **3–ऋक्** 6/1-14, 16-33, 37-43; **और** 9/67 **तथा** 10/137 **के सप्तमांश। 4–संवर्त आंगीरस ऋग्** 10/172/ । **5–उचथ्य आंगीरस ऋग्** 9/50-52/ । **6–बृहस्पति आंगीरस** 10/71,72 **7–दीर्घतमा औचथ्य ऋग्** 1/140-164/ । **8–सुहोत्र भारद्वाज** 6/31,32/ । **9–शुनहोत्र भारद्वाज** 6/33,34/ । **10–नर भारद्वाज** 6/35,36/ । **11–गर्ग भारद्वाज** 6/47/ । **12–ऋजिश्वा भारद्वाज ऋग्** 6/49-52; 9/98, 108,7 । **13–आजमीढ़ सौहोत्र ऋग्** 4/43,44 । **14–गृत्समद आंगिरस शौनहोत्र पश्चाद् गृत्समद भार्गव शौनक ऋग** 2/1-3, 8-43; 9/86/46-48 ।

कात्यायनकृत ऋग्वेद के सर्वानुक्रम में[1] वितथ या विदथी के सुहोत्र आदि पाँच पुत्र लिखे हैं, किन्तु महाभारत[2] आदि में शुनहोत्र को छोड़ बाकी चार वितथ के पौत्र और भुवमन्यु के पुत्र कहे गये हैं।

संकृति ऋषि का काल–भरद्वाज के चचेरे भाई तथा उचथ्य के पुत्र दीर्घतमा–जो पीछे गोतम के नाम से प्रसिद्ध हुए–ने दुष्यन्त के पुत्र शाकुन्तलेय भरत का अभिषेक[3] कराया था और भरत ने सन्तानों के मर जाने पर दीर्घतमा की प्रेरणा से भरद्वाज को गोद लिया। भरद्वाज ने स्वयं गद्दी न ले अपने पुत्र वितथ या विदथी को राज्यसिंहासन दिया।[4] इस प्रकार भरद्वाज की सन्तान आगे चलकर भरत के वंश और राज्य की उत्तराधिकारी हुई, और इसीलिए महाभारत ने "भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्" लिखा। नीचे दिये भरद्वाज के वंशवृक्ष से पता लगेगा, कि कौरव-पांडव स्वयं भरद्वाज के पुत्र विदथी की संतान थे, और उन्हीं के दूसरे पुत्र नर से संकृति पैदा हुए–

1. दुष्यन्त
2. भरत[5]
3. भरद्वाज (1500 ईसा-पूर्व)
4. विदथी (वितथ)
5. सुहोत्र — शुनहोत्र — नर
6. अजमीढ़, पुरुमीढ़ (सुहोत्र के पुत्र) — गृत्समद (शुनहोत्र का पुत्र) — संकृति (नर का पुत्र)
7. ऋक्ष (अजमीढ़ का पुत्र) — रन्तिदेव (संकृति का पुत्र)
8. संवरण (1400 ई. पू.)
9. कुरु (1380 ई. पू.)
10. चित्ररथ
11. जह्नु
12. सुरथ
13. विदूरथ (1300 ई. पू.)
14. सार्वभौम (1280 ई. पू.)
15. जयत्सेन
16. अपराचीन
17. अरिहा
18. महाभौम (1200 ई. पू.)
19. अयुतानायी
20. अक्रोधन
21. देवातिथि
22. ऋच (अरिहा)
23. ऋक्ष (2) (1100 ई. पू.)
24. भीमसेन
25. दिलीप
26. प्रतीप
27. शन्तनु
28. विचित्रवीर्य (1000 ई. पू.)

---

1. सर्वानुक्रम (कात्यायन) और वेदार्थदीपिका।–(सायण) ऋग् 6/52A
2. दायादो वितथस्यासीद् भुवमन्युर्महायशाः।
   महाभूतोपमाः पुत्राः चत्वारो भुवमन्यवः।।
   वृहत्क्षेत्रो महावीर्यो नरो गर्गश्च वीर्यवान्।
   नरस्य संकृतिः पुत्रस्तस्य पुत्रौ महौजसौ।।
   गुरुधी रन्तिदेवश्च सांकृत्यौ तावुभौ स्मृतौ।
   गर्गाः संकृतयः काप्याः क्षमोपता द्विजातयः।। –(वायुपुराण 91/115; ब्रह्माण्ड 3/66/86; महाभारत 12/234/4396 के आधार पर)
3. ऐतरेय ब्राह्मण 8/23, 21
4. "उपनिन्युर्भरद्वाजं पुत्रार्थं भारताय वै।
   दायादोंऽगीरसः सूनुरौरसस्तु बृहस्पतेः।।
   भरतस्तु भरद्वाजं पुत्रं प्राप्य बिभुर्ब्रबीत्।
   प्रजायां संहृतायां वै कृतार्थोहम् त्वया विभो।।
   ततस्तु वितथो नाम भरद्वाजात् सुतोऽभवत्।
   तस्मात् दिव्यो भरद्वाजो ब्राह्मण्यात् क्षत्रियोऽभवत्।।
   ततोऽथ वितथे जाते भरतः स दिवं यथौ।
   भरद्वाजो दिवं यातो ह्याभिषिच्य सुतं ऋषि।।" –(महाभारत 1/94/3710-3)
5. Chronology of Ancient India (S.N.Pradhan) pp. 79-80

29. पाण्डु
30. अर्जुन
31. अभिमन्यु
32. परिक्षित्
33. जनमेजय (900 ई. पू.)
34. शतानीक
35. अश्वमेधदत्त
36. अधिसीम कृष्ण
37. निचक्षु
38. उष्ण (भूरि) (800 ई. पू.)
39. चित्ररथ
40. शुचिरथ
41. वृष्णिमान
42. सुषेण
43. सुनीथ[1] (700 ई. पू.)
44. नृचक्षु (भिचक्षु)
45. सुखीबल
46. परिप्लुत
47. सुनय
48. मेधावी (600 ई. पू.)
49. नृपंजय
50. तिग्म
51. वृहद्रथ
52. वसुदामा
53. शतानीक (500 ई. पू.)
54. उदयन (480 ई. पू.)

इस वंशावली[2] में भरद्वाज से उदयन (वत्सराज) तक 54 पीढ़ियाँ होती हैं। डाक्टर प्रधान ने प्रत्येक पीढ़ी के लिए 28 साल रखा है, किन्तु मेरी समझ में वह ज्यादा है, खासकर राजाओं और उनके दायादों के सम्बन्ध में, इसलिए प्रत्येक पीढ़ी के वास्ते 20 साल रखना ठीक होगा। उदयन वत्सराज, बुद्ध के निर्वाण के समय 487 ई. पू. में मौजूद था, और उतना वृद्ध न था। उसे 480 ई. पू. मानने पर भरद्वाज का समय 1500 ई. पू. और संकृति का 1440 ई. पू. होगा।

पंचाल का प्रतापी राजा दिवोदास भरद्वाज ऋषि पर विशेष श्रद्धा रखता था, इसीलिए ऋषि ने दिवोदास की प्रशंसा ऋग्वेद[3] की, अपनी कई ऋचाओं में की है। किसी शम्बर (शबर या आर्यभिन्न)–राजा पर दिवोदास की विजय को इन्द्र के धन्यवाद के रूप में ऋषि ने इस प्रकार वर्णन किया है–

"हे इन्द्र ! तुम (शत्रु-नि) वर्हण, प्रशंसायोग्य हो, तुमने सैकड़ों सहस्रों (असुर-) शूरों को परास्त किया, तुमने पहाड़ से आये दास शम्बर को मारा, और विचित्र रक्षा-प्रकार से दिवोदास की रक्षा की।"[4]

इसी दिवोदास की बहिन[5] अहल्या थी, जो दशरथ, वशिष्ठ और विश्वामित्रकालीन गोतम ऋषि की पत्नी थी। गोतम ऋषि कौन थे ? भरद्वाज की माता ममता और चचा उचथ्य (उतथ्य) के पुत्र जन्मान्ध दीर्घतमा ही पीछे आँख प्राप्त कर लेने पर गोतम कहे गये।[6] इस प्रकार भरद्वाज वैदिक काल के आरम्भ में पैदा हुए थे, और ऋग्वेद के निर्माण में उनका काफ़ी हाथ था। भरद्वाज से चौथी पीढ़ी अजमीढ़, पुरुमीढ़, गृत्समद के बाद वेद-ऋचाओं के निर्माण का काम बहुत कुछ समाप्त हो जाता है।

ऋग्वेद के मंत्र-कर्ताओं को जब हम देखते हैं, तो मालूम होता है, कि अभी आर्यों में क्षत्रिय, ब्राह्मण जातियाँ अलग-अलग नहीं बनी थीं। भरतवंश के उत्तराधिकारी विदथी क्षत्रिय नृपति थे, और उनके पौत्र अजमीढ़

1. Chronology of Ancient India (S.N.Pradhan) p. 256
2. A.I.H.T. (Pargiter) p. 112, A.I.H.T. (Pargiter) p.112, Chronology of Ancient India (S.N.Pradhan) pp. 79,80, p. 259
3. इयमददाद्रभसमृणमच्युतं दिवोदास वध्र्यश्वाय दाशुषे।
   या शाश्वन्तमाचक्षाणादायसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति।। –ऋग् 6/26/2
4. त्वं तदुक्थमिन्द्र बर्हणा कः प्रयच्छता सहसा शूर दर्षि।
   अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूती।।। –(ऋग्. 6/26/5)
5. वध्र्यश्वान्मिथुनं यज्ञे मेनकायामिति श्रुतिः।
   दिवोदासश्च राजर्षिरहल्या च यशस्विनी।। –वायुपुराण 99/200 (मिलाओ, हरिवंश 1/32/70; विष्णुपुराण 4/19/16)
6. वायुपुराण 99/26-34, 47-97; ब्रह्माण्डपुराण 3/74/25-34, 47-100; मत्स्य. 48/23-29

सौनहोत्र से कुरु, उत्तर पंचाल, दक्षिण पंचाल के राजवंश पैदा हुए। पुराणों[1] के अनुसार शुनहोत्र के तृतीय पुत्र गृत्समद के वंशज शौनक ने ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों को कायम किया। भारद्वाजगोत्री[2] शौनक का वंशवृक्ष डाक्टर प्रधान ने इस प्रकार दिया है[3]–

गृत्समद (1440 ई. पू.)	तमः
सवेता	प्रकाश
वर्चा सावेतस	वागीन्द्र
विहव्य (ऋग् 1/128)	प्रमिति
वितस्त्य (वितत्य)	रुरु
सत्त्य	शुनक
शिवस्तसन्ताः	शौनक (परीक्षित् 920 ई. पू.)
शर्वाः	

शौनक का समय महाभारत-काल के करीब पड़ता है; और उस समय तक वर्णव्यवस्था–खासकर ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ण-व्यवस्था–नहीं थी, यह बात तो व्यास, और धृतराष्ट्र तथा पांडु के उदाहरणों से भी सिद्ध होती है।

नर ऋषि (1460 ई. पू.)–राजा विदथी यावितथ के पुत्र नर ऋग्वेद के[4] ऋषियों में से हैं। ऋग्वेद के छठे मंडल के 35, 36 सूक्तों की दश ऋचाओं में उन्होंने इन्द्र की वीरता की स्तुति की है, और अपने वंशजों–भरद्वाजों और आंगिरसों के लिए खासतौर से गोधन की याचना की है। "समुद्रं न सिन्धवः" (समुद्र में नदियाँ जैसे) ऋचाभाग से पता लगता है, कि नर का रहना अधिकतर पंजाब में रहा। नदी वाचक सिंधु शब्द कुरु-पंचाल या काशी-कोसल में नहीं फैलने पाया था। दर्द-भाषा में (गिलगित के पास) तो आज भी हर एक नदी को सिन्धु कहा जाता है।

संकृति (1440 ई. पू.)–संकृति नर जैसे मंत्रकर्ता के पुत्र थे और गौरिवीति (गुरुधी, गुरुवी) जैसे मंत्रकर्ता ऋषि तथा रन्तिदेव जैसे चक्रवर्ती राजा के पिता थे। संकृति के बारे में हम इससे अधिक नहीं मानते।

गौरिवीति सांकृति (1420 ई. पू.)–ऋग्वेद के मंत्रकर्ता ऋषि गौरवीति[5] को शाक्त्य कहा गया है, इसलिए भ्रम हो सकता है कि यह गौरिवीति शायद वशिष्टसून शक्ति के पुत्र हों। लेकिन वशिष्ठ-वंशज तो यह नहीं थे, क्योंकि (1) इनके रचित एक सूक्त (5/29) मंत्र को वशिष्ठ के मंडल (ऋग् 7) में न रखकर आत्रेय-अंगिरस मंडल (ऋग् 5) में रखा गया है; (2) इनकी रचित दो ऋचाएँ (9/10/12) ऐसे सूक्त में रखी गई हैं, जिनके ऋषि ऊरु आंगिरस, ऋजिश्वा भरद्वाज, ऊर्ध्वसद्मा, आंगिरस, कृत्ययश आंगिरस–संकृति-वंशियों जैसे आंगिरस हैं; (3) इनके दो सूक्त (10/73, 74) वृहस्पति आंगिरस के दो सूक्तों (ऋग् 10/71, 72) के बाद आते हैं; (4) जैमिनीय ब्राह्मण ने[6] सं (I) कृति गौरिवीति का जिक्र किया है, वह गौरिवीति शाक्त्य और आसित धाम्न्य असुर की कुमारी कन्या से पैदा हुआ था। इस प्रकार गौरिवीति का सम्बन्ध शक्ति वाशिष्ट से नहीं, बल्कि संकृति से स्थापित हो जाता है; (5) अपने एक पद्य (ऋचा) में ऋषि ने अपने नाम के साथ वंश के पूर्वज ऋषियों

---

1. ब्रह्मपुराण 2/32, 33; विष्णुपुराण 4/8/1; वायुपुराण 92/2, 3,4, देखो Chronology of Ancient India (Dr. S.N.Pradhan), P.28
2. ऋग् 6/31, 32 (सुहोत्र); 6/33, 34 (शुनहोत्र); वेदार्थदीपिका (सायण), ऋग् 6/52 और सर्वानुक्रम ऋग् 6/52; "य आंगिरस शौनहोत्रो भूत्वा भार्गव··· को अभवत्, स गृत्समद··· स च पूर्वमांगिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः सन् यज्ञकालेऽसुरैर्गृहीत इन्द्रेण मोचितः।" (सायण, ऋग् 2/1)
3. Chronology of Ancient India. pp. 59, 60
4. ऋग् 5/29; 9/108 (1-2); 10/73, 74
5. सरयूपारीण-ब्राह्मण-वंशावली, पृष्ठ 82 में 'गौरवीति'
6. जैमिनीय-ब्राह्मण (III-197 Caland का उद्धरण, p.269)

में वैदथिन (नर,), ऋजिश्वा का जिक्र किया है।[1] (6) संकृति के पुत्र गौरिवीति के बारे में पर्जिटर लिखते हैं–"The other Sankritis' name is given as गुरुवीर्य (वायु पु.), गुरुधी (मत्स्य पु.), गुरु (भागवत) and रुचिरधी (विष्णु पु.) I He is no doubt the same rishi who is named among the Angirasas as गुरुवीत and गौरवीति and the correct name is गौरिवीति··· there was also a शक्ति among the Angirasas."[2] (7) सांकृत्य मलाँव पांडे लोगों के तीन प्रवर[3] हैं–अंगिरा, संकृति और गौरवीति।

वैदिक ऋषि गौरवीति सांकृत्य से ही मलाँव की सांकृत्य शाखा निकली है। गौरिवीति की बनाई और ऋग्वेद में सुरक्षित 34 ऋचाओं में 26 इन्द्र, 6 वसु, और 2 सोम की प्रशंसा में हैं; वसु और सोम के वर्णनों में भी ऋषि ने इन्द्र[4] ही का जिक्र किया है।

रन्तिदेव सांकृति (1420 ई. पू.)–विदथी के बाद सुहोत्र और उनकी ज्येष्ठ सन्तानें अजमीढ़, ऋक्ष आदि पौरवराज्य की स्वामी हुईं। नर वैदिक ऋषि थे, वह कहीं के राजा थे या नहीं, यह पता नहीं लगता, यही बात संकृति के लिए भी है, किन्तु रन्तिदेव को हम भारत के प्राग्-महाभारतीय काल के 16 यशस्वी राजाओं[5]

---

1. स्तोमासः त्वा गौरिवीतेः अवर्धन् नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम्।
   आ त्वां ऋजिश्वा सख्याय चक्रे पचन् पक्तीः अपिवः सोममस्य।। –(ऋग् 5/29/11)
2. Ancient Indian Historical Tradition (F. E. Pargiter) p. 249
3. सरयूपारीण-ब्राह्मण-वंशावली (डाक्टर इन्द्रदेव प्रसाद चतुर्वेदी, द्वितीय संस्करण, पृ. 82)। इसी वंशावली में अन्य दो स्थानों (पृष्ठ 9 और 34) में तथा "सर्वार्य्य पंक्ति-ब्राह्मण-वैभव" (पृष्ठ 28) में सांकृत्यों के पाँच प्रवर–कृष्णात्रेय, अर्चनानस, श्यावा, सांख्यायन, संकृति लिखे हैं, जो कि सांकृत्यों की त्रिप्रवरवाली सार्वजनीन परम्परा के विरुद्ध होने से त्याज्य है। कृष्णात्रेय के तीनों प्रवर–कृष्णात्रि, अर्चिमान, यावाश्य (कान्यकुब्जभास्कर, पृष्ठ 171) और आत्रेय, आर्चनानस, श्यावाश्य (सर्वा. पं. ब्रा. वैभव, पृष्ठ 27, स. ब्रा. वंशावली, पृष्ठ 9)–को सांकृत्य प्रवरों के साथ, मालूम होता है, मिला दिया गया है। कान्यकुब्जों की लिखित परम्परा में सांकृत्य के तीन प्रवरों की संख्या (कान्यकुब्जभास्कर, पृष्ठ 14–सांकृत, किल, सांख्यायन; पृष्ठ 175, सांकृत्यायन–चामन, मध्यायन, मौनस; और पंडित देवीदत्त शुक्ल, संपादक 'सरस्वती' की कृपा से प्राप्त मुद्रित सांकृत्य-वंश-वृक्ष में–किलायन, सांख्यायान, सांकृत) में तीन संख्या तो ठीक रखी गई है, किन्तु नाम दूसरे हैं। यहाँ सांकृत्य और सांकृत्यायन एक ही हैं; जहाँ तक गोत्र का सम्बन्ध है। गुणाख्य सांख्यायन, जनमेजय (900 ई. पू.) कालीन वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य और समसामयिक कहोलकौषीतकि के शिष्य थे (Chronology of Ancient India, chart pp. 1-46-77) और इस प्रकार वह संकृति (1440 ई. पू.) के बहुत पीछे हुए, वंशवृक्ष में उन्हें संकृत का पूर्वज वनाना गलत है। सांकृत्यों के तीन प्रवर–अंगिरा, संकृति और गौरवीति ही ठीक हैं, जैसा कि–

   "संकृतिपूतिमाषतण्डिशम्बुशैवगवानामांगिरस गौरिवीति सांकृत्येति। शाक्त्यो वा मूलं शाक्त्य गौरवीति सांकृत्येति।" आश्वलायनसूत्र 6/12/5 (Baptist Mission Press ? Calcutta)

   "गोत्रप्रवरनिबंधकदम्बक" (लक्ष्मीवेंकटेश्वर-प्रेस, वंबई, 1917 ई.) में सांकृत्य गोत्र के तीन ही प्रवर मिलते हैं–

   संकृतिप्रवराः आंगिरस-गौरुवीत-सांकृत्येति··· आंगिरस सांकृत्य गौरुवीतेति···शाक्त्य-गौरुवीत-सांकृत्येति (पृष्ठ 4)। "संकृति पूतिमाष ताण्डि साम्व सैपठजानकि तैराघातरव्य-ऋषिमी-वारायणी सहिगांगिलौक्षितालागा··· आंगिरस सांकृत्यगौरिवीतेति, अंगिरावोत् संकृति-वद् गुरुवीतवत्।" (पृष्ठ 83-84, कात्यायनलौगाक्षिप्रणीत-भरद्वाजगोत्रकाण्डतः)

   "संकृतयः मलकाः पौलस्तिण्डिः शम्बुशैम्भवयः परिभावास्तारकाद्या हारिग्रीवाः पैणायाः श्रौतायना आग्रायणा आग्रापयः पूतिमाषा इत्येते संकृतयः। तेषां त्र्यार्षेयः प्रवरो भवति आंगिरस सांकृत्य गौरुवीतेति होता। गुरुवीतवत् संकृतिवदंगिरोवदित्यध्वर्युः।" (पृष्ठ 55, बोधायनोक्त-केवलांगिरस-प्रवरकाण्ड) "आंगिरस सांकृत्य गौरुवीत इतीमं प्रवरं संकृतीनां आपस्तम्ब-बोधायन-कात्यायन-मत्स्या आहुः आश्वलायनस्तु आंगिरस गौरुवीत सांकृत्य···" (पृष्ठ 186-87)
4. पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम ऋतुवित् तमोमदः। महिद्युक्षतमोमदः।। यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीतां स्वर्विदः।"
5. महाभारत, द्रोणपर्व 67 (षोडश राजकीय)। शान्तिपर्व 29 (षोडश राजकीय)।
   ये सोलह राजा हैं–

(1) मरुत्त आवीक्षित	(5) भरत दौष्यन्ति	(9) मान्धाता यौवनाश्व	(13) आमूर्त्तरयस
(2) सुहोत्र आतिथिन	(6) राम दाशरथि	(10) ययाति नाहुष	(14) रन्तिदेव सांकृति
(3) वृहद्रथ वीर (आंग)	(7) भगीरथ	(11) अम्वरीष नाभागि	(15) सगर ऐक्ष्वाकु
(4) शिवि औशीनर	(8) दिलीप ऐलविल खट्वाङ्ग	(12) शशविन्दु चैत्ररथ	(16) पृथु वैन्य

में पाते हैं। रन्तिदेव का राज्य चम्बल (चर्मण्वती)[1] के किनारे था। कालिदास की टीका करते मल्लिनाथ ने रन्तिदेव की राजधानी दशपुर[2] लिखी है। रन्तिदेव[3] सांकृति अपने दान और अतिथि-सेवा के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। अतिथियों के भोजन के लिए उनके यहाँ रोज दो हजार गायों का मांस पकता था।[4] बल्कि महाभारत में दूसरे स्थानों पर[5] इक्कीस हजार, और बीस हजार एक सौ[6] गायों के मांस की बात बतलाई गयी है। मांस का खर्च इतना था कि उन गायों के ताजे चमड़े–जो महानस (रसोई) में रखे हुए थे–के पानी से एक नदी निकली, जिसे चर्मण्वती (वर्तमान चम्बल) कहा गया।[7] इतने भारी परिमाण में सामिष भोजन पकने पर भी राजा के मणिकुण्डलधारी दो सौ हजार (दो लाख ?) रसोइये अतिथियों से प्रार्थना करते थे[8]–"सूप (मांस-रस) अधिक ग्रहण करें, आज मांस कुछ कम है।" महाराज (?) रन्तिदेव सांकृति अपने भाई गौरिवीति की भाँति

---

1. चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः।
   रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत।। –महाभारत, वनपर्व 82/54 (चित्रशाला प्रेस, पूना)
2. "तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलता-विभ्रमाणां
   पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
   कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मविम्बं,
   पात्रीकुर्वन दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्।। –मेघदूत 1/47
   "रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य" –मल्लिनाथ-टीका
3. सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः।
   ब्राह्मण्यः सत्यवादी च शिविरौशीनरौ यथा।। –वनपर्व 294/17
4. राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज।
   अहन्यहनि बध्येते द्वे सहस्रे गवां तथा।। –वन. 208/8, 9
5. सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्।
   आलभ्यन्त तदा गावः सहस्राण्येकविंशतिः। –द्रोणपर्व 67/16, 17
6. सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे।
   आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः।। –शान्तिपर्व 29/27
7. "नदी महानसाद् यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः।
   तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत् पुरा।।" –द्रोण 67/5
   "महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् संसृजे यतः।
   ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी।" –शान्तिपर्व, 29/23
   "अतश्चर्मण्वती राजन् गोचर्मभ्यः प्रवर्तिता।" –अनुशासनपर्व 66/43
   "आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
   सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद् वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
   व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
   स्रोतो मूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्"।।–45।। –मेघदूत 1/45
   "सुरभितनयानां गवामालम्भेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम्। भुवि लोके स्रोतोमूर्त्या प्रवाहरूपेण परिणतां रूपविशेषमापन्नां रन्तिदेवस्य दशपुरपतेर्महाराजस्य कीर्तिम्। चर्मण्वत्याख्यां नदीमित्यर्थः। ··· पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृताद् रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे। सा चर्मण्वतीत्याख्यायत इति।।" –मल्लिनाथ-टीका
8. "समासं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः।
   अतुला कीर्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम।" –वनपर्व 208/9, 10
   "सांकृतिं रन्तिदेवं च मृतं सृंजय शुश्रुम।
   यस्य द्विशतसाहस्रा आसन् सूदा महात्मनः।। 1।।
   गृहानभ्यागतान् विप्रानतिथीन् परिवेषकाः।
   पक्वापक्वं दिवारात्रं वरान्नममतोपमम्।। 2।।
   न्यायेनाधिगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।" –द्रोणपर्व 67
   "तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डला।। 17।।
   सूपं भूमिष्टमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।" –द्रोणपर्व 67/17; और शान्तिपर्व 29/28

चाहे मंत्रकर्ता न रहे हों, किन्तु वे वेदाध्यायी जरूर थे, और शत्रुओं को उन्होंने अपने वश में किया था।[1] उनकी समृद्धि अतिमानुषी थी, और उनके दान में चाँदी नहीं सोने की मुहरें (सौवर्ण निष्क) दी जाती थीं। रन्तिदेव सांकृति ने इन्द्र से वर लिया था–हमारे पास खूब अन्न हो, अतिथि हमारे पास आवें, हमारी श्रद्धा कम न होवे, और हमें किसी के सामने हाथ न पसारना पड़े।[2]

सांकृत्य पाराशरी आचार्य (700 ई. पू.)–जनमेजय पारिक्षित (900 ई. पू. ?) के समकालीन वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य से पहिले किसी निवृत्तिप्रधान धार्मिक पाराशरी सम्प्रदाय के एक आचार्य सांकृत्य का जिक्र वृहदारण्यक उपनिषद् (शतपथ ब्राह्मण) में आता है।[3]

सांकृति पार्थरश्म (700 ई. पू.)–जैमिनीय शाखा के आर्षेय ब्राह्मण में[4] इस वैदिक आचार्य का पता लगता है। ये दोनों ही आचार्य याज्ञवल्क्य (680 ई. पू.) से पूर्व हुए थे, और दोनों ही उपनिषद्-ज्ञान के प्रचारक थे।[5]

(ख) बौद्धकाल

कृश सांकृत्य (600 ई. पू.)–बुद्धकाल और उससे पूर्व भारत के सभी महान विचारक उपनिषद् और वेद के तत्त्वज्ञान के ही प्रचारक नहीं थे, बल्कि जैसे राजतंत्र के साथ-साथ उस वक्त भारत में कितने ही अराजक गणतंत्र भी थे; वैसे ही कितने ही अध्यात्मज्ञान से पराङ्मुख अर्द्ध भौतिकवादी या पूर्ण भौतिकवादी आचार्य भी हुए थे; गौतम बुद्ध पहिली श्रेणी के विचारक थे और कृश सांकृत्य दूसरी तरह के। कृश सांकृत्य का भौतिकवाद आजकल के वैज्ञानिक भौतिकवाद-सा नहीं था, और विज्ञानयुग से सहस्राब्दियों पूर्व वह हो भी कैसे सकता था; तो भी कृश सांकृत्य आजीवक सम्प्रदाय के प्रधान तीन आचार्यों[6] –नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खलि गोसाल–में से एक थे; इन्हें आजीवकों का 'शास्ता' (उपदेशक) कहा गया है; और यह गौतम बुद्ध के समकालीन मक्खलि गोसाल से पहिले हुए थे, इसलिए इनका समय ईसा-पूर्व 600 के करीब होगा। ये आजीवक आचार्य अधिकतर काशी-कोसल, वज्जी-मगध में घूमते थे, और यहीं उनकी प्रधानता थी, इसलिए बहुत सम्भव है कि प्राचीन काशी-कोसल ब्राह्मणों का स्थान लेनेवाले सरयूपारीण ब्राह्मण तथा तदन्तर्गत सांकृत्यवंश में ही यह कृश सांकृत्य पैदा हुए थे।

---

1. "वेदानधीत्य धर्मेण यश्चक्रे द्विषतोर्वशे।। 4।।
   ब्राह्मणेभ्योऽददन्निष्कान् सौवर्णान् स प्रभावतः।
   तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति स्म प्रभाषते।। 6।।
   तत्रास्य गाथा गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
   रन्तिदेवस्य तां दृष्ट्वा समृद्धिमतिमानुषीम्।। 14।।
   नैतादृशं दृष्टपूर्वं कुवेरसदनेष्वपि।
   धनं च पूर्यमाणं नः किं पुनर्मानुजेष्विति।। 15।।
   रन्तिदेवस्य यत् किंचित् सौवर्णमभवत् तदा।। 18।।
   तत् सर्वं वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यो ह्यमन्यत।"–द्रोणपर्व 67
   "नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः।"–शान्तिपर्व 29/26
2. "रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं सुंजय शुश्रुम।
   सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः।। 20।।
   अन्नं च नो बहु भवेद् अतिथींश्च लभेमहि।
   श्रद्धा च नो मा व्यगमत् मा याचिष्म कञ्चन।। 21।।" –शान्तिपर्व 29
3. शतपथ, 14/5/5/20; 14/7/3/26; बृहदारण्यक (माध्यन्दिनशाखीय) 2/5/20; 4/5/26
4. वैदिकपदानुक्रमकोश (विश्ववन्धुशास्त्री) में उद्धृत आर्षेय ब्राह्मण 2/20/3
5. निम्न श्लोक में भीष्म को सांकृति-प्रवर कहा गया है, किन्तु हमें मालूम है, वह संकृति के चचा सुहोत्र के पुत्र अजमीढ़ की परम्परा में थे–"वैयाघ्रपद्यगोत्राय सांकृतिप्रवराय च। अपुत्राय ददाम्येतत् सलिलं भीष्मवर्मणे।" (तिथितत्त्व, बंगला-विश्वकोष में उद्धृत)
6. मज्झिमनिकाय 2/3/6 (पृष्ठ 304)

सांकृत्य श्रामणेर (500 ई. पू.)–श्रावस्ती में गौतम बुद्ध के चमत्कारी शिष्यों में श्रामणेर सांकृत्य का नाम आता है।[1] बहुत छोटी ही अवस्था में बुद्ध के प्रतिपादित दर्शन का इन्हें मर्मज्ञ समझा जाता था। श्रावस्ती (कोसल, आधुनिक सहेट-महेट, जिला गोंडा) के होने के कारण आज इनका वंश सरयूपारीण-सांकृत्यों के अन्तर्गत है, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं।

सांकृत्य अर्थशास्त्री (500 ई. पू. ?)–ऋग्वेदी आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक 'शूलगव' प्रकरण है; जिसमें शूल (लोहे की तीली) पर भुने गव्य मांस के धार्मिक कृत्य की श्रौत-प्रक्रिया लिखी हुई है। उस वक्त गाय के चमड़े को अकसर लोग फेंक देते थे, और इस प्रकार वह बेकार जाता था। इसके विरुद्ध आचार्य शांबव्य ने कलम उठाई, और कहा–उस चमड़े से जूता आदि उपभोग की चीजें बनानी चाहिए।[2] शांबव्य सांकृत्य गोत्र की एक शाखा है।

सांकृत्य वैयाकरण (400 ई. पू.)–तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[3] में संधि नियमों के सम्बन्ध में किसी सांकृत्य आचार्य के मत उद्धृत हैं, इनके समय और काल के बारे में हम निश्चित कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि सरयूपारीण-सांकृत्य शुक्लयजुर्माध्यंदिनीय शाखा से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु संधि-नियमों में कृष्ण-शुक्ल का क्या भेद हो सकता है ?

(ग) मध्यकाल

सांकृत्यगोत्री (1093 ई.)–कृश सांकृत्य और श्रामणेर सांकृत्य के बाद एक प्रकार से काशी-कोसल या आधुनिक सरयूपारियों के प्रदेश में हमें करीब डेढ़ सहस्र वर्ष तक किसी सांकृत्य का पता नहीं लगता। प्रथम गहडवार-नरेश चन्द्रदेव या चन्द्रादित्यदेव ने अपनी भुजा की प्रभुता से कान्यकुब्ज के विशाल राज्य को अर्जित किया।[4] पूर्वीय होने के कारण वे कन्नौज से कम काशी का प्रेम नहीं रखते थे, इसीलिए गहडवार भूपाल कान्यकुब्जेश्वर की भाँति 'काशीश'[5] 'काशीराआ' भी कहे जाते थे। काशी को विद्या-केन्द्र बनानेवाले चन्द्रदेव ने चन्द्रावतीवाले ताम्रपत्र में 'पंचशत' ब्राह्मणों को कठेहली पत्तला दान दिया, जिनमें 22 सांकृत्यगोत्री हैं–

1. राजपाल	(14)	9. गाग	(42)	17. नांटे	(279)
2. माहव	(15)	10. योगे	(43)	18. नारायण	(281)
3. केशव	(17)	11. महेश्वर	(44)	19. ब्रह्मर्षि	(300)
4. आल्हण	(22)	12. जाने	(64)	20. देवशर्मा	(328)
5. अमृतधर	(23)	13. सलखू	(82)	21. महेश्वर	(364)
6. विठु	(37)	14. कडुआइच	(83)	22. छोटे	(384)
7. साहु	(40)	15. गाल्हे	(166)		
8. धरणीधर	(41)	16. तीती	(278)		

1. बुद्धचर्या (नामसूची)।
2. "भोगं चर्मणा कुर्वीतेति शांवव्यः।" (टीका में–) शांवव्यस्त्वाचार्यः चर्म्मणा भोगमुपानदादि कुर्वीतेति मन्यते। आश्व. 4/9/24
3. सांकृत्यस्योकारम् (तै. प्रा. 8/21)। एष्टर्रायः एष्टोरायः (तै. प्रा. 1/2/11) वकारस्तु सांकृतस्य (तै. प्रा. 10/21)। वाय इष्टय वायविष्टये (तै. संहिता 2/2/12)। अनाकारो ह्रस्वं सांकृतस्य (तै. प्रा. 16/16)। हर्वींषि=हविंषि (तै. सं. 5/5/1)
4. "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर निजभुजोपार्जितश्रीकान्यकुब्जाधिपत्य श्रीमच्चन्द्रादित्यदेव", Chandravati Plates of Chandradeve, Epi. Ind. vol. XIV, pp. 192-209
5. 'काशीराआ' प्राकृत-पैंगल, Asiatic Soci. of Bengal, p.180; 'काशीश जयच्चन्द्र' Indian Historical quarterly 1929, pp. 14-30

यह ताम्रपत्र संवत् 1150 (1093 ई.) आश्विन बदी 15 रविवार को लिखा गया था। उस समय तक चतुर्वेदी, त्रिपाठी, द्विवेदी, मिश्र–यही चार पदवियाँ प्रचलित हुई मालूम होती हैं। यह पदवियाँ विशेष शिक्षित कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के नामों के साथ लगी हैं, जिससे मालूम होता है, तब तक उनका अधिक प्रचार नहीं हुआ था। ऊपर आये 22 सांकृत्यगोत्रियों में किसी के साथ ऐसी पदवी नहीं लगी है; आल्हण, विठु, गाग, जाने, सलखू, कडुआइच, गाल्हे, तीती, नांटे, छोटे जैसे संस्कृत-प्राकृत दोनों से अछूते नाम बतला रहे हैं, कि इनके परिवार में विद्या–जों उस वक्त संस्कृत विद्या थी–का बहुत अभाव था।

चक्रपाणि[1] (1211 ई.)–यह मलाँव सांकृत्य-वंश के बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनके बारे में बहुत-सी चमत्कारिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं–इनकी धोती आकाश में सूखती थी, आदि। इनके बारे में ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम उपलब्ध है। इनके विषय में आगे प्रसंगवश कुछ जिक्र किया जायेगा।

(घ) आधुनिक काल

सांकृत्य-गोत्री ब्राह्मण उत्तरीय भारत के प्रायः सभी प्रधान विभागों–सरयूपारीण, कान्यकुब्ज, सारस्वत आदि में मिलते हैं। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के उत्तर भारत की राजधानी बनने के समय (ई. छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध) से पहिले कान्यकुब्ज ब्राह्मण, कान्यकुब्ज (कनौजिया) अहीर, कान्यकुब्ज कांदू, आदि भेद नहीं हो सकते थे, यह भेद मौखरियों के नायकत्व में कान्यकुब्ज-साम्राज्य की स्थापना के बाद हुए होंगे। अपने पूर्वीय सीमान्त पर–छपरा, आरा में–सरयूपारीण भी अपने को कनौजिया कहते हैं। त्रिपाठी, पाठक पदवियाँ भी कनौजिया और सरवरिया ब्राह्मणों में कान्यकुब्ज-काल (छठी सदी के उत्तरार्द्ध से 12वीं सदी के अन्त) में प्रचलित हुईं। बुद्ध के समय (ईसा-पूर्व पाँचवीं-छठी सदी में) ब्राह्मण अपने-अपने जनपदों के कारण कोसलक, मागधक, आदि नामों से विख्यात थे। उस समय ब्राह्मणों के भीतर सहभोज, अन्तर्विवाह का कोई प्रश्न ही न था, क्योंकि वह तो क्षत्रियों तक से जायज समझा जाता था।[2] कान्यकुब्ज-काल में कोसल, काशी, भर्ग (मिर्जापुर जिला), कारूष (शाहाबाद जिला) और मल्ल-शाक्य गणतंत्रों (जो कि कोसल की प्रधानता के अन्तर्भुक्त थे) के ब्राह्मण ही एक होकर पीछे सरयूपारीण ब्राह्मणों के रूप में हमारे सामने आये। आज के सरयूपारीणों के प्रायः सारे ही उद्गम गाँव सरयू के उत्तर और उसमें भी प्रायः सभी गोरखपुर जिले में हैं। उस समय सरयू और गंगा से दक्षिण ब्राह्मण नहीं रह गये थे, यह मानना मुश्किल है। मालूम होता है, गहडवार-काल में जब सरयूपारवालों की प्रधानता और पंक्तिबद्धता स्थापित हो गई, तभी से दूसरी जगह के ब्राह्मणों को भी उनके भीतर गोत्र के अनुसार शामिल होना पड़ा।

सरयूपारीणों में सांकृत्यगोत्रियों का मूलस्थान मलाँव है, कान्यकुब्जों में सांकृत्यों के मूल ग्राम हैं, कौशिकपुर और पुरैनियाँ–पीछे जाजामऊ (रूपनवंशज तथा घनश्यामवंशज शुक्ल, घनश्यामवंशज मिश्र), गौरा (रूपनवंशज शुक्ल), कौशिकपुर (धनावंशज मिश्र और अवस्थी), विजौली (धनावंशज दूबे), चचेंडी (घनश्यामवंशज मिश्र), इटावा (घनश्यामवंशज मिश्र)–कान्यकुब्जों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार ये लोग कान्यकुब्जों में सरयूपारीण या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों से पीछे आकर शामिल हुए।[3] शाकद्वीपीय से उनका आना सम्भव नहीं मालूम होता, क्योंकि

1. चौदहवीं सदी के पहिले के इस नाम के ग्रन्थकार के नाम से निम्न ग्रंथ मिलते हैं —
   [Catalogus Catalogorum (Th. Aufrecht)]
   चक्रपाणि-पद्यावली। चक्रपाणि पंडित-कालकौमुदी-चम्पू। चक्रपाणि-ज्योतिर्भास्कर। चक्रपाणि-विजयकल्पलता।
2. दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त (बुद्धचर्या, पृ. 215, 216)
3. "सांकृत (? संकृति) जी के पुत्र जीवास्व (?) जी हुए और इस वंश में अनेक पीढ़ी वाद एक पृथ्वीधर नाम के पुरुष प्रसिद्ध हुए। इनको किसी-किसी ने सरवरिया ब्राह्मण तथा किसी-किसी ने शाकलद्वीपी ब्राह्मण बतलाया है–और यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि यह कान्यकुब्ज ब्राह्मण न थे और विवाह सम्बन्ध द्वारा कान्यकुब्ज जाति के अन्तर्गत हुए और वह वंश, विद्या और सत्कर्मों द्वारा जाति में प्रतिष्ठित हुए (।) पृथ्वीधर का निवास-स्थान कुरहर ग्राम में था। इनको कौशिकपुर के राजा ने बुलाया और अवस्थ यज्ञ किया तब पृथ्वीधरजी कौशिकपुर के अवस्थी प्रसिद्ध हुए। पृथ्वीधर के दो पुत्र महीधर, धरणीधर जिनमें से

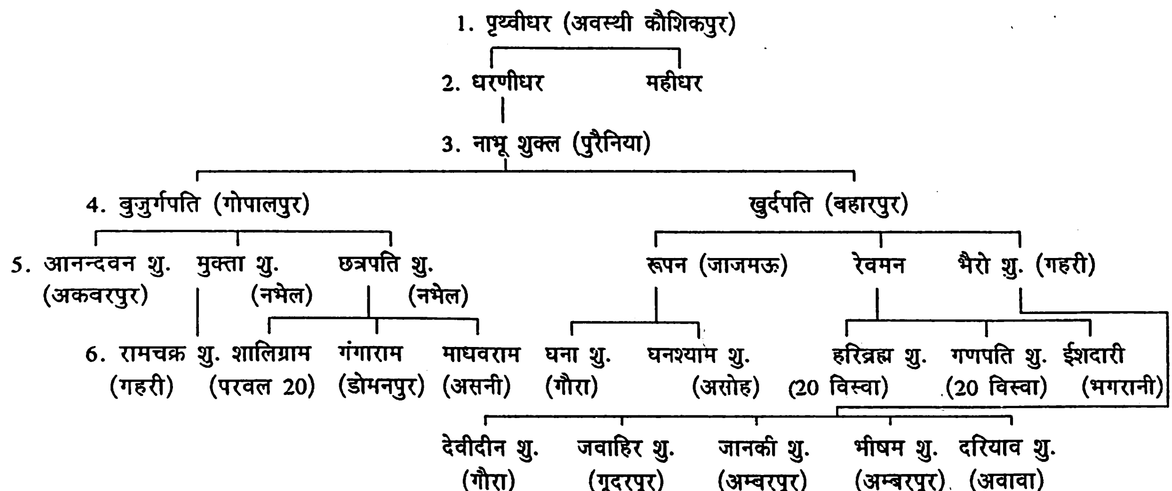
⟶

युक्तप्रान्त और बिहार में यह गोत्र उनमें पाया नहीं जाता। सांकृत्यों का आकर कान्यकुब्जों के सर्वश्रेष्ठ षट्कुलों में सम्मिलित होना बतलाता है, वे मलाँव-वंश जैसे किसी प्रतिष्ठित कुल से सम्भवतः मलाँवध्वंस (पंद्रहवीं सदी) के समय आये हों।

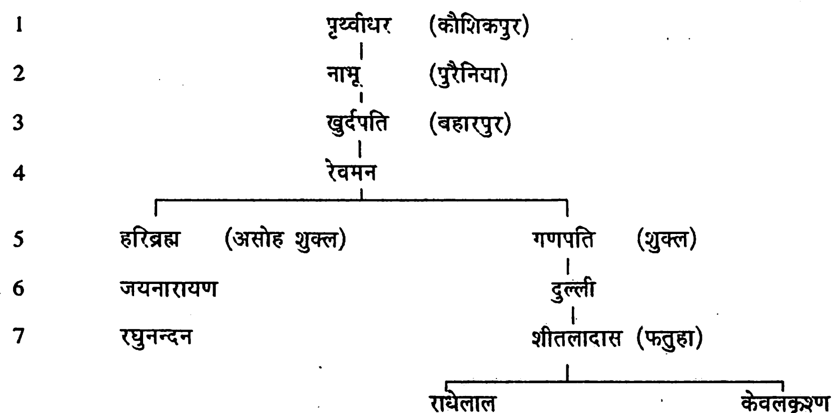
——> महीधर कौशिकपुर के शुक्ल तथा धरणीधर (त्रिगुणायत) अवस्थी कौशिकपुर के कहाए। महीधर के पुत्र नाभूजी हुए। पृथ्वीधर ने अपने पौत्र को मनीरामं वाजपेयी से शास्त्र पढ़वाया। तब मनीराम वाजपेयी ने इनको त्रिगुणायत की पदवी दी और पृथ्वीधर अवस्थी त्रिगुणायत कौशिकीवाले कहलाये। नाभूजी विद्या प्राप्त कर व्याकरण व न्यायशास्त्र में बड़े पारंगत हुए और वैसे ही सुन्दर गौरवर्ण व सुशील भी थे, और उन पर मनीरामजी का बड़ा प्रेम था। इसी भाँति मनीरामजी की कन्या भुवनेश्वरी नाम्नी भी परमसुन्दरी व पंडिता थी, और उसके योग्य वर खोजने में मनीरामजी नितान्त असमर्थ हुए। उनकी स्त्री का अनुरोध था कि भावी जामातृ नाभू की भाँति सर्वगुणालंकृत होना चाहिए। निदान मनीरामजी ने अपनी कन्या का विवाह नाभूजी के साथ कर दिया और इनको शुक्ल उपाधि देकर पुरैनियाग्राम में अपने समीप ही बसा दिया। इस भाँति नाभू की सन्तान शुक्ल नभेल पुरैनिया प्रसिद्ध हुए। किसी-किसी का मत है कि मनीरामजी की कन्या का नाम पूर्णिमा था और इस भाँति नाभू और पूर्णिमा की सन्तान नभेल पुरैनिया विख्यात है।"

—कान्यकुब्जभास्कर, हजारीलाल त्रिपाठी कृत, पृ. 78-9

पंडित देवीदत्त शुक्ल द्वारा प्राप्त सांकृत्यों के वंशवृक्ष में नाभूजी को पृथ्वीधर का पुत्र लिखा गया है, उसके अनुसार पुराना भाग इस प्रकार है—



आज से एक पीढ़ी पहिले तक पृथ्वीधर की पन्द्रह से सत्रह पीढ़ियाँ बीती हैं (अहिरुद्र 1575 ई. के पूर्व शायद उजड़े मलाँव से भागे हों)—



——>

चक्रपाणि-वंशज राजेन्द्रदत्त की 12 पीढ़ियों का हमें नाम-भर मालूम है। राजमणिदत्त[1] के दो पुत्रों में अम्बिकादत्त तो पहाड़ी (जिला इलाहाबाद) में रहे।

राजेन्द्रदत्त के समय मलाँव एक समृद्ध गाँव था। वह सम्राट् अकबर के शान्त और न्यायपूर्ण शासन का जमाना था। मलाँव के पांडे लोगों का रोबदाब मलाँव से बाहर आसपास के प्रदेश तक भी फैला हुआ था, बहुत सम्भव है मलाँव के अतिरिक्त कुछ और गाँव भी उनके अधीन रहे हों। विदथी, संकृति, रन्तिदेव का "क्षत्रोपेत द्विजातित्त्व" अब भी वहाँ से लुप्त नहीं हुआ था। मलाँव के एक कुएँ के बारे में ख्याति थी, कि उसका पानी पीनेवाली माता बंध्यात्व से ही मुक्त नहीं हो जाती, बल्कि वह मल्ल (मल्लग्राम=मलगाँव=मल्लाँव) पुत्र प्रसव करती है। राप्ती की दाहिनी ओर गोरखपुर से नातिदूर डोमिनगढ़[2] गाँव अब भी मौजूद है। उस समय वह एक डोमकटार राजपूत राजा की राजधानी थी। तत्कालीन राजा की रानी को कोई सन्तान न थी। रानी बनारस जा रही थीं। बनारस का पथ अब भी गोरखपुर-बडहलगंज दुहरी की पक्की सड़क के रूप में मौजूद है। शाम को रानी का डेरा मलाँव (उक्त पक्की सड़क से एक मील परे) में पड़ा। मलाँव के वीर-प्रसवक कुएँ का पता रानी को लगा।[3] रानी ने पानी लाने के लिए आदमी भेजा। पानी पाना तो दूर रहा, उलटा रानी को बहुत

→

8	देवदत्त			
9	काशीप्रसाद	वेनीप्रसाद	रामदीन	ठाकुरप्रसाद
10	छविनाथ	वंशगोपाल	गोविन्दप्रसाद	अयोध्याप्रसाद
11	हरिसेवक	अनंतराम	जगतदेव	शिवप्रसाद (प्रयाग)
12	ठाकुरप्रसाद	गोकुलनाथ	रामगोपाल	देवकरण
13	छोटू	सूर्यप्रसाद	चन्द्रमौलि	कमलाकान्त
14	गणेशीप्रसाद	शिवसहाय	वृजभूषण	विद्याकान्त
15	गौरीशंकर	शिवसेवक	प्रेमनारायण	सुन्दरीकान्त
16	केदारनाथ	भगवतीप्रसाद	सूर्यप्रसाद	
17		श्रीधर		

औसत 16 पीढ़ी लेने पर पृथ्वीधर का समय होता है 17X26=442 वर्ष सन् 1947 ईसवी अर्थात् अहिरुद्र 1575 से पहिले।

दूसरे ब्राह्मणों में भी निम्न प्रकार से सांकृत्य गोत्र पाया जाता है। (जाति भास्कर, पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र; श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् 1983, पृष्ठ 76. 89, 95. 98. 109)–

पृष्ठ 76	मेडतवाल	गौड़
	खलसिया	तिवाड़ी
	सिहोरिया	पंड्या
	हेरसदा	पंड्या
	धामणोदरिया	पंड्या
	नवमोस	पंड्या
	बलायता	पंड्या
	वणोयला	पंड्या
	वेटला	पंड्या
	मेहलाण	पंड्या
	नलतडा कठगोला	पंड्या

पृष्ठ 89 (महाराष्ट्र) गायधानी–3 प्रवर

पृष्ठ 95 (औदीच्य-सहस्र गुर्जर टोल) ऋगुण-जोशी 3 प्रवर

पृष्ठ 109 (कंडोल ब्राह्मण, गुजरात ?)

सांकृत मेडतवालों में सांकृत्य गोत्र के साथ बहुतों की पदवी भी पंड्या है, जो कि पांडे से मिलती-जुलती है।

1. पंडित रामनाथ पांडे आचार्य, भ्योरा, जिला वस्ती (रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस, वलरामपुर) द्वारा सम्पादित वंशवृक्ष में तारादत्त को चन्द्रमौलि का पुत्र लिखा गया है, अम्बिकादत्त को गूदरनाथ का पुत्र। हमने यहाँ नाउर-देउर (श्री ज्वालाप्रसाद पांडे) के वंशवृक्ष को मूलस्थानीय होने से प्रमाण माना है।
2. "Tharu...Mansen was overthrown in the tenth century by the Domkatars. These people had their chief stronghold at Domingarh near Gorakhpur." (Gorakhpur Gazetteer, 1909 ed. p. 259)
3. दूसरी जनश्रुति के अनुसार राजा ने पहिले उस कुएँ का जल माँगा, किंतु बड़े तिरस्कार के साथ इनकार कर दिया गया।

अपमानित होकर मलाँव से जाना पड़ा। रानी बनारस से डोमिनगढ़ लौटीं, और उन्होंने एक की जगह नौ लगाकर अपने अपमान की दुःखभरी गाथा राजा को कह सुनाई। राजा क्रोध से जल उठे। उन्होंने पानी लाने के लिए आदमी भेजे, न देने पर जबर्दस्ती लाने के लिए सैनिक भेजे, लेकिन मलाँव की तलवार में अभी जंग नहीं लगा था। राजा के सैनिकों को करारी हार खानी पड़ी। राजा ने कई बार कोशिश की किन्तु उन्हें सफलता न हुई।

राजा को पता लगा कि भादों शुक्ला (अनंत) चतुर्दशी को मलाँव के पांडे लोगों के यहाँ शस्त्रपूजा होती है, उस दिन वे लोग हथियार नहीं धारण करते, और व्रत रखते हैं। राजा ने इसके लिए पूरी तैयारी कर ली। आज की तरह उस समय भी प्राचीन अचिरवती (राप्ती) मलाँव के पास से गुजरती थी।[1] डोमिनगढ़ के सैनिक नावों से आकर पहिले ही से कुछ दूर पर छिपे बैठे थे। अनन्तव्रत रखे मलाँव के पांडे, तरुण-वृद्ध सारे अचिरवती गंगा पर स्नान करने गये। उनके पास हथियार का नाम न था, न उन्हें उस दिन शत्रु से कोई भय था। राजा के सैनिक एक-ब-एक उन निहत्थों के ऊपर टूट पड़े। उनमें से एक ने भी प्राण बचाने के लिए पीठ न दिखाई, और वहीं एक-एक करके कट गये। राप्ती को सांकृत्यों के खून से लाल कर सैनिक गाँव में पहुँचे, सभी बाल-वृद्ध-तरुण पुरुषों को तलवार के घाट उतारा,[2] और मलाँव के कुओं को उनकी लाशों से पाट दिया। तभी से मलाँव के सांकृत्यों के लिए अनन्तचतुर्दशी पर्व का दिन न रहा; लोग आज भी न अनन्तव्रत करते हैं, न 'अनन्त' वाँधते हैं। (मैं कलकत्ता की पहिली यात्रा में चाँदी का अनंत पहिन आया था, जिसे घर पहुँचते ही उतारना पड़ा।)

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। डोमिनगढ़ मलाँव से छः-सात कोस से ज्यादा नहीं है, और उस समय डोमिनगढ़-राज मलाँववालों का पड़ोसी था। सम्भवतः इस संहार के पीछे अधिकारों की छीना-झपटी काम कर रही थी।

अहिरुद्र पांडे (1575 ई.)–दूर के अपने (भरद्वाज-) वंशज परीक्षित् की भाँति अहिरुद्र पांडे माता के गर्भ में थे, जब कि मलाँव का भीषण नर-संहार हुआ। राजेन्द्रदत्त की पत्नी उस समय अपने पीहर प्रतापगढ़ जिले में थीं। दूसरी परम्परा बतलाती है, कि उन्होंने हत्यारों के हाथ से पांडे वंश के अंकुर को बचाने के लिए एक धोबी के घर में शरण ली, और इसीलिए अहिरुद्र की सन्तान धोबियापट्टी कहलाई; इस बात को बदनामी के डर से छिपाया जाता है। किन्तु यह भ्रम सरयूपारीणों के धोबियापट्टी[3] विभाग (पट्टी) के नाम के कारण मालूम होता है, जिसमें कि मलाँव पांडे के अतिरिक्त मणिकंठ के तिवारी, वृहद्ग्राम (सोहगौरा) के दूबे भी शामिल हैं।

प्रतापगढ़ जिले में अपने नाना के घर अहिरुद्र का जन्म हुआ। वे वहीं पले और बढ़े। एक बार डोमिनगढ़ के राजा की रानी (मालूम नहीं वही या दूसरी) आसन्न-प्रसवा थीं। कई दिनों से मर्मान्तक पीड़ा से पीड़ित थीं, किन्तु प्रसव नहीं हो रहा था। ज्योतिषियों ने बतलाया–बिना मलाँव-वंश के किसी व्यक्ति को प्रसन्न किये क्षेम

---

1. वर्तमान मलाँव के तीन ध्वंसावशेषों में से दो राप्ती के कारण ही नष्ट हुए मालूम होते हैं।
2. डोमिनगढ़ के राजा और कुएँ के पानी की कथा, कोसलराज प्रसेनजित के प्रधान सेनापति बन्धुलमल–जो स्वयं कुशीनगर का मल्ल क्षत्रिय था–के अपनी स्त्री के दोहद को पूरा करने के लिए वैशाली के गणतंत्री लिच्छिवियों की अभिषेक-पुष्करिणी में जबर्दस्ती नहलाने की कथा से सादृश्य रखती है। (धम्मद-अट्ठकथा 4/3 देखो मेरी 'बुद्धचर्या' पृष्ठ 473-75) और मलाँव-वंश का यह हत्याकांड कोसलराज विदूढब द्वारा शाक्यवंश के संहार-सा मालूम होता है (देखो, वही पृष्ठ 476)।
3. सरयूपारीण ब्राह्मणों में सोलह या 3+13 कुल सबसे अधिक प्रतिष्ठित माने जाते हैं, जो निम्न प्रकार पाँच पट्टियों में बाँटे गये हैं–

   "तिन्नाथेई और निराशौ। सायन पट्टी चरमप्रकाशो।।
   इन चारों के अरा बनाय। धोबिया-पट्टी परिधि लगाय।।
   सत्य नाह में करें संयोग। पंडित कह पंक्तिरथ सोय।।"

   –'सर्व्वार्य-पंक्ति-ब्राह्मण-वैभव' खंड 1, पृष्ठ ड (पं. नन्दकुमार शर्मा शुक्ल पिछौरा, कुमार प्रेस, गोरखपुर, सन् 1928 ई.)
   आगे के पदों में इन पट्टियों के इस प्रकार अन्तर्विभाग किये गये हैं–

   (1) तिन्नाथेई गौ-ग-शा।   (2) पा-खो-पांडे निराशा।।   (3) तीन चकारे चमरू।
   (4) सायन पट्टी प-प-सा।।   (5) पाँच पवर्गे धोबिया।।
   –(वही, पृष्ठ ढ) ⟶

नहीं होगा, यह ब्रह्मदोष है। बहुत परिश्रमपूर्वक खोजने के बाद अहिरुद्र पांडे का पता लगा। राजा ने बड़ी प्रार्थना और सत्कारपूर्वक उन्हें बुलाया, भोजन कराया और शापानुग्रह के बदले मलाँव के साथ नाउर-देउर तथा डोमवार गाँवों को प्रदान किया।

अहिरुद्र पांडे अपने पूर्वजों के गाँव में पहुँचे। मकान ढह गये थे। उन पर जंगल जम आया था। वहाँ

⟶ विवरण इस प्रकार है–

पट्टी	मूलग्राम	पदवी	गोत्र
1. तिन्नाथेई	(1) भेड़ी	*शुक्ल	गर्ग (गार्ग्य)
	(2) वड़सी	*मिश्र	गौतम
	(3) गोरखपुर (गोरखी)	*त्रिपाठी (तिवारी)	शाण्डिल्य (श्रीमुख)
2. निराशा	(4) सोनौरा	पाठक	भारद्वाज
	(5) खोरी	उपाध्याय	भारद्वाज
	(6) त्रिफला	*पांडेय (पांडे)	काश्यप
3. चरम (चमरू)	(7) नवपुरा	चतुर्वेदी (चौबे)	काश्यप
	(8) नागचौरी	*पांडेय (पांडे)	वत्स (वात्स्य)
	(9) इटारि	*पांडेय (पांडे)	सावर्ण्य
4. सायन	(10) परवा	द्विवेदी (दूबे)	काश्यप
	(11) पडरहा	मिश्र	पराशर
	(12) समदारि	द्विवेदी (दूबे)	वत्स (वात्स्य)
5. धोबिया	(13) मलाँव	*पांडेय (पांडे)	सांकृत्य (सांकृत्यायन)
	(14) मणिकंठ	त्रिपाठी (तिवारी)	शाण्डिल्य
	(15) वृहदग्राम (सोहगौरा)	*द्विवेदी (दूबे)	भारद्वाज
नाभि	(16) पिछौरा	शुक्ल (सत्य)	कृष्णात्रेय

* चिह्नांकित वंशों में अभी "पंक्तिवाले कुल हैं। इन सोलह कुलों (जिनमें गर्ग, गोतम, शाण्डिल, भरद्वाज, कश्यप", वत्स, सवर्ण, पराशर, संकृति और कृष्णअत्रि दस गोत्र, तथा शुक्ल, मिश्र, तिवारी, पाठक, उपाध्याय, पांडे, चौवे, और दूबे आठ पदवियाँ हैं) में से दस गोत्रों को प्रधान तथा कौडीराम के पांडे (कौंडिल्य) एवं पांडेपार के पांडे (अगस्त्य) को लेकर बारह गोत्रों को महाराज जयचन्द्र ने 'पंक्ति' में परिगणित किया था। (वही, पृ. 217)। कौंडिन्य और अगस्त्य गोत्रियों को सोलह ऋत्विजों में नहीं रखा था, इसलिए उन्हें आधा-आधा गिना जाता है; इस प्रकार कुलों की संख्या 17 (18) होती है। महाराज जयचन्द्र के बाद भी लोग पंक्ति बने थे, सिंहनजोरी के तिवारी (भार्गव), हरिना के तिवारी (वाशिष्ट), उपमन्यु-गोत्री ओझा, पिण्डी के तिवारी (शाण्डिल्य), पयासी के मिश्र (वात्स्य), इँटिया पांडे (गार्ग्य), मलैया पांडे (भारद्वाज) और राढ़ी मिश्र (भारद्वाज) पीछे से पंक्ति में मिलाये गये; इनमें से पयासी-मिश्र (वाशिष्ठ) और भार्गव-तिवारी में अभी भी 'पंक्ति' हैं।

पिंडी के तिवारियों के 'पंक्ति' में लिये जाने के बारे में एक कथा है–गौतमगोत्री दिनमणि के कोई वंशज गंगास्नान करने आये थे। वे वहाँ भीषण रोग में ग्रस्त हो गये। पिंडी के करेरू तिवारी की स्त्री सुखा ने उनकी वड़ी सेवा की। पंक्ति ब्राह्मण ने पीछे कृतज्ञता प्रकट करते हुए सुखा की सन्तान को सुखापति के नाम से 'पंक्ति' में ले लिया (वही, पृ. 196, 197)।

राढ़ी-मिश्र के सरयूपारीण और पंक्तिबद्ध बनने के बारे में कथा है–मलाँव वंशी आचार्य माधव विजयनगर (?) के गहडवार कृष्णदेव (?) के गुरु थे। उनके यहाँ एक बंगीय राढ़ी ब्राह्मण श्री हरिहर मिश्र उच्च कर्मचारी थे। कृष्णदेव को परास्त करके अलाउद्दीन खिलजी (?) ने उनके राज्य पर अधिकार पाया। हरिहर मिश्र गोरखपुर के चकलेदार (जिला के प्रधान अधिकारी) बनाये गये। आचार्य माधव की सहायता से हरिहर मिश्र सरयूपारीणों में ले लिये गये। माधव की प्रेरणा से सब ब्राह्मणों ने हरिहर मिश्र के साथ सहभोज किया, किन्तु सिंहनजोरी के भार्गव तिवारियों ने इनकार कर दिया, जिस पर कहावत मशहूर हुई–"वड़ बड़ कौर मधइया जेंवें भार्गव रहें उघारी"। पीछे से पंक्ति में आये कुलों के बारे में कहावत है–

"तीन पाँति भो पांडे हीन। सिंह-कौली-पयसी-चीन्ह।।
तीन पाँति गंगापारीण। हरिण-मचैयाँ-तिवनी कीन्ह।" (वही, पृ. 185, 188)

कोई आदमी न था, जो बतलाता कि उनके वंश-ग्राम की सीमा क्या थी। वहीं डेरा डालकर उन्होंने प्रार्थना की—यदि मेरे कुल का कोई देवता हो, तो वह सीमा-निर्धारित करने में मेरी मदद करे। परम्परा आगे कहती है—उसी वक्त आजकल सुअरहा के नाम से प्रसिद्ध स्थान से एक विकराल सूअर निकला और उसने घूमकर उस सीमा को प्रकट कर दिया। यही सूअर मलाँव-वंश का कुलदेव मलकवीर[1] (मल्लैकवीर) है।

→ सबको मिलाने पर निम्न कुल भी पंक्ति-मुक्त समझे गये—

मूलग्राम	पदवी	गोत्र
(17) कोडीराम	पांडेय	कौंडिन्य
(18) पांडेपार	प्रांडेय-त्रिपाठी	अगस्त्य
(19) सिंहनजोरी	त्रिवेदी (तिवारी)	भार्गव*
(20) हरिना (हरनहा)	त्रिवेदी (तिवारी)	वाशिष्ट
(21) करैली	ओझा	उपमन्यु
(22) पयासी	मिश्र*	वत्स
(23) पिंडी	त्रिपाठी*	शाण्डिल्य (गर्दभी)
(24) मचैयाँ	पांडेय	भारद्वाज
(25) इटिया	पांडेय	गार्ग्य
(26) राढ़ी	मिश्र	काश्यप

ये 26 कुल या राढ़ी को अलग कर, तथा कौंडिन्य (17) और अगस्त्य (18) को आधा-आधा गिनने पर 24 कुल 'पंक्ति' (मृष्ट) कहलाये थे, उनके अतिरिक्त बाकी सरयूपारीण कुल 'जाति' (मार्जनीय) कहलाये। ऊपर के 12 गोत्रों के अतिरिक्त निम्न गोत्र भी सरयूपारीण ब्राह्मणों में मिलते हैं—

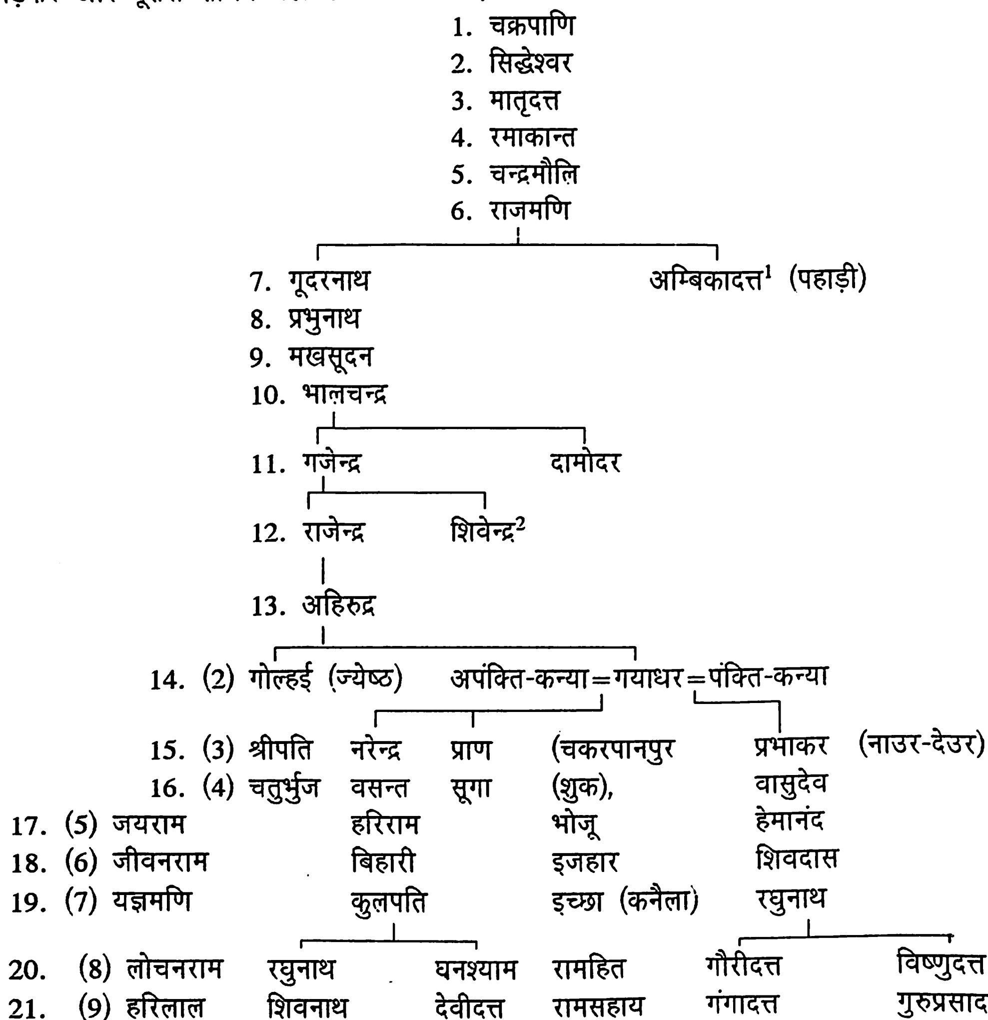
मूलग्राम	पदवी	गोत्र
धर्मपुरा	मिश्र	कौशिक (घृत-)
धमेरि	त्रिपाठी	वरतन्तु
तिलौरा	द्विवेदी	काण्व
पिपरासी	चतुर्वेदी	कात्यायन
छपवा	द्विवेदी	मौनस
	पांडेय	माण्डव्य
	त्रिपाठी	बन्धुल
कन्तित	चतुर्वेदी	अत्रि

महाराज चन्द्रदेव के उपरोक्त ताम्रपत्र में निम्न गोत्र और मिलते हैं, जिन्हें सरयूपारीणों में होना चाहिए—कपिष्ठल, शार्कर, शार्कराक्ष, मन्य, शौनक, जीवन्त्यायन, धौम्य, सौश्रवस, कुत्स, गालव, दक्ष, जातूकर्ण्य, गौण्य, पिप्पलाद, मौन्य, यास्क, हारीत, मौद्गल्य, दर्भ (? दाल्भ्य) (E. Ind. Vol. XIV. pp. 192-209) जातूकर्ण्य, विष्णुवर्धन, मुद्गल, मौनस, शौनकेतु (?), यास्क, दाल्भ्य, वाभ्रव्य गोत्र कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में मिलते हैं। (कान्यकुब्ज भास्कर, पृ. 16)

सरयूपार में अब भी 16 उच्च कुलों की पाँच पट्टियों का पंक्तिरथ अंकित कर पिछौरा (चद्दर) दान करने का रवाज है। (सर्वार्घ्य पंक्ति ब्राह्मण वैभव, पृष्ठ ड, ढ)।

1. श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन बिना मीठे की खीर और नमकीन कच्ची रसोई से मलकवीर की पूजा होती है। उस दिन ब्राह्मण-भोजन गाय के घी में पकी पूड़ी से कराया जाता है। एक और भी कुलदेव-पूजा विशेष महत्त्व की है। प्रत्येक पुत्र-प्रसव, यज्ञोपवीत और ब्याह के लिए मलकवीर को एक शूकर-शावक (सायन या छौना) चढ़ाना पड़ता है। यह उसी साल चढ़ाया जाता है, जिस साल घर में कोई व्यक्ति मरा न हो; मरने का मतलब यह नहीं कि उस साल की पूजा से छुट्टी मिल गई। बलि गिनकर और विषम-संख्या (1, 3, 5, 7) में चढ़ानी पड़ती है। सन्तान-अनिष्ट के डर के मारे मलाँव के पक्के 'वैष्णव' परिवार भी इस बलि को रोकने की हिम्मत नहीं करते। नाउर-देउरवालों ने चन्द साल हुए सूअर चढ़ाना बन्द कर दिया, अब वह उसकी जगह सुपाड़ी या पेठा काटते हैं। कनैला में यह कुलदेव-पूजा कैसे होती है, इसे मलाँव की वात का कुछ भी ज्ञान न रखते मेरे अनुज रामधारी ने अपने पत्र (नवम्बर 1939) में लिखा है—
"यहाँ नरसिंह तथा महावीर कुलदेव हैं। नरसिंह को पटऊ-पटका (खद्दर का कपड़ा), ढूँढ़ी साठी की (षष्ठि का चावल का लड्डू) और हनुमानजी को रोट···। और गोरियाडीह की पूजा होती है,··· छवना (सूअर का वच्चा) भी चढ़ाते हैं।" निश्चय ही →

अहिरुद्र पांडे के जन्म और मलाँव के हत्याकाण्ड के समय को जानने के लिए, तब से अब तक पीढ़ियों को छोड़कर और दूसरा साधन नहीं है। यहाँ हम ऐसे छः उदाहरण दे रहे हैं–



⟶ कनैला (मेरे पितृग्राम) की इस पूजा में मलकवीर की पूजा मौजूद है। कनैलावाले भी अनन्त के व्रत और धागे का उपयोग नहीं करते।

मलकवीर की पूजा, बड़े परिवारों में छूतक के कारण कभी-कभी कई सालों की इकट्ठी पड़ती है। पूजा के दिन से कुछ रोज पहिले चावल का कोहबर (दीवार पर चित्रण) लिखा जाता है, जिसमें "जिवता-जिवती" (अनेक मुंडवाले स्त्री-पुरुष) का चित्र होता है। बलि श्रावण शुक्ला सप्तमी के बादवाले मंगल को होती है। एक-एक बलि के लिए दो-दो जौ की पूरियाँ (पूड़ी नहीं, दालवाले परोठे) बनाकर देहली के बाहर जोड़े-जोड़े सजाई जाती हैं। वहीं छौने को काट दिया जाता है। खून को दरवाजे की बगल में धरती में गाड़ दिया जाता है। इस प्रकार सूअर मलाँव के सांकृत्य वंशजों का टोटम् और बलि-पदार्थ, दोनों है।

मलाँव और नाउर-देउर में एक और भी प्रथा है, यज्ञोपवीत होने से पहिले दिन बालक को कुर्मी के घर कच्ची रसोई खानी पड़ती है।

1. पंडित रामनाथ पांडे (भ्योरा) द्वारा प्रकाशित वंशवृक्ष में यहाँ तारादत्त और अम्बिकादत्त को गूदरनाथ का पुत्र लिखा है, हमने यहाँ नाउर-देउर (श्री ज्वालाप्रसाद पांडे) के वंशवृक्ष को प्रमाण माना है।
2. सुनेन्द्र-पंडित रामनाथ के वंशवृक्ष में।

22.	(10)	विश्वेश्वर	हितराम	रामप्रसाद	गोपाल	जयगोपाल	यदुनाथ
23.	(11)	जगतराम	अयोध्याप्रसाद	हर्षलाल	जानकी	कुमारदत्त	चन्द्रभूषण
24.	(12)	घासीराम	रामसेवक	नन्द	गोबर्धन	मुंजेश्वर प्रसाद	शूरसेनप (सुरेश)
25.	(13)	रमणराम	बलिराम	सूर्यनारायण[1]	राहुल	वल्लभद्र	(7 वर्ष)
26.	(14)	दूधनाथ	सत्यनारायण	शिवपूजन	इगोर	रमापति (7 वर्ष)	
27.	(15)	विश्वेश्वर	जगदीशनारायण	शैलेन्द्र			
28.	(16)	मुना	शशविन्दु	शरत्कुमार (5 वर्ष)			
29.	(17)	रूपनारायण (बालक)					
30.	(18)	रामचन्द्र					

चक्रपाणि से आज तक अधिक से अधिक 30 और कम से कम 24 पीढ़ियाँ बीती हैं। संकृति के काल के बारे में लिखते हुए हमने प्रति पीढ़ी 20 साल समय रखा था, जो राजवंशों के सम्बन्ध में पुत्र के अतिरिक्त दूसरे के भी उत्तराधिकारी होने से कुछ पीढ़ियों का बढ़ना सम्भव होने के कारण ठीक है। किंतु चक्रपाणि के बारे में पीढ़ियाँ निश्चित हैं। स्वयं मलाँव की एक पाँच पीढ़ी का काल हमें मालूम है। अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समय गोरखपुर के चकलेदार श्री अयोध्याप्रसाद पांडे की जन्मकुंडली उनके प्रप्रपौत्र श्री जगदीशनारायण के यहाँ है। उसमें उनका जन्मदिन "विक्रमादित्यस्य राज्याद् गतसमाः ।। 1811 --शालिवाहनस्य भूपतेर्गताः शकाब्दः ।। 1676---वैशाषमासे शुक्लपक्षैकादश्यां भृगुवासरे घटीपले 3 ।। 18 उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे घट्यादिः ।। 26 ।। 30" लिखा है। उनके प्रप्रपौत्र श्री जगदीशनारायण का जन्म संवत् 1950 का है। अर्थात्–

1. अयोध्याप्रसाद जन्म संवत् 1811 (1754 ई.) 2. रामसेवक 3. वलिरामसेवक 4. सत्यनारायणसेवक 5. जगदीशनारायणसेवक 1950 (1893)

इस प्रकार पाँच पीढ़ियों में 139 वर्ष हुए। अर्थात् प्रत्येक पीढ़ी में 27.8 वर्ष। डाक्टर सीतानाथ प्रधान ने अपने ग्रंथ[2] में छः भारतीय वंशों का अलग-अलग औसत 26 से 29.8 वर्ष तक दिया है। इनमें भट्टनारायण से राम समाद्दार तक की 20 पीढ़ियों के लिए 520 वर्ष है, अर्थात् प्रति पीढ़ी 26 वर्ष। ऊपर दिये पाँच उदाहरणों में शूरसेनप (7 वर्ष, 1939) से अहिरुद्र तक 12 पीढ़ियाँ हैं, रामचन्द्र से वहाँ तक 18 पीढ़ियाँ होती हैं। इस प्रकार–

इच्छा पांडे (कनैला) इगोर से	8X26=208 साल	1731 ई.
प्राण पांडे (चकरपानपुर) इगोर से	12X26=312 साल	1627 ई.
प्रभाकर पांडे (नाउर-देउर) सुरेश से	12X26=312 साल	1627 ई.
अहिरुद्र पांडे (मलाँव)	14X26=364 साल	1575 ई.
चक्रपाणि (मलाँव) शरत्कुमार से	28X26=728 साल	1211 ई.

चक्रपाणि गहडवार राजवंश के अंतिम समय में मौजूद थे। सम्भव है वह गहडवार राजवंश द्वारा सरयूपारीणों के पंक्तिबद्ध किये जाते समय मलाँव के प्रतिनिधि हों (यदि यह पंक्तिबंधन जनश्रुति के अनुसार महाराज जयचंद[3] की संरक्षता में हुआ) और शायद इसीलिए आज उनकी इतनी ख्याति सुनने में आती है।

इस प्रकार मलाँव-हत्याकांड 1575 ई. के आसपास हुआ प्रतीत होता है।

अहिरुद्र की सन्तान–

गोल्हई, पांडे (ज्येष्ठ-पुत्र, 1600 ई.)–अहिरुद्र के दो पुत्रों गोल्हई और गयाधर में गोल्हई ज्येष्ठ थे। पिता

1. पंडित सूर्यनारायण के तीन पुत्र हुए–मधुसूदन, शिवपूजन, दीपनारायण। श्री दीपनारायण के दो तरुण पुत्र हैं–दिनेशकुमार और नगेन्द्रकुमार।
2. Chronology of Ancient India, pp. 170-74
3. चन्द्रदेव के महादान से पंक्तिबद्धता 1093 ई. के आसपास की हो सकती है।

की भाँति यह भी अधिक शिक्षित नहीं मालूम होते। उनकी सन्तान ने आगे भी चलकर धन और विद्या में अधिक उन्नति नहीं की।

गयाधर पांडे–यह छोटे पुत्र थे। पंक्ति-नियमानुसार गयाधर का ब्याह पंक्तिकन्या से हुआ था, जिससे इनके एक पुत्र प्रभाकर हुए। यह नाम बतलाता है कि गयाधर अपने पिता से कुछ अधिक शिक्षित और संस्कृत थे। एक बार वह जलोदर रोग से ग्रस्त हुए। बहुत दवा-दारू की गई किन्तु कोई फायदा नहीं हुआ। मीठाबेल के कौशिक दूबे वैद्य ने कहा कि यदि आप मेरी कन्या से ब्याह कर लें, तो मैं आपके रोग को अच्छा कर दूँगा। 'पंक्ति' टूटने के डर से पहिले गयाधर ने इनकार कर दिया। रोग असाध्य होते देख उन्होंने काशी जाना तय किया; किन्तु अभी काशी में मरकर मुक्ति प्राप्त करने से अधिक उन्हें इसी दुनिया में जीने की लालसा थी। फलतः मलाँव से निकलकर काशी की ओर न जा मीठाबेल पहुँचे। वैद्य पंक्ति-दामाद पाने के बड़े इच्छुक थे। उन्होंने कन्या को ब्याह दिया और गयाधर पंडित उनकी चिकित्सा से स्वस्थ भी हो गये। उसी कन्या से उन्हें एक पुत्र नरेन्द्र उत्पन्न हुआ। मलाँव में दायभाग की आशा न देख नाना ने नाती के लिए एक गाँव दे दिया, जिसका नाम उसी के नाम पर नरेन्द्रपुर पड़ा। गयाधर पंडित पीछे वहाँ से काशी चले गये।

गयाधर कनैलावालों के पूर्वज–मलाँव की इस शाखा के बारे में रामधारी ने अपने पत्र में जनश्रुति को इस प्रकार लिखा है–

"सुना जाता है पंडित चक्रपाणि (?) जी मलाँव से काशी विद्याध्ययन के निमित्त गये। उनके साथ एक नाई और (एक) बारी भी सेवार्थ गये थे। वहाँ से लौटते समय जाठी··· ग्राम में ठहरे। ··· वहाँ एक भूमिहार के यहाँ व्रतबंध हो रहा था। ···ये भी पहुँचे। ··· वहाँ से दुर्गा पंडित के यहाँ आये। यहीं उनकी पंडित दुर्गाजी की लड़की से शादी हुई। उस··· से 5 लड़के हुए, जो इस समय रानीपुर, बडौरा, टाडी, दिलमनपुर, डीहा, जलालपुर इत्यादि में फैले हैं।··· पहिली शादी से जो मलाँव में (रहते) हुई थी, **उनसे दो लड़के हुए थे** जो वहीं रह गये थे। और जब वह (मलाँववाली स्त्री) चकरपानपुर आईं तो उनसे पाँच लड़के हुए। ··· इन लड़कों से चकरपानपुर, कनैला, एकवना बसा है। चकरपानपुर से हिच्छा (इच्छा) पांडे कनैला में आकर बसे।"

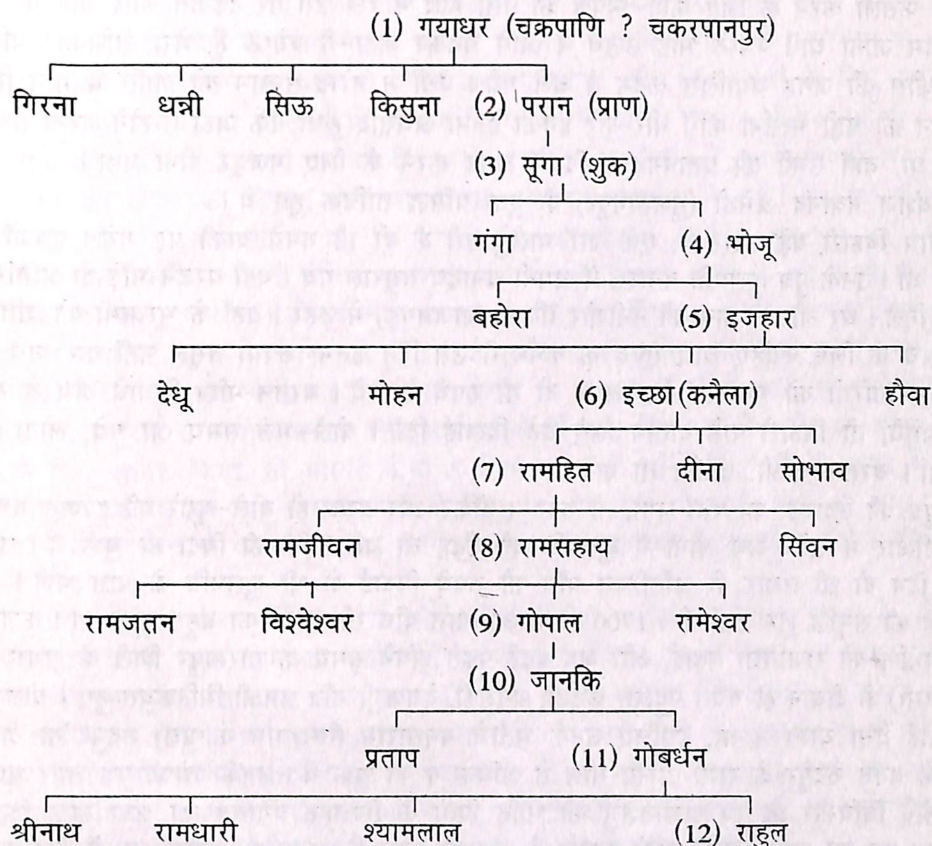
यह बात रामधारी ने (नवम्बर 1939 में) कनैला से मलाँव की परम्परा का कुछ भी ज्ञान न रखते लिखी है। दोनों जगहों की परम्पराओं को मिलाने से मालूम होता है, कि कनैलावालों ने चकरपानपुर (चक्रपाणिपुर) नाम से भ्रम में पड़कर गयाधर पांडे की जगह बहुत पहिले के पूर्वज के नाम को रख दिया। शूकर-बलि, अनन्त चतुर्दशी का वर्जन, तथा अब तक की बीती पीढ़ियों के साथ-साथ जब गयाधर पंडित के मीठाबेल से काशी-प्रस्थान, मलाँव में उनकी दो सन्तानें आदि पर विचार करते हैं; तो सन्देह नहीं रह जाता, कि कनैला में जिन्हें चक्रपाणि कहा गया, वह चक्रपाणि-वंशज गयाधर पांडे ही थे। दुर्गा पंडित आजमगढ़ जिले के इस सुदूर दक्षिणी भाग के रहनेवाले थे, इसलिए उनकी कन्या उस सम्मान का पात्र नहीं हो सकती थी, जैसी कि सरयूपारवाली, चाहे वह मीठाबेल के अपंक्ति कौशिक दूबे की ही कन्या क्यों न हो ? मलाँव की परम्परा से मालूम होता है, गयाधर पांडे काफी प्रौढ़ हो चुके थे, जब कि वह प्रभाकर को मलाँव में छोड़ वहाँ से रवाना हुए, उस समय उनकी मीठाबेलवाली स्त्री अभी अल्पवयस्का रही होंगी, इस प्रकार गयाधर की प्राण आदि सन्तानें प्रभाकर की माता से न होकर इन्हीं से हुई मालूम होती हैं।

सरयूपारवाली स्त्री की सन्तान होने के कारण चकरपानपुर-कनैलावाले अपने को दूसरों की अपेक्षा अधिक कुलीन मानते हैं, बल्कि कई पीढ़ियों तक तो वे अपनी कन्याओं का विवाह सरयूपार गोरखपुर जिले में ही किया करते थे, यह बात अब भी कुछ परिवारों में देखी जाती है।

गयाधर की छठी पीढ़ी में इच्छा पांडे हुए। जब वह चकरपानपुर छोड़कर कनैला आये, तो उस वक्त वह एक उजाड़ गाँव था। कनैला के पुराने पोखरे, जगह-जगह निकल पड़नेवाले कुएँ, पुराना कोट और उसके सैय्यद, तथा 'बड़ी' पोखर में एक जगह प्राप्त होनेवाली सील-सी बड़ी-बड़ी ईंटें, कनैला को एक पुराना स्थान बतलाती हैं; इच्छा पांडे के वक्त में कनैला में कुछ बस्ती चूड़ीवालों और भरों की जरूर थी, जिनकी सन्तान अब भी वहाँ मौजूद है। इच्छा पांडे पंडित न थे, और जहाँ तक मैंने सुना है, उनके वंश में सरस्वती की ओर

मुँह करने का अपराध सबसे पहिले मैंने ही किया। 1730 के आस-पास—जब कि शेरशाह से औरंगजेब तक के दृढ़ शासन के विशृंखलित होने के कारण चारों ओर देश में अशान्ति का दौरदौरा था—के लिए इच्छा पांडे अनुकूल व्यक्ति थे। उन्होंने कनैला को दखल कर वहाँ अपना कच्चा कोट बनाया (चकरपानपुर का अपना हिस्सा भी नहीं छोड़ा, उनके वंशज आज भी चकरपानपुर-कनैला के ज़मींदार किसान हैं)।

विदथी, संकृति, रन्तिदेव से चला आता 'क्षत्रोपेतत्त्व' मलाँव से कनैला भी पहुँचा था, और कनैला में अब भी बेलहा के वैसों तथा भदया के ठाकुरों से लोहा लेने की कितनी ही कहानियाँ मशहूर हैं। बचपन से अपने वंश के बारे में मैंने सिर्फ विश्वेश्वर पांडे, रामेश्वर पांडे की लाठियों का ही चमत्कार सुना। ऐसी परिस्थिति में कनैला के जवानों की बल में विशेषता रखना स्वाभाविक बात थी। कनैला का वंशवृक्ष इस प्रकार है—



प्रभाकर-वंशज (नाउर-देउर)—मलाँव पर ज्येष्ठ पुत्र गोल्हई पांडे की सन्तान (आधुनिक पश्चिमपट्टी, पहिले की पूर्वपट्टी[1]) का अधिकार हुआ। गोल्हई की सातवीं पीढ़ीवाले रोपन पांडे तक पंक्ति रही। नरेन्द्र अपंक्ति-कन्या के पुत्र थे, इसलिए पंक्ति से परित्यक्त समझे गये; किन्तु प्रभाकर-वंश अभी भी पंक्ति या अर्द्धपंक्ति में है। सरयूपारीण पंक्ति ब्राह्मणों की संख्या घटते-घटते अब कुछ हजार घर रह गई है। पंक्तिलोग अपने ही भीतर शादी-ब्याह करते हैं, पंक्ति-भिन्न ब्राह्मण से ब्याह करने पर त्रुटित (टुटहा) कर दिये जाते हैं। पंक्ति ब्राह्मणों का सम्मान अधिक है। प्रभाकरवंशज नाउर-देउर के सांकृत्यों का ही ऐसा कुल है, जिसकी कन्या पंक्तियों में

1. पहिले मलाँव बस्ती आज की बस्ती से दक्षिण-पश्चिम में अवस्थित 'डीह' पर थी, वहाँ पूर्व की ओर ज्येष्ठ पुत्र की सन्तानों के घर थे, इसलिए उन्हें पूर्वपट्टी कहा जाता था। आज की नई बस्ती में बात उलटी हो गई है।

ब्याही जाती है। ब्याह हो जाने पर कन्या माता-पिता के भी हाथ की कच्ची रसोई नहीं खा सकती। साधारण सरयूपारीण ब्राह्मणों से रक्त-सम्बन्ध जोड़ने के लिए यही वंश खिड़की का काम देता है। लेकिन नाउर-देउरवाले पंक्तियों से कन्या पाने के अधिकारी नहीं हैं।

नरेन्द्र-वंशज–नरेन्द्र की मृत्यु के बाद ननिहालवालों ने उनके पुत्रों–उद्धव, माधव, वसन्त से नरेन्द्रपुर छीन लिया। इस पर उन लोगों ने मलाँव आकर अपना आधा हिस्सा जबर्दस्ती दखल किया। इसके कारण दोनों परिवारों में वैमनस्य बहुत बढ़ गया। गोल्हई-पुत्र श्रीपति की सन्तान ने नरेन्द्र की सन्तान के जन्म के बारे में झूठी बातें फैलानी शुरू कीं; जिससे उनकी ब्याह-शादी रुक गई। अन्त में श्रीनगर राज्य के पूज्य (सांकृत्यगोत्री) सरया के तिवारी की सहायता से सोलहों कुलों की पंचायत बैठी। पंचायत ने दोनों तरफ की बातें सुनकर 'दिव्य' साक्षी द्वारा इसका फैसला करने के लिए कहा–पीपल का पत्ता हाथ में रख उस पर दहकते लाल लोहे के गोले को लेकर 21 कदम जाना था। ज्येष्ठ भाई उद्धव ने आगे बढ़कर कहा–मैं ज्येष्ठ हूँ, मेरा अधिकार पहिला है। कहते हैं, इक्कीस की जगह बयालिस कदम वे चले गये। पंचों ने नरेन्द्र-सन्तान को जाति में मान लिया और गोल्हई-सन्तान की बड़ी भर्त्सना की। धीरे-धीरे इनका इतना अवसाद हुआ, कि जहाँ उन्होंने नरेन्द्र-सन्तान का विवाह रोका था, वहाँ उन्हीं को प्रतापगढ़ आदि में ब्याह करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

माधव के वंशज नेत्रानंद अमेठी (सुलतानपुर) के एक प्रसिद्ध तांत्रिक हुए थे।

वसंत के पौत्र बिहारी बड़े उदार थे, एक बार मालगुजारी के दो सौ रुपये बाकी पड़ गये। पूर्वजों की जमीन छिनी जाती थी। उनके पुत्र कुलपति बनारस में अपनी धनाढ्य ससुराल गये। वहाँ बरतन-भाँड़े के अतिरिक्त उन्हें दो सौ रुपये मिले। घर लौटते, शाम को नैनीजोर (जिला आजमगढ़) में ठहरे। वहाँ के भूस्वामी को प्रतिदिन 200 रुपया हाथखर्च के लिए चाहिए था। राज्य के कर्मचारी उस दिन उतना रुपया वसूल नहीं कर पाये थे। कुलपति पांडे ने कर्मचारियों को भयत्रस्त देख अपने दो सौ रुपये दे दिये। बरतन-भाँड़ा लिवाये जब वे सबेरे के वक्त मलाँव पहुँचे, तो बिहारी पांडे दातौन लिये बैठे दिखाई दिये। बोले–भले समय आ गये, लोटा एक गरीब को दे दिया। बरतन लाओ, दातौन तो करें।

उन्हें जब पुत्र की उदारता का पता लगा, तो रुष्ट न होकर और प्रसन्न हो बोले–दूसरे की इज्जत बचाना धर्म है। इधर नैनीजोर में सबेरे जब लोगों ने कुलपति को ढूँढ़ा, तो वह तड़के ही बिदा हो चुके थे। उनके स्वामी ने सातवें दिन दो सौ उधार के अतिरिक्त पाँच सौ रुपये बिदाई के भी कुलपति के पास भेजे। यहीं से कुलपति के वंश की समृद्धि शुरू होती है। 1700 ई. के आसपास पाँच सौ रुपयों का बहुत मूल्य था। कुलपति ने अपने पुत्र योगमणि को राजविद्या पढ़ाई, और वह पढ़ते-पढ़ते अपने समय के गोरखपुर जिले के सबसे बड़े राज्य रुद्रपुर (सतासी) के दीवान हो गये। नदुआ, कटया, धनसडी, देवकली गाँव उनकी मिल्कियत हुए। योगमणि की सन्तान में कोई वैसा योग्य न था, इसलिए उनके भतीजे मनसाराम (घनश्याम के पुत्र) रुद्रपुर के दीवान बने। मनसाराम के वक्त रुद्रपुर के राजा अस्सी साल से अधिक के हो चुके थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र लाल साहिब उकता गये। उन्होंने बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु की भाँति पिता के खिलाफ बगावत का झंडा खड़ा किया। कहते हैं, यह पिता-पुत्र का झगड़ा बढ़ते-बढ़ते रुद्रपुर के सतासी कोस के राज्य के प्रत्येक घर में फैल गया। हर घर में पिता राजा का पक्ष लेता और पुत्र तरुण लाल साहेब का। लाल के सात सौ सिपाहियों ने एक दिन मनसाराम को घेर लिया, और लाल न पहुँच गये होते तो शायद उनकी जान न बचती। मनसाराम राजा को समझाते रहे, और अन्त में राजा ने पुत्र को गद्दी देना स्वकार किया। इस खुशी में बाप-बेटे दोनों ने मनसाराम को 52 गाँवों की माफी देनी चाही। मनसाराम ने यह कहकर उसे लेने से इनकार कर दिया–यदि हर दीवान को इस तरह गाँव दान दिये जाते रहें, तो चार पीढ़ी में राज्य के पास रहेगा ही क्या ? बहुत आग्रह करने पर उन्होंने नौआ-डुमरी, गोधवल, जद्दूपुर, तरवा और बघमौआ-पुरसौली गाँव स्वीकार किये। कुरुक्षेत्र के ग्रहण के वक्त बूढ़े राजा ने विरैचा तप्पा मनसाराम को दान करना चाहा, जो उनके इनकार करने पर सोहगौरा के तिवारी लोगों को मिला।

गोरखपुर जिला उस समय नवाब-वजीर अवध के राज्य में था। उसकी चकलेदारी (जिले के प्रधान अधिकारी

के पद) के लिए एक लाख रुपये नकद की जमानत देनी पड़ती थी। मनसाराम बढ़ते-बढ़ते गोरखपुर के चकलेदार हो गये। शोभामणि उपाध्याय (पिपरा, तहसील हाटा) उनके कारपर्दाज थे। मालगुजारी जमा करने वे ही लखनऊ जाते थे। वे रुपयों को अपने नाम जमा कराते गये और बाकी मनसाराम की चकलेदारी के नाम गिरती गई। लाख रुपये बाकी लग जाने पर चकलेदारी छिन गई, मनसाराम पकड़कर लखनऊ ले जाये गये। कुछ दिनों तक मार पड़ती रही। उनके भाई भवानीदत्त इधर रुपये इकट्ठे कर रहे थे। इसी बीच मनसाराम को हुक्म हुआ कि यदि सप्ताह के भीतर रुपये नहीं आये, तो तुम्हें गाय की ताजी खाल ओढ़नी पड़ेगी। मनसाराम ने रात को जहर खाकर अवधि से दो दिन पहिले ही शरीर छोड़ दिया। भवानीदत्त रुपया लिवाये बाराबंकी पहुँचे, तो भाई के निधन की खबर लगी, अफसोस के मारे वे वहीं मर गये। रुपये जिसको जहाँ मिले, उसने लूट लिये।

मनसाराम के रुपयों को अपने नाम से जमा कर शोभामणि उपाध्याय स्वयं चकलेदार बन गये। एक लाख के बकाये के बदले में नवाब ने यह कहकर लखनऊ से सैनिक भेजे कि मनसाराम के घर से डोला (स्त्री) निकाल लाओ। मनसाराम के चचा के प्रपौत्र अयोध्याप्रसाद[1] और त्रिभुवनदत्त के लिए यह असह्य बात थी। उन्होंने घर की स्त्रियों को रिश्तेदारियों में भेज दिया। मनसाराम के चारों भाई मर चुके थे। अब उनके भतीजे रामप्रसाद और फर्यादी के बच्चे बच रहे थे। अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त ने अपने आपको लाख रुपयों का देनदार कह फौज को अर्पण कर दिया। दोनों भाइयों को पकड़कर लखनऊ ले गये। उन पर बाँस के फट्टों की मार पड़ती थी, तो भी उनको संतोष था, कि उन्होंने कुल की लज्जा रखने में सफलता पाई। अमेठी के नेत्रानंद के वंशज एक ज्योतिषी—जिन्हें गोसाईं बाबा के नाम से लोग स्मरण करते थे—को अपने वंश के इन दो तरुणों की दुःखगाथा का पता लगा। वे नवाब के दरबार में गये। ज्योतिष का कोई चमत्कार दिखलाया। नवाब बहुत प्रसन्न हुए। गोसाईं बाबा ने अपने वंश के इन दोनों तरुणों की मुक्ति की भिक्षा माँगी। नवाब के शिरदर्द होने पर पाँच कैदियों के छोड़े जाने का नियम था, जिसी के उपलक्ष में नौआ-डुमरी के रहनेवाले नवाब के प्रधान खवास की चतुराई से अयोध्याप्रसाद दोनों भाई पहिले ही छोड़ दिये गये थे। इस पर नवाब ने जब फिर कुछ देने के लिए आग्रह किया, तो गोसाईं बाबा ने सिर्फ इतना ही माँगा कि बागों के ऊपर मालगुजारी न लगे। नहीं मालूम यह वरदान सारे अवध राज्य के लिए था, या सिर्फ गोरखपुर जिले के लिए। गोसाईं बाबा को नवाब ने अपने बाग के आम भेजे थे। उनमें से कुछ अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त को भी मिले। उन्होंने खाकर गुठली रोप दी।

अयोध्याप्रसाद दोनों भाई उस तरह श्रीहीन-वैभवहीन हो मलाँव नहीं लौटना चाहते थे और वे वहीं लखनऊ में पड़े रहे। उनके खाये आम की गुठली के वृक्ष ने फल दिया। उन्होंने नवाब के पास उसकी डाली लगाई। नवाब को भ्रम हुआ, कि आम उनके बाग की चोरी के हैं, क्योंकि वैसे आम और दूसरे बगीचे में नहीं थे। दोनों भाई पकड़ मँगाये गये। पूछने पर पता लगा कि वे उतने दिनों से लखनऊ ही में पड़े हैं, और भिखारी बनकर मलाँव लौटना नहीं चाहते। इस पर नवाब ने 12 सौ रुपये मालगुजारी लगने की जमीन का माफीनामा लिखकर दे दिया। कहते हैं अयोध्याप्रसाद ने उस पर एक शून्य और लगवाकर 12 हजार करवा लिया, जिसमें 36 हजार बीघा जमीन मिली। इसी माफी में अमियार आदि गाँव शामिल हैं।

शोभामणि उपाध्याय चकलेदार के अत्याचारों से लोग तंग आए हुए थे। ब्राह्मणों और राजपूतों की एक गुप्त सभा इस पर विचार करने के लिए बैठी। सलाह हुई कि शोभा का काम तमाम किये बिना लोगों का उद्धार नहीं हो सकता। खुटहना के सूर्यवंशी क्षत्रिय वीरेन्द्र सिंह ने शोभा के वध करने का जिम्मा इस शर्त पर लेना स्वीकार किया, कि उन्हें ब्रह्महत्या का दोष न लगे। ब्राह्मणों ने उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ली। वीरेन्द्र रात के वक्त शोभामणि के पुत्र वेनीदत्त के रूप में महल में घुसा। शत्रु को जगाया। शोभा ने कहा—"मैं तुम्हारी गाय हूँ।" "मैं तुम्हारा बाघ हूँ"—वीरेन्द्र ने जवाब दिया, और शिर काटकर ब्राह्मणों की सभा के सामने उपस्थित किया। सभी ब्राह्मणों ने वीरेन्द्रसिंह के हाथ से चना लेकर खाया और उन्हें ब्रह्महत्या के महापातक

1. जन्म, वैशाख शुक्ल एकादशी भृगुवासर 1811 संवत् (अयोध्याप्रसाद की जन्मपत्री श्री जगदीशनारायण के पास है)।

से मुक्त कर दिया।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त फिर रुद्रपुर के दीवान बने और उन्हें "शाहआलम बादशाह गाजी (के) जंगयार वफ़ादार सिपहसालार रुस्तमेगंज शुजाउद्दौला यहिया खाँ आसफ़ुद्दौला…1195 (हिजरी में)…एतमादुद्दौला आसफजाह, मदारुल्महाम, वजीरुल्मालिक"[1] ने गोरखपुर की चकलेदारी दी। रुद्रपुर के महाराज पहलवान सिंह उन्हें बहुत मानते थे। कितने ही दरबारी पांडे-बन्धुओं से बड़ी डाह करते थे। उन्होंने षड्यन्त्र रचा, और राजा के दीवान को वेलीपार, कौडीराम, धसका, कर्णपुरा, दाढ़ा, कोनो, सेमरौना, भिसवा के गाँव दिलवा दिये। इनमें बेलीपार, कौडीराम के गाँव पहिले ही से रुद्रपुर के वंशज पांडेपार के बाबू को 'खोरिश' (जीविका) में मिले थे। उन्होंने दीवान से अपनी जीविका के इन गाँवों को छोड़ देने के लिए बड़ी मिन्नत की, किन्तु दीवान साहब ने उस पर कुछ भी ध्यान न दे जबर्दस्ती गाँवों को दखल कर लिया। जीविका चली जाने पर जीवन रखना भार है, यह समझ पांडेपार के बाबू ने भी जान पर खेलने की प्रतिज्ञा की। अयोध्याप्रसाद और त्रिभुवनदत्त का आपस में असाधारण प्रेम था। दोनों भाई एक दूसरे से अलग नहीं रहते थे। नवाब से फरमान लेते वक्त तक भी अयोध्याप्रसाद ने उसमें त्रिभुवनदत्त का नाम रखवाना जरूरी समझा था। दोनों एक चारपाई पर सोते थे। पांडेपार के बाबू ताक में लगे हुए थे और एक दिन गोरखपुर में अपने मकान में एक चारपाई पर जब दोनों भाई सोये हुए थे, उसी समय आकर रात को उन्होंने दोनों को काट दिया।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त ने सरकारी कागजों में मलाँव को अपने नाम लिखाया था। पूछने पर कहा था—कागज में नाम न रहने से घबराना नहीं चाहिए, मलाँव जैसे हमें 'माफी' मिला है, वैसे ही वह हमारी तरफ से भाइयों को माफी रहेगा।

अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त मर गये। लखनऊ के नवाब का राज्य भी उठ गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने राज सँभाला। बन्दोबस्त होने को आया। कम्पनी की सरकार मलाँव पर मालगुजारी बैठाने लगी। रामसेवक ने बड़ी कोशिश-पैरवी की। 500 रुपये और 10 घड़े घी लेकर माफी लिख देने के लिए बन्दोबस्त का बड़ा अफसर तैयार था। रामसेवक ने चचेरे भाई हरिसेवक (त्रिभुवनदत्त के पुत्र) को कहा। उनकी समझ हमेशा ही उलटी रहती थी। उन्होंने इनकार कर दिया। माफी टूट गई। मलाँव पर मालगुजारी लग गई।

अब भी मलाँव अयोध्याप्रसाद-त्रिभुवनदत्त के लड़कों के नाम रहा। गाँववाले पांडे लोग अपने हिस्से के मुताबिक जमीन को मुफ्त जोतते थे। हरिसेवक ने दुबौली के भूमिहार ब्राह्मण सुबुद्धराय से 5000 रुपये कर्ज लिये। हरिसेवक की वही बेढंगी रफ्तार रही, वह कर्ज क्यों अदा करने लगे ? सुबुद्धराय ने इच्छा प्रकट की कि यदि पांडेजी आकर मुझे गुरुमंत्र दे दें, तो रुपये उन्हें भेंट चढ़ा दूँगा। हरिसेवक नहीं गये। सुबुद्धराय बीमार पड़े, बोले—यदि पांडेजी आकर दर्शन दे जाते, तो मैं रुपये छोड़ देता। हरिसेवक फिर भी नहीं गये। सुबुद्धराय मरते वक्त कह गये—यदि मरने के बाद पांडेजी पुछारी के लिए आवें, तो कर्ज छोड़ देना, नहीं तो नालिश करके वसूल करना। हरिसेवक अब भी नहीं गये।

महाजन ने नालिश करके हरिसेवक का आधा हिस्सा नीलाम करवाया। कटयावाले श्री उग्रदत्त भैरवदत्त (दीवान योगमणि पांडे के वंशजों) ने पूर्वजों की समझ उसे खरीद लिया। गाँव के और लोग न लड़ सके, रामलाल, मथुरा पांडे ने आगरा हाई कोर्ट तक लड़ाई की, और अदालत से उनको अपना हिस्सा मिल गया। उन्होंने अपना आधा हिस्सा कटयावालों को देकर आधा अपने नाम लिखवाया।

कुलपति पांडे के दूसरे पुत्र घनश्याम के प्रप्रपौत्र नन्द पांडे बड़े अध्यवसायी व्यक्ति थे। उन्होंने एक बहुत भारी जंगल खरीदा। उनके पुत्र श्री सूर्यनारायण ने ऐश्वर्य को और बढ़ाया, और कटयावालों के खरीदे हिस्से को लौटा लिया।

16वीं सदी के उत्तरार्द्ध के अहिरुद्र पांडे की सन्तान आज मलाँव में ही सौ घर से अधिक नहीं हो गई है, बल्कि वह बहुत दूर तक फैल गई है। बैकुंठपुर (देवरिया), पकर्डियार, फर्दहा, डाँगीपार, भिलौरा, नाउर-देउर,

---

1. दीवान अयोध्याप्रसाद पांडे के प्रपौत्र श्री जगदीशनारायण सेवक के यहाँ मौजूद शावान 1198 हिजरी में लिखित नवाबी फरमान।

कटया, नउआ, नदुआ, कसियार, रुद्रपुर आदि गाँव गोरखपुर जिले में ही हैं, जहाँ मलाँव के सांकृत्य वंशज बसते हैं। आजमगढ़ में विक्रमपुर (घोसी), चकरपानपुर, कनैला, बड़ौरा, टाड़ी, दिलमनपुर, डीहा, जलालपुर आदि गाँवों में वे पाए जाते हैं। पतुलकी और वृन्दावन (प्रयाग); विजयमऊ (प्रतापगढ़), मथुरा शहर और कितने ही और स्थान हैं, जहाँ अहिरुद्र पांडे के वंशज आज रहते हैं। पहाड़ी (प्रयाग) आदि में पहिलेवाली परम्परा के बहुत-से घर हैं।[1]

3. रामशरण पाठक[2] (नाना)

औरंगजेब की मृत्यु के साथ मुसलमानों के प्रभुत्व का पतन आरम्भ हुआ, लेकिन वही समय है, जब कि मुगलों के दृढ़ शासन के फलस्वरूप बढ़ी हुई जन-संख्या ने नये-नये गाँवों और बस्तियों को बसाना शुरू किया। पाठक जी के पूर्वज इसी प्रकार 18वीं शताब्दी के प्रथम पाद में पंदहा गाँव में आकर बस गये। उस समय पंदहा के आसपास घना जंगल था, जिसमें भेड़िये बहुतायत से रहा करते थे। पश्चिम ओर छोटे द्वीपवाली एक पुरातन विशाल पोखरी थी। इसका महामाई नाम शायद पाठक के पूर्वजों ने स्वयं रखा था। इसी पोखरी के पश्चिम तट पर बसई नाम का छोटा गाँव था, जिसमें खानदानी सैयद, कारीगर, जुलाहे, साग-भाजियाँ पैदा करनेवाले मेहनती कोइरी लोग निवास करते थे। यहाँ की अनेक ईंट-चूने की कब्रों से प्रकट होता था, कि कभी यह स्थान बहुत समृद्धिशाली था। पंदहा के उत्तर तरफ भी पुरानी बस्ती के कुछ चिह्न थे। लोग पूछने पर बतलाया करते थे—यहाँ कभी सिउरी रहते थे, जो पीछे उजड़कर दूर देश में चले गये, अब भी उनके वंशज उन सुदूर देशों से कभी-कभी आकर रात को बीजक की सहायता से अपने पूर्वजों के गड़े खजाने का पता लगाया करते हैं।

सवा सौ वर्ष बाद अपने प्रथम पूर्वज की 5वीं पीढ़ी में (1844 ई. में) रामशरण पाठक पैदा हुए। तब चारों ओर अँगरेजों का राज्य था। पंदहा के एक घर के ब्राह्मणों के 17 घर बन गये थे। उसके साथ आ बसे अहीरों और चमारों के भी कितने ही घर हो चुके थे। यद्यपि अब जंगल काटकर बहुत-से खेत बना लिये गये थे, तो भी इतना जंगल आसपास में था, जिसमें भेड़िये गुजर कर सकते थे। रामशरण पाठक अपने पिता के तीन पुत्रों (शिवनंदन बड़े, रामबरन छोटे) में मँझले थे। तीनों भाइयों में पाठक कम गोरे थे, तो भी उनका रंग गेहुँए से ज्यादा साफ था। तीनों ही भाई विशालकाय थे, जिनमें पाठक की शरीर-गठन बहुत ही अच्छी थी। पाठक के पिता के पास खेती के अतिरिक्त काफी गायें-भैंसे थीं। लड़कपन में पाठक को उन्हीं के चराने का काम मिला था। जब पाठक 12-13 वर्ष के हुए तभी माता-पिता ने शादी कर दी। पाठक अपनी भैंस-गायों के चराने में मस्त रहते थे। घर में दूध-घी का इफरात था। यौवन में पदार्पण के साथ पाठक के रग-पुट्ठों में असाधारण बल की झलक दिखाई पड़ने लगी। लड़के की रुचि कुश्ती की ओर देखकर पिता ने उस समय के रवाज के मुताबिक बरसात में कसरत-कुश्ती सिखाने के लिए एक नट रखा। तीन महीने बाद नट को एक भैंस इनाम में मिली। पाठक ने और भी कुछ बरसातें अखाड़े में बिताईं।

पंदहा का कोई आदमी नौकरी करने के लिए जिले से बाहर गया हो, इसका पता नहीं। यही नहीं, आसपास के गाँवों से भी शायद ही किसी ने प्रान्त से बाहर पैर रखा हो। पाठक की चरवाही की पाठशाला में भूपर्यटकों के ज्ञान का भाण्डार खुला रहता हो, इसकी सम्भावना नहीं थी; तो भी पाठक को कहीं से हवा लगी जरूर।

---

1. सांकृत्यगोत्री चौबे भौंआपार, नगवा, उनवली, देउग़र, सरसैया, तेलियाडीह आदि में रहते हैं और इस गोत्र के तिवारी वारीडीह, विसुहिया, नयपुरा, सरया में।
2. यहाँ दिये सन् संदिग्ध हैं।

18 वर्ष की उम्र में ही पिता के कहीं रखे हुए डेढ़ सौ रुपयों को लेकर 1862 ईसवी में वे वैसे ही चम्पत हुए, जैसे 46 वर्ष बाद उनका नाती उनके रुपये लेकर। युक्त-प्रान्त के इस पूर्वी छोर से सुदूर दक्षिण हैदराबाद को अभी रेल शायद न बनी थी। विदेश चलें, इतना ही उन्हें घर छोड़ते समय खयाल आया था। चलकर हैदराबाद के जालना कस्बे के अँगरेजी पलटन में नौकरी करेंगे, इसका उन्हें कुछ खयाल भी न था। किन्तु रास्ते के साथियों के कारण आखिर वह एक दिन जालना पहुँच गये। वहाँ उस समय एक पूरबिया फौज रहती थी, जिसमें पाठक के जिले के कितने ही राजपूत सिपाही भी थे; पलटन के सूबेदार-मेजर रम्मूसिंह भी उनके अपने ही जिले के थे।

पाठक भी अखाड़े पर गये। आज कुछ विशेष चहल-पहल थी। कुश्ती देखने के लिए पलटन के अफ़सर भी कुर्सियों पर डटे थे। पाठक ने भी लड़ने की इच्छा प्रकट की। वे सबसे तगड़े आदमी से लड़े। 18-19 वर्ष के नवयुवक के लिए वह आदमी बहुत भारी मालूम होता था, और लोग सन्देह में थे; किन्तु कुछ ही मिनटों में पाठक ने उसे चित्त कर दिया। कर्नल साहब ने कूदकर तरुण की पीठ ठोंकी, कुछ इनाम भी मिला, और सबसे बड़ी बात यह हुई कि कर्नल साहब ने खुद सूबेदार मेजर से कहकर उसी दिन पाठक को फ़ौज में भर्ती करा दिया। पाठक ने इनाम और अपने रुपयों में से सौ रुपये सूबेदार-मेजर के हाथ में रखकर कहा—मैं अशर्फ़ियों का एक कंठा पहनना चाहता हूँ। उसी दिन वे रुपये जालना के मारवाड़ी सेठ के पास भेजे गये और दो-तीन दिन बाद पाठक के गले में सात मुहरों का कंठा पड़ गया।

पाठक शरीर से जैसे बलवान थे, वैसे ही निशाने में भी सिद्धहस्त निकले। कवायद परेड का काम सीख लेने के बाद ही साहब ने उन्हें अपना अर्दली बना लिया। पलटन के अफ़सरों को हमेशा उतना कोई काम तो होता नहीं। जाड़ों में साहब बहादुर कभी हैदराबाद के जंगलों में, कभी मालवा और नागपुर के वनों में शिकार करते फिरते थे। पाठक भी उनके साथ रहते थे। कितने ही बाघ साहब मारते थे, और कितने ही पाठक के मारे बाघ भी साहब के नाम दर्ज होते थे। हाँ, बाघ मारने का सरकारी इनाम और उसके चमड़े का दाम, ऊपर साहब की ओर का भी कुछ इनाम पाठक को मिल जाया करता था।

इन शिकार-यात्राओं की बातें बुढ़ापे में पाठक बड़ी रात बीते तक अपनी सहृदय धर्मपत्नी को सुनाया करते थे। उस वक्त उनकी बगल में बैठा या गोद में लेटा आठ-सात वर्ष का उनका नाती उन बातों को सुनता और आश्चर्य करता। कामठी, धुलिया, अमरावती, नासिक यद्यपि उस समय उस बच्चे को शब्द मालूम होते थे, किन्तु उन्होंने पीछे भूगोल और नकशा पढ़ने में बड़ी दिलचस्पी पैदा की। पाठक कहा करते थे—उधर पहाड़ों में 'बिसकर्मा' (विश्वकर्मा) के हाथ के बनाये बड़े-बड़े महल हैं, वे पहाड़ काटकर बनाये गये हैं। बिसकर्मा ने उन्हें बनाया तो था देवताओं के लिए, किन्तु जब तक देवता आयें, तब तक राक्षसों ने उनमें बसेरा कर लिया। देवताओं को खबर देकर जब वे लौटे, तो देखा कि चारों ओर बोतलें खनखना रही हैं। बिसकर्मा ने शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। पाठक बड़ी गंभीरता से पठकाइन से कहते—आज भी वे राक्षस या तो हाथ में बोतल लिये हैं, या ताथेई-ताथेई नाचते, या आँख-मुँह बनाते दिखाई देते हैं; देखने में क्या मालूम होता है कि वे पत्थर हो गये हैं।

पाठक इसी प्रकार साहब के साथ जाड़ों में शिकार खेलते, गर्मियों में शिमला और ठंडे पहाड़ों पर घूमते मौज कर रहे थे। उन्हें नौकरी करते दस वर्ष हो गये थे और इसी बीच में उनके साथी—और कुछ तो उनकी सिफ़ारिश पर—तरक्की करके नायक और जमादार बन गये थे, किन्तु न उनको उसकी उतनी इच्छा थी और न साहब ही वैसा करना चाहते थे।

पिछले सात-आठ वर्षों में पाठक ने कभी एक-आध चिट्ठी तो जरूर भेज दी थी, किन्तु घर आने का जिक्र तक न किया था। 'उड़ती हुई चिड़िया ने' घर पर खबर दे दी थी, कि पाठक ने वहीं स्त्री कर ली है। वस्तुतः था भी ऐसा ही। जालना में कितने ही घर ऐसे भी थे जो पूरबिया सिपाहियों की मराठी स्त्रियों की संतान थे। ऐसे ही एक परिवार की स्त्री उनकी चिररक्षिता हो गई थी। उससे उन्हें एक पुत्र भी हुआ था। पाठक ने उसके लिए घर भी बनवा दिया था। शायद पाठक का वह पुत्र या उसकी सन्तान अब भी जालना

में हों, (यदि जालना की अँगरेजी छावनी के टूटने के साथ वे अन्यत्र न चले गये हों)। आठ-नौ वर्ष बीत गये। पाठक के पिता भी मर गये। पाठक के भाइयों का बर्ताव उनकी स्त्री के साथ कुछ बहुत अच्छा न था। स्त्री ने अपने भाई को हैदराबाद भेजा। पाठक स्वयं तो न आये, किन्तु उन्होंने साले के हाथ स्त्री के लिए कुछ रुपये भेजे। साले ने उस रुपये को अपनी दुखिया बहन को देना पसन्द नहीं किया।

3-4 वर्ष और बीते, इसी बीच पाठक दिल्ली दरबार भी हो आये। अभी उनका जीवन-स्रोत वैसा ही बह रहा था। बलजोर और दवन दो राजपूत नौजवानों से उनको सगे भाई से भी ज्यादा मुहब्बत थी। सच पूछिए तो अब उनके लिए जालना घर से कम न था। उनको पंदहा की फिक्र हो तो क्यों ? किन्तु एक दिन किसी ने पाठक से सूबेदार रम्मूसिंह की कथा सुनाई। वह कई वर्ष पूर्व पेन्शन पाकर घर चले गये थे। रम्मूसिंह ने पलटन में जब से नौकरी की थी, तब से वह एक ही दो बार कुछ समय के लिए घर गये थे या शायद नहीं ही गये थे। पेन्शन के बाद एक बक्स में अशर्फ़ियाँ भरकर वे घर पहुँचे। उनकी स्त्री अब बूढ़ी हो चुकी थीं। बूढ़े सूबेदार-मेजर ने अशर्फ़ियों का बक्स उनके सामने खोल दिया। खयाल किया होगा, स्त्री बहुत प्रसन्न होगी; किन्तु प्रसन्नता का पता तो तब लगा, जब सूबेदार-मेजर ने पानी माँगा और उत्तर मिला–"उन्हीं अशर्फ़ियों से लो। तुमने तो जिन्दगी में अशर्फ़ियाँ ही पैदा कीं, पानी देनेवाले थोड़े ही पैदा किये।" बेचारे सूबेदार पर क्या बीती होगी, इसका तो पता नहीं; किन्तु पाठक पर इस बात का बड़ा असर हुआ। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों के बाद सब के समझाते रहने पर भी वह नाम कटाकर घर के लिए रवाना हो गये।

घर लौटने की सबसे अधिक प्रसन्नता पाठक की स्त्री (जगरानी) को होनी ही चाहिए। यदि भाइयों के पास समय-समय पर कुछ रुपया आया करता, तो इसमें शक नहीं, पाठक की स्त्री की उतनी उपेक्षा न होती। पठकाइन में एक बड़ा गुण यह था, कि वह झगड़ापसन्द न थीं, किन्तु इसका ही दुष्प्रभाव यह था, कि दूसरों के प्रतिकूल व्यवहार को वे मन में रखती जाती थीं। कड़वे मुँहवालों में अकसर देखा जाता है, कि वे किसी के दुर्व्यवहार को फ़ौरन मुँह से निकालकर भीतर-बाहर दोनों ओर ठंडे हो जाते हैं। बेचारी पठकाइन में यह गुण या अवगुण था नहीं, वह बारह वर्ष तक की उपेक्षाएँ-ताने सब कुछ दिल में रखती गईं। पाठक के आने के बाद वह लेखा एक-एक कर खुलने लगा। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय के बाद पाठक भाइयों से अलग हो गये।

अब उन्होंने अपने घर को कुछ अपनी रुचि का बनाना चाहा। पहले तो उन्होंने द्वार पर पक्का कुआँ बनवाया और रहने के लिए ईंटों का मकान। पाठक को यह पसन्द न था कि वह अपना गन्ना दूसरों के कोल्हू में पेरने जायें। इसलिए चुनार जाकर एक पत्थर का कोल्हू ले आये। कोल्हू को अपने द्वार पर ही गाड़कर उन्होंने दो घर 'कुल्हाड़' के लिए भी बनवा दिये। उनके पास अपना पैतृक खेत दो बीघे से ज्यादा न था। कुछ दिनों के बाद उनके एक समीपी कुटुम्बी (महावीर पाठक) ने तीनों भाइयों से कहा–मुझे रुपये की आवश्यकता है, तुम लोग मेरे हिस्से का इतना खेत ले लो, नहीं तो मैं दूसरे को बेंच दूँगा। तीनों भाइयों ने मिलकर खेत लिखा तो लिया, किन्तु छोटा भाई दाम न दे सका। पाठक ने उस भूमि को भी ले लिया। इस प्रकार अब पाठक के पास पाँच बीघे (तीन एकड़ से कुछ अधिक) के करीब जमीन हो गई। घर में दो प्राणी थे। एक लड़का हुआ, किन्तु कुछ ही समय बाद मर गया। 1876 ईसवी के करीब पाठक को एक लड़की कुलवंती पैदा हुई। कुलवंती उनकी अंतिम और एकमात्र जीवित सन्तान रही। घर में उसका लड़के के ही समान लाड़-प्यार था और होना भी चाहिए था। 9-10 वर्ष की होने पर लड़की का ब्याह 10 मील दूर कनैला गाँव में कर दिया गया। लड़की अधिकतर मायके ही में रहती थी, ससुराल जाने पर हर दूसरे हफ्ते माँ का आदमी कुछ लेकर पहुँचा रहता था। 1893 ईसवी में लड़की को एक पुत्र हुआ। नाती के जन्म से पाठक-पठकाइन दोनों को अपार आनन्द हुआ। नाती (केदारनाथ) जब अपनी माँ से अलग रहने लायक हो गया, तब वह नाना का हो गया। अब बेटी की ममता नाती पर चली आई, इससे अब उसे ससुराल में अधिक रहने की इजाजत हो गई।

पाठक के बड़े भाई के पाँच बेटे थे और छोटे के दो। उस थोड़ी-सी भूमि से बड़े भाई के इतने बड़े

परिवार का गुजर होना बहुत कठिन था। वे देखते थे कि जो जायदाद उनको मिलती, उसके लिए नाती तैयार किया जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ, कि दोनों परिवारों में अनबन रहने लगी। दिल में जलन तो थी ही, जरा-सा भी मौका मिलते आग भड़क उठती, दो-चार गाली-गलौज होती और फिर तीन-चार मास के लिए दोनों ओर के गाल फूल जाते।

पाठक अपने हाथ से काम करना अच्छा न समझते थे, पलटन के तिलंगा जो रह चुके थे। घर में दूध देनेवाली एक भैंस वे जरूर रखा करते थे। बहुत पशुओं के शौकीन न थे, सिर्फ़ दो बैल और एक भैंस रखते थे। दूध और छाछ के बिना उनका काम न चल सकता था। पहले मछली-मांस की भी खूब चाट थी; किन्तु पीछे खानदानी गुरु और अपनी स्त्री के बार-बार कहने पर मजबूर हो बेचारे एक सौ ग्यारह नम्बरवाले धर्म के चेले हो गये। एक काठ की कंठी गले में डाल दी गई और पाठक को अपने प्रिय भोज्य से वंचित हो जाना पड़ा। तो भी जब उनका नाती कुछ खाने-पीने लगा, कंठी और वैष्णवता के रहते भी यदि कहीं मछली मिल जाती, तो नाती के लिए लाये बिना नहीं रहते थे। जीती मछलियों को तो चार-चार, पाँच-पाँच सेर लेकर वे एक नाद में पाल लेते थे, जिन्हें नाती निकाल-निकाल भूनता-तलता था। नाना-नानी ढंग बतलाने और हल्दी-मसाला पीसकर दे देने में कोई हिचकिचाहट नहीं रखते थे।

पाठक की थोड़ी भूमि उनकी परिमित आवश्यकता के लिए काफ़ी थी। खेत से अनाज और भैंस से दूध-घी उन्हें मिल जाया करता था। घर का काम-काज बहुत कम था। बाहर का काम उनका हलवाहा या दूसरा कर देता था और घर का उनकी स्त्री। बस, पाठक को खाना, सोना और सबसे बड़ा काम गप्पें मारना था। उस समय पंदहा के किसी बाग, कुल्हाड़, या खलिहान में यदि आप पाँच-सात आदमियों के बीच एक मोटे-ताजे अधेड़ पुरुष को देखते, जो पैर और कमर को अँगोछे में बाँधकर कुर्सी बनाये बैठे बातें करता होता, तो समझ जाइए—वह पाठक महोदय हैं। यद्यपि उन्होंने बारह-तेरह वर्षों में बहुत-से देश और लोग देखे थे, तो भी जब उन्हीं बातों को और उतने ही आदमियों में रोज दो-तीन घंटा कहा जाय, तो वह कितने दिनों तक नई रह सकती हैं ? फलतः बाज श्रोता पाठक के बात आरम्भ करते ही कह देते—हाँ, यह हिंगोली-छावनी के पहलवान की कथा होगी। तो भी पाठक ऐसे जीव न थे, कि श्रोता की अनिच्छा के कारण अपनी कथा छोड़ बैठते।

पंदहा में सरस्वती का सत्कार न था। पाठक के छोटे भतीजे रामदीन ने प्राइमरी तक पढ़ा था, फिर उनका नाती ही पहला आदमी था, जिसने मिडिल पास किया। पाठक स्वयं अनपढ़ रहते हुए भी विद्या के लाभ को जानते थे, इसीलिए अभी नाती जब पाँच ही वर्ष का था, तभी पास के रानी की सराय स्कूल में पढ़ने के लिए बैठा दिया। वह कहा करते थे—और नहीं तो बैठना तो सीखेगा। पाठक के फुफेरे भाई सदर आला होकर मरे थे, वही खयाल करके वह अपनी स्त्री से कहा करते थे—जरा मिडिल पास हो जाने दो, फिर मैंने जहाँ एक दिन जाकर पादरी साहब के यहाँ जंगी सलामी दागी, कि बच्चे को अंग्रेजी स्कूल में भर्त्ती कराकर ही छोड़ूँगा। पाठक को इस बात से और भी बड़े-बड़े मनसूबे बाँधने की उत्तेजना सबसे अधिक मिलती थी, कि उनका नाती पाठशाला में अपने दर्जे में बराबर अव्वल रहा करता था।

पाठक ने नाती को अपने सुख के लिए ही इतने लाड़-प्यार से पाला था, किन्तु इसी प्रेम ने उनके जीवन की संध्या को दुःखान्धकारपूर्ण बना दिया। वस्तुतः यदि पाठक को अपने मन से करने दिया गया होता, तो वह अपने भतीजों को दुश्मन न बनाते। अपने भाइयों के प्रति उनका बर्ताव हमेशा स्नेहपूर्ण रहता था। जिस वक्त वायुमंडल बिलकुल कड़वा हो जाता, उस वक्त भी सतह से जरा नीचे जाने पर पाठक के हृदय में भाइयों का स्नेह वैसा ही तर पाया जाता। ऐसे मौके आये, जिस वक्त ये तीनों वृद्ध भाई झगड़े के तूफ़ान के बीच भी स्वच्छन्दतापूर्वक मिलने पर 'भैया' 'भैया' कहकर फूट-फूटकर रोने लगते। तो क्या पाठक की स्त्री (जगरानी) को दोष दिया जा सकता है ? उनका स्वभाव भी बहुत मधुर था। आदमी-जन, हित-पाहुना ही नहीं, रात के टिकनेवाले भिखमंगे भी उनकी तारीफ किया करते थे। अतिथियों को खिलाने-पिलाने में उनको बड़ा आनन्द

आता था। मधुरभाषिणी तो इतनी थीं कि सिवा अपनी जेठानी के (जिसका कारण और ही था) उन्होंने किसी को कभी कड़े शब्द न कहे होंगे। दया का उदाहरण लीजिए। वैसे पाठक के घर से कुत्ते-बिल्लियों का बिलकुल सम्बन्ध न था, किन्तु एक बार एक कुतिया ने आकर बाहर के घर के कोने में बच्चे जन दिये। फिर क्या था ? पठकाइन ने समझा—इस प्रसूता की परिचर्या का सारा भार उन्हीं पर है। कुतिया को प्रसूता की तरह का खाना मिलने लगा। इस दया का फल तुरन्त ही यह हुआ कि कुतिया द्वार की मालकिन बन गई और उसने एक बुढ़िया भिखमंगिन को काट खाया। एक प्रकार से कहा जा सकता है—अपने दो दायादों के सिवा वह अजातशत्रु थीं।

तो क्या उनकी जेठानी—देवरानी कसूरवार थीं ? देवरानी और पाठक के घर का विरोध तो हमेशा क्षीण रहा (न उन्हें कुछ आशा थी, न कुछ मिला)। हाँ, जेठानी उन सासों में थीं, जो कड़ाई के बिना अपनी बहुओं को शासन में रख सकती थीं। उनमें बहुत गम्भीरता थी। अनपढ़, अल्प-वित्त, बहु-सन्तान और ग्रामीण होते हुए भी उनमें व्यवस्था और परख करने का गुण था। वह उदारमना थीं, जो गुण उनकी परिस्थिति की स्त्रियों में बहुत कम पाया जाता था। उनके पति—पाठक के बड़े भाई शिवनंदन पाठक—तो पूरे धृतराष्ट्र थे। लड़कों के मारे भाई का विरोध करते भी असमंजस में ही पड़े रहते। पाँच लड़के थे। इतने परिवार का उतनी थोड़ी भूमि से निर्वाह होना मुश्किल था। इसलिए होश सँभालते ही दो (बच्चा और जवाहर) कलकत्ता जाकर पुलिस में भर्ती हो गये। जब वे दो-चार वर्ष में छुट्टी में घर आते, तब चाहे चचा (पाठक) और अपने घर से बोलचाल भी न होती; भेंट की चीजें लेकर वह चचा के पास जरूर पहुँचते; भेंट सामने रखकर चरण छूकर चाचा-चाची को प्रणाम करते। एक बार एक पुलिसमैन-भतीजा उस वक्त घर आया, जिस वक्त रूस-जापान की लड़ाई चल रही थी। आकर वह घंटों पनडुब्बी, नावों और दूसरी खबरों—जिन्हें कि वह कलकत्ता में सुना करता था—का वर्णन करता रहा। सबसे छोटा भतीजा रामदीन असाधारण व्यवहारकुशल तथा प्रतिभाशाली था। यदि उसे शिक्षा का अच्छा अवसर मिला होता, तो वह एक विशेष आदमी हुआ होता। पाठक के नाती या अपने भांजे के साथ रामदीन का प्रेम था। उसी ने ले जाकर उसे अक्षरारम्भ करवाया था। घर पर रहते वक्त वह भांजे को कुछ काम की बातें बतलाकर उत्साहित करता रहता था। अपर प्राइमरी तक पढ़कर उसे चिट्ठीरसा की नौकरी कर लेनी पड़ी थी, इसलिए जिले में ही किन्तु बराबर बाहर ही रहना पड़ता था। बाकी दो भतीजे अपनी स्वतंत्र बुद्धि न रखते थे। वस्तुतः यदि वह थोड़ी-सी जमीन—जो सारी कड़वाहट की जड़ थी—का खयाल हटा दिया जाय, तो भतीजे बुरे नहीं, बहुत अच्छे थे। भतीजों की बहुएँ ? एक पाठक के साले की लड़की थी। दूसरी उनके ही कथनानुसार गौ थी। सबसे छोटी (रामदीन की) बहू की तो वह प्रशंसा करते न थकते थे। और बाकी दो बेचारी घर के भीतर चुपचाप रहनेवाली थीं, उन्हें झगड़ा-झंझट से कोई वास्ता नहीं था।

और नाती केदारनाथ ? वह तो लड़का था। वह सभी चीजें अपने शिशुनेत्रों से देखता था। तो भी यदि उसके उस बाल-अनुभव—चौदह वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव—की कोई कीमत है, तो उसे सभी मामियाँ बड़ी ही मधुर मालूम होती थीं। छोटी मामी से उसे असाधारण प्रेम था। स्कूल से लौटते ही, जहाँ नानी ने कुछ खाना दिया नहीं, कि वह छोटी मामी के दरबार में हाजिर होता। इस मामी में असाधारण कोमलता थी। वह सुन्दर थी, स्वच्छ थी, शीघ्र बात समझनेवाली थी, और अपने भांजे को खुश करनेवाली मीठी बातें करना जानती थी। आने पर खाने को पूछना, पानी के लिए पूछना, फिर दिल खोलकर बातें करना—एक बालक के लिए और चाहिए ही क्या ? सचमुच यदि उस लड़के से पूछा जाता, कि तुमको सिर्फ़ एक आदमी दुनिया में मिलेगा, चुन लो और हमेशा के लिए निर्जन वन में चले जाओ; तो वह अपनी इसी छोटी मामी को चुनता। उसका बालक हृदय टूक-टूक हो गया, जब एक बार दोनों घरों की बोलचाल बन्द होने पर भी वह छोटी मामी के पास गया; और आते ही बड़े रूखे शब्दों में उससे कहा गया—तुमने बहू को गाली दी है, खबरदार ! अब इधर मत आना। मामी को भी इससे कम दुःख न हुआ होगा, क्योंकि उसे भी अपने भांजे को शाम-सबेरे देखे बिना चैन न आता था। बालक को क्या मालूम था, आज की दुनिया प्रेम और सद्भाव का स्रोत बहाने के लिए नहीं है। कुछ ही वर्षों बाद वह प्यारी मामी (दीपचंद की माँ) मर गई।

व्यक्तियों में अलग-अलग ढूँढ़ने में तो किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था, किन्तु समुदाय में भयंकर कड़वाहट पैदा हो जाती थी।

०

1905 ईसवी में पाठक की लड़की (कुलवन्ती) मर गई। अब पाठक के चार नाती थे, तीन छोटे अपने घर पर रहा करते थे। पठकाइन ने जोर दिया–नातियों के नाम लिखा-पढ़ी कर देनी चाहिए, जिन्दगी का क्या ठिकाना है। 1906 में पाठक ने अपनी जायदाद को नातियों के नाम लिख दिया।

युद्ध की घोषणा हो गई। किन्तु बेचारी पठकाइन उस युद्ध के प्रचंड होने से पूर्व ही प्लेग में चल बसीं। नाती अब गाँव से कुछ दूर निजामाबाद के मिडिल स्कूल में पढ़ता था, जहाँ से छठे-छमाहे ही आता था; और जब झगड़ा जोर पकड़ चुका, तब तो आता भी न था। लड़नेवाले थे, एक ओर पाठक के भतीजे और दूसरी ओर पाठक और उनका दामाद। अनुकूल-प्रतिकूल आदमी सभी जगह मिल जाते हैं। वही यहाँ भी हुआ। भतीजों ने पहिले तो हिब्बे को नाजायज करार दिलाने के लिए दीवानी में मुकद्दमा दायर किया, किन्तु वह जानते थे, कानून उनके विरुद्ध है। फिर उन्होंने फ़ौजदारी मुकद्दमे और मारपीट शुरू कर दी। फ़ौजदारी में तो जो पुलिस को खूब रुपया दे, झूठे-सच्चे गवाह दे, उसी की जीत होती है। दोनों ओर से रुपया खर्च होने लगा। साल-भर तक यह घमासान युद्ध होता रहा। जितनी की जायदाद नहीं थी, उतनी हानि और खर्च पाठक के दामाद को उठाना पड़ा। भतीजों को भी उससे कम खर्च नहीं करना पड़ा। दोनों को कुछ होश आने लगा। दामाद साहब (गोवर्धन पांडे) भी समझने लगे–दूसरे गाँव में आकर लालच करने में हम नुकसान में रहेंगे। उनके अपने घर का लेन-देन, खेतीबारी का काम बिगड़ रहा है। अन्त में महादेव पंडित पंच माने गये। पंच ने नाती को ग्यारह-बारह सौ रुपये दिलवाये। जमीन भतीजों की हुई।

भतीजे अब भी पाठक को रहने के लिए कह रहे थे, किन्तु पाठक समझते थे, कि किसी समय भी उन्हें ताना मारा जा सकता है, यद्यपि वह अपने सबसे छोटे भतीजे की बहू (छोटी मामी, कैलाश की माँ) को देवता मानते थे। साथ ही पाठक को इससे भी कम ग्लानि न थी, कि जिस लड़की के गाँव तक में धर्म-भीरु लोग पानी पीना नहीं चाहते, वहीं अपरिचित मुखड़ों के बीच उन्हें अपनी जिन्दगी का अन्तिम समय बिताना पड़ेगा। साँप-छछुंदर की दशा थी। यदि पाठक ने पहिले इस परिणाम को जाना होता, तो अपने भतीजों को वह विरोधी न बनाते। एक दिन पाठक इच्छा या अनिच्छा से दामाद के गाँव में चले गये, साथ ही जवानी के लाये उस पत्थर के कोल्हू को भी लेते गये।

यद्यपि, जहाँ तक दामाद और सम्बन्धियों का सम्बन्ध था, उनका वरताव अच्छा था, तो भी पाठक को वह स्थान अनुकूल नहीं, अपरिचित-सा जान पड़ता था। अब भी वह अपने शिकार, अपनी यात्राओं की बातें सुनाते थे, और सुननेवाले भी होते थे; किन्तु उन्हें कहने में वह रस न आता था। अब उनका अपना नाम चला गया था, और उसकी जगह वह अमुक के ससुर कहे जाते थे। पाठक का अपना मकान एक छोटे गाँव में था, किन्तु वहाँ मील-भर पर रानी की सराय अच्छा बाजार था, और फेरीवाली खटकिनें कोइरीनें भी साग-भाजी लेकर आ जाया करती थीं। इस झारखंड के गाँव में खाने-पीने की उन चीजों की सुविधा न थी। ऊपर से स्त्री-वियोग और पुत्री-वियोग चित्त को खिन्न किये रहता था। अब एक और घटना हुई, जिसने उनके जीवन को बिलकुल ही नीरस बना दिया। पहिले तो नाना की विचित्र यात्राओं की बातों से प्रभावित नाती केदारनाथ एक वर्ष घुमक्कड़पन में गवाँ आया। फिर मिडिल पास करने पर उस पर दूसरा खब्त सवार हुआ। कहने लगा–अँगरेजी म्लेच्छ भाषा है, मैं तो संस्कृत पढ़ूँगा, उसी में स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग रखा है। घरवालों के जिद करने पर एक दिन वह चुपके से निकल भागा। पाठक के लिए यह बात असह्य थी। उनका सारा प्रेम उसी नाती में केन्द्रित था। जब उन्हें पता लगा, कि नाती बदरीनारायण की ओर गया है, तो वह भी उधर चल पड़े, किन्तु उससे भेंट न हुई। पीछे नाती को बनारस में रहकर संस्कृत पढ़ने की अनुमति हो गई। कुछ वर्षों तक वह बनारस में संस्कृत पढ़ता रहा, किन्तु इसी बीच 1912 ईसवी में पाठक ने सुना, कि नाती साधु होकर कहीं चला गया।

पाठक अब जीवन की अंतिम सीमा पर पहुँच चुके थे। उनका शरीर और हड्डियाँ जितनी दृढ़ थीं और जैसे वह नीरोग रहते आये थे, उससे अभी वह और जी सकते थे; किन्तु अब उन्हें जीने की चाह नहीं रह गई थी। 1913 में वह बीमार पड़े, जान गये अब चलना है। उस वक्त उनकी एक यही इच्छा थी, कि अन्तिम समय नाती को देख लें। किन्तु नाती उस समय डेढ़ हजार मील दूर मद्रास में था। वह जानता भी न था और यदि सुन भी पाता, तो कौन जानता है, वह अपने वृद्ध नाना की आत्मशान्ति के लिए उनके पास आना पसन्द करता। रामशरण पाठक एक दिन चल बसे और उस प्रथा को याद करते हुए, जिसके द्वारा भाइयों को वंचित कर दूर गाँव के सम्बन्धियों को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है।

4. गोवर्धन पांडे[1] (पिता)

पुजारी–यह गोबर्धन पांडे का निजी नाम न था, किन्तु गाँववाले जवानी से ही उन्हें इस नाम से पुकारते थे।

पुजारी का जन्म 1875 ईसवी में ठेठ देहात के एक बहुत ही छोटे गाँव कनैला में हुआ था। उनके गाँव से कोस-कोस भर तक कोई कच्ची-पक्की सड़क न थी, डाकखाना आठ मील दूर था और बाजार भी उतनी ही दूर। यही हाल पाठशाला या मदरसा का था।

पुजारी अपने पिता की ज्येष्ठ सन्तान थे। उनके पिता की अपने गाँव में ही प्रतिष्ठा न थी, बल्कि आसपास के कितने ही गाँवों में उनके बिना पंचायत न होती थी। ईमानदारी और विशालहृदयता उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। पुजारी के पिता जानकी पांडे एक बड़े परिवार के प्रधान थे। यद्यपि जानकी पांडे अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे, तो भी अपने चचेरे तीन भाइयों के साथ उनका सगे भाई से भी अधिक प्रेम था। सबसे छोटे महादेव पांडे को तो उन्होंने दूर के गाँव में संस्कृत पढ़ने के लिए भी भेजा था। यद्यपि उनकी पढ़ाई 'सत्यनारायण' और 'शीघ्रबोध' से आगे नहीं बढ़ी, तो भी उन्हें गाँव में पंडित कहा जाता था, और वह थे भी उस गाँव के लिए वैसे ही।

पुजारी के पिता का देहान्त 45-46 वर्ष की ही उम्र में हो गया। उस वक्त पुजारी 15 वर्ष के हो पाये थे। उनसे छोटा एक भाई प्रताप और तीन बहनें वरता, शिववरता और महरानी थीं, जिनमें सबसे छोटी 6-7 वर्ष से अधिक की न थी। पिता ने रवाज के मुताबिक बड़े लड़के और बड़ी लड़की की शादी 10-12 वर्ष की ही अवस्था में कर दी थी। पिता के मरने के समय तीनों चचेरे चचा (मथुरा, गोकुल, महादेव) एक ही घर में रहते थे। तीनों ही भलेमानस और अपने भाई के प्रेमपूर्ण बर्ताव के चिरकृतज्ञ थे। यदि उनकी चलती तो वह पुजारी को बाप के मरने का खयाल भी न आने देते, किन्तु पुजारी की माँ लखपती दूसरी धातु की बनी थीं। मीठी बोली तो मानो वह जानती ही न थीं। जरा-सी बात में चार सुना देना उनकी आदत में था। पति के जीते समय तो जबान पर भारी अंकुश था; किन्तु पीछे कोई रोकनेवाला न था। उनका हृदय बहुत संकीर्ण था। वह कुढ़ा करतीं–खेतों और धन में हमारा आधा हिस्सा होता है; देवर और उनके लड़के-बाले हमारे धन को खा रहे हैं। जरा-सी बात में वह ताना दे डालती थीं। उनके देवर और देवरानियाँ पहिले बहुत लिहाज करती रहीं, किन्तु आये दिन की किचकिच से उनका नाकों दम हो गया, और तीन वर्ष बीतते-बीतते उन्हें अलग हो जाना पड़ा।

पुजारी की माँ अब बहुत प्रसन्न थीं। उन्होंने घर में ही नहीं, हर खेत में आधा-आधा करवाया था। खेत उनके पास काफ़ी थे। काम करने के लिए कुछ चमार और भर-घर भी मिले थे। किन्तु पुजारी को खुशी कहाँ से

1. वंश के लिए देखो 'सांकृत्यायन-वंश', परिशिष्ट 3।

हो सकती थी ? माँ के झगड़ालू स्वभाव के कारण 15 वर्ष की ही उम्र में परिवार का सारा बोझ उनके कंधे पर आ पड़ा था। कहाँ खाने-खेलने का समय और कहाँ यह जिम्मेवारी ! उन्हें खेती-बारी और परिवार को ही सँभालना न था, बल्कि छोटे भाई और दो बहिनों की शादी भी करनी थी। भाई-बंधु इच्छा रहते भी सहायता न कर सकते थे, क्योंकि पुजारी की माँ के स्वभाव से वे परिचित थे। कहावत थी–लखपती के मारे कुत्ते भी दरवाजे पर नहीं फटक सकते।

कनैला के आसपास पढ़ने का कहीं इन्तिजाम न था, यह कह आये हैं। किन्तु पिता के जीते समय–जब पुजारी तेरह-चौदह वर्ष के थे, तभी–कहीं से भूले-भटकते एक मुंशीजी उस झारखंड के गाँव में पहुँच गये। यद्यपि पीढ़ियों से उस गाँव के ब्राह्मणों ने विद्या से नाता तोड़ रखा था, तो भी अभी कुछ श्रद्धा बाकी थी, और मुंशीजी के पास आधे दर्जन से ऊपर लड़कों ने पढ़ाई शुरू कर दी। दो-ढाई सप्ताह के भीतर ही अधिकांश घर बैठ गये। डेढ़ महीने में मुंशीजी भी समझ गये–"धोबी बसिके का करे, दीगम्बर के गाँव।" मुंशीजी के चेलों में पुजारी ही थे, जो अन्त तक डटे रहे। कोदो देकर पढ़ने की कहावत बहुत मशहूर है; पुजारी ने कोदो तो नहीं दिया, किन्तु कहते हैं, दक्षिणा में मुंशीजी को कुछ धान ही मिला था।

इस प्रकार पंद्रह वर्ष की उम्र, डेढ़ महीने की पढ़ाई और नीम से भी कड़वे जबानवाली माँ–इन तीनों साधनों के साथ पुजारी गृहस्थी सँभालने के काम में लग गये।

पुजारी गोबर्धन पांडे असाधारण मेधावी थे। बत्तीस वर्ष की उम्र में उनका जो ज्ञान था, उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उनकी पढ़ाई सिर्फ डेढ़ महीने की है। उनमें ज्ञान की बड़ी प्यास थी। अथवा ज्ञान कौन-कौन हैं, यह भी तो उन्हें मालूम नहीं था; फिर प्यास कहाँ से आती ? हाँ, काम में जिस ज्ञान की जब-जब आवश्यकता होती, वह उसके पीछे पड़ जाते और न जाने कहाँ और किसके पास से सीखकर ही छोड़ते। उन्हें जोड़, बाकी, गुणा, भाग ही नहीं मालूम था, बल्कि भिन्न, त्रैराशिक और पंचराशिक भी लगा लेते थे। एक समय गाँव में सरकारी पैमाइश शुरू हुई। उस समय उन्होंने अमीनों के पास बैठकर पैमाइश का हिसाब भी सीख लिया।

गोबर्धन पांडे की पूजापाठ में बड़ी श्रद्धा थी, इसी से अठारह वर्ष की उम्र में ही वह पुजारी कहे जाने लगे। वह बिना स्नान-पूजा के पानी भी नहीं पीते थे। उनके पाठ में यद्यपि पहिले हनुमान-चालीसा था, किन्तु धीरे-धीरे हनुमान-बाहुक, विनय-पत्रिका और रामायण भी शामिल हो गये। रामायण के उन्होंने बहुत पाठ किये थे, और उसके ज्ञानदीपक जैसे स्थलों का उनका किया अर्थ बहुत बुरा न होता था। हर एक धर्मभीरु ब्राह्मण को अच्छी-बुरी साइत का ज्ञान रखना जरूरी ठहरा। पुजारी के सारे गाँव के ब्राह्मणों के लिए कुल मिलाकर सिर्फ़ एक घर यजमान था। यदि यजमानी बड़ी होती तो शायद पुजारी को कुछ और पढ़ने का अवसर मिला होता। जब उनकी स्त्री (कुलवन्ती) बीमार पड़ी, उस समय उन्होंने 'रसराज महोदधि' को भी मँगा लिया, और यदि लोग कच्चे औषध की भयंकरता का डर न दिखलाते, तो शायद वह अपने बनाये मंडूर से ही पत्नी की चिकित्सा करते। उस समय अखबार अभी गाँवों तक नहीं पहुँचे थे, तो भी जिन पुस्तकों का गाँवों में प्रवेश था, पुजारी उन्हें पढ़-समझ सकते थे।

एक ओर पुजारी कट्टर पुजारी थे, दूसरी ओर नई बातों के सीखने के लिए उनका दिमाग बिलकुल खुला था। पुजारी की बस्ती के भीतर सिर्फ़ एक कुआँ था, जिसके लम्बे-चौड़े आकार और टूटी-फूटी हालत को देखकर लोग उसे सतयुग के आसपास का बना कहते थे। उसकी ईंटें एक ओर से पहिले ही गिर चुकी थीं। एक दिन वह सारा ही कुआँ बैठ गया। अब लोगों को दूर के कुएँ से पानी भरकर लाना पड़ता था। पुजारी उस समय 30-31 वर्ष के हो चुके थे। उनके पास धन भी था। उन्होंने अपने द्वार पर एक कुआँ बनवाना चाहा। उन्होंने अपने दिल में कुएँ का नक्शा खींचा–कुआँ ऐसा हो, जिसकी दीवार से घड़ा न टकराये; यदि नीचे की अपेक्षा कुएँ का ऊपरी भाग संकीर्ण कर दिया जाय, तो यह हो सकता है। ईंटों के भी प्रचलित आकार को छोड़कर उन्होंने अपने मन के आकार की ईंटों का साँचा बनवाया। उनमें कुछ तो डेढ़ फुट लम्बी और 6-7 इंच चौड़ी

थीं। अपने गाँव की 'बड़ी पोखर' की प्राचीन ईंटों को देखकर शायद उनको इतनी लम्बी ईंटों के बनवाने का साहस हुआ। उस काल की ही भाँति यदि ईंधन की इफ़रात होती और ईंधन ठीक तरह लगाया जाता, तो कदाचित वे पक जातीं। किन्तु पुजारी का ध्यान इधर न गया, और ईंटें बहुत-सी अधपकी रहकर टूट गईं। तो भी उनके काम-भर के लिए ईंटें तैयार मिल सकीं। पुजारी के बुलाने पर उनके ससुर पाठकजी कुआँ बँधवाने के लिए राज लिवाकर आये। ईंटों के विचित्र आकार को ही देखकर ससुर और राज दोनों का माठा ठनका। उस पर पुजारी ने कुआँ बाँधने की अपनी योजना पेश की। राज चिल्ला उठा–अरे ! यह क्या कह रहे हो ? यदि कुएँ का मुँह सिकोड़ दिया जायगा, तो ईंटें कुछ ही दिनों में आगे की ओर गिर जायेंगी। पुजारी ने कहा–और मेहराब में ऐसा क्यों नहीं होता ?

खैर, पुजारी के आग्रह को देखकर राज ने उसी प्रकार कुएँ को बाँधना शुरू किया। कुछ दूर बाँधने और मिट्टी निकालने पर कुआँ भीतर से बहुत बालू फेंकने लगा। राज ने सारा दोष कुएँ की नई चिनाई के मत्थे मढ़ा और फिर से उधेड़कर पुरानी चाल से बाँधने के लिए कहा। किन्तु पुजारी कब माननेवाले थे। जब कुआँ सही-सलामत बनकर तैयार हो गया, तब पाठकजी कहने लगे–तैयार तो हो गया, किन्तु इसकी शक्ल कुइँयाँ-सी है; पुराने ढंग से बनवाने पर यह एक अच्छा-खासा कुआँ मालूम होता।

पुजारी ने छोटे भाई को अपने बहनोई महादेव पंडित (बछवल) के घर पढ़ने के लिए भेजा था, किन्तु उसने इतना ही पढ़ा–'ओनामासिधम, बाप पढ़े ना हम्।' दो-चार बार भाग आने पर पुजारी ने और जोर देना छोड़ दिया। दोनों बहिनों और भाई की भी शादी कर दी। अब दोनों भाई मिलकर खूब मेहनत करते थे। घर के प्रबंध में माँ बहुत दक्ष थीं। हर साल ही खर्च करने के बाद कुछ पैसा और अनाज बचने लगा। पुजारी ने उसे सूद और सवाई पर देना शुरू किया। सूद और मूल में गाँव के कुछ लोगों के खेत भी अपने पास रेहन आये। यद्यपि गाँव में ट्रीनीडाड से लौटे जयपाल पांडे के पास सबसे अधिक खेत थे, किन्तु अगहन बीतते-बीतते उनका घर अनाज से खाली हो जाता था, और उधार और खरीद की नौबत आती थी; इसीलिए पुजारी गाँव में सबसे अधिक धनी समझे जाते थे।

पुजारी का जीवन अब सुख का जीवन था। यद्यपि सट्टे के रोजगारियों और सौदागरों की भाँति तो नहीं, फिर भी पुजारी का धन प्रति वर्ष बढ़ रहा था। उन्हें अभी तक कचहरियों से वास्ता न पड़ा था, किन्तु इसी समय पुजारी के गाँव में पैमाइश होने लगी। अभी तक खेत, बाग, परती सभी का हिसाब पटवारी के यहाँ रहता था; किन्तु अमीनों ने पैमाइश के साथ दखल-कब्जा पूछना शुरू किया। यही तो कमाने का समय होता है। यदि इधर की उधर और उधर की इधर न करें, तो खाक कोई अमीन को पूछेगा। हाँ, यह ऐसा भी समय है, जब पहिले की पैमाइश की बेईमानियाँ भी प्रकट होने लगती हैं। हम कह चुके हैं, पुजारी बड़े मेधावी पुरुष थे। गाँव में आये हुए अमीन के पास जाकर वह कागज-पत्र देखने लगे। उन्हें मालूम हुआ कि पहिले के कितने ही उनके खेत औरों के कब्जे में हैं। कुछ में इधर नयें सिरे से गोलमाल हुआ है। पुजारी उन आदमियों में से थे, जिनका सिद्धान्त होता है–न अपना एक पैसा जाने देना और न दूसरों का एक पैसा लेना। अब पुजारी के लिए बन्दोबस्त के डिप्टी के पड़ावों और जिला तथा तहसील की कचहरियों पर धरना देना जरूरी हो गया। जिस पूजा के नियम के कारण उनका नाम पुजारी पड़ा था, वह छूटे कहाँ से ? उसमें तो कुछ वृद्धि भी हुई थी। यदि पहिले एकादशी का ही व्रत होता था, तो अब महीने के चार अलोने अतवार भी शामिल कर लिये गये थे। कचहरी का काम तो घर की तरह अपने वश का नहीं, और बिना पूजा-स्नान के पुजारी पानी भी नहीं पी सकते थे। फलतः कभी-कभी सूर्यास्त और पुजारी की स्नान-पूजा साथ-साथ होती थी। उन्होंने गंगातट या काशी में बाल बनवाने का भी नियम कर लिया था, इसलिए उनके दाढ़ी-बाल दो-दो, चार-चार महीनों तक नहीं बन पाते थे।

पुजारी यद्यपि धार्मिक और श्रद्धालु आदमी थे, तो भी उनकी श्रद्धा अंधश्रद्धा न थी। यही कारण था,

जहाँ गाँव के लोग सभी लम्बी दाढ़ी, भारी जटा, छोटी लँगोटी और सफेद भभूत को साष्टांग दंडवत करना अपना धर्म समझते थे, वहाँ पुजारी बिना गुण की परख पाये ऐसे साधुओं की आवभगत से दूर रहते थे। हाँ, उनके गाँव से कुछ दूर उमरपुर के निर्जन स्थान में एक वृद्ध परमहंस रहा करते थे, जिनकी आयु के बारे में बूढ़े-बूढ़े लोग भी कसम खाने के लिए तैयार थे कि उन्होंने जब से होश सँभाला तब से परमहंस बाबा को ऐसा ही देखा। यह भी कहा जाता था कि परमहंस बाबा अपनी जन्मभूमि (पोखरा) नेपाल से विद्या पढ़ने के लिए बनारस आये थे, वहीं पीछे विरक्त हो राजघाट के पास एक कुटिया में रहने लगे। जब राजघाट में रेल आई और उसकी गड़गड़ाहट से उनके ध्यान में विघ्न पड़ने लगा, तो वह मुफ्त में मुक्ति देनेवाली काशी को छोड़कर अपने एक भक्त के साथ पुजारी के आसपासवाले प्रदेश में चले आये। पुजारी परमहंसजी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। हर चौथे-पाँचवें दिन वह दर्शनार्थ वहाँ पहुँचते थे।

पुजारी के सुखमय जीवन की दिशा का अब अन्त हो रहा था। इतने समय में उनकी आर्थिक अवस्था ही अच्छी नहीं हो गई थी, बल्कि उनके एक कन्या और चार पुत्र भी हो चुके थे। पिता की मृत्यु के बाद घर में किसी की मृत्यु से उन्हें अपनी आँखें भिगोनी नहीं पड़ी थीं। एक तरह वह भूल ही गये थे, कि संसार में मृत्यु भी कोई चीज है। इसी समय पुजारी की धर्मपत्नी बीमार पड़ीं। पुजारी के उस झारखंड के गाँव में वैद्य पहुँचते ही कहाँ थे? ओझा-सयाने ही सुलभ थे, किन्तु पुंजारी उन्हें फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहते थे। उनकी माँ ने एक-आध बार चुपके से जाकर अपने देवर ओझा से पूछा और सहृदय ओझा ने बताया कि सारा फ़िसाद घर के पास बाँसवाली चुड़ैल का है, किन्तु पुजारी के मारे उसकी शान्ति-पूजा हो तब न! पुजारी इस समय स्वयं 'रसराजमहोदधि' के पन्ने उलट रहे थे। उन्हें यह मालूम हो गया कि स्त्री को पांडु रोग है। कुछ अपनी और कुछ दूसरे यमराज-सहोदर वैद्यों की दवा भी की; और भी जो उपचार बन पड़ा, किया; किन्तु, कुछ महीनों की बीमारी के बाद स्त्री चल बसी। बाहर प्रकट न करने पर भी पुजारी को बड़ा दुःख हुआ।

इस समय पुजारी पूरे तीस वर्ष के भी न हो पाये थे। खाते-पीते व्यक्ति का ब्याह करने के लिए सभी लोग तैयार रहते हैं। स्त्री की वर्षी भी न हो पाई थी, कि ब्याह करनेवाले मँडराने लगे। लेकिन पुजारी ने साफ़ कह दिया—मेरे पाँच बच्चे हैं। ब्याह का फल मुझे मिल चुका है। अब मुझे शादी नहीं करनी है।

पुजारी के इस दुःख को कम करने में सहायक कुछ और भी बातें थीं। सबसे पहिले तो उनके अपने मन की दृढ़ता थी। बच्चों का प्रेम भी मददगार था। उनका भाई बहुत ही आज्ञाकारी था—इतना आज्ञाकारी कि कभी-कभी इसके लिए उसे अपनी स्त्री का ताना सुनना पड़ता था। पुत्रों के सयाने होने पर पुजारी को और अच्छे दिनों की आशा थी।

पुजारी के धार्मिक विचारों में उदारता, दया भी सम्मिलित थी।

एक समय की बात है। पुजारी उस समय 20-21 वर्ष से अधिक के न रहे होंगे। वह एक जगह चुपचाप उदास बैठे थे। साधारण उदास नहीं, बहुत ही उदास। कारण यह था : पुजारी के पूर्वज कुछ पीढ़ी पहिले सरयूपार से आकर इधर बस गये थे। अब भी लोग कम से कम अपनी कन्याओं को सरयूपार (गोरखपुर जिले में) ही ब्याहना पसन्द करते थे। वह अपनी दोनों छोटी बहनों के लिए वर ढूँढ़ने सरयूपार गये। लोगों ने भुलावा देकर एक घर के दो लड़कों का तिलक चढ़वा दिया। घर आने पर पता लगा कि वरवाला घर किन्हीं कारणों से नीच समझा जाता है। उन्होंने तिलक लौटा देने की बात कही, जिस पर वरवाले तरह-तरह की धमकी देने लगे। पुजारी के भाई-बन्धु भी उन्हें समझाने लगे। किन्तु, पुजारी कब अपनी बहनों को कुजाति के घर ब्याहने लगे? बहुत जोर देने पर वह फूट-फूटकर रोने लगे, और बोले—मैं दोनों बहनों को गले से बाँधकर पानी में डूब मरूँगा, पर उस घर में शादी नहीं करूँगा।

आखिर पुजारी ने वहाँ शादी नहीं की।

और जगहों की भाँति पुजारी के गाँव में भी गरीब व्यक्ति बिना ब्याहे ही बूढ़े हो जाते थे। गाँव का एक ब्राह्मण तीस वर्ष से ऊपर का हो गया था, और अब तक उसका ब्याह नहीं हुआ था, न होने की आशा ही थी। दूसरे गाँव में उसकी रिश्तेदारी में एक तरुण-विधवा थी। दोनों का देवर-भाभी का नाता था। नित्य की आवाजाही से दोनों में प्रेम ही नहीं हो गया, बल्कि छिपकर रखने की अपेक्षा वह अपनी भावज को घर पर लाकर रखने लगा। पहिले तो मालूम हुआ, वह मेहमानी में आई है, किन्तु पीछे बात प्रकट हो गई। पुजारी को यह बात असह्य मालूम हुई और वह बलपूर्वक उस विधवा को गाँव से निकालने के लिए गये। बड़ी मुश्किल से लोग उन्हें मनाकर लाये। कहते थे—गाँव में यह बहुत ही बुरा उदाहरण होगा, इसे देखकर यह रोग औरों में भी फैलेगा।

इस घटना से पुजारी की सामाजिक अनुदारता सिद्ध होगी, तो भी यदि पुजारी को दुनिया के बारे में और अधिक सुनने-जानने का मौका मिला होता, तो वह अपने विचारों को जल्दी बदल भी देते, समझ में आ जाने पर वह किसी बात के लिए दुराग्रह नहीं करते थे।

पुजारी की तीन हर की खेती थी, जिसमें एक हलवाहा था चिनगी चमार। चिनगी किसी समय कलकत्ता में किसी साहब का साईस रह चुका था। उसके एक लड़का कलकतिया और तीन लड़कियाँ थीं। ब्याह हो जाने पर लड़कियाँ अपने घर चली गईं, और कुछ समय बाद चिनगी का एकलौता बेटा मर गया। पुत्रस्नेह बहुत बड़ी चीज होती है, किन्तु इन मजदूर-जातियों के लिए बेटा तो बुढ़ापे का बीमा होता है। खुशी-नाराजी जैसे भी हो, उसे अपने बूढ़े माँ-बाप का बोझा उठाना ही पड़ता है। बूढ़े चिनगी के लिए पुजारी भारी अवलम्ब थे। वह उसके पुत्र-शोक और भूख को मिटाने का बहुत ध्यान रखते थे। इसके लिए पुजारी की माँ कभी-कभी बोल भी उठती थीं। कुछ दिन बीमार रहकर एक दिन माघ की बदली में चिनगी चल बसे। लोगों को बहुत अचरज हुआ, जब पुजारी ने कहा—चिनगी भगंत की दाह-क्रिया गंगातट पर (जो वहाँ से प्रायः तीस मील पर था) होगी। शर्म-संकोच या दबाव से ही चिनगी के भाई-बन्धु उस बदली में लाश ले जाने के लिए तैयार हुए। पुजारी के साथ जाकर गंगातट पर चिनगी का दाह-कर्म कराया, क्रिया-कर्म भी हुआ। लोग कहते थे, पुजारी पर चिनगी का पहिले जन्म का कर्ज था।

पुजारी का एक बलिष्ठ बैल एक दिन लड़ते-लड़ते उनके अपने बनवाये कुएँ में गिर पड़ा। बहुत प्रयत्न से जीता तो निकल आया; किन्तु उसका पिछला एक पैर बेकार हो गया। लँगड़े बैल से कोई काम लेना मुश्किल था। कम खेतवाले कुछ लोगों ने कई बार कहा—बैल हमें बेंच दीजिए। पुजारी का कहना था—बैल न बेंचा जा सकता है और न काम के लिए दिया जा सकता है। तन्दुरुस्त और मजबूत होते वक्त उसने हमें कमाकर खिलाया। क्या काम न कर सकने पर बूढ़े माँ-बाप बेंच दिये जाते हैं ?

थोड़ी-सी महाजनी के अलावा पुजारी का प्रधान पेशा था खेती। खेती के सम्बन्ध में किसान कट्टर सनातनी होते हैं। पुजारी का गाँव कनैला बाजार, स्टेशन, शहर, सड़क सभी से बहुत दूर था, इसलिए उनके गाँव में खेती-सम्बन्धी नई बातों का पहुँचना मुश्किल था। तो भी पुजारी लोगों के मजाक करते रहने पर भी घर के काम के लिए आलू, मूली, गाजर और गोभी बोने लगे थे। एक बार वह कहीं लाल रंगवाली बड़ी ऊख देख आये। उसे लाकर उन्होंने पाँच बिस्वा खेत में बो दिया। गाँव और घरवाले कहते ही रहे गये—यह ऊख क्या कोल्हू में जाने पायेगी, इसे तो लोग दाँतों से ही साफ़ कर डालेंगे। ऊख की फ़सल अच्छी हुई, साथ ही लोगों की बात भी सच निकली, और नरम तथा मोटी ऊख पर छिप-छिपकर बहुतों ने दाँत साफ़ किये। किन्तु उससे यह फ़ायदा हुआ, कि दूसरे साल गाँव में कई आदमियों ने उसी गन्ने की खेती की। तीसरे साल तो पुजारी ने डेढ़-दो एकड़ बोया। ऊख इतनी जबर्दस्त हुई कि घरवाले चिन्ता करने लगे—यह ऊख तो साँझेवाले पत्थर के कोल्हू में आषाढ़ तक भी खतम न होगी। पुजारी ने पहिले आसपास से पत्थर का कोल्हू खरीदना चाहा। न मिलने पर बनारस के पास तक की हवा खा आये। पुजारी किसी बात का फ़ैसला तुरन्त नहीं कर सकते थे, इसीलिए उन्हें अनेक बार मीठी-कड़वी भी सुननी पड़ती थी। पाठकजी तो उन्हें 'जड़वारोग' (ठंडक का रोग)

कहा करते। दो-तीन बार खाली हाथ लौटने तथा काम के डेढ़-दो मास निकल जाने पर घरवाले और नाराज हुए। अन्त में हफ्ते-भर गुम रहने के बाद एक दिन पुजारी बैल पर लोहे का कोल्हू लदवायें पहुँच गये। गाँव में, और शायद उस देहात में भी, वही पहिला लोहे का कोल्हू था। लोग डर रहे थे—कल तो अक्सर विगड़ जाया करती है; बिगड़ जाने पर कौन मरम्मत करेगा ? किन्तु पुजारी बेफ़िक्र थे। संयोग से कोल्हू बहुत अच्छा निकला। उसी साल उसका दाम सध गया। तीन-चार साल काम लेकर पौन दाम पर उन्होंने उसे वेंच भी डाला।

पुजारी सादगी के पुजारी थे। वह एक नम्बरवाली मारकीन को बहुत पसन्द करते थे। कहा करते थे, यह कपड़ा बहुत मजबूत होता है, जाड़ा-गर्मी दोनों में काम आ सकता है; इसको पहननेवाला न शौकीन ही कहा जाता है और न दरिद्र ही। खद्दर के युग से कुछ दिन पूर्व ही वह इस संसार से चल दिये, नहीं तो पुजारी उसके अनन्य भक्त होते।

पुजारी की भूरे बालोंवाली गोरी-गोरी एकमात्र कन्या रामपियारी माँ की मृत्यु के एकाध ही वर्ष बाद मर गई। पुत्रों में बड़ा ननिहाल में पढ़ता था, बाकी तीन, गाँव से तीन मील दूर के मदरसे में पढ़ने के लिए बैठा दिये गये थे। पुजारी अभी भविष्य का सुख-स्वप्न देख रहे थे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने उस स्वप्न को चूर-चूर कर दिया। उनका बड़ा लड़का केदारनाथ अब पिता के गाँव में अधिक आने-जाने लगा था। पिता और उनके मित्रों की देखा-देखी वह भी परमहंस बाबा की कुटिया में पहुँचने लगा, और परमहंसजी के एक शिष्य उसके कान में वेदान्त और वैराग्य का मन्त्र फूँकने लगे। वैराग्यशतक और विचार-सागर के साथ देश-देश के नदी-पर्वत, नगर-अरण्य के मनोरम चित्र उसके सामने खिंचने लगे। इसका असर पड़ना जरूरी था। आखिर पुत्र ने भी पिता की भाँति पूजा-पाठ शुरू किया, त्रिकाल सन्ध्या-स्नान और एकाहार आरम्भ किया। पुजारी को तो इससे चिन्ता न हुई, किन्तु घर के सारे लोग सोलह वर्ष के लड़के के इस रंग-ढंग को देखकर आशंकित होने लगे।

एक दिन (1910 ई. में) अचानक लड़का गायब हो गया। यद्यपि दो बार पहिले भी वह भागकर कुछ महीने कलकत्ता रह आया था; किन्तु तब वैराग्य का भूत सिर पर सवार न होने से उतना डर न था, इसीलिए उस समय इतनी चिन्ता न हुई थी। पुजारी की चिन्ता तब दूर हुई जब उन्होंने सुना, लड़का घूम-फिरकर बनारस लौट आया है और वहाँ संस्कृत पढ़ रहा है। पुजारी ने खुशी से संस्कृत पढ़ने की अनुमति दे दी, और उन्हें आशा हो चली कि अब वह हाथ से न जायगा।

दो वर्ष बीतते-बीतते उन्होंने सुना—लड़का बनारस से कहीं चला गया। कुछ महीनों बाद जब उन्हें मालूम हुआ कि वह दूसरे प्रान्त (बिहार) के एक मठ में साधु हो गया है, तो वह अपने बहनोई महादेव पंडित को लेकर वहाँ पहुँचे। उन्होंने लड़के की अनुपस्थिति में समझा-बुझाकर मठ के महन्तजी को इस बात पर राजी कर लिया कि वह घरवालों को दर्शन देने के लिए एक बार अपने चेले को जाने दें। लौटाने का वादा तो झूठा था, तो भी भोले-भाले महन्तजी पंडितजी की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गये। आने पर लड़के को यह बात अरुचिकर मालूम हुई, किन्तु दूसरा चारा न था। लड़का घर पर लाया गया। अब एक ओर तो लड़के के लिए (पुजारी के स्वभाव के विरुद्ध) शौकीन कपड़ों तथा पान आदि का प्रबन्ध किया गया और दूसरी ओर उसके जाने-आने पर कड़ी निगाह रखी जाने लगी। लड़का एक बार भागा, लेकिन स्टेशन पर पुजारी ने जा पकड़ा। इस तरह काम न बनते देखकर लड़के ने विश्वास पैदा कराना चाहा, और तीन मास तक अवसर ढूँढ़ने के बाद वह अपने इस बन्दी-जीवन से मुक्त हुआ।

पुजारी को इसका कितना दुःख हुआ, यह इसी से मालूम होगा, कि चिन्ता के मारे दो वर्ष बीतते-बीतते उनके दिमाग में एक प्रकार का उन्माद हो गया। लड़का उस समय आगरे में पढ़ता था। एक मित्र ने सब हाल बताकर एक बार पिता को देखने के लिए कहा। इस पर लड़का घर आया। पुजारी को प्रसन्नता ही नहीं हुई, बल्कि जब उनके दिमाग की गर्मी दूर करने के लिए फ़स्त खोलनेवाला लाया गया तो उन्होंने कहा—क्या करोगे ? अब मेरी तबीअत अच्छी हो गई। एक हफ्ते के बाद लड़के को इच्छानुसार जाने भी दिया गया।

दो वर्ष और बीत गये। लड़के का कोई पता न था। एक दिन पता लगा, वह बनारस आया हुआ है। फिर जबर्दस्ती घर पर लाकर नजरबन्दी का वही अस्त्र काम में लाया गया। उसने अपने बन्धुओं से कह दिया—इस बार निकल जाने पर फिर तुम नहीं पकड़ सकोगे। आखिर आदमी का बच्चा कब तक बाँधकर रखा जा सकता है ? एक दिन वह निकल भागने में समर्थ हुआ। बनारस से वह विंध्यापर्वत की तलहटी में पहुँचा। किन्तु पुजारी को लड़के के एक मित्र ने बता दिया, और वह वहाँ जा पहुँचे।

पुजारी उन आदमियों में से थे, जो घोर से घोर वेदना को हृदय के भीतर इस तरह से छिपा सकते हैं कि उसकी छींट आँख तक भी नहीं पहुँचने पाये। तो भी एक बार उन्होंने पुत्र के सामने दिल खोलने का प्रयास किया। 'नहीं' कह के अभी हल्ला-गुल्ला सुनने की हिम्मत न होने से पुत्र ने उन्हें वहीं कहीं रहकर प्रतीक्षा करने के लिए कह दिया। पुजारी यद्यपि पुत्र की मानसिक अवस्था को समझने लगे थे, और कभी-कभी चाहते भी थे, कि उसे अपनी मर्जी पर रहने दिया जाय, किन्तु अन्त में पुत्र-स्नेह का पल्ला भारी हो जाता था।

उनकी वह अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था जानकारों के हृदय में सहानुभूति पैदा किये बिना नहीं रहती थी। लड़का जिनका अतिथि था, उनकी माता पुजारी की अवैतनिक गुप्तचर थीं। कुछ सप्ताहों बाद जब लड़का चुपचाप एक्के पर सवार होकर स्टेशन की ओर भाग चला, तब पुजारी को खबर मिलते देर न लगी; और एक्के के पहुँचने के कुछ ही देर बाद वह भी स्टेशन आ धमके। दस या बारह मील के रास्ते को उन्होंने दौड़कर ही काटा होगा। वह जानते ही थे कि एक बार रेल में बैठ जाने पर उसे पाना उनके लिए असम्भव हो जायगा। ट्रेन के आने में पन्द्रह-बीस ही मिनट की देर थी।

लड़के ने साथ छोड़ देने के लिए जब कुछ अधिक कहना चाहा, तो पुजारी बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। स्टेशन के यात्री इकट्ठे होकर उसको लानत-मलामत करने लगे। जान बचाने के लिए उसे फिर बनारस आना पड़ा। बनारस में आकर उसने समझाकर कह दिया—आप पकड़कर मुझे नहीं रख सकते। मेरी इच्छा घर जाने की बिलकुल ही नहीं है। घर न जाने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। आपके हठ से अपने ध्येय को छोड़ने की अपेक्षा मुझे मरना प्रिय होगा।

पुजारी शायद पहिले से काफ़ी सोच चुके थे। उन्होंने तुरन्त और बहुत संक्षेप में कहा—अच्छा, अब मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा, किन्तु मैं भी घर न जाऊँगा। यहीं काशी में रहकर जिन्दगी बिता दूँगा।

लड़के को इतनी आसानी से छुटकारा पाने की कभी आशा न थी। वह दूसरी ट्रेन से चला गया।

कितने ही महीनों के बाद घरवाले मनाकर पुजारी को घर ले गये। घर उन्हें काल-सा लगता था। धीरे-धीरे फिर चिन्ता ने देह और दिमाग पर प्रभाव जमाया। इसी दुःखमय चिन्ताग्रस्त अवस्था में उन्होंने चार वर्ष और बिताये। 1920 ई. का जून का महीना था, जब कि सुदूर दक्षिण में बाल-मित्र यागेश का पत्र मिला—मामा का देहान्त हो गया। पुत्र की आँखों में आँसू नहीं आये। चिट्ठी की बात पूछने पर उसने जिस प्रकार अपने मित्रों को यह खबर सुनाई, उससे वे बोल उठे—तुम्हारा दिल पत्थर का है, पिता की मृत्यु को सुनकर भी तुम्हें रंज नहीं हुआ।

उन्हें पुत्र के हृदय के भीतर की वास्तविक दशा यदि मालूम होती, तो ऐसा न कहते।

5. चौंतीस साल बाद

चौंतीस साल क्या होता है, इसका साक्षात्कार मुझे अब से पहिले कभी नहीं हुआ था। गिनने को कई घटनाएँ थीं, जिन्हें चौंतीस क्या उससे भी अधिक सालों में मैं गिन लिया करता था; मगर चौंतीस साल का ठीक-ठीक रूप मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने अपने जन्मग्राम पन्दहा—जो मेरे नाना का भी ग्राम है—में उन चेहरों को

देखा, जिन्हें मैंने यौवन के वसंत में देखा था। और आज ? मेरी तीन मामियों में से एक सूरजबली मामा की बहू को ले लीजिये। 1909 ई. में उन्हें मैंने 20-22 साल की तरुण सुन्दरी के रूप में छोड़ा था और आज उनके चेहरे पर गंगा-यमुना के असंख्य नाले खिंचे हुए हैं। ऊपर से एक आँख भी जाती रही है। आज उस सुन्दर चेहरे का कहीं पता नहीं। पंदहा के आज के निवासियों में मेरे परिचित चेहरों की संख्या एक दर्जन से अधिक नहीं होगी, और उन सबकी हालत पके आम की-सी है।

सारे परिचित चेहरे यद्यपि अधिकतर सदा के लिए विलुप्त हो चुके हैं, तथापि उनकी जगह मैंने बहुत से तरुण चेहरे देखे और उनमें से कितनों से परिचय प्राप्त किया। इन नव-परिचित चेहरों का साक्षात् होने से जो आनंद हुआ, उसी ने इस बात की न्याय्यता को समझा दिया, कि नयों के आने के लिए पुरानों का स्थान खाली करना जरूरी है।

सत्ताईस साल हो गये, जब से मैं अपने आजमगढ़ जिले में नहीं गया था। पचास साल पूरे होने के साथ 9 अप्रेल 1943 के बाद, मैं आजमगढ़ जिले में जाने के लिए स्वतंत्र था। यद्यपि इस समय की प्रतीक्षा मेरे बन्धुओं की तरह मैं भी कर रहा था, किन्तु दूसरे कामों को देखते हुए मैं समझ रहा था कि शायद इस वर्ष जाने का मौका न मिल सकेगा। लेकिन समय मिल गया।

12 अप्रेल की रात को एक बजे सीवान (छपरा) से नागार्जुन और मैं रेल द्वारा आजमगढ़ को रवाना हुए। मऊ में एक बजे दिन की तपती भूमि पर भी पैर रखते वक्त एक तरह का आनंद मालूम होता था। मालूम हो रहा था, किसी नियामत से मैं अब तक वंचित था और आज मुझे वह मिल रही है। दूसरी ट्रेन के जिस डिब्बे में हम बैठे, उसमें कितने ही बलिष्ट ग्रामीण भद्रजन बैठे थे। उनके लम्बे-चौड़े स्वस्थ शरीर को देखकर मुझे अभिमान हो रहा था। वे उसी भाषा को बड़ी जिन्दादिली के साथ बोल रहे थे, जिसे मैंने भी माँ के दूध के साथ सीखा था। मुझे इसका अफसोस हो रहा था कि मैं उसे अब नहीं बोल सकता।

आजमगढ़ जिले के सात दिन के निवास में अपने बन्धु-मित्रों से उनकी भाषा में बोलने का प्रयास मैंने करके देखा, लेकिन मेरे मुँह से छपरा की बोली निकलती थी।

आजमगढ़ के तरुण साहित्यिक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त स्टेशन पर मौजूद थे, इसलिए शहर में धर्मशाला ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ी। मैं इस यात्रा में एक तीर्थयात्री के तौर पर गया था और शैशव के स्मरणीय स्थानों के साथ फिर से परिचय तथा साक्षात्कार की लालसा रखता था; इसलिए मैं सार्वजनिक रूप से किसी समागम या अभिनन्दन में शामिल नहीं होना चाहता था। गुप्तजी ने मेरे भावों का खयाल किया, यह प्रसन्नता की बात है।

आजमगढ़ शहर से यद्यपि मेरा जन्मग्राम पन्दहा, सात मील से ज्यादा नहीं है, मगर मैं शहर में बहुत कम गया हूँ। वहाँ के तहसीली स्कूल को देखा था। अबकी गया तो देखा, वह दूसरी जगह चला गया है। मकान नया है, किन्तु पुराने मकान की श्रीहीनता कायम रखने की पूरी कोशिश की गई है। शिबली-मंजिल आजमगढ़ की एक खास चीज है। इस्लामिक संस्कृति के मर्मज्ञ, अरबी-फ़ारसी के महाविद्वान् अल्लामा शिबली एक महान प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी लेखनी तथा अध्ययन-अध्यापन द्वारा देश की भारी सांस्कृतिक सेवा की है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि उनके काम को और भी विस्तृत रूप में जारी रखकर मौलाना सुलेमान नदवी ने अपने गुरु की जीवित यादगार कायम रखी है। शिबली-मंजिल में कितने ही विद्वान् बड़े त्याग और तन्मयता के साथ इस्लामिक अनुसंधान और ग्रंथ-प्रणयन में लगे रहते हैं। शिवली-मंजिल का दार्-उल-मुआरिफ उर्दू-साहित्य को बहुत समृद्ध कर रहा है।

13 अप्रेल को सबेरे आठ बजे हम दोनों एक्के से रानी की सराय के लिए रवाना हुए। शहर से बाहर निकलते-निकलते पुलिसवालों ने हमारे एक्केवाले की जो गत बनाई, वह एक नया अनुभव था—आज पुलिस सर्वशक्तिमान है।

बचपन में पाँच-छः साल की उम्र में जब मैंने पढ़ने के लिए रानी की सराय में कदम रखा था, उस समय मैं बहुत डर-डरकर पैरों को रख पाता था। पन्दहा गाँव के लड़कों के लिए रानी की सराय एक सम्भ्रान्त नगरी

थी। वहाँ की हर एक बात से रोब टपकता था। जब रानी की सराय के लड़के 'पकड़ना' कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानी की सराय के पुरुषों को धोती का एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रख, दूसरे को घुट्टी तक छोड़ते देखता, तव मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानी की सराय की नागरिकता का वह रोब नहीं रहा तो भी रानी की सराय के मदरसे के छः सालों का मेरे निर्माण में भारी भाग है।

सड़क से एक बार मैं बस्ती के आरपार हो गया, लेकिन किसी चेहरे को पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे। किन्तु रामनिरंजन पंडित रानी की सराय में होंगे, इसका मुझे खयाल नहीं था। हम दोनों स्टेशन की ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित रानी-सागर के दक्खिनी भीटे पर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुनसान था।

फिर हम तालाव के उत्तरी भीटे की ओर गये। महावीरजी का वही मंदिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजी की सेना बानरों की संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू कर रहा था, जैसा बालपन में वह हर साल एक महीने के लिए हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओं से कुछ पूछताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़ बावा (वलदेवदास) मेरी ओर खास तौर से देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुलजी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक्त रानी की सराय स्कूल में पढ़ते थे, जब मैं वहाँ दो दर्जा नीचे पढ़ रहा था। अब अपने परिचितों का पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-शेष कर चुके थे। महावीरजी के मंदिर के पास बरगद की जड़ में एक खंडित मूर्त्ति रखी थी—गुप्तकालीन मूर्त्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़ बाबा के साथ अब हम उस स्थान पर आये, जहाँ किसी वक्त हमारा पुराना मदरसा था। बीच में शाला (दालान), तीन तरफ़ बराण्डा, एक तरफ़ दो कोठरियाँ—मदरसे का वह नकशा अब भी मेरे स्मृति-पट पर अंकित है। हर जाड़े में होनेवाली सफेदी से उज्ज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओर की चहारदीवारी से घिरे हाते में लगे गेंदे के फूलों की सुगन्ध मानो अव भी मेरी नाक में आ रही थी। लेकिन अब मैंने उस स्थान को देखा तो चित्त खिन्न हो गया। अब वहाँ उस मदरसे का कोई चिह्न नहीं रह गया था। वहाँ थे अडूसे और कुछ दूसरे कटीले पौधे। लोग इस स्थान को खुले पाखाने के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। हाँ, हमारी परिचित इमलियों में एकाध अभी भी मौजूद थीं।

बाजार में द्वारिकाप्रसाद, रामनिरंजन पंडित तथा कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानी की सराय से पन्दहा मील-भर से ज्यादा दूर नहीं है। धूप में हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आने की खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामा के पुत्र कैलाश प्रस्थान करने से पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आने के हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपन की सुनी कहानी के छः महीने और बरस दिन के रास्ते से तुलना किया करता था; यद्यपि दोनों में कौन छः महीने और कौन बरस दिन का था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरे लिए दोनों कठिन रास्ते थे। एक पर एक ठूँठा पीपल था और ठुँठवा बाबा का प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेंचनेवाले स्त्री-पुरुष भी वहाँ बिना कुछ चढ़ाये आगे नहीं बढ़ते थे। दूसरे रास्ते पर, बस्ती से दूर नीम के पेड़ों से ढँका बालदत्त राय का पोखरा था; जिससे दोपहर के वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था। वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठ की दुपहरी में नाचा करते थे। इन दोनों स्थानों के बाबों के चरणों में नानी को गिड़गिड़ाकर नाती के लिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरे से भरे हुए हैं। मैं उर्दू का विद्यार्थी था, मगर बाबों का डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहिं आवे। महावीर जब नाम सुनावे।।" की महिमा सुनकर सारा हनुमान-चालीसा याद कर डाला था।

हम बालदत्त के पोखरे के रास्ते से गये। पास की परती और जंगल अब खेत बन गये हैं। बर्षों से

भूतों ने पोखरे पर नृत्य-महोत्सव रचना बन्द कर दिया है। लोगों के दिल से उनका डर जाता रहा है। ठुँठवा बाबा की हालत तो और भी खराब है। कच्ची सड़क के किनारे एक पतली डाली और चंद पत्तियोंवाले उस लम्बे पीपल को दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तर में खड़े देखकर रात को किसी भी अकेले बटोही के दिल में भय का संचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सड़क पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षों की पाँत खड़ी हो गई। पीपल उस वृक्ष-पंक्ति में गुम हो गया, जिससे ठुँठवा बाबा के प्रभाव में भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुँठवा बाबा नई पीढ़ी के लिए अपने अस्तित्व को खो चुके हैं।

पन्दहा में घुसने पर पहिले वृद्ध परिचित मिले लौहर नाना। अश्रु-गद्गद कण्ठ से 'कुलवन्ती के पुत्र—केदार' कहना और फिर गले से लिपट जाना मेरे धैर्य्य पर जबर्दस्त प्रहार करने के लिए काफ़ी था।

नेत्रों को सूखा रखने और स्वर को ठीक करने के लिए भारी प्रयत्न करना पड़ा। मेरे सामने शैशव के प्रियजनों की मूर्त्तियाँ पार होने लगीं। मेरे नाना तीन भाई थे। उनकी अपनी संतान एकमात्र मेरी माँ थी, किन्तु बाकी दो बड़े-छोटे भाइयों के पाँच और दो लड़के थे। सातों मामों में अब सिर्फ़ जवाहर मामा रह गये हैं। मेरे शैशव में वे कलकत्ता में पुलिस के सिपाही थे और जब एकाध महीने की छुट्टी पर आते, तो ताजी गिरीवाले नारियल लाते। अब वे पेंशन पाते हैं और नेत्रों से वंचित हैं। उनका चेहरा अपने पिता के तीनों भाइयों-जैसा है। विश्वामित्र, वशिष्ठ-जैसी सफ़ेद दाढ़ी का नहीं, बल्कि नानों से मिलनेवाले उस चेहरे और उनके रुद्ध-कंठस्वर ने मेरे नेत्रों को आखिर गीला करके ही छोड़ा। रानी की सराय में थोड़ी-सी खिन्नता आई थी और मैं धैर्य्य की परीक्षा पास कर गया था, किन्तु पन्दहा ने मुझे पराजित कर दिया। कुलवन्ती के पुत्र, रामशरण पाठक के नाती केदारनाथ को देखने के लिए गाँव के लोग आने लगे। मेरी तीनों मामियाँ—जो सभी विधवाएँ और पुत्र-पौत्रवाली हैं—अपने भांजे को देखने आईं। उस वक्त उनके अश्रु-प्रक्षालित मुखों को देखकर मुझे उस प्यारी मामी—रामदीन मामा की पहिली स्त्री—की याद बराबर आती थी। उनका स्नेह मेरे लिए शैशव की बहुमूल्य स्मृतियों में से है।

पन्दहा के गली-कूचों, उसके ताल-तलैयों को तेरह बरस तक मैं रात-दिन देखता रहा, और उसके बाद भी तीन बरस तक मैं उनके सम्पर्क में रहा था। गाँव की पुरानी चीजों को देखने निकला। सबसे अचरज की बात मुझे यह मालूम हो रही थी, कि पुराने कुओं, गड़हियों, तलैयों के बीच के अन्तर घटकर सिर्फ़ एक तिहाई रह गये हैं। क्या धरती सचमुच ही छोटी हो गई है, अथवा उस दूरी के बढ़ी होने का कारण बाल्य का छोटा शरीर था ? गाँव में शायद ही कोई घर अपनी पुरानी दीवार पर है, दरवाजों की दिशा और आँगनों के विस्तार में भी परिवर्तन है। मैं वह आँगन और उसके बगलवाले घर को देखने गया, जिसमें मेरी माँ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को आज से पचास साल पहिले जन्म दिया था, मगर आज उस घर का कहीं पता नहीं। आँगन, कई घर, बाहर का द्वार, कुल्हाड़ तथा बैठके के घरों की जगह चहारदीवारी से घिरा एक खुला सहन है। हाँ, उस ओसारे का थोड़ा-सा भाग अब भी नई खपड़ैल से ढँका है, जिसने मेरे प्रसूति-गृह का काम किया था। नाना का कुआँ अब भी मौजूद है, और यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब भी उसका पानी वैसा ही मीठा है।

बड़ी रात तक गाँव के वृद्ध और तरुण बातें पूछते रहे, और चौंतीस बरस पर लौटे रामशरण पाठक के नाती अथवा हिन्दी के लेखक राहुल सांकृत्यायन की खबर पाकर आसपास के गाँव के लोग भी आते रहे।

14 अप्रेल को मुझे पन्दहा के और स्मरणीय स्थानों और देवताओं को देखने का मौका मिला। मुँह-हाथ धोने के लिए हम गाँव से उत्तर की ओर गये। देखा, बनवारी माई के पास की झाड़ी साफ़ हो चुकी है और उस पर जवाहर मामा के लगाये महुए खड़े हैं! बनवारी माई के स्थान को देखने से मालूम होता था कि साल में भूल-भटककर ही अब कोई पूजा-कड़ाही चढ़ाता है। वहाँ एक खंडित मूर्त्ति रहा करती थी। लोगों ने बतलाया, कुछ समय पहिले माई अन्तर्धान हो गई। गाँवों के इन पुराने देव-स्थानों में कितनी ही बार खंडित किन्तु कलापूर्ण प्राचीन मूर्त्तियाँ देखी जाती हैं, बनवारी माई की मूर्त्ति भी कोई इसी तरह की मूर्त्ति रही होगी और उसे किसी कला या पैसे के प्रेमी ने अन्तर्धान करा दिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

रात को रामनवमी थी, मगर बचपन में 'रामनवमी' से ज्यादा उसका दूसरा नाम–बड़का बसियौड़ा–मुझे सुनने में आता था। आज शायद पन्दहा छोड़ने के बाद पहिली ही बार मुझे 'बसियौड़ा' नाम सुनने को मिला। मेरी मामी (कैलाश की माँ) खास तौर से जलपान बनाने जा रही थीं, लेकिन 'बसियौड़ा' का नाम सुनकर दूसरे भोजन को मैं क्यों पसन्द करने लगा ? साबित उड़द की दाल (बिना हल्दी की) तेल की बेढ़हिन (दाल-भरा परौंठा), गुलगुला और लाल भात बालपन के परिचित खाद्य थे; आज भी उसे खाने में बड़ा आनन्द आ रहा था। दिन-भर गाँव और आसपास के गाँवों के लोग आते रहे, जिसमें रानी की सराय के सहपाठी जगेसर (झिलमिट) और बाँकीपुर के बाबू सरयूसिंह भी थे। मैंने सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में देखा था। अब उनके केश सफेद हो चुके हैं, और कई पौत्रों के बाबा बाबू सरयूसिंह हैं।

शाम के वक्त गाँव और उसके टोलों की फिर खाक छानी। देवताओं का महत्त्व अवश्य इन चौंतीस वर्षों में कम हो गया है। जिस महामाई के स्थान पर नव-दम्पती का पूजा के लिए जाना अनिवार्य था, आज उसके आसपास तक पाखाने का क्षेत्र बन चुका है और वृक्ष की जड़ में पाँच-सात सिन्दूर के दाग, मालूम होता था, सतयुग के लगे हुए हैं। पहिले ब्याह, पुत्र-जन्मादि समयों पर गिन-गिनकर ग्राम-देवताओं को छौने (सूअर के बच्चे) चढ़ाये जाते थे। हमारे ममेरे भाइयों–दीपचन्द और कैलाश–ने हिसाब लगाया, तो मालूम हुआ कि एक दर्जन से ऊपर छौने उनके घर के नाम बाकी पड़े हुए हैं। हनुमतवीर और अनारवीर से लोग वैसे ही ढीठ हो गये हैं, जैसे अपने आज के बड़े-बूढ़ों से। लेकिन जवाहर मामा कह रहे थे–मैं अपनी जिन्दगी-भर निबाहे जा रहा हूँ। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अपने सेवकों की उपेक्षा से क्रुद्ध हो अनारवीर बाबा ने कुछ ही साल पहिले गाड़ी में जुते बैलों को पीछे से दबाकर टाँग दिया, बैलों को फाँसी-सी लगने लगी थी। खैर, किसी तरह रस्सी काटकर उनकी जान बचाई गई। आश्चर्य तो यह है कि यह सब देखकर भी नई पीढ़ी देवताओं का आदर-पूजन करने के लिए तैयार नहीं।

पन्दहा की सीमा पर बसई एक छोटी-सी बस्ती है। बादशाही जमाने में यहाँ के सैयद लोगों का वैभव-सूर्य बहुत चढ़ा हुआ था। वे सीधे लखनऊ अपनी मालगुजारी भेजा करते थे। आज उनके घरों का पता नहीं। कई सैयद लड़के मेरे साथ रानी की सराय पढ़ने जाया करते थे। कितनी ही बार उनके साथ मैं उनके घरों को गया था। ईंटों के घर गिरे-पड़े हुए थे, मगर तब भी उनमें से कितने खड़े थे। उनके आँगनों में चारपाई पर बैठी वैभवशाली वंश की संतानें–सैयदानियाँ मेरा भी उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करती थीं; जिस तरह अपने लड़कों का। आज उनके वंश का कोई बसई में बच नहीं रहा है। घरों की ईंटें तक दिखलाई नहीं पड़ रही हैं। पिछवाड़े के उन अनारों और शरीफ़ों का भी कोई पता नहीं, जो बचपन में मेरे लिए खास आकर्षण रखते थे। पुराने सैयदों की ईंट-चूने की कब्रों पर श्रद्धा की दृष्टि डालते हुए हम कोइरी लोगों के घर की ओर गये। अब साग-भाजी के न उतने खेत हैं, न उतने घर। मेरे बाल-सहपाठी हीरा के घर में कोई नहीं रह गया। बसई में कितने ही घर जुलाहों के हैं, लेकिन कपड़ा बुनने की जगह वे सन की सुतरी बट रहे थे–कितने ही कपड़ा बुनना भूल गये हैं।

लौटते वक्त मेरे बाल-सहपाठी राजदेव पाठक मिले। उनक सारे केश सन जैसे सफ़ेद थे। उन्होंने बालकों के खेल–चिब्भी डाँड़ी–का निमन्त्रण दिया। एक बार मन में आया–काश, हम फिर बारह-तेरह साल के हो जाते। लेकिन तब आगे की दोनों पीढ़ियाँ कहाँ होतीं ? सतमी के घर का भी कोई चिह्न नहीं है। सतमी के चार बच्चे किस तरह मलेरिया में गल-गलकर दरिद्रता की भेंट चढ़े, यह मैं अपनी एक कहानी में लिख चुका हूँ। सतमी का सबसे छोटा लड़का सन्तू अब भी कहीं जिन्दा है।

पन्दहा जाने से पहिले बहुत थोड़े ही नाम और सूरतें मुझे परिचित-सी मालूम होती थीं, लेकिन वहाँ की नई-पुरानी मूर्त्तियों, भूमि और वातावरण में घूमते, साँस लेते ही स्मृतियाँ फिर जागृत होने लगीं, और सत्रह-अट्ठारह वर्ष से ऊपर की उम्र के जिन्हें मैं देख चुका था, उन्हें पहचानने में दिक्कत नहीं हुई।

16 अप्रेल को हम निजामाबाद गये। यहीं के स्कूल से मैंने 1909 में उर्दू मिडिल पास किया था। पुराने मिडिल-स्कूल की जगह क्या, उसी नींव पर उसी शकल की अपर प्राइमरी स्कूल की इमारत है। मिडिल-स्कूल

आजकल कस्बे से पश्चिम चला गया है। दोनों ही स्कूलों के अध्यापकों में मेरा कोई परिचित नहीं निकला। टौंस का घाट और उसके पास के छोटे शिवालय और नानकशाही संगत में कोई परिवर्तन नहीं मालूम हुआ। हाँ, घाट पर भी एक-दो पान की दूकानें नई चीज थीं। पता लग गया था कि मेरे पुराने अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय अपने घर पर ही हैं। उनका घर कस्बे के भीतर की संगत के पास है। यह संगत भी पहली अवस्था में है। हाँ, एक यह फर्क जरूर मालूम पड़ता है कि बाहरी छत के भीतर भी कदम रखते ही लोगों का सिर जबर्दस्ती ढँकवाया जाता है। पंडित सीताराम श्रोत्रिय 'हरिऔध'जी के शिष्य हैं, स्कूल और साहित्य दोनों में। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। नागार्जुनजी ने अपनी कविता–जातिगौरव गंगदत्त–सुनाई, इसके बाद श्रोत्रियजी ने भी अपनी कुछ कविताएँ सुनाईं।

निजामाबाद में हम उन कुम्हारों के घरों में भी गये, जो खिलजी-शासन के जमाने में देवगिरि से आकर यहाँ बस गये थे। उनके बनाये मिट्टी के बरतन दुनिया में प्रसिद्ध हैं। और कुम्हारों से इनका नाता-रिश्ता है, मगर वे अपनी कला को दूसरे कुम्हार-कुल में जाने नहीं देना चाहते; इसीलिए अपनी लड़कियों तक को अपनी कला नहीं सिखलाते। लड़ाई से पहिले उनके बनाये लाखों रुपये के बरतन–चाय का सेट, गुलदस्ता आदि–देश-विदेश जाया करते थे, किन्तु आज अवस्था अच्छी नहीं है। अब इन झिनकारीवाले कुम्हार घरों की संख्या एक दर्जन से ज्यादा नहीं रह गई है।

लौटते वक्त पन्दहा के सीवाने पर के उन खेतों को भी हमने देखा, जहाँ चन्द साल पहिले घोड़रोज (नीलगाय) के शिकार के लिए हिन्दू-मुसल्मानों में देवासुर-संग्राम छिड़ गया था। संग्राम के बाद अब शान्ति है। हिन्दू हाय-हाय कर रहे थे–दस-पाँच साल पहिले जहाँ दो-ही चार घोड़रोज देखे जाते थे, वहाँ आज उनकी संख्या पचासों तक पहुँच गई है और वह खेती को भारी नुकसान पहुँचाते हैं। मैंने कहा–घोड़रोज बकरी और हिरन की जाति के होते हैं, इनके कान, आँख, पूँछ वैसे ही होते हैं, वैसे ही लेंड़ी करते हैं। उन्होंने मुझे यह भी सूचित किया कि बकरियों की तरह वे एक से ज्यादा बच्चे देते हैं। इतना होने पर भी वे इन्हें गाय बनाकर इनके लिए धर्म-युद्ध करने के लिए तैयार हैं !

13 अप्रेल को ही जब कि मैं रानी की सराय पहुँचा था किसी ने मेरे पितृग्राम कनैला में खबर दे दी। आजमगढ़ के लिए मेरे पास सिर्फ सात दिन थे और इतने कम समय में कनैला को मैं अपने प्रोग्राम में नहीं रखना चाहता था। मेरे ममेरे भाइयों–दीपचन्द और कैलाश–ने बार-बार कनैला सूचना देने का आग्रह किया, लेकिन मेरे अस्वीकार करने पर वे चुप रह गये। दूसरे दिन–14 अप्रेल–की दोपहर को देखा, मेरे छोटे भाई श्यामलाल साइकिल पर पन्दहा पहुँच गये। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ–किसने खबर दी ? जान पड़ता है चौंतीस साल के बाद लौटे आदमी की खबर लोगों के लिए भारी आकर्षण रखती है; इसीलिए मेरे आने की खबर रानी की सराय के साधारण आदमियों में फैल गई। रानी की सराय में कनैला के चुड़िहारे की रिश्तेदारी है। वहीं से कोई आदमी कनैला गया और उसी दिन मेरे आने की सूचना दस मील दूर पहुँच गई। भाई ने अपने घर और गाँव की ओर से चलने के लिए बहुत जोर दिया, मगर मैंने उसे अगली यात्रा के लिए रख छोड़ने की बात कहकर इनकार कर दिया। श्यामलाल उसी दिन लौट गए।

16 की शाम को दिन रहते ही कनैला के लोगों की टोलियाँ आने लगीं। पाँच-छः करके वे दस बजे रात तक आते रहे। उनकी संख्या तीस से अधिक पहुँच गई, और उनमें कई जातियों के प्रतिनिधि थे। गाँव के बूढ़े चचा रघुनाथ और दादा (आजा) सुखदेव पांडे को भी दस-ग्यारह मील की मंजिल मारकर आया देख मेरा निश्चय कुछ विचलित होने लगा। कनैला के सबसे ज्यादा आने में असमर्थ रामदत्त चचा थे, मगर वे मुझे देखने के लिए कितने उत्सुक थे, इसकी खबर एकाध बार पहिले भी मिल चुकी थी। अपने बहुत-से वृद्धों के दर्शन से मैं वंचित हो चुका था। मेरे संस्कृत के प्रथम गुरु तथा फूफा महादेव पंडित (बछवल) ने कई बार देखने का सन्देश भेजा था, मगर मैं नहीं जा सका और दो तीन साल पहिले उनका देहान्त हो चुका। मेरे जन्म

के समय के सम्मिलित परिवार की दादी सिर्फ ग्यारह दिन पहिले मरी थीं और उस दिन मेरे वंशज उनका श्राद्ध करके आए थे। मैं कुछ और वृद्धों के दर्शन से अपने को वंचित नहीं करना चाहता था, इसलिए हमारे गाँव के नाती तथा मेरे समवयस्क औघड़ बाबा रघुनाथ ने जब कनैला चलने को कहा तो मैंने स्वीकृति दे दी।

गर्मी के दोपहर की यात्रा में पड़ना सौभाग्य की बात नहीं, अतएव हमने भिनसारे ही चलना तय किया था। सबेरे हाथी के कसकर आने में कुछ देर होने लगी, हम पैदल ही चल पड़े। हाथी ने डेढ़ मील बढ़ जाने पर हमें पकड़ पाया। पहिले रघुनाथ बाबा के साथ में नागार्जुन भी हाथी पर बैठे, मगर हम दोनों ही ऐसे 'हलके' शरीर के थे कि नागार्जुनजी को यह समझते देर नहीं लगी कि हाथी पर चलने की अपेक्षा पैदल चलना उनके लिए कहीं आराम का रहेगा। उस दिन दोपहर तक आकाश में मेघ छाये थे। रघुनाथ बाबा मेरे पुण्य-प्रताप की दुहाई दे रहे थे। कनैला से दो मील पहिले डीहा पहुँचने पर बूँदें ज्यादा पड़ने लगीं, लेकिन वहाँ हमें मुँह-हाथ धोना और जल-पान करना भी था।

डीहा के अपर प्राइमरी स्कूल में आज (17 अप्रेल) छुट्टी थी, इसीलिए वहाँ के प्रधानाध्यापक मेरे सहपाठी पंडित श्यामनारायण पाण्डेय मौजूद न थे। पिछले सालों में शिक्षा का अधिक प्रचार हुआ है, यह जगह-जगह नये कायम हुए मिडिल तथा दूसरी तरह के स्कूलों से पता चलता था। रानी की सराय में जब मैं पढ़ने गया था, तब वहाँ एक छोटा-सा लोअर प्राइमरी स्कूल था, लेकिन अब वहाँ मिडिल स्कूल है। डीहा में मदरसा पहिले भी था, मगर अब तीन अध्यापक पढ़ाते हैं। मैं तो बराबर नाना के साथ पन्दहा में रहता था, इसीलिए मेरी पढ़ाई-लिखाई रानी की सराय और निजामाबाद में ही हुई। मगर कनैला के लड़कों को डीहा का स्कूल ही नजदीक पड़ता था। अब तो कनैला में भी अपर प्राइमरी स्कूल हो गया है। कनैला से दो ही ढाई मील दूर पर धरवारा में मिडिल स्कूल है। तीस-बत्तीस साल पहिले मिडिल पास लड़के बिरले ही मिलते थे, किन्तु अब वे एक-एक गाँव में और अधिक संख्या में मिलते हैं। पन्दहा में कुवेर नाना के लड़के को मैट्रिक तक पढ़कर खेती में जुटा देख मुझे कुछ संतोष जरूर हुआ, मगर खेती के काम में विद्या का उपयोग न हो तो सारी पढ़ाई व्यर्थ हो जाती है। और शिक्षित व्यक्ति साइन्स के किसी तरीके को खेती में बरतते नहीं देखे जाते। गाँव में शिक्षा के प्रचार का अगर कोई ज्यादा असर हुआ है, तो यही कि मुकदमेबाजी बढ़ गई है, जमीन-जायदाद के लिए जाल-फरेब ज्यादा होने लगा है। इससे *विद्या का यश उज्ज्वल नहीं हुआ है।*

कनैला गाँव के पश्चिम की कुटी का—जहाँ प्राइमरी स्कूल है—पुराना मकान गिर चुका है और वहाँ कई घर तथा बड़े वृक्ष दीख पड़े। लम्बे वर्षों को वृक्षों के जरिए आसानी से नापा जा सकता है।

अभी गाँव के हम बाहर ही थे कि लड़कों की पलटन अपने जन्मजात नेताओं के साथ हमारा स्वागत करने के लिए पहुँच गई—इसे स्वागत करना और तमाशा देखना दोनों ही कह सकते हैं। उनमें पाँच से बारह बरस तक के लड़के मौजूद थे।

गाँव से नजदीक ऊसर के अकेले कुएँ के पास पहुँचकर हम हाथी से उतर पड़े। मेरे बचपन में भी यह कुआँ इस निर्जन ऊसर में मौजूद था, और गाँव के लोग ज्यादातर यहीं से पीने के लिए पानी ले जाते थे। इस दिक्कत को दूर करने का प्रथम प्रयास मेरे पिता ने अपने दरवाजे पर कुआँ बनाकर किया। आज तो गाँव के भीतर कई कुएँ बन चुके हैं। इस ऊसरवाले कुएँ के आसपास एक दर्जन घर आबाद हो गये हैं, जिनमें चुड़िहार और दर्जी लोगों के घर ज्यादा हैं। मेरी ही उम्र के, किन्तु रिश्ते में चचा रजबली (रजबअली) की ठुड्डी पर लटकती दाढ़ी सफ़ेद हो चुकी है। मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई, कि एक समय के मुमूर्ष चुड़िहार और दर्जी परिवार अब हरे-भरे हैं। कनैला में दो-तीन घरों को छोड़कर सभी को मैं दरिद्र अवस्था में छोड़कर गया था, मगर अब सभी की हालत अच्छी है। उस समय गाँव का दो-तिहाई से अधिक भाग ऊसर था, अब उस ऊसर से लोगों ने काफ़ी खेत बना लिया है। पहिले के खेतों में भी लोग अब अधिक परिश्रम करते हैं। सिंचाई के लिए कई नये पक्के कुएँ बन गये हैं, अपेक्षाकृत कम मुकदमेबाजी होती है। यह है कारण कनैला की समृद्धि का। मेरी अनुपस्थिति में आकर मौजूद हो गई दो पीढ़ियों की समस्या को ऊसर ने हल कर दिया—जहाँ तक गाँव के ब्राह्मणों (जमींदारों) का सम्बन्ध है; और शायद एक पीढ़ी और भी ऊसर से नये खेत बना सके। गाँव

के घरों के स्थान और आकार दोनों में परिवर्तन हुआ है। पहिले की अपेक्षा अब के घर अधिक सुन्दर, साफ और विस्तृत हैं; इसके लिए बहुत-से परिवारों को गाँव के बिचले स्थानों को छोड़ पूरब की ओर बढ़ना पड़ा। सत्ताईस साल पहिले आखिरी बार मैं तीन-चार दिन के लिए कनैला गया था। उस वक्त के मकानों के नकशे अब भी मेरे मस्तिष्क में अंकित थे, लेकिन अब पूछकर ही मैं किसी घर को जान सकता था। गाँव में पहुँचते-पहुँचते सभी बाल-वृद्ध-नर-नारी अपने हाड़-मांस से बने शरीरवाले केदारनाथ के इर्द-गिर्द आ खड़े हुए। मैंने चचा वंशी के सजल नेत्रों को देखा और मेरे हाथ उनके चरणों पर पहुँच गये। गाँव की वृद्धतम् स्त्री यमुना आजी (आर्या, दादी) की जबान अब भी उसी तरह तेज चल रही थी, मगर अब उनका शरीर बहुत निर्बल हो चुका है, आँखों की ज्योति भी मन्द पड़ गई है। गाँव के बीच में पत्थर का पुराना कोल्हू अपनी जगह पर अब भी खड़ा है, किन्तु हँसिया, खुरपे और गड़ासों को रगड़-रगड़कर लोगों ने उसकी आरी पर बहुत-से गड्ढे कर दिये हैं। हमारे पुराणपंथी नेता कुछ भी कहें, किन्तु कनैला के ग्रामीणों का पूरा विश्वास है, कि लोहे के कोल्हू को हटाकर पत्थरवाले कोल्हू के युग में लौटा नहीं जा सकता।

कनैला में हम ग्यारह बजे के करीब पहुँचे थे और वहाँ सिर्फ चार घंटे रहना था, इसलिए एक-एक मिनट को अच्छी तौर से इस्तेमाल करना था। मेरे भाइयों में श्यामलाल और रामधारी घर पर ही थे। सबसे छोटा श्रीनाथ दिल्ली में लोगों को रसगुल्ले खिला रहा है। सत्ताईस साल पहिले जिनकी उमर चौदह-पन्द्रह बरस की हो चुकी थी, उन्हीं को मैं पहचान सकता था और ऐसे चेहरे बहुत कम थे। मुझसे कुछ ही बरस जेठे दूधनाथ भैया की भौंहें भी सफेद होने लगी हैं। रामदत्त कक्का के शरीर में हड्डी और चमड़े के अतिरिक्त यदि और कुछ दिखलाई पड़ता था, तो वह थी उन्हें बाँधकर इकट्ठा रखनेवाली धमनियाँ।

स्नान करने के लिए चलते वक्त मैंने मेरे जनम के बाद अलग हुए अपने बन्धुओं के घर देखे। वंशी चचा और उनके भाई तथा मेरे समवयस्क किसुना (किन्ना) चचा का घर पुरानी जगह से बहुत दूर हटकर बना है। बाग के छोर पर अवस्थित जिस अकेले पीपल को लोग भूतों का गढ़ समझते थे, अब वह बस्ती में आ गया है। और भूत ? आदमियों की भीड़ में बेचारे भूत कैसे बसे रह सकते हैं ? मैंने एक जगह कहा था कि आदमियों के बस जाने पर भूतों को बाल-बच्चे लेकर भागना जरूरी हो जाता है। किसी ने पूछा–"क्यों ?"

"मनुष्यों के लड़के ढेला-डंडा फेंका करते हैं। भूत और उनके बच्चे तो दिखलाई नहीं पड़ते, जिससे उनमें भी अंधों, कानों, लँगड़ों की संख्या बढ़ने लगती है; इसीलिए भूत-भुतनियों को जगह खाली करनी पड़ती है।"

मेरे कुछ भाइयों की तरह कितने ही पाठकों को भी यह दलील पसन्द न आयेगी, किन्तु भूत-चुड़ैल बहुत से स्थान खाली कर चुके हैं, इससे वहाँ सभी सहमत थे।

पुराने कनैला की बस्ती में हरी पत्तियों के लिए आँखें तरसती रहती थीं, किन्तु अब किसी के द्वार पर पकड़ी का वृक्ष है, किसी के द्वार पर नीम का। गर्मी में वृक्ष की शीतल छाया कितनी सुखद और सुहावनी होती है। हाँ, यह देखकर खेद हुआ कि कनैला का बाग बहुत कुछ उजड़ चुका है और नये अमोलों को लगाने का लोगों को शौक नहीं।

नहाने के बाद मैं गाँवों के घरों को देखने चला, साथ की परिषद् को रोका नहीं जा सकता था। चमार-टोली के बाद ब्राह्मणों, अहीरों, कहारों, चुड़िहारों, दर्जियों, गड़ेरियों के घरों को देखते, साहेब-सलामी करते, करीब-करीब सारा गाँव फिर आया। पत्रहीन बरगद के नीचे बैठे बुद्ध को देखकर शाक्यों के खून के प्यासे कोसलराज बिडूडभ ने पूछा था–"पास ही हमारी सीमा के भीतर घनी छायावाला यह बरगद है, भगवान इसके नीचे क्यों नहीं बैठते ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया–"बन्धुओं की छाया शीतल होती है, यह शाक्यों की भूमि का बरगद है।"

भोजन तैयार था। श्यामलाल हम दोनों को खाना खिलाने अपने घर में ले गये। सत्ताईस साल पहिलेवाले घर के सामने यह महल-सा लगता। उसके-जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगन में ही समा जाते। आँगन पूरब-पश्चिम लम्बा है, जिससे सूरज की धूप काफ़ी देर तक मिलती रहती है। नाबदान को दक्षिण तरफ़ खोलते देख गाँव के बड़े-बूढ़ों ने भय प्रकट किया था, किन्तु नाबदान लायक जमीन उसी ओर थी। श्यामलाल ने साहस

दिखलाया और नाबदान को उधर ही खोल दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़ि पर प्रहार करने की कुछ हिम्मत रखते हैं।

भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ों से ढँकी एक मूर्त्ति ने मेरे पैरों पर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलने को उठ खड़ा हुआ। खैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता; न मुझे बतलाया गया। मेरे नाम से शैशव में घरवालों ने जो ब्याह किया था, उसे तो घर के साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था। आँगन में काफ़ी स्त्रियाँ जमा थीं, जिनमें यमुना आजी को छोड़कर मैं किसी को भी पहिचानता न था।

आसपास के गाँवों में भी खबर पहुँच गई थी और तीन बजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये। जमावड़े ने सभा का रूप लिया और मुझे कुछ बोलने के लिए कहा गया। मैंने गाँव की समृद्धि पर हर्ष प्रकट किया और आज की परिस्थिति में अन्न, वस्त्र तथा रक्षा का प्रबंध करने के लिए कहा।

आज रात को मुझे फूफा के घर बछवल रहना था। मेरे बालमित्र यागेशदत्त पन्दहा पहुँचे थे। उनके आग्रह को ठुकरा नहीं सकता था। भरों के दोनों टोलों को देखकर जब मैं आगे बढ़ा तो नागार्जुनजी ने डीह के स्थान को देखकर खबर दी कि वहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्त्तियाँ हैं। बचपन में मैंने भी इन मूर्त्तियों को देखा होगा, मगर उस वक्त उनकी आपबीती सुनने के लिए मेरे पास कान नहीं थे। वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध-धर्म (वज्रयान) के एक घोर देवता (वज्रभैरव) की छोटी-सी किन्तु, सुन्दर मूर्त्ति के दो खंड पड़े थे–आग की ज्वाला की तरह लहराती केशशिखाओं और गोल-गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटि से नीचे दोनों पैर दूसरे खंड में। नव-दस सौ वर्ष पहिले कनैला में भी उन देवताओं की पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बत के अनेक मन्दिरों में मैंने देखा है। आज कनैलावालों–विशेषकर वहां के पुराने निवासियों, राजभरों–को यह पता नहीं कि उनके पूर्वज हजार वर्ष पहिले उन देवताओं को पूजते थे, जो हिमालय के उस पार अब भी जीवित हैं। कनैला के पुराने खेतों के नीचे पुरानी आबादी के ध्वंस छिपे हुए हैं। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी की ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, खिलजी-शासनकाल में यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोट का एक भाग अब भी डीह बाबा के पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता कतल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहिले भर लोग सूअर पाला करते थे, मगर अब सारे जिले में और आसपास के दूसरे जिलों में भी उन्होंने सूअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाज में उनका स्थान पहिले से कुछ ऊँचा हुआ है, इसका तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविका के एक साधन से वे वंचित जरूर हो गये। सुअरी एक-एक बार में बीस-बीस बच्चे देती है और साल में तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसे की आमदनी का यह एक अच्छा जरिया था। सबसे ज्यादा दिक्कत तो गाँव के देवताओं को पड़ रही है। वर्षों से उन्होंने छौनों की एक फट्ठी भी दाँत-तले दबाने के लिए नहीं पाई है।

बछवल कनैला से दो-ढाई मील से ज्यादा दूर नहीं है। बीच में मंगई (मार्गवती) नाम की छोटी नदी पड़ती है। गर्मी में वह ज्यादातर सूख जाती है, इसलिए लोग जगह-जगह बाँध बाँधकर पानी को रोक लेते हैं, इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज्यादा सार्थक था–मंगई सीधे गंगा में गिरती है, बरसात में इसमें इतना पानी रहता है कि छोटी-मोटी नावें सिसवा (शिंशपा) ग्राम और उसके आगे भी चली जाती होंगी। उस काल में नदियाँ ही अधिकतर व्यापार-मार्ग का काम करती थीं।

हम लोग सिसवा में बँधे बाँध पर से मंगई पार हुए। यहीं से कनैला की बाकी जनमंडली पीछे लौटी। नदी पार सिसवा या शिंशपा ग्राम का मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं, कि शिंशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिंशपा ग्राम नाम का कोई निगम काशी जनपद में था, इसका पुस्तकों में तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेष की गवाही से इनकार नहीं किया जा सकता। आजकल के ग्रामीण पंडित सिसवा को शिशुपाल की राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखण्ड) का राजा था, इस समस्या को हल करने की तकलीफ वे क्यों करने लगे ? बल्कि उन्होंने सिन्धुराज 'जयद्रथ' की भी एक जगह ढूँढ़ निकाली है। जयद्रथ के स्थान पर पाँच-छः बड़ी-बड़ी खंडित मूर्त्तियाँ हैं, इसका पता

मुझे बाद में लगा और मैं उन्हें देख नहीं सका। हाँ, यागेश ने सिसवा में मिले मुझे दो ताँबे के पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओर की शक्ल किसी शक राजा की मालूम होती थी। दूसरे दिन आजमगढ़ पहुँचने पर मालूम हुआ कि दोनों सिक्के कुषाण राजा कनिष्क के हैं, जिनमें से एक की पीठ पर वायु देवता और दूसरे की पीठ पर मित्र देवता की मूर्त्तियाँ हैं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त को पुराने सिक्कों को एकत्र करने और पहचानने का बहुत शौक है। उन्होंने आजमगढ़ जिले में मिले सेरों कुषाण सिक्के जमा किये हैं। दो हजार बरस पहिले कनिष्क का कोई उच्च राजकर्मचारी शिंशपा ग्राम में रहता था। उस वक्त सिसवा के आज के ऊजड़ टीलों पर व्यापारियों और शिल्पियों के कितने ही अच्छे-भले घर थे, देश-विदेश के पण्य द्रव्यों से सजी दूकानोंवाली वीथियाँ थीं; जगह-जगह ऐसे कितने ही देवालय थे, जिनके देवता अब विस्मृत हो चुके हैं। मंगई का व्यापार-मार्ग यही जलीय राजमार्ग इस सारी समृद्धि का कारण था। उस मार्ग का स्थान नये मार्गों ने लिया और शिंशपा ग्राम धीरे-धीरे सिसवा के निर्जन टीले में बदल गया। सिसवा के गर्भ में उसके इतिहास को बतानेवाली बहुत-सी सामग्री छिपी पड़ी है, जो किसी वक्त जरूर अपना मुँह खोलेगी। मैंने चन्द मिनटों में ध्वंस को पार करते हुए जो कुछ भी समझ पाया, उसे यहाँ संक्षेप में लिखा है।

हम शाम को बछवल पहुँचे। यागेश वा ि मेरे तरुणाई के अभियानों में साथ रहे हैं। वे राष्ट्रीयकर्मी हैं। यद्यपि वे मेरी बुआ की देवरानी के लड़के हैं, लेकिन बाल्य से ही बछवल में उन्हीं के साथ मेरा सबसे अधिक प्रेम रहा। तीस साल पहिले एक बार हम दोनों ने कुरता पहिने रोटी खाई थी, जिसे देखकर उनकी माँ रोई थीं। आज अपने पुत्र को मेरे और नागार्जुन जैसे 'सर्वभक्षी' के साथ बैठकर दाल-भात खाते देखकर उनकी स्वर्गीय आत्मा कितनी तड़फड़ा रही होगी। हाँ, उनको यह देखकर धैर्य जरूर होगा कि कनैला के सरपंच श्यामलाल भी साथ ही बैठे खा रहे हैं।

दूसरे दिन कुछ रात रहते ही नागार्जुन और मैं हाथी पर रवाना हुए। चँड़ेसर में एक्का ले दस बजे (18 अप्रेल) तक आजमगढ़ पहुँच गये। कानोंकान सुनकर कितने ही लोग मिलने आये। आजमगढ़ के कवि 'शैदा' और 'चन्द्र' ने अपनी कई रचनाएँ सुनाईं, 'यात्री' नागार्जुन ने भी अपनी कृतियों को सुनाकर गोष्ठी का मनोरंजन किया। 19 अप्रेल को, ठीक सात दिन रहने के बाद, दस बजे सबेरे की ट्रेन पकड़ी और दो बजे तक हम आजमगढ़ जिले के बाहर चले आये।

■■■



खण्ड एक

जिल्द 2

जीवन-यात्रा

